श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प

श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचितं

यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्यम्

यशस्तिलकदीपिकाख्यया भाषाटीकया समेतम्

पूर्वखण्डम्

—अनुवादक-सम्पादक व प्रकाशक—

पं० सुन्दरलाल शास्त्री

जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ व काव्यतीर्थ

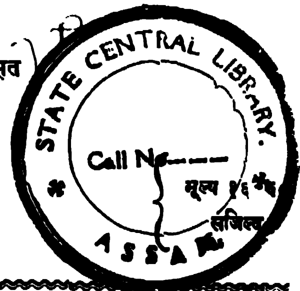
अध्यक्ष—श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला

B २०/२१ A भेलूपुर वाराणसी (यू० पी०)

—प्राक्कथनलेखक—

श्री डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल

अध्यक्ष—कला व पुरातत्त्वविभाग, हिन्दूविश्वविद्यालय वाराणसी



प्रथम आवृत्ति
२१०० प्रति

श्रावण वीर नि० २४८६
वि० सं० २०१७
जुलाई १९६०

मुद्रक—श्री पं० रामेश्वर पाठक तारा यन्त्रालय, वाराणसी (यू० पी०)

समर्पण

श्रीमत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त गुरुवर्य्य श्री १०५ क्षुल्लक

गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य के

पवित्र करकमलों में,

जिन्होंने अज्ञान-तिमिर से आच्छन्न मेरा मन-मन्दिर अपने

श्रुतज्ञान-प्रदीप से प्रकाशित किया; अतः जिनकी

असीम उपकृति से अनुगृहीत हूँ।

—सुन्दरलाल शास्त्री



श्रीमत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त श्री १०५ क्षुल्लक
गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य

प्राक्कथन

संस्कृत के गद्य-साहित्य में अनेक कथाग्रन्थ हैं। उनमें बाण की 'कादम्बरी', सोमदेव का 'यशस्तिलकचम्पू' और धनपाल की 'तिलकमंजरी'—ये तीन अत्यन्त विशिष्ट ग्रन्थ हैं। बाण ने कादम्बरी में भाषा और कथावस्तु का जिस उच्च पद तक परिमार्जन किया था उसी आदर्श का अनुकरण करते हुए सोमदेव और धनपाल ने अपने ग्रन्थ लिखे। संस्कृत भाषा का समृद्ध उत्तराधिकार क्रमशः हिन्दी भाषा को प्राप्त हो रहा है। तदनुसार ही 'कादम्बरी' के कई अनुवाद हिन्दी में हुए हैं। प्रस्तुत पुस्तक में श्री० सुन्दरलालजी शास्त्री ने 'सोमदेव' के 'यशस्तिलकचम्पू' का भाषानुवाद प्रस्तुत करके हिन्दी साहित्य की विशेष सेवा की है। हम उनके इस परिश्रम और पाण्डित्य की प्रशंसा करते हैं। इस अनुवाद को करने से पहले 'यशस्तिलकचम्पू' के मूल पाठ का भी उन्होंने संशोधन किया और इस अनुसंधान के लिये जयपुर, नागौर सीकर और अजमेर के प्राचीन शास्त्रभंडारों में छानबीन करके 'यशस्तिलकचम्पू' की कई प्राचीन प्रतियों से मूल पाठ और अर्थों का निश्चय किया। इस श्रमसाध्य कार्य में उन्हें लगभग ८ वर्ष लगे। किन्तु इसका फल 'यशस्तिलकचम्पू' के अधिक प्रामाणिक संस्करण के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत है। 'यशस्तिलक' का पहला संस्करण मूल के आठ आश्वास और लगभग साढ़े चार आश्वासों पर 'श्रुतसागर' की टीका के साथ १६०१-१९०३ में 'निर्णयसागर' यंत्रालय से प्रकाशित हुआ था। उस ग्रन्थ में लगभग एक सहस्र पृष्ठ हैं। उसीकी सांस्कृतिक सामग्री, विशेषतः धार्मिक और दार्शनिक सामग्री को आधार बनाकर श्री कृष्णकान्त हन्दीकी ने 'यशस्तिलक और इण्डियन कल्चर' नाम का पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ १६४६ में प्रकाशित किया, जिससे इस योग्य ग्रन्थ की अत्यधिक ख्याति विद्वानों में प्रसिद्ध हुई। उसके बाद श्री सुन्दरलाल जी शास्त्री का 'यशस्तिलक' पर यह उल्लेखनीय कार्य सामने आया है।

आपने आठों आश्वासों के मूल पाठ का संशोधन और भाषाटीका तैयार कर ली है। तीन आश्वास प्रथम खण्ड के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं और शेष पाँच आश्वास टीका-सहित दूसरे खण्ड में प्रकाशित होंगे। प्राचीन प्रतियों की छानबीन करते समय श्री सुन्दरलाल जी को 'भट्टारक मुनीन्द्रकीर्ति दिगम्बर जैन सरस्वती भवन' नागौर के शास्त्रभण्डार में 'यशस्तिलक-पञ्जिका' नाम का एक ग्रन्थ मिला, जिसके रचयिता 'श्रीदेव' नामक कोई विद्वान् थे। उसमें आठों आश्वासों के अप्रयुक्त क्लिष्टतम शब्दों का निघण्टु या कोश प्राप्त हुआ। इसकी विशेष चर्चा हम आगे करेंगे। इसे श्री सुन्दरलाल जी ने परिशिष्ट दो में स्थान दिया है। इसप्रकार ग्रन्थ को स्वरूप-सम्पन्न बनाने में वर्तमान सम्पादक और अनुवादक श्री सुन्दरलाल जी शास्त्री ने जो परिश्रम किया है, उसे हम सर्वथा प्रशंसा के योग्य समझते हैं। आशा है इसके आधार से विद्वज्जन संस्कृत वाङ्मय के 'यशस्तिलकचम्पू' जैसे श्रेष्ठ ग्रन्थ का पुनः पारायण करने का अवसर प्राप्त करेंगे।

'सोमदेव' ने यशस्तिलकचम्पू की रचना ६५६ ईसवी में की। 'यशस्तिलक' का दूसरा नाम 'यशोधरमहाराजचरित' भी है, क्योंकि इसमें उज्जयिनी के सम्राट 'यशोधर' का चरित्र कहा गया है;

अर्थात्—'यशोधर' नामक राजा की कथा को आधार बनाकर व्यवहार, राजनीति, धर्म, दर्शन और मोक्ष सम्बन्धी अनेक विषयों की सामग्री प्रस्तुत की गई है। 'सोमदेव' का लिखा हुआ दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नीतिवाक्यामृत' है, उसमें 'कौटिल्य' के अर्थशास्त्र को आधार मानकर सोमदेव' ने राजशास्त्र विषय को सूत्रों में निबद्ध किया है। संस्कृत वाङ्मय में 'नीतिवाक्यामृत' का भी विशिष्ट स्थान है और जीवन की व्यवहारिक निपुणता से ओतप्रोत होने के कारण वह ग्रन्थ भी सर्वथा प्रशंसनीय है। उस पर भी श्री सुन्दरलाल जी ने हिन्दी टीका लिखी है। इन दोनों ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि 'सोमदेव' की प्रज्ञा अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की थी और संस्कृत भाषा पर उनका असामान्य अधिकार था।

'सोमदेव' ने अपने विषय में जो कुछ उल्लेख किया है, उसके अनुसार वे देवसंघ के साधु 'नेमिदेव' के शिष्य थे। वे राष्ट्रकूट सम्राट् 'कृष्ण' तृतीय (६२६-६६८ ई०) के राज्यकाल में हुए। सोमदेव के संरक्षक 'अरिकेसरी' नामक चालुक्य राजा के पुत्र 'वाद्यराज' या 'वद्दिग' नामक राजकुमार थे। यह वंश राष्ट्रकूटों के अधीन सामन्त पदवीधारी था। 'सोमदेव' ने अपना ग्रन्थ 'गङ्गधारा' नामक स्थान में रहते हुए लिखा। धारवाड़ कर्नाटक महाराज और वर्तमान 'हैदराबाद' प्रदेश पर राष्ट्रकूटों का अखण्ड राज्य था। लगभग आठवीं शती के मध्य से लेकर दशम शती के अन्त तक महाप्रतापी राष्ट्रकूट सम्राट् न केवल भारतवर्ष में बल्कि पश्चिम के अरब साम्राज्य में भी अत्यन्त प्रसिद्ध थे। अरबों के साथ उन्होंने विशेष मैत्री का व्यवहार रक्खा और उन्हें अपने यहाँ व्यापार की सुविधाएँ दीं। इस वंश के राजाओं का विरुद 'बल्लभराज' प्रसिद्ध था, जिसका रूप अरब लेखकों में बल्हरा पाया जाता है। राष्ट्रकूटों के राज्य में साहित्य, कला, धर्म और दर्शन की चौमुखी उन्नति हुई। उस युग की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को आधार बनाकर दो चम्पू ग्रन्थों की रचना हुई। पहला महाकवि त्रिविक्रमकृत 'नलचम्पू' है। 'त्रिविक्रम' राष्ट्रकूट सम्राट् इन्द्र तृतीय (६१४-६१६ ई०) के राजपण्डित थे। इस चम्पूग्रन्थ की संस्कृत शैली श्लेष प्रधान शब्दों से भरी हुई है और उससे राष्ट्रकूट संस्कृति का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है।

त्रिविक्रम के पचास वर्ष बाद 'सोमदेव' ने 'यशस्तिलकचम्पू' की रचना की। उनका भरसक प्रयत्न यह था कि अपने युग का सच्चा चित्र अपने गद्यपद्यमय ग्रन्थ में उतार दें। निःसन्देह इस उद्देश्य में उनको पूरी सफलता मिली। 'सोमदेव' जैन साधु थे और उन्होंने 'यशस्तिलक' में जैनधर्म की व्याख्या और प्रभावना को ही सबसे ऊँचा स्थान दिया है। उस समय कापालिक, कालामुख, शैव व चार्वाक-आदि जो विभिन्न सम्प्रदाय लोक में प्रचलित थे उनको शास्त्रार्थ के अखाड़े में उतार कर तुलनात्मक दृष्टि से 'सोमदेव' ने उनका अच्छा परिचय दिया है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ भारत के मध्यकालीन सांस्कृतिक इतिहास का उमँडता हुआ स्रोत है जिसकी बहुमूल्य सामग्री का उपयोग भविष्य के इतिहास ग्रन्थों में किया जाना चाहिए। इस क्षेत्र में श्रीकृष्णकान्त हन्दीकी का कार्य, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है, महत्त्वपूर्ण है। किन्तु हमारी सम्मति में अभी उस कार्य को आगे बढ़ाने की आवश्यकता है जिससे 'सोमदेव' की श्लेषमयी शैली में भरी हुई समस्त सामग्री का दोहन किया जा सके। भविष्य के किसी अनुसंधान-प्रेमी विद्वान् को यह कार्य सम्पन्न करना चाहिए।

'यशस्तिलकचम्पू' की कथा कुछ उलझी हुई है। बाण की कादम्बरी के पात्रों की तरह इसके पात्र भी कई जन्मों में हमारे सामने आते हैं। बीच-बीच में वर्णन बहुत लम्बे हैं जिनमें कथा का सूत्र खो जाता है। इससे बचने के लिये संक्षिप्त कथासूत्र का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

प्राचीन समय में 'यौधेय' नाम का जनपद था। वहाँ का राजा 'मारिदत्त' था। उसने 'वीरभैरव' नामक अपने पुरोहित की सलाह से अपनी कुलदेवी चण्डमारी को प्रसन्न करने के लिये एक सुन्दर पुरुष और स्त्री की बलि देने का विचार किया और चाण्डालों को ऐसा जोड़ा लाने की आज्ञा दी। उसी समय 'सुदत्त' नाम के एक महात्मा राजधानी के बाहर ठहरे हुए थे। उनके साथ दो शिष्य थे—एक 'अभयरुचि' नाम का राजकुमार और दूसरी उसकी बहिन 'अभयमति'। दोनों ने छोटी आयु में ही दीक्षा ले ली थी। वे दोनों दोपहर की भिक्षा के लिये निकले हुए थे कि चाण्डाल पकड़कर देवी के मन्दिर में राजा के पास ले गया। राजा ने पहले तो उनकी बलि के लिये तलवार निकाली पर उनके तपःप्रभाव से उसके विचार सौम्य होगए और उसने उनका परिचय पूँछा। इसपर राजकुमार ने कहना शुरु किया।

(कथावतार नामक प्रथम आश्वास समाप्त)।

इसी 'भरतक्षेत्र' में 'अवन्ति' नाम का जनपद है: उसकी राजधानी 'उज्जयिनी' शिप्रा नदी के तट पर स्थित है। वहाँ 'यशोर्घ' नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी 'चन्द्रमति' थी। उनके 'यशोधर' नामक पुत्र हुआ। एक बार अपने शिर पर सफेद बाल देखकर राजा को वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने अपने पुत्र यशोधर को राज्य सौंप कर संन्यास ले लिया। मन्त्रियों ने यशोधर का राज्याभिषेक किया। उसके लिये शिप्रा के तट पर एक विशाल मण्डप बनवाया गया। नये राजा के लिये 'उदयगिरि' नामक एक सुन्दर तरुण हाथी और 'विजयवैनतेय' नामक अश्व लाया गया। यशोधर का विवाह 'अमृतमति' नाम की रानी से हुआ। राजा ने रानी, अश्व और हाथी का पट्टबन्ध धूमधाम से किया।

(पट्टबन्धोत्सव नामक द्वितीय आश्वास समाप्त)।

अपने नये राज्य में राजा का समय अनेक आमोद-प्रमोदों व दिग्विजयादि के द्वारा सुख से बीतने लगा। (राजलक्ष्मीविनोदन नामक तृतीय आश्वास समाप्त)।

एक दिन राज-कार्य शीघ्र समाप्त करके वह रानी अमृतमति के महल में गया। वहाँ उसके साथ विलास करने के बाद जब वह लेटा हुआ था तब रानी उसे सोया जानकर धीरे से पलँग से उतरी और वहाँ गई जहाँ गजशाला में एक महावत सो रहा था। राजा भी चुपके से पीछे गया। रानी ने सोते हुए महावत को जगाया और उसके साथ विलास किया। राजा यह देखकर क्रोध से उन्मत्त होगया। उसने चाहा कि वहीं तलवार से दोनों का काम तमाम कर दे, पर कुछ सोचकर रुक गया और उलटे पैर लौट आया, पर उसका हृदय सूना हो गया और उसके मन में संसार की असारता के विचार आने लगे। नियमानुसार वह राजसभा में गया। वहाँ उसकी माता चन्द्रमति ने उसके उदास होने का कारण पूँछा तो उसने कहा कि 'मैंने स्वप्न देखा है कि राजपाट अपने राजकुमार 'यशोमति' को देकर मैं वन में चला गया हूँ; तो जैसा मेरे पिता ने किया मैं भी उसी कुलरीति को पूरा करना चाहता हूँ'। यह सुनकर उसकी माँ चिन्तित हुई और उसने कुलदेवी को बलि चढ़ाकर स्वप्न की शान्ति करने का उपाय बताया। माँ का यह प्रस्ताव सुनकर राजा ने कहा कि मैं पशुहिंसा नहीं करूँगा। तब माँ ने कहा कि हम आटे का मुर्गा बनाकर उसकी बलि चढ़ायेंगे और उसी का प्रसाद ग्रहण करेंगे। राजा ने यह बात मान ली और साथ ही अपने पुत्र 'यशोमति' के राज्याभिषेक की आज्ञा दी। यह समाचार जब रानी ने सुना तो वह भीतर से प्रसन्न हुई पर ऊपरी दिखावा करती हुई बोली—'महाराज! मुझ पर कृपा करके मुझे

भी अपने साथ वन ले चलें।' कुलटा रानी की इस ढिठाई से राजा के मन को गहरी चोट लगी, पर उसने मन्दिर में जाकर आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाई। इससे उसकी माँ प्रसन्न हुई, किन्तु असती रानी को भय हुआ कि कहीं राजा का वैराग्य क्षणिक न हो। अतएव उसने आटे के मुर्गे में विष मिला दिया। उसके खाने से चन्द्रमति और यशोधर दोनों तुरन्त मर गये।

(अमृतमति महादेवी-दुर्विलसन नामक चतुर्थ आश्वास समाप्त)।

राजमाता चन्द्रमति और राजा यशोधर ने आटे के मुर्गे की बलि का संकल्प करके जो पाप किया उसके फलस्वरूप तीन जन्मों तक उन्हें पशुयोनि में उत्पन्न होना पड़ा। पहली योनि में यशोधर मोर की योनि में पैदा हुआ और चन्द्रमति कुत्ता बनी। दूसरे जन्म में दोनों उज्जयिनी की शिप्रा नदी में मछली के रूप में उत्पन्न हुए। तीसरे जन्म में वे दो मुर्गे हुए जिन्हें पकड़कर एक जल्लाद उज्जयिनी के कामदेव के मन्दिर के उद्यान में होनेवाले वसन्तोत्सव में कुक्कुट युद्ध का तमाशा दिखाने के लिये ले गया। वहाँ उसे आचार्य 'सुदत्त' के दर्शन हुए। ये पहले कलिङ्ग देश के राजा थे, पर अपना विशाल राज्य छोड़कर मुनिव्रत में दीक्षित हुए। उनका उपदेश सुनकर दोनों मुर्गों को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो-आया। अगले जन्म में वे दोनों यशोमति राजा की रानी कुसुमावलि के उदर से भाई बहिन के रूप में उत्पन्न हुए और उनका नाम क्रमशः 'अभयरुचि' और 'अभयमति' रक्खा गया। एक बार राजा यशोमति आचार्य सुदत्त के दर्शन करने गया और अपने पूर्वजों की परलोक-गति के बारे में प्रश्न किया।

आचार्य ने कहा—तुम्हारे पितामह यशोर्घ स्वर्ग में इन्द्रपद भोग रहे हैं। तुम्हारी माता अमृतमति नरक में है और यशोधर और चन्द्रमति ने इसप्रकार तीन बार संसार का भ्रमण किया है। इसके बाद उन्होंने यशोधर और चन्द्रमति के संसार-भ्रमण की कहानी भी सुनाई। उस वृत्तान्त को सुनकर संसार के स्वरूप का ज्ञान हो गया और यह डर हुआ कि कहीं हम बड़े होकर फिर इस भवचक्र में न फँस जायँ। अतएव बाल्यावस्था में ही दोनों ने आचार्य सुदत्त के संघ में दीक्षा ले ली।

इतना कहकर 'अभयरुचि' ने राजा मारिदत्त से कहा—हे राजन्! हम वे ही भाई-बहिन हैं। हमारे आचार्य सुदत्त भी नगर से बाहर ठहरे हैं। उनके आदेश से हम भिक्षा के लिये निकले थे कि तुम्हारे चाण्डाल हमें यहाँ पकड़ लाए। (भवभ्रमणवर्णन नामक पाँचवें आश्वास की कथा यहाँ तक समाप्त हुई।)

वस्तुतः यशस्तिलकचम्पू का कथाभाग यहीं समाप्त हो जाता है। आश्वास छह, सात, आठ इन तीनों का नाम 'उपासकाध्ययन' है जिनमें उपासक या गृहस्थों के लिये छोटे बड़े छियालिस कल्प या अध्यायों में गृहस्थोपयोगी धर्मों का उपदेश आचार्य सुदत्त के मुख से कराया गया है। इनमें जैनधर्म का बहुत ही विशद निरूपण हुआ है। छठें आश्वास में भिन्न भिन्न नाम के २१ कल्प हैं। सातवें आश्वास में बाइसवें कल्प से तेतीसवें कल्प तक मद्यप्रवृत्तिदोष, मद्यनिवृत्ति-गुण, स्तेय, हिंसा, लोभ-आदि के दुष्परिणामों को बताने के लिये छोटे छोटे उपाख्यान हैं। ऐसे ही आठवें आश्वास में चौतीसवें कल्प से छियालीसवें कल्प तक उपाख्यानों का सिलसिला है। अन्त में इस सूचना के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है कि आचार्य सुदत्त का उपदेश सुनकर राजा मारिदत्त और उसकी प्रजाएँ प्रसन्न हुई और उन्होंने श्रद्धा से धर्म का पालन किया जिसके फलस्वरूप सारा यौधेय प्रदेश सुख एवं शान्ति से भर गया।

इसप्रकार सोमदेव का रचा हुआ यह विशिष्ट ग्रन्थ जैनधर्मावलम्बियों के लिये कल्पवृक्ष के समान है। अन्य पाठक भी जहाँ एक ओर इससे जैनधर्म और दर्शन का परिचय प्राप्त कर सकते हैं वहीं दूसरी ओर भारतीय संस्कृति के विविध अंगों का भी सविशेष परिचय प्राप्त कर सकते हैं। प्रायः प्रत्येक आश्वास में इसप्रकार की सामग्री विद्यमान है। उदाहरण के लिये तीसरे आश्वास में प्राचीन भारतीय राजाओं के आमोद-प्रमोद का सविस्तर उल्लेख है। बाण ने जैसे 'कादम्बरी' में हिमगृह का ब्योरेवार वर्णन किया है वैसा ही वर्णन यशस्तिलक में भी है। सोमदेव के मन पर कादम्बरी की गहरी छाप पड़ी थी। वे इस बात के लिए चिन्तित दिखाई देते हैं कि बाण के किए हुए उदात्त वर्णनों के सदृश कोई वर्णन उनके काव्य में छूटा न रह जाय। सेना की दिग्विजय यात्रा का उन्होंने लम्बा वर्णन किया है। इन सारे वर्णनों की तुलनात्मक जानकारी के लिये बाणभट्ट के तत्सदृश प्रसंगों के साथ मिलाकर पढ़ना और अर्थ लगाना आवश्यक है। तभी उनका पूरा रहस्य प्रकट हो सकेगा। जैसा हम पहले लिख चुके हैं, इस ग्रन्थ के अर्थ-गाम्भीर्य को समझने के लिये एक स्वतंत्र शोधग्रन्थ की आवश्यकता है। केवल-मात्र हिन्दी टीका से उस उद्देश्य की आंशिक पूर्ति ही संभव है। इसपर भी श्री सुन्दरलाल जी शास्त्री ने इस कठिन ग्रन्थ के विषय में व्याख्या का जो कार्य किया है उसकी हम प्रशंसा करते हैं और हमारा अनुरोध है कि उनके इस ग्रन्थ को पाठकों द्वारा उचित सम्मान दिया जाय।

महाकवि सोमदेव को अपने ज्ञान और पाण्डित्य का बड़ा गर्व था और 'यशस्तिलक' एवं 'नीतिवाक्यामृत' की साक्षी के आधार पर उनकी उस भावना को यथार्थ ही कहा जा सकता है। 'यशस्तिलक' में अनेक अप्रचलित शब्दों को जानबूझकर प्रयुक्त किया गया है। अप्रयुक्त और क्लिष्ट शब्दों के लिए सोमदेव ने अपनी काव्यरचना का द्वार खोल दिया है। कितने ही प्राचीन शब्दों का वे जैसे उद्धार करना चाहते थे। इसके कुछ उदाहरण इसप्रकार हैं—घृणि = सूर्यरश्मि (पृष्ठ १२, पंक्ति ५)। वल्लिका = शृंखला, हिन्दी बेल; हाथी के बाँधने की जंजीर को 'गजबेल' कहा जाता है और जिस लोहे से वह बनती है उसे भी 'गजबेल' कहते थे (१८।२)। सामज = हाथी; १८।७ कालिदास ने इसका पर्याय सामयोनि (रघु० १६।३) दिया है और माघ (१२।११) में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। कमल शब्द का एक अर्थ मृगविशेष अमरकोश में आया है और बाण की कादम्बरी में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। सोमदेव ने इस अर्थ में इस शब्द को रक्खा है (२३।१)। इसीसे बनाया हुआ कमली शब्द (२४।३) मृगांक—चन्द्रमा के लिये उन्होंने प्रयुक्त किया है। कामदेव के लिये शूर्पकाराति (२५।१) पर्याय कुषाण-युग में प्रचलित हो गया था। अश्वघोष ने बुद्धचरित और सौन्दरनन्द दोनों ग्रन्थों में शूर्पक नामक मछुवे की कहानी का उल्लेख किया है। वह पहले काम से अविजित था, पर पीछे कुमुद्वती नामक राजकुमारी की प्रार्थना पर कामदेव ने उसे अपने वश में करके राजकुमारी को सौंप दिया।

आच्छोदना = मृगया (२५।१); पिशुर = पिशाच (२८।३); जरूथ = पल या मांस (२८।३); दैर्घिकेय = कमल (३७।७); विरेय = नद (३७।६); गर्वर = महिष (३८।१); प्रधि = कूप (३८।३); गोमिनी = श्री (४२।६); कच्छ = पुष्पवाटिका (४६।२); दर्दरीक = दाडिम (५५।८); नन्दिनी = उज्जयिनी (७०।६); मय = उष्ट्र (७५।३); मितद्रु = अश्व (७५।४); स्तभ = छाग (७८।६); पालिन्दी = वीचि (१०६।३); बलाल = वायु (११६।५); पुलाक = घुंघरू (२३५।१); इत्यादि नये शब्द ध्यान देने योग्य हैं, जिनका समावेश सोमदेव के प्रयोगानुसार संस्कृत कोशों में होना चाहिए। सोमदेव ने कुछ वैदिक शब्दों का भी प्रयोग किया है; जैसे विष्कद्रु = भा

(६१।६) ; शिपिविष्ट (७७।१) जो ऋग्वेद में विष्णु के लिये प्रयुक्त हुआ है किन्तु पंजिकाकार ने जिसका अर्थ रुद्र किया है। तमङ्ग (६५।१) शब्द भोजकृत समरांगण सूत्रधार में कई बार प्रयुक्त हुआ है जो कि प्रासाद शिल्प का पारिभाषिक शब्द था। इस समय लोक में आधे खम्भे या पार्श्वभाग को तमआ कहा जाता है। सप्तर्षि अर्थ में चित्रशिखण्डि शब्द का प्रयोग (५१।१) बहुत ही कम देखने में आता है। केवल महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीय पर्व में इसका प्रयोग हुआ है और सोमदेव ने वहीं से इसे लिया होगा। इससे ज्ञात होता है कि नये-नये शब्दों को ढूँढकर लाने की कितनी अधिक प्रवृत्ति उनमें थी। सोमदेव के शब्दशास्त्र पर तो स्वतंत्र अध्ययन की आवश्यकता है। ज्ञात होता है कि माघ, बाण और भवभूति इन तीनों कवियों के ग्रन्थों को अच्छी तरह छानकर उन्होंने शब्दों का एक बड़ा संग्रह बना लिया था जिनका वे यथासमय प्रयोग करते थे। मौकुलि = काक (१२५।७); शब्द भवभूति के 'उत्तररामचरित' में प्रयुक्त हुआ है। हंस के लिये द्रुहिणद्विज अर्थात् ब्रह्मा का वाहन पक्षी (१२७।३) प्रयुक्त हुआ है।

संपादक ने पहले खंड में केवल तीन आश्वासों के अप्रयुक्त क्लिष्ट शब्द पंजिकाकार श्रीदेव के अनुसार मुद्रित किए हैं। उनका कथन है कि आठों आश्वासों की यह सामग्री लगभग १३०० श्लोकों के बराबर है जिसका शेषभाग दूसरे खण्ड के अन्त में परिशिष्ट रूप में मुद्रित होगा। अतएव यशस्तिलक-चम्पू के संपूर्ण उद्धार के लिये द्वितीय खण्ड का मुद्रित होना भी अत्यन्त आवश्यक है जिसमें अवशिष्ट ५ आश्वासों का मूल पाठ, उसकी भाषाटीका (इस अंश पर श्रुतसागर की संस्कृत टीका उपलब्ध नहीं है।) और क्लिष्ट शब्दसूची इस सब सामग्री का मुद्रण किया जाय।

इस ग्रन्थ के उद्धार करने में केवल एक व्यक्ति ने अपनी निजी शक्ति का सदुपयोग किया है। हमें आशा है कि जिसप्रकार श्री सुन्दरलाल जी शास्त्री ने यह पहला खण्ड प्रस्तुत किया है उसीप्रकार वे अपने उद्योग से दूसरा खण्ड भी शीघ्र प्रकाशित करके संस्कृत प्रेमी पाठकों का उपकार करें।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
व्यासपूर्णिमा (ता०-७-७-६०)

वासुदेवशरण अग्रवाल

यशस्तिलकचम्पू



सुन्दरलाल शास्त्री

प्राचीनन्याय-काव्यतीर्थ

—अनुवादक, सम्पादक व प्रकाशक

सम्पादकीय

पाठकवृन्द ! पूज्य आचार्यों ने कहा है—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैलक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥'

अर्थात्—'निर्दोष, गुणालंकारशाली व सरस काव्यशास्त्रों का अध्ययन, श्रवण व मनन-आदि धर्म, अर्थ काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का एवं संगीत-आदि ६४ कलाओं का विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न करता है एवं कीर्ति व प्रीति उत्पन्न करता है।' उक्त प्रवचन से प्रस्तुत 'यशस्तिलकचम्पू' भी समूचे भारतीय संस्कृत साहित्य में उच्चकोटि का, निर्दोष, गुणालंकारशाली, सरस, अनोखा एवं बेजोड़ महाकाव्य है, अतः इसके अध्ययन-आदि से भी निस्सन्देह उक्त प्रयोजन सिद्ध होता है, परन्तु अभी तक किसी विद्वान् ने श्रीमत्सोमदेवसूरि के 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य की भाषाटीका नहीं की, अतः हमने ८ वर्ष पर्यन्त कठोर साधना करके इसकी 'यशस्तिलकदीपिका' नामकी भाषाटीका की और उसमें से यह पूर्वखण्ड प्रकाशित किया।

संशोधन एवं उसमें उपयोगी प्रतियाँ—

आठ आश्वास (सर्ग) वाला 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य निर्णयसागर मुद्रण यन्त्रालय बम्बई से सन् १९१६ में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ था, उनमें से प्रथमखण्ड (३ आश्वास पर्यन्त) मूल व संस्कृत टीका-सहित मुद्रित हुआ है और दूसरा खण्ड, जो कि ४ आश्वास से लेकर ८ आश्वास पर्यन्त है, ४॥ आश्वास तक सटीक और बाकी का निष्टीक (मूलमात्र) प्रकाशित हुआ है। परन्तु दूसरे खण्ड में प्रति पेज में अनेक स्थलों पर विशेष अशुद्धियाँ हैं एवं पहले खण्ड में यद्यपि उतनी अशुद्धियाँ नहीं हैं तथापि कतिपय स्थानों में अशुद्धियाँ हैं। दूसरा खण्ड तो मूल रूप में भी कई जगह त्रुटित प्रकाशित हुआ है। अतः हम इसके अनुसन्धान-हेतु जयपुर, नागौर, सीकर व अजमेर-आदि स्थानों पर पहुँचे और वहाँ के शास्त्र-भण्डारों से प्रस्तुत ग्रन्थ की ह० लि० मूल व सटिप्पण तथा सटीक प्रतियाँ निकलवाई और उक्त स्थानों पर महीनों ठहरकर संशोधन-आदि कार्य सम्पन्न किया। अभिप्राय यह है इस महाक्लिष्ट संस्कृत-ग्रन्थ की उलझी हुई गुत्थियों के सुलझाने में हमें इसकी महत्त्वपूर्ण संस्कृत टीका के सिवाय उक्त स्थानों के शास्त्रभण्डारों की ह० लि० मूल व सटि० प्रतियों का विशेष आधार मिला। इसके सिवाय हमें नागौर के सरस्वतीभवन में श्रीदेव-विरचित 'यशस्तिलकपञ्जिका' मिली, जिसमें इसके कई हजार शब्द, जो कि वर्तमान कोशग्रन्थों में नहीं हैं, उनका अर्थ उल्लिखित है, हमने वहाँपर ठहर कर उसके शब्दनिघण्टु का संकलन किया, विद्वानों की जानकारी के लिए हमने उसे परिशिष्ट संख्या २ में ज्यों का त्यों प्रकाशित कर दिया है। इससे भी हमें सहायता मिली एवं भाषा टीका को पल्लवित करने में नीतिवाक्यामृत, आदिपुराण, चरक, सुश्रुत, भावप्रकाश, कौटिल्य अर्थशास्त्र, साहित्यदर्पण व वाग्भट्टालंकार-आदि अनेक ग्रन्थों की सहायता मिली।

अतः प्रस्तुत 'यशस्तिलक' की 'यशस्तिलकदीपिका' नाम की भाषाटीका विशेष अध्ययन, मनन व अनुसन्धानपूर्वक लिखी गई है, इसमें मूलग्रन्थकार की आत्मा ज्यों की त्यों बनाए रखने का भरसक प्रयत्न किया गया है, शब्दशः सही अनुवाद किया गया है। साधारण संस्कृत पढ़े हुए सज्जन इसे पढ़कर मूलग्रंथ लगा सकते हैं।

हमने इसमें मु० सटी० प्रति का संस्कृत मूलपाठ प्रायः ज्यों का त्यों प्रकाशित किया है परन्तु जहाँपर मूलपाठ अशुद्ध व असम्बद्ध मुद्रित था, उसे अन्य ह० लि० सटि० प्रतियों के आधार से मूल में ही सुधार दिया है, जिसका तत् तत् स्थलों पर टिप्पणी में उल्लेख कर दिया है और साथ ही ह० लि० प्रतियों के पाठान्तर भी टिप्पणी में दिये गये हैं। इसीप्रकार जिस श्लोक या गद्य में कोई शब्द या पद अशुद्ध था, उसे साधार संशोधित व परिवर्तित करके टिप्पणी में संकेत कर दिया है। हमने स्वयं इसके प्रूफ संशोधन किये हैं, अतः प्रकाशन भी शुद्ध हुआ है, परन्तु कतिपय स्थलों पर दृष्टिदोष से और कतिपय स्थलों पर प्रेस की असावधानी-वश कुछ अशुद्धियाँ (रेफ व मात्रा का कट जाना-आदि) रह गई हैं, उसके लिए पाठक महानुभाव क्षमा करते हुए अन्त में प्रकाशित हुए शुद्धि पत्र से संशोधन करते हुए अनुगृहीत करेंगे ऐसी आशा है।

आभार

प्रस्तुत श्रुत-सेवा के सत्कार्य में हमें सबसे अधिक प्रोत्साहन व प्रेरणा श्री पूज्य गुरुवर्य्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य से प्राप्त हुई, इसके लिए मैं उनका चिरकृतज्ञ हूँ, साथ ही इसके संशोधन-हेतु जयपुर, नागौर, अजमेर, सीकर व बड़नगर के महानुभावों ने, जिनका नाम प्रस्तावना में उल्लिखित है, 'यशस्तिलक' की ह० लि० मूल व सटिप्पण प्रतियाँ प्रदान कीं, उनका मैं विशेष आभारी हूँ। श्री श्रद्धेय डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल अध्यक्ष—कला व पुरातत्त्वविभाग हिन्दूविश्वविद्यालय वाराणसी का भी मैं विशेष आभारी एवं चिरकृतज्ञ हूँ, जिन्होंने प्रस्तावना श्रवण कर उचित सुझाव दिए एवं महत्त्वपूर्ण व साङ्गोपाङ्ग 'प्राक्कथन' लिखकर अनुगृहीत किया। ग्रन्थ का मुद्रण व प्रकाशन वाराणसी में हुआ है, अतः स्थानीय विद्वानों (श्री० श्रद्धेय पं० कैलाशचन्द जी शास्त्री, श्री० पं० फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री, श्री० पं० अमृतलाल जी दर्शनाचार्य व साहित्याचार्य, श्री० प्रो० बा० खुशालचन्द जी एम० ए० साहित्याचार्य, श्री० पं० रणजीतसिंह जी मिश्र व्याकरण व साहित्याचार्य व श्री बा० गोकुलचन्द जी जैन एम० ए०) से मुझे समुचित सुझाव व सम्मतियाँ मिलीं, अतः इनका भी विशेष आभारी हूँ। श्री० बा० शिवनाथप्रसाद जी एम० ए० मंत्री जैनधर्मशाला भेलूपुर वाराणसी का भी आभारी हूँ जिन्होंने उक्त धर्मशाला में अनुमान ४ माह तक मुझे स्थान दिया। हमारी भा० टी० के कुछ स्थल देखकर समुचित सुझाव देनेवाले श्री पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर का भी आभारी हूँ। २५ प्रतियों के ग्राहक बनकर प्रकाशन में आर्थिक सुविधा देने-वाले श्री० दा० सिंघई कारेलाल जी कुन्दनलाल जी सागर का एवं श्रुतसेवा में सहयोग देनेवाले श्री० पं० ताराचन्द सर्राफ सागर का भी आभारी हूँ। गीताप्रेस वाराणसी के मैनेजर श्री० बा० परमानंद जी व श्री पं० दामोदरदास जी का भी आभारी हूँ, जिन्होंने प्रेस के मारफत कागज देने में सुविधा प्रदान की एवं श्री तारामुद्रण यन्त्रालय वाराणसी के अध्यक्ष का एवं मैनेजर श्री० पं० रामेश्वर जी पाठक शास्त्री का भी विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने मुद्रण व प्रकाशन संबंधी सुविधाएँ प्रदान कीं।

सुन्दरलाल शास्त्री प्रा० न्याय-काव्यतीर्थ

— सम्पादक

प्रस्तावना

प्रस्तुत 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य का सम्पादन विशेष अनुसन्धानपूर्वक निम्नलिखित ह० लि० प्राचीन प्रतियों के आधार पर किया गया है—

१. 'क' प्रति का परिचय—यह प्रति श्री० पूज्य भट्टारक मुनीन्द्रकीर्ति दि० जैन सरस्वतीभवन नागौर (राजस्थान) व्यवस्थापक—श्री० पूज्य भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्ति गादी नागौर की है, जो कि संशोधन-हेतु नागौर पहुँचे हुए मुझे श्री० धर्म० सेठ रामदेव रामनाथ जी चाँदूवाड़ नागौर के अनुग्रह से प्राप्त हुई थी। इसमें १०३/४×५ इञ्च की साईज के ३३१ पत्र हैं। यह विशेष प्राचीन प्रति है, इसकी लिपि ज्येष्ठ वदी ११ रविवार सं० १६५४ को श्री० 'रुका देवी' श्राविका ने कराई थी। प्रति का प्रारम्भ—श्री पार्श्वनाथाय नमः। श्रियं कुवलयानन्दप्रसाधितमहोदयः। इत्यादि मु० प्रतिवत् है। इसमें दो आश्वास पर्यन्त कहीं २ टिप्पणी है और आगे मूलमात्र है। इसके अन्त में निम्नलेख पाया जाता है—

'यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये धर्मामृतवर्षमहोत्सवो नामाष्टम आश्वासः। "भद्रं भूयात्" "कल्याणमस्तु" शुभं भवतु। संवत् १६५४ वर्षे ज्येष्ठ वदी ११ तिथौ रविवासरे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे नंद्याम्नाये आचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये मंडलाचार्य श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे मण्डलाचार्यानुक्रमे मुनि नेमिचन्द तच्छिष्य आचार्य श्री यशकीर्तिस्तस्मै इदं शास्त्रं 'यशस्तिलकाख्यं' जिनधर्मे समाश्रिता श्राविका 'रुका' ज्ञानावरणीयकर्मक्षयनिमित्तं घटाप्यतं।'

ज्ञानवान्ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः। अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद्भवेत्॥

शुभं भवतु। कल्याणमस्तु। इस प्रति का सांकेतिक नाम 'क' है।

विशेष उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान—उक्त 'क' प्रति के सिवाय हमें उक्त नागौर के सरस्वती-भवन में श्रीदेव-विरचित **'यशस्तिलक-पञ्जिका'** भी मिली, जिसमें 'यशस्तिलकचम्पू' के विशेष क्लिष्ट, अप्रयुक्त व वर्तमान कोशग्रन्थों में न पाये जानेवाले हजारों शब्दों का निघण्टु १३०० श्लोक परिमाण लिखा हुआ है। इसमें १३×६ इञ्च की साईज के ३३ पृष्ठ हैं। प्रति की हालत देखने से विशेष प्राचीन प्रतीत हुई, परन्तु इसमें इसके रचयिता श्रीदेव विद्वान् या आचार्य का समय उल्लिखित नहीं है। उक्त 'यशस्तिलकपञ्जिका' का अप्रयुक्त क्लिष्टतम शब्द-निघण्टु हमने विद्वानों की जानकारी के लिए एवं यशस्तिलक पढ़नेवाले छात्रों के हित के लिए इसी ग्रन्थ के अखीर में (परिशिष्ट संख्या २ पृ० ४१६-४४०) ज्यों का त्यों शुरु से ३ आश्वास पर्यन्त प्रकाशित भी किया है।

यशस्तिलक-पञ्जिका के प्रारम्भ में १० श्लोक निम्नप्रकार हैं[1]। अर्थात्—श्रीमज्जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करके श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचित 'यशस्तिलकचम्पू' की पञ्जिका **'श्रीदेव'** विद्वान् द्वारा कही जाती है॥ १॥ 'यशस्तिलकचम्पू' में निम्नप्रकार विषयों का निरूपण है—

---

१. यशोधरमहाकाव्ये सोमदेवैर्विनिर्मिते। श्रीदेवेनोच्यते पंजी नत्वा देवं जिनेश्वरम्॥ १॥

छंदःशब्दनिघंट्वलंकृतिकलासिद्धान्तसामुद्रकज्योतिर्वैद्यकवेदवादभरतानङ्गद्विपाश्वायुधम्।

तर्काख्यानकमंत्रनीतिशकुनक्ष्मारुट्पुराणस्मृतिश्रेयोऽध्यात्मजगत्स्थिति प्रवचनी व्युत्पत्तिरत्रोच्यते॥ २॥

१. छन्दशास्त्र, २. शब्दनिघण्टु, ३. अलङ्कार, ४. संगीत-आदि कलाएँ, ५. सिद्धान्त, ६. हस्तरेखाविज्ञान, ७. ज्योतिषशास्त्र, ८. वैद्यक, ९. वेद, १०. वादविवाद (खण्डन-मण्डन), ११. नृत्यशास्त्र, १२. कामशास्त्र या मनोविज्ञान, १३. गजविद्या, १४. शस्त्रविद्या, १५. दर्शनशास्त्र, १६. पौराणिक व ऐतिहासिक कथानक, १७. राजनीति, १८. शकुनशास्त्र, १९. वनस्पतिशास्त्र, २० पुराण, २१. स्मृतिशास्त्र, २२. अध्यात्मजगत में वर्तमान श्रेय (शाश्वत कल्याण) और २३. वक्तृत्वकला की व्युत्पत्ति ॥२॥ मैं (श्रीदेव) और यशस्तिलककार श्रीमत्सोमदेवसूरि ये दोनों ही लोक में काव्यकला के ईश्वर (स्वामी) हैं, क्योंकि सूर्य व चन्द्र को छोड़कर दूसरा कौन अन्धकार-विध्वंसक हो सकता है ? अपि तु कोई नहीं ॥३॥ 'यशस्तिलक' की सूक्तियों के समर्थन के विषय में तो मैं यशस्तिलककार श्रीमत्सोमदेवसूरि से भी विशिष्ट विद्वान् हूँ, क्योंकि स्त्रियों की सौभाग्यविधि में जैसा पति समर्थ होता है वैसा पिता नहीं होता ॥४॥

'यशस्तिलक' के अप्रयुक्त शब्दनिघण्टु का व्यवहार में प्रयोग के अस्त होजानेरूप अन्धकार को और द्विपदी-आदि अप्रयुक्त छन्दशास्त्र विषयक अप्रसिद्धिरूपी अन्धकार को यह हमारा प्रस्तुत ग्रन्थ (यशस्तिलक-पञ्जिका), जो कि उनका प्रयोगोत्पादकरूपी सूर्य सरीखा है, निश्चय से नष्ट करेगा ॥५॥ जिसप्रकार लोक में अन्धा पुरुष अपने दोष से स्खलन करता हुआ अपने खींचनेवाले पर कुपित होता है उसीप्रकार लोक भी स्वयं अज्ञ (शब्दों के सही अर्थ से अनभिज्ञ) है, इसलिए शब्दों के प्रयोक्ता कवि की निन्दा करता है ॥६॥ 'अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए' इसप्रकार के मार्ग का अनुसरण करनेवालों ने तो निश्चय से निघण्टु शब्दशास्त्रों के लिए जलाञ्जलि दे दी, अर्थात्—उन्हें पानी में बहा दिया ॥७॥ जिनकी ऐसी मान्यता है कि 'अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए' उनके यहाँ जहु, पेलव (पेलवं विरलं तनु इत्यमरः—छितरा) व योनि-आदि शब्दों का प्रयोग किसप्रकार संघटित होगा ? ॥८॥ इसलिए शब्द व अर्थ के वेत्ता विद्वानों का 'अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए अथवा प्रयुक्त शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए' यह एकान्त सिद्धान्त नहीं है ॥९॥ प्रस्तुत शास्त्र (पञ्जिका) में १३०० श्लोकपरिमाण रचा हुआ अभूतपूर्व व प्रमुख शब्दनिघण्टु शब्द व अर्थ के सर्वज्ञ 'श्रीदेव' कवि से उत्पन्न हुआ है ॥१०॥ इसके अखीर में निम्नप्रकार उल्लिखित है :—

इति श्रीदेव-विरचितायां यशस्तिलक-पञ्जिकायां अष्टम आश्वासः। इति यशस्तिलक-टिप्पणीकं समाप्तं। शुभं भवतु।

इस प्रति का भी सांकेतिक नाम 'क' है।

२. 'ख' प्रति का परिचय—यह सटिप्पण प्रति आमेर-शास्त्रभण्डार जयपुर की है। श्री० माननीय पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ प्रिन्सिपल संस्कृत जैन कालेज जयपुर एवं श्री० पं० कस्तूरचन्द्रजी काशलीवाल

अहं वा काव्यकर्ता वा तौ द्वावेवेश्वराविह। विधुव्रध्नातिरेकेण को नामान्यस्तमोपहः ॥३॥

कवेरपि विदग्धोऽहमेतत्सूक्तिसमर्थने। यत्सौभाग्यविधौ स्त्रीणां पतिवन्न पिता प्रभुः ॥४॥

प्रयोगास्तमयं छन्दस्स्वप्रसिद्धिमयं तमः। तत्प्रयोगोदयार्को हि निरस्यत्यसमंजसम् ॥५॥

स्वाकर्षकायान्धः स्वदोषेण यथा स्खलन्। स्वयमज्ञस्तथा लोकः प्रयोक्तारं विनिन्दति ॥६॥

नाप्रयुक्तं प्रयुञ्जीतेत्येतन्मार्गानुसारिभिः। निघण्टुशब्दशास्त्रेभ्यो नूनं दत्तो जलाञ्जलिः ॥७॥

जहु पेलव योन्यादीन् शब्दांस्तत्र प्रयुञ्जते। नाप्रयुक्तं प्रयुञ्जीतेत्येषः येषां नयो हृदि ॥८॥

नाप्रयुक्तं प्रयोक्तव्यं प्रयुक्तं वा प्रयुज्यते। इत्येकान्ततस्ततो नास्ति वागर्थौचित्यवेदिनाम् ॥९॥

साग्रा दशशती वाचामपूर्वा समभूदिह। कवेर्वागर्थसर्वज्ञाद्वर्णकत्रिशती तथा ॥१०॥

एम० ए० शास्त्री जयपुर के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमें १२½" × ६ इञ्च की साईज के २५६ पत्र हैं। रचना शक संवत् १०८८ व लिपि सं० १८६६ की है। प्रति विशेष शुद्ध व टिप्पणी-मण्डित है। इसका आरम्भ निम्न प्रकार है:

श्रियं कुवलयानन्द[1]प्रसादितमहोदयः। देवश्च[2]न्द्रप्रभः पुष्याज्जगन्मानसवासिनीम् ॥ १ ॥

३. 'ग' प्रति का परिचय—यह ह० लि० सटि० प्रति श्री दि० जैन बड़ाधड़ा के पंचायती दि० जैन मन्दिर के शास्त्रभण्डार की है, जो कि श्री० बा० मिलापचन्द्रजी B. Sc. LL. B. एडवोकेट सभापति महोदय एवं श्री० धर्म० सेठ नौरतमलजी सेठी सराफ ऑ० कोषाध्यक्ष तथा युवराजपदस्थ श्री० पं० चिम्मनलालजी के अनुग्रह व सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमें ११¾ × ८½ इञ्च की साईज के ४०४ पत्र हैं। यह प्रति विशेष शुद्ध एवं सटिप्पण है। प्रस्तुत प्रति वि० सं० १८५४ के तपसि मास में गङ्गाविष्णु नाम के किसी विद्वान् द्वारा लिखी गई है। प्रति का आरम्भ ॐ परमात्मने नमः।

श्रियं कुवलयानन्द[3]प्रसादितमहोदयः। देवश्चन्द्रप्रभः पुष्याज्जगन्मानसवासिनीम् ॥ १ ॥

श्रीरस्तु। श्रीः।

विशेष—प्रस्तुत प्रति के आधार से किया हुआ यश० उत्तरार्द्ध का विशेष उपयोगी व महत्त्वपूर्ण मुद्रित संशोधन (अनेकान्त वर्ष ५ किरण १-२) की दो प्रतिएँ हमें श्री० पं० दीपचन्द्रजी शास्त्री पांड्या केकड़ी ने प्रदान की थीं एतदर्थ अनेक धन्यवाद। उक्त संशोधन से भी हमें 'यशस्तिलक' उत्तरार्ध के संस्कृत पाठ-संशोधन में यथेष्ट सहायता मिली।

४. 'घ' प्रति का परिचय—यह ह० लि० सटि० प्रति श्री दि० जैन बड़ामन्दिर बीसपन्थ आम्नाय सीकर के शास्त्रभण्डार से श्री० पं० केशवदेवजी शास्त्री व श्री० पं० पदमचन्द्रजी शास्त्री के अनुग्रह व सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमें १३ × ५¾ इञ्च की साईज के २८५ पत्र हैं। लिपि विशेष स्पष्ट व शुद्ध है। इसकी प्रतिलिपि फाल्गुन कृ० ६ शनिवार सं० १६१० को श्री० पं० चिमनरामजी के पौत्र व शिष्य पं० 'महाचन्द्र' विद्वान् द्वारा की गई। प्रति का आरम्भ—ॐनमः सिद्धेभ्यः।

श्रियं कुवलयानंदप्रसाधितमहोदयः इत्यादि मु० प्रतिवत् है।

अन्त में वर्णः पदं वाक्यविधिः समासो इत्यादि मु० प्रतिवत्। ग्रन्थ संख्या ८००० शुभं भूयात्। श्रेयोऽस्तु।

इसका अन्तिम लेख—अथास्मिन् शुभसंवत्सरे विक्रमादित्यसमयात् संवत् १६१० का प्रवर्तमाने फाल्गुनमासे कृष्णपक्षे तिथौ षष्ठयां ६ शनिवासरे मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्वये अजमेरगच्छे श्रीमदाचार्यवर आचार्यजी श्री श्री श्री श्री १०८ श्री गुणचन्द्रजी तत्पट्टे आचार्यजी श्री श्री

---

१. प्रसादीकृतः दत्त इत्यर्थः। २. चन्द्रवत्-कपूरवद् गौरा प्रभा यस्य। अखीर—वर्णः पदं वाक्यविधिः समासो इत्यादि मु० प्रतिवत्।

३. प्रसादित· निर्मलीकृतो महानुदयो येन सः। प्रसादीकृतः दत्त इत्यर्थः। चन्द्रस्य मृगाङ्कस्येव प्रभा दीप्तिर्यस्यासौ। पुष्यात्। पुष्टिं वृद्धिं क्रियान्। चन्द्रः कर्पूरः तद्वत्प्रभा यस्य सः। हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः घनसारश्चन्द्रसंज्ञः इत्युभयत्राप्यमरः। इसके अखीर में—वर्षे वेद-शरेभ-शीतगुमिते मासे तपस्याह्वये तिथ्यां ··तत्विषि मतं वेत्तुं जिनाधीशिनाम्। गंगाविष्णुरितिप्रथामधिगतेनाभिख्यया निर्मिता प्र(न्थस्या)स्य लिपिः समाप्तिमगमद्गुर्वंङ्घ्रिपद्मालिना ॥ १ ॥

कल्याणकीर्ति जी तत्पट्टे आचार्यजी श्री श्री विशालकीर्ति जी तत्पट्टे आचार्य जी श्री श्री १०८ भानुकीर्ति जी तच्छिष्य पं० भागचन्दजी, गोवर्धनदासजी, हेमराजजी, बेणीरामजी, लक्ष्मीचन्दजी, लालचन्दजी, उदयरामजी, मनसारामजी, आर्जिका विमलश्री,[1] लक्ष्मीमति,[2] हरवाई[3], बखती[4], राजा[5], राही[6] एतेषां मध्ये पंडितजी श्री भागचन्दजी तच्छिष्य पं० जी श्री दीपचन्दजी तच्छिष्य पंडितोत्तम पंडितजी श्री श्री चिमनरामजी तत्पौत्र शिष्य महाचन्द्रेणेदं 'यशस्तिलक' नाम महाकाव्यं लिपिकृतं सीकरनगरे जैनमन्दिरे श्री शान्तिनाथ चैत्यालये शेखावतमहाराव राजा श्री भैरवसिंहजी राज्ये स्वात्मार्थे लिपिकृतं शुभं भूयात्।

इसका सांकेतिक नाम 'घ' है।

५. **'च' प्रति का परिचय**—यह प्रति बड़नगर के श्री दि० जैन मन्दिर गोट श्री० सेठ मलूकचन्द हीराचन्द जी वाले मन्दिर की है। प्रस्तुत मन्दिर के प्रबन्धकों के अनुग्रह से प्राप्त हुई थी। इसमें १२×५½ इञ्च की साईज के २८३ पत्र हैं। इसकी लिपि पौष कृ० द्वादशी रविवार वि० सं० १८८० में श्री पं० बिरधीचन्द जी ने की थी। प्रति की स्थिति अच्छी है। यह शुद्ध व सटिप्पण है। इसके शुरु में मुद्रित प्रति की भाँति श्लोक हैं और अखीर में निम्नप्रकार लेख है—

वि० सं० १८८० वर्षे पौषमासे कृष्णपक्षे द्वादश्यां तिथौ आदित्यवासरे श्रीमूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये आचार्य श्री श्री शुभचन्द्रदेवाः तत्संघाष्टके पंडितजी श्री श्री नौनिधिराम जी तच्छिष्य पं० श्री नवलराम जी तच्छिष्य पं० बिरधीचन्द्र जी तेनेदं यशस्तिलकचम्पू नाम शास्त्रं लिखितं स्ववाचनार्थं। श्री शुभं भवतु कल्याणमस्तु। इसका सांकेतिक नाम 'च' है।

ग्रन्थपरिचय—

श्रीमत्सोमदेवसूरि का 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य संस्कृत साहित्यसागर का अमूल्य, अनोखा व बेजोड़ रत्न है। इसमें ज्ञान का विशाल खजाना वर्तमान है, अतः यह समूचे संस्कृत साहित्य में अपनी महत्त्वपूर्ण अनोखी विशेषता रखता है। इसका गद्य 'कादम्बरी' व 'तिलकमञ्जरी' की टक्कर का ही नहीं प्रत्युत उससे भी विशेष महत्त्वपूर्ण व क्लिष्टतर है। प्रस्तुत महाकाव्य महान् क्लिष्ट संस्कृत में अष्टसहस्री-प्रमाण (आठ हजार श्लोक परिमाण) गद्य-पद्य पद्धति से लिखा गया है। इसमें आठ आश्वास (सर्ग) हैं, जो कि अपने नामानुरूप विषय-निरूपक हैं। जो विद्वान् 'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते' अर्थात्—'नौ सर्गपर्यन्त 'माघ' काव्य पढ़ लेने पर संस्कृत का कोई नया शब्द बाकी नहीं रहता' यह कहते हैं, उन्होंने यशस्तिलक का गम्भीर अध्ययन नहीं किया, अन्यथा ऐसा न कहते, क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में हजारों शब्द ऐसे मौजूद हैं, जो कि वर्तमान कोशग्रन्थों व काव्यशास्त्रों में नहीं पाये जाते[1]। अतः 'गते शब्दनिधावस्मिन्नवशब्दो न विद्यते' अर्थात् 'शब्दों के खजानेरूप इस यशस्तिलकचम्पू के पढ़ लेने पर संस्कृत का कोई भी नया शब्द बाकी नहीं रहता' यह उक्ति सही समझनी चाहिए। पञ्जिकाकार श्रीदेव[2] विद्वान् ने कहा है कि इसमें यशोधर महाराज के चरित्र-चित्रण के मिष से राजनीति, गजविद्या, अश्वविद्या, शस्त्रविद्या, आयुर्वेद, वादविवाद, नीतिशास्त्र, ऐतिहासिक व पौराणिक दृष्टान्तमालाएँ, अनोखी व बेजोड़ काव्य-कला, हस्तरेखाविज्ञान, ज्योतिष, वेद, पुराण, स्मृतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, अलङ्कार, छन्दशास्त्र, सुभाषित

१. देखिए—इसका अप्रयुक्त-क्लिष्टतम शब्द-निघण्टु (परिशिष्ट २ पृ० ४१९—४४०)।

१. देखिए पञ्जिकाकार का श्लोक नं ४ २।

एवं अप्रयुक्त-क्लिष्टतम शब्द-निघण्टु-आदि के ललित निरूपण द्वारा ज्ञान का विशाल खजाना भरा हुआ है। उदाहरणार्थ—राजनीति—इसका तृतीय आश्वास (पृ० २२५-२५१, २५७-३१७, ३६५-३७७, एवं पृ० ३८४-३८६) राजनीति के समस्त तत्वों से ओतप्रोत है। इसमें राजनीति की विशद, विस्तृत व सरस व्याख्या है। प्रस्तुत शास्त्रकार द्वारा अपना पहला राजनीति-ग्रन्थ 'नीतिवाक्यामृत' इसमें यशोधर महाराज के चरित्र-चित्रण के व्याज से अन्तर्निहित किया हुआ-सा मालूम पड़ता है। इसमें काव्यकला व कहानीकला की कमनीयता के कारण राजनीति की नीरसता लुप्तप्राय हो गई है। गजविद्या व अश्वविद्या—इसके द्वितीय व तृतीय आश्वास (आ० २ पृ० १६३-१७६ एवं आ० ३ पृ० ३२६-३३६) में गजविद्या व अश्वविद्या का निरूपण है। शस्त्रविद्या—इसके तृतीय आश्वास (पृ० ३६६-३७४ व ३६३-३६५) में उक्त विद्या का निरूपण है। आयुर्वेद—इसके तृतीय आश्वास (पृ० ३४०-३५१) में स्वास्थ्योपयोगी आयुर्वैदिक सिद्धान्तों का वर्णन है। वादविवाद—इसके तृतीय आश्वास (पृ० २१८-२४१) में उक्त विषय का कथन है। नीतिशास्त्र—इसके तृतीय आश्वास की उक्त राजनीति के सिवाय इसके प्रथम आश्वास (श्लोक नं० ३०-३२, ३५-३८, ४५, १२८, १३०, १३१, १३३, १४३, १४८-१५१, पृ० ८६, ६१, ६२ के गद्य, व श्लोक नं० १५२) में तथा द्वितीय आश्वास (श्लोक नं० ६-११, १३, २४, ३३, ३४, ५६-५७, ८८-८६, ९२, ६३, पृ० १५६-१५६ तक का गद्य,) नीतिशास्त्र का प्रतीक है।

चतुर्थ आश्वास (पृ० ७६) के सुभाषित पद्यों व गद्य का अभिप्राय यह है—'यशोधर महाराज दीक्षा-हेतु विचार करते हुए कहते हैं—'मैंने शास्त्र पढ़ लिए, पृथ्वी अपने अधीन कर ली, याचकों अथवा सेवकों के लिए यथोक्त धन दे दिए और यह हमारा 'यशोमतिकुमार' पुत्र भी कवचधारी वीर है, अतः मैं समस्त कार्य में अपने मनोरथ की पूर्ण सिद्धि करनेवाला हो चुका हूँ[1]। 'पंचेन्द्रियों के स्पर्श-आदि विषयों से उत्पन्न हुई सुख-तृष्णा मेरे मन को भक्षण करने में समर्थ नहीं है'। क्योंकि 'इन्द्रिय-विषयों (कमनीय-कामिनी-आदि) में, जिनकी श्रेष्ठता या शक्ति एक बार परीक्षित हो चुकी है, प्रवृत्त होने से बार बार खाये हुए को खाता हुआ यह प्राणी किस प्रकार लज्जित नहीं होता? अपितु अवश्य लज्जित होना चाहिए[2]॥ सुरत (मैथुन) क्रीड़ा के अखीर में होनेवाले सुस्पर्श (सुखानुमान) को छोड़कर दूसरा कोई भी सांसारिक सुख नहीं है, उस क्षणिक सुख द्वारा यदि विद्वान पुरुष ठगाए जाते हैं तो उनका तत्वज्ञान नष्ट ही है[3]॥ इसके पश्चात् के गद्य-खण्ड का अभिप्राय यह है 'मानव को बाल्य-अवस्था में विद्याभ्यास गुणादि कर्तव्य करना चाहिए और जवानी में काम सेवन करना चाहिए एवं वृद्धावस्था में धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ का अनुष्ठान करना चाहिए। अथवा अवसर के अनुसार काम-आदि सेवन करना चाहिए।' यह भी वैदिक वचन है परन्तु उक्त प्रकार की मान्यता सर्वथा नहीं है, क्योंकि आयुकर्म अस्थिर है। अभिप्राय यह है कि उक्त प्रकार की मान्यता युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जीवन क्षणभंगुर है, अत मृत्यु द्वारा गृहीत केश-सरीखा होते हुए धर्म पुरुषार्थ का अनुष्ठान विद्याभ्यास-सा बाल्यावस्था से ही करना चाहिए

चतुर्थ आश्वास (पृ० १४३-१४५) के ६ सुभाषित पद्यों में कूटनीति है, उनमें से दो श्लोक सुनिए—'तुम लोग मनुष्यों का सन्मान करते हुए कर्णामृतप्राय मधुर वचन बोलो तथा जो कर्तव्य चित्त में वर्तमान है, उसे करो। उदाहरणार्थ—मयूर मधुर शब्द करता हुआ विषैले साँप को खा लेता है[4]। जिसप्रकार यह लोक ईंधन को जलाने-हेतु मस्तक पर धारण करता है उसीप्रकार नीतिशास्त्र में प्रवीण पुरुष को भी शत्रु के लिए शान्त करके विनाश में लाना चाहिए—उसका क्षय करना चाहिए[5]।

---

१. समुच्चयालंकार। २. ३. दृष्टान्तालङ्कार। ४. दृष्टान्तालङ्कार। ५. दृष्टान्तालङ्कार।

ऐतिहासिक व पौराणिक दृष्टान्तमालाएँ—इसके तृतीय आश्वास (पृ० २८५-२८६) में उक्त विषय का उल्लेख है। इसीप्रकार इसके चतुर्थ आश्वास (पृ० १५३) की ऐतिहासिक दृष्टान्तमाला सुनिए—'जैसे यवन देश में स्वेच्छाचारिणी 'मणिकुण्डला' रानी ने अपने पुत्र के राज्य-हेतु विष-दूषित मद्य के कुरले से 'अज' राजा को मार डाला और सूरसेन (मथुरा) में 'वसन्तमती' ने विष-दूषित लाक्षारस से रँगे हुए अधरों से 'सुरतविलास' नामके राजा को मार डाला-इत्यादि।

अनोखी व बेजोड़ काव्यकला—इस विषय में तो यह प्रसिद्ध ही है। क्योंकि साहित्यकार आचार्यों ने कहा है[1] 'निर्दोष (दुःश्रवत्व-आदि दोषों से शून्य), गुणसम्पन्न (औदार्य-आदि १० काव्य-गुणों से युक्त) तथा प्रायः सालंकार (उपमा-आदि अलंकारों से युक्त) शब्द व अर्थ को उत्तम काव्य कहते हैं'। अथवा शृङ्गार-आदि रसों की आत्मावाले वाक्य (पदसमूह) को काव्य कहते हैं[2]। उक्त प्रकार के लक्षण प्रस्तुत यशस्तिलक में वर्तमान हैं। इसके सिवाय 'ध्वन्यते ऽभिव्यज्यते चमत्कारालिङ्गितो भावोऽस्मिन्निति ध्वनिः'। अर्थात्—जहाँपर चमत्कारालिङ्गित पदार्थ व्यञ्जनाशक्ति द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, उसे ध्वनि कहते हैं। शास्त्रकारों ने ध्वन्य काव्य को सर्वश्रेष्ठ कहा है[3]। अतः प्रस्तुत यशस्तिलक के अनेक स्थलों पर (उदाहरणार्थ (प्रथम आश्वास पृ० ४५ (गद्य)-४७) ध्वन्य काव्य वर्तमान है, जो कि इसकी उत्तमता का प्रतीक है एवं इसके अनेक गद्यों व पद्यों में शृङ्गार, वीर, करुण व हास्य-आदि रस वर्तमान हैं। उदाहरणार्थ आश्वास दूसरे में (श्लोक नं. २२०) का पद्य शृङ्गार रस प्रधान है-इत्यादि। **ज्योतिषशास्त्र**—आश्वास २ (पृ. १८०-१८२) में ज्योतिषशास्त्र का निरूपण है, इसके सिवाय आश्वास चतुर्थ[4] में, जो कि मुद्रित नहीं है, कहा है—जब यशोधर महाराज की माता ने नास्तिक दर्शन का आश्रय लेकर उनके समक्ष इस जीव का पूर्वजन्म व भविष्यजन्म का अभाव सिद्ध किया तब यशोधरमहाराज ज्योतिषशास्त्र के आधार से जीव का पूर्वजन्म व भविष्यजन्म सिद्ध करते हैं कि हे माता! जब इस जीव का पूर्वजन्म है तभी निम्नप्रकार आर्याच्छन्द जन्मपत्रिका के आरंभ में लिखा जाता है—'इस जीव ने पूर्वजन्म में जो पुण्य व पाप कर्म उपार्जित किये हैं, भविष्य जन्म में उस कर्म के उदय को यह ज्योतिषशास्त्र उसप्रकार प्रकट करता है जिसप्रकार दीपक अन्धकार में वर्तमान घट-पटादि वस्तुओं को प्रकट (प्रकाशित) करता है। अर्थात्—जब पूर्वजन्म का सद्भाव है तभी ज्योतिषशास्त्र उत्तर जन्म का स्वरूप प्रकट करता है, इससे जाना जाता है कि गर्भ से लेकर मरणपर्यन्त ही जीव नहीं है, अपि तु गर्भ से पूर्व व मरण के बाद भी है-इत्यादि'। **अप्रयुक्त-क्लिष्टतम शब्दनिघण्टु**—ग्रन्थ के इस विषय को श्री० श्रद्धेय माननीय डा० 'वासुदेवशरण' जी अग्रवाल अध्यक्ष—कला व पुरातत्त्वविभाग हिन्दूविश्वविद्यालय काशी ने अपने विस्तृत व साङ्गोपाङ्ग 'प्राक्कथन' में विशेष स्पष्ट कर दिया है। **वेद पुराण व स्मृतिशास्त्र**-इसके चतुर्थ आश्वास में इसका निरूपण है, परन्तु विस्तार-वश उल्लेख नहीं किया जा सकता। **धर्मशास्त्र**—द्वितीय आश्वास (पृ. १४१-१५५) में वैराग्यजनक १२ भावनाओं का निरूपण है। चतुर्थ आश्वास में

---

१. तथा च काव्यप्रकाशकारः—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।

२. तथा च विश्वनाथ कविराजः—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। साहित्यदर्पण से संकलित—सम्पादक

३. तथा च विश्वनाथ कविराजः—वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम् ॥१॥ साहित्यदर्पण (४ परिच्छेद) से संकलित

४. यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः प्राप्तिम्।
व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव। आ० ४ (पृ. ९३)

वैदिकी हिंसा का निरसनपूर्वक अहिंसाधर्म की मार्मिक व्याख्या है और इसी में (पृ. १११-११४) में जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध की गई है एवं आ० ६-८ तक श्रावकाचार का दार्शनिक पद्धति से अनेक कथानकों सहित साङ्गोपाङ्ग निरूपण है।

दर्शनशास्त्र—इसके पंचम आश्वास में सांख्य, जैमिनीय, वाममार्गी व चार्वाकदर्शन के पूर्वपक्ष हैं।

यथा—घृष्यमाणो यथाङ्गारः शुक्लतां नैति जातुचित्। विशुद्ध्यति कुतश्चित्तं निसर्गमलिनं तथा ॥ आ० ५ पृ. २५०
न चापरमिहास्ताविष: समर्थोऽस्ति यदर्थोऽयं तपःप्रयास: सफलायास: स्यात्।

यत:। द्वादशवर्षा योषा षोडशवर्षोचितस्थिति: पुरुष:। प्रीति: परा परस्परमनयो: स्वर्ग: स्मृत: सद्भि:॥ आ० ५ पृ० २५०-२५१

अर्थात्—'धूमध्वज' नामके विद्वान् ने मीमांसक-मत का आश्रय लेकर सुदत्ताचार्य से कहा—'जिसप्रकार घर्षण किया हुआ अङ्गार (कोयला) कभी भी शुक्लता (शुभ्रता) को प्राप्त नहीं होता उसीप्रकार स्वभावत: मलिन चित्त भी किन कारणों से विशुद्ध हो सकता है? अपि तु नहीं हो सकता। परलोकस्वरूपवाला स्वर्ग प्रत्यक्षप्रतीत नहीं है; जिसनिमित्त यह तपश्चर्या का खेद सफल खेद-युक्त होसके। क्योंकि 'बारह वर्ष की स्त्री और सोलह वर्ष की योग्य आयुवाला पुरुष, इन दोनों की परस्पर उत्कृष्ट प्रीति (दाम्पत्य प्रेम) को सज्जनों ने स्वर्ग कहा है ॥'

इदमेव च तत्त्वमुपलभ्याभाषि नीलपटेन—
स्त्रीमुद्रां झषकेतनस्य महतीं सर्वार्थसंपत्करीं ये मोहादवधीरयन्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं मुण्डीकृता लुञ्चिता: केचित्पञ्चशिखीकृताश्च जटिन: कापालिकाश्चापरे ॥ आ० ५ पृ० २५२

अर्थात्—'नीलपट' नामके कवि ने इसी वाममार्ग को लेकर कहा है 'जो मूढ़बुद्धि झूँठे फल (स्वर्गादि) का अन्वेषण करनेवाले होकर अज्ञानवश कामदेव की स्त्रीमुद्रा (तान्त्रिक योग-साधना में सहायक स्त्री) का, जो कि सर्वश्रेष्ठ और समस्त प्रयोजन व संपत्ति सिद्ध करनेवाली है, तिरस्कार करते हैं, वे मानों—उसी कामदेव द्वारा विशेष निर्दयतापूर्वक ताड़ित कर मुण्डन किये गए, अथवा केश उखाड़नेवाले कर दिए गए एवं पञ्चशिखा-युक्त (चोटीधारी) किये गए एवं कोई तपस्वी कापालिक किये गए।

चण्डकर्मा—यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचर:। भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुत: ॥ आ० ५ पृ० २५३

अर्थात्—'चण्डकर्मा' कहता है कि निम्नप्रकार नास्तिकदर्शन की मान्यता स्वीकार करनी चाहिए—'जब तक जिओ तब तक सुखपूर्वक जीवन यापन करो; क्योंकि संसार में कोई भी मृत्यु का अविषय नहीं है। अर्थात्—सभी काल-कवलित होते हैं। भस्म की हुई शान्त देह का पुनरागमन किसप्रकार हो सकता है? अपितु नहीं हो सकता ॥ १ ॥

पश्चात् उनका अनेक, प्रबल व अकाट्य दार्शनिक युक्तियों द्वारा निरसन (खंडन) किया गया है।[1]

---

१. 'धूमध्वज' विद्वान् के जैमिनीय मत का निरास—
मलकलुषतायातं रत्नं विशुद्ध्यति यत्नतो भवति कनकं तत्पाषाणो यथा च कृतक्रियः।
कुशलमतिभिः कैश्चिद्दन्यैस्तथात्मनयाश्रितैरयमपि गलत्क्लेशाभोगः क्रियेत नरः पुमान् ॥१॥ आ० ५ पृ० २५४

सारांश—जिसप्रकार मल (कीट) के कारण कलुषता-युक्त माणिक्यादि रत्न यत्नों (शाणोल्लेखन-आदि उपायों) द्वारा विशुद्ध होजाता है और जिसप्रकार सुवर्ण-पाषाण, जिसकी क्रियाएँ (अग्नि-तापन, छेदन व भेदन-आदि

ग्रन्थकर्ता का परिचय—प्रस्तुत शास्त्रकार द्वारा स्वयं लिखी हुई यशस्तिलक की गद्यप्रशस्ति[१] से विदित होता है कि **यशस्तिलकचम्पू** महाकाव्य के रचयिता आचार्यप्रवर श्रीमत्**सोमदेव** सूरि हैं, जो कि दि० जैन सम्प्रदाय में प्रसिद्ध व प्रामाणिक चार संघों में से देवसंघ के आचार्य थे। इनके गुरु का नाम **'नेमिदेव'** और दादागुरु का नाम **'यशोदेव'** था। ग्रन्थकर्ता के गुरु दार्शनिक-चूडामणि थे ; क्योंकि उन्होंने ९३ महावादियों को शास्त्रार्थ में परास्त कर विजयश्री प्राप्त की थी। नीतिवाक्यमृत की गद्यप्रशस्ति[२] से भी यह मालूम होता है कि श्रीमत्सोमदेवसूरि के गुरु श्रीमन्नेमिदेव ऐसे थे, जिनके चरणकमल समस्त तार्किक-समूह में चूडामणि विद्वानों द्वारा पूजे गये हैं एवं पचपन महावादियों पर विजयश्री प्राप्त करने के कारण प्राप्त की हुई कीर्तिरूप मन्दाकिनी द्वारा जिन्होंने तीन भुवन पवित्र किये हैं तथा जो परम तपश्चरणरूप रत्नों के रत्नाकर (समुद्र) हैं। उसमें यह भी उल्लिखित है कि सोमदेवसूरि वादीन्द्रकालानल श्रीमहेन्द्रदेव भट्टारक के अनुज—लघुभ्राता थे। श्री महेन्द्रदेवभट्टारक की उक्त 'वादीन्द्रकालानल' उपाधि उनकी दिग्विजयिनी दार्शनिक विद्वत्ता की प्रतीक है। प्रस्तुत प्रशस्ति से यह भी प्रतीत होता है कि श्रीमत्सोमदेवसूरि अपने गुरु व अनुजसरीखे तार्किक-चूडामणि व कविचक्रवर्ती थे। अर्थात्—श्रीमत्सोमदेवसूरि 'स्याद्वादाचलसिंह', 'तार्किकचक्रवर्ती', 'वादीभपंचानन', 'वाक्कल्लोलपयोनिधि', 'कविकुलराज' इत्यादि प्रशस्ति (उपाधि) रूप प्रशस्त अलङ्कारों से मण्डित हैं। साथ में उसमें यह भी लिखा है कि उन्होंने निम्नप्रकार शास्त्ररचना की थी। अर्थात्—वे षण्णवतिप्रकरण (९६ अध्यायवाला शास्त्र), युक्तिचिन्तामणि (दार्शनिक ग्रन्थ), त्रिवर्गमहेन्द्र-मातलिसंजल्प (धर्मादि-पुरुषार्थत्रय-निरूपक नीतिशास्त्र) यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य एवं नीतिवाक्यामृत इन महाशास्त्रों के बृहस्पतिसरीखे रचयिता हैं। उक्त तीनों महात्माओं (यशोदेव, नेमिदेव व महेन्द्रदेव) के संबंध में कोई ऐतिहासिक सामग्री व उनकी ग्रन्थ-रचना-आदि उपलब्ध न होने के कारण हमें और कोई बात ज्ञात नहीं है।

तार्किकचूडामणि—श्रीमत्सोमदेवसूरि भी अपने गुरु और अनुज के सदृश बड़े भारी तार्किक विद्वान् थे। इनके जीवन का बहुभाग षड्दर्शनों के अभ्यास में व्यतीत हुआ था, जैसा कि उन्होंने 'यशस्तिलक' की उत्थानिका में कहा है—'शुष्क घास-सरीखे जन्मपर्यन्त अभ्यास किये हुए पक्षान्तर में भक्षण किये हुए) दर्शनशास्त्र के कारण मेरी इस बुद्धिरूपी गौ से यशस्तिलक महाकाव्यरूप दूध विद्वानों के पुण्य से उत्पन्न हुआ है'[१]। उनकी पूर्वोक्त स्याद्वादाचलसिंह, वादीभपंचानन व तार्किकचक्रवर्ती-आदि

शुद्धि के उपाय) की गई हैं, सुवर्ण होजाता है उसीप्रकार कुशल बुद्धिशाली व आप्त (वीतराग सर्वज्ञ) तथा उसके स्याद्वाद (अनेकान्त) का आश्रय प्राप्त किये हुए किन्हीं भव्य पुरुषों द्वारा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र-आदि आत्मशुद्धि के उपायों से यह आत्मा भी, [जो कि शरीर व इन्द्रियादिक से भिन्न होती हुई भी मिथ्यात्वादि से मलिन है] जिसके क्लेशों का विस्तार नष्ट हो गया है, ऐसा उत्कृष्ट शुद्ध किया जाता है ॥१॥ इसके बाद वाममार्ग आदि का विस्तृत निरास है, परन्तु विस्तार-वश उल्लेख नहीं किया जा सकता।

१. श्रीमानस्ति स देवसङ्घतिलको देवो यशः पूर्वकः शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधिः **श्रीनेमिदेवाह्वयः**।
तस्याश्चर्यतपः स्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिनां शिष्योऽभूदिह **सोमदेव** यतिपस्तस्यैष काव्यक्रमः॥ —यशस्तिलकचम्पू

२. इति सकलतार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य, पंचपंचाशन्महावादिविजयोपार्जितकीर्तिमन्दाकिनीपवित्रित-त्रिभुवनस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वतः **श्रीमन्नेमिदेवभगवतः** प्रियशिष्येण वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन,

उपाधियाँ उनकी दार्शनिक प्रकाण्ड विद्वत्ता की प्रतीक हैं। साथ में प्रस्तुत यशस्तिलक के पंचम, षष्ठ व अष्टम आश्वास में सांख्य, वैशेषिक व चार्वाक-आदि दार्शनिकों के पूर्वपक्ष व उनकी युक्तिपूर्ण मीमांसा भी उनकी विलक्षण व प्रकाण्ड दार्शनिकता प्रकट करती है, जिसका हम पूर्व में उल्लेख कर आए हैं। परन्तु वे केवल तार्किकचूडामणि ही नहीं थे साथ में काव्य, व्याकरण, धर्मशास्त्र और राजनीति-आदि के भी धुरंधर विद्वान् थे।

कवित्व—उनका यह 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वे महाकवि थे और काव्यकला पर भी उनका असाधारण अधिकार था। उसकी प्रशंसा में स्वयं ग्रन्थकर्ता ने यत्र तत्र जो सुन्दर पद्य कहे हैं वे जानने योग्य हैं[२-३] :—

'मैं शब्द और अर्थपूर्ण सारे सारस्वत रस (साहित्यरस) को भोग चुका हूँ; अतएव अब जो अन्य कवि होंगे, वे निश्चय से उच्छिष्टभोजी (जूँठा खानेवाले) होंगे—वे कोई नई बात न कह सकेंगे[४]। इन उक्तियों से इस बात का आभास मिलता है कि आचार्य श्रीसोमदेव किस श्रेणी के कवि थे और उनका यह महाकाव्य कितना महत्त्वपूर्ण है। महाकवि सोमदेव की वाक्कल्लोलपयोनिधि व कविराजकुञ्जर-आदि उपाधियाँ भी उनके श्रेष्ठकवित्व की प्रतीक हैं।

धर्माचार्यत्व—यद्यपि अभी तक श्री सोमदेवसूरि का कोई स्वतंत्र धार्मिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है परन्तु यशस्तिलक के अन्तिम तीन आश्वास (६-८), जिनमें उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है एवं यश० के चतुर्थ आश्वास में वैदिकी हिंसा का निरसन करके अहिंसातत्त्व की मार्मिक व्याख्या की गई है, इससे उनका धर्माचार्यत्व प्रकट होता है।

राजनीतिज्ञता—श्री सोमदेवसूरि के राजनीतिज्ञ होने का प्रमाण उनका 'नीतिवाक्यामृत' तो है ही, इसके सिवाय यशस्तिलक के तृतीय आश्वास में यशोधरमहाराज का चरित्र-चित्रण करते समय राजनीति की विस्तृत चर्चा की गई है। उक्त विषय हम पूर्व में उल्लेख कर आए हैं।

विशाल अध्ययन—यशस्तिलक व नीतिवाक्यामृत ग्रंथ उनका विशाल अध्ययन प्रकट करते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उनके समय में जितना भी जैन व जैनेतर साहित्य (न्याय, व्याकरण, काव्य, नीति, व दर्शन-आदि) उपलब्ध था, उसका उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था।

स्याद्वादाचलसिंह-तार्किकचक्रवर्ति-वादीभपंचानन-वाक्कल्लोलपयोनिधि-कविकुलराजप्रभृतिप्रशस्तिप्रशस्तालङ्कारेण, षण्णवति-प्रकरण-युक्तिचिन्तामणिसूत्र-महेन्द्रमातलिसंजल्प-यशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेधसा श्रीसोमदेवसूरिणा विरचितं (नीति-वाक्यामृतं) समाप्तमिति। —नीतिवाक्यामृत

१. देखिए यश० आ० १ श्लोक नं० १७।

२. देखिए आ० १ श्लोक नं० १४, १८, २३। ३. देखिए आ० २ श्लोक नं० २४६, आ० ३ श्लोक नं० ५१४।

४. मया वागर्थसंभारे भुक्ते सारस्वते रसे। कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः॥ चतुर्थ आ० पृ० १६५।

ग्रन्थकर्ता का समय और स्थान—'यशस्तिलकचम्पू'[1] के अन्त में लिखा है कि चैत्रशुक्ल १३ शक सं० ८८१ (विक्रम संवत् १०१६) को, जिस समय श्री **कृष्णराजदेव** पाण्ड्य, सिंहल, चोल व चेरम-प्रभृति राजाओं को जीतकर **मेलपाटी** नामक सेना-शिविर में थे, उस समय उनके चरणकमलोपजीवी सामन्त **'वद्दिग'** की (जो चालुक्यवंशीय **अरिकेसरी** के प्रथम पुत्र थे) राजधानी **गंगाधारा**[2] में यह काव्य समाप्त हुआ और 'नीतिवाक्यामृत' यशस्तिलक के बाद की रचना है; क्योंकि नीतिवाक्यामृत की पूर्वोक्त प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने अपने को यशस्तिलकमहाकाव्य का कर्ता प्रकट किया है इससे स्पष्ट है, कि उक्त प्रशस्ति लिखते समय वे 'यशस्तिलक' को समाप्त कर चुके थे।

दक्षिण के इतिहास से विदित होता है कि उक्त कृष्णराजदेव (तृतीय कृष्ण) राष्ट्रकूट या राठोर वंश के महाराजा थे और इनका दूसरा नाम 'अकालवर्ष' था। ये अमोघवर्ष तृतीय के पुत्र थे। इनका राज्यकाल कमसे कम शकसंवत् ८६७ से ८९४ (वि० सं० १००२—१०२९) तक प्रायः निश्चित है। ये दक्षिण के सार्वभौम राजा थे और बड़े प्रतापी थे। इनके अधीन अनेक माण्डलिक या करद राज्य थे। कृष्णराज ने—जैसा कि सोमदेवसूरि ने यशस्तिलक में लिखा है—सिंहल, चोल, पाण्ड्य और चेर राजाओं को युद्ध में परास्त किया था। इनके समय में कनड़ी भाषा का सुप्रसिद्ध कवि 'पोन्न' हुआ है, जो जैन था और जिसने 'शान्तिपुराण' नामक श्रेष्ठ ग्रन्थ की रचना की है। महाराज कृष्णराजदेव के दरबार से उसे 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती' की उपाधि मिली थी।

राष्ट्रकूटों या राठोरों द्वारा दक्षिण के चालुक्य (सालंकी) वंश का सार्वभौमत्व अपहरण किये जाने के कारण वह निष्प्रभ हो गया था। अतः जब तक राष्ट्रकूट सार्वभौम रहे तब तक चालुक्य उनके आज्ञाकारी सामन्त या माण्डलिक राजा बनकर रहे। अतः अरिकेसरी का पुत्र 'वाद्दग' ऐसा ही एक सामन्त राजा था, जिसकी गङ्गाधारा नामक राजधानी में यशस्तिलक की रचना समाप्त हुई है। इसी अरिकेसरी के समय में कनड़ी भाषा का सर्वश्रेष्ठ जैनकवि 'पम्प' हुआ है, जिसकी रचना पर मुग्ध होकर 'अरिकेसरी' ने उसे धर्मपुर नामका एक ग्राम पारितोषिक में दिया था। उसके बनाये हुए दो ग्रन्थ ही इस समय उपलब्ध हैं—१. 'आदिपुराणचम्पू' और २. भारत या विक्रमार्जुनविजय। पिछला गन्थ शाक संवत् ८६३ वि० सं० ९९८) में—यशस्तिलक से १८ वर्ष पहले—बन चुका था। इसकी रचना के समय अरिकेसरी राज्य करता था तब उसके १८ वर्ष बाद—यशस्तिलक की रचना के समय—उसका पुत्र सामन्त 'वद्दिग' राज्य करता होगा यह इतिहास से प्रमाणित होता है।

वाराणसी
श्रावण शु० १५ वीर नि० २४८६

विनीत—
सुन्दरलाल शास्त्री

---

१. "शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अङ्कतः (८८१) सिद्धार्थसंवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मल्पाटी (मेलपाटी) प्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्री कृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगतपञ्चमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूडामणेः, श्रीमदरिकेसरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वागराजस्य लक्ष्मीप्रवर्धमानवसुधारायां गङ्गाधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति।"

२. चालुक्यों की एक शाखा 'जोल' नामक प्रान्त पर राज्य करती थी, जिसका एकभाग इस समय के धारवाड़ जिले में आता है और श्रीयुत आर०नरसिंहाचार्य के मत से चालुक्य अरिकेसरी की राजधानी 'पुलगेरी' में थी, जो कि इस समय 'लक्ष्मेश्वर' के नाम से प्रसिद्ध है। गंगाधारा भी संभवतः वही है।

दो अमूल्य सम्मतियाँ

[प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में]

१. श्री १०५ पूज्य क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य—

श्री० पं० सुन्दरलालजी शास्त्री प्राचीनन्याय-काव्यतीर्थ ने आचार्यप्रवर श्रीमत्सोमदेवसूरि के '**यशस्तिलकचम्पू**' का हिन्दी अनुवाद विशेष परिश्रमपूर्वक किया है। अनुवाद विद्वत्तापूर्ण, ललित, विस्तृत, अत्यन्त उत्तम व सर्वोपयोगी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में यशोधरमहाराज का चरित्र प्रधान है, तथापि इसमें चरित्र-चित्रण के मिष से राजनीति, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आयुर्वेद व ज्योतिष एवं सुभाषित-आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों के ज्ञान की विशाल निधि वर्तमान है। इसीप्रकार इसके उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) में भी महत्त्वपूर्ण व अनोखी विशेषता है। इस सर्वोपयोगी ग्रन्थ का पूर्वखण्ड अनेक महत्त्वपूर्ण परिशिष्टों-आदि से विभूषित प्रकाशित हो ही चुका है। मेरी इच्छा है कि इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का उत्तर खण्ड भी प्रकाशित होकर जनता का सन्मार्ग प्रदर्शन करे।

शु० चि०—

गणेश वर्णी

२. श्री० विद्वद्वर्य्य पं० रणजीतसिंहजी मिश्र व्याकरण व साहित्याचार्य वाराणसी—

शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः

ज्योतिर्वैद्यकवेदवादविषयैः संपूरितः सर्वतश्चम्पूत्रन्तस्तिलकान्तरालघटनः पूर्वं यशो यत्र हि।
श्रीमत्सोमकदेवसूरिरचितो ग्रन्थोऽयमन्वर्थभाक् नैवाद्यापि कृता विशिष्टकृतिना टीका मनोहारिणी ॥१॥

लोकान्वीक्ष्य सदा विमोहितधियो ग्रन्थाववोधं विना तद्ग्रन्थार्थविशेषवर्णनपरा भावार्थबोधे क्षमा।
श्रीमत्सुन्दरलालसौम्यविदुषा टीका हि भाषा कृता यत्रत्यां च निरीक्ष्य बोधनकलां चित्ते प्रमोदो महान् ॥२॥

अत्रत्यं विपुलं श्रमं बुधवरे पाण्डित्यरूपं तथा लोकानामुपकारिणीं सुललितां युक्तार्थसंबोधिनीं।
भव्यां सर्वजनप्रियां गुणवतीं टीकां समालोक्य च श्रीमत्सुन्दरलालविज्ञनिपुणो योग्यो मतो मादृशाम् ॥३॥

वंशस्थवृत्तम्

इयं हि टीकाऽध्ययनानुरागिणां विवेकहेतुः प्रतिवादकर्मणाम्।
सदोपकारं सुदृढं विधास्यति मतं समीचीनमनारतं मम ॥४॥

अर्थात्—अभी तक किसी भी विशिष्ट विद्वान् ने श्रीमत्सोमदेवसूरि के 'यशस्तिलकचम्पू' की, जो कि सार्थक नामवाला व ज्योतिष, वैद्यक, वेद व वादविवाद-आदि अनेक विषयों का निरूपक है, चित्त को प्रमुदित करनेवाली भाषा टीका नहीं की ॥ १ ॥ जनसमूह को 'यशस्तिलक' के ज्ञान के विना सदा अज्ञान-युक्त

देखकर सौम्य प्रकृतिवाले श्री सुन्दरलालजी शास्त्री द्वारा ग्रन्थ का अर्थ विशेषरूप से वर्णन करने में तत्पर व भावार्थ प्रकट करनेवाली भाषा टीका की गई है, जिस टीका की समझाने की कला देखकर हमारे चित्त में महान् हर्ष हो रहा है ॥ २ ॥

इस कार्य संबंधी महान् परिश्रम व टीकाकार की विद्वत्ता देखकर एवं जन-समूह का उपकार करनेवाली, ललित, सही अर्थ प्रकट करनेवाली, नवीन, सर्वजनसमूह को प्रिय व गुणयुक्त भाषा टीका देखकर श्री० सुन्दरलालजी शास्त्री विद्वानों में निपुण हैं और हम सरीखे विद्वानों द्वारा सुयोग्य विद्वान् माने गए हैं ॥ ३ ॥

हमारी यह समीचीन व निश्चित मान्यता है कि यह भाषा टीका इसके अध्ययन करने में अनुराग करनेवालों के ज्ञान में निमित्त होगी तथा वाद-विवाद करनेवालों या वक्तृत्वकला सीखनेवालों का सदा दृढ़ उपकार करेगी ॥ ४ ॥

विनीतः
रणजीतसिंहमिश्रः

विषयानुक्रमणिका

प्रथम आश्वास

द्वितीय आश्वास

तृतीय आश्वास

विषय | पृष्ठ



श्रीसमन्तभद्राय नमः

श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचितं

यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्यम्

यशस्तिलकदीपिका-नाम भाषाटीकासमेतम्

प्रथम आश्वास

श्रियं कुवलयानन्दप्रसादितमहोदयः । देवश्चन्द्रप्रभः पुष्यात्जगन्मानसवासिनीम् ॥ १ ॥
श्रियं दिश्यात्स वः श्रीमान् यस्य संदर्शनादपि । भवेत् त्रैलोक्यलक्ष्मीणां जन्तुः कन्तु निकेतनम् ॥ २ ॥
श्रियं देयात्स वः कामं यस्योन्मीलति केवले । त्रैलोक्यमुत्सवोदारं पुरमेकमिवाभवत् ॥ ३ ॥

अनुवादक का मङ्गलाचरण

जो हैं मोक्षमार्ग के नेता, अरु रागादि विजेता हैं।
जिनके पूर्णज्ञान-दर्पण में, जग प्रतिभासित होता है॥
जिनने कर्म-शत्रु-विध्वंसक, धर्मतीर्थ दरशाया है।
ऐसे श्रीऋषभादि प्रभु को, शत-शत शीश झुकाया है॥ १॥

जिनकी कान्ति चन्द्रमा के समान है और जिन्होंने समस्त कुवलय (पृथिवीमंडल) को यथार्थ सुख प्रदान करने के उद्देश्य से अपने महान् (अस्त न होनेवाले) उदय को उसप्रकार निर्मल (कर्मरूप आवरणों से रहित, वीतराग, विशुद्ध व अनन्त ज्ञानादियुक्त) किया है, जिसप्रकार शरत्कालीन पूर्ण चन्द्रमा समस्त कुवलय (चन्द्रविकासी कमलसमूह) को विकसित करने के लिए अपने महान् उदय को निर्मल (मेघादि आवरणों से शून्य) करता है, ऐसे श्री चन्द्रप्रभ भगवान् जगत के चित्त में निवास करनेवाली लक्ष्मी (श्रुतज्ञानविभूति) को वृद्धिंगत करें[1] ॥ १ ॥ जिसके दर्शनमात्र से अथवा सम्यग्दर्शन के प्रभाव से भी यह प्राणी तीन लोक (ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोक) की लक्ष्मी (इन्द्रादि-विभूति) का मनोहर आश्रय (निवासस्थान) होजाता है एवं जो अन्तरङ्गलक्ष्मी (अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख व अनन्त वीर्यरूप आत्मिक लक्ष्मी) और बहिरङ्गलक्ष्मी (समवसरणादि विभूति) से अलङ्कृत हैं ऐसे श्री चन्द्रप्रभ भगवान् आप लोगों के लिए स्वर्गश्री व मुक्तिश्री प्रदान करें[2] ॥ २ ॥ जिसके केवलज्ञान प्रकट होने पर तीन लोक महोत्सव—केवलज्ञान कल्याणक—युक्त होने से अत्यन्त मनोहर—चित्त में उल्लास उत्पन्न करनेवाले—होते हुए एक नगर के समान प्रत्यक्ष प्रतीत हुए, वह चन्द्रप्रभ भगवान् आप लोगों के

१—उपमालङ्कार। २—अतिशयालङ्कार।

यस्याङ्घ्रिनखनक्षत्रविजृम्भाय नभस्यते । नमज्जगत्त्रयीपालकुन्तलाभोगडम्बरः ॥ ४ ॥
बालारुणायते यस्य पादद्वितयमण्डलम् । प्रह्वत्रिविष्टपाधीशकिरीटोदयकोटिषु ॥५॥
नखोज्जृम्भकराभोगकेसरं यत्क्रमद्वयम् । नम्रामरबधूनेत्रदीर्घिकास्वम्बुजायते ॥६॥
यत्पदस्मृतिसंभाराद्भुवनत्रयनायकाः । वाङ्मनोदैवसिद्धीनां सिद्धादेशादिवेशते ॥७॥
तस्मै सत्कीर्तिपूर्ताय* विश्वदृश्वैकमूर्तये । नमः शमसमुद्राय जिनेन्द्राय पुनः पुनः A ॥८॥
अपि च । भूर्भुवः स्वस्त्रयं वेलाचलकुलायते । अपाराय नमस्तस्मै जिनबोधपयोधये ॥९॥

लिए यथेष्ट स्वर्गश्री व मुक्तिश्री प्रदान करे[1] ॥ ३ ॥ जिनके चरणों के नखरूप नक्षत्रों के प्रसार के लिए नमस्कार करते हुए तीन लोक के स्वामियों—इन्द्र व नरेन्द्रादि—के केश-समूह की विस्तृत शोभा आकाश के समान आचरण करती है। भावार्थ—भगवान् के चरणकमलों में नम्रीभूत इन्द्रादिकों की विस्तृत केशराशि की परिपूर्ण शोभा आकाश के समान है, जिसमें भगवान् की नखपंक्ति नक्षत्रपंक्ति के समान चमकती हुई शोभायमान होरही है[2] ॥ ४ ॥ जिस जिनेन्द्र भगवान् के चरण-युगल का प्रतिबिम्ब, नमस्कार करते हुए तीन लोक के स्वामियों—इन्द्रादिकों—के मुकुटरूप उदयाचल की शिखरों पर प्रातःकालीन सूर्य के समान आचरण करता है[3] ॥५॥ जिस जिनेन्द्र भगवान् के चरण-युगल कमल के समान प्रतीत होते हैं, जिनमें भगवान् के चरणों के नखों से फैलनेवाली किरणों का विस्ताररूप केसर (पराग) वर्तमान है एवं जो नमस्कार करती हुई इन्द्राणी-आदि देवियों के नेत्ररूप जल से भरी हुई बावड़ियों में खिल रहे हैं[4] ॥ ६ ॥ जिस भगवान् जिनेन्द्र के चरणकमलों की स्मृति (ध्यान) की प्रचुरता से जो मानों—सिद्धपुरुष—ऋद्धिधारी योगी महापुरुष—का वचन ही है, संसार के प्राणी तीनलोक के स्वामी—इन्द्र व नरेन्द्रादि—होते हुए उसप्रकार वचनसिद्धि, मनोसिद्धि व दैवसिद्धि के स्वामी होजाते हैं, जिसप्रकार सिद्धपुरुष के वचन से वचनसिद्धि, मनोसिद्धि व दैवसिद्धि के स्वामी होते हैं[5] ॥ ७ ॥ ऐसे उस त्रैलोक्य-प्रसिद्ध जिनेन्द्र को बार-बार नमस्कार हो, जो प्रशस्त अथवा अबाधित कीर्ति से परिपूर्ण हैं, एवं जिनकी केवलज्ञानमयी मूर्ति (स्वरूप) अद्वितीय-बेजोड़-और विश्व के समस्त चराचर पदार्थों को प्रत्यक्ष जाननेवाली है एवं जो उत्तमक्षमा के अथवा ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय के समुद्र हैं[6] ॥ ८ ॥ भगवान के उस अपार केवलज्ञानरूप समुद्र के लिये नमस्कार हो, जिसमें तीन लोक (पृथ्वीलोक, अधोलोक व ऊर्ध्वलोक) उसके मर्यादातीत बहाव को रोकनेवाले तटवर्ती या मध्यवर्ती पर्वत-समूह के समान आचरण करते हैं। भावार्थ—भगवान के केवलज्ञान में अनन्त त्रैलोक्य को जानने की योग्यता—शक्ति—वर्तमान है, उसमें अनेक सम्यग्दर्शनादि गुणरूप रत्नों की राशि भरी हुई है, अतः उसमें समुद्र का आरोप किया जाने से रूपकालङ्कार है और तीन लोकों को उसकी सीमातीत विकृति रोकने वाले पर्वत-समूह की सदृशता का निरूपण है, अतः उपमालङ्कार है ॥ ९ ॥ प्रस्तुत काव्य के आरंभ में श्रुतकेवली गणधर देवों के प्रसिद्ध

१—उपमालङ्कार। २—उपमालङ्कार।

*—'पूर्ताय' इति ह. लि. सटि. (क, ग, घ, च,) प्रतिषु पाठः। पूरितच्छन्नयोः पूर्त्तं पूर्त्तं खातादिकर्मणि : इति विश्वः।

३—रूपक व उपमालंकार। ४—रूपक व उपमालंकार। ५—उत्प्रेक्षालंकार वा उपमालंकार। ६—अतिशयालंकार

A—श्लोक नं. ४ से ८ तक पंचश्लोकों से कुलक समझना चाहिये।

किं च । मतेः सूतेर्बीजं सृजति मनसश्चक्षुरपरं । यदाश्रित्यात्मायं भवति निखिलज्ञेयविषयः ॥
विवर्तैरत्यन्तैर्भरितभुवनाभोगविभवैः । स्फुरत्तत्त्वं ज्योतिस्तदिह जगताद्क्षरमयम् ॥१०॥

सर्वज्ञकल्पैः कविभिः पुरातनैरवीक्षितं वस्तु किमस्ति संप्रति । ऐदंयुगीनस्तु कुशाग्रधीरपि प्रवक्ति यत्तत्सदृशं स विस्मयः ॥११॥
कृतीः परेषामविलोकमानस्तदुक्तिवक्तापि कविर्न हीनः । क्षतेक्षणो ३राजपथेन सम्यक्प्रयानिव प्रत्युत विस्मयाय ॥१२॥
कृत्वा कृतीः पूर्वकृताः पुरस्तात् प्रत्यक्षरं ताः पुनरीक्षमाणः । तथैव जल्पेदथ योऽन्यथा वा स काव्यचौरोऽस्तु स पातकी च ॥१३॥

असहायमनादर्शं रत्नं रत्नाकरादिव । मत्तः काव्यमिदं जातं सतां हृदयमण्डनम् ॥१४॥
उक्तयः कविताकान्ताः सूक्तयोऽवसरोचिताः । युक्तयः सर्वशास्त्रान्तास्तस्य यस्यात्र कौतुकम् ॥१५॥
किंचित्काव्यं श्रवणसुभगं वर्णनोदीर्णवर्णं किंचिद्वाच्योचितपरिचयं हृच्चमत्कारकारि ।
अत्रासूयेत्क इह सुकृती किन्तु युक्तं तदुक्तं यद्व्युत्पत्त्यै सकलविषये स्वस्य चान्यस्य च स्यात् ॥१६॥

उस द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान के लिए हमारा नमस्कार हो, जिसका द्रव्य व भावरूप से बार बार अभ्यास करके यह मानव अद्वितीय ज्ञानचक्षु प्राप्त करता हुआ समस्त जानने योग्य लोकालोक के स्वरूप का ज्ञाता होजाता है और जिसमें समस्त तत्त्व (जीव व अजीवादि) तीनों लोकों में विस्तार रूप से पाई जानेवाली अपनी अनन्त पर्यायों के साथ प्रकाशित होते हैं एवं जो विशेष प्रतिभा की उत्पत्ति का कारण है[१] ॥ १० ॥

लोक में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं, जो सर्वज्ञ-समान प्राचीन आचार्यों समन्तभद्रादि ऋषियों—द्वारा अज्ञात हो तथापि इसकाल का कवि तीक्ष्णबुद्धि होता हुआ भी इस पंचमकाल में उनके समान काव्य-रचना करता है, यह आश्चर्य की बात है[२] ॥ ११ ॥ जो कवि दूसरे प्राचीनकवियों के काव्यशास्त्रों का निरीक्षण न करता हुआ उनकी काव्यवस्तु भी कहता है, वह जघन्य न होकर उत्कृष्ट ही है। क्योंकि चक्षु-हीन मानव राजमार्ग पर बिना स्खलन के गमन करता हुआ क्या विशेष आश्चर्यजनक नहीं होता? अवश्य होता है[३] ॥ १२ ॥ जो कवि प्राचीन आचार्यों की कृतियों—काव्य रचनाओं—को सामने रखकर प्रत्येक शब्दपूर्वक उनका बार-बार अभ्यास करता हुआ उसीप्रकार कहता है, अथवा उसी काव्यवस्तु को अन्य प्रकार से कहता है, वह काव्यचौर व पापी है[४] ॥ १३ ॥

प्रस्तुत 'यशस्तिलकचम्पू' नामका महाकाव्य, जो कि अद्वितीय (बेजोड़), दूसरे काव्यग्रन्थों की सहायता से रहित और किसी अन्यग्रन्थ को आदर्श न रखकर रचा हुआ होनेसे विद्वानों के वक्षःस्थल का आभूषण रूप है, मुझ सोमदेवसूरि से उसप्रकार उत्पन्न हुआ है जिसप्रकार समुद्र व खानि से रत्न उत्पन्न होता है[५] ॥ १४ ॥ इसके अभ्यास करने में प्रयत्नशील विद्वान् को नवीन काव्यरचना में मनोहर व नूतन अर्थोद्भावनाएँ उत्पन्न होगीं एवं अवसर पर प्रयोग करने के योग्य सुभाषितों का तथा तर्क, व्याकरण, छन्द, अलङ्कार व सिद्धान्त-आदि समस्त शास्त्र संबंधी युक्तियों का विशेष ज्ञान उत्पन्न होगा[६] ॥ १५ ॥

कोई काव्य, रचना में उत्कट अक्षरशाली होने से कर्णामृतप्राय होता है और कोई काव्य प्रशस्त अर्थ की बहुलता से हृदय में चमत्कार-जनक होता है। इसप्रकार लोक में शब्दाडम्बरयुक्त व अर्थबहुल काव्य के प्रति कौन बुद्धिमान् कुपित होगा? परन्तु कवि की वही कृति—काव्य रचना—जो कि स्वयं और दूसरों को समस्त शास्त्र संबंधी तत्वज्ञान कराने में विशेष शक्तिशाली है, सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है[७] ॥१६॥

१—अतिशयालंकार व जाति-अलंकार। २—आक्षेपालंकार। ३—'कृतेक्षणो' इति मु० सटीक प्रतौ पाठः, अर्थसङ्गतिस्तु 'कृञ्हिंसायाम्' इति धातोः प्रयोगात्। ३—आक्षेपालंकार। ४—उपमालंकार। ५—उपमालंकार। ६—प्रस्तुत काव्यशास्त्र का फलप्रदर्शक अतिशयालंकार। ७—आक्षेपालंकार।

आजन्मसमभ्यस्ताच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः । मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपयः सुकृतिनां पुण्यैः ॥१७॥

वाच एव विशिष्टानामनन्यसमवृत्तयः । स्वस्यातिशायिनं हेतुमाहुः कान्ता लता इव ॥१८॥

वागर्थः कविसामर्थ्यं त्रयं तत्र द्वयं समम् । सर्वेषामेव वक्तॄणां तृतीयं भिन्नशक्तिकम् ॥१९॥

लोको युक्तिः कलाश्छन्दोऽलंकाराः समयागमाः । सर्वसाधारणाः सद्भिस्तीर्थमार्गा इव स्मृताः ॥२०॥

अर्थो नाभिमतं शब्दं न शब्दोऽर्थं विगाहते । स्त्रीवृन्दमिव मन्दस्य दुनोति कविता मनः ॥२१॥

सूखी घास के समान जन्मपर्यन्त अभ्यास किये हुए (पक्ष में भक्षण किये हुए) दर्शनशास्त्र के कारण मेरी इस बुद्धिरूपी गाय से यह 'यशस्तिलकमहाकाव्य' रूप दूध विद्वानों के पुण्य से उत्पन्न हुआ[1] ॥ १७ ॥ जिसप्रकार प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुईं अतिमनोहर शाखाएँ वृक्ष की इसप्रकार की विशेषता प्रकट करती हैं—'जिस वृक्ष की ऐसी विशेष मनोज्ञ शाखाएँ हैं, वह वृक्ष भी महान् होगा' उसीप्रकार विशिष्ट विद्वान् कवियों की अनोखी व विशेषप्रौढ़ काव्य रचनाएँ भी उनके कवित्वगुण की इसप्रकार विशेषता—महानता—प्रकट करती हैं—'जिस कवि की ऐसी अनोखी व विशेषप्रौढ काव्यरचनाएँ हैं, वह कवि भी अनोखा, बहुश्रुत प्रौढ विद्वान् होगा[2] ॥ १८ ॥ काव्यरचना में निम्नप्रकार तीनतरह की कारणसामग्री की अपेक्षा होती है। १—शब्द २—अर्थ और ३- कवित्वशक्ति[×] । उनमें से शुरू की दो शक्तियाँ समस्त कवियों में साधारण होती हैं, परन्तु तीसरी कवित्वशक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है[3] ॥ १९ ॥

जिसप्रकार तीर्थों (गंगादि) के मार्ग सज्जनों द्वारा सर्वसाधारण माने गये हैं। अर्थात् गङ्गादि तीर्थों में ब्राह्मण और चाण्डाल सभी जाते हैं, उसमें कोई दोष नहीं है, उसीप्रकार व्याकरण, तर्कशास्त्र, गीत-नृत्यादिकला, छन्दशास्त्र, अलङ्कार (शब्दालङ्कार व अर्थालङ्कार) एवं षड्दर्शन (जिन, जैमिनी, कपिल, कणचर, चार्वाक व बुद्धदर्शन) अथवा ज्योतिष-शास्त्र भी शिष्ट पुरुषों द्वारा सर्वसाधारण माने गये हैं। अर्थात् उनका अभ्यास भी सर्वसाधारण कर सकते हैं, उसमें कोई आपत्ति (दोष) नहीं है[4] ॥२०॥ मन्द[A] (मूर्ख) कवि की कविता का अर्थ—शब्द निरूपित पदार्थ—सही नहीं होता ; क्योंकि उसका सही अर्थ के निरूपक शब्दों के साथ समन्वय—मिलान—नहीं होता और न उसके शब्द ही सही होते हैं ; क्योंकि वे सही अर्थ में प्रविष्ट नहीं हो सकते—यथार्थ अभिप्राय प्रकट नहीं कर सकते, इसलिए उसकी कविता उसके मन को उसप्रकार सन्तापित—क्लेशित करती है जिसप्रकार कमनीय कामिनियाँ मन्द (नपुंसक पुरुष या रोगी) का चित्त सन्तापित करती हैं। क्योंकि वह न तो उन्हें भोग सकता है और न उनसे आनन्द ही लूट सकता है[5] ॥ २१ ॥ हमारी ऐसी धारणा है कि प्रस्तुत काव्य—यशस्तिलकचम्पू—

१—उपमा व रूपकालंकार होने से संकरालंकार। २—अनुमानालंकार।

× तथा चोक्तम्—संस्कारोत्थं स्वभावोत्थं सामर्थ्यं द्विविधं कवेः ।
तत्र शास्त्राश्रयं पूर्वमन्यदाम्नोहसंश्रयं ॥ १ ॥ यश० की संस्कृत टीका से संकलित

अर्थात्—कवित्वशक्ति दो प्रकार की होती है। १—संस्कारोत्थ (काव्यशास्त्र के अभ्यास से उत्पन्न)। और २—स्वभावोत्थ (स्वाभाविक विचारशक्ति से उत्पन्न)। भावार्थ—प्रस्तुत कवित्वशक्ति की हीनाधिकता से कवियों की काव्यरचनाएँ भी हीनाधिक होती हैं। ३—अतिशयालंकार।

४—उपमालंकार। A—मन्दो जड़: अल्पकामो रोगी च, ह. लि. सटि. प्रति (क, घ) से संकलित।

५—उपमालंकार।

दुर्जनानां विनोदाय बुधानां मतिजन्मने । मध्यस्थानां न मौनाय मन्ये काव्यमिदं भवेत् ॥२२॥
सुकविकथामाधुर्यप्रबन्धसेवातिवृद्धजाड्यानाम् । पिचुमन्दकन्दलीष्विव भवतु रुचिर्मद्विधोक्तिषु बुधानाम् ॥२३॥
न गद्यं पद्यमिति वा सतां कुर्वीत गौरवम् । किन्तु किंचित्स्वसंवेद्यमन्यत् सुखमिव स्त्रियाः ॥२४॥
त एव कवयो लोके येषां वचनगोचरः । सपूर्वोऽपूर्वतामर्थो यात्यपूर्वः सपूर्वताम् ॥२५॥
ता एव सुकवेर्वाचस्तिरश्चामपि याः श्रुताः । भवन्त्यानन्दनिष्यन्दामन्दरोमाञ्चहेतवः ॥२६॥
न वैकान्तेन वक्रोक्तिः स्वभावाख्यानमेव वा । बुधानां प्रीतये किन्तु द्वयं कान्ताजनेष्विव ॥२७॥

दुर्जनों को कौतुकशाली (उत्कण्ठित) करता हुआ विद्वानों को बुद्धिमान् बनायगा और मध्यस्थ (ईर्ष्यालु) पुरुष भी इसे देखकर चुप्पी नहीं साधेंगे—अर्थात् वे भी इसे अवश्य पढ़ेंगे[1] ॥ २२ ॥ अच्छे कवियों—व्यास श्रीहर्ष, माघ व कालिदास आदि के काव्यशास्त्रों की कर्णामृतप्राय रचना के आस्वाद—अभ्यास—से जिनकी जड़ता अत्यधिक बढ़ गई है, ऐसे विद्वानों को, हम सरीखों की काव्यरचनाओं—यशस्तिलक-आदि काव्यशास्त्रों में उसप्रकार रुचि उत्पन्न होवे, जिसप्रकार अत्यन्त मीठा खाने से उत्पन्न हुई गले की जड़ता दूर करने के लिए नीम के कोमल किसलयों (कोपलों) के खाने में रुचि होती है।

भावार्थ—जिसप्रकार नीम की कोपलों के भक्षण से, अत्यधिक मीठा खाने से उत्पन्न हुई गले की जड़ता (बैठ जाना) दूर होजाती है उसीप्रकार अत्यधिक बौद्धिक परिश्रम करने से समझ में आनेलायक प्रस्तुत 'यशस्तिलक' काव्य के अभ्यास से भी उन विद्वानों की जड़ता नष्ट होजाती है, जो दूसरे कवियों के अतिशय मधुर, कोमल काव्य-शास्त्रों के पढ़ने से बौद्धिक परिश्रम न करने के कारण जड़ता-युक्त होरहे थे[2] ॥ २३ ॥

प्रस्तुत 'यशस्तिलक' काव्य गद्यरूप अथवा पद्यरूप (छन्दोबद्ध) है, इतनामात्र कहने से यह सज्जनों द्वारा आदरणीय नहीं है, इसलिए इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें उसप्रकार का परमानन्द लक्षण सुख वर्तमान है, जो कि वचनों के अगोचर होता हुआ भी स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से प्रतीत है, जिस प्रकार स्त्रीसंभोग से अनिर्वचनीय लक्षण सुख होता है, जो कि स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से प्रतीत है। वैसा सुख स्त्रियों के गद्य (सरस वचनालाप) और पद्य (स्पर्शन व आलिङ्गनादि) से नहीं होता[3] ॥ २४ ॥

लोक में वे ही श्रेष्ठ कवि हैं, जिनकी काव्यरचनाओं में गुम्फित वस्तु (काव्यवस्तु) लोकप्रसिद्ध होने पर भी अपूर्व-सी (कभी भी न सुनी-सी) मालूम होती है और अपूर्व (अप्रसिद्ध) वस्तु भी अनुभूत-सी प्रतीत होती हुई चित्त में अपूर्व चमत्कार (उल्लास) उत्पन्न कर देती है[4] ॥ २५ ॥

अच्छे कवि की उन्हीं रचनाओं को प्रशस्त (श्रेष्ठ) समझनी चाहिए, जो सुनीजाकर पशुओं के चित्त में भी (मनुष्यों का तो कहना ही क्या है) परमानन्द का क्षरण और प्रचुर रोमाञ्च उत्पन्न करने में कारण हों[5] ॥ २६ ॥ कवियों के काव्य, सर्वथा वक्रोक्ति (चमत्कारपूर्ण उक्ति) प्रधान होने से अथवा स्वभावाख्यान—जाति नाम का अलङ्कार—की मुख्यता से विद्वानों के चित्त को चमत्कृत—उल्लासित—नहीं करते किन्तु जब उक्त दोनों अलङ्कारों से अलङ्कृत होते हैं तभी विद्वानों के चित्त में उसप्रकार अपूर्व चमत्कार—उल्लास—उत्पन्न करते हैं। जिसप्रकार रमणियाँ, तब तक केवल वक्रोक्ति—चतुराई-पूर्ण कुटिल वचनालाप—मात्र से अथवा केवल स्वभावाख्यान (लज्जापूर्वक मनोवृत्ति का अर्पण)

१—अतिशयालंकार। २—उपमालंकार। ३—उपमालंकार। ४—अतिशयालंकार। ५—अतिशयालंकार।

अबुधेऽप्युक्तियुक्तिज्ञे कवीनामुत्सवो महान् । गुणाः किं न सुवर्णस्य व्यज्यन्ते निकषोपले ॥२८॥
अवक्तापि स्वयं लोकः कामं काव्यपरीक्षकः । रसपाकानभिज्ञोऽपि भोक्ता वेत्ति न किं रसम् ॥२९॥
वृथा वक्तुः श्रमः सर्वो निर्विचारे नरेश्वरे । प्राज्यभोज्यविधिः कः स्यात्तृणस्त्रादिनि देहिनि ॥३०॥
यः पार्थिवत्वसामान्यान्माणिक्याश्मसमागमः । पार्थिवः पार्थिवो नूनं वृथा तत्र कवेः श्रमः ॥३१॥
अङ्गनावद्गिरो गण्याः प्रायेणान्यपरिग्रहात् । स्वयं विचारशून्यो हि प्रसिद्ध्या रज्यते जनः ॥३२॥
यः स्वयं कवते नैव यश्चोक्तौ मूढधीश्वरः । मरणादपि दुःखाय काव्यकीर्तिस्तयोः पुरः ॥३३॥
अन्तःसारं भवेद्रत्नं बहिः काचं च सुन्दरम् । यथा तथा कवेः काव्यमकवेश्च विभाव्यताम् ॥३४॥
निःसारस्य पदार्थस्य प्रायेणाडम्बरो महान् । न हि स्वर्णे ध्वनिस्तादृग्यादृक्कंसे प्रजायते ॥३५॥

मात्र से प्रेमी के हृदय में प्रेम उत्पन्न नहीं करतीं जब तक कि वे उक्त दोनों गुणों से विभूषित नहीं होतीं[1] ॥ २७ ॥ विद्वान् न होनेपर भी काव्यरचना की युक्ति में निपुणता प्राप्त किये हुए कवि से भी विद्वानों को विशेष आनन्द प्राप्त होता है। क्योंकि क्या कसौटी के पत्थर पर सुवर्ण के गुण (पीतत्वादि) प्रकट नहीं किये जाते ? अवश्य प्रकट किये जाते हैं[2] ॥२८॥ जिसप्रकार शक्कर की पाक विधि से अपरिचित होने पर भी उसका आस्वादन करनेवाला मानव क्या उसके मधुर रस को नहीं जानता ? अवश्य जानता है। उसीप्रकार जनसाधारण स्वयं कवि न होने पर भी कवि की कृतियों—काव्यों—को सुनता हुआ उनके गुण-दोष का जाननेवाला होता है[3] ॥ २९ ॥

जिसप्रकार घास खानेवाले पशु के लिए अधिक घीवाले भोजन का विधान निरर्थक है उसीप्रकार विचार-शून्य—मूर्ख—राजा के उद्देश्य से कविद्वारा किया हुआ समस्त काव्यरचना का प्रयास व्यर्थ है[4] ॥३०॥ पृथिवीत्वधर्म की समानता समझकर माणिक्य और पाषाण के विषय में समान सिद्धान्त रखनेवाला—रत्न और पत्थर को एकसा समझनेवाला (मूर्ख)—राजा निश्चय से मिट्टी का पुतला ही है अतः उसके लिए कवि को काव्यकला का प्रयास करना निरर्थक ही है[5] ॥ ३१ ॥ लोक में कवि की रचनाएँ प्रायः करके विद्वानों द्वारा स्वीकार कीजाने पर जब प्रसिद्धि प्राप्त कर लेतीं हैं, तभी वे जनसाधारण द्वारा उस प्रकार माननीय हो जाती है—अमुक कवि की कृति विद्वज्जन पढ़ते हैं, अतः वह अवश्य सर्वश्रेष्ठ होगी—जिसप्रकार स्त्री प्रायः करके राजा द्वारा पाणिग्रहण की जाने पर ख्याति प्राप्त कर लेने से सर्वसाधारण द्वारा माननीय समझी जाती है—अमुक स्त्री राजा साहब की रानी है; इसलिए वह अवश्य अनोखी व विशेष सुन्दरी होगी। क्योंकि निश्चय से जन-समूह विवेकहीन होने के कारण प्रसिद्धि का आश्रय लेकर किसी वस्तु से प्रेम प्रकट करता है[6] ॥ ३२ ॥ जो स्वयं नवीन काव्यरचना नहीं करता एवं जो दूसरे कवियों के काव्य नहीं पढ़ता—मूर्ख है—ऐसे दोनों मनुष्यों के सामने काव्य की प्रशंसा करना मरण से भी अधिक कष्टदायक है। विशेषार्थ—जिसप्रकार अन्धे के सामने नृत्य कलाका प्रदर्शन, बहिरे को कर्णामृतप्राय मधुर संगीत सुनाना एवं सूखी नदी में तैरना कष्टदायक है उसीप्रकार काव्यरचना व काव्यशास्त्र से अनभिज्ञ—मूर्ख—के समक्ष काव्य की प्रशंसा करना भी विशेष कष्टदायक है[7] ॥ ३३ ॥ जिसप्रकार रत्न भीतर से श्रेष्ठ (बहुमूल्य) और काच बाहिर से मनोहर होता है उसीप्रकार क्रमशः सुकवि व कुकवि की रचनाओं में समझना चाहिए[8] ॥ ३४ ॥

तुच्छ वस्तु में प्रायः करके विशेष आडम्बर पाया जाता है। उदाहरणार्थ—जैसी ध्वनि काँसे में होती है, वैसी सुवर्ण में नहीं होती[9] ॥ ३५ ॥ काव्यशास्त्रों की परीक्षाओं में उन सज्जनपुरुषों को ही साक्षी

१—उपमालंकार। २—आक्षेपालंकार। ३—उक्तिनामक आक्षेपालंकार। ४—आक्षेपालंकार। ५—रूपकालंकार। ६—अर्थान्तरन्यासालंकार। ७—जाति-अलंकार। ८—उपमालंकार। ९—दृष्टान्तालंकार।

काव्यकथासु त एव हि कर्तव्याः साक्षिणः समुद्रसमाः। गुणमणिमन्तर्निदधति दोषमलं ये बहिश्च कुर्वन्ति ॥३६॥
आत्मस्थितेर्वस्तु विचारणीयं न जातु जात्यन्तरसंश्रयेण। दुर्वर्णनिर्वर्णविधौ बुधानां सुवर्णवर्णस्य सुधानुबन्धः ॥३७॥
गुणेषु ये दोषमनीषयान्धा दोषान् गुणीकर्तुमथेशते वा। श्रोतुं कवीनां वचनं न तेऽर्हाः सरस्वतीद्रोहिषु कोऽधिकारः ॥३८॥
अयं कविर्नैष कविः किमत्र हेतुप्रयुक्तिः कृतिभिर्विधेया। श्रोत्रं मनश्चात्र यतः समर्थं वागर्थयोरूपनिरूपणाय ॥३९॥
कवितायै नमस्तस्यै यद्रसोल्लासिताशयाः। कुर्वन्ति कवयः कीर्तिलतां लोकान्तसंश्रयाम् ॥४०॥
निद्रां विद्रावयसि शास्त्ररसं रुणत्सि सर्वेन्द्रियार्थमसमर्थविधिं विधत्से।
चेतश्च विभ्रमयसे कविते पिशाचि लोकस्तथापि सुकृती त्वदनुग्रहेण ॥४१॥

(परीक्षक) नियुक्त करना चाहिये, जो समुद्र के समान गम्भीर होते हुए गुण (माधुर्यादि) रूप मणियों को अपने हृदय में स्थापित (ग्रहण) करते हुए काव्यसंबंधी दोषों—(दुःश्रवत्वादि) को बाहिर निकाल देते हैं—उनपर दृष्टि नहीं डालते[1] ॥ ३६ ॥ परीक्षक को परीक्षणीय वस्तु (काव्यादि) की मर्यादा या स्वरूप के अनुसार परीक्षा करनी चाहिए। उसे कभी भी परीक्ष्य वस्तु में अन्य वस्तु का आश्रय लेकर परीक्षा नहीं करनी चाहिए। उदाहरणार्थ—तर्कशास्त्र की परीक्षा-विषय में व्याकरण की परीक्षा और व्याकरण शास्त्र के विषय में तर्कशास्त्र की परीक्षा नहीं करनी चाहिए। किन्तु परीक्ष्य वस्तु की मर्यादा करते हुए—तर्क से तर्क की, व्याकरण से व्याकरण की और काव्य से काव्य की परीक्षा करनी चाहिए। उदाहरणार्थ - चाँदी की परीक्षा विधि में सुवर्ण के पीतत्वादि गुणों का आक्षेप करना - प्रस्तुत चाँदी में सुवर्ण के अमुक असाधारण गुण नहीं हैं, इसलिए यह चाँदी सही नहीं है—विद्वानों के लिए निरर्थक है। निष्कर्ष - प्रस्तुत यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य के गुणादि की परीक्षा अन्य काव्यग्रन्थों से करनी चाहिये, जिसके फलस्वरूप यह बेजोड़ प्रमाणित होगा[2] ॥ ३७ ॥

जो मानव, काव्य शास्त्र के दोषों (खंडितत्वादि) को जानकर उसके गुणों (माधुर्यादि) में विचार शून्य हैं—काव्य गुणों की अवहेलना करते हैं अथवा जो दोषों को गुण बताने में समर्थ हैं, वे काव्य-शास्त्र के सुनने लायक नहीं। क्योंकि सरस्वती (द्वादशाङ्गश्रुतदेवता) से द्रोह करनेवालों को शास्त्र श्रवण करने का क्या अधिकार है ? कोई अधिकार नहीं[3] ॥ ३८ ॥ क्योंकि जब काव्यसंबंधी शब्द और अर्थ (काव्यवस्तु) के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए क्रमशः श्रोत्रेन्द्रिय और मन समर्थ हैं। अर्थात् जब श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा काव्य के शब्दों का और मन द्वारा उसके अर्थ का बोध होसकता है तब 'यह सुकवि है और अमुक कवि नहीं है इस प्रकार के वचनों का प्रयोग—जिह्वा द्वारा गुण-दोष का निरूपण करना - क्या विद्वानों को प्रस्तुत काव्य (यशस्तिलक) में करना चाहिए ? नहीं करना चाहिए। (क्योंकि निराधार वचनमात्र से काव्य की परीक्षा नहीं होती)[4] ॥ ३९ ॥ उस सुकवि के काव्य के लिए, जिसके रस से वृद्धि या हर्ष को प्राप्त कराया गया है चित्त जिनका ऐसे विद्वान् कवि, अपनी कीर्तिरूप लता को तीनलोक के अन्त तक व्याप्त होनेवाली—अत्यधिक विस्तीर्ण—करते हैं, हमारा नमस्कार हो[5] ॥ ४० ॥ हे कविते ! हे व्यन्तरि ! तू कवि की निद्रा भङ्ग करती है, उसके न्याय-व्याकरणादि शास्त्रों के रस को ढकती है उसमें प्रतिबन्ध (बाधा) डालती है, एवं उसके समस्त इन्द्रियों (स्पर्शनादि) के विषयों (स्पर्शादि) की शक्ति को क्षीण करती है—तेरे में संलग्न हुए कवि की समस्त इन्द्रियों के विषयों को उपभोग करने की

१—उपमालंकार। २—दृष्टान्तालंकार। ३—आक्षेपालंकार। ४—यथासंख्यालंकार। ५—अतिशय व रूपकालंकार का संकर।

कृतमतिविस्तरेण। अस्ति खल्विहैव सकलाश्चर्यैकपात्रे भरतक्षेत्रे चतुर्वर्गमार्गणोपकरणप्रसूतः समस्तप्रशस्तमहीवलयालंकरणभूतः सुरलोकमनोरथाविधेयो योधेयो नाम धाम सम्पदो जनपदः।

यत्र महानृपतय इव गोमण्डलवन्तः, चक्रवर्तिश्रिय इव महिषीसमाकुलाः, भरतप्रयोगाइव सगन्धर्वाः, सुगतागमा इवाविकल्पप्रधानाः, कामिनीनितम्बा इव करभोरवः, श्रुतय इवाजसंजनितविस्ताराः, श्रमणाइव जातरूपधारिणः, बृहस्पतिनीतय इवादेवमातृकाः,

---

शक्ति क्षीण होजाती है एवं तू चित्त को भ्रान्त करती है। इसप्रकार तेरे में यद्यपि उक्त अनेक दोष पाए जाते हैं, तथापि कवि तेरी कृपादृष्टि से विद्वान् व पुण्यशाली होजाता है[1] ॥ ४१ ॥

उक्त बात का अधिक विस्तारपूर्वक निरूपण करने से कोई लाभ नहीं, अतः इतना ही पर्याप्त है।

निश्चय से इसी जम्बूद्वीप संबंधी भरतक्षेत्र (आर्यखण्ड) में, जो कि समस्त आश्चर्यों (केवल ज्ञान की उत्पत्ति-आदि कौतूहलों) का एकमात्र अद्वितीय स्थान है, ऐसा 'यौधेय' नाम का देश है, जिसमें समस्त पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) को प्राप्तकरानेवाली कारणसामग्री (द्रव्य, क्षेत्र व कालादि) की उत्पत्ति पाई जाती है, जो समस्त प्रशंसनीय पृथिवी मण्डलों का आभूषणसदृश है एवं समस्त सुख-सामग्री से भरपूर होने के फलस्वरूप जहाँ पर प्रजाजनों द्वारा स्वर्गप्राप्ति की कामना नहीं कीजाती और जो धनादि लक्ष्मी का निवास स्थान है। जिस योधेय देश में ऐसे ग्राम हैं—

जहाँके ग्राम महान् राजाओं के समान गोमण्डलशाली हैं। अर्थात्—जिसप्रकार महान् राजालोग गोमण्डल (पृथिवीमंडल) से संयुक्त होते हैं, उसीप्रकार ग्राम भी गो-मंडलशाली हैं। अर्थात् गायों के समूह से अधिष्ठित हैं। जो, चक्रवर्ती की लक्ष्मी के समान महिषी-समाकुल हैं। अर्थात्—जिसप्रकार चक्रवर्ती की लक्ष्मी महिषियों—पट्टमहादेवियों—से सहित होती है, उसीप्रकार ग्राम भी महिषियों—भैंसों—से व्याप्त हैं। इसीप्रकार जो, संगीतशास्त्रों के समान गन्धर्वों से सुशोभित हैं। अर्थात्—जिसप्रकार संगीतशास्त्र गन्धर्वों (संगीतज्ञों) से मण्डित—विभूषित—होते हैं, उसीप्रकार ग्राम भी गन्धर्वों—घोड़ों—से मण्डित हैं। जो बौद्ध शास्त्रों के समान अविकल्प प्रधान हैं। अर्थात्—जिसप्रकार बौद्धशास्त्र क्षणिकवादी होने के कारण प्रधान (प्रकृति—कर्म) एवं स्वर्ग व पुण्य-पापादि के विकल्प (मान्यता) से शून्य हैं अथवा निर्विकल्पकज्ञान की मुख्यताशाली हैं। उसीप्रकार ग्राम भी अविकल्प-प्रधान हैं। अर्थात्—जिनमें प्रधानता (मुख्यता) से अवि—मेढ़ाओं का समूह वर्तमान है। जो कामिनियों के नितम्बों (कमर के पीछे के भागों) के समान करभोरू हैं। अर्थात् जिसप्रकार स्त्रियों के नितम्ब, करभ[2] के समान जाँघों से युक्त होते हैं, उसीप्रकार ग्राम भी करभ—ऊरू अर्थात् ऊटों से महान हैं। जो वेदों के समान अजसंजनितविस्तार हैं। अर्थात्—जिसप्रकार वेद, अज—ब्रह्मा—से भलीप्रकार किया है विस्तार जिनका ऐसे हैं, उसीप्रकार ग्राम भी अजों—बकरों—से भलीप्रकार किया गया है विस्तार जिनका ऐसे हैं। जो, दिगम्बर मुनियों के समान जातरूपधारी हैं। अर्थात्—जिसप्रकार दिगम्बर साधु जातरूप—नग्नवेष— के धारक होते हैं, उसीप्रकार ग्राम भी जातरूप—सुवर्ण—के धारक हैं। जो चार्वाक (नास्तिकदर्शन) के शास्त्रों के समान अदेवमातृक हैं। अर्थात्—जिसप्रकार

१—विषमालंकार अथवा व्याजस्तुति।

२—'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः।
कलाई से लेकर छिगुनी तक हाथ की बाहिरी कोर को करभ कहते हैं। चढ़ाव उतार के कारण स्त्री की जाँघ के लिए कवि लोग इसकी उपमा देते हैं।

भागवता इव प्रतिपन्नकृष्णभूमयः, सांख्या इव समाश्रितप्रकृतयः, हरमौलय इव सुलभजलाः, संकर्षणरणकेलय इव हलबहुलाः, ब्रह्मवादा इव प्रपञ्चितारामाः, महायोगिन इव क्षेत्रज्ञप्रतिष्ठाः, सलिलनिधय इव विद्रुमकल्लोपशल्याः, स्वर्गवसतय इवातिथिप्रार्थनमनोरथाः, गगनमार्गा इव नक्षत्रद्विजराजिनः, कलत्रकुचकुम्भा इव भर्तृकरसंबाधसहाः,

---

चार्वाक के शास्त्र अदेवमातृक—अर्थात् देव (सर्वज्ञ-ईश्वर) और माता—आत्मद्रव्य—की मान्यता से शून्य हैं उसीप्रकार ग्राम भी अदेव—मेघ वृष्टि (वर्षा) के अधीन नहीं हैं—रिहटबहुल हैं—अर्थात् वहाँ के लोग नदी-तालाब आदि की जलराशि से उत्पन्न हुई धान्य से जीविका करते हैं, न कि वृष्टि की जलराशि से।

जो वैष्णवों की तरह प्रतिपन्नकृष्णभूमि हैं। अर्थात्—जिसप्रकार वैष्णव लोग कृष्णभूमि—द्वारिका क्षेत्र—में छहमाह पर्यन्त निवास करते हैं, उसीप्रकार ग्राम भी प्रतिपन्नकृष्णभूमि हैं। अर्थात् जिनकी कृष्णभूमि—श्यामवर्णवाली खेतों की भूमि कृषकों द्वारा स्वीकार की गई है ऐसे हैं। जो सांख्य दर्शन के समान समाश्रित प्रकृति हैं। अर्थात्—जिसप्रकार सांख्यदर्शनकार प्रकृति (सत्व, रज, और तम इन तीन गुणरूप चौबीस भेदयुक्त प्रधान तत्व) स्वीकार करते हैं उसीप्रकार ग्राम भी समाश्रित प्रकृति हैं। हलजीविक-आदि १८ प्रकार की प्रजाओं से सहित हैं। जो श्रीमहादेव के मस्तक-समान सुलभ जलशाली हैं। अर्थात्—जिसप्रकार महादेवका मस्तक गङ्गा को धारण करने के कारण सुलभ जलशाली है उसीप्रकार गावों में भी जल सुलभ हैं। अर्थात्—वहाँ मरुभूमि (मारवाड़) की तरह पानी कठिनाई से नहीं मिलता। जो बलभद्र की युद्धक्रीड़ाओं के समान हलबहुल हैं। अर्थात्—जिसप्रकार बलभद्र की युद्धक्रीड़ाएँ, हलायुध-धारी होने के कारण हल से बहुल (प्रचुर—महान्) होती हैं, उसीप्रकार ग्राम भी कृषि प्रधान होने के कारण अधिक हलों A से शोभायमान हैं। इसीप्रकार जो वेदान्तदर्शनों की तरह प्रपञ्चित आराम हैं अर्थात्—जिसप्रकार वेदान्त दर्शन प्रपञ्चित—विस्तार को प्राप्त कीगई है आराम—विद्या (ब्रह्मज्ञान) जिनमें ऐसे हैं उसीप्रकार ग्राम भी विस्तृत हैं आराम (उपवन-बगीचे) जिनमें ऐसे हैं।

जो महायोगियों—गणधरादि-ऋषियों—के समान क्षेत्रज्ञप्रतिष्ठ हैं। अर्थात्—जिसप्रकार महायोगी पुरुष क्षेत्रज्ञ—आत्मा—में प्रतिष्ठ—लीन—होते हैं, उसीप्रकार ग्राम भी क्षेत्रज्ञों—हलोपजीवी कृषकों—की है प्रतिष्ठा-(शोभा) जिनमें ऐसे हैं। जो समुद्रों के समान विद्रुमकल्लोपशल्य हैं। अर्थात् जिसप्रकार समुद्र, विद्रुमों—मूँगों—से व्याप्त है उपशल्य—प्रान्तभाग—जिनका ऐसे हैं, उसी प्रकार ग्राम भी वि-द्रुमों—विविध-भाँत के वृक्षों अथवा पक्षियों से सहित वृक्षों से व्याप्त हैं उपशल्य (समीपवर्ती स्थान) जिनमें ऐसे हैं। इसीप्रकार जो स्वर्गभवनों के समान अतिथिप्रार्थनमनोरथ हैं। अर्थात्-जिसप्रकार स्वर्गभवन, अतिथि—कुशानन्दन (कल्याण व वृद्धि) की प्रार्थना का है मनोरथ जिनमें ऐसे हैं, अथवा तिथि (दिन) की प्रार्थना का मनोरथ किये बिना ही वर्तमान हैं उसीप्रकार ग्राम भी अतिथियों—साधुओं अथवा अतिथिजनों—की प्रार्थना का है मनोरथ जिनमें ऐसे हैं। जो आकाश के मार्ग-समान नक्षत्रद्विजराजी हैं। अर्थात्-जिसप्रकार आकाश-मार्ग नक्षत्रों (अश्विनी व भरणी-आदि नक्षत्रों या ताराओं) और द्विजों (पक्षियों) या द्विजराज (चन्द्र) से शोभायमान हैं, उसीप्रकार ग्राम भी न-क्षत्र-द्विजों—अर्थात्-क्षत्रिय और ब्राह्मणों से शोभायमान नहीं हैं किन्तु शूद्रों की बहुलता (अधिकता) से शोभायमान हैं। जो कमनीय कामिनियों के कुच-कलशों के समान भर्तृकर संबाधसह हैं। अर्थात् —जिसप्रकार कमनीय कामिनियों के कुचकलश भर्तृ-कर-संबाध (पति के करकमलों द्वारा किये जानेवाले मर्दन) को सहन करते हैं उसीप्रकार ग्राम भी भर्तृ-कर-संबाध—राजा द्वारा लगाए हुए टेक्स की संबाध (पीड़ा)—को सहन करते हैं।

A कृषि करने का यन्त्र विशेष।

सुरेश्वरसेना इव स्वाम्यनुरक्ताः, सौराज्यदिवसा इव निष्कण्टकमहीभागाः, वियदापगाप्रवाहा इव विगतोपलसीमानः, सकलजगन्निर्माणप्रदेशा इव सर्वजीविनः, सुहृद इव च परस्परप्रेमाभिजात्याः कुक्कुटसंपात्याः सन्ति ग्रामाः।

अपि च विकचकर्णोत्पलस्पर्द्धितरलेक्षणाः केलितालक्वणत्कनकमयकङ्कणाः सरसनखराजिविच्छुरितभुजमण्डलाः काञ्चिकोल्लासवशदर्शितोरुस्थलाः स्वैरसंजल्पनस्मेरबिम्बाधराः कर्णकण्डूमिषोद्दलितकक्षान्तराः पृथुनितम्बवशस्खलल्लुठद्गतिविक्रमाः सहजशृङ्गाररसभरितमुखविभ्रमाः पीनकुचकुम्भदर्पत्रुटत्कञ्चुकाः शालिवप्रेषु यान्त्यः क्षणं गोपिकाः पान्थसार्थेषु नयनोत्सवं कुर्वते यत्र तापं पुनश्चिरमुपाचिन्वते।

जो इन्द्र की सेना के समान स्वामी में अनुरक्त हैं। अर्थात्—जिसप्रकार इन्द्रकी सेना तारक का बध करने के लिए स्वामी—कार्त्तिकेय—से अनुरक्त—प्रेम करने वाली है, उसीप्रकार ग्राम भी स्वामी—पालक राजा में अनुरक्त हैं। जो अच्छे राजा के दिनों के समान जिनका महीभाग निष्कण्टक है। अर्थात्—जिस प्रकार अच्छे राज्य के दिनों में भूमि के प्रदेश निष्कण्टक—क्षुद्रशत्रुओं से रहित होते हैं उसीप्रकार ग्रामों में भी भूमि के प्रदेश निष्कण्टक—वेर वगैरह काँटों वाले वृक्षों से शून्य हैं। इसीप्रकार जो गङ्गानदी के प्रवाहों के समान विगत-उपल-सीमाशाली हैं। अर्थात्—जिसप्रकार गङ्गा नदी के प्रवाह वि+गत+उपल सीमाशाली हैं, अर्थात्—हंस, सारस व चक्रवाक आदि पक्षियों से प्राप्त कीगई है गण्डशैलों—चट्टानवाले पर्वतों—की सीमा जिनमें ऐसे हैं, उसीप्रकार ग्राम भी विगल-उपल सीमाशाली हैं. अर्थात्—पाषाणों से शून्य सीमा से सुशोभित हैं। जो समस्त जगत (अधोलोक, ऊर्ध्वलोक व मध्यलोक) के निष्पादन प्रदेशों के समान सर्वजीवी हैं। अर्थात्—जिसप्रकार समस्त जगत के निष्पादन स्थान (ऊर्ध्वलोक-आदि) समस्त चतुर्गति का प्राणी-समूह है वर्तमान जिनमें ऐसे हैं उसीप्रकार ग्राम भी सर्वजीवी—सर्वैः जीव्यन्ते भुज्यन्ते, सर्वान् जीवयन्ति वा, अर्थात् समस्त राजा व तपस्वी-आदि द्वारा जीविका प्राप्त किये जानेवाले अथवा सभी को जीवन देनेवाले हैं। एवं जो मित्रों सरीखे पारस्परिक स्नेह से मनोहर हैं। अर्थात्—जिसप्रकार मित्र पारस्परिक प्रेम से सुन्दर मालूम होते हैं उसीप्रकार ग्राम भी ग्रामीणों के पारस्परिक प्रेम से मनोहर हैं। एवं जो इतने पास-पास वसे हुए हैं, कि मुर्गों द्वारा उड़कर सरलता से प्राप्त कियेजाने हैं[१]।

जिस यौधेय देश में धान्य के खेतों में गमन करती हुई ऐसी गोपियाँ—ग्वालनें अथवा कृषकों की कमनीय कामिनियाँ—एक मुहूर्त पर्यन्त पान्थ-समूह—बटोहीसंघ—के नेत्रों को आनन्द उत्पन्न करती हैं, परन्तु पश्चात् वियोग-वश जीवनपर्यन्त विप्रलम्भ (वियोग) से होनेवाले सन्ताप को पुष्ट करती हैं—वृद्धिगत करती हैं। जिनके चञ्चल नेत्र, कर्णमण्डल के आभूषणरूप विकसित कुवलयों—नीलकमलों—से स्पर्द्धा करते हैं—उनके समान हैं। जिनके सुवर्ण-घटित कङ्कण क्रीड़ावश परस्पर के करताड़न से शब्दायमान होरहे हैं, जिनकी भुजाओं के प्रदेश (स्थान), प्रियतमों द्वारा तत्काल में दीगई—कीगई—सरस—सान्द्र (गीली) नख-क्षत की रेखाओं से कर्बुरित (रंग-विरंगे) हैं। जिन्होंने कमर की करधोनियों को ऊँचा उठाकर अपनी जंघाओं के प्रदेश दिखाये हैं। जिनके बिम्बफल सरीखे ओष्ठ परस्पर में यथेष्ट वार्तालाप करने के फलस्वरूप मन्द हास्य से शोभायमान होरहे हैं, जिन्होंने कानों को खुजाने के बहाने से अपने बाहुमूल के प्रदेश दिखलाये हैं। जिनके मनोहर गमनशाली पादक्षेप—चरणकमलों का स्थापन—विस्तीर्ण (मोटे) नितम्बों—कमर के पीछे के हिस्सों—के कारण स्खलन कर रहे हैं, जिनके मुख-कमलों का विभ्रम (हाव-विलास अथवा भ्रुकुटि-संचालन) स्वाभाविक शृङ्गाररस के कारण भरा हुआ है एवं जिनकी काँचली (स्तन वस्त्र) पीन (स्थूल) कुचकलशों (स्तनों) के भार की वृद्धि से फट रहे हैं[२]।

---

१. श्लेष उपमा व समुच्चयालंकार। २. शृङ्गाररसप्रधान विप्रलम्भसंदर्शित जाति-अलंकार।

स यौधेय इति ख्यातो देशः क्षेत्रेऽस्ति भारते। देवश्रीस्पर्धया स्वर्गः स्रष्ट्रा सृष्ट इवापरः ॥ ४२ ॥

वप्रक्षेत्रसंजातसस्यसंपत्तिबन्धुराः। चिन्तामणिसमारम्भाः सन्ति यत्र वसुन्धराः ॥ ४३ ॥

लवने यत्र नोप्तस्य लूनस्य न विगाहने। विगाढस्य च धान्यस्य नालं संग्रहणे प्रजाः ॥ ४४ ॥

दानेन वित्तानि धनेन यौवनं यशोभिरायूंषि गृहाणि चार्थिभिः। भजन्ति सांकर्यमिमानि देहिनां न यत्र वर्णाश्रमधर्मवृत्तयः॥४५॥

तत्र तद्विलासिनीविलासलालसमानसानाममरकुमारकाणामनालम्बे नभस्यवतरणमार्गचिह्नोचितरुचिभिः, उपहसितशिशिरगिरिहराचलशिखरैः, अटनितटनिविष्टविकटसटोत्कटकरटिरिपुसमीपसंचारचकितचन्द्रमृगविलोचनरुचिविकचकुवलयोपहारिभिः, अरुणरथतुरगच[1]रणाक्षुण्णक्षणमात्रविश्रमैः, अम्बरचरचमूविमानगतिवक्रिमविधायिभिः, अनवरतविहरद्विहग[illegible]चक्रमं-

भरतक्षेत्र में प्रसिद्ध वह 'यौधेय' देश अत्यधिक मनोहर होने के फलस्वरूप ऐसा प्रतीत होता था—मानों—ब्रह्मा ने इन्द्र की लक्ष्मी से ईर्ष्या करके दूसरे स्वर्ग का ही निर्माण किया है[2] ॥४२॥ वहाँ की भूमियाँ अत्यधिक उपजाऊ खेतों में भरपूर पैदा होनेवाली धान्यसम्पत्ति से मनोहर और चिन्तित वस्तु देने के कारण चिन्तामणि के समान आरम्भशाली थीं[3] ॥४३॥ जहाँपर ऐसी प्रचुर—महान्—धान्य सम्पत्ति पैदा होती थी, जिससे प्रजा के लोग बोई हुई धान्यराशि के काटने में और काटी हुई धान्य के मर्दन करने में तथा मर्दन की हुई धान्य के संग्रह करने में समर्थ नहीं होते थे[4] ॥४४॥ जहाँपर प्रजाजनों की निम्नप्रकार इतनी वस्तुएँ परस्पर के मिश्रण से युक्त थीं। वहाँ धनसंपत्ति पात्रदान से मिश्रित थी। अर्थात् वहाँ की उदार प्रजा दान-पुण्यादि पवित्र कार्यों में खूब धन खर्च करती थी। इसीप्रकार युवावस्था धन से मिश्रित थी। अर्थात्—वहाँ के लोग जवानी में न्यायपूर्वक प्रचुर धन का संचय करते थे। एवं वहाँ की जनता का समस्त जीवन यशोलाभ से मिश्रित था—वहाँ के लोग जीवन पर्यन्त चन्द्रमा के समान शुभ्रकीर्ति का संचय करते थे। वे कभी भी अपकीर्ति का काम नहीं करते थे। तथा वहाँ के गृह याचकों से मिश्रित थे, अर्थात्—वहाँ के गृहों में याचकों के लिए यथेष्ट दान मिलता था। परन्तु वहाँपर वर्ण (ब्राह्मण व क्षत्रियादि) व आश्रम (ब्रह्मचारी व गृहस्थ-आदि) में वर्तमान प्रजा के लोग अपने-अपने कर्त्तव्यों में लीन थे। अर्थात् एक वर्ण व आश्रम का व्यक्ति दूसरे वर्ण व आश्रम के कर्त्तव्य (जीविका-आदि) नहीं करता था[5] ॥४५॥

उस प्रस्तुत 'योधेय' देश में ऐसे चैत्यालयों से सुशोभित राजपुर नाम का नगर है। जो (चैत्यालय) ऐसे प्रतीत होते थे मानों—राजपुर की कमनीय कामिनियों के विलास—कटाक्ष-विक्षेपरूप नेत्रों की चंचलता—देखने के लिए विशेष उत्कण्ठित चित्तवृत्तिवाले देवकुमारों को (क्योंकि स्वर्ग में देवियों के नेत्र निश्चल होते हैं), आधार-शून्य आकाश में वहाँ से उतरने के मार्ग का बोध करानेवाले चिन्हों के योग्य जिनकी उज्वल कान्ति है। जिन्होंने अपनी उच्च व शुभ्र शिखरों द्वारा हिमालय व कैलाश पर्वत के शिखर तिरस्कृत कर दिये हैं। जिनमें ऐसे विकसित कुवलयों से पूजा हो रही है जिनकी कान्ति, चैत्यालयों की कटिनियों में जडे हुए व जिनकी विस्तृत केसरों से व्याप्त ग्रीवाएँ प्रकट दृष्टिगोचर हो रही हैं ऐसे मणि-घटित कृत्रिम सिंहों के समीप में संचार करने से भयभीत हुए—जीवितसिंह की शंका से डरे हुए—चन्द्र में स्थित मृग के नेत्रों के समान है। जो इतने ज्यादा ऊँचे हैं, जिससे आकाश में गमन करने से थके हुए सूर्य के रथ संबंधी घोड़ों के पैरों को एक मुहुर्त के लिए जहाँपर पूर्ण विश्राम मिलता है। जो (चैत्यालय), देव और विद्याधरों की सेना के विमानों की गति को कुटिल करनेवाले हैं। जिनकी

१. 'चरणाक्षूण' इति हति ह. लि. सटि. (क. घ.) प्रतिषु पाठः।

२. उत्प्रेक्षालङ्कार। ३. उपमालंकार। ४. दीपकालंकार। ५. दीपकालंकार।

क्रान्तकामिनीकपोलश्रमस्वेदापनोदमन्दस्यन्दपताकाञ्चलपल्लवैः, रचितापराधविरुद्धाङ्गनाचरणानतनिलिम्पकवनीपकनिकायकृतकैतवालोकनकुतूहलितलज्जितस्मितसिद्धयुवतिभिः, अतिसविध[1]संचरत्सुरसुन्दरीकरचापल्यविलुप्तकेतुकाण्डचित्रैः, अनेकध्वजस्तम्भस्तम्भिकोत्तम्भितमणिमुकुरमु[2]खावलोकनाकुलकलकेलिदिवौकःस्खलितरथविमानवाहनसंबाधानुबन्धिभिः, अप्रत्नरत्नचयनिचितकाञ्चनकलशविसरदविरलकिरणजालजनितान्तरिक्षलक्ष्मीनिवासविचित्रसिचयोल्लोचैः, अमृतकरातपस्पर्शद्रवच्चन्द्रकान्तमयप्रणालोच्छलज्जलजालकासारसिच्यमानविरहद्विहारिणीविरहवैश्वानरकर्ममर्मरशरीरयष्टिभिः, अहिमधामघृणिसंधुक्षितदिनकृत्कान्तकिपिरिपर्यन्तस्फुरत्कृशानुकणविकास्यमानामरमुनिमध्याह्नदीपैः, अमलकामलासारविलसत्कलहंसश्रेणिद्विगुणदुकूलांशुकवैजयन्तीसंततिभिः, उपरितनतलचलत्प्रचलाकिबालकभयपलायमानजयविजयपुर[3]स्सरपवनाशनैः, उपान्तस्तूपनिपतत्पारावतपतङ्ग-

शिखरों पर वायु से मन्द-मन्द फहराई जानेवाली ध्वजाओं के वस्त्रपल्लव निरन्तर आकाश में विहार करते हुए विद्याधरों के समूह में प्रविष्ट हुई विद्याधरियों के गालों पर उत्पन्न हुए श्रमबिन्दुओं को दूर करते हैं। किये हुए अपराध (अन्य स्त्री का नाम लेना-आदि दोष) से कुपित हुई कमनीय कामिनियों (देवियों) के चरणकमलों में नम्रीभूत हुए देवों के स्तुतिपाठक समूह द्वारा की हुई धूर्तता के देखने से पूर्व में आश्चर्य-चकित हुई पश्चात् लज्जित हुई और कुछ हँसी को प्राप्त हुई हैं सिद्धयुवतियाँ (अणिमा व महिमा-आदि गुणशाली देवविशेषों की रमणीय रमणियाँ—देवियाँ जहाँपर ऐसे हैं। जहाँपर ध्वजाशाली स्तम्भों (खंभों) के चित्र, प्रस्तुत चैत्यालयों के समीप संचार करनेवाली देवियों के करपल्लवों की चपलता द्वारा नष्ट कर दिये गये हैं। उन रत्नमयी दर्पणों में, जो कि बहुत से ध्वजावाले खंभों के ऊपर स्थित छोटे खंभों के ध्वजादंडों पर बँधे हुए थे, अपना मुखप्रतिबिम्ब देखने में संलग्न—आसक्त—मनोहर क्रीड़ावाले देवों के स्खलित (नष्ट) वेगवाले (रुके हुए) विमान-वाहनों (हाथी-आदि) के लिए, जो चैत्यालय, निरन्तर कष्ट देने में सहायक थे (क्योंकि मणिमयी दर्पणों में अपना मुखप्रतिबिम्ब देखने में आसक्त हुए देवों द्वारा उनके संचालनार्थ प्रेरणा करनी पड़ती थी)। जो ऐसे प्रतीत होते थे मानों—अनेक प्रकार के नवीन रत्न-समूह से जड़ित सुवर्ण कलशों से निकलकर फैलती हुई अविच्छिन्न किरणों की श्रेणी द्वारा जिन्होंने आकाशरूप लक्ष्मीगृह के पंचरंगे वस्त्रों के चँदवों की शोभा उत्पन्न कराई है। जिनमें चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श द्वारा द्रवीभूत हुए—पिघले हुए—चन्द्रकान्तमणियों के प्रणालों—जल निकलने के मार्गों—से उछलते हुए जल समूह की प्रचुर जल वृष्टि द्वारा, विद्याधरियों की विरहरूप अग्नि की दाह से अङ्गाररूप हुई शरीरयष्टि सींची जा रही है। जिनमें सूर्य-किरणों के स्पर्श से प्रज्वलित हुए सूर्यकान्त मणियों के उपरितन भागों से उचटने वाले अग्नि के स्फुलिङ्गों—कणों—द्वारा, सप्तर्षियों के मध्याह्नकालीन दीपक जलाए जारहे हैं। जिनमें निर्मल स्फटिक मणिमयी ऊपर की भूमियों पर क्रीड़ा करते हुए कलहँसों की श्रेणी द्वारा उज्वल दुपट्टों व शुभ्र ध्वजाओं के वस्त्र-समूह दूने शुभ्र किये गये हैं। जिनमें ऊपर की भूमियों पर पर्यटन करते हुये मयूर-बच्चों के डर से ऐसे सर्प, जिनमें जय व विजय (आकाश में रहने वाले सर्प विशेष) प्रमुख हैं, शीघ्र भाग रहे हैं।

जिनमें, ऐसे धूप के धुओं का, जो कि समीपवर्ती कृत्रिम पर्वतों के ऊपर आती हुई कबूतर पक्षियों की श्रेणियों से दुगुनी छविवाले किये गये हैं (क्योंकि जंगली कबूतर धूसर (धुमैले) होते हैं), विस्तार

१ 'अतिसविधरतिसंचरन्' इति ह. लि. सटि. (च, घ) प्रतिषु पाठः। २. 'मुग्धावलोकनकेलिकलदिवौकः' इति सटीक मुद्रित प्रतौ पाठः।

३. उक्त पाठ ह० लि० सटि० (ख, ग, च) प्रतियों से संकलन किया गया है। क्योंकि सटीक मु० प्रति में 'जयविजयपुर पवनाशनैः, ऐसा पाठ है, जिसकी अर्थ-संगति सही नहीं बैठती थी—सम्पादक

पङ्क्तिपुनरुक्तधूपधूमाडम्बरैः, अतिनिकटविटङ्कोपविष्टशुकशावसंदिह्यमानहरितारुणमणिभिः, इतस्ततोऽविदूरतरचरच्चाषच्छद-मूर्छदतुच्छच्छायाच्छाद्यमानमेचकरचनैः, अनिललयप्रेङ्खोलनकलक्वणत्किंकिणीजालवाचालपालिध्वजध्वानारब्धविद्याधरवधूहेलितविधिभिः, अनवधिसुधाप्रधावद्धामसंदिग्धस्वर्धुनीप्रवाहैः, प्रफुल्लस्तवकैरिवान्तरिक्षवृक्षस्य, श्वेतदीपसृष्टिभिरिव रोदःकोटरस्य, शिखण्डमण्डनपुण्डरीकानीकैरिव नभोदेवतायाः, पुण्यपुञ्जोपार्जनक्षेत्रैरिव त्रिभुवनभव्यजनस्य, डिण्डीरपिण्डमण्डलैरिव विहायःपारावारस्य, अट्टहासविलासैरिव व्योमव्योमकेशस्य, स्फटिकोत्कीर्णक्रीडाकुल्कीलैरिव ज्योतिर्लोकस्य, ऐरावतकुलकलभैरिवानङ्गनस्य, समन्तादुपसर्पतानेकमाणिक्यरुचितरङ्गप्रसरेण परिकल्पयद्भिरिव विनेयजनानां त्रिदशवेश्मनिवेशारोहणाय सोपानपरम्पराम्, अशेषस्य जगतः परलोकावलोकनोचितभावसंभारसारस्य संसारसागरोत्तरणपोतपात्रैरिव, विचित्रकोटिभिः कूटैर्घटनाश्रयां श्रियमुद्वहद्भिश्चैत्यालयैरपरैश्चाभ्रंलिहैरुत्तुङ्गतोरणमणिमरीचिपिञ्जरितामरभवनैर्महाभागभवनैरुपशोभितं राजपुरं नाम नगरम् ।

पाया जाता है। जिनमें, निकटवर्ती कपोत-पालियों पर बैठे हुए तोताओं के बच्चों से हरित व लाल मणियों की भ्रान्ति उत्पन्न हो रही है। जहाँ-तहाँ समीप में घूमते हुए नीलकंठ पक्षियों के पंखों से उत्पन्न होने वाली प्रचुर नील कान्ति से, जिनमें, इन्दुनील मणियों की कान्ति लुप्तप्राय होरही है। वायु के संयोग-वश उत्पन्न हुए कम्पन से मधुर शब्द करती हुई। (छोटी-छोटी) घंटियों की श्रेणियों से वहाँ की पालिध्वजाएँ—चिन्ह शाली वस्त्र-ध्वजाएँ—भी मधुर शब्द कर रही हैं उनके कलरवों—मधुर शब्दों—को सुनकर जहाँ पर विद्याधरों की कमनीय कामिनियों द्वारा नृत्य विधि आरम्भ की गई है। जो सीमातीत—वेमर्याद—फैलते हुए चूने के शुभ्र तेज से आकाश गङ्गा के प्रवाह का सन्देह उत्पन्न करते हैं। जो ऐसे प्रतीत होते हैं—मानों—आकाश रूप वृक्ष के प्रफुल्लित पुष्पों के उज्वल गुच्छे ही हैं।

जो ऐसे मालूम पड़ते हैं—मानों—स्वर्ग और पृथिवीलोक के मध्य अन्तराल रूपी कोटर में जलते हुए उज्वल दीपकों की श्रेणी ही है। अथवा जो ऐसे प्रतीत होते हैं—मानों—आकाश रूप देवता के मस्तक को अलंकृत करनेवाले श्वेतकमलों की श्रेणी ही है। अथवा मानों—तीन लोक में स्थित भव्यप्राणियों के समूह की पुण्य समुदाय रूप धान्य के उत्पादक क्षेत्र—खेत—ही हैं। अथवा जो ऐसे प्रतीत होरहे हैं—मानों—आकाशरूप समुद्र की फैनराशि के पुञ्ज ही हैं। अथवा—मानों—आकाशरूप शङ्कर के महान् हास्य का विस्तार ही है। अथवा मानों—ज्योतिर्लोक—चन्द्र व सूर्य-आदि—के स्फटिकमणियों के ऐसे क्रीड़ा पर्वत हैं, जो कि टाँकियों से उकीरे जाने के कारण विशेष शुभ्र हैं। अथवा—मानों—आकाश रूप वन के ऐरावत हाथी के कुल में उत्पन्न हुए शुभ्र हाथियों के बच्चे ही हैं। इसीप्रकार सर्वत्र फैलनेवाली अनेक रत्नों की कान्तिरूप तरङ्गों के प्रसार—फैलाव—से ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों—भव्यप्राणियों को स्वर्ग में आरोहण करने के लिए, सीढ़ियों की रचना ही कर रहे हैं। अथवा ऐसे मालूम होते हैं—मानों—अखिलविश्व—समस्त भव्यप्राणी-समूह—जो कि मोक्ष में गमन के योग्य भावों—परमधर्मानुराग रूप भक्ति-आदि—के समूह से अतिशय-शाली—महान्—है, उसे संसार समुद्र से पार करने के लिए जहाज ही हैं। इसीप्रकार जो चैत्यालय, पाँच प्रकार के माणिक्यों से जड़ा गया है अग्रभाग जिनका ऐसी शिखरों से अनेक प्रकार की रचना सम्बन्धी शोभा को धारण करते हैं। उक्तप्रकार के चैत्यालयों से तथा ऐसे धनाढ्यों के महलों से, जिन्होंने मेघ-पटल का चुम्बन किया है एवं जिन्होंने अत्यन्त ऊँचे मणिमयी दरवाजों के मणियों की किरणों से देवविमानों को पीतवर्णशाली किया है, सुशोभित राजपुर नाम का नगर है[1]।

१. उत्प्रेक्षादिसंकरालंकार।

आदाय सर्वसारं विधिना दर्शयितुमस्य लोकस्य। अमरपुरीलक्ष्मीमिव मन्ये सृष्टं प्रयत्नेन ॥ ४६ ॥
यत्र यमोऽप्यसमर्थः प्रभवेत्कुत एव तत्र रिपुलोकः। धूलिस्पर्शभयादिव मन्ये प्राकारनिर्माणम् ॥ ४७ ॥
परिखावलयालंकृतमाभाति समन्ततः पुरं रम्यम्। आयसनिगडनिबद्धं सुरहरणभयादिव जनेन ॥ ४८ ॥
किंच—सौधमूर्धसु यत्रोच्चैः कुम्भाः काञ्चनकल्पिताः। भान्ति सिद्धवधूदत्ताः शेषाः सिद्धार्थका इव ॥ ४९ ॥
ब्रह्मा विलासिनीर्यत्र विनिर्माय न यौवने। मनोविभ्रमभीत्येव व्यधाल्लोचनगोचराः ॥ ५० ॥
यत्र स्मरस्मयध्वंसियुवलोकविलोकनात्। बभार सर्वदा लक्ष्मीं पुराणपुरुषो हृदि ॥ ५१ ॥
यत्कान्तकामिनीसङ्गभयादिव नगात्मजा। विवेश हरदेहार्धं तद्रक्षणपरायणा ॥ ५२ ॥

यत्र चानवरतप्रसाधितालकचामरोपचारैः, अलिकाङ्गणरङ्गस्थङ्गारितभ्रूलताकोटिभिः, उपसर्पितविलासविकासाविरल-

हम ऐसी उत्प्रेक्षा करते हैं—जो राजपुर नगर अत्यन्त मनोहर होने के फलस्वरूप ऐसा प्रतीत होता था—मानों—मध्यलोक की जनता को स्वर्गपुरी की शोभा दिखने के लिए ही ब्रह्मा ने सर्वोत्कृष्ट वस्तुएँ ग्रहण करके अत्यन्त सावधानी से इसका निर्माण किया था[1] ॥४६॥ जिस नगर को नष्ट करने के लिए जब यमराज भी समर्थ नहीं है तो उसे शत्रु-लोक किसप्रकार नष्ट कर सकते हैं? तथाऽपि—शत्रुकृत भय न होने पर भी-प्राकार (कोट) की रचना में हम ऐसी कल्पना करते हैं कि धूलि द्वारा स्पर्श होजाने के डर से ही मानों—अर्थात्—यह धूलि-धूसरित (मलिन) न होने पावे इसी हेतु से ही—उसके चारों ओर कोट की रचना की गई थी[2] ॥४७॥ चारों ओर खातिका-(खाई) मण्डल से विभूषित हुआ अतिशय मनोहर जो नगर सर्वत्र ऐसा शोभायमान प्रतीत होता था—मानों—अत्यन्त रमणीक होने के कारण—'कहीं देवता लोग ईर्ष्या-वश इसे चुरा न ले जाँय' इस डर से ही—वहाँ के पुरुषों द्वारा लोहे की साँकल से जकड़ा हुआ शोभायमान होरहा था[3] ॥४८॥ प्रस्तुत राजपुर में कुछ विशेषता है—जहाँपर राजमहलों के उच्च शिखरों पर स्थापित किये हुए सुवर्णकलश ऐसे अधिक शोभायमान होते थे—मानों—देवविशेषों की कमनीय कामिनियों द्वारा आरोपित की गई—मस्तकों पर लेपी गई—पीले सरसों की आशिकाएँ ही हैं क्योंकि आशिकाएँ भी तो मस्तकों पर लेपी जाती हैं[4] ॥ ४९ ॥ जहाँ की कमनीय कामिनियाँ इतनी अधिक खूबसूरत थीं कि ब्रह्मा ने पहिले उन सुन्दरियों की रचना की सही, परन्तु पश्चात् उनकी जवानी अवस्था में उन्हें उसने अपने नेत्रों से नहीं देखा। क्योंकि मानों—उसे अपने चित्त के चलायमान होने का भय था[5] ॥ ५० ॥ कामदेव की सर्वोत्कृष्ट सुन्दरता के अभिमान को नष्ट करनेवाले वहाँ के अत्यन्त खूबसूरत नवयुवक-समूह को देखने से ही मानों—पुराण-पुरुष—श्रीनारायण (श्रीकृष्ण), अपनी प्रियतमा लक्ष्मी को हमेशाह अपने वक्षःस्थल पर धारण करते थे। (क्योंकि मानों—उन्हें इस प्रकार की आशङ्का थी कि कहीं हमारी लक्ष्मी यहाँ के सर्वोत्तम सुन्दर नवयुवकों को न चाहने लगे! क्योंकि अनोखे सर्वाङ्ग सुन्दर नवयुवक को देखकर कौन रमणीक रमणी पुराण पुरुष—जीर्ण वृद्ध पुरुष—से प्यार करेगी[6] ॥ ५१ ॥ जिस नगर की कमनीय कामिनियों के साथ रति विलास करने की आशङ्का (भय) से ही मानों—पार्वती परमेश्वरी, अपने प्रियतम शिवजी की रक्षा में तत्पर होती हुई—महादेव के व्यभिचार की आशङ्का से भयभीत होती हुई—उनके आधे शरीर में प्रविष्ट हुई[7] ॥ ५२ ॥

जिस राजपुर नगर में कामदेवरूप महाराज कुमार ने, मदनोत्सव के ऐसे दिनों में, (श्रावण मास

१. उत्प्रेक्षालंकार। २. आक्षेप व उत्प्रेक्षालंकार। ३. उत्प्रेक्षालंकार। ४. उत्प्रेक्षा व उपमालंकार। ५. श्लेष व उत्प्रेक्षालंकार। ६. हेतुगर्भितोत्प्रेक्षालंकार। ७. उत्प्रेक्षालंकार।

विलोकविलोचनलीलाकमलैः, संकल्पितकपोललावण्यमधुसमागमैः, विस्फारितामृतकान्तबिम्बाधररसैः, संजनितस्मरसाराला*प-कर्णपूरैः, उदारहारनिर्झरोचितकुचक्रीडाचलविहारसंपादिभिः, स्तनमुकुलमृणाललीलावलिवाहिनीविहितजलकेलिविभ्रमैः, प्रदर्शित-मनोहंसावासनाभीवलभिगर्भैः, प्रकटितचेतोवासनिवासशासनमसीलिखितलिपिस्पर्धमानरोमराजिभिः, विस्तारितसमस्तसुख-साम्राज्यचिह्नजघनसिंहासनैः, संचारितोरुकदलीकाण्डकाननैः, चरणनखसंपादितरतिरहस्यरत्नदीपविरेचनैः पौराङ्गनाजनैर्विनोद्यमान इव मनसिजमहाराजनन्दनो निजाराधनसरसेष्वप्युत्सवदिवसेषु न परपुरपुरन्ध्रीणामर्हणासु परिचयं चकार।

तत्र [चास्ति] समस्तमहीमहिला[1]शिखण्डमण्डनकरे पुरे सुकृतिनो हरिवंशजन्मनः प्रचण्डदोर्दण्डमण्डलीमण्डन-मण्डलाग्रखण्डितारातिप्रकाण्डस्य [2]चण्डमहासेनस्य नृपतेःसूनुः पराक्रमापहसितनृगनलनहुषभरतभगीरथभगदत्तो मार (रि)

के कृष्ण व शुक्ल पक्ष की तृतीया व फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशी ये मदनोत्सव के दिवस कहे जाते हैं, क्योंकि इन दिनों में स्त्रियाँ नगर से बाहिर बाग-बगीचों में जाकर क्रीड़ा करती हुई कजली महोत्सव मनाती हैं) जो कि अपनी पूजा की जाने के कारण सरस—चित्त में उल्लास उत्पन्न करने वाले—भी हैं, दूसरे नगर की स्त्रियों द्वारा की हुई अपनी पूजाओं का परिचय (जानकारी) प्राप्त नहीं किया। क्योंकि वहाँ पर ऐसा प्रतीत होता था मानों—वह—कामदेवरूप महाराजकुमार—प्रस्तुत नगर की ऐसी सुन्दर स्त्रीसमूहों द्वारा क्रीड़ा कराया जारहा था। जिन्होंने अपने केशपाशरूपचमरों की सेवा निरन्तर सुसज्जित की है। जिन्होंने ललाटरूप अङ्गण की श्रेष्ठ नाट्यभूमि पर अपने भ्रुकुटीरूप लताओं के अग्रभाग सुसज्जित किये हैं। जिन्होंने ऐसे नेत्ररूप लीला कमल प्रदर्शित किये हैं, या निकट किये हैं, जो कि अपनी शोभा के विकास से निरन्तर की जानेवाली सुन्दर चितवन से युक्त हैं। जिन्होंने गालों की खूबसूरतीरूप मद्य अथवा बसन्त समागम की सुचारु रूप से रचना की है। जिन्होंने अमृत-समान अत्यन्त मनोहर (मीठे) बिम्बफल सरीखे अपने ओठों का रस विस्तारित किया है, अथवा प्रियतमों को पिलाया है। जिन्होंने काम से उत्कृष्ट वार्तालापरूप कर्ण-आभूषण भली प्रकार स्थापित किया है। अर्थात् जो (स्त्री-समूह), कामोद्दीपक, सरस व विलासयुक्त मधुर भाषण रूप कर्णाभरण से विभूषित है। जो अत्यन्त मनोहर मोतियों की मालारूप झरनों से योग्यताशाली (सुन्दर प्रतीत होने वाले) स्तनरूप क्रीड़ा पर्वतों पर विहार उत्पन्न करती हैं। जिन्होंने, स्तनरूप अविकसित (बिना फूली हुई) कमल कलियों सहित मृणाल की शोभा को धारण करनेवाली उदररेखारूप नदियों में जलक्रीड़ा का विलास किया है।

जिन्होंने मनरूप हँस के निवास का कारण ऐसा नाभिपञ्जर का मध्यभाग दिखाया है। जिन्होंने ऐसी रोमावली प्रदर्शित की है, जो कामदेव की वसतिका (निवासस्थान) के निमित्त से लिखे हुए लेख या आदेश की अञ्जन-लिखित लिपि के साथ स्पर्धा (तुलना) करती है। जिन्होंने ऐसे नितम्बरूप सिंहासन प्रकट किये हैं, जो परिपूर्ण सुखरूपसाम्राज्य (चक्रवर्तित्व) के प्रतीक हैं। जिन्होंने जंघारूप केलों के खम्भों के समूह का प्रदर्शन किया है एवं जिन्होंने चरणों के नखों द्वारा संभोग सम्बन्धी गोपनीय तत्व को प्रकाशित करने के हेतु मणियों के दीपकों की कल्पना सृष्टि उत्पन्न की है[3]।

समस्त पृथिवीरूपी कामिनी के मस्तक पर तिलकरचना करनेवाले (सर्वश्रेष्ठ) उस राजपुर नगर में, पूर्वोपार्जित विशिष्ट पुण्यशाली, हरिवंश में उत्पन्न हुए एवं अपनी बलिष्ट बाहुदण्ड मण्डली को अलंकृत करनेवाले खड्ग द्वारा, शत्रुओं की ग्रीवा विदारण करनेवाले (महान् पराक्रमी) ऐसे 'चण्डमहासेन' नामक राजा का पुत्र 'मारिदत्त' नाम का राजा था, जिसने अपने महान् पराक्रम द्वारा नृग, नल, नहुष (यादवों

* 'लापकलाप' इति ह० लि० सटि० (क-ग) प्रतिषु पाठः।

१. 'महिलामण्डल' इति मू० प्रतौपाठः। २. 'चण्डस्य चण्डमहा' मूल प्रतौ। ३. संकरालंकार।

दत्तो नाम राजा ।

स बालकाल एव लब्धलक्ष्मीसमागमः, कुलवृद्धानां च प्रतिपन्नपितृवनतपोवनलोकत्वादसंजातविद्यावृद्धगुरुकुलोपासनः, समानशीलव्यसनचारित्रैर्नर्मसचिवपुत्रैः परिवृतः, समाविर्भवता च तार्तीयीकेन वयसा निरङ्कुशतां नीयमानः, कदाचित्स्वयं परिगृहीतवीरपरिकरविधिः, उभयकटकंदरान्योन्याभिमुखनिलीनमदशौर्यश्रीवेणिदण्डानुकारिणा दानद्रवेण श्यामलितकपोलभित्तिभिः, मदमदिरामोदस्वादोन्मदमधुकरारावपुनरुक्तडिण्डिमाडम्बरैः, क्रोधानलज्वालाकराललोचनाचरितसकलदिक्पालसाध्वसैः, अनूरुसारथिरथोन्माथमिषो[1]दस्तहस्तनिष्ठुरनिष्ठ्यूतवमथुपाथःप्रवाहप्लावितसुरसदनैः,

---

का राजा), भरत (ऋषभदेव के पुत्र), भगीरथ (सगरपुत्र), और भगदत्त (राजा-विशेष)-आदि पराक्रमी राजाओं को तिरस्कृत किया था।

जिसने बाल्यकाल में ही राज्यलक्ष्मी प्राप्त की थी। उसके कुलवृद्धों (पिता व दादा-आदि) में से कुछ तो स्वर्गवासी और कुछ सांसारिक विषयों से विरक्त होकर दीक्षित (तपस्वी) होचुके थे; इसलिए उसे शास्त्रज्ञान से महत्ता प्राप्त किये हुए गुरुकुल (विद्वानों व प्रशस्त राजमन्त्रियों का समूह) से शास्त्रज्ञान के संचय करने का अवसर ही नहीं मिल सका, जिसके फलस्वरूप (मूर्ख रह जाने के कारण) वह ऐसे भाणों के पुत्रों से, जो इसी के समान दुष्ट प्रकृति, दुर्व्यसनी व दुराचारी थे, वेष्टित रहता था—उनका कुसङ्ग करता था। जिसके परिणाम-स्वरूप युवावस्था के प्राप्त होने पर वह मारिदत्त राजा निरंकुश—उच्छृङ्खल (सदाचार की मर्यादा को उल्लङ्घन करनेवाला) होगया। नीतिनिष्ठों[2] ने भी कहा है कि "जवानी, धनसम्पत्ति, ऐश्वर्य और अज्ञान, इनमें से प्राप्त हुई एक-एक वस्तु भी मानव को अनर्थों—कुकर्मों—में प्रेरित करती है, और जिस मानव में उक्त चारों वस्तुएँ—यौवन व धनादि—इकट्ठी मौजूद हों, उसके अनर्थ का तो कहना ही क्या है। अर्थात् उसके अनर्थ की तो कोई सीमा ही नहीं रहती। प्राकरणिक प्रवचन यह है कि प्रस्तुत मारिदत्त राजा में उक्त चारों अनर्थकारक वस्तुओं का सम्मिश्रण था, इसलिए वह युवावस्था प्राप्त होने पर राज्यलक्ष्मी आदि की मदहोशी-वश कुसङ्ग में पड़कर निरंकुश (स्वच्छन्द) होगया था। वह (मारिदत्त राजा) कभी स्वयं वीरों का बाना (शिरस्त्राण—लोहटोप—व बख्तर-आदि) धारण किये हुए किसी समय ऐसे हाथियों के साथ क्रीड़ा करता था। जिनकी गण्डस्थलभित्तियाँ, दोनों (वाम और दक्षिण) गण्डस्थलों के मध्यदेश में परस्पर सम्मुख बैठी हुई मदश्री—मदजल रूप लक्ष्मी—और शौर्यश्री के बँधे हुए केशपाश के समान [झरने वाले] मदजल से श्यामवर्णवाली होचुकी थीं। जिन्होंने गण्डस्थलों से प्रवाहित मद (दानजल) रूप मदिरा की दूरव्यापी सुगन्धि का पान करने से हर्षित हुए भँवरों के शब्दों द्वारा पटहों (नगाड़ों) की ध्वनि द्विगुणित (दुगुनी) अथवा तिरस्कृत की है।

जिन्होंने क्रोधाग्नि की ज्वालाओं से भयानक नेत्रों द्वारा समस्त इन्द्रादिकों को अथवा शत्रुभूत राजाओं को भय उत्पन्न किया है। जिन्होंने सूर्य का रथ नीचे गिरा देने के छल से ऊपर उठाये हुए शुण्डादण्ड (सूड़ों) से निर्दयता पूर्वक उद्गीर्ण कर (सूँड) लालारूप जलप्रवाह से देवविमान प्रक्षालित किये हैं।

---

१ उक्त शुद्ध पाठ ह० लि० सटि० (क, ख, ग, घ) प्रतियों से संकलन किया गया है। 'मिथोदस्त' पाठ सटीक मु० प्रति में है, जो कि अशुद्ध-सा प्रतीत हुआ—सम्पादक

२. तथा च विष्णुशर्मा—यौवनं धनसंपत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता । एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयं ॥ १ ॥
हितोपदेश से संकलित—सम्पादक

कराग्रलेपभयत्रस्यद्दशाकरटिघटैः, प्रधावजवकम्पितधरणिदेवतैः, चरणन्यासनमद्भूगोलक [भार] दलितशेषफणावलयैः, प्रत्यक्पुरःपक्षभ्रमिप्रारम्भविजृम्भितप्रभञ्जनजनितकुलशैलशिखरविघटनै[1]:, कटकण्डूयनविनोदभग्नमहामहीरुहनिवहैः, समस्तसत्त्वसंमर्दोत्तुच्छोच्छलच्छोणितच्छटाविच्छिन्नोपहारसंतर्पितमदपुरुषैः, मनस्सु धृतसंहारसमयैरिव, दृष्टिषु कृतकालाग्निरुद्रैरिव, दशनेषु विनिवेशितविशसनकर्मभिरिव, करेषु निहितवधक्रियोपायैरिव, पादेषु संपादितवज्रसंपातैरिव, वालधिषु च नियुक्तयमदण्डैरिव, निजमदगन्धानुबन्धबाधितापरद्विरदमदप्रभेदैः, स्यन्दनवेदमुपतिष्ठमानैः, नरशिरोदर्शं प्रधावद्भिः, तुरगालोकं पुरः प्रतिभासमानैः, सपत्नद्विपमदगन्धाघ्रायं प्रक्षुभ्यद्भिः, प्रतिपक्षेभमणिरवश्रावं संरम्भमाणैः, क्रमेलकविषयं विनिरुन्धद्भिः, छत्रगोचरं परिलुम्पमानैः, प्रलयकालानिलचलिताचलकुलविभीषणैः, प्रतिकरिशङ्कयेव गिरिकलीलालुलितमहाशिलाशकलनिष्पिष्टगण्डशैलैः, करनिर्लुण्पणपातितसालवनैः, दन्तकोटिसमुत्पाटितपुरकपाटैः, स्वकीयबलविजिज्ञापयिषयेव रविरथेषाडम्बरं रदेषु

जिनकी शुण्डादण्डों के संचार के भय से दिग्गजेन्द्रों के समूह इधर-उधर भाग रहे हैं। जिन्होंने शीघ्र गमन के बेग से पृथिवी की अधिष्ठात्री देवता कम्पित की है। जिन्होंने पैरों के स्थापन से झुके हुए पृथिवी मंडल के भार से धरणेन्द्र (शेषनाग) के फणामण्डल चूर्णीकृत (चूर-चूर) कर दिये हैं। पृष्ठभाग, अग्रभाग व वाम-दक्षिण पार्श्व भागों के चक्र सरीखे भ्रमण के प्रारम्भ से बढ़ी हुई वायु द्वारा, जिन्होंने कुलपर्वतों के शिखर विघटित किये हैं। जिन्होंने गण्डस्थलों की खुजली खुजाने की क्रीड़ा से विशाल वृक्षों के समूह तोड़ दिए हैं। जिन्होंने, समस्त प्राणियों का चूर्ण (घात) करने से अत्यधिक उछलते हुए खून की धाराओं की अखण्ड पूजा द्वारा राक्षसों को सन्तुष्ट किया है। जो ऐसे प्रतीत हो रहे थे—मानों—जिन्होंने अपने चित्तों में प्रलयकाल को ही स्थापित किया है। जो ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—जिन्होंने अपने नेत्रों में प्रलयकालीन अग्नि व प्रलयकालीन रुद्र को ही धारण किया है। इसीप्रकार जो ऐसे ज्ञात होते थे—मानों—जिन्होंने दाँतों में हिंसा कर्म को ही आरोपित किया है। एवं मानों—जिन्होंने शुण्डादण्डों में हिंसा करने का उपाय ही स्थापन किया है। एवं मानों—जिन्होंने पैरों में वज्रपात को उत्पन्न कराया है। अर्थात्—जिनके चरणों के निक्षेप से ऐसा प्रतीत होता था, मानों—वज्रपात ही होरहा है। और मानों—जिन्होंने पूँछों में यमराज के दण्डों को ही स्थापित किया है। जिन्होंने अपने मदजल के गंध की निरन्तर प्रवृत्ति से दूसरे हाथियों का मद पीड़ित किया है। जो, रथ को भलीभाँति जानकर उसे भङ्ग करने के उद्देश्य से ग्रहण करने के लिए प्राप्त होरहे हैं। जो मानव का मस्तक देखकर उसपर हमला (आक्रमण) करने के हेतु उस ओर दौड़े आरहे हैं। जो घोड़ों को देखकर उन सहित रथों पर आक्रमणपूर्वक चमक रहे हैं। अर्थात्—उनके सामने टूट पड़ते हैं। जो शत्रुओं के हाथियों की मद-गंध सूँघकर क्षुभित हो रहे हैं। जो शत्रु संबंधी हाथियों के घंटास्फालन का शब्द सुनकर कुपित होरहे हैं। जो ऊँटों का स्थान स्वीकार कर रहे हैं। अर्थात्—जो आक्रमण-हेतु ऊँटों के सम्मुख प्राप्त होरहे हैं। जो छत्र-भङ्ग कर रहे हैं। जो, प्रलय कालीन प्रचण्ड वायु द्वारा उड़ाए हुए पर्वत-समूहों के समान भयंकर हैं। जिन्होंने गैंद की क्रीड़ा-समान सरलता पूर्वक उखाड़े हुए विशाल चट्टानों के खण्डों द्वारा क्षुद्रपर्वत इसलिए चूर-चूर किये हैं; क्योंकि मानों—उन्हें उनमें—क्षुद्रपर्वतों में—शत्रु-हाथियों की शङ्का—भ्रान्ति—उत्पन्न होगई थी। शुण्डादण्डों के ताड़न द्वारा जिन्होंने शालवृक्षों के वन जड़ से उखाड़ दिए हैं। जिन्होंने दाँतों के अग्रभागों द्वारा नगर के दरवाजों के किवाड़ तोड़कर नीचे गिरा दिये हैं। जो अपने पराक्रम का बोध (ज्ञान) कराने की इच्छा से ही मानों—दन्तरूप मुसलों पर सूर्य-रथ की महान् धुरा का विस्तार धारण किये हुए हैं।

---

१. 'विघट्टनैः' इति ह. लि. मू. (क) प्रतौ पाठः।

शेषं पुष्करेषु मन्दराचलं शरीरेषु महापगाः कोशकटस्रोतस्सु सूर्यं लोचनेषु तारागणं बिन्दुषु चन्द्रं नखेषु पवनं च तरस्सु दधानैः, विटपिभङ्गवदवधीरिताधोरणप्रणिधिभिः, बिसतन्तुवत्त्रुटितबल्लिकैः, वीरणप्ररोहवत्पर्यस्तवाहरिकैः, लताप्रतानवदुन्मथितबन्धनैः, नलकाण्डवत्प्रमर्दितालानस्तम्भैः, मृणालजालवद्वि*घटितार्गलैः, कुमुदकाण्डवदुन्मूलितमिकाचैः, मुखपटाभोगवदवगणितकरेणुभिः, परमाणुवल्लोचनगोचरादपि दूरतरसंचरचारैः, कर्णतालपवनपरिक्षिप्तदिगन्तघनसंघैः, गगनाघ्राणोत्कूणितकरसूत्कारकम्पितब्रह्मलोकैः, पांसुप्रमाथोन्मथितमार्तण्डमण्डलैः, पङ्कोपदेहदुर्दिनीकृतनभोभागैः, जलावगाहपलायितजलदेवतैः, कामचारविहारवित्रासितवनदेवीसंदोहैः, उल्लङ्घितबल*वेगवीथीपरिमाणैः, शाक्यशासनप्रमाणैरिव सकलजगच्छून्यतामानेतुं प्रवृत्तिसहजैः सामजैः सह चिक्रीड ।

इसीप्रकार जो शुण्डा दण्डों पर नागराज (शेषनाग) को, शरीरों पर सुमेरुपर्वत को, और लिङ्ग-(जननेन्द्रिय) छिद्रों एवं गण्डस्थल-प्रवाहों में गङ्गा व यमुना-आदि महानदियों को धारण करते हुए ही मानों प्रतीत होरहे हैं। एवं जो नेत्रों में सूर्य को और मदबिन्दुओं में नक्षत्र-मंडल को एवं नखों में चन्द्रमा को और वेगों में वायु को स्थापित करते हुए ही मानों प्रतीत होरहे हैं[1]। जिनके द्वारा महावतों के वचन प्रयोग या अंकुशों के प्रयोग उसप्रकार तिरस्कृत किए गए हैं जिस प्रकार वृक्षों को तोड़कर तिरस्कृत किया जाता है। मृणाल तन्तुओं के समान (सरलतापूर्वक) जिन्होंने लोहे की साँकलें तोड़ दी हैं। जिन्होंने बन्धन-खम्भे उसप्रकार सरलता पूर्वक नीचे गिरा दिये हैं जिसप्रकार उशीर के तृणाङ्कुर सरलता से तोड़कर नीचे गिरा दिये जाते हैं। जिन्होंने रस्सी वगैरह बंधन उसप्रकार सरलता से छिन्न-भिन्न कर दिये हैं, जिस प्रकार लताओं के समूह सरलता से तोड़ दिये जाते हैं। इसी प्रकार जिनके द्वारा बन्धन-खंभे सरलतापूर्वक उखाड़ कर उस प्रकार चूर-चूर कर दिये गये हैं जिस प्रकार कमल दंड (मृणाल) सरलता से उखाड़ कर चूर-चूर कर दिये जाते हैं। इसी प्रकार जिन्होंने मृणाल-समूह की भाँति अर्गलाएँ—किवाड़ों के दंडे (बेड़े)—नष्ट कर दिये हैं। जिन्होंने शरीर बाँधने वाले खंभे, उसप्रकार उखाड़ दिये हैं जिसप्रकार श्वेत कमल-समूह सरलता से उखाड़ दिया जाता है। जिनके द्वारा दूसरे हाथियों का समूह उसप्रकार तिरस्कृत किया गया है—भगा दिया गया है, जिस प्रकार कृत्रिम सिंह की मुख सम्बन्धी आलेप वस्तु सरलता से तिरस्कृत की जाती है—हटा दी जाती है अथवा जिस प्रकार कृत्रिम सिंह के मुख का वस्त्रविस्तार सरलता से हटा दिया जाता है। जिन्हें वीर पुरुष परमाणु-समान नेत्र के विषय से दूर रह कर वेष्टित कर रहे हैं। अर्थात्—जिस प्रकार सूक्ष्म परमाणु दृष्टिगोचर नहीं होता—नेत्रों से दूर रहता है, उसी प्रकार वीर पुरुष भी जिन्हें भयानक समझ कर दूर से उन्हें वेष्टित कर रहे हैं—दूर रह कर जिन्हें घेरे हुए हैं। जिन्होंने कर्णरूपी तालपत्रों की वायु द्वारा मेघपटल दिशाओं में उड़ा दिये हैं। आकाश की सुगन्धि को सूँघने के उद्देश्य से ही मानों टेढ़े किए हुए शुण्डादंडों के शब्द विशेष से जिन्होंने ब्रह्मलोक कम्पित किये हैं। जिन्होंने धूलि के प्रक्षेप द्वारा सूर्यमण्डल को दूर फैंक दिया है। जिन्होंने कीचड़ के लेप द्वारा आकाश का प्रदेश दुर्दिनीकृत (मेघ व कोहरे से आच्छादित) किया है। जिन्होंने नदी व सरोवर-आदि के जल के विलोड़न द्वारा जल देवताओं को दूर भगा दिया है। जिनके द्वारा स्वेच्छापूर्वक किए हुए पर्यटन से वन देवियों की श्रेणी भयभीत की गई है। इसी प्रकार जिन्होंने संचार करने योग्य वीथी (प्रधावभूमि) का विस्तार अपने विशेष वेग द्वारा उल्लंघन करने से नाप लिया है। एवं जिनका स्वभाव बौद्ध दर्शन के शास्त्रों के समान समस्त पृथिवी मंडल को शून्यता प्राप्त कराने की चेष्टा में है। अर्थात्—जिस प्रकार बौद्ध दर्शन

* 'विघटिततटिकार्गलैः' इति ह. लि. सटि. (क, ग च) प्रतिषु पाठः। A. 'पश्चाद्बंधनाय क्षुद्रस्तम्भैः' इति टिप्पणी (क, च) प्रतिषु। * 'तर' इति ह. लि. सटि. (च) प्रतौ पाठः। १, समुच्चय व दीपकालंकार।

कदाचित्कोणकोटिकल*कन्दुकाम्बरचारणापरिस्खलितदिग्देवताविमानमण्डलो दुष्टाश्वैः सह प्रीतिं बबन्ध। कदाचिन्निजभुजपराक्रमव्यायोधितासरालजलव्यालो महासरसीनामर्णांसि विजगाहे। कदाचिद्दोर्दण्डदलितदुर्दमशार्दूलः कुल्कीलकुहराघ्रायिघूकघूत्कारघोरास्वरण्यानीषु विजहार। कदाचिन्निजयुद्धायासितप्रबलवेतालः पूतनाकरोड्डमरडमरुकारवभैरवाः क्षपासु पितृवनावनीः संचचार।

कदाचिदसहायसाहसः साश्चर्यशौर्यनिर्जितविनतदुर्वारवीरावतारभूपालचूडामणिमरीचिप्रसरसरस्ताण्डवितचरणकमलः शत्रुक्षत्रियकलत्रनेत्रापाङ्गसङ्गोल्लोलल्लाजाञ्जलिपातानामात्मानं पात्रतां निनाय। कदाचित्तौर्यत्रिकातिशयविशेषविजितगन्धर्वलोकः ख†लतिकलतालयरङ्गेषु वनदेवतानां समाजं नर्तयामास।

समस्त पृथिवी मंडल की शून्यता का समर्थक है उसी प्रकार हाथी भी समस्त पृथिवी मंडल के घात द्वारा उसकी शून्यता के उत्पादक हैं[1]।

किसी समय बल्ले के अग्रभाग द्वारा ताड़ित की हुई मनोहर गेंद को आकाश में प्राप्त कराने से स्तब्ध—निश्चल-किये हैं दिशाओं में स्थित देवविमानों के समूह को जिसने ऐसा वह मारिदत्त राजा दुष्ट घोड़ों से प्रेम प्रदर्शित करता था - उनके साथ क्रीड़ा करता था। किसी अवसर पर अपनी भुजाओं के पराक्रम से नाना भाँति के युद्ध में प्रेरित किये हैं महान् मगर-आदि जल जन्तुओं को जिसने ऐसा वह राजा, विशाल सरोवरों की जल-राशि का विलोड़न करता था। किसी समय वह अपने बाहुदण्ड द्वारा विशेष बलशाली व्याघ्र-सिंहादि को मृत्यु-मुख में प्रविष्ट कराता हुआ ऐसे विशाल वनों में विहार करता था, जो कि पर्वतों की विवरों—गुफाओं—की गंध सूँघने वाले उल्लुओं के रौद्र (भयंकर) शब्दों से भयानक थे। किसी समय अपनी भुजाओं द्वारा किये हुए युद्ध से प्रचण्ड बेतालों का दमन करता हुआ वह राजा रात्रियों में ऐसी श्मशान भूमियों पर विहार करता था, जो कि राक्षसियों के हाथों पर वर्तमान उत्कट डमरुओं के शब्दों से भयानक थीं।

किसी समय उसने, जो कि अद्वितीय (बेजोड़) साहसी था और जिसने अपना चरणकमल आश्चर्यजनक वीरता से पूर्व में जीते जाने से नम्रीभूत हुए, दुर्वार—दुर्जेय और योद्धाओं में जन्म धारण करनेवाले ऐसे राजाओं के मुकुट-मणियों की किरणों के प्रसार (फैलाव) रूप तालाब में नचाया है। किसी अवसर पर उसने अपना शरीर शत्रुभूत राजपुत्रों की युवती रमणीय रमणियों के कटाक्षों की संगति से उत्कट हुई लाजाञ्जलियों (माङ्गलिक अक्षत विशेषों) के ऊपर गिराने की पात्रता (योग्यता) में प्राप्त कराया। किसी समय गीत, नृत्य व वादित्र शास्त्र में चातुर्य की विशेषता से गायक-समूह को जीतनेवाले उसने मनोहर वनों के लतामण्डपों की रङ्गस्थलियों—नाट्यभूमियों—पर वनदेवता की श्रेणी का नृत्य कराया।

---

१. संकरालंकार।

* 'कन्दुकान्तर' इति ह. लि. मू. (क, ख, ग, घ, च) प्रतिषु पाठः।

A
† 'खलतिकखेलनलतालयरङ्गेषु' इति ह. लि. सटि. (क, ग, च) प्रतिषु पाठः।

A. अस्य टिप्पणी—वनसमूहः—खलतिकदेशसम्बन्धिवनलतामंडपनृत्यभूमिषु। नागौरस्य पञ्जिकायां तु खलतिकं वनसमूहः खेलनं क्रीडनमिति लिखितं।

कदाचिदान्ध्रीणामलकवल्लरी*विजृम्भणजलधरः, चोलीषु भ्रूलतानर्तनमलयानिलः, केरलीनां नयनदीर्घिकाकेलिकलहंसः, सिंहलीषु मुखकमलमकरन्दपानमधुकरः, कर्णाटीनां कुचकलशविलासपल्लवः, सौराष्ट्रीषु वलिवाहिनीविनोदकुञ्जरः, कम्बोजीनां नाभिवलभिगर्भसंभोगभुजङ्गः, पल्लवीषु नितम्बस्थलीखेलनकुरङ्गः, कलिङ्गीनां चलनकिसलयोत्सवपुष्पाकरः [स] स्मरं विडम्बयामास ।

किसी समय ऐसे मारिदत्त राजा ने निम्नप्रकार भिन्न-भिन्न देश की रमणीय रमणियों के साथ कामक्रीड़ा करते हुए कामदेव को तिरस्कृत किया था। जो (मारिदत्त) आन्ध्र—तिलिङ्ग—देश की ललित ललनाओं की केशपाश रूप मञ्जरियों—वल्लरियों या लताओं—के उल्लसित—विकसित करने के लिए मेघ के समान था। अर्थात्—जिसप्रकार मेघवृष्टि द्वारा लताएँ उल्लसित—वृद्धिंगत—होजाती हैं उसीप्रकार जिसकी कामक्रीड़ा से आन्ध्र देश की ललनाओं की केशपाशवल्लियाँ उल्लसित होजाती थीं—खिल उठती थीं। जो चोलदेश की रमणीय रमणियों की भ्रुकुटि रूपी लताओं के नृत्य कराने में मलयाचल की वायु के सदृश था। अर्थात्—जिसप्रकार मलयाचल की शीतल, मन्द व सुगन्धित वायु से लताएँ कम्पित होती हुई मानों—उल्लासपूर्वक नृत्य करने लगती हैं उसीप्रकार जिस मारिदत्त के रूप लावण्य से मुग्ध होकर चोलदेश की कमनीय कामिनियों की भ्रुकुटिरूपी लताएँ नाँच उठती थीं। जो केरल देश की कमनीय कामिनियों की नेत्ररूपी बावड़ियों में क्रीड़ा करने के लिए राजहंस के तुल्य था। अर्थात्—जिसप्रकार राजहंस जल से भरी हुई बावड़ियों में यथेच्छ क्रीडा करता है उसी प्रकार जो मारिदत्त राजा केरल देश की ललित ललनाओं की कान्तिरूप जल से भरी हुई नेत्ररूपी बावड़ियों में यथेच्छ क्रीड़ा करता था। जो लङ्काद्वीप की कमनीय कामिनियों के मुखरूप कमलों का मकरन्द (पुष्परस) पान करने के लिए भ्रमर के समान था। अर्थात् जिसप्रकार भँवरा कमलों के पुष्परस का पान करता है उसी प्रकार राजा मारिदत्त भी लङ्का द्वीप की युवती स्त्रियों के मन्दहास्य रूप पुष्परस से व्याप्त मुख-कमलों का पान (चुम्बनादि) करता था। जो कर्णाट (देश-विशेष) की रमणीय रमणियों के शृङ्गाररस से भरे हुए कुचकलशों—स्तन-कलशों—को सुशोभित करने के लिए पल्लव के समान था। अर्थात्—जिसप्रकार कोमल पल्लव से जल से भरा हुआ कलश शोभायमान होता है उसीप्रकार राजा मारिदत्त भी अपने हस्तपल्लवों द्वारा कर्णाटी स्त्रियों के शृङ्गाररस-पूर्ण कुचकलशों को सुशोभित करता था। जो सौराष्ट्र देश की ललित ललनाओं की त्रिवलीरूप नदियों में क्रीड़ा करने के लिए हाथी के समान था। अर्थात्—जिसप्रकार हाथी नदियों में क्रीड़ा करता है उसीप्रकार राजा मारिदत्त भी सौराष्ट्र देश की ललनाओं की कान्तिरूप जल से भरी हुई त्रिवलीरूप नदियों में क्रीड़ा करता था। जो कम्बोज देश—काश्मीर से आगे का देश—की रमणियों की नाभिरूपी छज्जा या वेदिका के मध्यभाग में क्रीड़ा करने के लिए सर्प-समान था। अर्थात्—जिसप्रकार सर्प, छज्जा या वेदिका के मध्य क्रीड़ा करता है उसीप्रकार मारिदत्त भी कम्बोज देश की स्त्रियों की नाभिरूप छज्जा या वेदिका के मध्य क्रीड़ा करता था। इसीप्रकार जो पल्लव देश की स्त्रियों के नितम्ब रूप स्थलियों (उन्नत प्रदेशों) पर क्रीड़ा करने के लिए कस्तूरिमृग के समान है। अर्थात्—जिसप्रकार कस्तूरीमृग उन्नत स्थलियों पर क्रीड़ा करता है उसीप्रकार राजा मारिदत्त भी पल्लव देश की स्त्रियों की नितम्ब-स्थलियों पर क्रीड़ा करता था। एवं जो कलिङ्ग देश की कमनीय कामिनियों के चरणरूप पल्लवों को उल्लसित करने के लिए वसन्त के समान है। अर्थात्—जिसप्रकार वसन्तऋतु पल्लवों को उल्लासयुक्त—वृद्धिंगत—करती है उसी प्रकार राजा मारिदत्त भी कलिङ्ग देश की स्त्रियों के चरणरूप पल्लवों को उल्लसित (आनन्दित) करता था।[1]

* 'विजृम्भमाण' इति मूलप्रतौ पाठः—मुद्रित सटीक प्रति से संकलित—सम्पादक।

१. शृङ्गाररसप्रधान उपमा-आदि संकरालंकार।

कदाचिदुन्निद्रारविन्दमकरन्दबिम्बकोल्लोलजलकेलिवापिकेषु, *माकन्दमञ्जरीजालकावलोकनोल्लासितविलासिमानसेषु, मलयाचलावनीवनप्रसूनसौरभोद्गमरमरुदुद्धूयमानमकरध्वजध्वजदुकूलेषु, कामिनीमुखमदिरोन्मादितवकुलकाननेषु, विलासिनीविलोकितामृतसंतर्प्यमाणकुरवकतरुषु, रमणीमणिमञ्जीरशिञ्जितमुखरचरणास्फालनसनाथाशोकशाखिषु, परिमलमिलन्मिलिन्दसंदोहदूषितषट्पदातिथिपादपेषु, कदम्बकुसुमधूलिधूसरधरापृष्ठेषु, कन्दरकलापसंचरद्रतिचतुरविकिरनखमुखावलिख्यमानवल्लरीशरीरेषु, कान्तारकुहरविहरत्कोकिलकुल*कोलाहलोत्थापितानङ्गव्यालव्याकुलितकामुकेषु, प्रोषितयोषिद्विरहाशुशुक्षणिसंधुक्षिषु, मनसिजाजकवटंकारद्रवदध्वन्यहृदयेषु, दिवाप्यभिसारिकाजनानामन्धतमसप्रसाधिषु, धीराणामपि प्रणयिनीप्रणतिहेतुषु, मानिनामपि प्रियतमाप्रसादनदैन्यनिदानेषु, शूराणामपि वल्लभाचाटुकारकारणेषु, यमिनामपि रतिरसातङ्कायतनेषु, पुष्पचापशरप्रसारसारेषु, मधुमासवासरेषु कामाश्रमधर्मचारितामाप्रपेदे।

वह मारिदत्त राजा किसी अवसर पर कामदेव की निवासभूमि से संबंध रखनेवाली सभोगक्रीड़ा को ऐसे वसन्त ऋतु के दिनों में प्राप्त हुआ। जिनमें—वसन्त ऋतु के दिनों में—क्रीड़ा करने की ऐसी बावड़ियाँ वर्तमान हैं, जो कि विकसित कमलों के पुष्परस-समूह से व्याप्त और विशिष्ट तरङ्गों वाले जल से भरी हुई हैं। जिनमें आम्रवृक्षों की लता-श्रेणियों के देखने से कामी पुरुषों के चित्त आनन्द को प्राप्त कराये गये हैं। जिनमें मलयाचल की भूमि पर वर्तमान चन्दनवृक्षों के वन सम्बन्धी पुष्पों की सुगन्धि से उत्कट (अतिशय सुगन्धित) वायु द्वारा कामदेव की ध्वजा के वस्त्र कम्पित होरहे हैं। जिनमें कमनीय कामिनियों की मुखों की मद्य से—मद्य के कुरले से—वकुल वृक्षों के वन विकसित होरहे हैं, (क्योंकि कवि संसार में ऐसी प्रसिद्धि है कि कमनीय कामिनी के मद्य-गण्डूष (मद्य के कुरले) द्वारा वकुल वृक्ष के पुष्प विकसित होते हैं)। जहाँपर युवती स्त्रियों की सुन्दर चितवन रूप अमृतों द्वारा कुरवक वृक्ष सन्तृप्त—सन्तुष्ट (विकसित) किये जारहे है। कमनीय कामिनियों के रत्नखचित नूपुरों के मधुर शब्दों से शब्द करनेवाले पादों के ताड़न से जहाँ पर अशोक वृक्ष प्रफुल्लित हो रहे हैं, (क्योंकि कवि संसार की प्रसिद्धि के अनुसार अशोक वृक्ष, कामिनी के पाद-ताड़न से विकसित होते हैं)। जहाँपर सुगन्धिवश एकत्रित हो रहे भँवरों के समूहों से चम्पा-वृक्ष श्यामवर्णशाली किये गये हैं। जहाँपर कदम्बवृक्षों के पुष्पों की परागों (धूलियों) से भूमि-मण्डल धूलि-धूसरित होरहे हैं। जहाँपर गुफा-समूहों में प्रविष्ट होते हुए कबूतरों के नखों और मुखों (चञ्चुपुटों) द्वारा लताओं के शरीर चूमे जारहे हैं। बगीचों के मध्य में संचार करते हुए कोकिल-समूहों के कल-कल शब्दों द्वारा प्रकट किये गए (जागे हुए) कामदेव रूपी दुष्ट सर्प से, जहाँपर कामी (स्त्री-लम्पट) पुरुष व्याकुलित—काम-पीड़ित—किये गये हैं। इसीप्रकार जो (वसन्तऋतु के दिन) विरहिणी स्त्रियों की विरहाग्नि को प्रदीप्त करनेवाले हैं। जिनमें कामदेव के धनुष की टङ्कार—ध्वनि (शब्द) द्वारा पथिकों के चित्त हरे जा रहे हैं—काम-विह्वल किये जारहे हैं। कामोद्दीपक होने के फलस्वरूप जो, अभिसारिकाओं (परपुरुष लम्पट स्त्रियों) को दिन में भी महान् अंधकार उत्पन्न करने वाले हैं, फिर रात्रि में तो कहना ही क्या है। जिनमें योगी पुरुषों को भी स्त्रियों के चरणों पर झुकने के कारण वर्तमान हैं फिर कायरों को तो कहना ही क्या है। जिनमें अभिमानी पुरुषों को भी स्त्रियों को प्रसन्न करने के लिये दीनता (याचना) की उत्पादक कारण सामग्री पाई जाती है। जो शूरवीरों द्वारा भी कीजानेवाली स्त्रियों की मिथ्या स्तुति

A B C

* 'माकन्दमञ्जरीजालकावलोकोल्लासितविलासिमानसेषु' इति ह. लि. सटि. (ग) प्रतौ पाठः।

A. आम्र 'माकन्दः पिकवल्लभः इत्यमरः। B. स्त्री। C. चित्तेषु इति टिप्पणी उक्त प्रतौ। अर्थात्—जिनमें आम्रवृक्ष की मञ्जरीसमूहों से उपलक्षित कमनीय कामिनियों के कारण कामीपुरुषों के चित्त उल्लासित—आनन्दित—कराये गये हैं।

* 'कुलकेलि' इति ह. ल. (क, ग) प्रतिद्वये पाठः।

कदाचिच्चरणकिसलयोल्लासमसृणितमार्गनिर्गमाभिः, पादनखमयूखोपहारविहारमहीमण्डलाभिः, ... हस्तम्भिकापुनरुक्तकाननदेवतोत्सवतोरणमालाभिः, नितम्बस्थलीद्विगुणिताशोकशाखाशयनसंनिवेशाभिः, तनूरुहराजिविजितलताप्रोहप्रसराभिः, नाभिगर्भनिर्भर्त्सितक्रीडाकुलकीलकन्दराभिः, वलिविलासविलुप्तवल्लरी*चलनाभिः, स्तनविस्तारविडम्बितप्रसूनस्तबकाभिः, भुजपञ्जरपराजितकान्तारतानाभिः, अधराधरीकृतबालप्रवालाभिः, कपोलतलोल्लसत्स्वेदजलमञ्जरीजालकुसुमितावतंसपल्लवाभिः, चिकुरकान्तिकलुषितसहच्छदच्छायाभिः, अलंकारीकृतवनस्पतिविभूतिभिर्युवतिभिः सह प्रमदवनेषु रेमे ॥

कदाचिन्मरकतमणिविनिर्मितमूलासु, कर्केतकोपलसंपादितभित्तिभङ्गिकासु, काञ्चनोपरचितसोपानपरम्परासु, मुक्ताफलपुलिनपेशलपर्यन्तासु, करिमकरमुखमुच्यमानवारिभरिताभोगासु, कर्पूरपारीदन्तुरतरङ्गसंगमासु, दुग्धोदधिवेलास्विव चन्दनधवलासु,

कराने के कारण हैं। जो योगी पुरुषों को भी संभोग कीड़ा की रसरूप व्याधि के उत्पादक स्थान हैं एवं जो कामदेव के बाणों की प्रवृत्ति से विशेष शक्तिशाली हैं[1]।

किसी अवसर पर वह मारिदत्त राजा प्रमदवनों—अन्तः पुर के बगीचों—में ऐसी तरुणियों के साथ क्रीड़ा करता था। कैसी हैं वे तरुणियाँ? जिन्होंने लावण्य-वश बगीचे की लक्ष्मी (पत्र पुष्पादि की शोभा) अपने शरीरों पर स्थापित की है। उदाहरणार्थ—जिन्होंने चरण रूप कोपलों के उल्लास (क्रीड़ा) द्वारा मार्ग प्रवृत्तियाँ कोमलित की हैं। जिन्होंने चरण-नखों की किरणों से विहार-योग्य पृथ्वी-मण्डल उपहारयुक्त किये हैं। जिन्होंने मेखला समूह से वेष्टित अपने जंघा रूपी छोटे खम्भों द्वारा उद्यान देवता की महोत्सव तोरण माला को पुनरुक्त—द्विगुणित—किया है। जिन्होंने अपनी नितम्बस्थली द्वारा अशोकवृक्ष की शाखाओं का शय्यास्थान द्विगुणित किया है। जिन्होंने रोमराजियों द्वारा लतारूप अङ्कुर का विस्तार तिरस्कृत किया है। जिन्होंने नाभि के मध्यभाग से क्रीड़ा करने की क्षुद्र पर्वतों की गुफाएँ तिरस्कृत की हैं। जिन्होंने त्रिवलियों की शोभा द्वारा लताओं के संचार या पाठान्तर में वेष्टन तिरस्कृत किये हैं। जिन्होंने अपने सुन्दर स्तनों—कुचों—के विस्तार से फूलों के गुच्छे तिरस्कृत—लज्जित—कर दिये हैं। जिन्होंने भुजाओं की रचना द्वारा वन का विस्तार पराजित—तिरस्कृत—किया है। जिन्होंने बिम्बफल-सरीखे ओठों की कोमल कान्ति से कोमल पल्लव तिरस्कृत किये हैं। जिन्होंने गालों के प्रान्त भागों पर सुशोभित स्वेदजलरूप मञ्जरीजालों द्वारा अपने कर्णपूरपल्लव पुष्पित (फूलों सहित) किये हैं एवं जिन्होंने केशपाशों की कृष्णकान्ति द्वारा तमालवृक्षों की कान्ति तिरस्कृत की है।[2]

किसी अवसर पर नवीन युवति स्त्रियों से वेष्टित हुए उस मारिदत्त राजा ने ऐसी गृह की बावड़ियों में उस प्रकार जलक्रीड़ा सम्बन्धी सुख भोगा जिसप्रकार हथिनियों से वेष्टित हुआ हाथी क्रीड़ासुख भोगता है। कैसी हैं वे गृह-बावड़ियाँ? जिनके मूलभाग मरकत मणियों द्वारा रचे गये हैं। जिनकी भित्तियों की रचना स्फटिकमणि की शिलाओं से निर्मित की गई है। जिनकी चढ़ने-उतरने की सीढ़ियाँ, सुवर्ण द्वारा निर्मित कराई गई हैं। जिनके प्रान्त भाग मुक्तामय तटों से अति मनोहर हैं। जिनका विस्तार कृत्रिम हाथियों व कृत्रिम मकरों के मुखों से छोड़े जाने वाले जलपूर से पूरित है। जिनके तरङ्गों का सङ्गम कपूर की धूलियों के समूहों से उन्नत है। वे गृह-बावड़ियाँ उस प्रकार चन्दन-धवल थीं। अर्थात् श्वेत चन्दन से शुभ्र थीं जिसप्रकार क्षीरसागर के तट चन्दन-धवल होते हैं। अर्थात्—श्वेत चन्दन की तरह शुभ्र होते हैं। जो

१. संकरालङ्कार। २. संकरालंकार।

* 'चलनाभिः' इति ह. लि. सटि. (क, च) प्रतिषु पाठः।

वनस्थलीष्विव सकमलासु, शिशिरशैलशिलास्विव मृगमदामोदमेदुरमध्यासु, कण्ठीरवकण्ठपी*ठेष्विव सकेसरासु, विरहिणीशरीरयष्टिष्विव मृणालवलयिनीषु, मन्त्रवादोक्तिष्विव विविधयन्त्रश्लाघिनीषु, वसन्तलतास्विव विचित्रपल्लवप्रसूनफल†स्फारार्चिकासु गृहदीर्घिकासु करेणुभिः करीव कामिनीभिः परिवृतो जलक्रीडासुखमन्वभूत् ॥

अन्तर्लीनसत्वः शर्वरीवातूल इव रजस्तमोबहुलोऽपि,

वनस्थलियों सरीखी सकमल थीं। अर्थात्—जिसप्रकार वनस्थलियाँ सकमल—मृगों से व्याप्त—होती हैं उसी प्रकार गृह-बावड़ियाँ भी सकमल थीं। अर्थात्—कमलों—कमल पुष्पों अथवा जलों—से व्याप्त थीं। जिनका मध्यभाग कस्तूरी की सुगन्धि से उसप्रकार स्निग्ध है जिसप्रकार हिमालय पर्वत की शिलाएँ कस्तूरी की सुगन्धि से स्निग्ध होती हैं। जो सिंहों की प्रशस्त गर्दन-सरीखी सकेसर हैं। अर्थात्—जिसप्रकार सिंहों की गर्दन केसरों—गर्दनस्थित बालों की झालरों से व्याप्त होती हैं उसीप्रकार गृह-बावड़ियाँ भी केसरों—कमल-केसरों या केसर पुष्पों से व्याप्त थीं। जो विरहिणी स्त्रियों की शरीरयष्टि-सरीखी मृणालवलयों से अधिष्ठित हैं। अर्थात्—जिसप्रकार विरहिणी स्त्रियों की शरीरयष्टियाँ, मृणाल-निर्मित कटकों से विभूषित होती हैं (क्योंकि उनकी शरीरयष्टि परिताप-युक्त होती है अतः वे शीतोपचार के लिए कमलों के मृणाल धारण करती हैं), उसीप्रकार गृह बावड़ियाँ भी मृणाल-समूहों से विभूषित थीं। जो मन्त्रशास्त्र के वचन-समान विविध यन्त्रों से श्लाघनीय हैं। अर्थात्—जिसप्रकार मन्त्रशास्त्र के वचन अनेक सिद्धचक्रादि यन्त्रों का निरूपण करने से श्लाघनीय (प्रशस्त) हैं उसीप्रकार गृह बावड़ियाँ भी नाना प्रकार के यन्त्रों-फुव्वारों-आदि-से प्रशस्त थीं। जो उसप्रकार विविध भाँति के पल्लव, फूल व फलादि की प्रचुरता से अतिशय पूजाशालिनी हैं जिसप्रकार वसन्त ऋतु संबंधी शाखालताएँ अनेक प्रकार के पल्लव, पुष्प व फलादि की प्रचुरता से अतिशय सन्मान-शालिनी होती हैं[1]।

जो मारिदत्त राजा, रात्रि सम्बन्धी प्रचण्ड वायुमण्डल के समान अन्तर्लीनसत्व था। अर्थात्—जिस प्रकार रात्रि का प्रचण्ड वायु-मण्डल अन्तर्लीन सत्व—मध्य में स्थित हुए पिशाच से युक्त—होता है उसीप्रकार प्रस्तुत राजा भी अन्तर्लीनसत्व शरीर में स्थित हुए बल से बलिष्ठ था। अथवा अन्तर्लीन सत्व[2]—जिसका सत्व (पुण्य परिणाम) अन्तरात्मा में ही लीनता—तन्मयता—को प्राप्त हो चुका है ऐसा था। अर्थात्—उसका पुण्य परिणाम आत्मा में केवल योग्यता (शक्ति) मात्र से वर्तमान था किन्तु प्रकट रूप में कुसंग-वश नष्ट होचुका था। इसीप्रकार वह रात्रि सम्बन्धी प्रचण्ड वायुमण्डल के समान रजस्तमोबहुल भी था। अर्थात्—जिसप्रकार रात्रि सम्बन्धी प्रचण्ड वायुमण्डल रजस्तमोबहुल—धूलि व अन्धकार से बहुल होता है उसीप्रकार वह मारिदत्त राजा की—राजसी[3] ('मैं राजा हूँ' ऐसी अहंकार-युक्त) प्रकृति व तामसी[4]—(दीनता व अज्ञानता-युक्त) प्रकृति की अधिकता से व्याप्त होने पर

* 'पीठीष्विव' इति ह. लि. सटि. (क, ग) प्रतिद्वये पाठः।

† 'स्फारार्पिकासु' इति ह. लि. सटि. (क) प्रतौ पाठः। १. संकरालङ्कार।

२, ३, ४. सत्वरजस्तमो लक्षणं यथा—वदननयनादिप्रसन्नता सत्वगुणेन स्यात्। रजोगुणेन तोषः। स चानन्दपर्यायः तल्लिंगानि स्फूर्त्यादीनि, तमोगुणेन दैन्यं जन्यते। 'हा देव, नष्टोऽस्मि वञ्चितोऽस्मि, इत्यादि वदनविच्छायता नेत्रसंकोचनादि व्यञ्जनीयं दैन्यं तमोगुणलिङ्गमिति। यशस्तिलक की संस्कृत टीका पृ० ४० से समुद्धृत।

अर्थात् सत्व, रज और तम का लक्षण निम्न-प्रकार है। सत्व गुण से मानव के मुख व नेत्रादि में प्रसन्नता होती है और रजोगुण से संतोष होता है, जिसे आनन्द भी कहते हैं। स्फूर्ति-उत्साह-आदि उसके ज्ञापक चिन्ह हैं।

एवं तमोगुण से दीनता प्रकट होती हैं। —हाय दैव, मैं नष्ट हो गया, इत्यादि दीनता है। मुख की म्लानता व नेत्रों का संकोच करना-आदि द्वारा प्रकट प्रतीत होनेवाली दीनता तमोगुण से प्रकट होती है। —सम्पादक

चण्डानिल इव व्यसनेषु बद्धप्रीतिरपि, वनगज इव कामचारप्रवर्तनोऽपि, धनुर्ग्रह इवावगणितमन्त्रिलोकोऽपि, रविरिव कुवलयानवेक्षणोऽपि, वसन्त इव विजात्यानन्दनोऽपि, हेमन्त इव विदूरितकमलोत्सवोऽपि, पारिप्लुञ्ज इवानात्मनीनवृत्तिरपि, कमलीव दोषागमरुचिरपि, कांदिशीक इवानवस्थितक्रियोऽपि, प्रतिपच्चन्द्र इव दुर्दर्शोऽपि चक्रवाक इव वारवनिताप्रियोऽपि,

भी अपनी राज्य-लक्ष्मी की प्राप्ति-आदि सुखसामग्री की परम्परा को देवता के अधीन उत्पन्न हुई के समान सूचित करता था। अर्थात् मैं मनुष्य नहीं हूँ किन्तु देवता हूँ, इसप्रकार सूचित करता था। जो प्रचण्ड वायु की भाँति व्यसनों में बद्धप्रीति था। अर्थात्—जिसप्रकार प्रचण्ड वायु व्यसनों—वि-असनों—नाना प्रकार के पदार्थों को फैंकने में अनुरक्त होती है उसीप्रकार प्रस्तुत मारिदत्त भी व्यसनों ([1]वचनों की कठोरता, [2]दंड की कठोरता, [3]धन का दूषण (आमदनी से अधिक खर्च करना, पैतृक सम्पत्ति को अन्याय से खाना और स्वयं न कमाना-आदि), [4]शराब पीना, [5]परस्त्री सेवन, [6]शिकार खेलना व [7] जुआ खेलना-इन सात प्रकार के कुकृत्यों) में अनुरक्त-बुद्धि हो करके भी अपने को देवता मानता था। जो उस प्रकार कामचारप्रवर्तन (स्मरपरवशता—कामवासना की पराधीनता में प्रवृत्ति करनेवाला) था जिसप्रकार जंगली हाथी कामचारप्रवर्त्तन—स्वच्छन्दता से प्रवृत्ति करनेवाला—होता है। इसीप्रकार उसके द्वारा मन्त्रीलोक (सचिव-समूह) उसप्रकार अपमानित किये गये थे जिसप्रकार धनुर्ग्रह (असाध्य ग्रहविशेष) द्वारा मन्त्रिलोक (मन्त्र-तन्त्रवादियों का समूह) तिरस्कृत कर दिया जाता है। जो उसप्रकार कुवलय—पृथिवीमंडल—का अवेक्षण (कष्टों की ओर दृष्टिपात) नहीं करता था जिसप्रकार सूर्य, कुवलयों (चन्द्रविकासी कमलसमूहों) का अवेक्षण (विकास) नहीं करता। जो उसप्रकार विजाति-आनन्दन (नीच जातिवाले नट-नर्तकादि पुरुषों को आनन्दित करनेवाला) था जिस प्रकार वसन्तऋतु वि-जाति-आनन्दन—पक्षियों की श्रेणी को आनन्द देनेवाली अथवा वि-जाती-आनन्दन (मालती-चमेली के पुष्पों के विकास से विगत—रहित) होती है।[1] जो उसप्रकार विदूरित कमल-उत्सव था। अर्थात्—जिसने आत्मिक हिंसादि पापों में किये हुए उद्यम को निकटवर्ती किया था जिस प्रकार हेमन्त ऋतु विदूरित कमलोत्सव होती है। अर्थात् कमलों के विकास को विदूरित (हिम-दग्ध) करनेवाली होती है। जिसकी वृत्ति (जीविका व पक्षान्तर में मान्यता) उस प्रकार अनात्मनीन (आत्मकल्याण कारिणी नहीं) थी जिस प्रकार बौद्ध की वृत्ति (मान्यता) अनात्मनीन (आत्मद्रव्य की सत्ता को न माननेवाली) होती है। जो उसप्रकार दोष-आगम-रुचि (हिंसादि पापों के समर्थक शास्त्रों में रुचि (श्रद्धा) रखनेवाला अथवा कामादि दोषों की प्राप्ति में रुचि रखनेवाला) था जिसप्रकार चन्द्रमा दोषा-आगम-रुचि (रात्रि के आगमन में जिसकी कान्ति बढ़ती है ऐसा) होता है। जो उसप्रकार अनवस्थितक्रिया-युक्त (जिसका कर्त्तव्य न्यायमार्ग में स्थिर नहीं—न्यायमार्ग का उल्लङ्घन करनेवाले हिंसादि पापकार्यों के करने में तत्पर) था जिसप्रकार भयभीत पुरुष अनवस्थित क्रिया-युक्त (निश्चल कर्तव्य न करनेवाला) होता है। जो प्रतिपदा के चन्द्र की तरह दुर्दर्श था। अर्थात्—जिसप्रकार अमावस्या के निकटवर्ती प्रतिपदा का चन्द्र सूक्ष्मतर होने के कारण दुर्दर्श (बड़ी कठिनाई से देखने में आने योग्य) होता है उसीप्रकार मारिदत्त राजा भी दुर्दर्श था। अर्थात्—सेवा में आए हुए लोगों को भी जिसका दर्शन अशक्य था। जो उसप्रकार वारवनिता-प्रिय (वेश्याओं से प्रेम करनेवाला) था जिसप्रकार चक्रवाक (चकवा) वार—अवनि-ता-प्रिय (जल-पूर्ण पृथिवी—तालाब-आदि—की शोभा से प्रेम करनेवाला) होता है।

१. तथा चोक्तम्—'न स्याज्जाती वसन्ते' साहित्यदर्पण सप्तम परि० श्लोक २५। अर्थात्—कवि समय में ख्यात है कि वसन्त ऋतु में जाती (मालती-चमेली) के पुष्पों का विकसित रूप से वर्णन नहीं होता। सम्पादक

रथचरणनाभिदेश इवाक्षासक्तोऽपि, शूर्पकारातिरिव मधुलब्धविजृम्भणोऽपि, जलव्याल इवाच्छोदनाभिरतोऽपि, विगतविपद्राक्षसी-समागमः स्वस्य दैवायत्तावतारामिव कल्याणपरम्परामाचचक्षे ॥

एवं तस्य धरोद्धारकुलशिखरिणः करिण इव स्वच्छन्दाचारपरागकलुषितां निजवंशलक्ष्मीमुपयच्छमानस्य, क्षणमिन्द्रियाणामानन्दजननीमसुरवृत्तिं वीरकलावतारामिवात्मनि संकल्पयतः, परत्रेह च परिणामदारुणं मृगयादिव्यसनमेष खलु क्षत्रपुत्राणां कुलधर्म इति मन्यमानस्य, मरुषु पथिकस्येव मनोविभ्रमहेतुषु कथास्वतितृष्यतः, परिपाकगुणकारिणीं क्रियामकल्पस्येव परोपरोधादुपयुञ्जानस्य, सत्पुरुषगोष्ठीं विषादप्यनिष्टतरां परिगणयतः, चेतोविजृम्भणकरमनुचरं वसुरण्यात्सतरमवेक्षमाणस्य,

---

जो उसप्रकार अक्षासक्त (इन्द्रिय-सुखों में अथवा जुआ खेलने में लम्पट) था जिस प्रकार गाड़ी के पहिए का मध्यभाग अक्षासक्त (दोनों पहियों के बीच में पड़ा हुआ अक्ष—भौंरा—सहित) होता है। जो उसप्रकार मधु-लब्ध-विजृम्भण (जिसने मद्यपान में प्रवृत्ति की है ऐसा) था जिसप्रकार कामदेव मधु-लब्ध-विजृम्भण (वसन्त-ऋतु के प्रकट होने पर अपना विस्तार प्रकट करनेवाला) होता है। जो मकर-आदि जलजन्तुओं सरीखा आच्छोदनाभिरत था। अर्थात्—जिसप्रकार मकर-आदि जलजन्तु अच्छ-उद-नाभि-रत (स्वच्छ जल के मध्य में अनुरक्त) होता है उसीप्रकार प्रस्तुत मारिदत्त राजा भी आच्छोदन-अभि-रत (शिकार खेलने में विशेष अनुरक्त) था। इसीप्रकार वह, जिसे विपत्तिरूपी राक्षसी का समागम नष्ट होगया है, ऐसा था। अर्थात् शत्रुकृत उपद्रवों से रहित था, तथापि—उक्त दुर्गुणों से युक्त होने पर भी—वह अपनी कल्याणपरम्परा (राज्यादि लक्ष्मी से उत्पन्न हुई सुखश्रेणी) को देवत्व के अधीन है उत्पत्ति जिसकी ऐसी मानता था। अर्थात् 'मैं मनुष्य नहीं हूँ किन्तु देवता हूँ, जिसके फलस्वरूप ही मुझे ऐसी प्रचुर राज्यविभूति-संबंधी कल्याण-परम्परा प्राप्त हुई है। इस प्रकार जनसमूह को सूचित करता था[१]।

इसप्रकार अपने वंश की राज्यलक्ष्मी को स्वीकार करते हुए ऐसे उस मारिदत्त राजा के कुछ वर्ष व्यतीत हुए। कैसा है वह मारिदत्त राजा? जो पृथिवी के उद्धरण कार्य के लिए कुलपर्वत सरीखा है। अर्थात्—जिसप्रकार कुलाचल पृथिवी का उद्धरण (धारण) करते हैं उसीप्रकार प्रस्तुत मारिदत्त भी पृथिवी का उद्धरण (शिष्ट-पालन और दुष्ट-निग्रह रूप पालन) करता था। जो अपनी ऐसी राज्यलक्ष्मी को हाथी सरीखा स्वीकार कर रहा था, जिसे उसने अपनी स्वच्छन्द आचरण रूप धूलि द्वारा कलुषित कर डाली थी। अर्थात्—जिसप्रकार स्वच्छन्द विहार करने वाला मदोन्मत्त हाथी अपनी पीठ की लक्ष्मी (शोभा) को पराग-(धूलि) प्रक्षेप द्वारा कलुषित (धूलि-धूसरित) करता हुआ उसे स्वीकार करता है उसीप्रकार प्रस्तुत मारिदत्त ने भी अपनी स्वच्छन्द (नीति-विरुद्ध) असत्प्रवृत्ति (परस्त्रीलम्पटता व वेश्या गमनादि) रूप पराग (दोष) द्वारा अपनी वंश परम्परा से प्राप्त हुई उज्वल राज्यलक्ष्मी को कलुषित (मलिन-दूषित) करते हुए स्वीकार किया था। जो, केवल क्षणमात्र के लिए चक्षुरादि इन्द्रियों को कौतुक उत्पन्न कराने वाली राक्षसवृत्ति (शिकार-खेलना-आदि असुरक्रिया) को अपने चित्त में वीरता की कला के जन्म सरीखी अथवा सुभट विज्ञान की उत्पत्ति-सी समझता था। एवं फलकाल में ऐहलौकिक पारलौकिक दारुण दुःखों को उत्पन्न करने वाले शिकार खेलना आदि दुराचारों को क्षत्रिय राजकुमारों का कुलाचार समझता था। जो मारिदत्त, चित्त में भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले शास्त्रों के श्रवण करने में उसप्रकार विशेष तृष्णा (आसक्ति) करता था जिसप्रकार मरुस्थल भूमियों पर स्थित हुआ पथिक मानसिक भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली कथाओं के श्रवण करने के अवसर पर अत्यधिक तृष्णा करता है—जल पीना चाहता है। वह उदयकाल में गुण-कारक (भविष्य में सुख देनेवाले) सदाचार के पालन करने में दूसरे हितैषी आप्तपुरुषों के आग्रह-वश उसप्रकार प्रवृत्त होता था, जिसप्रकार रोगी पुरुष, उदयकाल में गुणकारक (आरोग्यताजनक) कटुक

---

१. संकरालंकार व श्लेषोपमालंकार।

वितथस्तुतिमुखरेषु चिन्तामणेरिव फलतः, सकलजनसाधारणेऽपि स्वदेहे त्रिकमतदीक्षितस्येव देवभूयेनाभिनिविशमानस्य, निजाजीवनपरैरपायेषु नीयमानस्याप्यरण्यवारणस्येवाचेततः, खलालापानिलगलितहितोपदेशावतंसस्य, चन्दनतरोरिव दुर्जनाहिव्यूहितत्वाद्दूरतरोत्सरत्कल्याणावहलोकस्य कतिचित् संवत्सरा व्यतिचक्रमुः।

स पुनरेकदा नृपतिरात्मराजधान्यामेव चण्डमारिदेवतायाः पुरतः सकलसत्त्वोपसंहारात् स्वयं च सकललक्षणोपपन्न-मनुष्यमिथुनवधाद्विद्याधरलोकविजयिनः करवालस्य सिद्धिर्भवतीति वीरभैरवनामकात् कुलाचार्यकादुपश्रुत्य खेचरीलोक-लोचनावलोकनकुतूहलितचेतास्तथैव प्रतिपन्नतदाराधनविधिः, अकालमहानवमीमहमिषसमाहूतसमस्तसामन्तामात्यजानपदः, प्रलयकालक्षुभितसप्तार्णवरवघोरानकस्वनाविर्भावितभुवनान्तरसंचरद्देवतामदः, ससंरम्भमम्बरतलादिलायाः पातालमूलाद्दि-

औषधादि के सेवन करने में दूसरे हितैषी वैद्यादि के आग्रह से प्रवृत्त होता है। अभिप्राय यह है कि उसे पारलौकिक सुख देनेवाली सदाचार प्रवृत्ति में उसप्रकार स्वयं रुचि नहीं थी जिसप्रकार रोगी पुरुष को आरोग्यता उत्पन्न करने वाली कटु औषधि के सेवन में स्वयं रुचि नहीं होती। जो (मारिदत्त) सत्सङ्ग को जहर से भी अधिक कष्टदायक मानता था। वह पाप में प्रवृत्त करानेवाले सेवक को पिता से भी अधिक हितैषी समझता था। इसीप्रकार वह उसकी झूँठी प्रशंसा करने वालों के लिए चिन्तामणि के समान मन चाही वस्तुएँ (प्रचुर धनादि) देता था। समस्त मनुष्य लोक के समान अपने मानव शरीर को वह उसप्रकार देवत्वरूप से मानता था जिसप्रकार सांख्यमत की दीक्षा-धारक पुरुष अपना मानव शरीर देवत्व को प्राप्त हुआ मानता है। जिसप्रकार विन्ध्याचल पर्वत का हाथी पकड़ने वाले स्वार्थी पुरुषों द्वारा संकट स्थान (गड्ढा) पर प्राप्त कराया हुआ भी अपनी रक्षा का उपाय नहीं सोचता उसीप्रकार अपनी उदरपूर्ति में तत्पर स्वार्थी पुरुषों (धनलम्पट राजकर्मचारियों) द्वारा महासंकट (नाश) के स्थानों में प्राप्त किया जाने वाला मारिदत्त राजा भी अज्ञान-वश अपनी रक्षा का उपाय नहीं सोचता था। जिसका इसलोक व परलोक में सुख-शान्ति दायक धर्मोपदेशरूप कर्णाभूषण, दुष्टों की वचनरूप वायु द्वारा नीचे गिरा दिया गया था। अर्थात्—जो सदा धर्म से विमुख रहता था। जिसप्रकार चन्दन वृक्ष भयङ्कर सर्पों से वेष्टित रहता है: इसलिए अपनी भलाई (जीवन) चाहनेवाले पुरुष उससे दूर भाग जाते हैं, उसी प्रकार प्रस्तुत मारिदत्त भी दुष्ट पुरुष (घूँसखोर स्वार्थलम्पट नीच पुरुष) समूहरूप सर्पों से वेष्टित रहता था, इसलिए कल्याण चाहने-वाले लोग उससे दूर भाग जाते थे।[1]

एक समय उस मारिदत्त राजा ने अपनी राजधानी (राजपुर नगर) में चार्वाक के कुत्सित शिष्य 'वीरभैरव' नामके कुलाचार्य (वंशगुरु) से निम्नप्रकार उपदेश सुना—"हे राजन्! चण्डमारी देवी के सामने समस्त जीवों के जोड़ों की बलि (हत्या करना) रूप पूजन करने से और स्वयं अपने करकमलों से खड्गद्वारा शारीरिक समस्त लक्षणों से अलंकृत मनुष्य-युगल की बलि करने से आपको ऐसे अनोखे खड्ग की सिद्धि होगी, जिसके द्वारा तुम समस्त विद्याधरों के लोक पर विजय श्री प्राप्त कर सकोगे।" उक्त उपदेश-श्रवण से मारिदत्त राजा के मन में समस्त विद्याधर-समूह पर विजयलक्ष्मी प्राप्त करने की और विद्याधरों की कमनीय कामिनियों के साथ रतिविलास करने की तीव्र लालसा उत्पन्न हुई। इसलिए उसने पूर्वोक्त विधि से चण्डमारी देवी की पूजनविधि करने का दृढ़ निश्चय किया। अर्थात्—उसने चण्डमारी देवी के मन्दिर में शारीरिक शुभलक्षणों से अलंकृत मनुष्य-युगल का वध पूर्वक अन्य दूसरे जीवों के जोड़ों की बलि वध) करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। इसलिए चैत्र शुक्ला नवमी के दिन कीजानेवाली पूजा के बहाने से उसने अपने अधीनस्थ समस्त राजाओं, मंत्रियों और प्रजाजनों को उक्त मन्दिर में बुलाया। तदनन्तर वह मारिदत्त

१. संकरालङ्कार।

गन्तरालेभ्यश्च विभावर्यां तमःसंततिभिरिवाविर्भवन्तीभिः, गतिवेगविगलज्जटाजालाक्षिप्यमाणमहाग्रहग्राहक्षोभरुषितगगनगामिलोकाभिः, परस्परसंघट्टस्फुटत्खट्वाङ्गकोटिघटितघण्टाटंकृताकर्णनावतीर्णनटन्नारदजनितवैलक्ष्याभिः, कपर्दनिर्दयसंमर्दनिर्मोदालगर्दभलगुहास्फुरत्फूत्कारस्फारितललाटलोचनानलज्वालावलपितादितिसुतनिकेतनपताकाभोगाभिः, शिखण्डमण्डनोड्डमरनरशिरःश्रेणिपर्यन्तभ्रान्तप्रवृद्धगृद्धनिरुद्धब्रध्नदीधितिप्रबन्धाभिः, श्रवणभूषणभुजङ्गजिह्वालिह्यमानकपोलतललिखितरक्तपत्त्राभिः, इतरेतरस्खलनमत्सराविर्भूतोद्भटभ्रकुटिभीषणमुखमुक्तस्फीतफेत्कारभयपलायमानहिमकरहरिणपरित्राणोत्तालितनक्षत्रनिकराभिः, वियद्विहाराश्रयश्रमप्रसारितासरालरसनापसारितसुरापगापयःस्पर्शप्रकोपितसप्तर्षिभिः, अतिबाढप्ररूढदंष्ट्राङ्कुराग्रलग्नघनसंघातनिर्जितवराहवेषविष्णुसमुद्धृतधराशोभाभिः, सनादरोदःक्रोडक्रीडत्क्रमाक्रान्तिमुखरघर्घरकघोरघोषभीपितानिमिषपरिषद्भिः, दिवापि कीकसोत्कटकोटीरकीर्णकेशावकाशतया तारकितमिव व्योम निर्मापयन्तीभिः, सकलस्य जगतः क्षयक्षपाभिरिवातिदारुणदीर्घदेहा-

---

राजा जिसने प्रलयकालीन क्षुब्ध हुए सात समुद्रों के शब्दों सरीखे भयङ्कर भेरी-वगैरह बाजों के शब्दों द्वारा पृथिवी मण्डल पर संचार करनेवाली देवियों को हर्ष प्रकट किया है, ऐसे चण्डमारी देवी के मन्दिर में पहुँचा, जिसका प्राङ्गण ऐसी महान् व्यन्तरी देवियों से परिपूर्ण था। कैसी हैं वे महान् व्यन्तरी देवियाँ? जो आकाशमण्डल, पृथिवी का मध्यभाग, अधोलोक का मूलभाग और चारों दिशाओं व विदिशाओं से उस प्रकार विस्तार पूर्वक प्रकट हो रही हैं जिसप्रकार रात्रि में अन्धकार श्रेणियाँ विस्तार पूर्वक प्रकट होती हैं। जिनके शीघ्रगमन की उत्कण्ठा से शिथिल हुए केश-समूहों से तिरस्कृत किये जारहे सूर्यादि ग्रहों व पिशाचों के संचार से, विद्याधर कुपित किये गये हैं। जिन्होंने परस्पर की टक्कर से टूटनेवाले नरपञ्जरों या डमरुओं के अग्रभाग पर बँधे हुए घण्टों के शब्द श्रवण करने के कारण [संग्राम होने की भ्रान्ति-वश उत्पन्न हुए हर्ष के कारण] आकाश में आए हुए नृत्य करनेवाले नारद का नैराश्य (आशा-भङ्ग) उत्पन्न कराया है। अर्थात् युद्ध न होने के कारण जिन्होंने संग्रामप्रिय नारद की आशा भङ्ग कर दी है। जिन्होंने सर्पों से बँधे हुए जटाजूट का निर्दयतापूर्वक पीड़न—गाढ़-बन्धन—किया है, जिसके फलस्वरूप जिन्होंने हर्षाहत (व्याकुलित) हुए केशपाश-बद्ध सर्पों के कंठविवरों से प्रकट हुए फुत्कार-वायु संबंधी शब्दों से विशेष वृद्धिगत हुई तृतीय नेत्रों की अग्निज्वालाओं द्वारा, सूर्यविमान की ध्वजा का विस्तार भस्म (दग्ध) कर दिया है। जिन्होंने मस्तक के आभरणरूप व विशेष भयानक नरमुण्डों के समूहों के प्रान्तभागोंपर मण्डलाकार स्थित हुए महान् गृद्धपक्षियों से सूर्य की किरण-समूह आच्छादित की है। जिनके गालतलों पर लिखित रुधिर की पत्त्ररचना कानों के आभरणरूप सर्पों की जिह्वाओं द्वारा चाटी जारही है। जिन्होंने ऐसे चन्द्र-मृग की रक्षा करने में, जो कि परस्पर का गमनभङ्ग करने से उत्पन्न हुए द्वेष-वश प्रकट हुई विशेष विस्तृत भ्रकुटियों के भङ्ग (चढ़ाने) से भयानक मुखों द्वारा उत्पन्न हुए महान् शब्दों से भय से भाग रहा है, नक्षत्र-श्रेणी को उत्कण्ठित या आकुलीकृत किया है। जिनके द्वारा, आकाश गमन संबंधी शारीरिक खेदवश मुख से बाहिर निकाली हुई अपर्यन्त—बेहद—जिह्वा से निकाले हुए (उच्छिष्ट—जूँठे किये हुए) आकाशगङ्गा के जल का स्पर्श करने के कारण मरीचि व अत्रि-आदि सप्तर्षि कुपित किये गये हैं। जिन्होंने विशेष रूप से मुख से बाहिर निकले हुए दंष्ट्राङ्कुर के प्रान्त भाग पर स्थित मेघसमूह द्वारा विष्णु की वराह वेष में धारण की हुई पृथिवी की शोभा जीती है। अर्थात्—वराह-वेषधारी विष्णु ने दंष्ट्रा के अग्रभाग द्वारा पृथिवी उठाई थी उसकी शोभा प्रस्तुत महान् व्यन्तरियों द्वारा जीती गई। जिन्होंने आकाश और पृथिवी-मण्डल के मध्य में शब्द सहित क्रीड़ा करनेवाले पादों की व्याप्ति से शब्द करती हुई घुँघुरु-मालाओं के भयानक शब्दों से देवताओं का समूह भयभीत किया है। हड्डियों के उत्कट मुकुटों पर फैलाए हुए केशों के विस्तार से जो मानों—दिन में भी आकाश को तारकित (ताराओं से अलंकृत) कर रही हैं। जिनका शरीर उसप्रकार अत्यन्त असह्य और विशाल है, जिसप्रकार प्रलयकालीन रात्रियाँ

भिर्महायोगिनीभिरापूर्यमाणपरिसरम्, [अपि च] क्वचित्प्रनृत्यदुत्तरलतालवेतालकुलविडम्ब्यमानडाकिनीताण्डवाडम्बरम्, क्वचिद्-भ्रूभङ्गाभीलभूतनिर्भर्त्सितकपिक्षपाचरभरभज्यमानाभ्यर्णभूरुहम्, क्वचित्करोड्डमरडमरुकरवलयखेलत्कपालिनीत्रिशूलवल्गननिर्भिन्नद्रवदुत्तंसचन्द्रामृतपानपरचकोरकामिनीकर्बुरीक्रियमाणककुभाभोगम्, क्वचिदुन्माथप्रमाथसार्थकदर्थ्यमानपिशुरार्पितजरथमन्थरकपालशकलम्, क्वचित्संधुक्षितक्षुदक्षुण्णाकाङ्क्षध्वाङ्क्षराक्षसक्षिप्यमाणयक्षरक्षितक्षेत्रनिक्षिप्तवनदेवतापोतम्, * क्वचित्तरक्षुरक्षोदशनदार्यमाणास्थिप्रस्थम्, क्वचित्कौशिकपलाशतुण्डखण्ड्यमानावानाजिनवैजयन्तीकम्, क्वचिच्छार्दूलदानववदनविदूयमानचिरच्छिन्नच्छगलगलजालजटिलतोरणमालम्, क्वचित्कासरासुरखुरप्रचारचूर्ण्यमानकरङ्कप्राकराम्, क्वचित्करिरूपकोणपकरालकरविकीर्यमाणजीर्णचर्मविनिर्मितवितानम्, क्वचित्पुरुदंशोनिशाचरखरनखरशिखोल्लिख्यमानाश्यानशोणितदत्तभित्तिपत्राङ्कुलम्, क्वचिदखर्वगर्वोद्गूर्णगोमायुनैगमे (कंच) यजुष्यमाणपानपात्रासत्रनिपकर्परम्, क्वचित्साधकलोकनिजशिरोदह्यमानगुग्गुलरसम्, क्वचिन्नरव्यालप्रबोधितस्वीयशिरावलिप्रदीपम्,

---

अत्यन्त असह्य और विस्तृत होती हैं। प्रसङ्ग—उस चण्डमारी देवी के मन्दिर का प्राङ्गण उक्त प्रकार की महान् व्यन्तरी देवियों से परिपूर्ण था। फिर कैसा है वह चण्डमारी देवी का मन्दिर?

जहाँ पर किसी स्थान में नृत्य करते हुए व उत्कट हस्त-ताड़न करनेवाले वेताल-समूहों द्वारा डाकिनियों के ताण्डव-नृत्य का विस्तार बाधित किया जारहा है। किसी जगह पर, भ्रुकुटिबन्ध से भयानक व्यन्तर विशेषों द्वारा निकाले हुए या भगाये हुए वानररूप राक्षसों के भार से जहाँ पर निकटवर्ती वृक्ष स्वयं भङ्ग (नष्ट) होरहे हैं। किसी स्थान पर, हाथों पर स्थित व अत्यन्त भयानक डमरुओं के शब्द संबन्धी लय (साम्य) से क्रीड़ा करती हुई व्यन्तरी योगिनियों के त्रिशूलों के उच्छलन से मुकुटरूप चन्द्रमा, छिद्र सहित किए गए थे और जिसके फलस्वरूप उनसे अमृत-क्षरण—प्रवाहित—हो रहा था, उस अमृत के पीने में तत्पर हुईं चकोर-कामिनियों द्वारा जहाँपर दिशाओं का समूह विचित्र वर्णशाली किया जारहा था। जहाँपर किसी स्थान पर हिंसक या उच्छृङ्खल प्रमाथगणों (पिशाच-समूहों) से पीड़ित किये जानेवाले राक्षसों द्वारा अर्पित किए गए गीले मांस से भरे हुए सकोरों के खण्ड पाए जाते हैं। जहाँ पर किसी स्थान पर प्रज्वलित भूँख के कारण खाने में विशेष लम्पट काकरूप राक्षसों द्वारा, वनदेवियों के ऐसे बालक गिराए जा रहे हैं, जो यक्ष द्वारा रक्षित स्थान पर छोड़े गए थे। किसी जगह, जंगली कुक्कुर रूप राक्षसों के तीक्ष्ण दाँतों द्वारा जहाँ पर हड्डियों के तट (प्रान्तभाग) तोड़े जा रहे हैं। जहाँपर किसी स्थान पर, उलूकरूप राक्षसों के चञ्चुपुटों द्वारा शुष्क चर्म-ध्वजाएँ खण्डित की जारही हैं। जहाँपर किसी जगह, बकरों के कण्ठसमूह व मस्तकसमूह पर स्थित जटाओं से, जो कि व्याघ्र वेषधारी राक्षसों के मुखों से चबाई जा रही थीं और चिरकाल से छिन्न-भिन्न की जारही थीं, व्याप्त हुई तोरणमालाएँ पाई जाती हैं। किसी स्थान पर भैंसासुरों के खुरों के संचरण से जहाँपर पशुओं के शुष्क शरीर रूप किले चूर-चूर (भग्न) किये जा रहे हैं। जहाँपर किसी स्थान पर गजासुरों के उन्नत शुण्डादण्डों से शुष्क चर्म के चँदवे क्षेपण किए जारहे हैं। जहाँपर किसी स्थान में शुष्क व रुधिर-निमित भित्तियों के चित्र बिडालरूप राक्षसों के तीक्ष्ण नखों के अग्रभागों द्वारा खोदे व उकीरे जा रहे हैं। जहाँपर किसी स्थान पर महान् गर्व से व्याप्त शृगालरूप राक्षसों से आस्वादन किए जाने वाले मद्य के पात्र भूत मद्यघटों के शकल (खंड) पाए जाते हैं। जहाँ पर किसी स्थान पर मन्त्रसाधक पुरुषों द्वारा अपने मस्तक पर जलाये जाने वाले गुग्गुल का रस वर्तमान है। जहाँ किसी जगह पर दुष्ट पुरुषों द्वारा अपनी नसों की श्रेणियों के दीपक जलाए गये हैं।

---

* ह. लि. सटि. प्रतियों से संकलित। मु. प्रतौ तु 'रक्षोदरावदार्यमाणपुराणास्थिप्रस्थं'।

क्वचिन्महासाहसिकात्मरुधिरधरापानप्रसाद्यमानरुद्रम्, क्वचिन्महाव्रतिकवीरक्रयविक्रीयमाणस्ववपुर्वल्लूरम्, क्वचित्तीक्ष्णपुरुषापकृष्टस्वकीयान्त्रयन्त्रदोलनतोष्यमाणमातृमण्डलम्, क्वचित्परुषमनीषमनुष्यात्मीयतरसाहुतिहूयमानसहजिह्मम्, यमस्यापि कृतशङ्कातङ्कम्, महाकालस्यापि विहितसाध्वसोद्रेकम्, समस्तसत्त्वसंहारायतनं देवतायतनमुपगम्योपविश्य च तत्पादपीठोपकण्ठे कीनाशनगरमार्गानुकारिणा करार्पितेन तरवारिणा प्रकम्पितसुरासुरलोकस्तन्मिथुनाय दण्डपाशिकभटानादिदेश।

अत्रान्तरे भगवानमरचूडामणिमयूखशंखरितचरणनखशिखोल्लेखपरिधिः, सुदत्तापरनामनिधिः, अनाश्वान्, आश्चर्यपर्यायाचा (च) र्यचातुर्योद्भूतभावनाप्रभावप्रकम्पितायातविनतवनदेवतोत्तंसप्रसूनमकरन्दस्यन्ददुर्दिनीकृतक्रमः,

---

जहाँ किसी प्रदेश पर महासाहसी पुरुषों द्वारा अपनी रुधिर धारा पीने के फलस्वरूप रुद्र (श्री महादेव) प्रसन्न किये जा रहे हैं। जहाँ पर किसी स्थल पर चार्वाक (नास्तिक) वीरों द्वारा अपने शरीर का काटा हुआ मांस मूल्य लेकर बेंचा जारहा है। जहाँ किसी जगह पर निर्दय पुरुषों द्वारा अपने पेट से बाहर निकाली हुई अपनी आँतों के समूह से क्रीड़ा करने के कारण मातृ-मण्डल (ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा ये सात माताएँ) प्रसन्न किया जा रहा है। जहाँ किसी स्थान पर निर्दयबुद्धि पुरुषों द्वारा अपने मांस की आहुतियों से अग्नि देवता सन्तुष्ट किया जा रहा है। एवं जिसने यमराज के हृदय में भी मृत्युभय या प्राणघातक व्याधिविशेष की आशङ्का उत्पन्न की है, फिर सर्व साधारण लोगों का तो कहना ही क्या है। और जिसने रुद्र के चित्त में भी विशेष भय उत्पन्न किया है। इसीप्रकार जो समस्त प्राणियों के संहार—प्रलय (नाश) का स्थान है। प्रस्तुत मारिदत्त राजा उक्त प्रकार के चण्डमारी देवी के मन्दिर में प्राप्त होकर उसके सिंहासन के निकट बैठ गया। तत्पश्चात् खड़े होकर मृत्यु-मुख में प्रविष्ट कराने वाली व हस्त में धारण की हुई तीक्ष्ण तलवार से समस्त देव-दानवों के समूह को कम्पित करते हुए उसने [मनुष्य युगल की बलि करने के उद्देश्य से] चण्डकर्मा नाम के कोट्टपाल के सेवकों को शुभलक्षणों से युक्त मनुष्य-युगल (जोड़ा) लाने की आज्ञा दी।

इसी अवसर पर (उसी चैत्र शुक्ला नवमी के दिन) राजपुर नगर की ओर विहार करने के इच्छुक ऐसे 'सुदत्त' नाम के आचार्य ने, अपने संघ-सहित विहार करते हुए पूर्व दिशा में उक्त नगर का 'नन्दनवन' नाम का उद्यान देखा। कैसे हैं सुदत्ताचार्य ! जो समस्त इन्द्रादिकों द्वारा पूजनीय हैं। जिसने देवों के शिरोरत्नों की किरणों में अपने चरण-नख मुकुटित किये हैं और उनकी अग्रकिरण समूह का परिवेष (मण्डल—घेरा) प्रकटित किया है। जो 'सुदत्त' इस दूसरे नाम की अक्षय निधि होते हुए अनाश्वान्[1] (अनेक उपवास करनेवाले हैं अथवा इन्द्रियरूप चोरों पर विश्वास न करके उन पर विजय प्राप्त करनेवाले (पूर्ण जितेन्द्रिय), शाश्वत् कल्याणमार्ग की साधना में स्थित एवं अहिंसाधर्म की मूर्ति होने के कारण समस्त प्राणियों द्वारा विश्वास के योग्य) हैं। जिसके चरणकमल आश्चर्यजनक पंचाचार (सम्यग्दर्शनादि-आचार) रूप चरित्रधर्म के अनुष्ठान-चातुर्य से उत्पन्न हुए महान् भेदज्ञान के अनोखे प्रभाव से पूर्व में कम्पित कराये गए पश्चात् शरण में आए हुए नम्रीभूत वनदेवता के झुके हुए मुकुट संबंधि पुष्परस के क्षरण से दुर्दिन को प्राप्त हुए हैं। अर्थात्—प्रस्तुत मुकुटों के पुष्परस के क्षरण से जहाँ पर अँधेरा-सा छा गया है।

---

१. योऽक्षस्तेनेष्वविश्वस्तः शाश्वते पथि निष्ठितः। समस्तसत्त्वविश्वास्यः सोऽनाश्वानिह गीयते ॥
यशस्तिलक उत्त०।

सकलसिद्धान्तसमर्थतीर्थप्रार्थनपदार्थसार्थसमर्थनातिशयविशेषसाक्षात्कृतसरस्वतीकरक्रीडाकमलकल्पितसपर्यः चतुरुदधिरोधःसन्निधवनविनिषण्णकिन्नरीवदनविरोचनविकास्यमानयशःकुशेशयावतंसितजलदेवतासमाजः, समस्तसमयान्तवेदिविद्याविदग्धबुधप्रकाण्डपुण्डरीकमण्डलीमार्तण्डः, कृत्स्नदिगन्तविश्रान्तविश्रुतशिष्यश्रेणिसमीरपथप्रथमानकीर्तिकलहंसीनिवासीकृतनिखिलभुवनाभोगः, शुद्धाभिसन्धिसमाधिविधुविशेषोन्मेषनिर्विषीकृतावद्यविषमदोषकलुषविषयविषधरः, प्रसंख्यानपविपावककल्पष्टानुत्थानमन्मथमददरिद्रितरुद्रस्मरविजयः,

---

जो ऋषिराज समस्त षट् दार्शनिकों (जिन, जैमिनीय, कपिल (सांख्य), कणाद अथवा गौतम, चार्वाक और बौद्धदर्शन) के शास्त्ररूप तीर्थ में निरूपण किये हुए पदार्थ[1]-समूह संबंधी गम्भीर ज्ञान की अतिशय विशेषता रखते थे, इसलिए मयूरवाहिनी सरस्वती देवी ने साक्षात् प्रकट होकर अपने करकमलों पर स्थित क्रीड़ा कमल द्वारा जिनकी पूजा की थी। जिस ऋषिराज का यशरूप कमल-समूह चारों समुद्र-संबंधी तटों के निकटवर्ती वनों में वर्तमान किन्नरी देवियों के मुखरूप सूर्य द्वारा विकसित हुआ था और जलदेवता-समूह द्वारा कर्णपूर आभूषण बनाया गया था। जो ऋषिवर, समस्त शास्त्रों के निर्दोष ज्ञान में पारंगत हुए महाविद्वानों के समूहरूप श्वेत कमल-समूह को विकसित करने के लिए सूर्य समान थे। जिसकी कीर्तिरूपी राजहंसी, समस्त दिशाओं के प्रान्त में रहनेवाली विख्यात बहुश्रुत विद्वत्ता पूर्ण शिष्य मण्डली रूप आकाश में व्याप्त हो रही थी, जिसके कारण वह समस्त पृथिवीमण्डल पर विस्तार रूप से निवास कर रही थी। जिसने जहर-समान तीव्रतर पापकर्म से कलुषित करनेवाले कमनीय कामिनी आदि विषयरूप भयङ्कर सर्पों को, अपने शुद्ध (राग, द्वेष व मोहरहित) मानसिक अभिप्राययुक्त और मोक्षरूप अमृत की वर्षा करनेवाले धर्मध्यान रूप आसोज पूर्णमासी-संबंधी चन्द्रमा के उदय से निर्विष कर दिया था। धर्मध्यान और शुक्लध्यान रूप वज्राग्नि से समूल भस्म (दग्ध) किए हुए और जिसके कारण पुनरुज्जीवित (फिर से पैदा हुआ) न होनेवाले कामदेव के मद द्वारा अर्थात् कामदेव पर अनोखी विजय प्राप्त करने के कारण—जिन्होंने शिवजी द्वारा की हुई कामविजय को

---

१. समस्त दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत पदार्थों के नाम :—

१—जैनदर्शन में—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य व पाप ये नव पदार्थ माने गये हैं। २—जैमिनीय दर्शन में—नित्य वेदवाक्यों द्वारा तत्त्वनिर्णय होता है, अतः इसमें वेद द्वारा निरूपण किया हुआ 'धर्मतत्व' ही पदार्थ माना है। ३—कपिल—सांख्य—दर्शन में—२५ पदार्थ माने हैं। १—प्रकृति, २—महान्, ३—अहंकार और अहङ्कार से उत्पन्न होनेवाली ५ तन्मात्राएँ (१—शब्द, २—रूप, ३—गन्ध, ४—रस और ५वीं स्पर्शतन्मात्रा) और ११ इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) और पाँच कर्मेन्द्रिय (१—वाणी, २—पाणि (हाथ), ३—पाद, ४—पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) और मन और पाँच तन्मात्राओं से उत्पन्न होनेवाले पंचभूत (पृथिवी, जल, वायु, तेज और आकाश) अर्थात् शब्दतन्मात्रा से आकाश, रूप से तेज, गन्ध से पृथिवी रस से जल और स्पर्श से वायु उत्पन्न होता है। इस प्रकार २४ पदार्थ हुए और पुरुषतत्व (आत्मद्रव्य), जो अमूर्तिक, चैतन्य अकर्ता और भोक्ता है। सब मिलाकर २५ पदार्थ माने हैं। ४—कणाददर्शन में—१—द्रव्य, २—गुण, ३—कर्म, ४—सामान्य, ५—विशेष, ६—समवाय और ७—अभाव ये सात पदार्थ माने गये हैं। ४—गौतमदर्शन में—१६ पदार्थों का निर्देश है। १—प्रमाण, २-प्रमेय, ३-संशय, ४—प्रयोजन, ५—दृष्टान्त, ६—सिद्धान्त, ७-अवयव, ८-तर्क, ९—निर्णय, १०—वाद, ११-जल्प, १२—वितण्डा, १३—हेत्वाभास, १४—छल, १५—जाति और १६-निग्रह स्थान। ५—चार्वाक (नास्तिक) दर्शन में- पृथिवी, जल, तेज, और वायु ये चार पदार्थ माने हैं। यह जीवपदार्थ को स्वतंत्र न मानकर उक्त चारों भूतों—पृथिवी-आदि—के संयोग से उसकी उत्पत्ति होना मानता है। ६—बौद्धदर्शन में—चार आर्यसत्य (दुःख, दुःखसमूह, दुःखनिरोध, और दुःखों की समूलतल हानि (जड़ से नाश होना) ये चार पदार्थ माने हैं। यशस्तिलक-संस्कृत टीका पूर्वार्द्ध से पृ० ५१ समुद्धृत

अरजस्तमोबहुलोऽप्याततगुणधर्मधरः, अकिंचनोऽपि रत्नत्रयनिवासः, अविभूषणोऽपि सुवर्णालंकारः, अविषमलोचनोऽपि संपन्नोमासमागमः, अकृष्णोऽपि सुदर्शनविराजितः, असङ्गस्पृहोऽपि जातरूपप्रियः,

---

तिरस्कृत किया था। क्योंकि शिवजी द्वारा भस्म किया हुआ कामदेव पुनरुज्जीवित होगया था, जब कि प्रस्तुत आचार्य सुदत्त श्री द्वारा भस्मीभूत किया हुआ कामदेव पुनरुज्जीवित न होसका। जो अरजस्तमोबहुलोऽपि (रजोगुण व तमोगुण की प्रचुरता से रहित होकर के भी—प्रताप व पराक्रम-युक्त प्रकृति की अधिकता से रहित होने पर भी) आतत-गुण-धर्म-धर (आरोपित-चढ़ाई गई—प्रत्यञ्चा-युक्त-डोरीवाले--धनुर्धारी) थे। यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि प्रताप और पराक्रम-हीन पुरुष चढ़ाई हुई डोरीवाले धनुष का धारक किस प्रकार हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अरजस्तमोबहुलोऽपि अर्थात्—पाप व अज्ञान की प्रचुरता से रहित होते हुए आप (निश्चय से) आतत-गुण-धर्म-धर (महान् सम्यग्दर्शनादि गुणों व उत्तमक्षमादिरूप धर्म के धारक) थे। इसी प्रकार जो अकिञ्चन (दरिद्र) होकर के भी रत्नत्रयनिवास (तीन माणिक्यों के धारक) थे। इसमें भी पूर्व की भाँति विरोध मालूम पड़ता है, क्योंकि दरिद्र मानव का तीन माणिक्यों का धारक होना नितान्त असङ्गत है। अतः समाधान यह है कि जो (ऋषिराज) अकिञ्चन (धनादि परिग्रहों से शून्य—निर्ग्रन्थ वीतरागी) होते हुए निश्चय से रत्नत्रयनिवास (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के मन्दिर) थे। जो अविभूषणोऽपि (कनककुण्डलादि आभूषणों से रहित होने पर भी) सुवर्णालंकार (सुवर्ण के अलङ्कारों से अलंकृत अथवा राजकुल के शृङ्गार) थे। यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि आभूषण-हीन मानव का सुवर्णमयी आभूषणों से मण्डित होना या राजकुल का शृङ्गार होना असङ्गत है। अतः इसका परिहार यह है कि जो अ-विभूषण (जिसका सर्वज्ञ ही भूषण है, ऐसे) होते हुए निश्चय से सुवर्ण-अलंकार (राजकुल अथवा शोभन यशरूप आभूषण से सुशोभित) थे। जो अविषमलोचनोऽपि (अत्रिलोचन—शङ्कर (रुद्र) न हो करके भी) सम्पन्न-उमा-समागम (गौरी—पार्वती—के साथ परिपूर्ण रतिविलास करनेवाले) थे। यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि जो शङ्कर नहीं है, वह पार्वती परमेश्वरी के साथ परिपूर्ण रतिविलास करनेवाला किस प्रकार हो सकता है ? अतः समाधान यह है कि जो अ-विष-मा-लोचन (हालाहल सरीखी कान्ति वाली क्रूर दृष्टि से शून्य अथवा राग, द्वेष रहित समदर्शी या शास्त्रोक्त लोचन-युक्त अथवा मिथ्यात्व से रहित—सम्यग्दृष्टि—होते हुए निश्चय से जो सम्पन्न-उमा-सम-आगम थे। अर्थात्—जिसकी कीर्ति, समता परिणाम और सिद्धान्त ज्ञान परिपूर्ण है, ऐसे थे। भावार्थ—जो कीर्तिमान्, समदृष्टि एवं बहुश्रुत प्रकाण्ड विद्वान थे। इसी प्रकार जो अकृष्णोऽपि (श्रीकृष्ण नारायण न होकरके भी) सुदर्शन-राजित (सुदर्शन चक्र से विभूषित) थे। यहाँ भी पूर्व की तरह विरोध प्रतीत होता है; क्योंकि जो कृष्ण नारायण नहीं है, वह सुदर्शन चक्र से विराजित किस प्रकार हो सकता है ? अतः इसका परिहार यह है कि जो अकृष्ण (पापकालिमा या कृष्णलेश्या से रहित) होते हुए निश्चय से सुदर्शन-राजित (सर्वोत्तम सौन्दर्य अथवा सम्यग्दर्शन से अलंकृत) थे। अथवा [शत्रुकृत उपद्रवों के अवसर पर] जो सुदर्शनमेरु सरीखे विराजित (निश्चल) थे। जो असङ्गस्पृहोऽपि धन-धान्यादि परिग्रहों में लालसा-शून्य हो करके भी जातरूप-प्रिय सुवर्ण में लालसा रखने वाले थे। यह कथन भी विरुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि धन-धान्यादि परिग्रहों में लालसा न रखने वाले वीतरागी सन्त की सुवर्ण में लालसा किस प्रकार हो सकती है ? अतः इसका समाधान यह है कि जो असङ्गस्पृह (असङ्गों—कर्ममल कलङ्क से शून्य सिद्ध परमेष्ठियों अथवा परिग्रह-हीन मुनियों—में लालसा रखते हुए) निश्चय से जातरूप प्रिय थे। अर्थात्—जिन्हें नग्न मुद्रा ही विशेष प्रिय थी।

अशुद्धनयनीतिरपि महाभागचरितः, अकठिनवृत्तिरपि क्षमास्वभावः, अव्यालहृदयोऽपि नियमितकरणग्रामः, उदयाचलस्तपस्तपनस्य, कौमुदीचन्द्रः करुणामृतनिस्यन्दस्य, मानसप्रदेशः सरस्वतीवारलायाः, प्रभवपर्वतः प्रशममन्दाकिनीप्रवाहस्य, उत्पत्तिक्षेत्रं सौजन्यबीजस्य, उदाहरणं गम्भीरतायाः, निदर्शनमौदार्यस्य, प्रसूतिस्थानं महिम्नः, प्रत्यादेशोऽभिध्यायाः, निधिर्धैर्यस्य, आकरावनिश्च सर्वगुणमणीनाम् ।

यस्य च सकलसत्त्वसंचरणसंकोचिनि, शिशिरकणमञ्जरीजालजयविजृम्भमाणानिलकुले, सकलजगज्जन्तुव्यथावेपथुस्फारिणि, विरसरसदवशदेशकदशनवीणे, बिलमूलकोटरकुटीसंकुचिदालगर्दपरिषदि,

जो अशुद्धनयनीतिरपि (नीति-विरुद्ध असत् प्रवृत्ति में तत्पर होकर के भी) महाभागचरित (पुण्यवानों) सरीखे चरित्रशाली थे। यह भी असङ्गत प्रतीत होता है; क्योंकि नीतिविरुद्ध असत् प्रवृत्ति करनेवाला पुण्यवानों सरीखा चरित्रशाली किस प्रकार हो सकता है? इसका समाधान यह है कि जो अशुद्ध-नयनीति (अशुद्धनय—परसंपर्कवश पदार्थ को अशुद्ध कहने वाली अशुद्धनय में प्रवृत्त होते हुए) निश्चय से जो महाभागचरित (महान् प्रकाशरूप चरित्र के धारक) थे। इसी प्रकार जो अकठिनवृत्तिरपि (कोमल प्रकृति-युक्त हो करके भी) क्षमा स्वभाव (पृथिवी-सरीखी प्रकृति शाली—कठोर) थे। उक्त बात भी विरुद्ध है; क्योंकि कोमल प्रकृतिवाला मानव कठोर प्रकृति-युक्त किस प्रकार हो सकता है? इसका समाधान यह है कि जो अकठिन वृत्ति, अर्थात्—जिसकी आहारवृत्ति निर्दयता-शून्य है ऐसे होते हुए जो निश्चय से क्षमा स्वभाव (उत्तमक्षमा धर्म के धारक) थे। भावार्थ—जिस सुदत्ताचार्य की गोचरी व भ्रामरी-आदि नामवाली जीविका (आहार) गृहस्थों को पीड़ा पहुँचानेवाली नहीं थी और जो निश्चय से समस्त प्राणियों में क्षमा-धर्म के धारक थे। जो अव्यालहृदयोऽपि (कण्ठ पर सर्प का धारक—शङ्कर—न हो करके भी) नियमित-करण-ग्राम (जिसने त्रिपुर-दाह के अवसर पर अपने करण—सैन्य संबन्धी देवताओं का गण व शरीर-स्थित ग्राम नियमित—बद्ध—किये हैं,) हैं अर्थात्—जो त्रिपुरदाह-सहित हैं। यह कथन भी असङ्गत प्रतीत होता है; क्योंकि रुद्र-शून्य व्यक्ति का त्रिपुरदाह असंगत है। इसका समाधान यह है कि जो अव्याल हृदय (अदुष्ट चित्तशाली) होते हुये निश्चय से नियमित-करण—ग्राम हैं। अर्थात्—जिसने अपना इन्द्रिय समूह नियमित—वशीभूत किया है। अभिप्राय यह है कि जो सुदत्त श्री शुद्ध हृदय होते हुए जितेन्द्रिय हैं[1]। इसी प्रकार जो ऋषिराज सुदत्त श्री तपोरूपी सूर्य के उदित करने के हेतु उदयाचल, दयारूप अमृत के क्षरण हेतु कार्तिक मास संबन्धी पूर्णमासी का चन्द्र व सरस्वतीरूपी राजहंसी के निवास हेतु मानसरोवर एवं शान्तिरूप गङ्गा के प्रवाह हेतु हिमालय तथा सज्जनतारूप बीज के उत्पत्ति क्षेत्र हैं। इसी प्रकार जो गम्भीरता व उदारता का उदाहरण, माहात्म्य की जन्मभूमि एवं अभिध्या (विषयाकाङ्क्षा या परद्रव्यस्पृहा) का निराकरण तथा धैर्य की निधि होते हुए समस्त गुणरूप मणियों की खानि हैं[2]।

जिस पूज्य सुदत्ताचार्य की रात्रियाँ ऐसी हेमन्त (शीत) ऋतु में सुख पूर्वक व्यतीत होती थीं। जो (हेमन्त ऋतु) समस्त प्राणियों के पर्यटन का संकोच करती है। जिसमें पाले के जल विन्दुओं की मञ्जरी-श्रेणी को तिरस्कृत करनेवाला—उससे भी अत्यधिक ठण्डा—वायुमण्डल वह रहा है। जो विश्व के समस्त प्राणि-समूह की तीव्रवेदना और कम्पन को वृद्धिंगत करने वाली है। जिसमें पराधीन पथिकों की दन्तपङ्क्तिरूप वीणा नीरस शब्द कर रही है। जिसमें, कोटर (जीर्ण-वृक्ष की खोह) की बाँमी-मूल रूप कुटी—एक खम्भे वाला वस्त्रगृह (तम्बू)—में सर्पसमूह सिकुड़ा हुआ है।

---

१. विरोधाभास-अलङ्कार। २. समुच्चयालंकार।

हिमपृषतपलिताङ्कुरितकुटहारिकाकुन्तलकलापे, मृगयूथरोमन्थसामर्थ्यकदर्थिनि, प्रालेयलवमुक्ताफलितकरटिरिपुरोमभागे, व्रजपालविलासिनीकपोलविधुवैशद्यशातिनि, हलाजीवजायापदपद्मलावण्यलोपिनि, वनेचरवनिताधरदलकान्तिकर्शिनि, मुनिकामिनीकरकिसलयकृततरङ्गसङ्गे, द्विजकण्ठकुण्ठताविधायिनि, विप्रलब्धपुरन्ध्रीस्तनभारजनितजानुसंबाधे, कुचकुहरोपसर्पणरतपोतखेदितबालवतीचेतसि, विदूरितरम्भोरुभूषणाभिलाषे, सहसुप्तमिथुनघनालिङ्गनादेशिनि, निरन्तरमुल्लसन्तीभिः करतलपरामर्शसुखविलोपनसूचीभिरिव तनूरुहराजिभिः कण्टकितानि कुर्वति शबरसहचरीवक्षोजमण्डलानि, शिथिलयति दुर्विधकुटुम्बेषु जरत्कन्थापटचराणि, नर्तयति पथिकेषु पाणिपल्लवानि, विरचयति दयितोद्वसितमनुसरन्तीनामभिसारिकाणामरालपक्ष्माग्रलग्नैस्तुषारासारशीकरैर्लुलितशौक्तिकेयशुक्तिपुटस्पर्धीनि विलोचनानि, संतानयति तापसीनामूरुपर्यन्तपाटलपटलकारिषु बृहद्भानुषु स्पृहयालुताम्,

---

जिसमें हिम-बिन्दुओं द्वारा जल-पूर्ण घटों की धारक दासियों के केशपाशों की श्रेणी पलित (सफेद) बालाङ्कुरों से व्याप्त कीगई है। जो हिरण-समूह की रोथाँने की शक्ति को पीड़ित करने वाली है। जहाँ पर सिंहों का स्कन्धकेसर-स्थान हिम-बिन्दु-समूह द्वारा मोतियों से व्याप्त किया गया है। जो गोकुल सम्बन्धी ग्वालों की गोपियों के गाल रूप चन्द्रमाओं की उज्वलता नष्ट करती है। जो कृषकों की कामिनियों के चरणकमलों का लावण्य नष्ट करनेवाली है। जो भीलों की कामिनियों के ओष्ठ रूप पत्तों की कान्ति को कृश करने वाली है। जिसने ग्राम्य तापसों की कामिनियों—तपस्विनियों—के हस्त पल्लवों पर तरङ्ग-सङ्गम किया है। जो ब्राह्मणों के गलों को कुण्ठता युक्त—शक्तिहीन—करनेवाली है। जिसने वियोगिनी* स्त्रियों के कुचकलशों के भार से उनके जानुओं—घुटनों—को कष्ट उत्पन्न किया है। जिसमें बालबच्चोंवाली स्त्रियों का मन ऐसे शिशुओं द्वारा खेद-खिन्न किया गया है, जो (दुग्धपान करने के हेतु) उनके स्तनों के मध्य प्रवेश करने में अनुरक्त हैं। जिसमें अधिक ठंड के कारण कमनीय कामिनियों द्वारा आभूषणों के धारण करने की प्रीति रोक दीगई है। जो एक शय्या पर सोनेवाले स्त्री पुरुषों के जोड़ों के लिए गाढ़ आलिङ्गन करने का आदेश करने वाली है। जो भीलों की स्त्रियों के स्तन युगलों पर निरन्तर प्रकट होने वालीं ऐसी रोमाञ्चराजियों को उत्पन्न करके उसे (कुच-मण्डल को) कण्टकित करती है, जो कि हस्ततल के स्पर्शमात्र से उसप्रकार सुख नष्ट करती हैं जिसप्रकार हस्त के स्पर्श से चुभी गई सूचियाँ (सुईयाँ) सुख नष्ट करती हैं या दुःख देती हैं। जो दरिद्र मनुष्यों के कुटुम्बियों की कथड़ी व जीर्ण वस्त्र फाड़ती है। जो पान्थों के हस्तपल्लव कम्पित करती है। जो प्रियके गृह में प्राप्त होनेवाली अभिसारिका[1]—प्रिय की प्रयोजन सिद्धि के लिए संकेत स्थान को जानेवाली—स्त्रियों के तिरछे नेत्र-रोमों के अग्र भागों में स्थित हिम बिन्दुओं के समूह द्वारा उनके नेत्रों को उसप्रकार मनोज्ञ प्रतीत होनेवाले करती है जिसप्रकार ऐसे सीपों के पुट जिनके प्रान्त में मोतियाँ स्थित हैं, शोभायमान होते हैं। जो तपस्वियों की स्त्रियों को ऐसी अग्नियों में लालसा वा श्रद्धा विस्तारित करती है, जो कि जंघाओं से लेकर समस्त कामोद्दीपक अङ्गों में श्वेत-रक्त चिन्हों को उत्पन्न करने वाली हैं।

---

* तथा च श्रुतसागराचार्यः—यस्यां दूतीं प्रियः प्रेष्य दत्वा संकेतमेव वा । कुतश्चित्कारणान्नैति विप्रलब्धात्र सा स्मृता ॥१॥

यशस्तिलक की संस्कृत टीका पृष्ठ ५७ से संकलित

अर्थात्—जिसका प्रिय दूती भेजकर अथवा स्वयं संकेत देकर के भी किसी कारणवश उसके पास नहीं आता, उसे विप्रलब्धा—वियोगिनी—नायिका कहते हैं।

1. तथा च श्रुतसागराचार्यः—कान्तार्थिनी तु या याति संकेतं साभिसारिका । संस्कृत टीका पृ. ५८ से संकलित

ध्वानयति पवर्णलयमनोहराणि गर्भरूपलपनेषु पटहवाद्यानि, मन्दयति चण्डरोचिषोऽपि तेजःस्फुरितिमानम्।

अपि च यत्रातिशिशिरभरात्

कान्ते काककुटुम्बिनी न कुरुते प्राप्तेऽपि चाटुक्रियां। हंसश्चञ्चुपुटान्तरालविगलज्जम्बालकस्तिष्ठति ॥
कृच्छ्रात्कुञ्जरहस्तवर्तितचयः पांसुः पुनः शीर्यते। भर्तृणां शयनं न मुञ्चति परं कोपेऽपि योषिज्जनः ॥५३॥
सिंहः संनिहितेऽपि सीदति गजे शीर्यत्क्रमस्पन्दनो। मध्याह्नेऽपि न जातशष्पकवलः प्रायः कुरङ्गीपतिः।
वत्सः कुण्ठितकण्ठनालवलनः पातुं न शक्तः स्तनं। वक्त्रं नैति विभातकर्मकरणे पाणिर्द्विजानामपि ॥५४॥
पत्रैः स्तम्बतलप्ररूढविरसप्रायैर्मृगाणां रतिः क्षोणीधूलनकेलयोऽपि विकिरैस्त्यक्ताः प्रभातागमे।
कोकः शुष्कमृणालजालचरणन्यासैः प्रियां वीक्षते वक्त्रप्रान्तविधूनिते च कमले हंसः पदं न्यस्यति ॥५५॥
हंसी चञ्चुपुटान्तरार्पितबिसच्छेदात् खरं खिद्यते भूमिन्यस्तकरा करेणुरवशाक्षीरस्तनी ताम्यति।

जो गर्भस्थ शिशुओं के मुखों से ऐसे ढोल या नगाड़े बजवाती है, जो प, प, प, इसप्रकार बार-बार मनुष्यों के लय (साम्य) को प्रकट करने के कारण चित्त को अनुरञ्जित करते हैं। इसीप्रकार जो अत्यधिक ठंड के कारण सूर्य के भी प्रकाश सम्बन्धी स्फुरण को मन्द करती है।

जिस शीतऋतु में विशेष शीत-वश चकवी अपने पति—चकवा—के आजाने पर भी—प्रातःकाल होने पर भी—उसकी मिथ्या स्तुति नहीं करती। इसीप्रकार हंस, जिसके चञ्चुपुट (चोंच) के मध्यभाग से शैवाल गिर रहा है, ऐसा हुआ स्थित है। अर्थात्—अधिक शीत के कारण शैवाल चबाने में भी समर्थ नहीं है। जहाँ पर हाथी ने सूँड द्वारा जिसकी राशि की है ऐसी धूलि बड़ी कठिनाई से नीचे गिरती है। अर्थात्—उसकी सूँड़ पर लगी हुई धूलि नीचे नहीं गिरती। जिसमें विशेष ठण्ड के कारण स्त्रियाँ पतियों की शय्या उनके अत्यन्त कुपित होने पर भी नहीं छोड़तीं[1] ॥५३॥ जिसमें अत्यन्त ठंड के कारण शेर, जिसके पंजों का स्पन्दन—चलना—व्यापारशून्य होगया है, हाथी के समीपवर्ती रहने पर भी भूखा रहकर कष्ट उठाता है। अर्थात्—उसे मारकर नहीं खाता। जहाँ पर अत्यधिक ठण्ड के कारण कृष्णसार मृग, मध्याह्न हो जाने पर भी प्रायः छोटे-छोटे तृणों को ग्रास करनेवाला नहीं रहता। जहाँ पर बछड़ा जिसके गले के नाल की झुकने की चेष्टा कुण्ठित—मन्द क्रियावाली—होचुकी है, स्तन-पान करने समर्थ नहीं है। एवं जहाँपर विशेष शीत पड़ने से ब्राह्मणों का भी हस्त प्रातःकालीन क्रिया-काण्ड सन्ध्या-वन्दन व आचमनादि—करते समय मुँह की ओर नहीं जाता[2] ॥५४॥ जिस शीतऋतु में विशेष शीत-वश हिरणों का अनुराग (चबाना) धान्यादि के प्रकाण्ड (जड़ से लेकर शाखातक का पौधा प्रदेशों में उत्पन्न हुए नीरसप्राय पत्तों से होता है। अर्थात्—जिस शीतऋतु में अत्यधिक शीत-पीड़ित होने के कारण हिरणों में अपने मुख के संचालन करने की शक्ति नहीं होती इसलिए वे स्तम्बचर्वण करने में असमर्थ हुए नीरस पत्तों को ही चबाते हैं। इसीप्रकार जिस शीतऋतु के आने पर चटकादि पक्षियों द्वारा सूर्योदय के समय पृथिवी पर लोटने की क्रीडाएँ छोड़ दी गई हैं। एवं जहाँ पर चकवा शुष्क मृणाल-समूह पर अपने चरण स्थापन करता हुआ अपनी प्रिया—चकवी—की ओर देखता है। एवं जहाँपर हंस मुख की चोंच के अग्रभाग द्वारा कम्पित किये हुए कमल पर पैर स्थापित करता है[3] ॥ ५५॥ जिस शीतऋतु के अवसर पर विशेष शीत पड़ने से हंसी अपने मुख के मध्य में हंस द्वारा अर्पण किये हुए कमलिनीकन्द के खंड से अत्यन्त दुःखी हो रही है (क्योंकि वह विशेष ठंड के कारण उसको चबाने में असमर्थ होती है।)

---

१. दीपकालंकार। २. दीपकालंकार। ३. दीपकालंकार।

प्रातर्डिम्भविचेष्टितुण्डकलनान्नीहारकालागमे हस्तन्यस्तफलद्रवा च शबरी बाष्पातुरं रोदिति ॥५६॥
अहोऽर्धेऽपि तरङ्गवारि करिणो गृह्णन्ति रोधःस्थिता जिह्वाप्राद्गलनालमेति न पयः सिंहे सतृष्णेऽपि च ।
एणानामधरान्तराल्लुलितास्तिष्ठन्ति पाथःकणाः पूर्वोत्खातविशुष्कपल्वलगतः पोत्री च मुस्ताशनः ॥५७॥

किं च। शून्याः पदैः कररुहां रमणीकपोलाः कान्ताधरा न दशनक्षतकान्तिभाजः ।
स्वच्छन्दकेलिषु रता वनिता न यत्र काले परं जनितकुङ्कुमपङ्करागे ॥५८॥

यत्र च। लीलाविलासविरलैर्नयनासिताब्जैः स्पर्शासुखाधरदलैर्वदनारविन्दैः ।
रोमाञ्चकण्टकितटैः कुचकुड्मलैश्च स्त्रीभिः कृताः सुकृतिनः सुरते सखेदाः ॥५९॥

तत्रानवरतमन्तःप्रवर्धमानध्यानधैर्यधनंजयावधूतहिमसमयप्रत्यूहव्यूहस्यातिनिवातसौधमध्यसमध्यासिन इव स्थण्डिलशायिनो हेमन्ते विहितविरहिजनदुर्लभविभातसमागमाः सुखेन विभान्ति विभावर्यः। यस्य च दावदाहद्विगुणितप्रतापात-

जहाँपर हथिनी, जिसने अपना शुण्डादंड (सूँड) पृथिवी पर गिरा दिया है और जिसके दुग्ध-पूर्ण स्तन ठंड के कारण पराधीन होचुके हैं, अर्थात्—उसका बच्चा शीत-पीड़ित होने के कारण उसका स्तन-पान नहीं कर सकता, दुःखी हो रही है। इसी प्रकार जिस शीतकाल के आने पर भिल्लनी सवेरे अपने बच्चे के मुख को पसरने की क्रिया—खाने की क्रिया—से शून्य जानकर अर्थात्—इसका मुख ग्रास-भक्षण करने में तत्पर नहीं है, अतः उसे मरा हुआ समझकर अपने हाथ में द्राक्षादि फलों का रस धारण करती हुई अश्रुपात के कष्ट पूर्वक रुदन करती है[1] ॥५६॥ जिस शीतऋतु में विशेष ठण्ड के कारण हाथी मध्याह्न-वेला में भी नदी-आदि जलाशयों के तटों पर स्थित हुए तरङ्गों का पानी पीते हैं। एवं सिंह प्यासा होने पर भी पानी उसकी जिह्वा के अग्रभाग से गले की नाल (छिद्र) में प्रविष्ट नहीं होता। अर्थात्—जिह्वा के अग्रभाग में ही स्थित रहता है। इसीप्रकार जलविन्दु हिरणों के ओष्ठ के मध्य में ही स्थित रहते हैं, कण्ठ के नीचे नहीं जाते। इसीप्रकार जंगली वराह पहिले खीसों द्वारा खोदी हुई सूखी छोटी तलैया में स्थित हुआ नागरमोथा चवाता है[2] ॥५७॥ विशेष यह कि जिस ऋतु में रमणियों के गाल नख-चिन्हों—नखक्षतों—से शून्य हैं, एवं स्त्रियों के ओष्ठ दन्त-क्षतों की कान्ति (रक्तता रूप शोभा) के धारक नहीं है और जिसमें उल्लास उत्पन्न करानेवाली कामिनियाँ यथेष्ट क्रीड़ा करने में अनुरक्त नहीं हैं। केवल प्रस्तुत शीतऋतु काश्मीर की केसर-कर्दम में ही प्रीति उत्पन्न कराती है, क्योंकि केसर उष्ण होती है[3] ॥५८॥ जिस शीत ऋतु में कमनीय कामिनियों ने संभोग क्रीड़ा के अवसर पर पुण्यवान् पुरुषों को लीला-विलास (प्रफुल्लित होना-आदि) से विरल नेत्ररूप नीलकमलों द्वारा और जिनके ओंठ दल शीत-वश कठोर होने के कारण दुःखजनक हैं ऐसे मुखकमलों द्वारा तथा जिनके तट प्रकटित रोमाञ्चों से कण्टकित हैं ऐसी कुचकलियों (स्तन-कलियों) द्वारा सुख के अवसर पर खेद-खिन्न किया है[4] ॥५९॥

कैसे हैं सुदत्ताचार्य ? जिन्होंने चित्त में बढ़ते हुए धर्मध्यान की निश्चलतारूप अग्निद्वारा शीतकाल-संबंधी विघ्नबाधाओं के समूह को नष्ट कर दिया है और जो शीतऋतु में भी कठोर जमीन पर उसप्रकार शयन करते हैं जिसप्रकार शीतरहित राज-महल के मध्य में राजकुमार शयन करता है। कैसी हैं वे शीतकालीन रात्रियाँ ? जिनमें वियोगी पुरुषों को प्रातःकाल का समागम दुर्लभ किया गया है। इसीप्रकार ग्रीष्म ऋतु के दिनों में भी जब भगवान् (सम्पूर्ण ऐश्वर्यशाली) सूर्य अपनी ऐसी किरणों द्वारा समस्त पृथ्वीमण्डल के रस कवलन—भक्षण—करने के लिए उद्यत—तत्पर—था अतः ऐसा प्रतीत होता था मानों प्रलयकाल से उद्दीपित जठरवाली प्रलयकालीन अग्नि ही है, तब ऐसे सुदत्ताचार्य की मध्याह्न वेलाएँ सुखपूर्वक व्यतीत होती

१. दीपकालंकार। २. दीपकालंकार। ३. हेतु-अलंकार। ४. हेतु-अलंकार।

पैस्तपनोपलशैलशिलाशिखोच्छलदविरलस्फुलिङ्गसङ्गसंतापितस्थलजलजराजिभिस्तरुमूलबिलार्धविनिर्गताशीविषविषधरवदनोद्गीर्णगाढगरलानलज्वालाकरालप्रकाशप्रसरैर्विरहदहनदह्यमानमहिलाश्वासानिलपुनरुक्तोष्णबन्धैरुपार्जितजगज्जातज्योतिःसारैरिव कार्शानवकणगर्भनिर्भरैरिव च करैश्चिरविसर्गसमयसंधुक्षितजठरजातवेदसीव सकलानपि रसान् प्रसितुमवसिते भगवति गभस्तिमालिनि, परागप्रसरधूसरितसमस्तदिगन्तरालाभिर्वातूलवृत्तिभिर्जगतो जनिताङ्गहारे परिसर्पति समन्तान्नट इव सर्वंकषे मरुति, भुवि दिवि दिशि विदिशि च वैश्वानरसृष्ट्य इव दृष्टिपथमवतरति विष्वद्रीचि लोके, विनिर्मितमुर्मुरोपहारास्विव दुःस्पर्शप्रचारासु सर्वतः शर्करिलास्विलासु विरोचनचूर्णकीर्णास्विव नखंपचपांसून्माथितातिथिषु पथिषु,

थीं। कैसे हैं सुदत्ताचार्य ? जिन्होंने धर्मध्यान करने के उद्देश्य से सूर्य के समीपवर्ती शिखरवाले ऊँचे पर्वत की शिखर पर आरूढ़ होकर अपनी दोनों भुजलताएँ लम्बायमान की हैं। जिन्होंने अपने प्रताप द्वारा सूर्यबिम्ब को क्लेशित करनेवाला मुखमण्डल सूर्य के सम्मुख प्रेरित किया है। जिन्होंने चित्त-संबंध को उल्लङ्घन करनेवाली—अचिन्तनीय—तपश्चर्या द्वारा समस्त देव-विद्याधर-समूह को आश्चर्य उत्पन्न कराया है। जिनका शरीर ऐसे आत्म-ध्यान से उत्पन्न हुए शाश्वत् सुख के प्रवाहरूप अमृत-समुद्र से स्नान कराया गया था, जिसमें परिपूर्ण धर्मध्यान व शुक्लध्यान रूप पूर्णमासी के चन्द्रोदय से ज्वार-भाटा आरहा था—वृद्धिंगत हो रहा था—और फिर शरीर के भीतर न समा सकने के कारण मानों—निविड़ स्वेदजल के मिष (बहाने) से शरीर से बाहर निकल रहा था। इसीप्रकार जो ऋषिराज सुदत्ताचार्य शाश्वत सुख-समुद्र में स्नान करने के कारण ऐसे प्रतीत होते थे मानों—मेघवर्षा के मन्दिर—विशाल फुव्वारों के गृह—के समीप ही प्राप्त हुए हैं। कैसी हैं वे सूर्यकी किरणें ? जिनकी उष्णता व प्रकाश वन की दावानल अग्नि के प्रज्वलित होने से द्विगुणित होगया है। जिनके द्वारा स्थलकमलों की श्रेणियाँ (समूह) इसलिए विशेष सन्तापित की गई थीं, क्योंकि इन किरणों में सूर्यकान्त मणिमयी पर्वतों की शिलाओं के अग्रभागों से उचटते हुए अग्नि-कणों का सङ्गम होगया था। जिनके प्रकाश का विस्तार इसलिए विशेष भयानक था, क्योंकि उसमें वृक्षों की जड़ों में वर्तमान बिलछिद्रों से आधे निकले हुए चक्षुविष सर्पों के मुखों से उगली गईं तीव्रविष संबंधी अग्नि ज्वालाओं का सङ्गम या मिश्रण था। जिनकी उष्णताबन्ध विरह रूप अग्नि द्वारा भस्म की जानेवाली (वियोगिनी) कमनीय कामिनियों की (उष्ण) श्वास वायु द्वारा द्विगुणित किया गया है। जो तीन लोक के समूह सम्बन्धी प्रकाशतत्वको स्वीकार की हुई सरीखीं और अग्नि-कणों को गर्भ में धारण करने से अतितीव्र सरीखीं शोभायमान होती थीं। जब सर्वत्र ऐसी (उष्ण) वायु का संचार हो रहा था तब प्रस्तुत आचार्य की ग्रीष्मकालीन मध्याह्नवेलाएँ सुख पूर्वक व्यतीत होतीं थीं। कैसी है वायु ? जिसने धूलि के प्रसार (उड़ाना) द्वारा समस्त दिशाओं के मंडलको धूसरित—कुछ उज्वल—करनेवाली वायुमंडल की वृत्तियों (प्रवृत्तियों अथवा पक्षान्तर में कौशिकी, सात्वती, आरभटी व भारती इन चार प्रकार की वृत्तियों) द्वारा समस्त लोक के शारीरिक अङ्गों का उसप्रकार विक्षेप (संचालन या शोषण) किया है जिसप्रकार नट (नृत्य करने में प्रवीण पुरुष) अपने शारीरिक अङ्गों का विक्षेप (संचालन) करता है। और जो उष्णता-वश समस्त जगत् को सन्तापित करती है—पत्थरों को भी उष्ण बनाती है। फिर क्या होने पर मध्याह्न वेलाएँ व्यतीत होतीं थीं ? जब समस्त जगत नेत्र-मार्ग में प्राप्त—दृष्टिगोचर—हो रहा था तब ऐसा प्रतीत होता था मानों—उसकी पृथिवी, आकाश, दिशाओं (पूर्व-पश्चिमादि) व विदिशाओं (आग्नेय व नैऋत्यकोण आदि) में अग्नि की रचनाएँ ही हुईं हैं। एवं जब रेतीली भूमियाँ सर्वत्र दुःस्पर्श—दुःख से भी प्रचार करने के लिये अशक्य—संचार वाली हुईं तब ऐसी प्रतीत होती थीं—मानों—उन्होंने उष्ण अग्नियों की पूजाओं को ही उत्पन्न किया है। इसीप्रकार जब मार्ग, जिनमें नखों को पकानेवाली धूलियों द्वारा पान्थ—रस्तागीर—क्लेशित किये गये थे तब ऐसे ज्ञात होते थे

वितप्यमानमूषाशुषिरेष्विव तन्निवासिविलासिलोकपरितापकरेषु सौधविवरेषु, प्रलयकालपावकपातभीतास्विव पातालमूलनिलीयमानतनुलतासु लेलिहानवनितासु, समाचरितपञ्चाग्निसाधनमानसानामिव महीधरतापसानां प्रवृद्धमूर्धनिधर्मधूमश्यामलेषु गगनतलेषु, द्रुतदुर्वर्णरसरेखारुचिभिरिव मरुमरीचिवीचिभिर्वञ्च्यमानमनोव्याकुलेषु कमलकुलेषु, घोरघृणिघनघर्माङ्गारासारस्पृष्टभूगोलस्पर्शप्रकुपितेनोर्ध्वचलितदृशा दन्दशूकेश्वरेणापाङ्गनिष्ठ्यूतैः कोपकृशानुभिरिव क्वथ्यमानासु जलदेवतानामावसथसरसीषु, निजनिवासकाननदवोद्रिक्तपित्तास्विव दुःसहविदाहदेहसंदोहासु वनदेवीषु, विदूरितवसन्तसमागमास्विव विरहिणीकपोलमर्मरच्छदासु लतावनपङ्क्तिषु, कृतकृष्णवर्त्मकर्मस्विव पत्रपाण्डुषु पादपेषु, स्वकीयकोशकोटरप्रसूतानां कलहंसकुटुम्बिनीनां चिन्ताज्वरकरेषु, क्षयामयमन्देष्विव परिम्लायत्सु दैर्घिकेयकान्तारेषु, करेणुकरोत्तम्भितकमलिनीदलातपत्रोपचर्यमाणवारणेषु वनसरःसुदृढदंष्ट्रोत्पाटितपुटकिनीदरकुहरविहरद्वराहासु कासारवसुन्धरासु, कठोराष्ठीलपृष्ठकमठनिर्लोठलुठत्पाठीनक्षोभकलुषवारिषु विरेयेसु,

---

मानों—अग्नि के प्रज्वलित ईंधन-समूह से ही व्याप्त हैं। जब महलों के मध्यभाग, जो उनमें निवास करने वाले भोगी पुरुषों को सन्तापित करते थे तब वे ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—अग्नि में तपाए जाने-वाले मूसाओं—सुवर्ण गलाने के पात्रों (घरियाओं) के मध्यभाग ही हैं। जब सर्पिणियाँ, जिन्होंने विशेष गर्मी-वश अपनी शरीर-लताएँ अधोभाग में प्रविष्ट की थीं तब वे ऐसी प्रतीत होरही थीं—मानों—प्रलय-कालीन बज्राग्नि-पात से ही भयभीत हुई हैं। इसीप्रकार जब आकाशमण्डल पर्वतरूप तापसियों के—जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—जिन्होंने अपनी चित्तवृत्ति पञ्चाग्नि साधन में प्रवृत्त की है, मस्तकों पर वर्तमान वृद्धिंगत वाष्पधूम से मलिन हो गए थे। इसीप्रकार जब हिरणों के झुण्ड विशेष उष्णता-वश जिनका मन मृगतृष्णारूप तरङ्गों से, जो पिघली हुई चाँदी के रस की रेखा-सीं शोभायमान होती थीं, धोखा खाया गया था, जिसके फलस्वरूप वे व्याकुलित—किं कर्त्तव्य-विमूढ़—हो गए थे। एवं जब जलदेवियों के गृहसरोवर ऐसे मालूम होते थे—मानों—वे ऐसे शेषनाग द्वारा कटाक्षों से प्रकट की हुई क्रोधाग्नियों द्वारा सन्तापित—गर्म—किये जा रहे थे, जो कि सूर्य के तीव्रतर आतपरूप अङ्गार-वर्षण से संताप को प्राप्त हुए भूमिपिण्ड के स्पर्श से विशेष कुपित हो गया था और इसीलिए जिसने अपने दो हज़ार नेत्र ऊपर की ओर संचालित—प्रेरित-किये थे। जब वनदेवियाँ, जिनके शरीर-समूहों को असहनीय सन्ताप होरहा था ऐसी प्रतीत होरही थीं-मानों—अपने गृह के वनों में धधकती हुई दावानल अग्नि के द्वारा जिनकी आयुष्य नष्ट होचुकी है। इसीप्रकार लताओं से सुशोभित वन-श्रेणियाँ उसप्रकार शुष्कपत्तोंवाली हो चुकी थीं जिसप्रकार विरहिणी—पति से वियोग को प्राप्त हुई—स्त्रियों के गाल शुष्क—म्लान—पड़ जाते हैं; इसलिए वैसी शोभायमान होतीं थी जिन्हें वसन्त ऋतु का समागम बहुत काल से दूर चला गया है—नहीं हुआ है। एवं वृक्ष कुछ पीले और सफेद पत्तों के कारण पाण्डु रंग वाले होरहे थे, इसलिए अग्नि में प्रवेश करके बाहर निकले हुए सरीखे शोभायमान हो रहे थे। एवं विशेष गर्मी के कारण चारों तरफ से शुष्क होरहे कमलों के वन ऐसे मालूम होते थे मानों—क्षय रोग से ही क्षीण होगये हैं और शुष्क हो जाने के कारण वे उन राजहंसियों को चिन्तारूप ज्वर उत्पन्न करते हैं, जिनके बच्चे कमलों के मध्यभाग की कोटरों में उत्पन्न हुए हैं। इसीप्रकार जब बगीचों व अटवियों के तालाब, जिनमें हथिनियों द्वारा शुण्डादंडों—सूड़ों—से उत्थापित किये हुए कमलिनी-पत्तों के छत्तों से हाथियों की सेवा की जारही है—उन्हें छाया में प्राप्त किया जारहा है। एवं जब सरोवर-भूमियाँ, जिनपर ऐसे जंगली सुअर वर्तमान हैं, जो अपनी वलिष्ठ दाढ़ों द्वारा उखाड़ी हुई कमलिनियों के मध्यभागों पर पर्यटन कर रहे हैं। एवं जब तालाब, जिनके जल वज्र-समान कठोर मध्यभागवाले पृष्ठों (पीठों) से शोभायमान कछुओं के निर्लोठन—संचार—के कारण यहाँ वहाँ जल में लोट पोट होने वाले मच्छों के संचार के कारण कलुषित—हो गये हैं।

महानोकहगहनावगाहदोहदेषु नखायुधेषु, जरति सौरभेयेषु दर्पे, खर्वति गवरेषु गर्वे, गलन्तीषु पुष्पंधयेषु धृतिषु, नाडिंधमेषु नगौकसां गलनालेषु, कथाशेषासु योषितां कामकेलिषु, ज्वलदार्द्रदारुदारुणासु दीर्घाहनिदाघनिर्गलज्जलासु जन्मिनां शरीयष्टिषु, मरुस्थलेष्विव देवखातेषु, प्रधावधरणिष्विव स्रातस्विनीषु, धान्वनधरारन्ध्रेष्विव प्रधिषु, चुलुकोल्लुम्पनोचितेष्विव जलधिषु, संहारसमयदिवसेष्विव प्रशान्तजन्तुसंचारेषु वर्त्मसु च,

येषु च—

'मार्तण्डश्चण्डतापस्तपति मरुभुवामग्निसात्त्वं दधानः कामं व्योमान्तराणि स्थगयति किमपि धोति धावत्पुरस्तात्।
ऊर्ध्वं निर्ध्यामवीचिचयमिव विसृजत्येतदाशान्तरालं मग्नाङ्गान्निम्नगानां पयसि च करिणः क्राथयन्वाति वातः ॥ ६० ॥

मध्याह्नेऽह्नाय वाहाश्चटुलतरखुरास्तोयमार्गं त्यजन्ति स्थानायानेतुमीशाः पयसि कृतरतीन् हस्तिनो नैव मिण्ठाः।
शोषोत्तुण्डः शिखण्डी विमृशति शिशिरान्कन्दरद्रोणिदेशान्स्वेच्छं कच्छेषु चेमाः कमलदलतलं वारलाः संश्रयन्ति ॥६१॥

एवं सिंह व्याघ्रादि जीव जिनका मनोरथ विशाल वृक्षशाली वनों के मध्य में प्रवेश करने का होरहा है। इसीप्रकार जब विशेष गर्मी-वश बैलों का मद चूर-चूर होरहा था, भैंसाओं का गर्व क्षीण हो रहा था, जब भँवरों का सन्तोष नष्ट हो रहा था—अर्थात्—विशेष गर्मी-वश कमलादि पुष्पों के सूख जाने से भौंरे पुष्परस न मिलने से अधीर हो रहे थे और पक्षियों की कण्ठ-नालें उच्छ्वास कर रही थीं। इसीप्रकार जब कमनीय कामिनियों की रतिविलास करने की क्रीडा व्यापार-शून्य होचुकी थी—छोड़ दी गई थी एवं प्राणियों की शरीर-यष्टियाँ लम्बे दिनोंवाले उष्ण-समय के कारण जिनसे स्वेद्जल वह रहा था, उसप्रकार दारुण— अशक्यस्पर्श (जिनका छूना अशक्य है) हो गई थीं जिसप्रकार जलती हुई गीली लकड़ियाँ अशक्य स्पर्श होती हैं। एवं अगाध सरोवर वन-भूमियों के समान हो चुके थे—शुष्क हो गये थे, और नदियाँ वैसीं सूख गईं थीं—निर्जल हो गईं थीं जैसी हाथी-घोड़ों के दौड़ने की भूमि सूखी होती है और जिसप्रकार मरुभूमि—मरुस्थल—के मध्यभाग जल-शून्य होते हैं। उसीप्रकार कुएँ भी विशेष उष्णता के कारण जल-शून्य हो गए थे। एवं समुद्र, जिनका पानी चुल्लुओं द्वारा उचाटनेलायक हो गया। अर्थात् तीव्र गर्मी पड़ने से उनमें बहुत थोड़ा पानी रह गया था और मार्ग, जिनमें प्राणियों का संचार उसप्रकार रुक गया था जिसप्रकार प्रलयकाल के दिनों में प्राणियों का संचार—गमन—रुक जाता है।

जिन उष्ण ऋतु के दिनों में अत्यन्त तीव्र तापशाली सूर्य मरुभूमियों को अग्निमय करता हुआ ताप उत्पन्न करता है और कोई अत्यन्त प्रकाशमान व अनिर्वचनीय (कहने के अयोग्य) सतेज स्कन्ध पदार्थ आगे शीघ्र गमन करता हुआ गगन मण्डलों को स्थगित करता है। इसीप्रकार यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला दिशाओं का समूह ऐसा प्रतीत होता है—मानों आकाश के ऊपर वाष्पों की तरङ्ग-पङ्क्ति को ही प्रेषित कर रहा है एवं नदियों की जल-राशि के मध्य में अपना शरीर डुबोने वाले हाथियों को उबालती हुई उष्ण वायु वह रही है[1] ॥ ६० ॥ जिस ग्रीष्म ऋतु की मध्याह्न वेला में अत्यन्त उत्ताल—उन्नत—खुर वाले घोड़े जल-मार्ग को वेग पूर्वक छोड़ते हैं और महावत पानी में अनुरक्त हाथियों को हथिनी-शाला में लाने के लिए समर्थ नहीं हैं। इसीप्रकार मयूर शारीरिक सन्ताप के कारण अपना मुख ऊँचा किये हुए शीतल गुफा के पर्वत-सन्धि प्रदेश (स्थान) ढूँढ़ता है एवं ये प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाली राजहँसियाँ जलप्राय प्रदेशों—तालाब-आदि—में वर्तमान कमल-पत्तों के अधोभाग का यथेष्ट आश्रय लेती हैं[2] ॥६१॥

१—समुच्चयालंकार। २—समुच्चयालंकार।

आसीनप्रचलायितैः करिपतिः क्षोणीध्रमध्यद्रुमस्कन्धालम्बितकन्धरः किमपि च ध्यायन्मुहुस्तिष्ठति ।
निद्रामुद्रितलोचनो हरिरपि ग्रीष्मेषु माध्यंदिनीमद्रिद्रोणिदरादरार्पितवपुर्वेलामतिक्रामति ॥ ६२ ॥

किं च । गण्डस्थलीषु सलिलं न जलाशयानामम्भःस्रुतिः कुचनगेषु न वाहिनीनाम् ।
नाभीदरेषु वनितासु जलं न वार्धौ नीवीरलतोल्लसति शुष्यति यत्र लोकः ॥ ६३ ॥

सुदुर्लभरसोऽप्येष सरसाधरपल्लवः । तत्करोति च तद्द्वेष्टि चित्रं घर्मसमागमः ॥ ६४ ॥

इति मागधबुधप्रतिबोधितमध्याह्नसंध्यैः सुकृतावन्ध्यैर्विलासिभिर्विलासिनीनां चिकुरलोचनावलोकनामृतसरिण-मनोहराः कुचचूचुकप्रभाशष्पश्यामलितपर्यन्तवृत्तयः समध्यास्यन्ते भूरुहवनभूमयः, तेषु तपतपनकेतुषु विकर्तनकरमूलनिलयन शिखरिशिखरशिरःश्रितस्य प्रलम्बितभुजलतायुगलस्य खरमयूखलेखिलेखितसुखमण्डलस्य मनोगोचरातिचारितपरचर्यारचर्चितखचर-लोकस्य परिपूर्णसमाधिचन्द्रोदयविजृम्भितेन परमानन्दस्यन्दसुधापयोधिना पुनरनन्तरमन्तरप्राप्तावकाशेनेव घनघर्मजलकल्लोलेन बहिरुद्वहता परिप्लावितापघनस्य यन्त्रधारागृहमुपागतस्येव यान्ति मध्याह्नसमयाः ॥

जिस ग्रीम ऋतु में पर्वत के मध्य में वर्तमान वृक्ष के स्कन्ध—तना—पर अपनी ग्रीवा—गर्दन—स्थापित करनेवाला हाथी बैठा हुआ घूर रहा है, इससे ऐसा प्रतीत होता है—मानों—कुछ अनिर्वचनीय—कहने को अशक्य—वस्तु का बार-बार ध्यान—चिंतवन—करता हुआ स्थित है। इसीप्रकार सिंह व व्याघ्रादि, जिसने अपना शरीर पर्वत के सन्धि प्रदेश पर तत्परता के साथ कुछ स्थापित किया है और जो निद्रा से नेत्र बन्द किये हुए है, ग्रीष्म ऋतु संबंधी मध्याह्न-वेला व्यतीत करता है[1] ॥६२॥ जिस ग्रीष्म ऋतु में हाथियों की कपोल-स्थलियों में जल था। अर्थात्—उनके गण्डस्थलों से मद जल प्रवाहित हो रहा था, परन्तु जलाशयों में पानी नहीं था। इसीप्रकार जल का क्षरण स्त्रियों के स्तन रूप पर्वतों में था। अर्थात्—उनके कुचकलशों से दुग्ध क्षरण होता था, परन्तु नदियों में पानी नहीं था। एवं कमनीय कामिनियों के नाभि-छिद्रों में जल था—अर्थात्—उनके नाभि रूप छिद्रों से स्वेद जल प्रवाहित होता था, परन्तु समुद्र में जल नहीं था। एवं जहाँ पर स्त्रियों की वस्त्रग्रन्थि उल्लसित (वृद्धिंगत) होती थी, परन्तु लोक—पृथ्वी तल—शुष्क हो रहा था[2] ॥६३॥ यह उष्णकाल का समागम जो सुदुर्लभ रसवाला होकर के भी अर्थात्—रस (जल) शोषण करने के फलस्वरूप जिसमें रस (जल) दुःख से भी प्राप्त होने के लिए अशक्य है ऐसा होकर के भी जो सरसाधर पल्लव है। अर्थात्—जिसमें ओष्ठ पल्लव सरस (स्वेदबिन्दु-सहित) हैं। अतः यह आश्चर्य है कि यह (उष्णकाल का समागम) उसी कार्य (रस-शोषण) को करता है और उसी कार्य (रस-शोषण) से द्वेष करता है, क्योंकि इसने ओष्ठ पल्लव सरस (स्वेदजल सहित) किये हैं[3] ॥६४॥

जिन ग्रीष्म ऋतु के दिनों में ऐसे कामी पुरुषों द्वारा, जिन्हें उक्त प्रकार नटाचार्य विद्वानों द्वारा मध्याह्न सन्ध्या समझाई गई है और जो पूर्वभव के पुण्य से सफल हैं, ऐसी वृक्षशाली वनभूमियाँ भलीप्रकार आश्रय की जाती हैं। कैसी हैं वृक्षशाली वनभूमियाँ? जो उसप्रकार चित्त में उल्लास—आनन्द—उत्पन्न करती हैं जिसप्रकार रमणीय रमणियों के कुटिल—तिरछे—नेत्रों की सुन्दर चितवन रूप अमृत का प्रवाह या कृत्रिम नदी चित्त में उल्लास—हर्ष—उत्पन्न करती है और जिनके चारों तरफ के प्रदेश कमनीय कामिनियों के कुचकलशों के अग्रभागों की कान्ति (तेज) रूपी कोमल तृणों द्वारा श्यामलित किये गये हैं।

वर्षाऋतुकालीन तपश्चर्या—निरन्तर धर्मध्यान की चिन्ता में अपनी चित्तवृत्ति डुबोनेवाले और उन मेघाच्छन्न दिनों में भी वृक्ष की मूल पर निवास करने के कारण ऐसे प्रतीत होनेवाले—मानों—जिन्होंने

---

१. समुच्चयालंकार। २. अतिशयालंकार। ३. अतिशयालंकार।

येन च पयोधरोन्नतिजनितजगद्वलयनीलनिचलेषु, निचलसनाथनृपतिचापसंपादिषु, संपादितखरदण्डखण्डाडम्बरखण्डनेषु, खण्डितविलासिनीमनोरथपरिपन्थिषु, परिपन्थिपरिषदुत्साहद्रुहेषु * द्रुहिणवाहनस्थितिप्रभेदिषु, प्रभिन्नगजगर्जनोर्जितपर्जन्याविच्छिन्नस्वनदुस्सहेषु, दुस्सहविरहशिखिसंधुक्षणविधायिषु, विहितनिकामकरकासारशार्दूलबलवि† शसनेषु, विशंसनावसरसरत्समीरसूत्कारचण्डेषु, चण्डकरकरालिमविलोपिषु, विलुप्तहिमधामदीधितिप्रसरेषु, प्रसरत्पूरपयःपादपनिर्मूलिषु, निर्मूलितजटतटरुहानोकहस्खलितकूलंकषवाहिनीप्रवाहेषु, प्रवाहपतद्धारावारिगिरिशिखरशीर्णताप्रसाधिषु, प्रसाधितान्धकारश्यामलाखिलदिगन्तेषु,

---

वनदेवताओं की रक्षा का कर्त्तव्य आचरण किया है, ऐसे सुदत्ताचार्य द्वारा ऐसे वर्षा ऋतु के दिनों में ऐसी रात्रियाँ व्यतीत की जाती थीं। कैसी हैं वे वर्षाऋतु की रात्रियाँ? जिन्होंने निविड़ अन्धकार-समूह द्वारा समस्त पृथिवीमण्डल के प्राणियों को अपने शरीर के देखने की शक्ति लुप्त कर दी है एवं अभिसारिका —कामुक—स्त्रियों के मनरूप बच्चों के पालन करने में जो भैंसों के समान समर्थ हैं। अर्थात् — जिसप्रकार—भैंसें अपने बच्चों के पालन करने में समर्थ होती हैं उसीप्रकार प्रस्तुत वर्षाऋतु की रात्रियाँ भी अभिसारिका स्त्रियों के मन रूप बच्चों के पोषण करने में समर्थ होती हैं। कैसे हैं वे वर्षाऋतु के दिन? जिन्होंने मेघों के विस्तार से समस्त पृथिवी-मण्डल को श्याम कञ्चुक—प्रच्छादन वस्त्रविशेष—उत्पन्न किया है। जो मेघों के कारण राजाओं के धनुष प्रावरणों (ढकनेवाले वस्त्रों) से सहित करनेवाले हैं। जिन्होंने कमल-वन की शोभा नष्ट की है। जो खण्डिता[1]—पति द्वारा मानभङ्ग को प्राप्त कराई गई—स्त्रियों के मनोरथों के शत्रु प्राय हैं। अर्थात्—जो खण्डिता कामिनियों के रतिविलास संबंधी मनोरथों का घात करते हैं। जो शत्रु-समूह का उत्साह भङ्ग करनेवाले हैं। क्योंकि वर्षाऋतु के दिनों में शत्रु चढ़ाई-आदि का उद्यम नहीं करता। इसीप्रकार जो हँसों के निवासस्थान—मानसरोवर—का विघटन करनेवाले हैं। जो, मदोन्मत्त हाथियों की गर्जना (चिंघारना) से भी दुगुनी गर्जनावाले मेघों के निरन्तर होनेवाले शब्दों से सहन करने के लिए अशक्य हैं। जो असहनीय वियोगरूप अग्नि को उद्दीपित करनेवाले हैं। जिन्होंने अत्यधिक ओलों की वृष्टि द्वारा व्याघ्रादि अथवा अष्टापदों का पराक्रम नष्ट कर दिया है। जो प्रलयकाल के अवसर पर वहनेवाली प्रचण्ड वायु के सूत्कार—शब्दविशेष—से भी विशेष शक्तिशाली (विशेष भयङ्कर) मालूम होते हैं। जो सूर्य के तीव्र ताप को नष्ट करनेवाले हैं एवं जिन्होंने चन्द्र-किरणों का प्रसार (प्रवृत्ति) नष्ट किया है। जो वहनेवाले नदीप्रवाह की जलराशि द्वारा वृक्षों का उन्मूलन करते हैं—जड़ से उखाड़कर नीचे गिरा देते हैं। इसीप्रकार जिनमें, जड़ से उखाड़े हुए तटवर्ती वृक्षों द्वारा, अपने तटों को नीचे गिरानेवाली नदियों के जल-प्रवाह स्थगित किये गये हैं—रोके गये हैं। जो अविच्छिन्न रूप से गिरनेवाली जल-धाराओं की जलराशि द्वारा पर्वत-शिखरों के शतखण्ड करनेवाले हैं। जिनमें समस्त दिङ्मण्डल किये हुए अन्धकारवश मलिन हो रहे हैं।

---

*'द्रुहिषु' इति सटि. (क) प्रतौ पाठः।

† उक्त पाठ ह. लि. सटि. (क, ख, ग, घ, च) प्रतियों से संकलित। 'विश्रासनेषु इति पाठः मु. प्रतौ।

१—तथा च विश्वनाथः कविः—

पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसम्भोगचिन्हितः। सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥

अर्थात्—दूसरी स्त्री के साथ किये हुए रति विलास के चिन्हों से चिन्हित हुआ जिसका पति जिसके समीप प्रातः काल पहुँचता है, उसे विद्वानों ने ईर्ष्या—रतिविलास संबंधी चिन्हों को देखकर उत्पन्न हुई असहिष्णुता या डाह—से कलुषित चित्त वाली 'खण्डिता नायिका कहा है।

दिगन्तरधरदरोद्गीर्णजलप्लावितदन्तिपोतेषु, पोतसंभावनाकुलकुरङ्गीजीविताशाविनाशपिशुनतडिद्दण्डसंघट्टेषु, संघट्टमुखर-‡वारिवाहवपुर्मण्डनाखण्डलकोदण्डविलोकनाध्वन्यत्वरासज्जिषु, सज्जिताजकावकामकर्कशदशेषु, दिव्यमवनिमाशाः पातालानि च जलसाज्जनयत्सु,

यत्र च—मेघोद्गीर्णपतत्कठोरकरकासारत्रसत्सिन्धुरे पूरप्लावितकूलपादपकुलक्षुभ्यत्सरित्पाथसि।
अम्भश्चण्डसमीरणाश्रयशिवाफेत्कारताम्यन्मृगे काले सूचिमुखाग्रभेद्यतिमिरप्रायःक्षपासङ्गिनि ॥६५॥

भूयःपयःप्लवनिपातितशैलशृङ्गे पर्जन्यगर्जिततिरस्कृतसिंहपोते।
सौदामनीद्युतिकरालितसर्वदिक्के कं देशमाश्रयतु डिम्भवती कुरङ्गी ॥ ६६ ॥

किं च— स्त्रीणां कुचोष्मपटलैरजडावतारः संधुक्षितः पुनरयं नयनानलेन।
यत्राधरामृतघृताहुतिचण्डितार्चिः संकल्पजन्मविटपी परदुःप्रकाशः ॥ ६७ ॥

जिनमें, दिङ्मण्डल में स्थित पर्वत की गुफाओं से निकली हुई जलराशि में हाथियों के बच्चे डुबोये गये हैं। जिनमें, ऐसी बिजलीरूप यष्टियों का निष्ठुर प्रहार पाया जाता है, जो मृग-शिशुओं की रक्षा करने में व्याकुल हुई हिरणियों के प्राण धारण की इच्छा को नष्ट करने की सूचना देनेवाली हैं। जो ऐसे इन्द्रधनुष के देखने में पान्थों की शीघ्रता उत्पन्न करानेवाले हैं, जो कि परस्पर के निष्ठुर प्रहार से गरजनेवाले मेघों के शरीर को अलंकृत करनेवाला है। जिनमें डोरी चढ़ाए हुए धनुष द्वारा कामदेव की उत्कृष्ट अवस्था पाई जाती है। अर्थात्—जो विलासी युवक-युवतियों की कामेच्छा को द्विगुणित—वृद्धिंगत—करते हैं। इसीप्रकार जो आकाश, भूमि, आठों दिशाएँ तथा पाताल को जलमय करते हैं।

ऐसे जिस वर्षा ऋतु के समय में बच्चेवाली हिरणी किस देश का आश्रय करे, क्योंकि ऐसा कोई भी स्थान जल-शून्य नहीं है, जहाँ वह बैठ सके। कैसा है वर्षा ऋतु का समय? जिसमें मेघों द्वारा उद्वान्त (फैंके हुए) व पृथिवी पर गिरते हुए एवं पाषाण-जैसे कठोर ओलों की तीव्र वृष्टि द्वारा हाथी भयभीत हो रहे हैं। जिसमें नदियों का जल, जलपूर में डूबे हुए तटवर्ती वृक्ष समूहों द्वारा ऊपर उछल रहा है। इसीप्रकार जिसमें जलराशि द्वारा प्रचण्ड (वृक्षों के उन्मूलन करने में समर्थ) वायु के ताड़न वश उत्पन्न हुए शृगाल शृगालिनियों के फेत्कारों—शब्दविशेषों—से हिरण दुःखी हो रहे हैं—निर्जल प्रदेश में जाने की आकांक्षा कर रहे हैं। जिसमें सूची के अग्रभाग द्वारा भेदने योग्य निविड अन्धकार से व्याप्त हुई रात्रियों का सङ्गम वर्तमान है। जिसमें प्रचुर जल राशि के ऊपर गिरने के फलस्वरूप पर्वत-शिखर नीचे गिरा दिये गये हैं। जिसमें मेघों की गड़गड़ाहट ध्वनियों द्वारा सिंह-शावक तिरस्कृत किये गये हैं। इसीप्रकार जिसमें बिजलियों के तेज द्वारा समस्त दिशाएँ भयानक की गई हैं[1] ॥६५–६६॥ कुछ विशेषता यह है कि जिसमें ऐसा कामदेव रूप वृक्ष ही केवल अत्यन्त तेजस्वी हुआ वृद्धिगत होरहा था, जो मनोज्ञ स्त्रियों के कुचकलशों की उष्णता-समूह से अजड़ावतार (जल के आगमन से-शून्य) होता हुआ उनकी नेत्र रूप अग्नि द्वारा उद्दीपित हुआ था तथा जिसकी ज्वालाएँ कमनीय कामिनियों की ओष्ठामृत रूप घृताहुति से प्रचण्डीकृत थीं—तेजस्वी कीगई थीं[2] ॥६७॥

---

‡ 'वराहवपु इति सटि. प्रतिषु पाठः। १. आक्षेपालंकार। २. हेतु-अलंकार-गर्भित दीपकालंकार।

अपि च—

धाराशरासारभरेण मेघः कोदण्डचण्डः सह मन्मथेन
बालाबला सेति च सिन्धुरुद्धश्चिन्ताकुलस्तिष्ठति यत्र पान्थः ॥ ६८ ॥

तत्र वारिवाहवासरेषु तरुमूलनिवासिना निरन्तरयोगोपयोगनिमग्नमनस्कारेण विहितवनदेवतारक्षाधिकारेणेव नीयन्ते निखिलस्य जगतस्तमस्काण्डखण्डितनिजशरीरदर्शनतृष्णयोऽभिसारिकाजनमनोऽपत्यपोषणगर्वर्यः शर्वर्यः ॥

यस्य च भगवतस्तत्क्षणक्षरत्क्षीरडिण्डीरपिण्डपाण्डुरैरपर्याप्तव्याप्तिभिर्यशोभिः संभृतमिदमशेषं भुवनमसुलभमस्मदीयं सितं सर्गदर्शनं भविष्यतीति कृताशङ्क इव प्रजापतिः पुरैव प्रदीपकलिकानिकरपेशलानि शेषफणासु प्रभावन्ति रत्नानि, निरन्तरज्वलज्ज्वालाजालप्रकाशपिष्टातकनिकीर्णककुप्सीमन्तिनीसीमन्तपर्यन्तानि क्षीरोदधिमध्येषु वडवानलमण्डलानि, मधुमत्तविलासिनीविलोचनाडम्बरविडम्बीनि हेरम्बगुरुशिरसि जटावल्कलानि, कपर्दिनितम्बिनीस्तनाडम्बरितमृगमदपत्त्रभङ्गसुभगानि गामिनीपतिश्यालवपुषि कुरङ्गाकृतिलाञ्छनमहांसि, सततसुररमणीकरविकीर्यमाणसिन्दूरपरागपिञ्जराणि सुनासीरकरिकुमुदपुण्डरीकेषु शिरःपिण्डकुम्भस्थलानि, प्रकामपीतपीडितमुक्तसहचरकरपल्लवपक्व विनिवाप्यमानविद्याधरीबिम्बाधराकृतीनि शिशिरशिखरभृति धातुशृङ्गाणि,

---

कुछ विशेषता यह है—जिस वर्षा ऋतु के समय में नर्मदा-आदि नदी से रोका हुआ पान्थ इसप्रकार की चिन्ता-(स्मृति) वश किंकर्तव्य-विमूढ हुआ स्थित है कि—यह मेघ, जो कि इन्द्र धनुष से प्रचण्ड व जल-धारा रूप बाणों की तीव्र वर्षा की विशेषता से व्याप्त एवं कामदेव के साथ वर्तमान है एवं मेरी नव युवती प्रिया बलहीन है[1] ॥६८॥

जब यह समस्त तीन लोक प्रस्तुत भगवान्—पूज्य—सुदत्ताचार्य के ऐसे यश-समूह से व्याप्त होगया, जो कि तत्काल में क्षरणशील—नीचे गिरनेवाले—दूध के फेन-समान शुभ्र था और जिसका विस्तार समाप्त नहीं हुआ था तब मानों—ब्रह्मा ने इसप्रकार की आशङ्का की कि 'हमारी शुभ्र सृष्टि (हिमालय व क्षीरसागर-आदि) का दर्शन लोगों को दुर्लभ होजायगा, इसप्रकार भयभीत हुए ही मानों—उसने पहले से ही शेषनाग के हजार फणों के ऊपरी भागों में अपनी सृष्टि के चिह्न बतानेवाले ऐसे कान्तिशाली रत्न उत्पन्न किये, जो दीपक की शिखा-समूह के समान मनोहर थे। इसीप्रकार भयभीत हुए ही मानों—उसने क्षीरसागर के मध्य में ऐसे बड़वानल अग्नि-मण्डलों को उत्पन्न किया जिन्होंने दिनरात प्रकाशमान होनेवाले ज्वाला-समूह के प्रकाशरूप सिन्दूर-आदि के चूर्ण से दिशारूप कामिनियों के केशपाशों के पर्यन्त स्थान व्याप्त किये हैं। एवं मानों—उसने विनायक-पिता (श्रीमहादेव) के मस्तक पर ऐसे जटारूप वक्कल उत्पन्न किये, जो मद्य से विह्वल हुई कमनीय कामिनियों के नेत्रों को तिरस्कृत (तुल्ना) करते थे। एवं उसने श्रीनारायण के साले—चन्द्रमा—के शरीर में ऐसे मृगाकार चिन्ह के तेज उत्पन्न किये, जो श्रीमहादेव की भार्या—पार्वती—के स्तनों पर विस्तारित कीहुई कस्तूरी की तिलक-रचना सरीखे मनोहर थे। इसीप्रकार उसने ऐरावत, कुमुद (नैऋत्य दिग्गज) और पुण्डरीक (आग्नेय कोण का दिग्गज) इन शुभ्र दिग्गजों के मस्तक-समूहों पर ऐसे कुम्भस्थल उत्पन्न किए, जो देवकन्याओं के करकमलों से निरन्तर फैंकी जानेवाली सिन्दूर-धूलि से पिञ्जर (गोरोचन के समान कान्तिशाली) थे। इसीप्रकार अपनी शुभ्र सृष्टिवाले हिमालय की पहचान कराने के लिए ही मानों—उसने (ब्रह्मा ने) उसके ऊपर ऐसे गैरिक (गेरू) धातु के शिखर उत्पन्न किये, जिनकी आकृति विद्याधरियों के पक्वबिम्ब फल-से ऐसे

---

१. सहोक्ति-अलंकार।

कुबेरपुरकामिनीकुचचूचुकपटलश्यामलानि ललितापतिशैलमेखलासु तमालतरुवनानि, निजनाथावसथपथप्रस्थानपरिणतरति-चरणशिञ्जानशिञ्जीरमणितमनोहराणि हंसपरिषत्सु शब्दितानि, कलिन्दकन्याकल्लोलजलश्यामायमानोर्मीणि, मन्दाकिनी-स्रोतसि पयांसि, द्विरदरदफलकमषीलिखितलिपिस्पर्धीनि सरस्वतीनिटिलतटेषु कुन्तलजालानि, रजनिसरकतन्तुसन्तानापहासीनि सितसरसिजकोशेषु केसराणि, कम्बुकुलमान्ये च पाञ्चजन्ये कृष्णकरपरिग्रहनिरवधीनि व्यधादहानि ॥

यस्य च सुजन्मनः प्रगुणतरुणिमोन्मेषमनोहारिणी यथादेशनिवेशितपरिणयप्रवणगुणप्रोतमणिविभूषणा

ओष्ठों सरीखी थी, जो कि उनके पतियों द्वारा पूर्व में विशेषरूप से पान किए गए और पश्चात् पीड़ित (चुम्बित) किये गए और तत्पश्चात् छोड़ दिए गए थे एवं जो अपने प्रियतमों के हस्तरूप कोमल पल्लवों की वायु द्वारा वृद्धिंगत किये गए थे। इसीप्रकार मानों—उसने कैलाशपर्वत की कटिनियों पर ऐसे तमालवृक्षों के वन उत्पन्न किये, जो कुबेरनगर (अलकापुरी) की नवयुवती कामिनियों के कुचकलशों के अग्रभाग-पटल सरीखे श्याम थे। इसीप्रकार उसने हंस समूहों में ऐसे शब्द उत्पन्न किये, जो अपने पति कामदेव के गृह-मार्ग में प्रस्थान करनेवाली रति के चरण-कमलों में शब्द करनेवाले नूपुरों—घुँघरुओं—के कामक्रीड़ा के अवसर पर किये जानेवाले शब्दों के समान मनोहर थे। इसीप्रकार मानों—उसने गङ्गा-प्रवाह में ऐसे जल उत्पन्न किये, जिनकी तरङ्गें यमुना की तरङ्गों के जलों से श्यामलित कीगई थीं। इसीप्रकार उसने सरस्वती के मस्तक-तटों पर ऐसे केश-समूह उत्पन्न किए, जो हस्ती के दन्तपट्टक पर स्याही से लिखी हुई लिपि को तिरस्कृत करते थे। एवं उसने श्वेतकमलों के मध्य ऐसे केसर—पराग—उत्पन्न किये, जो कि हल्दी के रस से रञ्जित सूत्र-(तन्तु) समूह को तिरस्कृत करनेवाले थे। इसीप्रकार मानों—उसने शंख-कुल में प्रशस्त पाञ्चजन्य (दक्षिणावर्त नामक विष्णु-शंख) में ऐसे दिन उत्पन्न किये, जो कि श्रीनारायण के हस्त को स्वीकार करने में मर्यादा का उल्लङ्घन करते थे। अर्थात्—पाञ्चजन्य शंख के फूँकने के दिन विस्तृत (बेमर्याद) होते हैं, क्योंकि वह शंख नित्य रहनेवाले विष्णु के कर-कमलों में सर्वदा वर्तमान रहता है। अतः मानों—उसके शब्द भी विष्णु द्वारा करकमलों में धारण करने से काल की सीमा का उल्लङ्घन करते हैं[1]।

जिस पवित्र अवतारवाले सुदत्ताचार्य की ऐसी कीर्तिकन्या समस्त संसार में संचार करती हुई आज भी किसी एक स्थान पर स्थित नहीं रहती। अर्थात्—समस्त लोक में पर्यटन करती रहती है। जो सरल (मद-रहित) प्रकृतिरूप तारुण्य—जवानी—के प्रकट होने से चित्त को अनुरञ्जित करती है[2]। जिसके यथायोग्य शारीरिक अवयवों—हस्त-आदि—पर स्थापित किये हुए, व विवाह के योग्य तथा गुणों—ज्ञानादिरूप तन्तु मालाओं—में पोए हुए रत्नों से व्याप्त ऐसे सुवर्णमय आभूषण हैं[3]।

---

१. अन्तर्दीपक-अलंकार।

२. इसका ध्वनि से प्रतीत होने योग्य अर्थ यह है कि जो विषय कषायरूप मानसिक कलुषता से रहित है। अर्थात्—ऐसा होने से ही प्रस्तुत आचार्य की आदर्श कीर्ति-कन्या नवयुवती थी।

३. इसका ध्वनिरूप अर्थ यह है कि जिसके ऐसे अविवक्षित सुन्दर पदार्थरूपी रत्न हैं, जो कथन-शैली से निरूपण किये हुए नयों—नैगमादि—की अनुकूलता—यथार्थता—प्रकट करते हैं। स्वामी समन्तभद्राचार्य ने भी कहा है—विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्ष्यो न निरात्मकस्ते। तथाऽरिमित्रानुभयादिशक्तिर्द्वयावधेः कार्यकरं हि वस्तु ॥ १ ॥—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र श्लोक नं० ५३। अर्थात्—हे प्रभो! आपके दर्शन में, जिस धर्म को प्रधान रूप से कहने की इच्छा होती है, वह मुख्य कहलाता है तथा दूसरा जिसको कहने की इच्छा नहीं होती वह—द्रव्य व पर्याय-

निसर्गात्प्रागल्भ्यवती स्वयंवरवरणार्थमादिष्टेव कीर्तिपतिंवरा भुवनान्तराणि विहरन्ती 'जरठ जराजनितजवस्खलन कमलासन, न खलु समर्थस्त्वं मे निखिलनगनगरसागरविहारकुतूहलिन्याः सहचरकर्माणि कर्तुम्' इति पितामहम्, 'अहल्यापतिपरिग्रहस्खलितजातयुवतिमुद्राचरानेकवीक्षण क्षतकरण पौलोमीरमण, नार्हसि प्रणयकलहकुपितायाः करजराजिपाटनप्रदानदण्डेनानुनयनानि विधातुम्, इति वृद्धश्रवसं॰ दिनम्,

इसी प्रकार जो (कीर्ति-कन्या) स्वभाव से दूसरों के चित्त को प्रसन्न करने की चतुराई रखती है[1]। एवं जो स्वयं पति को स्वीकार करने के हेतु प्रेरित हुई ही मानों—सर्वत्र लोक में पर्यटन कर रही है[2]। जिस सुदत्ताचार्य की कीर्तिकन्या ने निम्नप्रकार दोषों के कारण ब्रह्मा व इन्द्रादि को तिरस्कृत करते हुए उनके साथ विवाह न करके समस्त लोक में संचार किया। 'हे विशेष वृद्ध ब्रह्मा! वृद्धावस्थावश तेरी शीघ्रगमन करने की शक्ति नष्टप्राय होचुकी है, इसलिए तू समस्त पर्वत, नगर व समुद्रों पर विहार करने की उत्कण्ठा रखनेवाली मेरे साथ विहार करने में समर्थ नहीं है[3]। इसप्रकार प्रस्तुत कीर्तिकन्या ने ब्रह्मा का तिरस्कार किया। "हे देवताओं के इन्द्र! 'अहल्या' तापसी के पति—गौतमऋषि की पत्नी अहल्या के साथ व्यभिचार दोष के फलस्वरूप गौतमऋषि की शापवश तेरे शरीर में पूर्व में युवतिमुद्रा—एक हजार योनियाँ—उत्पन्न हुई थीं। पश्चात् वे ही अनुनय विनय करने के फलस्वरूप हजार नेत्ररूप परिणत हुई थीं अतः भूतपूर्व हजार भगों के धारक! उत्पन्न हुए हजार नेत्रों के धारक और हे क्षतकरण! अर्थात्—उक्त योनिमुद्रा के फलस्वरूप जननेन्द्रिय से शून्य एवं हे पौलोमी-रमण! अर्थात्—हे पुलोम की पुत्री के स्वामी (पति पिता के समान पूज्य श्वसुर के घातक हे देवेन्द्र! प्रेमकलह से कुपित हुई मुझे तुम अपनी ऐसी जननेन्द्रिय द्वारा, जो मानों—मेरी नख-श्रेणी द्वारा फाड़ दीगई है, प्रसन्न करने में समर्थ नहीं हो, क्योंकि तुम सर्वाङ्ग भगाकार होने के फलस्वरूप जननेन्द्रिय शून्य हो। इसप्रकार सुदत्तश्री की कीर्तिकन्या द्वारा इन्द्र तिरस्कृत किया गया[4]।

आदि—गौण कहलाता है। परन्तु वह अविवक्ष्य—गौण धर्म—गधे के सींग की तरह सर्वथा अभावरूप नहीं होता। क्योंकि वस्तु में उसकी सत्ता—मौजूदगी—गौण रूप से अवश्य रहती है। इसप्रकार मुख्य व गौण की व्यवस्था से एक ही वस्तु शत्रु, मित्र और अनुभय आदि शक्तियों को लिए रहती है। जैसे कोई व्यक्ति किसी का उपकार करने के कारण मित्र है; वही किसी का अपकार करने के कारण शत्रु है। वही किसी अन्य व्यक्ति का उपकार-अपकार करने से शत्रु-मित्र दोनों है। इसीप्रकार जिससे उसने उपेक्षा धारण कर रक्खी है उसका वह न शत्रु है और न मित्र है। इसप्रकार उसमें शत्रुता-मित्रता आदि के गुण एक साथ पाए जाते हैं। अतः वस्तुतः वस्तु विधि-निषेधरूप दो दो सापेक्ष धर्मों का अवलम्बन लेकर ही अर्थ क्रिया करने में कार्यकारी होती है।

१—प्रस्तुत गुण प्रस्तुत दोनों (सुदत्तश्री व उसकी कीर्तिकन्या) में समान रूप से वर्तमान है।

२—ध्वनि से प्रतीत होनेवाला अर्थ यह है कि जिस कीर्तिकन्या को मोक्षरूप वर की प्राप्ति-हेतु माङ्गलिक विधि-विधान पूर्वक आज्ञा दीगई है। क्योंकि नीतिनिष्ठों ने कहा है—'कीर्तिमान् पूज्यते लोके परत्रेह च मानवः, संस्कृत टीका पृ. ८० से समुद्धृत। अर्थात्—कीर्तिशाली मानव इसलोक व परलोक में पूजा जाता है।

३—इसका ध्वनि रूप अर्थ यह है कि वृद्धावस्था-वश गमन करने की शक्ति से हीन पुरुष यदि कमला (लक्ष्मी) को आसन (स्वीकार) करता है, तो उसकी कीर्ति नहीं होती।

४—इसका ध्वनि रूप अर्थ—जो परस्त्रीलम्पट हुआ युवती स्त्री का भेषधारण करके परस्त्री का सेवन करता है एवं अनेक स्त्रियों की ओर नीति-विरुद्ध खोटी नजर फेंकता है, जो शारीरिक अङ्गों से हीन हुआ श्वसुर-घाती है, तथा जो प्रणय-कलह-कुपित—अर्थात् प्रकृष्टनयों—सप्तभङ्गों—के विवाद के अवसर पर कुपित होता है। अर्थात्—अकाट्य युक्तियों द्वारा एकान्तवादियों का खंडन नहीं करता एवं कलह-जनक वचन श्रेणियों द्वारा उनका निग्रह नहीं करता और परस्पर की अपेक्षा रखने वाले नय स्वीकार नहीं करता एवं जो सप्तमधातु—वीर्य—का नाश करता है, उसकी कीर्ति नहीं होती।

'उद्भुमरपाण्डुरोगवशहुताश, नावकाशः स्वरुचिविरचितकान्तस्वीकारायाः परिणयनस्रजः' इति जातवेदसम्, अनपराधजनग्रसनलालसमानस वातापिरिपुदिगन्तवास, न स्थानमनङ्गरसनिर्भरभरितहृदयायाः केलिकलहानाम्' इति वृषालोचनम् 'उल्बणशल्यशिराशेषशरीरपरिकर निशाचर, न पद्मिन्दीवरमृणालकोमलभुजलतायाः सरभसालिङ्गनानाम्' इति कैकसेयम्, 'उदीर्णोदकोदरगदगलितसुरतव्यवसाय सागरालय, न क्षमश्चिरपरिचितकामसूत्रायाः काकिलादिकरणोदाहरणानाम्' इति प्रचेतसम्,

---

"हे अग्निदेव! तू उत्कट पाण्डु (पीलिया) रोग से पराधीन या पीड़ित है और हवन कीजानेवाली वस्तु का भक्षक है, अतः तू अपनी श्रद्धा द्वारा पति को स्वीकार करनेवाली मेरी वरमाला का पात्र नहीं है[1]। इस प्रकार प्रस्तुत कीर्ति कन्या ने अग्निदेव का अनादर किया।

अब यमराज को तिरस्कृत करती हुई कीर्तिकन्या कहती है—'हे यमराज। तेरी चित्तवृत्ति निर्दोषी लोक के कवलन करने की विशेष इच्छुक है और तेरा निवासस्थान वातापि—इल्वल का भाई दैत्य विशेष-के शत्रु—अगस्त्य—की दक्षिणदिशा के अखीर में है; इसलिए तू कामरस से अत्यंत परिपूर्ण हृदयशालिनी मेरी कामक्रीड़ा के कलहों का स्थान नहीं होसकता[2]'। अब नैऋत्यकोण-निवासी राक्षस का अपमान करती हुई कीर्तिकन्या कहती है—हे राक्षस! तेरा समस्त शरीर-परिकर (हस्त-पादादि) उत्कट अस्थियों (हड्डियों) व नसों से व्याप्त होने के फलस्वरूप तू अत्यन्त कठोर है, और रात्रि में पर्यटन करता है इसलिए नीलकमल के मृणाल-सरीखी कोमल बाहुलताओं से विभूषित हुई मेरे द्वारा शीघ्र किये जानेवाले गाढ़—आलिङ्गन का पात्र नहीं हो सकता[3]। अब वरुण देवता की भर्त्सना करती हुई कीर्तिकन्या कहती है—हे वरुण! तेरी मैथुन करने की शक्ति, वृद्धिंगत—उत्कट—जलोदर व्याधि से बिलकुल नष्ट होचुकी है और तेरा निवास स्थान समुद्र ही है; अतः चिरकाल से कामशास्त्र का अभ्यास करनेवाली मेरे साथ रतिविलास करने में उपयोगी क्रियाओं—आलिङ्गन व चुम्बनादि काम क्रीड़ाओं—का दृष्टान्त नहीं हो सकता[4]।

१—इसका ध्वन्यार्थ यह है कि जो पाण्डुरोगी है वह दूषितशरीर होने के कारण दीक्षा का अपात्र होने से कीर्तिभाजन नहीं होता। एवं पाणिपुट पर स्थापित की हुई समस्त वस्तु का भक्षण करते हुए व्रत न पालने वाले मुनि की कीर्ति नहीं होती एवं जो साधु स्व-रुचि-कान्त-अस्वीकार—आत्म स्वरूप में सम्यग्दर्शन द्वारा परमात्मा को स्वीकार नहीं करता, वह कीर्तिभाजन नहीं होता।

२—इसका ध्वनिरूप अर्थ—निरपराधी को अपने मुख का ग्रास बनाने वाला अपराधी को किस प्रकार छोड़ सकता है? और दक्षिण दिशा में दैत्यभक्षक के समीप निवास करनेवाला शिष्टपुरुषों को किसप्रकार छोड़ सकता है? और अनङ्गों—सिद्धों—के प्रति अनुराग प्रकट न करनेवाले की कीर्ति किसप्रकार होसकती है?

३—ध्वन्यार्थ—जिसका शरीर अथवा आत्मा, माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्यों से विंधा हुआ है और जो निशाचर (रात्रिभोजी) है, उसकी कीर्ति किसप्रकार हो सकती है? अपितु नहीं होसकती।

४—इसकी ध्वनि—जलोदर व्याधि से पीड़ित होने के कारण पानी न पीनेवाले और अपनी आत्मा के प्रति अनुराग प्रदर्शित न करने वाले की कीर्ति नहीं होती। इसीप्रकार जो लक्ष्मी का स्थान है। अर्थात्—जो धन की लम्पटता के कारण निर्ग्रन्थ (निष्परिग्रही) नहीं होता और काम-सूत्र अर्थात्—विशेष रूप से जिन-शासन का अभ्यास नहीं करता, उसकी कीर्ति किस प्रकार हो सकती है? एवं जिसकी चित्तवृत्ति आत्मोन्नति से विमुख होती हुई पंचेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त है, उसकी कीर्ति किसप्रकार हो सकती है? अपि तु नहीं होसकती।

अतिविदितचापलकुलप्रसूत, वात, न दयितः स्थिरनायकसमागमार्थिन्याः प्रीतिविलसितानाम्' इति नभस्वन्तम्, अनवरतमधुपानपरिच्युतमतिप्रकाश वित्तेश, न गोचरश्चतुरोक्तिसुधारसास्वादविस्फुरितश्रवणाञ्जलिपुटायाः सहालापगोष्ठीनाम्, इति नलकूबरपितरम्, 'अनुचितचित्तोपकण्ठपीठ शितिकण्ठ, न भाजनममलिनचरित्रायाः पृथुजघनसिंहासनारोहणानाम्' इति कृत्तिवाससम्, अनिष्टकुष्ठद्रवद्रुतचरणनख चण्डमयूख, न प्रभुः प्रसभपुण्यप्रभावलभ्यसंभोगायाः करसंवाहनसुखानाम्' इति हरितवाहवाहनम्, ' अक्षयक्षयामयसंशयितजीवित बुधतात, न शरणमगणितसुखसौभाग्यभावितजन्मलग्नायाः प्रबन्धनिधुवनविधीनाम्' इतिनिशादर्शम्,

अब वायुदेवता का तिरस्कार करती हुई कीर्ति कन्या कहती है—हे वायुदेव ! तुम ऐसे चञ्चल कुल में उत्पन्न हुए हो, जिसकी चपलता विशेष विख्यात है, इसलिए तुम मेरी प्रेम-प्रवृत्तियों के वल्लभ नहीं होसकते; क्योंकि मैं तो स्थिर प्रकृतिशाली पति को प्राप्त करने का प्रयोजन रखती हूँ[1]। अब कुवेर के अनादर में प्रवृत्त हुई कीर्तिकन्या कहती है—हे कुवेर ! निरन्तर मद्यपान करने से तेरी बुद्धि नष्ट होचुकी है, इसलिए तू भी ऐसी मेरे साथ कीजानेवाली एकान्त भाषण-गोष्ठियों के योग्य नहीं है; जिसके कर्णरूप अञ्जलिपुट चतुर-आलाप (वक्रोक्ति) रूप अमृत-प्रवाह के आस्वादन करने में सदा संलग्न रहते हैं[2]। अब प्रस्तुत कीर्तिकन्या श्रीमहादेव का तिरस्कार करती हुई कहती है—अयोग्य चिता (मृतकाग्नि) के समीप आसन लगानेवाले व नीलग्रीवाशाली हे महादेव ! तू विशुद्ध-चरित्र शालिनी मेरे विस्तीर्ण जंघारूप सिंहासन पर आरोहण का पात्र नहीं है[3]।

अब सूर्य का अनादर करती हुई कीर्तिकन्या कहती है—हे सूर्य ! तेरे चरणों के नख दुःखकर कुष्ठरोग से उत्पन्न हुई पीप-वगैरह से नष्ट होचुके हैं एवं तेरी किरणें भी विशेष तीव्र हैं, इसलिए तू ऐसी मेरे, जिसके साथ रति-विलास करने का सुख विशेष पुण्य के माहात्म्य से प्राप्त होता है, करकमलों द्वारा किये जानेवाले पाद-मर्दन संबंधी सुखों का पात्र नहीं है[4]। अब चन्द्र का अपमान करती हुई कीर्ति कन्या कहती है—हे बुध के पिता चन्द्र ! तेरा जीवन (आयु) अविनाशी क्षय रोग के कारण संदिग्ध है। अर्थात्—तू दीर्घनिद्रा (मृत्यु) योग्य है; इसलिए तू ऐसी मेरे साथ वीर्यस्तम्भन पूर्वक की जाने वाली मैथुन क्रियाओं का स्थान नहीं है, जिसके जन्मलग्न (उत्पत्ति-मुहूर्त) के अवसर पर ज्योतिषियों द्वारा निस्सीम सुख कहा गया है[5]।

१—इसकी ध्वनि—भौंड़-आदि के चञ्चल कुल में उत्पन्न हुए, चञ्चल प्रकृतिशाली की और सम-आगम-अर्थी-रहित अर्थात् समता परिणाम और अध्यात्म शास्त्र के अभ्यास का प्रयोजन न रखनेवाले साधु पुरुष की कीर्ति नहीं होसकती।

२—इसका ध्वनिरूपार्थ—नास्तिक सम्प्रदाय में दीक्षित होने वाले की व मद्यपान करनेवाले साधु की बुद्धि पर परदा पड़ जाता है। इसीप्रकार विद्वानों के सुभाषितामृत का रसास्वाद न करने वाले की और दिगम्बर साधुओं के प्रति अञ्जलिपुट न बाँधनेवाले—नमस्कार न करने वाले—की कीर्ति नहीं होती।

३—इसका ध्वनिरूपार्थ—अपवित्र स्थान पर बैठकर स्वाध्याय-आदि धार्मिक क्रियाओं को करनेवाले, क्षीणकण्ठ-शाली, अपने चरित्र में बार बार अतिचार लगाने वाले, और सिंहों के पर्वतादि स्थानों पर निवास न करनेवाले—वनवासी न होने वाले—कीर्तिभाजन नहीं होसकते।

४—इसकी ध्वनि—कुष्ठरोग से पीड़ित व्यक्ति के नखमात्र (जरा-सा) भी चारित्र नहीं होता। एवं मधुर वचनों द्वारा लोगों को सुख न देनेवाले की कीर्ति नहीं होती।

५—इसकी ध्वनि—जो साधु क्षय रोगी या बीमार रहता है, जिसकी आहार-प्राप्ति संदिग्ध होती है, जो दूसरे की स्त्रियों के साथ रतिविलास करके पुत्र उत्पन्न करता है, जो प्रबन्ध-निधुवन-विधि नहीं जानता। अर्थात्—महापुराण-

'अवतानंकालायसतलिकाकृतिखलतिमस्तकदेश हृषीकेश, न समीपमदयकचग्रहग्रहिलविग्रहायाः कुटिलकुन्तलाविलविलोचन-चुम्बनानाम्' इति मुकुन्दम्, अविरलगरलोल्लसल्लपनजाल भुजङ्गमलोकपाल, न संगमागमनमनल्पकल्पसंकल्पितप्राणितायास्तुण्डीराधरामृतानाम्' इति कुम्भीनसप्रभुं चानभिनन्दन्ती, मरुमरीचिवीचिनिचयवञ्च्यमाना मृगाङ्गनेव पदप्रत्यवसितस्य वसुमतीपतेर्मतिरिव निखिलमलविलयोन्मीलितान्तरालोकलोचनस्य मुनेर्मनीषेव, च न क्वचिदद्यापि बध्नाति स्थितिम् ॥

यस्य च मुकुतिनस्तपस्तपनकरकाश्मीरकेसरारुञ्जितस्तुतिमुखरसुरयोपिदलकवलयादा विदितादुदयाचलदरीसंदोहा-

अब श्रीनारायण की भर्त्सना करती हुई कीर्ति कन्या कहती है– हे श्रीनारायण! तेरा मस्तक पुराण पुरुष होने के फलस्वरूप अधोमुखवाली लोहे की कड़ाही के आकार वाली गंजी खोपड़ी से व्याप्त है। इसलिए तू ऐसी मेरे कुंटल केशों से मिले हुए नेत्र संबंधी चुम्बनों के समीवर्ती होने योग्य नहीं है, जिसका शरीर दोनों कर कमलों से निर्दयता पूर्वक केशों के ग्रहण करने में आग्रह करता है[1]। इसीप्रकार प्रस्तुत कीर्तिकन्या धरणेन्द्र (नागराज) का तिरस्कार करती हुई कहती है—हे शेष नाग! तेरा हजार फणोंवाला मुख-समूह घने (तीव्र) विषसे व्याप्त है। तुझे भी ऐसी मेरे जिसका जीवन ज्योतिषियों ने असंख्यात कल्पकाल पर्यन्त (स्थायी) कहा है, पके हुए बिम्बफल सरीखे ओष्ठों के अमृत की प्राप्ति नहीं होसकती[2]। इसीप्रकार प्रस्तुत सुदत्ताचार्य की कीर्तिकन्या उसप्रकार धोखा दीजाने वाली होती हुई किसी स्थान पर आज तक भी नहीं ठहरी जिसप्रकार मृग तृष्णा की तरङ्ग-पङ्क्ति द्वारा प्रतारित की जाने वाली (धोखा खाई हुई) हिरणी किस स्थान पर स्थिर नहीं रहती। इसीप्रकार वह आज तक भी किसी स्थान पर उसप्रकार स्थित नहीं हुई जिसप्रकार राज्य पद से भ्रष्ट हुए राजा की बुद्धि किसी स्थान पर स्थित नहीं रहती। इसीप्रकार वह उसप्रकार किसी स्थान पर स्थित नहीं हुई जिसप्रकार ऐसे मुनिकी, जिसको समस्त पापरूपमल (घातिया कर्म) के क्षय होने पर विशुद्ध आत्मा से केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है, केवल-ज्ञान किसी एक पदार्थ में स्थित नहीं रहता। *

अनेक देशों की गोपियाँ, विशेष पुण्यशाली अथवा विशिष्ट विद्वान् जिस सुदत्ताचार्य के गुण विस्तारों को, जो कि हिमालय पर्वत के शिखरमण्डलों पर शोभायमान होरहे हैं, तीन लोक में विख्यात ऐसे उदयाचल पर्वत की गुफा-समूह की मर्यादा करके या व्याप्त करके गाती हैं, जिसमें तपरूपी सूर्य की किरणरूप काश्मीर केसरों द्वारा स्तुति करने में वाचाल हुई देवियों के केशपाशों की श्रेणी रञ्जित (लालवर्णवाली) की जारही है।

आदि शास्त्रों की स्वाध्याय–आदि विधियों को नहीं जानता और जो रात्रि में अपराध करता है, उसकी कीर्ति नहीं होती। क्योंकि झूठी कीर्ति श्रेयस्कारिणी नहीं होती।

१—इसकी ध्वनि—जो भाग्य से मस्तक को धारण करता हुआ भी दीक्षित नहीं होता। जो मानव युवावस्था में प्रविष्ट होकर भी तपश्चर्या मे तत्पर नहीं है। जो इन्द्रियों द्वारा प्रेरित हुआ केश-लुञ्चन के अवसर पर उसप्रकार अपनी भ्रकुटि गिराता है, जिसप्रकार नट रङ्गस्थली—नाट्यभूमि—पर प्राप्त होकर अपनी भ्रकुटि संचालित करता है। एवं जो अपने केशलुञ्चन के अवसर पर अङ्गुष्ठ व तर्जनी को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है, उसकी कीर्ति नहीं होती।

२— जो मुनि मधुरभाषी न होता हुआ मुख से विषतुल्य कटुक वचन बोलता है और कामी पुरुषों की रक्षा करता है, उसकी कीर्ति नहीं होती।

*— उपमालंकार व अन्तर्दीपक-अलंकार।

वृचलद्री* संदोहवदमृतापगाप्रवाहापहसितयशःफेनपटलपाण्डुरोपलान्तरालदेशादा सेतुबन्धमेखलाकुलकुहरान्मेखलाकुलकुहरनिलीनकिन्नरीगणगीयमानदयादमनियमनामशुचिपञ्चमादिगीतवाचाटकन्दरादा मन्दरधराधरनितम्बाद्धराधरनितम्बाडम्बरस्थपुटपथप्रस्थानमन्थरितगतिकीर्तिमन्दाकिनीतरङ्गदन्तुरदरवदनाद्या तुहिनशैलचूलिकाचक्रवालात्तुहिनशैलचूलिकाचक्रवालविलासीनि गायन्ति गुणविजृम्भितानि जनपदगोप्यः ॥

स भगवान् पुण्यपानीयवर्षी कोऽप्यपूर्वः पर्जन्य इव विनतविनेयजनसस्यप्रसराः पुरस्थानीयद्रोणमुखकार्वटिकसंग्रहनिगमग्रामविश्वंभराः समभिनन्दयन्विहरमाणः, प्रणतसकलदिक्पालमौलिमण्डलीभवच्चरणनखरत्नोत्करः, कैश्चिच्चरणकरणनयनिरूपणगुणहारविहितहृदयभूषणैः

एवं वे (गोपियाँ), ऐसी सेतुवन्धपर्वत (दक्षिणदिक्पर्वत) की कटिनी-समूह की गुफा की मर्यादा करके या व्याप्त करके प्रस्तुत आचार्य का गुणगान करती हैं, जिसमें शिलाओं के मध्यवर्ती प्रदेश, ऐसे यश-समूह के फेन-पटल समान शुभ्र हैं, जो कि सेतुबन्ध पर्वत की गुफा के समूह-समान विस्तृत अमृतनदी के प्रवाह को तिरस्कृत (तुलना) करता है। इसीप्रकार वे गोपियाँ, ऐसे अस्ताचल पर्वत के तट की मर्यादा करके या व्याप्त करके प्रस्तुत आचार्य का गुणगान करती हैं, जिसकी गुफा ऐसे पंचमादिराग-पूर्ण गीतों से शब्द करती हुई शोभायमान होरही है, जो (गीत) कटिनी-समूह की गुफाओं में स्थित देवियों के समूह द्वारा गाए जानेवाले करुणा, जितेन्द्रियता, पंचमहाव्रत व सुदत्तश्री का नाम इनसे पवित्र हैं। इसीप्रकार वे गोपियाँ ऐसे हिमालय पर्वत के शिखर-मण्डल की मर्यादा करके या व्याप्त करके प्रस्तुत आचार्य के गुण-विस्तार गाती हैं, जिसके गुफारूपी मुख ऐसी कीर्तिरूपी मन्दाकिनी (गंगा) की तरङ्गों से उन्नत दन्तशाली हैं, जिसकी गति हिमालय पर्वत के विस्तृत तटों पर वर्तमान ऊँचे-नीचे (ऊबड़-खाबड़) मार्ग पर प्रस्थान करने से मन्द (धीमी) पड़गई है।

उस जगत्प्रसिद्ध भगवान् (इन्द्रादि द्वारा पूज्य) ऐसे सुदत्ताचार्य ने संघ-सहित विहार करते हुए 'नन्दनवन' नामका राजपुर नगर संबंधी उद्यान (बगीचा) देखा। कैसे हैं सुदत्ताचार्य? जो पुण्य रूप जल-वृष्टि करने के कारण अनिर्वचनीय व नवीन मेघ सरीखे हैं। अर्थात्—उनसे उसप्रकार पुण्यरूप जल की वृष्टि होती थी जिसप्रकार मेघों से जल-वृष्टि होती है। वे (सुदत्ताचार्य) ऐसी भूमियों को, जिनमें विनयशील भव्य-प्राणी रूप धान्य का विस्तार पाया जाता है और जो पुर (राजधानी), स्थानीय (आठसौ ग्रामोंसे संबंधित नगर विशेष), द्रोणमुख (चार सौ ग्रामों से संबंधित नगर), कार्वटिक (दो सौ ग्रामों से संबंधित नगर), संग्रह (दश ग्रामों से संबंधित नगर), और निगमग्राम (धान्योत्पत्तिवाले गाँव) इनसे संबंध रखती हैं, आनन्दित करते हुए राजपुर की ओर विहार कर रहे थे। जिसके चरणोंके नखरूप रत्नसमूह नमस्कार करते हुए राजाओंके मुकुटों को अलङ्कृत करते थे। जिसके पादमूल (चरणकमल), ऐसे प्रचुर पारासरियों[1] (तपस्वी साधुओं) द्वारा नमस्कार किये गये थे, जिनमें कुछ ऐसे थे, जिन्होंने सम्यग्चारित्र का पालन, नयचक्र शास्त्र का उपदेश, और ज्ञान-ध्यानादि गुणरूपी मोतियों की मालाओं से अपने वक्षःस्थल-मण्डल विभूषित किये थे।

---

* 'संदोहवहदमृतापगा' इति ह० लि० सटि० (क, ग, च) प्रतिषु पाठः।

१. पाराशरिणः तपस्विनः इति ह० लि० (क घ) प्रतिषु टिप्पणी वर्तते। एवं भिक्षुः परिव्राट् कर्मन्दी पाराशर्यपि मस्करी इत्यमरः।

कैश्चित्समस्तश्रुतधरोद्धरणधृतादिपुरुषधिषणैः कैश्चित्पुराणपुरुषचरितविचारचातुरीशुचिवचनसुमनोविनिर्मितावतंसभूषितभव्यश्रोत्रैः कैश्चिदात्मेतरतर्ककर्कशोदर्कवितर्कार्कविकास्यमानभुवनाशयशतपत्रैः, कैश्चिन्नव्यानव्यकाव्योपदेशकच्छस्वच्छन्दोच्छनागच्छदतुच्छच्छेकच्छात्रच्छन्नव्याख्यानमण्डपानीकैः कैश्चिदैन्द्रजैनेन्द्रचान्द्रापिस (श) लपाणिनीयाद्यनेकव्याकरणोपदिश्यमानशब्दार्थसंबन्धवैदग्धीसरित्क्षालितशिष्यशेमुषीपदविन्यासावनीकैरपरैश्च तत्तद्विद्यानवद्यमतिमन्दाकिनीप्रवाहावगाहगौरितान्तेवासिमानसव्रास:प्रसरैः सितसिचयैरिव परिमुषितकषायकालुष्यैश्चित्रार्पितद्विपैरिव मदरहितैः कोकनदकाननैरिव प्रतिपन्नमित्रभावैः विश्वंभरेश्वरैरिव प्रणीतविग्रहदण्डैरमराङ्गैरिव परित्यक्तदोषैः कामिनीजनैरिव प्रकटितपरलोकागमकामै-

---

उनमें से कुछ ऐसे थे जिन्होंने अपनी बुद्धि समस्त द्वादशाङ्ग शास्त्र रूप पृथिवी या पर्वत के उद्धार करने में ऋषभदेव या विष्णु सरीखी प्रखर (तीक्ष्ण) कर ली थी। उनमें कुछ ऐसे थे जिन्होंने ऐसे वचन रूप पुष्पों द्वारा, जो तिरेसठ शलाका के महापुरुषों के चरित्रग्रन्थों के निरूपण की चतुराई से सहित और पवित्र (पूर्वापर-विरोध-रहित) हैं, रचे हुए कर्णाभरणों से भव्य- पुरुषों के श्रोत्र अलङ्कृत किये थे। उनमें कुछ ऐसे थे जिन्होंने जैनदार्शनिक व अन्य दार्शनिकों (जैमिनीय, कपिल, कणाद, चार्वाक और बौद्ध) के दर्शनशास्त्रों का विपमतर उत्तर विचार (गम्भीर ज्ञान) प्राप्त किया था, जिसके फलस्वरूप वे, दार्शनिक तत्वों के युक्ति-पूर्ण कथन रूप सूर्य द्वारा तीन लोक के हृदय कमल प्रफुल्लित कर रहे थे। उसमें से कुछ ऐसे थे जो, नवीन और प्राचीन साहित्य संबंधी तात्त्विक व्याख्यान देते थे, इसलिए उनकी व्याख्यान कला रूपी पुष्प वाटिका के काव्य कुसुमों का यथेष्ट संचय करने के हेतु आई हुई बहुतसी प्रवीण शिष्य मण्डली से उनके व्याख्यान-मंडप समूह खचा-खच भरे रहते थे। कुछ ऐसे थे जिन्होंने ऐन्द्र (इन्द्रकवि-रचित), जैनेन्द्र (पूज्यपाद-रचित जैन व्याकरण), चान्द्र (चन्द्रकवि-प्रणीत), आपिशल (आपि शालि-कृत) और पाणिनीय-आदि अनेक व्याकरण शास्त्रों द्वारा निरूपण किये जानेवाले शब्द और अर्थ के संबंध की चतुराई प्राप्त की थी और उस चतुरता रूपी गंगा नदी द्वारा जिन्होंने शिष्यों की बुद्धि संबंधी शब्द-रचना-भूमि निर्मल की थी। इसीप्रकार जिस सुदत्ताचार्य के चरण कमल दूसरे ऐसे तपस्वियों द्वारा पूजे गये थे, जिन्होंने उन-उन जगत्प्रसिद्ध विद्याओं (ज्योतिष, मन्त्रशास्त्र, आयुर्वेद, स्त्री-पुरुष-परीक्षा, रत्न-परीक्षा, गज-विद्या और अश्वविद्या (शालिहोत्रादि-शास्त्रों) के अध्ययन-मनन से उत्पन्न हुई निर्दोष बुद्धि-मन्दाकिनी (गंगानदी) के प्रवाहों में अवगाहन करने के फलस्वरूप शिष्यों के मनरूप वस्त्रों के विस्तार उज्वल किये थे। जिन्होंने, कपाय-कालुष्य—क्रोध, मान, माया व लोभ रूप कपायों की कलुषता (पाप प्रवृत्ति) को उसप्रकार दूर किया था जिसप्रकार शुक्ल वस्त्र कपाय-कालुष्य (नीली रसादि संबंधी मलिनता) से दूर होते हैं। जो उसप्रकार मदों (ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप व रूप इन आठ प्रकार के अभिमानों) से रहित थे जिसप्रकार चित्र में उकीरे हुए हाथी मद-रहित (गण्डस्थलों से प्रवाहित होने वाले मदजल से रहित) होते हैं। जिन्होंने मित्रभाव (विश्व के साथ मैत्रीभाव) को उसप्रकार स्वीकार किया था, जिसप्रकार रक्त कमलों के वन मित्रभाव—सूर्य के उदय को—स्वीकार करते हैं। अर्थात्—अपने विकसित होने में सूर्योदय की अपेक्षा करते हैं। जिन्होंने विग्रह-दण्ड (कायक्लेश) का उसप्रकार भली-भाँति अनुष्ठान किया था जिसप्रकार चक्रवर्ती, विग्रह-दण्ड अर्थात्—युद्ध व सैन्य-संचालन का भली भाँति अनुष्ठान करते हैं। अर्थात्—शत्रु के साथ सन्धि नहीं करते। जो दोषों (रागादि या व्रतसंबंधी-अतिचारों) से वैसे रहित थे जैसे देवताओं के शरीर दोषों (वात, पित्त व कफ) से रहित होते हैं। जिन्होंने परलोक-आगम (दशाध्यायरूप मोक्षशास्त्र या स्वर्ग-प्राप्ति) में उसप्रकार काम (प्रीति) प्रकट किया है जिसप्रकार वेश्याओं का समूह परलोकागम (कामी पुरुषों के आगमन) होने पर काम (रति विलास की लालसा) प्रकट करता है।

नीतिशास्त्रैरिव प्रकाशितशमयोगतीर्थोद्योगैः *नङ्गभोगैरिव निरुपलेपैर्घनसमयदिवसैरिव विदूरितरजोभिरखिलद्वीपदीपैरिव तमोपहचरितैर्महावाहिनीप्रवाहैरिव वीतस्पृहाप्रवृत्तिभिः स्रक्कुसुमैरिव निसर्गगुणप्रणयिभिः कुमारश्रमणमनोभिरिवासंजातमदनफलसङ्गैरखिलभुवनभद्रान्तरायनेमिभिर्मूलोत्तरगुणोदाहरणभूमिभिर्धर्मामृतवर्षजनितजगदानन्दैः सब्रह्मचारिताल्ताकन्दै-

जिन्होंने नीतिशास्त्रों के समान शम, योग व तीर्थों में उद्योग प्रकाशित किया है। अर्थात्—जिसप्रकार राजनीतिशास्त्र शम (प्रजा के क्षेमहेतुओं—कल्याण-कारक उपायों), योग (गैरमौजूद धन का लाभ) तथा तीर्थों (मंत्री, सेनापति, पुरोहित, दूत व अमात्य-आदि १८ प्रकार के राज्याङ्गों) की प्राप्ति में उद्योग प्रकाशित करते हैं उसीप्रकार जिन्होंने शम, योग व तीर्थों में उद्यम प्रकट किया था। अर्थात्—जिन्होंने ज्ञानावरणादि कर्मो के क्षय करने में, ध्यान शास्त्र के मनन में और अयोध्यादि-तीर्थों की वन्दना करने में अपना उद्यम प्रकाशित किया है। जो आकाश के विस्तार सरीखे उपलेप-रहित थे। अर्थात्—जिसप्रकार आकाश के विस्तार में उपलेप (कीचड़ का संबंध) नहीं लगता, उसीप्रकार जिनमें उपलेप (पाप-संबंध या परिग्रह-संबंध) नहीं था। जिसप्रकार वर्षा ऋतु के दिन विदूरित-रज (धूलि-रहित) होते हैं उसीप्रकार वे भी विदूरित-रज थे। अर्थात्—ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्मों से रहित अथवा चपलता से रहित थे। जिनका चारित्र सूर्य-समान तमोपह था। अर्थात्—जिसप्रकार सूर्यमण्डल तमोपह (अन्धकार विध्वंसक) होता है उसीप्रकार उनका चारित्र भी तमोपह (अज्ञानांधकार का विनाशक) था। जो महानदियों (गंगा व यमुना-आदि) के प्रवाह सरीखे वीत-स्पृहा-प्रवृत्ति थे। अर्थात्—जिसप्रकार महानदियों के प्रवाह वीत-स्पृह होते हैं। अर्थात्—चैतन्य-रहित—जड़ात्मक (ड और ल का अभेद होने से—जलात्मक) होते हैं उसीप्रकार वे भी वीत-स्पृहा प्रवृत्ति थे। अर्थात्—जिनकी विषयों की लालसा की प्रवृत्ति नष्ट हो चुकी थी। जो स्वभाव से उसप्रकार गुणप्रणयी थे। अर्थात्—वे उसप्रकार स्वतः गुण (शास्त्र ज्ञान) में रुचि रखते थे जिसप्रकार पुष्प मालाओं के पुष्प स्वतः गुण प्रणयी (तन्तुओं में गुथे हुए) होते हैं। जो कुमार काल में दीक्षित हुए साधुओं के हृदय-समान मदन फल के सङ्ग से रहित थे। अर्थात्—जिसप्रकार कुमार-दीक्षितों के हृदय (हाथों में वैवाहिक कङ्कण-बन्धन न होने के कारण) मदनफल—काम विकार—के संगम से रहित होते हैं उसीप्रकार वे भी मदन-फल (सन्तान या धतूरे के फल) के सङ्गम से रहित थे। अर्थात्—बाल-ब्रह्मचारी थे। जो समस्त पृथिवी-मंडल के भद्रकार्यों[1] (बल, धन, सुख व धर्म इनकी युगपत्प्राप्ति) में उत्पन्न हुई विघ्न बाधाओं को नष्ट करने के लिए उसप्रकार समर्थ हैं जिसप्रकार चक्रकी धाराएँ युद्ध संबंधी विघ्न बाधाओं को ध्वंस करने में समर्थ होती हैं। इसीप्रकार वे तपस्वी मूलगुणों (५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियों का वशीकरण केशलुञ्चन और ६ आवश्यक, निरम्बरत्व (नग्न रहना स्नान न करना, पृथिवी पर शयन करना, दाँतोन न करना, खड़े होकर आहार लेना, और एक बार आहार लेना इन २८ मूलगुणों—मुख्य चारित्रिक क्रियाओं—और उत्तर गुणों (उत्तम क्षमादि दश लक्षण धर्मोका अनुष्ठान, दश हजार शील के भेद, और २२ परीषहों का जय आदि) को धारण करने के लिए दृष्टान्त भूमि थे। अर्थात-स्थान भूत थे। जिन्होंने धर्मोपदेशरूप अमृत वृष्टिद्वारा समस्त पृथिवीमण्डल के प्राणियों को सुखी बनाया है। जो ब्रह्मचर्यरूप लता की मूल समान थे।

* 'अनङ्गनाभोगैरिव' इति ह० लि० प्रतिषु (क, ग, च) पाठः, आकाशविस्तारैरित्यर्थः।

१—भद्रं बलं धनं सुखं धर्मो, युगपद्भद्रमुच्यते। सटि. (ख) प्रति से संकलित— सम्पादक

श्चित्रशिखण्डिमण्डलीस्तूयमानपुण्याचरणैरन्वाचयीकृतकुस्मृतिसर्गावतरणैर्भूरिभिः पाराशरिभिरपरेण चानूचानेन श्रमणसंघेनो-पास्यमानपादमूलः, तत्रैव दिवसे तदेव पुरमनुसिसीर्षुः, घनघोरानकस्वनाकर्णनादुपयुक्तमनःप्रणिधानः, सतीष्वपि नगरे महतीषु वसतिषु पौराणामतीव प्राणिवधे संरब्धा बुद्धिरित्यवधिना बोधेनावबुद्धयावधीरितपुरप्रवेशः, पूर्वस्यां च दिशि निवेशितचक्षुः-प्रकाशः, सुरसुरभिलपनलूनाग्रभागमिव समशिखरदेशाभोगम् अमृतसिक्तोदयमिव स्निग्धदलवलयम्, इन्द्रनीलकुलकीलमिव लोचनोल्लासिशीलम्, अन्योन्यविभवसंभावनोत्कटाशयमिव परस्परव्यतिकरितकिशलयम्, अखिलविष्टपोत्पत्तिस्थानमिव गर्भित-प्रसूतप्रवर्धमानमहीरुहार्भकावस्थानम्, *अनङ्गमुनिमण्डलीविहितसहसंवासानुरोधमिव निर्दलितनिखिलाबाधम्, इतरेतर-श्रीमत्सरितमिव सकलर्तुशोभासंरम्भोचितम्,

---

जिनका पवित्र आचार चित्रशिखण्डियों[1]—मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ट ऋषियों—की मण्डली द्वारा प्रशंसा किया जारहा था एवं जिन्होंने मिथ्यामार्ग की उत्पत्ति रोक दी है। इसीप्रकार जिस सुदत्ताचार्य के चरणकमल अनूचान (द्वादशाङ्ग श्रुतधर) ऋषि, यति, मुनि व अनगार रूप चार प्रकार के श्रमण संघ से नमस्कार किये गये हैं। प्रस्तुत सुदत्ताचार्य ने उसी आगामी चैत्र शु. महानवमी के दिन उसी राजपुर नगर में संचार करने के इच्छुक होकर महाभयानक दुन्दुभि बाजों के शब्दों के श्रवणकरने से उस ओर अपनी चित्तवृत्ति प्रेरित की। 'यद्यपि राजपुर नगर में मुनियों के ठहरने योग्य विशाल वसतियाँ (चैत्यालय-आदि स्थान) हैं तथापि 'यहाँपर नागरिकों की बुद्धि प्राणि-हिंसा में विशेष प्रवृत्त होरही है, यह बात प्रस्तुत आचार्य ने अवधिज्ञान से जानी। पश्चात् नगर-प्रवेश को तिरस्कृत करके पूर्वदिशा की ओर दृष्टि-पात करते हुए उन्होंने ऐसा 'नन्दनवन' नामका उद्यान (बगीचा) देखा। जिसके शिखर देश का विस्तार सम है (ऊबड़-खाबड़ नहीं है) इसलिए जो ऐसा प्रतीत होता था मानों—जिसका अग्रभाग देवों की कामधेनुओं के मुखोंसे काटकर चबाया गया है। जिसके पत्तों के वलय (कड़े-आभूषण) स्निग्ध हैं, इसलिए जो ऐसा ज्ञात होता था मानों—जो उत्पत्ति काल में अमृत से ही सींचा गया है। जिसकी शोभा नेत्रों को आनन्दित करनेवाली है, इससे जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—इन्द्रनील मणि का पर्वत ही है। जिसके पल्लव परस्पर में मिश्रित थे, अतः जो ऐसा मालूम पड़ता था, मानों—जिसे एक दूसरे की सम्पत्ति देखने की उत्कट अभिलाषा लगी हुई है। जहाँ पर ऐसे विशाल वृक्षों के छोटे-छोटे वृक्षों की स्थिति वर्त्तमान है, जो कि अंकुरित, उद्भूत (उत्पन्न) व वृद्धिंगत होरहे थे, इसलिए जो ऐसा ज्ञात होता था मानों—समस्त पृथिवीमण्डल का उत्पत्ति स्थान ही अंकुरित, उद्भूत व वृद्धिंगत होरहा है। समस्त लोक के कष्ट दूर करनेवाला होने से वह ऐसा मालूम होता था, मानों—जिसने आकाशसम्बन्धी सप्तर्षि मण्डली या चारण ऋद्धिधारी मुनिमण्डली के साथ संगति करने का आग्रह किया है। जो समस्त छह ऋतुओं (बसन्त-आदि) की शोभा (पुष्प-फलादि सम्पत्ति की प्रकटता) के आरम्भ योग्य है। अर्थात्—जहाँ पर समस्त ऋतुओं की शोभा पाई जाती है। अतः जो ऐसा ज्ञात होता था, मानों—परस्पर की शोभा देखने में ईर्ष्या-युक्त ही है।

---

* 'अनङ्गनमुनिमण्डलीसहसंवासव्यवहारमिव' इति ह. लि. सटि. (क) प्रतौ पाठः परन्तु ह० लि० (ख, ग,) प्रतियुगले 'अनङ्गनमुनिमण्डली' इत्यादि मुद्रित सटीक प्रतिवत् पाठः। विमर्श—ह. लि. (ख, ग) प्रतियुगलस्य एवं मुद्रितसटीकपुस्तकस्य पाठः विशेषशुद्धः श्रेष्ठश्च —सम्पादक

१. तथा चाह श्रुतसागरः सूरिः—मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। वसिष्ठश्चैति सप्तैते ज्ञेयाश्चित्रशिखण्डिनः ॥१॥

अम्बरचरवसनवासकृतकुतूहलमिव गगनतलोच्छलत्पुष्पपरिमलम्, असमशरोत्सवदिवसमिव प्रसवपरागपिष्टातकितदिग्देवतासीमन्तसंतानम्, अशिशिरकरप्रणामप्रणयिनीनामगमविटपान्तरितवपुषामनिमिषयोषितामलिकतटकुड्मलितहस्तनखशुक्तिभिरिव पल्लवपुटान्तरालविनिर्गताभिः प्रसूनमञ्जरीभिरुपचितोपरितनविस्तारम्। आसन्नतरामरापगाभिषेकसंगमाद्गलद्भिः *कल्मषलवैरिव मधुकरकुलैरकलुषित† बहिःप्रकारम्, उज्जृम्भजपापुष्पसंपादितबलिमीशानमौलिमिव परिणतनाग‡रङ्गसंगतशिखम्, अभिनयागमप्रस्तारमिव तालबहुलव्यवहारम्, घनायतनमिव §मन्दारायतनम्, जीमूतवाहनचरितावतारमिव नागवल्लीविभवसुन्दरम्, मदनायुधसदनमिव संनह्यमानबाणासनम्, मकरध्वजाराधनप्रसाधितगात्रैर्मयूरबर्हातपत्रैरिव पूगतरुभिः श्यामलितदिक्पालनिलयम्;

जिसके पुष्पों की सुगंधि आकाश-मंडल पर ऊँचे उड़ रही है, इसलिये जो ऐसा प्रतीत होता था, मानों—देवताओं के वस्त्रों को सुगन्धित करने के लिए ही जिसे उत्कण्ठा उत्पन्न हुई है। जिसने पुष्पों की पराग द्वारा दिशारूपी देवियों का केशपाश-समूह सुगन्धि चूर्ण से व्याप्त किया है। अतः वह ऐसा मालूम होता था, मानों—कामदेव का महोत्सव दिन ही है। जिसके उपरितन प्रदेश का विस्तार किशलयपुटों के मध्यभाग से उत्पन्न हुई ऐसी पुष्पमञ्जरियों से व्याप्त है, जो ऐसीं प्रतीत होतीं थीं— मानों—सूर्य को नमस्कार करने में स्नेह रखनेवाली व वृक्षों की शाखाओं में अपने शरीर छिपानेवाली देवियों के ललाटपट्टों पर कुड्मलित किये हुए हस्तों की नखशुक्तियाँ ही हैं। जिसका बाह्यप्रदेश ऐसे भ्रमर-समूहों द्वारा श्यामलित (कृष्ण वर्णयुक्त) किया गया था, जो ऐसे प्रतीत होते थे मानों—निकटवर्ती आकाशगङ्गा में स्नान करने के फलस्वरूप नष्ट होते हुए पापकण ही हैं। जिसका अग्रप्रदेश पकी हुई नारङ्गियों से व्याप्त हुआ उसप्रकार शोभायमान होता था जिसप्रकार विकसित जपापुष्पों द्वारा जिसकी पूजा की गई है, ऐसा महेश्वर-मुकुट शोभायमान होता है। जो उसप्रकार तालबहुलव्यवहार (ताड़वृक्षों की प्रचुरप्रवृत्ति-युक्त) है जिसप्रकार संगीतशास्त्र का विस्तार [1]ताल-बहुलव्यवहार (कालक्रिया के मान की विशेष प्रवृत्ति-युक्त—द्रुत-विलम्बित-प्रवर्तन) होता है। जो उसप्रकार मन्दार-आयतन (पारिजातवृक्षों का स्थान) है जिसप्रकार आकाश मन्द-आर-आयतन (शनैश्चर व मङ्गल का स्थान) होता है। जो उसप्रकार नागवल्ली-विभव-सुंदर (ताम्बूललताओं—पनवेलों—की सघनता से मनोहर) है जिसप्रकार जीमूतवाहन[2] (विद्याधरविशेष) के चरित्र का अवतार (कथासम्बन्ध) नागवल्ली-विभव-सुन्दर (सर्प श्रेणियों की रक्षा करने के फलस्वरूप मनोज्ञ) है। जो उसप्रकार संनह्यमान बाणासन (जहाँपर बीजवृक्ष व शालवृक्ष परस्पर में मिल रहे हैं) है जिसप्रकार कामदेव की आयुधशाला संनिह्यमान-बाणासन (आरोप्यमाण—चढ़ाई हुई डोरीवाले—धनुष से युक्त) होती है। जिसमें ऐसे सुपारी के वृक्षों द्वारा राजभवन श्यामलित (श्यामवर्णवाले) किये गये हैं, जो ऐसे प्रतीत होते थे, मानों—जिनके शरीर कामदेव की पूजा-विधि के लिए रचे गये हैं ऐसे मयूर-पिच्छों के छत्र ही हैं। अर्थात्—जो सुपारी के वृक्ष मयूरपिच्छ की शोभा उत्पन्न करते थे।

---

* 'कलुषलवैरिव' इति (क) प्रतौ। † 'वहिः प्रकाराडम्बरम् (क) प्रतौ। ‡ 'नारंगसंगतशिखम्' इति (क) प्रतौ।

§ 'मन्दारसारं (क, घ, च,) प्रतिषु ललितपाठः। टिप्पण्यां—मन्दारवृक्षः पक्षे मन्दः शनैश्चरः आरः मंगलः इति समुल्लिखितं। निष्कर्ष—टीकापेक्षया एवं मूलपाठापेक्षयाऽर्थभेदो नास्ति।

१. उक्तं च—तालः कालक्रियामानं लयः साम्यमुदाहृतं. टि० प्रति (क) से संकलित—

२. जीमूतवाहन नाम के विद्याधर ने दयालुता-वश गरुड़ के लिए भक्षणार्थ अपना शरीर अर्पण किया था, जिसके फलस्वरूप गरुड़ ने सर्प भक्षण नहीं किये, अतः उसने सर्पों की रक्षा की। संस्कृत टी. पृ. ९५ से संगृहीत—सम्पादक

अपि च क्वचिदक्षोलजालनिर्जितखर्जूरफलपलिचेक्लिमतारुणितदिविजविमानचन्द्रशालम्, क्वचिल्लवलीदलोड्डमरडम्बर-चुम्बितजम्बीरासरालम्, क्वचिदश्वत्थोत्थानकदर्थितकपित्थस्कन्धम्, क्वचिन्नमेरुविराजितराजादनासीनपुरसुन्दरीगणगीयमानमनसिजविजयप्रबन्धम्, क्वचित्खेचरावतरणपतत्संतानकुम्पलसंवलितपारिजातलतान्तम्, क्वचित्परमतपश्चरणोपार्जितैः सुकृतैरिव महाफलप्रदायिभिः पनसपादपैरुपरुद्धपर्यन्तम्, क्वचिद्वनलक्ष्मीस्तनमिवात्मीयकान्तिजनितनीलहरिद्वदनमुद्यानमपश्यत् ॥

किं च—यद्वृन्तगलितैः पुष्पैरुपहारमुपाहरत् । तारोल्लासिनभःशोभां बिभर्त्यावालभूमिषु ॥६९॥

यत्प्रान्तपल्लवोल्लासिप्रसूनच्छन्नसंचयम् । दधातीन्दुमणिद्योतिपद्मरागाचलश्रियम् ॥७०॥

यत्र च मधुकरकुटुम्बिनीनिकुरम्बाडम्बरचुम्ब्यमानमकरन्दकदम्बस्तम्बविलम्बितनिजनितम्बिनीबिम्बाधरपानपरवश-विलासिनि, सुरतसुखोन्मुखमुखरपरिखेलत्सखीसखानेकखगप्रेङ्खन्नखमुखावलिख्यमानफलितशिखरैः समीपशाखिभिः स्खलित-

---

प्रस्तुत उद्यान में और भी कुछ विशेषताएँ हैं—जहाँपर किसी स्थान पर अक्षोलों (अखरोट वृक्षों) के समूह सरीखे पिण्डखजूर-वृक्षों के फलों की स्वयं पच्यमानता (पकना) द्वारा देवविमानों के शिखर-स्थान अरुणित-अव्यक्त राग युक्त—किये गए हैं। किसी स्थान पर जो लवङ्ग वृक्ष के पत्तों के उत्कट विस्तार से स्पर्श किये हुए जम्बीर वृक्षों से सघन या व्याप्त है। जहाँ, किसी स्थान पर पीपल वृक्षों के उत्थान (वृक्ष के ऊपर वृक्ष उत्पन्न करने) से कपित्थ वृक्षों के स्कन्ध पीड़ित किये गये थे। किसी प्रदेश पर जहाँ पर पारिजात वृक्ष से सुशोभित क्षीरि वृक्षों (वट-वृक्ष-आदि) की जड़ों पर बैठी हुई देवियों के समूह द्वारा कामदेव का विजय-प्रबन्ध गाया जारहा था। किसी स्थान पर जहाँ पर विद्याधरों के आगमन-वश टूट रहे वृक्ष विशेषों को कोमल पल्लवों से नमेरु वृक्षों के पुष्प मिश्रित हो गए थे। किसी स्थान पर जिसकी आगे की भूमि विशाल फल देनेवाले पनस वृक्षों से व्याप्त थी और जो पनस वृक्ष उस प्रकार विशिष्ट फल (महान् फल) देते थे जिसप्रकार चिरकालीन तपश्चर्या से उत्पन्न हुए पुण्य-विशेष विशिष्ट फल (स्वर्गादि के सुख) देते हैं। किसी स्थान पर जिसने अपनी कान्ति द्वारा दिङ्मण्डल को उसप्रकार श्यामलित (नील वर्ण) किया था जिसप्रकार वनलक्ष्मी का कुच अपनी कान्ति द्वारा दिङ्मण्डल को श्यामलित करता है[1]।

डँठलों से नीचे गिरे हुए पुष्पों द्वारा मानों—सुदत्ताचार्य की पजा करता हुआ वह उद्यान (पुष्पों से व्याप्त) क्यारियों की पृथिवियों पर ताराओं से प्रकाशमान आकाश की शोभा (तुलना) धारण करता है[2] ॥६९॥ जिसका समूह या अपचय ऊपर के पल्लवों पर शोभायमान होनेवाले पुष्पों से आच्छादित है, ऐसा वह बगीचा, चन्द्रकान्त मणियों से शोभायमान पद्मराग मणियों के पर्वत की शोभा—उपमा—धारण करता है[3] ॥७०॥

ऐसे जिस बगीचे में कामी पुरुष कमनीय कामिनीजन के साथ क्रीड़ा करते हैं। कैसा है वह बगीचा? जहाँ पर विलासी पुरुष अपनी कमनीय कामिनियों के बिम्बफल-सरीखे ऐसे ओष्ठों के पान करने में पराधीन हैं, जो कि भँवरियों के समूह द्वारा आस्वादन किये जारहे अत्यधिक पुष्परस के गुल्म सरीखे हैं। जहाँपर यज्ञ में तत्पर वानप्रस्थ तपस्वियों का चित्त निकटवर्ती ऐसे वृक्षों द्वारा ध्यान से विचलित किया गया था, जिनके फलशाली शाखाओं के अग्रभाग, ऐसे पक्षियों के चलाए जारहे नखों और चोचों द्वारा चोंटे जारहे थे, जो कि रतिक्रीड़ा संबंधी सुख में उत्कण्ठित, मञ्जुल शब्द करनेवाले, चारों ओर से क्रीड़ा करते

---

१. उत्प्रेक्षा, श्लिष्टोपमा-आदि संकरालंकार। २. उत्प्रेक्षालंकार व उपमालंकार। ३. उपमालंकार।

प्रसंख्यानमखसंमुखीनवैखानसमानसे, कितवसहचरोपरचितकरवाद्यलयलास्यमानमधुमत्तसीमन्तिनीसमालोकनकुतूहलमिलद्वन-देवताभराभुग्नककुभविटपिनि, वटविटपविटङ्कसंकटकोटरोपविष्टवाचाटशुकपेटकपठ्यमानेन विटवि*कटरताटोपचाटुपाटवेन विघट-मानमुनिमनःकपाटपुटसंधिबन्धे, विकिरकुलकलहवशविशीर्यमाणकुरबकतरुमुकुरमुक्ताफलितवितर्दिकाबलिकर्मणि, चपलकपि-संपातलुप्तमानभराभिर्निर्भरविभ्रमारम्भसंभ्रमाभिर्भामिनीभिः परिरभ्यमाणनिभृतसरसापराधवल्लभे, भुजमूलपुलकवितरणकान्त-कैतवान्तरायितयुवतिपुष्पावचायिनि, सरलद्रुमस्तम्भसंभृतलताशोकततिविनिर्मितासु पीनस्तनलिखितपत्त्रलाञ्छितोरःस्थलरमण-रसरभसोच्छलदुत्तालचलनासु लीलान्दोलासु विलसन्तीनां विलासिनीनां मुखरमणिमेखलाजालवाचालिमबहलपञ्चमालसि-पल्लवितविरहवीरुधि, जम्बूकुञ्जकुञ्जगुञ्जत्पारापतपतङ्गसंदीपितमदनमदद्रिद्रितसुन्दरीसंभोगहुतवहे, कदलीदलातपत्रोत्तम्भनभार-भरितभर्तृभुजाभोगसंभावनविकटकुचकुम्भमण्डलानामितस्ततो विहरन्तीनां रम्भोरूणामनवरतझणझणायमानमणिमञ्जीरशि-

हुए, अपनी पक्षिणियों के साथ स्थित हुए व नाना प्रकार के थे। जहाँ पर ऐसी वन-देवताओं (व्यन्तरियों) के भार-वश अर्जुन वृक्ष भग्न किये गये थे, जो कि मद से मत्त हुई ऐसी कमनीय कामिनियों के देखने की उत्कण्ठा-वश वहाँ पर एकत्रित होरही थीं, जो धूर्त (विलासी) पतियों द्वारा किये हुए हस्त-ताल के लय (क्रियासाम्य) से नचाई जारही थीं। जहाँ पर भाड़-आदि कामी पुरुषों की विस्तृत काम-क्रीड़ा विशेष रूपसे प्रकट होरही थी और उसकी ऐसी मिथ्या-स्तुति-पटुता द्वारा मुनियों के मनरूप कपाट-युगल का सन्धिवन्ध (जुड़ाव) टूट रहा था, जो ऐसे तोतों के झुण्डों द्वारा उच्चस्वर से गान की जारही थी, जो कि वटवृक्ष की शाखा के विटङ्क (पल्लवों से उन्नत अग्रभाग) की संकोचपूर्ण कोटर में स्थित हुए बहुगर्हा शब्द कर रहे थे। जहाँपर पक्षियों के झुण्ड के कलह-वश कुरवक वृक्ष की छोटी-छोटी अर्ध-विकसित पुष्पों की उज्वल कलियाँ गिर रही थीं; जिसके फलस्वरूप वह ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—जहाँपर मोतियों की श्रेणि-सहित वेदी की पूजा का विधान ही वर्तमान है। जिनके अभिमान का भार चपल बन्दरों के आगमन से नष्ट होचुका था और जो बन्दर द्वारा किये हुए अत्यन्त भौंहों के संचालन के प्रारम्भ से भयभीत होचुकी थीं ऐसी कोप करने वाली स्त्रियों द्वारा जहाँ पर ऐसा पति आलिङ्गन किया जारहा था, जो कि मौनी, नम्र था एवं जिसने तत्काल अपनी पत्नी का अपराध किया था। जहाँपर भुजाओं के मूल (छाती) पर हस्ताङ्गुलियों के रखने में तत्पर हुए पति के छल से युवती रमणियों के पुष्प-चुण्टन में विघ्न-बाधा उपस्थित कीगई थी। जहाँपर नवयुवती रमणियाँ ऐसे क्रीड़ा करने के झूलों से विलास करती थीं—उन्हें उतारती और चढ़ाती थीं; जो कि देवदारु के वृक्षरूप खम्भों पर बँधी हुई लताओं और मञ्जुल वृक्षों की श्रेणियों से रचे गए थे और उन नवयुवतियों के कठिन कुचकलशों पर कीहुई पत्ररचना से शोभायमान हृदय मण्डल संबंधी संभोग क्रीड़ा रस की उत्कण्ठा-वश जिनमें उनके शीघ्रगामी चरण कमल उछल रहे थे। जहाँपर उन नवयुवती कामिनियों की मधुर शब्द करनेवाली मणिमयी करधोनी-श्रेणियों की शब्द बहुलता-वश द्विगुणित किये हुए पञ्चम राग विशेष (सप्तम स्वर) से विरहरूप लता पल्लवित (वृद्धिंगत) कीगई थी।

जहाँपर जम्बूवृक्षों के कुञ्जों (लताओं से आच्छादित प्रदेशों) में मधुर शब्द करते हुए कबूतर पक्षियों से उद्दीपित हुए कामाग्निक द्वारा कामिनियों की रतिविलास रूप अग्नि तिरस्कृत कीगई थी। जहाँपर केले सरीखे जंघावाली और यहाँ-वहाँ घूमनेवाली ऐसी कमनीय कामिनियों के निरन्तर झुन झुन रूप मधुर शब्द करनेवाले पाँच प्रकार के माणिक्यों से जड़े हुए सुवर्णमय नूपुरों (घुघरुओं—चरण-आभूषणों) के अव्यक्त व मधुर शब्दों द्वारा जलक्रीड़ावाली वावड़ियों की कलहँसश्रेणी किंकर्तव्यविमूढ़ की गई थी,

* 'विकटतर' इति (क) प्रतौ।

ञ्जिताकुलितजलकेलिदीर्घिकाकलहंससंसदि, रमणरतनिरतवनितारतिरसोत्सेकविचलद्विकचविचकिलप्रालम्बामोदसुरभितसुभग-भुजङ्गनाभीवलभिगर्भे, तमालदलनिर्यासरसपूरितकरकिशलयपुटेन यमितनखलेखनीधारिणा खचरनिचयेन रच्यमानसहचरी-कपोलफलकतलतिलकविचित्रपत्रभङ्गिनि, खलरताभियुक्तकुट्टहारिकातालुतलोत्तरलतररुतोड्डायितनिष्कुटमूलबिलनिलीनोलूक-बालकालोकनाकुलकाकोलकुलकोलाहलकाहले, बहलकोकिलप्रलापगलितलज्जस्य निसर्गादुत्तालतरसुरतसंरम्भिणः पण्याङ्गना-जनस्य कलगलोल्लसल्लोहलोल्लपितानुलपनपरसारिकाशावसंकुलकुलायकलापकण्ठजरठिताभिनवाङ्गनारतिचेतसि, *माकन्द-मञ्जरीमकरन्दबिन्दुस्यन्ददुर्दिनेन मुचकुन्दमुकुलपरिमलोल्लासिना प्रचलाकिकुलकलापसीमन्तोचितेन वातचातकेनाचम्यमान-सुरतश्रमखिन्नखेचरीपयोधरमुखलुलितघनघर्मजलमञ्जरीजाले, निधुवनविधिविधुरपुरन्ध्रकाधरदलदयितदीयमानाननचषकचारित-दर्दरीकबीजसीधुनि, पुण्ड्रेक्षुकाण्डमण्डपसंपातिनीभिः पिङ्गपरिषद्भिश्चण्डतरमुड्डमरितडिण्डिमारवाकाण्डताण्डवितशिखण्डि-मण्डले,

जिनके कुचकलशों का विस्तार केले के पत्तारूप छत्र के उच्चलन भार से व्याप्त हुए पतिके बाहु-मण्डल की विनय (हस्त द्वारा भुकाने) करने से प्रकट दिखाई देता था जहाँपर विपरीत मैथुन में तत्पर हुई कमनीय कामिनी की भोग संबंधी रागकी अधिकता के फलस्वरूप विकसित मोगर-पुष्पों की घुटनों तक लम्बी पुष्पमाला टूट गई थी और उसकी मनमोहनी सुगन्ध द्वारा सौभाग्यशाली कामी पुरुषों की नाभिरूपी वलभी (छज्जा) का मध्यभाग सुगन्धित किया गया था। जहाँपर ऐसे विद्याधर-समूह द्वारा समर्पित किये जानेवाले विद्याधरियों की गाल-स्थली रूप पट्टिका के ऊपर तिलक से विद्याधरियों के गालों पर की हुई पत्र रचना विचित्र (चमत्कार जनक) प्रतीत होती थी, जिसने अपना हस्तपल्लव पुट तमाल के पत्तों से निकाले हुए रससे व्याप्त किया था और जो बनाई हुई नखरूप लेखनी का धारक था। जिसमें ऐसे उलूक-बच्चे के देखने से विह्वल हुई काकपक्षियों की श्रेणी के कल कोलाहल से अस्फुट शब्द वर्तमान था, जो दुर्जन की संभोग क्रीड़ा की अधिकारिणी और जलसे परिपूर्ण घट को धारण करनेवाली दासी के तालुतलसे उत्पन्न हुए उत्कण्ठित शब्द द्वारा उड़ाया गया था और वृक्ष की मूल में वर्तमान छिद्र में गुप्तरूप से स्थित था। जहाँपर ऐसे वृक्ष के समीप, जिसमें ऐसे घोंसले थे जो कि कोकिल प्रलाप (निरर्थक शब्द) द्वारा नष्ट लज्जावाली व स्वभावतः विशेष उत्कण्ठा पूर्वक काम सेवन में तत्पर हुई वेश्याओं के मधुर कण्ठ से प्रकट हुए अस्पष्ट शब्द को बार-बार उच्चारण करने में प्रयत्नशील तोतों के बच्चों से भरे हुए थे, बाला (षोडशी) स्त्री की रतिविलास संबंधी मनोवृत्ति विशेष प्रौढ़ होचुकी थी। जहाँपर मैथुन के खेद से दीनता को प्राप्त हुई विद्याधरियों के कुच कलशों के अग्रभागों पर लोटते हुए प्रचुर प्रस्वेद-जलों के मञ्जरी-जाल (वल्लरी-समूह) ऐसे वायुरूप चातक (पपीहा) द्वारा आस्वादन किये जारहे थे, जो विशेष सुगन्धि आम्रवृक्ष की पुष्पवल्लरियों के पुष्परस संबंधी बिन्दुओं के क्षरण से धूसरित एवं मुचकुन्दों (माघ पुष्पों) की कलिकाओं के मर्दन-वश उत्पन्न हुई सुगन्धि से सुशोभित और मयूर मण्डलों के पंख समूह रूप केशपाशों से योग्य था। भावार्थ—उक्त तीनों विशेषणों द्वारा क्रमशः वायु की शीतलता, सुगन्ध व मन्द-मन्द संचार का निरूपण समझना चाहिए। इसीप्रकार जहाँपर मैथुन क्रीड़ा की कामशास्त्रोक्त विधिसे पीड़ित किए हुए नवयुवतियों के ओष्ठ पल्लवों पर ऐसा दाडिमबीज रूप मद्य वर्तमान था, जो कि पति द्वारा आरोपित किया जा रहा मुखरूप पानपात्र से संयोजित किया गया था। पीत इक्षु की प्रकाण्डशाला में प्राप्त हुए कामुक पुरुष-समूह द्वारा तेजी से ताड़े गए नगाड़ों के वृद्धिंगत शब्दों को सुनकर जहाँपर मयूर-मण्डल का असमय में ताण्डव नृत्य होरहा था। भावार्थ–

* 'माकन्दबिन्दुस्यन्ददुर्दिनेन' इति (ग) प्रतौ। टिप्पण्यां तु A. आम्र। B. प्रवाह। C. मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनमित्यमरः इति लिखितं।

मृद्वीकाफलगलनचटुलकामिनीकरवलयमणिमरीचिमेचकितकिंकिरातराजिनि, नारिकेरफलसलिलविलुप्यमानमिथुनमन्मथकलहावसानपयःपानातुच्छवाञ्छे, कन्दुकविनोदव्याजावस्तारितविभ्रमेण तरुणजनसंनिधानविवृद्धश्रृङ्गारमत्सरेण भ्रमिविभ्रमोद्भ्रान्तभासत्परिमलमिलन्मिलिन्दसुन्दरीसंदोहमण्डितापाङ्गपातेन बिब्बोकिनीसमाजेन यावकारुणचरणपाटलितबकुलालवालभूमिनि रजनिरसपिञ्जरितकुचकलशमण्डलाभिर्महीरुहनिवहमहिलाभिरिव परिपाकपेशलफलविनतमध्याभिर्बीजपूरवल्लरीभिरपराभिश्च वृक्षौषधिवनस्पतिलताभिरतिरमणीये, नरखचरामराणां मिथः संभोगलक्ष्मीमिव दर्शयति निखिलभुवनवनानां श्रियमिवादाय जातजन्मनि, रोध्रपरागवैध्यनीरन्ध्रितकेतकीरजःपटलनिर्मलितकपोलदर्पणेन विविधकुसुमदलविनिर्मितललामकर्मणा कुटजकुड्मलोल्बणमल्लिकानुगतकुन्तलकलापेन तापिच्छगुलुच्छविच्छुरितशतपत्रीस्रक्सनद्धचिकुरभङ्गिना मरुबकोद्भेदविदर्भितदमनकाण्डशिखण्डितकेशपाशेन प्रियालमञ्जरीकणकलितकर्णिकारकेसरविराजितसीमन्तसंततिना

क्योंकि वहाँपर नगाड़े की ध्वनि में मयूरों को मेघगर्जना की भ्रान्ति होती थी, अतः वहाँपर उनका असमय में ताण्डव नृत्य होरहा था। जहाँपर कमनीय कामिनियों के कर द्राक्षाफलों के खाने में चञ्चल हो रहे थे, इसलिए उनके हस्तकङ्कणों के मणियों की किरण-श्रेणी द्वारा जहाँपर कुरण्टक (पीली कटैया) वृक्षों की पंक्ति चित्र विचित्र वर्णवाली कीगई थी। स्त्री पुरुषों के जोड़े को कामदेव की कलह के अन्त में जो जल पीने की उत्कट इच्छा होती थी उसकी वह प्यास जहाँ पर नरियल फलों का पानी पीने द्वारा शान्त की जाती थी। यहाँ पर ऐसी श्रृङ्गार चेष्टा-युक्त कमनीय कामिनियों के समूह द्वारा बकुल वृक्षों की क्यारियों की भूमि, लाक्षा रस से अव्यक्त राग वाले चरण कमलों के स्थापन से पाटलित (श्वेत रक्त वर्ण वाली) की गई थी, जिसने गेंद खेलने के बहाने से अपनी भुकुटि का संचालन प्रकट किया था और नवयुवकों के समीप में आने से जिसको अपना शरीर श्रृङ्गारित करने का मत्सर—द्वेष—विशेष रूप से उत्पन्न हुआ था एवं कम्पित भ्रुकुटि के क्षेप से शोभायमान मुख की सुगन्धि-वश एकत्रित हुई भँवरियों के समूह से जिसका कटाक्ष विक्षेप विभूषित हो रहा था।

जो, पके हुए मनोहर फलों से विशेष नम्रीभूत मध्य भाग वालीं मातुलिङ्ग लताओं से जो ऐसी प्रतीत होती थीं—मानों—हल्दी के रस से पीत रक्त कुच कलश मण्डलों से शोभायमान वृक्ष-समूह की स्त्रियाँ ही हैं—एवं दूसरे वृक्षों (पुष्प-फल-सहित आम्रादि वृक्ष), औषधियों (फलपाकान्त कदली वृक्षादि औषधियाँ), वनस्पतियों (फलशाली वृक्ष) और लताओं अत्यन्त रमणीक था[1]। इससे जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—मनुष्य, विद्याधर और देवताओं को परस्पर में काम क्रीड़ा की लक्ष्मी का दर्शन ही करा रहा है और मानों—समस्त तीन लोक के बगीचों की लक्ष्मी को ग्रहण करके ही इसने अपना जन्म धारण किया है। कैसा है वह कमनीय कामिनीजन? जिसका गाल रूपी दर्पण, अर्जुन वृक्ष की पुष्प-पराग की शुभ्रता से सर्वत्र व्याप्त हुए केतकी पुष्पों की पराग-समूह से माँजा गया था। जिसने अनेक प्रकार के फूलों के पत्तों से विशेष रूपसे तिलक रचना की थी। जिसका केशपाश, इन्द्रजौ वृक्ष के पुष्पों की कलियों से व्याप्त हुए मल्लिका पुष्पों से सुसज्जित था। जिसकी केशरचना तमाल वृक्ष संबंधी पुष्पों के गुच्छों से शोभायमान होने वाली सेवन्ती पुष्पों की माला से बँधी हुई थी। जिसका केशपाश सुगन्धि पत्र-मञ्जरियों से गुँथे हुए सुगन्धि पत्तों वाले पुष्प गुच्छों से मुकुटित था। जिसका केश-पाश प्रियाल वृक्ष की मञ्जरियों के पुष्प समूहों से संयुक्त हुए कर्णिकार पुष्पों की पराग-पुञ्ज से विशेष रूप से सुशोभित था।

१. तथा चोक्तं—'फली वनस्पतिर्ज्ञेया वृक्षाः पुष्पफलोपगाः। औषध्यः फलपाकान्ताः वल्लयो गुल्माश्च वीरुधः ॥'
संस्कृतटीका पृ. १०५ से समुद्धृत—सम्पादक

चम्पकचितविकचकचनारविरचितावतंसेन माधवीप्रसूनगर्भगुम्फितपुन्नागमालाविलासिना रक्तोत्पलनालान्तरालमृणालवलया-कुलसकोटेन सौगन्धिकानुबद्धकमलकेयूरपर्यायिणा सिन्दुवारसरसुन्दरकदलीप्रवालमेखलेन शिरीषवशबाणकृतजङ्घालङ्कारचारुणा मधुकानुविद्धबन्धूकघटतनूपुरभूषणेन अन्यासु च तासु तासु कामदेवकिलकिञ्चितोचितासु क्रीडासु बद्धानन्देन सुन्दरीजनेन सह रमन्ते कामिनः ॥

तदेवमनेकलोकोत्पादितप्रत्ययायाः पुरदेव्याः सिद्धायिकायाः सर्वसत्वाभयप्रदावासरसं स्मरसौमनसं नामोद्यानमवलोक्य,

प्रह्वारतम्बनितम्बिनी* रतिकथाप्रारम्भचन्द्रोदयाः कामं ×कामरसावतारविषयव्यापारपुष्पाकराः ।

प्रायः प्राप्तसमाधिशुद्धमनसोऽप्येते प्रदेशाः क्षणात्स्वान्तध्वान्तकृतो भवन्ति तदिह स्थातुं न युक्तं यतेः ॥७१॥

इति च वितर्क्य, मनागन्तः स्तिमितमानसः प्रसरदनेकवितर्करसः सकलजगदाघातघटनाघस्मरः स्मरः खलु श्मशा-नवासिनमप्यानयत्यात्मनो निदेशभूमिम्, किं पुनर्न गोचरपतितम्,

---

जिसने अपना कर्णपूर चम्पा पुष्पों से व्याप्त हुए विकसित कचनार पुष्पों से रचा था। जो माधवीलता के पुष्पों के मध्य में गुँथे हुए पुन्नाग पुष्पों की मालाओं से विभूषित था। जिसकी भुजाएँ लाल कमल की नाल के मध्य में वर्तमान पद्मिनी-कन्द के कङ्कण से अलङ्कृत थीं। जो लाल कमलों के मध्य में गुँथे हुए श्वेत कमलों के केयूरों (भुजबन्ध आभूषणों) से अलङ्कृत था। जिसकी कदली लताओं के कोमल पत्तों की कटिमेखला (करधोनी) सिन्दुवार (वृक्ष विशेष) के पुष्पों के हार से मनोहर प्रतीत होती थी। जो शिरीष पुष्पों के बीच में गुँथे हुए झिण्टी पुष्पों से रचे हुए जङ्घा-संबंधी आभूषण से रमणीक था। जिसने मधुक पुष्पों के मध्य में गुँथे हुए बन्धु-जीव पुष्पों से नूपुर आभूषण की रचना की थी एवं जो दूसरी ऐसी जगत्प्रसिद्ध क्रीड़ाओं में आनन्द मानता था, जो कि कामदेव के हर्ष पूर्वक गाए हुए गीतादि विलास के मिश्रण से योग्य थीं[1]।

प्रस्तुत सुदत्ताचार्य ने इसप्रकार अनेक लोगों को विश्वास उत्पन्न करानेवाली सिद्धायिका (महावीर-शासनदेवता) नाम की राजपुर नगर की देवी के ऐसे 'स्मरसौमनस' नामक बगीचे को, जहाँपर समस्त प्राणियों को अभयदान देनेवाला अनुराग पाया जाता है, देखकर कुछ आभ्यन्तर में निश्चल चित्तवृत्तिवाले और अनेक विचारधाराओं के अनुराग से युक्त होते हुए उन्होंने अपने मन में निम्नप्रकार विचार किया— ये पूर्वोक्त बगीचे की ऐसी भूमियाँ, जो कि तीन लोक की कमनीय कामिनियों की रतिविलास सम्बन्धी कथाओं के कहने का उसप्रकार प्रारम्भ करती हैं जिसप्रकार चन्द्रोदय होनेपर रतिविलास सम्बन्धी कथा का प्रारम्भ होता है। एवं जो, यथेष्ट कामरस को उत्पन्न करनेवाली संभोगक्रीडा में उसप्रकार प्रेरित करतीं हैं जिसप्रकार बसन्त ऋतु कामोद्दीपक संभोग-क्रीड़ा में प्रेरित करती है, ऐसे संयमी साधु के भी चित्त में प्रायः करके मुहूर्तमात्र में राग उत्पन्न करती हैं, जिसकी चित्तवृत्ति, स्वाधीन किये हुए शुद्धोपयोग के कारण विशुद्ध होचुकी है। अतः साधु को ऐसी रागवृद्धि करनेवाली उद्यानभूमियों पर ठहरना उचित नहीं[2] ॥७१॥

क्योंकि यह कामदेव समस्त तीन लोक के प्राणियों पर निष्ठुर प्रहार की रचना करने के फलस्वरूप सर्वभक्षक है। इसलिए जब यह निश्चय से श्मशानभूमि पर रहनेवाले मानव को भी अपनी आदेशभूमि पर प्राप्त करा देता है तब फिर कामोद्दीपक उद्यानभूमि पर रहनेवाले का तो कहना ही क्या है? अर्थात्

---

१. समुच्चयालङ्कार। २. उपमालङ्कार।

* 'रतिरसोल्लासामृतांभोधराः'। × 'कामशरप्रचारचतुरव्यापारपुष्पाकराः'। इति ह. लि. सटि. (क) प्रतौ पाठः।

A. वसन्तमासाः।

८

मनो हि केवलमपि स्वभावतो विषयाटवीमवगाहते, किं पुनर्न लब्धानङ्गशृङ्गारप्रदेशम्, कथापि खलु कामिनीनां चेतो विभ्रमयति, किं पुनर्न नयनपथमुपगतस्तासां संभोगसंभवः केलिप्रबन्धः; करणानि तु नियमनियन्त्रितान्यपि स्वच्छन्दं विजृम्भन्ते, किं पुनर्न प्राप्तस्वविषयवृत्तीनि; बोधाधिपतिराकाशेऽपि संकल्पराज्यमारचयति, किं पुनर्न पर्यवसितबहिःप्रकृतिः; वयोऽपि न यमस्येव मनसिजव्यापारस्य किंचित्परिहर्तव्यमस्ति प्रत्युतावानेष्विन्धनेषु वह्निरिव नितान्तं ज्वलति वृद्धेषु मकरध्वजः, तच मनो महामुनीनामपि दुर्लभं यत्र कुलिशे घुणकीट इव प्रभवितुं न शक्नोति विषयवर्गः, श्रूयते हि किलालक्ष्यजन्मनो दक्षसुतानां जलकेलिविलोकनात्तपःप्रत्यवायः, पितामहस्य तिलोत्तमासंगीतकात्, कैवर्तीसंगमात् पाराशरस्य, रथनेमेश्च नटीनर्तनदर्शनात्।

अपि च— क्षीणस्तपोभिः क्षपितः प्रवासैर्विध्यापितः साधु समाधितोयैः।

तथापि चित्रं ज्वलति स्मराग्निः कान्ताजनापाङ्गविलोकनेन ॥७२॥

उसे तो अवश्य ही कामी बनाकर रहेगा। मानवों की चित्तवृत्ति जब स्वभाव से पञ्चेन्द्रियों की विषयरूप अटवी में प्रविष्ट होती है तब कामवर्द्धक व शृङ्गारयुक्त स्थान को प्राप्त करनेवाले की चित्तवृत्ति का तो कहना ही क्या है। जब स्त्रियों की कथामात्र भी चित्त को चलायमान करती है, तब रतिविलास सम्बन्धी उनकी कामक्रीड़ाओं की श्रेणी स्वयं प्रत्यक्ष देखी हुई क्या चित्त को चलायमान नहीं करेगी? अवश्य करेगी। जब चक्षुरादिक इन्द्रियाँ व्रतरूप बन्धनों से बँधी हुई होने पर भी अपने विषयों की ओर स्वच्छन्दतापूर्वक बढ़ती चली जाती हैं तब अपने-अपने विषयों को प्राप्त कर लेने पर क्या उनकी ओर तीव्रवेग से नहीं बढ़ेंगी? अवश्य बढ़ेंगी। जब यह आत्मा शून्य स्थान में भी संकल्प राज्य स्थापित कर देता है तब फिर बाह्यप्रकृति (स्त्री अथवा राज्यपक्ष में मंत्री) को प्राप्त करके क्या यह संकल्प-राज्य नहीं बनायगा? अपितु अवश्य बनायगा। कामदेव के व्यापार द्वारा बाल, कुमार, तरुण और वृद्ध अवस्था में वर्तमान कोई भी मानव उसप्रकार नहीं छूट सकता जिसप्रकार यमराज द्वारा किसी भी उम्र का प्राणी नहीं बच सकता। भावार्थ—जिसप्रकार यमराज, बाल व कुमार-आदि किसी भी अवस्थावाले मानव को घात करने से नहीं चूकता, उसीप्रकार कामदेव भी बाल व कुमार आदि किसी भी अवस्थावाले मानव को कामाग्नि से संतप्त किये बिना नहीं छोड़ता। विशेषता तो यह है—वृद्धों में कामदेव उसप्रकार अधिक प्रज्वलित होता है जिसप्रकार सूखे ईंधन में अग्नि अत्यधिक प्रज्वलित होती है। वह विशुद्ध (राग, द्वेष व मोह-रहित) मन, जिसे पंचेन्द्रियों के विषय-समूह (स्पर्श व रसादि) उसप्रकार पराजित करने में समर्थ नहीं हैं जिसप्रकार घुण-कीट वज्र को भक्षण करने में समर्थ नहीं होता, महामुनियों को भी दुर्लभ है। उदाहरणार्थ—निश्चय से सुना जाता है कि दक्षप्रजापति की कमनीय कन्याओं की जलक्रीड़ा देखने से शङ्करजी की तपश्चर्या दूषित हुई एवं तिलोत्तमा नाम की स्वर्ग की वेश्या का संगीत (गीत, नृत्य व वादित्र) श्रवण के फलस्वरूप ब्रह्माजी की तपश्चर्या नष्ट हुई सुनी जाती है और धीवर-कन्या के साथ रतिविलास करने से पाराशर (वेदव्यास के पिता) की तपश्चर्या भङ्ग हुई, पुराणों में सुनी जाती है। एवं नटी का नृत्य देखने से रथनेमि नाम के दिगम्बराचार्य की तपश्चर्या नष्ट हुई सुनी जाती है।

विशेषता यह है—यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जो कामरूप अग्नि उपवास-वगैरह तपश्चर्या से क्षीण (दुर्बल) हुई और तीर्थस्थानों पर विहार करने से नष्ट हुई एवं धर्मध्यान रूप जलपूर द्वारा अच्छी तरह से बुझा दी गई है वह स्त्रीजनों के कटाक्ष-दर्शन से प्रज्वलित हो उठती है। अर्थात्—मृत होकरके भी जीवित हो जाती है[1]॥७२॥

---

१. रूपक व अतिशयालंकार।

तावत्तपो वपुषि चेतसि तत्त्वचिन्ता कामं हृषीकविषये परमः शमश्च ।
यावन्न पश्यति मुखं मृगलोचनानां शृङ्गारवृत्तिभिरुदाहृतकामसूत्रम् ॥७३॥
श्रोत्रं श्रुतो हरति वीक्षणमीक्ष्यमाणश्चित्तं स्मृतः कृतसमागतिरङ्गकानि ।
प्राणान् पुनः प्रणयवान्वियुतो रतिं च लोके तथापि वनिताजन एव यत्नः ॥७४॥
तपो मृगायते पुंसां समं धीधैर्यलज्जितैः । स्त्रीणां भ्रूचापविश्रान्तनेत्रापाङ्गशराहतैः ॥७५॥

तथा सकृत्स्खलितं च चेतः प्रासाद इव पुनः दुष्करमुद्धर्तुम्, दूरतरमुन्नतानि गिरिशिखराणीव शक्यन्ते शरीरिणां हृदयानि सुखेनैवाधस्तात् पातयितुमारोहयितुं न पुनर्दुःखेनापि,

अस्ति च 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इति विदुषां प्रवादः,

जब तक यह मानव कमनीय कामिनियों का ऐसा मुख, जिसने शृङ्गार-चेष्टाओं द्वारा कामसूत्र उदाहरण-युक्त बनाया है, नहीं देखता तभी तक वह शरीर द्वारा विशेषरूप से तपश्चर्या करता है और तभी तक इसके चित्त में आत्मध्यान के भाव विशेषरूप से प्रकट होते हैं एवं तभी तक इसकी इन्द्रियाँ अपने अपने स्पर्श-आदि विषयों में अत्यन्त शान्त रहती हैं परन्तु जब यह ललित-ललनाओं के शृङ्गार-पूर्ण मुख का दर्शन करता है उसी समय इसकी तपश्चर्या तत्त्वचिंता व जितेन्द्रियता नष्ट होजाती है[1] ॥७३॥ यह कामिनी-जन विशेष चौर है, क्योंकि सुनी हुई यह, सुननेवाले के कान चुरा लेती है। अर्थात्—जिसने स्त्री का नाम सुना है, वह फिर स्त्री सिवाय दूसरी बात नहीं सुनता और दर्शन की हुई नेत्र चुरा लेती है, क्योंकि फिर कामीपुरुष को स्त्री-सिवाय कुछ दिखाई नहीं देता। इसीप्रकार चिन्तवन की हुई यह मन हर लेती है और आलिंगन कीहुई उसकी वीर्यधातु का क्षय करती है और स्नेहयुक्त हुई प्राण हर लेती है और वियोग को प्राप्त हुई स्त्रीजन भोजन-आदि में रुचि नष्ट कर देती है। अर्थात्—जब कामीपुरुष का स्त्री से वियोग होजाता है तब वह उसके दुःख से भोजन-पान छोड़ देता है। तथापि संसार के लोग उस स्त्री की प्राप्ति के लिए किसप्रकार प्रयत्नशील देखे जाते हैं[2] ॥७४॥ कमनीय कामिनियों के भृकुटिरूप धनुष पर चढ़ाए हुए नेत्रों के कटाक्ष रूप बाणों के प्रहार से मानवों की तपश्चर्या बुद्धि, धीरता और लज्जा के साथ-साथ नष्ट होजाती है[3] ॥७५॥

जिसप्रकार एकवार गिराये हुए महलको फिर से जैसे का तैसा बनाने में महान कष्ट उठाना पड़ता है उसीप्रकार स्त्री-आदि के उपद्रवों से एकवार तपश्चर्या से विचलित हुए मन को भी फिर से काबू में लाने के लिए (पुनः तपश्चर्या में संलग्न करने के लिए) महान् कष्ट का सामना करना पड़ता है। एवं जिसप्रकार अत्यंत ऊँचे पर्वत-शिखर सरलता से जमीन पर गिराए जा सकते हैं परन्तु अनेक कष्ट उठाये जाने पर भी फिर से ऊपर नहीं चढ़ाए जा सकते उसीप्रकार अत्यन्त उन्नत (पंचेन्द्रियों के विषयों से पराङ्मुख) और तपश्चर्या-आदि में लवलीन हुए मानवों के चित्त भी सरलता से नीचे गिराए जा सकते हैं—विषयों में लम्पट किये जा सकते हैं। परन्तु अनेक कष्ट उठाए जाने पर भी फिर से ऊपर नहीं चढ़ाए जा सकते—पुनः तपश्चर्या में स्थिर नहीं किये जा सकते।

'पापियों को भी पुण्य कार्यों के करने में बहुत विघ्न बाधाएँ हुआ करती हैं परन्तु जब वे पाप कार्यों में प्रवृत्त होते हैं तब उनकी समस्त विघ्न बाधाएँ कहीं पर नष्ट हो जाती हैं' ऐसी विद्वानों में प्रसिद्धि है। अतः तपस्वी संयमी जनों के पुण्य कार्यों (धर्म ध्यानादि) में विघ्न बाधाएँ उपस्थित होना स्वाभाविक ही है।

---

१. उपमालंकार। २. दीपकालंकार। ३. उपमा, सहोक्ति व रूपकालंकार।

श्रुताभ्यासश्च बिसतन्तुर्दन्तिनमिव प्रत्यवस्यन्तमात्मानमलं न भवति निवारयितुम्, तनुच्छद इवाधीरधीषु न जायते चलतश्चित्तस्य त्राणाय देहदाहकरागमः संयमः, बहिरस्थावस्थितः पारदरस इव द्वन्द्वपरिगतः पुमान् क्षणमपि नास्ते प्रसंख्यानक्रियासु, वृन्दमपीदं वनादानीतं करियूथमिवाद्यापि न संभवति प्रायेण क्षान्तिनिष्ठितम्, सर्वदोषदुष्टं व्यालशुण्डाल-मिवामीषामपरिपक्वशिक्षोपदेशमिन्द्रियग्राममतियत्नेनापि संरक्षितुं न तरति पुरश्चारीलोकः।

किं च – तावद्गुरवो गण्यास्तावत्स्वाध्यायधीरतं चेतः। यावन्न मनसि वनितादृष्टिविषं विशति पुरुषाणाम् ॥७६॥

तावत्प्रवचनविषयस्तावत्परलोकचिन्तनोपायः। यावत्तरुणीविभ्रमहृतहृदयो न प्रजायेत ॥७७॥

गुरुवचनस्य हि वृत्तिस्तत्र न यत्रास्ति संगमः स्त्रीभिः। अबलालापजलप्लवबधिरितकर्णे कुतोऽवसरः ॥७८॥

जिसप्रकार मृणाल तन्तु जाते हुए मदोन्मत्त हाथी के रोकने में समर्थ नहीं होता उसीप्रकार धर्म शास्त्रों का अभ्यास व अनुशीलन (चिन्तवन) भी विषय सुख की ओर प्रवृत्त होने वाले चंचल चित्त को थाँभने (तपश्चर्या में स्थिर करने) में समर्थ नहीं हो सकता। जिसप्रकार केवल शरीरमात्र को उष्ण रखने वाला कायर पुरुषों द्वारा धारण किया हुआ कवच (बख्तर) शत्रु द्वारा छिन्न-भिन्न व नष्ट होते हुए हृदय को सुरक्षित नहीं कर सकता उसीप्रकार चंचल चित्तवाले पुरुषों द्वारा पालन किये हुए शरीर को सन्तापकारक प्रारम्भ वाले चरित्र का अनुष्ठान भी चंचल चित्त को सुरक्षित नहीं रख सकता। एवं जिसप्रकार अग्नि के ऊपर स्थापित किया हुआ पारद द्वन्द्व परिगत (अनेक औषधियों से वेष्टित) होने पर भी क्षण मात्र भी नहीं ठहरता (उड़ जाता है) उसीप्रकार द्वन्द्व-परिगत (खूबसूरत स्त्री के साथ एकान्त में रहने वाला) मानव भी धर्मध्यान संबंधी कर्तव्यों में क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रह सकता। प्रकरण में जिसप्रकार वन से लाया हुआ हाथियों का समूह प्रायः करके बन्धन काल में भी क्षमायुक्त (शान्त) नहीं होता उसीप्रकार प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुआ यह हमारा मुनि संघ भी इस चरित्र धर्म की साधना के समय में भी प्रायः करके क्षमा-युक्त (विषय सुख से पराङ्मुख) होकर धर्म ध्यान में स्थिर नहीं रह सकता। एवं जिसप्रकार पुरश्चारी लोक (महावत), समस्त दोषों से दुष्ट और शिक्षा उपदेश से शून्य मदोन्मत्त दुष्ट हाथी का संरक्षण नहीं कर सकता उसीप्रकार पुरश्चारी लोक (मुनि संघ में श्रेष्ठ आचार्य) इस शिष्य मण्डल के इन्द्रिय समूह को भी, जो कि समस्त रागादि दोषों से दुष्ट और बारह भावनाओं की शिक्षा रूप उपदेश से शून्य है, अत्यंत सावधानी के साथ विषयों से रोकने में समर्थ नहीं हो सकता[1]।

कुछ विशेषता यह है—जब तक साधु पुरुषों के चित्त में स्त्रियों का दर्शनरूप विष प्रविष्ट नहीं होता तभी तक उनका चित्त शास्त्र स्वाध्याय की अनुशीलन-बुद्धि में तत्पर रहता है और तभी तक उनके द्वारा आचार्य माननीय होते हैं। अर्थात्—ज्यों ही साधुओं के चित्त में स्त्रियों का दर्शन रूप विष प्रविष्ट होता है त्यों ही उनकी आचार्य भक्ति और शास्त्र स्वाध्याय ये दोनों गुण कूच कर जाते हैं[2] ॥७६॥

जब तक यह मानव, नवीन युवतियों के कुटिल कटाक्षों द्वारा चुराए हुए हृदयवाला नहीं होता तभी तक यह प्रवचन (धर्म-शास्त्र) का विषय (पात्र) रहता है एवं तभी तक मोक्ष प्राप्ति की साधना के उपाय वाला होता है[3] ॥७७॥ जो मानव स्त्रियों के साथ संगम (हास्य व रतिविलास-आदि) करता है, उसमें गुरु की आज्ञापालन-प्रवृत्ति नहीं रह सकती। क्योंकि जिसके श्रोत्र कामिनियों के परस्पर संभाषण रूप जल पूर से बहिरे हो चुके हैं, उस (विषय-लम्पट) पुरुष को पूज्य पुरुषों की आज्ञा-पालन का अवसर किसप्रकार प्राप्त हो सकता है? अपि तु नहीं प्राप्त हो सकता[4] ॥७८॥

१—उपमालंकार। २. रूपकालंकार। ३. जाति-अलंकार। ४. रूपक व आक्षेपालंकार।

संसर्गेण गुणा अपि भवन्ति दोषास्तदद्भुतं नैव। स्थितमधरे रमणीनाममृतं चेतांसि कलुषयति ॥७९॥

लटहैर्युवतिकटाक्षैर्गाढमगुरुतां जनः स्वयं नीतः। चित्रमिदं ननु यत्तां पश्यति गुरुबन्धुमित्रेषु ॥८०॥

तस्मात्—द्वयमेव तपःसिद्धौ बुधाः कारणमूचिरे। यदनालोकनं स्त्रीणां यच्च संग्लापनं तनोः ॥८१॥

इति च विचिन्त्य, 'तदलमत्र बहुप्रत्यूहव्यूहासाध्यया निषद्यया' इति च निश्चित्य, परिक्रम्य च स्तोकमन्तरम्, सप्तजिह्वाजिह्मज्वालाजालाहुतीकृताकाशलावण्यं श्मशानारण्यं व्यलोकत ॥

(स्वगतम्।) अहह, पश्यत सकलानामप्यमङ्गलानामसमसमीहाभवनं पितृवनम्।

यतः— कालव्यालरदाङ्कुरोत्कटभरैः शल्योत्करैः पूरितं कालग्राहविगीर्णफेनविकलैः कीर्णं शिरोमण्डलैः।
कालव्याधविनोदपाशवितरैः केशैश्चितं सर्वतः कालोत्पातसकृत्प्रसूतध्वयैश्छन्नं च भस्मोच्चयैः ॥८२॥

इतश्च यत्र—अर्धदग्धशवलेशलालसैर्भण्डनोत्कटरटत्गलान्तरैः। कालकेलिकरकौतुकोद्यतैर्विश्वकद्रुभिरुपद्रुतान्तरम् ॥८३॥

ज्ञान-विज्ञानादि प्रशस्त गुण भी कुसंग-वश दोष होजाते हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। उदाहरणार्थ—क्योंकि रमणियों के ओष्ठ में स्थित हुआ अमृत, हृदयों को कलुषित (विषपान सरीखा अचेतन) कर देता है। भावार्थ—जिसप्रकार युवतियों के ओष्ठ-संसर्ग वश अमृत, मनुष्य-हृदयों को कलुषित (मूर्छित व बेजान) कर देता है उसीप्रकार ज्ञानादि गुण भी कुसंसर्ग-वश अज्ञानादि दोष होजाते हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है[1] ॥७९॥ रमणियों के मनोहर कटाक्षों द्वारा यह मानव अत्यन्त लघुता (क्षुद्रता) में प्राप्त कराया जाता है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखी हुई घटना है कि यह, गुरु, बन्धु और मित्र जनों के बीच में स्थित होता हुआ भी स्त्री को ही अनुराग पूर्वक देखता रहता है[2] ॥८०॥ उस कारण से विद्वानों ने तपश्चर्या-प्राप्ति के दो उपाय बताए हैं। १—स्त्रियों का दर्शन न करना और २—तपश्चर्या द्वारा शरीर को कृश करना[3] ॥८१॥ ऐसा विचार करने के पश्चात् उन्होंने यह निश्चय किया कि 'इस उद्यान भूमि में ठहरने से हमारी तपश्चर्या में अनेक विघ्न-बाधाओं की श्रेणी उपस्थित होगी' अतः वहाँ से थोड़ा मार्ग चलकर उन्होंने अग्नि की भीषण लपटों की श्रेणी से आकाश-कान्ति को धूसरित करनेवाली श्मशान भूमि देखी।

तत्पश्चात् उन्होंने अपने मन में निम्नप्रकार विचार किया—अहो! विशेष आश्चर्य या खेद की बात है, हे भव्य प्राणियो! आप लोग समस्त अशुभ वस्तु संबंधी विषम चेष्टाओं की स्थानीभूत श्मशान-भूमि देखिये—

क्योंकि जो काल रूपी दुष्ट हाथी के दन्ताङ्कुरों की विशेष भयानक अस्थि (हड्डी) राशियों से भरी हुई है। जो कालरूप मकर द्वारा उद्गीर्ण (उगाले हुए) अस्थि-फेनों-सरीखी कपाल-श्रेणियों से व्याप्त है। जो काल रूप बहेलिये के क्रीड़ा पाशों सरीखे केशों से सर्वत्र व्याप्त है और जो काल रूप अशुभ-सूचक शुभ्र काक की पङ्क्तिश्रेणी-सी भस्म-राशियों से भरी हुई है[4] ॥८२॥ जिसका एकपार्श्व भाग ऐसा था, जिसका मध्यभाग ऐसे शिकारी कुत्तों द्वारा उपद्रव-युक्त कराया गया था, जो अर्धदग्ध मुर्दों के खंडों में विशेष आकाङ्क्षा रखते थे व जिनके कण्ठ के मध्यभाग युद्ध करने में विस्तार-युक्त हुए कुत्सित (कर्णकटु) शब्द करते थे एवं जो काल की क्रीडा करनेवाले कौतुकों (विनोदों) के करने में प्रयत्न शील थे[5] ॥८३॥

---

१. दृष्टान्तालंकार। २. जाति-अलंकार। ३. समुच्चयालंकार। ४. रूपकालंकार।
५. जाति-अलंकार।

यत्र च—श्येनकुलं घूककुलं द्रोणकुलं श्वकुलभण्डनाद्भीतम्। शवपिशितप्राशवशाद्दिवि भुवि च समाकुलं पुरतः ॥८४॥
इतश्च—गृध्राघ्रातसमांसकीकसरसस्रावोत्पथाः पादपाः प्रेतोपान्तपतत्पतत्त्रिपरुषप्रायाः प्रदेशा दिशः।
एते च प्रबलानिलाश्रयवशाच्छीर्यच्छिखाः सर्वतः संसर्पन्ति जरत्कपोतरुचयो धूमाश्चिताचक्रजाः ॥८५॥
इतश्च यत्र—कालाग्निरुद्रनिटिलेक्षणदुर्निरीक्षाः कीनाशहोमहुतवाहविरुक्षवीक्षाः।
दाहद्रवच्छववपुःस्फुटदस्थिमध्यप्रारब्धशब्दकठिना दहनाश्चितानाम् ॥८६॥
इतश्च यत्र—सर्वदेहधृतभस्मनिकायः प्रेतचीवरकरालितकायः। कन्दलोल्बणवपुः पवमानः क्रीडति प्रमथनाथसमानः ॥८७॥
किं च—अश्यच्छरीरशवशीर्णशिरोजसारः कुथ्यत्कलेवरकरङ्कहतप्रचारः।
दग्धार्धदेहमृतकाग्निमयप्रबन्धो वातः करोति ककुभोऽशुभगन्धबन्धाः ॥८८॥
इतश्च यत्र—यान्युत्सवेषु कृतिनां कृतमङ्गलानि वाद्यानि मोदिजनगेयनिरर्गलानि।

जिसके एक पार्श्व भाग में आकाश और पृथिवी मण्डल पर बाज, उलूक व काक पक्षियों का झुण्ड, कुत्तों के समूह की परस्पर लड़ाई होने से भयभीत हुआ मुर्दों के मांस भक्षण की पराधीनता-वश किंकर्तव्य-विमूढ़ था[1] ॥८४॥ जिसके एक पार्श्वभाग में ऐसे वृक्ष वर्तमान थे, जो कि गीध पक्षियों द्वारा ग्रहण कीहुई मांस-सहित हड्डियों के रस-स्राव (चूने) से मार्ग-हीन थे। अर्थात्—जिनके नीचे से गमन करना अशक्य था एवं जिनकी उपरितन शाखाएँ प्रचण्ड वायु के आश्रय-वश टूट रही थीं। इसीप्रकार जिस श्मशान-भूमि के दिशाओं के स्थान मुर्दों के समीप आए हुए पक्षियों से कठोर प्राय थे और जिसके एक पार्श्व-भाग में चिताओं (मुर्दों की अग्नि-समूहों) से उत्पन्न हुए, प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले धूम अत्यन्त वृद्ध कबूतरों की कान्ति के धारक होते हुए सर्वत्र अच्छी तरह से फैल रहे थे[2] ॥८५॥ जिस श्मशान भूमि के एक पार्श्व भाग में ऐसी चिताओं की अग्नियाँ थीं, जो उसप्रकार देखने के लिए अशक्य थीं जिसप्रकार प्रलयकालीन श्री महादेव के ललाट पट्ट का नेत्र देखने के लिए अशक्य होता है और जिनका दर्शन उसप्रकार अत्यंत निर्दय था जिसप्रकार यमराज की होमाग्नि का दर्शन विशेष निर्दय होता है। इसीप्रकार जो चिता की अग्नियाँ ऐसे भयानक शब्दों से कठिन (कानों को फाड़ने वाली) थीं, जो कि भस्म करने से चूँते हुए मुर्दों के शरीरों की टूटती हुई हड्डियों के मध्य भाग से वेग पूर्वक उत्पन्न हुए थे[3] ॥८६॥ जिस श्मशान भूमि के एक पार्श्व भाग में ऐसी वायु का संचार होरहा था, जो श्री महादेव सरीखी थी। अर्थात्—जिसप्रकार श्री महादेव अपने समस्त शरीर पर भस्म-समूह आरोपित (स्थापित) करते हैं उसीप्रकार श्मशान-वायु ने भी अपने समस्त शरीर पर भस्म-राशि आरोपित की थी और जिसकी देह उसप्रकार मुर्दों के कफनों से रुद्र (भयानक) कीगई थी जिसप्रकार श्रीमहादेव का शरीर मुर्दों के वस्त्रों से रुद्र होता है और जिसका शरीर कन्दलों (कपालों) से उसप्रकार व्याप्त था, जिसप्रकार श्रीमहादेव का शरीर कन्दलों (मृगचर्मों) से व्याप्त होता है[4] ॥८७॥ जिस श्मशान भूमि में ऐसी वायु दिशाओं को दुर्गन्धित करती है, जिसके धन, टूटकर गिरते हुए शरीरोंवाले मुर्दों के टूटकर गिरे हुए केश ही थे। जिसका प्रचार दुर्गन्धित मुर्दों के शरीरसम्बन्धी करङ्कों (हड्डी-पंजरों) द्वारा नष्ट कर दिया गया था एवं जिसका प्रबन्ध (अविच्छिन्नता) दग्ध हुए अर्ध शरीरवाले मुर्दों की अग्नि द्वारा निष्पन्न हुआ था[5] ॥८८॥ जिस श्मशान भूमि के एक पार्श्व भाग में, जो बाजे पूर्व में पुत्रजन्म व विवाहादि उत्सवों में हर्षित हुए लोगों के प्रतिबन्ध (रुकावट) रहित गानों से युक्त हुए पुण्यवानों के लिए मङ्गलीक होते थे,

---

१. यथासंख्यालंकार। २. समुच्चयालंकार। ३. उपमालंकार व वसन्ततिलका छन्द। ४. उपमालंकार व स्वागताछन्द, तदुक्तं—'स्वागतेति रनभाद्गुरुयुग्मम्'। ५. रूपकालंकार व मधुमाधवीछन्द।

तान्येव शोकवशबन्धुरवोद्धुराणि नर्दन्ति संस्थितवर्ता विरसस्वराणि ॥८९॥

अपि च— यमभुक्तिसमयपिशुनः क्रव्यादसमाजसंह्वयव्यसनः । जगदस्थैर्योद्घोषः परासुतूरस्वरः परुषः ॥९०॥

किं च—अचिरेण तत्कुरुध्वं यतो भवेन्नाजवञ्जवक्लेशः । नो चेदियं दशा वो भवितेति ध्वनति शवतूरम् ॥९१॥

इतश्च यत्र—अस्तोकशोकव.शिकाशयशीर्णशङ्कैर्लोकैश्चिताचरितबान्धवसन्निवेशैः ।

मुक्ता न कस्य हृदयं परिखेदयन्ति बाष्पोद्गतिस्खलितवेगवशा विलापाः ॥९२॥

इतश्च यत्र—कलिकालकायकालाः शोकादिव दहनबान्धवक्षयजात् । अङ्गाराः शल्यधराः क्षयक्षपातारकाकाराः ॥९३॥

इतश्च यत्र—दन्तोत्कीलितशुष्ककीकसकलाकीलोद्गलत्तालुकाः कण्ठान्तःप्रविलग्नशल्यशकलोद्गालस्खलत्कुक्षयः ।

प्रेतप्रान्तपुराणपादपपतत्पत्रप्रदुष्यदृशः प्रभ्राम्यन्त्यविशङ्कफेत्कृतिकृतिक्षीबाः शिवाः सोद्धवाः ॥९४॥

इतश्च—कथं नामेयमनङ्गग्रहग्रहिललोकलोचनानन्दचन्द्रिका चेतोभवानुचरमानवमनोमर्कटक्रीडावनविहारवसतिर्युवतिरुड्डीनान्तरात्महंसा गण्डमण्डलावासवायसपक्षप्रान्तापादितावतंसा इदमवस्थान्तरमवातरत् ॥

वे ही बाजे मुर्दों से सम्बन्धित हुए शोकाधीन बन्धुओं के नीरस शब्दों से उत्कट हुए कुत्सित शब्द कर रहे हैं[1] ॥८९॥ जहाँ पर ऐसे मुर्दों के बाजों का शब्द होरहा है, जो कठिनप्राय (कानों को फाड़नेवाला), यमराज की भोजन-वेला का सूचक और राक्षस-समूह के बुलाने में आसक्ति करनेवाला एवं संसार की क्षणिकता की घोषणा करनेवाला है[2] ॥९०॥ जहाँपर मुर्दों का बाजा मानों—यह सूचित कर रहा है—हे भव्य प्राणियो ! आप लोग शीघ्र ही पुण्यकर्म संचय करो, जिसके फलस्वरूप तुम्हें सांसारिक दारुण दुःख न भोगना पड़े, अन्यथा (यदि शुभ कर्म नहीं करोगे) तो तुम्हारी भी यही दशा (मृतक-अवस्था) होजायगी[3] ॥९१॥ जिस श्मशान भूमि पर विशेष शोक-वश शून्य हुए चित्त से नष्ट-शंकावाले (गुरु-आदि के विचार-शून्य) और चिता पर बन्धुजनों को स्थापित करनेवाले लोगों द्वारा ऊँचे स्वर से उच्चारण किये हुए ऐसे रुदनशब्द, जिनका वेग, अश्रुबिन्दुओं के प्रकट होने के फलस्वरूप स्थगित होगया है, किसका मन सन्तापित नहीं करते ? अपितु सभी का चित्त सन्तापित करते हैं[4] ॥ ९२॥ जिस श्मशान भूमि में ऐसे अङ्गारे हैं, जो हड्डियों के धारक और प्रलयकाल की रात्रिसंबंधी तारों सरीखे आकार-युक्त हैं एवं जो कलिकाल (दुषमाकाल) के स्वरूप-समान श्यामवर्ण हैं, इससे ऐसे प्रतीत होते हैं मानों—अग्निरूप कुटुम्बिजनों के नाश से उत्पन्न हुए शोक से ही श्याम होरहे हैं[5] ॥९३॥ जहाँपर ऐसीं शृगालिनियाँ पर्यटन कर रही हैं जिनकी तालु, दांतों में कीलित (क्षुब्ध) शुष्क (मांस-रहित) अस्थिखंडरूप कीलों द्वारा विदारण की जारही हैं। जिनका उदर कण्ठ के मध्य प्रविष्ट हुए हड्डी के टुकड़े की वमन करने से कम्पित होरहा है। जिनके नेत्र मुर्दों के प्रान्तभाग पर स्थित हुए जीर्णवृक्षों से गिरते हुए पत्तों से विकृत होरहे हैं और जो निर्भयतापूर्वक फेत्कार करने में मत्त होते हुए गर्वसहित हैं[6] ॥९४॥

जहाँ पर एक स्थान पर काल-कवलित व श्मशान भूमि पर पड़ी हुई एक स्त्री को देखकर प्रस्तुत आचार्य श्री ने निम्नप्रकार विचार किया—यह नवयुवती स्त्री, जो कि जीवित अवस्था में कामदेवरूप पिशाच से व्याकुलित हुए मानवों के नेत्रों को उसप्रकार आनन्दित करती थी जिसप्रकार चन्द्र-ज्योत्स्ना (चाँदनी) नेत्रों को आनन्दित करती है, और जो कामदेव के दास मानवों के मनरूप बन्दर के क्रीड़ावन में विहार करने की निवास भूमि थी, वही अब जिसका आत्मारूप हंस उड़ गया है व जिसका कर्णपूर गालों पर स्थित हुए काकपंखों के अग्रभागों से रचा गया है, किस प्रकार से प्रत्यक्ष देखी हुई इस मृतक-दशा को प्राप्त हुई है[7] ?

१. जाति-अलंकार व मधुमाधवीछन्द । २. रूपकालंकार व आर्याछन्द । ३. उपमालंकार व आर्याछन्द । ४. आक्षेपालंकार व वसन्ततिलकाछन्द । ५. उत्प्रेक्षालंकार । ६. जाति-अलंकार व शार्दूलविक्रीडित छन्द । ७. रूपकालंकार ।

तथाहि--या पूर्वं स्मरकेलिचामररुचिः कर्णावतंसोत्पलश्लिष्टेन्दिन्दिरसुन्दरद्युतिरभूद्गण्डस्थलीमण्डनम् ।
सेयं कुन्तलवल्लरी पितृवने वातेरिता सांप्रतं धूलीधूसरिता दधाति विसरत्संमार्जनीचेष्टितम् ॥९५॥
ये पूर्वं कामकोदण्डकोटिप्रकटविभ्रमे । ते संप्रति भ्रुवौ जाते शुष्कवल्लूरकल्पके ॥९६॥
ये नीलरक्तरत्नान्तचन्द्रकान्तदशे दृशौ । ते जीर्णोद्भवनच्छिद्रद्रववुद्बुदसन्निभे ॥९७॥
ये कलाकेलिदोलाभे मुखलक्ष्मीलतोपमे । ते श्रुती विघटद्बद्धवाध्रीरन्ध्राधमस्थिती ॥९८॥
कस्तूरिकातिलकपत्त्रविचित्रितश्रीर्योऽभून्मृगाङ्कसमकान्तिरयं कपोलः ।
सोऽद्य च्छविं वहति वायसबालभुक्तः कोथप्रदीर्णतनुतुम्बफलोपमेयाम् ॥९९॥
या कामकेलीशुकतुण्डकान्ता पातुं मुखामोदमिवायताभूत् । सा गन्धवाहा विवरावशेषनिवेशनिर्गच्छदतुच्छपूया ॥१००॥
यत्राधरेऽमृतधिया नवपल्लवाभे कामं कृतार्थहृदयः समपादि लोकः ।
सोऽजस्रविस्रविवशस्नुतपूयपूरपर्यन्तवृत्तिरधरत्वमगण्यमागात् ॥१०१॥
या चन्द्ररत्नाङ्कुरसंनिवेशा मूले श्रिता शोणमणिद्रवेण । सा दन्तपङ्क्तिः करपत्त्रकक्रयावच्छविः कं न दुनोति लोकम्॥१०२॥

उसी अवस्थान्तर का निरूपण करते हैं—जो केशवल्ली जीवित-अवस्था में काम-क्रीड़ा के अवसर पर कामदेव के चँमर-सरीखी शोभायमान होती थी (क्योंकि कामदेव के चँमर श्याम होते हैं) और जिसकी कान्ति कर्णपूर किये हुए नीलकमल में स्थित भ्रमर-समूह-सी अति मनोज्ञ प्रतीत होती हुई कपोल (गाल , स्थली को अलङ्कृत करती थी, वही केशवल्ली अब श्मशान भूमि पर वायु-प्रेरित व धूलि-धूसरित हुई टूटनेवाली झाड़ू की चेष्टा (आचार) धारण कररही है[१] ॥ ९५ ॥ जो भ्रुकुटियाँ जीवित अवस्था में प्रकट रीति से कामदेव के धनुष के अग्रभाग-सीं थीं, वे ही अब (मृतक अवस्था में) शुष्क माँस की बत्ती-सरीखी हो गई हैं[२] ॥ ९६ ॥ जो नेत्र जीवित अवस्था में नीलमणि और लालमणि (माणिक्य) के प्रान्त भाग पर स्थित चन्द्रकान्तमणि सरीखी अवस्थाशाली थे, वे अब मृतक अवस्था में फूटे हुए नारियलों के छिद्रों से निकलते हुए दुर्गन्धि जल के बुद्बुद जैसे प्रतीत होरहे हैं[३] ॥ ९७ ॥ जो श्रोत्र जीवित अवस्था में संगीत-आदि कलाओं के क्रीड़ा करने के झूलों सरीखे शोभायमान होरहे थे और जो मुख-लक्ष्मी (शोभा) रूपलता की सदृशता धारण करते थे, परन्तु अब (मृतक अवस्था में) उनकी स्थिति टूटती हुई बँधी हुई चर्मरज्जु के छिद्र-सरीखी निकृष्ट होरही है[४] ॥ ९८ ॥ जो गाल पूर्व में चन्द्रमा के सदृश कान्तिशाली था और जिसकी शोभा कस्तूरी की तिलक रचना से विचित्रता धारण करती थी, वही गाल अब काक-शावक (बच्चा) द्वारा भक्षण किया हुआ होकर कुष्ठ से छिद्रित अवयवोंवाले तुम्बीफल की तुलना प्राप्त कर रहा है[५] ॥ ९९ ॥ जो नासिका पूर्व में कामदेव के क्रीड़ा-शुक की चञ्चुपुट-सी मनोहर थी और मानों—मुख कमल की सुगन्धि का पान करने के हेतु ही विस्तृत होरही थी, अब उसी नासिका के छिद्र संबंधी अवशेष स्थान से प्रचुर पीप निकल रही है[६] ॥ १०० ॥ नवीन पल्लव-समान कान्तिधारक जिस ओष्ठ में कामी पुरुष पूर्व में अमृतपान की बुद्धि से (चुम्बन द्वारा) अपने हृदय को यथेष्ट सफल मानता था, अब उसके प्रान्त भाग से दुर्गन्धि-वश परवश पीप का प्रवाह निरन्तर वह रहा है, जिससे वह निस्सीम अधरत्व (निकृष्टपने) को प्राप्त होचुका है[७] ॥ १०१ ॥ जो दन्तपङ्क्ति पूर्व में चन्द्रकान्त मणि के अंकुरों सरीखी रचना युक्त थी और मूल में पद्मराग मणियों के रस से आश्रित थी,

१. उपमालङ्कार व शार्दूलविक्रीडित छन्द । २. उपमालङ्कार । ३. उपमालङ्कार । ४. उपमालङ्कार । ५. उपमालङ्कार व वसन्ततिलका छन्द । ६. उत्प्रेक्षा व उपमालङ्कार एवं इन्द्रवज्रा छन्द । ७. उपमालङ्कार व वसन्ततिलका छन्द ।

यः कण्ठः कम्बुसंकाशः कलकोकिलनिस्वनः। स विशीर्णशिरासंधिर्जरत्पञ्जरतां गतः ॥१०३॥
यौ हारनिर्झरलसन्नवपत्त्रकान्तौ क्रीडाचलाविव मनोजगजस्य पूर्वम्।
तौ पूतिपुष्पफलदुष्टदशाविदानीं वक्षोरुहौ बलिभुजां बलिपिण्डकल्पौ ॥१०४॥
लावण्याम्बुधिवीचिकोचितरुचौ हस्तौ मृणालोपमौ कामारामलताप्रतानसुभगौ प्रान्तोल्लसत्पल्लवौ।
यौ पुष्पास्त्रपिशाचबन्धविधुरौ लीलाविलासालसौ तौ जातौ गतजङ्गलौ प्रविजरत्कोदण्डदण्डद्युती ॥१०५॥
यः कृशोऽभूत्पुरा मध्यो बलित्रयविराजितः। सोऽद्य द्रवद्रसो धत्ते चर्मकारदृतिद्युतिम् ॥१०६॥
केलिवापीव कामस्य नाभी गम्भीरमण्डला। यासीत्सा निर्गतान्त्रान्ता स्वपत्सर्पबिलाविला ॥१०७॥
या कामशरपुङ्खाग्रसमग्राभोगनिर्गमा सार्धदग्धाजिनप्रान्तविवर्णा तनुजावली ॥१०८॥
स्मरद्विपविहाराय यज्जातं जघनान्तरम्। तद्गलत्कश्मलैर्दृक्लिन्नं जघन्यत्वमगात्परम् ॥१०९॥
या कामकलभालानस्तम्भिकेवोरुवल्लरी। सा श्वनिर्लूनलावण्या वानवेणुपरप्रभा ॥११०॥

वही दन्तपङ्क्ति अब मृतक अवस्था में करौंत के अग्रभाग-सी श्यामवर्ण हुई किन कामी पुरुषों को सन्तापित नहीं करती? सभी को सन्तापित करती है[1] ॥१०२॥ जो कण्ठ पूर्व में श्रीनारायणकर-स्थित शङ्ख सरीखा था और जिसका शब्द कोयल-सा मधुर था, अब उसी कण्ठ की नसों की सन्धियाँ टूट गई हैं, अतः उसने जीर्ण-शीर्ण पिंजरे की तुलना प्राप्त की है[2] ॥१०३॥ जो कुच (स्तन) कलश, पूर्व में हार (मोतियों की माला) रूप झरना और कस्तूरी-केसर-आदि सुगन्धित द्रव्यों से की हुई नवीन पत्ररचना से मनोहर प्रतीत होते हुए कामदेव रूप हाथी के क्रीड़ापर्वत सरीखे थे अब उनकी अवस्था दुर्गन्धि कपित्थ (कैंथ) फल-जैसी दूषित होचुकी है और वे काक पक्षियों के हेतु दिये गये भोजन-ग्रासों सरीखे प्रतीत होरहे हैं[3] ॥ १०४ ॥ जो हस्त पूर्व में कान्ति रूप समुद्र की तरङ्ग-सरीखे सुशोभित होते थे। मृणाल-सरीखे जो कामदेव के उपवन सम्बंधी विस्तृत लता सरीखी प्रीति उत्पन्न करते थे। जिनके प्रान्त भाग में कोमल पल्लव शोभायमान हो रहे थे व कामदेव रूप पिशाच के बन्धन सरीखे जिन्हें काम क्रीड़ा के विस्तार में आलस्य था, अब मांस-रहित हुए उनकी कान्ति जीर्ण-शीर्ण धनुष-यष्टि-सी होगई है[4] ॥ १०५ ॥

जो शरीर का मध्यभाग (कमर) पूर्व में कृश (पतला) होता हुआ त्रिवलियों से विशेष शोभायमान था, इस समय उससे रस (प्रथम धातु) निकल रहा है, इसलिए वह चर्मकार (चमार) की चमड़े की मशक की कान्ति धारण कर रहा है[5] ॥ १०६ ॥ जो नाभि, जीवित अवस्था में गम्भीर (अगाध) मध्यभाग से युक्त हुई कामदेव की क्रीड़ा वापिका-सी शोभायमान होती थी अब (मृतक अवस्था में) उसके प्रान्तभाग पर बाहिर निकली हुईं आतें वर्तमान हैं, अतः वह सोते हुए सर्पों के छिद्र-सरीखी कलुषित (मलिन) होरही है[6] ॥ १०७ ॥ पूर्व में जिस रोमराजि की पूर्ण उत्पत्ति काम-बाण के मूल के प्रान्तभाग की पूर्ण समानता रखती थी, वह अब अर्धदग्ध चर्मके प्रान्तभाग-सरीखी निकृष्ट वर्णवाली होगई है[7] ॥ १०८ ॥ जिस कमर के अग्रमण्डल पर जीवित अवस्था में कामदेव रूप हाथी पर्यटन करता था, वह अब निकलती हुईं पीप वगैरह कुधातुओं से आर्द्र (गीला) हुआ बहुत बुरा मालूम पड़ता है, जिसके फलस्वरूप उसने विशेष निकृष्टता प्राप्त की है[8] ॥ १०९ ॥ जो ऊरु (निरोह) रूपी लता, पूर्व में कामदेव रूपी हाथी के बच्चे को बाँधने के लिए छोटे खम्भे-सी थी, अब उसका लावण्य (कान्ति) कुत्तों द्वारा समूल चबाई जाने से नष्ट कर दिया गया है, इसलिए वह जीर्ण बाँस सरीखी किसी में न पाई जाने वाली (विशेष निन्द्य) कान्ति

---

१. आक्षेपालङ्कार व उपमालङ्कार एवं इन्द्रवज्रा छन्द। २. उपमालङ्कार। ३. उपमालङ्कार व वसन्ततिलका छन्द। ४. उपमालङ्कार व शार्दूलविक्रीडित छन्द। ५. उपमालङ्कार। ६. उपमालङ्कार। ७. उपमालङ्कार। ८. उपमालङ्कार।

ये पूर्वं स्मरशरधी श्लक्ष्णच्छविवर्तिते सुवृत्ते च। कोलिकनलकाकारे ते जङ्घे सांप्रतं जाते ॥१११॥
यत्रालक्तकमण्डनं विरचितं यत्राश्रितौ नूपुरौ यत्रासीन्नवमौक्तिकावलि*कला कान्ता नखानां ततिः।
यत्राशोकदलोच्चयश्च समभूत्क्रीडाविहारोचितस्तावेरण्ड†जरण्डकाण्डपटलप्रस्पष्टचेष्टौ क्रमौ ॥११२॥
किंच—या कौमुदीव सरसीव मृणालिनीव लक्ष्मीरिव प्रियसखीव विलासिनीव।
तैस्तैर्गुणैरजनि सा सुतनुः प्रजाता प्रेतावनीवनवशा विवशा वराकी ॥११३॥
यस्याः केलिकलैः कलं कररुहैः सीमन्तिताः कुन्तला यस्याश्चन्दनवन्दनं प्रणयिभिर्भालान्तरे निर्मितम्।
यस्याश्चैणमदेन कामिभिरयं चित्रः कपोलः कृतः सा खट्वाङ्गकरङ्कवक्त्रविकृतिं तत्रैव धत्तेऽद्भुतम् ॥११४॥
या मानसकलहंसी नेत्रोत्पलचन्द्रिका च या जगतः। सा कालमहायतिना खट्वाङ्गकरङ्कतां नीता ॥११५॥
यदभ्यस्यति यो लोकः स भवेत्तन्मयः स्फुटम्। प्रकामाभ्यस्तखट्वाङ्गे युक्ता खट्वाङ्गता ततः ॥११६॥

धारण कर रही है[१] ॥ ११० ॥ जो दोनों जङ्घाएँ, जीवित अवस्था में कामदेव के तूणीर (भाता) सीं प्रतीत होती थीं और मनोहर कान्ति से व्याप्त हुई गोपुच्छसा वर्तुलाकार धारण करती थीं, उनकी आकृति अब जुलाहे के नलक (तन्तुओं के फैलाने का उपकरण विशेष) सरीखी हो गई है[२] ॥ ११ ॥ जिन दोनों चरणों पर पूर्व में लाक्षारस का आभूषण रचा गया था। जिन पर धारण किये हुए नूपुरों—मञ्जीरों—की झनकार होरही थी। जिनके नखपङ्क्तियों की कान्ति नवीन मोतियों की श्रेणी की शोभा-सी मनोहर थी। अशोक वृक्ष का पल्लव समूह जिनके लीलापूर्वक पर्यटन के योग्य था, उन चरणों की अवस्था अब एरण्ड वृक्ष के जीर्ण स्कन्ध समूह सरीखी प्रत्यक्ष प्रतीत होरही है[३] ॥११२॥ कुछ विशेषता यह है—सुन्दर शरीर धारिणी जो स्त्री उन उन जगत्प्रसिद्ध कान्ति आदि गुणों के कारण जीवित अवस्था में चन्द्र-ज्योत्स्ना-सी हृदय को आल्हादित करती थी। जो लावण्यरूप अमृत से भरी हुई होने के फलस्वरूप अगाध सरोवर-सरीखी, प्रफुल्लित कमल सरीखे नेत्रों वाले मुख से कमलिनी समान, उदारता के कारण लक्ष्मी जैसी, प्रतिपन्नता-वश प्यारी सखी-सी और चतुरता-पूर्ण वचनालाप से विलासिनी-सी थी, वही अब श्मशान भूमि संबंधी वन के अधीन हुई अकेली होकर विचारी (दयनीय अवस्था-योग्य) होगई है[४] ॥ ११३ ॥ जिस स्त्री के केशपाश पूर्व में कामी पुरुषों द्वारा नखों से मनोहरता पूर्वक सीमन्तित (कँघी आदि से अलङ्कृत) किये गये थे। जिसके ललाट के मध्यभाग पर स्नेही पुरुषों द्वारा उत्तम चन्दन से तिलक किया गया था। जिसका यह प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाला गाल कामी पुरुषों द्वारा कस्तूरी की पत्ररचना द्वारा मनोहर किया गया था वही स्त्री अब उन्हीं केशपाश, मस्तक और गालों पर खाट के अवयव व नारियल के कपाल के मध्यभाग-सरीखी विकृति (कुरूपता) धारण कर रही है ? यह बड़े आश्चर्य की बात है[५] ॥ ११४ ॥

जो स्त्री पूर्व में जगत के कामी पुरुषों के मनरूप मानसरोवर की राजहँसी थी और उनके नेत्ररूप कुवलयों (चन्द्रविकासी कमलों) को विकसित करने के हेतु चन्द्र-ज्योत्स्ना थी वही स्त्री अब यमराजरूप कापालिक द्वारा खाट के अवयव व कपाल-सरीखी अशोभन दशा में प्राप्त कीगई है[६] ॥ ११५ ॥ लोक में जो मनुष्य जिस वस्तु का अभ्यास करता है, वह निश्चय से तन्मय (उस वस्तुरूप) होजाता है, इसलिए विशेष रूप से खट्वाङ्ग (खाट पर शयन) का अभ्यास करनेवाले को खट्वाङ्गता (भग्न हुई खाट-सरीखा) होना उचित ही है। अर्थात्—अब वह भग्न खाट सरीखी होगई है[७] ॥ ११६ ॥

* 'समा' क०। † पलाश क०। १. उपमालङ्कार। २ उपमालङ्कार व आर्याछन्द। ३. उपमा व समुच्चयालङ्कार एवं शार्दूलविक्रीडितछन्द। ४. उपमालङ्कार व वसन्ततिलकाछन्द। ५. उपमालङ्कार व शार्दूलविक्रीडितछन्द। ६. समुच्चय व उपमालंकार। ७. रूपक वा अर्थान्तरन्यासालंकार।

लतिकेव प्रणयतरोर्या वनदेवीव केलिवनभूमेः । सा यमनृपतिविमुक्ता फेलेव प्राश्यते पतगैः ॥११७॥

जीवन्त्येषा यथैवासीत्सर्वस्य हृदयंगमा । मृताप्यभूत्तथैवेयं दुस्त्यजा प्रकृतिर्यतः ॥११८॥

हंसायितं वदनपङ्करुहे स्मरार्तैर्यस्या गजायितमभूत्कुचकुम्भमध्ये ।
एणायितं च जघनस्थलमेखलायां तस्याः कलेवरममी निकषन्ति कङ्काः ॥११९॥

पायं पायं मधु मधुरहक्पूर्वमुद्गर्वभावात्स्मारं स्मारं वदति च कलं या मुदा कुञ्चितभ्रूः ।
साद्य तस्मिन्नपगतमनोमर्कटस्वादनीहा प्रेतावासे निवसति गता भोज्यभावं शिवानाम् ॥१२०॥

यामन्तरेण जगतो विफलाः प्रयासा यामन्तरेण भवनानि वनोपमानि ।
यामन्तरेण हृतसंगति जीवितं च तस्याः प्रपश्यत जनाः क्षणमेकमङ्गम् ॥१२१॥

आश्लिष्टं परिचुम्बितं परमितं यद्रागरोमाञ्चितैस्तत्संसारसुखास्पदं वपुरभूदेवं दशागोचरम् ।
शीर्यच्चर्मचयं पतत्पलभरं भ्रश्यच्छिरापञ्जरं व्यस्यत्संधिबलं गलन्नलकुलं कुथ्यस्स्नसाजालकम् ॥१२२॥

जो स्त्री पूर्व में स्नेहरूप वृक्ष की लता सरीखी व क्रीड़ास्थान संबंधी भूमि की वनदेवता जैसी थी, वह अब यमराजरूप राजा द्वारा छोड़ी हुई फेला (भक्षण करके छोड़ा हुआ अन्न) सरीखी काक-आदि पक्षियों द्वारा भक्षण की जारही है[1] ॥ ११७ ॥ यह स्त्री जिसप्रकार जीवित अवस्था में सभी की हृदयंगमा (हृदयं गच्छति मनो हरति - मनोवल्लभा) थी, उसीप्रकार अब मरने पर भी सबको हृदयंगमा (हृदयं गमयति विरक्तं करोति मन में उद्वेग—भय व वैराग्य—उत्पन्न करनेवाली) हुई है, क्योंकि वस्तुस्वभाव त्यागने के लिए अशक्य है[2] ॥११८॥ काम-पीड़ित पुरुष पूर्व में जिस स्त्री के मुखकमल से उसप्रकार यथेच्छ क्रीड़ा करते थे जिसप्रकार राजहंस कमलवनों में यथेच्छ क्रीड़ा करता है और जिसके कुचकलशों के मध्यभाग पर हाथी सरीखे क्रीड़ा करते थे एवं जिसकी जघनस्थल सम्बन्धी मेखला (कटिनी) पर कामीपुरुष उस प्रकार क्रीड़ा करते थे जिस प्रकार मृग पर्वत-कटिनी पर यथेच्छ क्रीड़ा करता है परन्तु अब (मृतक अवस्था में) उसी स्त्री का शरीर ये प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुए बगुले फाड़ रहे हैं[3] ॥११९॥ मनोहर नेत्रशालिनी जो स्त्री पूर्व में विशेष गर्व-पूर्वक वार वार मद्यपान करती थी और कुटिल भ्रुकुटिवाली जो वार वार स्मरण करके हर्षपूर्वक मधुर वाणी बोलती थी, अब वही स्त्री जिसका मनरूप बन्दर नष्ट होजाने के फलस्वरूप चेष्टा-हीन हुई इस श्मशान भूमि पर पड़ी हुई शृगालियों के भोजन को प्राप्त हुई है[4] ॥१२०॥ जिस स्त्री के विना संसार के मानवों को व्यापार-आदि संबंधी जीविकोपयोगी कष्ट उठाना निष्फल है और जिस प्रिया के विना गृह, भयङ्कर अटवी-सरीखे मालूम होते हैं एवं जिसके विना जीवन भी मृतक-जैसा है। हे भव्यप्राणियो ! आप लोग, उस स्त्री का शरीर यहाँ पर क्षण भर के लिए देखें[5] ॥१२१॥ जिस स्त्री का शरीर सांसारिक सुख का आश्रय—स्थान-होने से जीवित अवस्था में राग से रोमाञ्चित हुए कामीपुरुषों द्वारा भुजाओं से गाढ़ आलिङ्गन किया गया, चुम्बन किया गया व रति-विलास किया गया, उसका शरीर अब निम्नप्रकार दयनीय दशा को प्राप्त होरहा है, जिसका चर्म-पटल फट रहा है, जिसमें से मांस का सारभाग गिर रहा है, जिसकी नसों का बन्धन नीचे गिर रहा है, जिसकी सन्धिबन्धन-शक्ति नष्ट होरही है, जिसकी हड्डियों का समूह नष्ट होरहा है और जिसकी नसों की श्रेणी छिन्न-भिन्न होरही है[6] ॥१२२॥

---

१. उपमालंकार। २. अर्थान्तरन्यास अलंकार। ३. समुच्चय व उपमालंकार एवं वसन्ततिलकाछन्द। ४. उपमालंकार व वसन्ततिलकाछन्द। ५. उपमालङ्कार व वसन्ततिलका छन्द। ६. रूपकालङ्कार व शार्दूलविक्रीडित छन्द।

आः, कष्टादपि कष्टतरमहो स्मरविलसितम् ।
इत्थमन्तर्दुरन्ताङ्गी बहिर्मधुरविभ्रमा । विषवल्लीव मोहाय यदेषा जगतोऽजनि ॥१२३॥
अपि च—मायासाम्राज्यचर्याः कविजनवचनस्पर्द्धिमाधुर्यधुर्याः स्वप्नाप्तैश्वर्यशोभाः कुहकनयमयारामरम्योत्तराभाः ।
पर्जन्यागारसाराश्चिदिवपतिधनुर्बन्धुराश्च स्वभावादायुर्लावण्यलक्ष्म्यस्तदपि जगदिदं चित्रमत्रैव सक्तम् ॥१२४॥

हंहो हृदय, खरं दूरमन्तरसरः । तदलमवस्तुनि व्यासङ्गेन । इदमिह ननु प्रस्तुतमवधार्यताम्—
'नैवात्र सन्ति यमिनामुचितावकाशाः स्वाध्यायबन्धुरधरावसराः प्रदेशाः ।
वृन्दं महत्तपन एष तपत्युदारं वाताश्च वान्ति परितः परुषप्रचाराः ॥१२५॥
किं च— यन्मृतानामवस्थानं तत्कथं जीवतां भवेत् । अन्यत्र शवशीलेभ्यः को नामेहाग्रहस्ततः ॥१२६॥

प्रस्तुत सुदत्ताचार्य ने विचार किया—हे प्राणियो ! कामदेव का चरित्र अत्यन्त निंदनीय है—

जिस कारण जिसप्रकार विषवल्ली भीतर से दुष्ट स्वभाववाली (घातक) और बाहर से सुस्वादु होती हुई जगत के प्राणियों को मूर्च्छित कर देती है, उसीप्रकार यह स्त्री भी, जिसका शरीर मध्य में दुष्ट स्वभाव-युक्त है और बाहिर से सौन्दर्य की भ्रान्ति उत्पन्न करती है, जगत के प्राणियों को मूर्च्छित करने के लिए उत्पन्न हुई है[1] ॥१२३॥ संसार में प्राणियों की आयु (जीवन), शारीरिक कान्ति और लक्ष्मी (धनादि वैभव) स्वभाव से ही क्षणिक हैं और उसप्रकार ऊपरी मनोहर मालूम पड़ती हैं जिसप्रकार विद्याधरादि की माया से उत्पन्न हुआ चक्रवर्त्तित्व मनोहर मालूम पड़ता है। इनमें उसप्रकार की श्रेष्ठ दिखाऊ मधुरता है, जिसप्रकार विद्वान् कवि-मण्डल के शृङ्गार रस से भरे हुए वचनों में श्रेष्ठ मधुरता होती है। इनकी शोभा उसप्रकार की है जिसप्रकार स्वप्न (निद्रा) में मन द्वारा प्राप्त किये हुए राज्य की शोभा होती है और इनकी कान्ति उसप्रकार अत्यन्त मनोहर और उत्कृष्ट मालूम पड़ती है जिसप्रकार इन्द्रजाल से बने हुए बगीचे की कान्ति विशेष मनोहर व उत्कृष्ट मालूम पड़ती है एवं इनकी रमणीयता उसप्रकार झूँठी है जिसप्रकार मेघपटल के महल की रमणीयता झूँठी होती है एवं ये उसप्रकार मिथ्या मनोहर प्रतीत होते हैं जिसप्रकार इन्द्रधनुष रमणीक मालूम पड़ता है तथापि यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुआ पृथिवी का जनसमूह इन्हीं आयुष्य, लावण्य और धनादि में आसक्त करता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है[2] ॥ १२४ ॥

अहो आत्मन् ! तुम पूर्वोक्त विचारधारा के प्रवाह में बहुत दूरतक बह गए। अर्थात्—तुमने यह क्या विचार किया ? क्योंकि आत्मद्रव्य से भिन्न वस्तु के विचार करने से कोई लाभ नहीं। अस्तु अब प्रकरण की बात सोचनी चाहिए।

इस श्मशान भूमि पर ऐसे स्थान नहीं हैं, जो मुनियों के लिए योग्य अवकाश (स्थान) देने में समर्थ हों और जिनमें स्वाध्याय के योग्य क्षेत्र शुद्धि-संयुक्त भूमि का अवसर पाया जावे। हमारा मुनिसंघ भी महान् है एवं यह सूर्य भी अत्यधिक सन्तापित कर रहा है और यहाँ का वायु-मण्डल भी चारों ओर से कठोर संचार करनेवाला बह रहा है, अतः यहाँ ठहरना योग्य नहीं[3] ॥१२५॥ वास्तव में जो भूमि मुर्दों के लिए है, वह शाकिनी, डाँकिनी और राक्षसों को छोड़कर दूसरे जीवित पुरुषों के ठहरने लायक किसप्रकार हो सकती है? अतः हमें यहाँ ठहरने का आग्रह क्यों करना चाहिए? अपितु नहीं करना चाहिए[4] ॥ १२६ ॥

---

१. उपमालङ्कार । २. उपमालङ्कार व स्रग्धराछन्द । ३. समुच्चयालङ्कार व वसन्ततिलकाछन्द । ४. आक्षेपालङ्कार ।

पुनर्यावदयं दिगन्तरालेषु लोचने प्रसारयति तावदुत्तरस्यां हरिति राजपुरस्याविदूरवर्तिनं मुनिमनोहरमेखलं नाम खर्वतरं पर्वतमपश्यत्। यः खलु धम्मिल्लविन्यास इव नागनगरदेवतायाः, किरीटोत्कर इवाटवीलक्ष्म्याः, स्तनाभोग इव महीमहिलायाः, क्रीडाकन्दुक इव वनदेवतायाः, मातृमोदक इव दिग्बालकलोकस्य, ककुदोद्गम इव भूगोलगवेन्द्रस्य, द्वारपिधानस्तूप इव भुजङ्गभुवनस्य, यष्ट्यधिष्ठानबन्ध इव विहायोविहङ्गमस्य, त्रिविष्टपकुटनिर्माणमृत्पिण्ड इव प्रजापतिजनस्य, केलिप्रासाद इव ककुप्पालककन्यकानिकरस्य, गतिस्खलनलोष्ट इव कलिकालस्य, मानस्तम्भ इवैकशिलाघटितारम्भः, शिवशातकुम्भप्रदेश इव विदूरितदयितासमावेशः; अलोकाकाश इव विगतजन्तुजातावकाशः, तपश्चरणागम इव समुत्सारितवर्षधरसमागमः, क्षप [ण]कश्रेणिरिव तपःप्रत्यवायरहितक्षोणिः, महावृत्तप्रस्तार इव विस्तीर्णपादविस्तारः, समीरकुमारैर्विरचितविशुद्धिरिव स्वाध्यायोचितः, कान्तारदेवताभिः संमार्जित इव कमनीयकन्दरः, पर्यन्तपादपैः संपादितकुसुमोपहारः प्रकृतरङ्गावलिरिव गुहापरिसरेषु,

---

तदनन्तर—श्मशानभूमि देखने के अनन्तर—उक्त प्रकार का विचार करते हुए ज्यों ही उन्होंने दिशासमूह की ओर दृष्टिपात किया त्यों ही उन्होंने उत्तरदिशा में राजपुर नगरके समीप 'मुनिमनोहर मेखल' नाम का ऐसा लघु पर्वत देखा, जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—धरणेन्द्र नगर की देवता का केशपाश-समूह ही है। अथवा—मानों—वनलक्ष्मी का मुकुट-समूह ही है। अथवा मानों—पृथिवीरूपी स्त्री के कुच कलशों का विस्तार ही है। अथवा—मानों—वनदेवी के क्रीड़ा करने की गेंद ही है। अथवा—मानों—दिशा रूपी स्त्री के बालक-समूह का माता द्वारा दिया हुआ लड्डू ही है। अथवा—मानों पृथिवीवलयरूप बैल के स्कन्ध का उन्नत प्रदेश ही है। अथवा—मानों—पाताल लोक के दरवाजे को ढकनेवाला खम्भा ही है। अथवा—मानों—आकाशरूप पक्षी का यष्टि पर आरोपण करने के लिए बना हुआ चबूतरा ही है। अथवा—मानों—ब्रह्मलोक का ऐसा मिट्टी का पिंड है, जो तीन लोक रूप घड़े के निर्माण करने में सहायक है। अथवा—मानों—दिक्पालों की कन्या-समूह का क्रीड़ामहल ही है। अथवा—मानों—पंचमकाल (दुषमाकाल) की गति को रोकने वाली चट्टान ही है। अथवा—मानों—एक अखण्ड शिला द्वारा निर्माण किया हुआ समवसरण भूमि का मानस्तम्भ ही है। अथवा—मानों—ऐसा मोक्ष रूप सुवर्ण का स्थान ही है, जहाँ पर स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया है। अथवा मानों—वह, ऐसा अलोकाकाश ही है, जहाँपर समस्त प्राणियों के समूह का प्रवेश नष्ट होगया है। अथवा मानों—ऐसा दीक्षाग्रहण सिद्धान्त ही है, जिसमें नपुंसकों का प्रवेश निषिद्ध किया गया है। जिसकी पृथिवी (एकान्त स्थान होने के फलस्वरूप) उसप्रकार तपश्चर्या में होनेवाले प्रत्यवायों (दोषों—विघ्नबाधाओं) से शून्य थी जिसप्रकार क्षपकश्रेणी के स्थान (आठवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानों के स्थान) तपश्चर्या संबंधी दोषों (राग, द्वेष व मोहादि दोषों) से शून्य होते हैं (क्योंकि क्षपक श्रेणी में चारित्र मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियों का क्षय पाया जाता है)। इसीप्रकार जो उसप्रकार विस्तीर्ण पादों (समीपवर्ती पर्वतों) से विस्तृत था, जिसप्रकार महाछन्दों के प्रस्तार (रचना) विस्तीर्णपादों (२६ अक्षर वाले चरणों) से विस्तृत होते हैं। स्वाध्याय के योग्य वह ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—वायु कुमारों द्वारा जिसकी शुद्धि कीगई है। वह वनदेवियों द्वारा संशोधित किया हुआ होने से ही मानों—उसकी गुफाएँ अतिशय मनोहर थीं। अर्थात्—जिसप्रकार तीर्थङ्कर भगवान् की विहारभूमि वनदेवियों द्वारा संमार्जन कीजाने से अतिशय मनोज्ञ होती है। जिसकी गुफाओं के प्राङ्गणों पर स्थित हुए अग्रवर्ती वृक्षों द्वारा जिसे पुष्पों की भेंट दीगई थी, इसलिए ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—उसको गुफाओं के प्राङ्गणों पर विचित्र वर्णशाली रंगावली ही कीगई है।

क्षुपावृतोपान्तोपत्यकः पुलकित इव महामुनिसमागमात्, स्रवन्निकुञ्जनिर्झरजलः प्रकटितानन्दलोचनबाष्प इव संयमिसंभावनाराधनात्, शयनशिलाश्लाघ्यमेखलः परिकल्पितशीर इव दूयातिगानाम्, एवमन्यैरपि तैस्तैरघमर्षणैर्गुणैस्त्रिविधस्यापि कर्मन्विवृन्दस्योत्पादितप्रीतिः ॥

समुपसृत्य निषद्य च निर्वर्तितमार्गमध्याह्नक्रियः स्वयं तद्दिवसोपात्तोपवासः [स] समाकलय्य च परिणतकालमहर्दलमखिलं श्रमणसङ्घमात्मदेशीयेनान्तेवासिनाधिष्ठितं लोचनगोचरारामेषु ग्रामेषु विश्राणार्थमादिदेश ॥

तत्र च नन्दिनीनरेन्द्रस्य यशोधरमहाराजात्मजस्य यशोमतिकुमारस्याग्रमहिष्यां चण्डमहासेनसूनुतासरित्संवर्धितस्य मारिदत्तमहीश्वरमहीरुहस्यानुजन्मतालताकन्दल्यां कुसुमावल्यां सह संभूतं पूर्वभवस्मरणात् संसारसुखान्यागामिजन्मदुःखाङ्कुर

जिसकी समीपवर्ती उपत्यका (पर्वत की समीपवर्ती भूमि) छोटे-छोटे वृक्षों से वेष्टित थी, अतः वह ऐसा प्रतीत होता था—मानों—महामुनि—सुदत्ताचार्यश्री—के समागम से ही उसने हर्ष से उत्पन्न हुए रोमाञ्चों का कञ्चुक ही धारण किया है। जिसके निकुञ्जों (लताओं से आच्छादित प्रदेशों) से झरनों का जल प्रवाहित होरहा था, इसलिए ऐसा मालूम पड़ता था-मानों—संयमी महापुरुषों की कीजानेवाली आराधना—पूजा—से ही मानों—उसने हर्ष के नेत्राश्रुओं का प्रवाह प्रकट किया है। जिसकी कटिनियाँ, शिलाओं पर उकेरे हुए गृहों से और विशाल चट्टानों से प्रशंसनीय थीं; इसलिए वह ऐसा प्रतीत होता था—मानों—उसने द्वयातिगों (रागद्वेष रहित साधु महात्माओं या धूलि व अन्धकारशून्य पर्वतों) के लिए शयनासन ही उत्पन्न किया है। इसप्रकार प्रस्तुत पर्वत ने उक्त गुणों के सिवाय अन्य दूसरे पाप शान्त करनेवाले प्रशस्त गुणों (विस्तीर्णता व प्रासुकता-आदि) द्वारा तीन प्रकार के मुनिसंघ (आचार्य, उपाध्याय व सर्वसाधु समूह) को अपने में प्रीति उत्पन्न कराई थी।

उक्त पर्वत पर संघसहित जाकर स्थित हुए उन्होंने मार्ग व मध्याह्न की क्रिया पूर्ण की। अर्थात्—मार्ग में संचार करने से उत्पन्न हुए दोषों की शुद्धि करने के लिए प्रायश्चित्त किया और देव वन्दना की एवं उसी दिन (चैत्र शुक्ला नवमी के दिन) हिंसा-दिवस जानकर उपवास धारण किया। अर्थात्—यद्यपि उन्होंने अष्टमी का उपवास तो किया ही था, परन्तु चैत्र शुक्ला ९वीं को राजपुर में होनेवाली हिंसा का दिवस जानकर उपवास धारण किया था। तत्पश्चात्-आहार संबंधी मध्याह्न-वेला जानकर उन्होंने अपने ऐसे मुनिसंघ (ऋषि, मुनि, यति व अनगार तपस्वियों का संघ) को, जो अपनी अपेक्षा तपश्चर्या व आध्यात्मिक ज्ञान-आदि गुणों से कुछ कम योग्यताशाली महान् शिष्य से रक्षित था, राजपुर के समीपवर्ती ग्रामों में, जिनके बगीचे नेत्रों द्वारा दिखाई देरहे थे, जाकर गोचरी (आहार) ग्रहण करने की आज्ञा दी।

तदनन्तर उन्होंने मानसिक व्यापार—अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम—रूप अग्नि से प्रज्वलित हुए अवधिज्ञान रूप दीपक द्वारा यह निश्चय किया कि 'हमारे मुनिसंघ में रहनेवाले अभयरुचि (क्षुल्लक श्री) और अभयमति (क्षुल्लिका श्री) नामक क्षुल्लक जोड़े के निमित्त से निश्चय से आज होनेवाली महाहिंसा का वीभत्स ताण्डव बन्द होगा (रुकेगा) और जिसके फलस्वरूप यहाँ के समस्त नगर वासियों, मारिदत्त राजा और चण्डमारी-आदि देवियों को अहिंसारूप धर्म-पालन करने के विशुद्ध अभिप्राय से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होगा' इसलिए उन्होंने अपने मुनिसंघ के उक्त नामवाले ऐसे क्षुल्लक-जोड़े को उसी राजपुर नगर में जाकर आहार ग्रहण करने की आज्ञा दी, जो कि यशोधर महाराज के पुत्र व उज्जयिनी नगरी के राजा 'यशोमति कुमार' की ऐसी कुसुमावली नामकी पट्टरानी के उदर से साथ-साथ उत्पन्न हुआ भाई बहिन का जोड़ा था एवं जो, 'पूर्वजन्म के स्मरणवश सांसारिक सुखों (कमनीय कामिनी-आदि)

प्रसूतिक्षेत्राणीव मन्यमानमङ्गस्यापि जिनरूपग्रहणायोग्यत्वाचरमाचारवशामुपासकदशामाश्रितवद्‌ मुनिकुमारकयुगलम् 'अस्मात्खल्वद्य पौरपुरेश्वरदेवतानां धर्मकर्मविशादुपशमो भविष्यति' इत्यन्तःसंकल्पकृशानुकृतप्रबोधेनावधिबोधप्रदीपेन प्रत्यवमृश्य तत्रैव पुरे तदर्थमादिक्षत् ॥

तदपि तं भगवन्तमुपसंगृह्य मनुष्यरूपेण परिणतं धर्मद्वयमिव, मर्त्यलोकावतीर्णं स्वर्गापवर्गमार्गयुगलमिव, नयनविषयतां गतं नययमलमिव, प्रदर्शितात्मरूपं प्रमाणद्वितयमिव, बहिःप्रकटव्यापारं शुभध्यानयुग्ममिव तपश्चिकीर्षया प्रतिपन्नसोदरभावं रतिस्मरमिथुनमिव, पुरो युगान्तरावलोकप्रणिधानाधारैर्दयार्द्रनयनव्यापारैरभयदानामृतमिव प्राणिषु प्रवर्षत्, समन्तादुन्मुखाग्रलेखार्हैश्चरणनखमयूखप्ररोहबर्हैर्वर्त्मनि कृतसत्त्वानुकम्पनं संयमोपकरणमिव पुनरुक्तयत्,

को भविष्य जन्म सम्बन्धी दुःखरूप अंकुरों की उत्पत्तिहेतु क्षेत्र सरीखे हैं' इसप्रकार भलीभाँति जान रहा है तथा जिसने अखीर की ग्यारहवीं प्रतिमा के अधीन क्षुल्लक अवस्था का विशेषरूप से आश्रय किया था, क्योंकि अब भी (तपश्चर्या का परिज्ञान होने पर भी) उसका शरीर सुकोमल होने के कारण निर्ग्रन्थ मुद्रा-धारण के अयोग्य था। कैसी है वह कुसुमावली रानी? जो चण्डमहासेन राजा की पुत्रतारूप नदी से बढ़ाए हुए ऐसे मारिदत्त राजा रूप वृक्ष की लघुभगिनी (बहिन) रूपलता की कन्दली थी। अर्थात्— जो चण्डमहासेन राजा की पुत्री और मारिदत्त महाराज की छोटी बहिन थी और जिसे उज्जयिनी के नरेन्द्र 'यशोमति' कुमार की पट्टरानी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।'

ऐसा क्षुल्लक जोड़ा, मारिदत्त राजा द्वारा मनुष्य युगल लाने के हेतु भेजे हुए ऐसे कोट्टपाल किङ्करों द्वारा पकड़ लिया गया जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों—मुनिधर्म व श्रावकधर्म का ऐसा जोड़ा ही है, जिसने उस भगवान् सुदत्ताचार्य को नमस्कार करके मनुष्य की आकृति धारण की है। अथवा मानों—मनुष्यलोक में अवतीर्ण हुआ स्वर्ग व मोक्षमार्ग का जोड़ा ही है। अथवा—मानों—दृष्टिगोचर हुआ द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय का जोड़ा ही है। अथवा मानों—अपना स्वरूप प्रकट करनेवाले प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणों का जोड़ा ही है। अथवा मानों—मन से निकलकर बाहिर प्रकट हुआ, धर्मध्यान व शुक्लध्यान का जोड़ा ही है। सर्वोत्तम व अनोखी सुन्दरता के कारण जो क्षुल्लक जोड़ा ऐसा प्रतीत होता था, मानों—ऐसे रति और कामदेव का जोड़ा ही है, जिन्होंने तपश्चरण करने की इच्छा से परस्पर में भाई-बहिन-पना स्वीकार किया है। जिसकी नेत्रों की दृष्टि, आगे चार हाथ पर्यन्त पृथिवी को देखने की सावधानता धारण करनेवाली होने से दया से सरस थी, इससे ऐसा मालूम होता था—मानों—वह अपनी दया-मयी दृष्टि द्वारा समस्त प्राणि-समूह के ऊपर अभयदान रूप अमृत की वर्षा कर रहा है। अपने चरण-नखों के किरणाङ्कुर रूप मयूर-पिच्छों द्वारा, जो कि ऊर्ध्वमुखवाले अग्रभागों से योग्य थे, वह क्षुल्लक जोड़ा, मार्ग में समस्त प्राणियों की रक्षा करनेवाले अपने संयम के उपकरण (मोरपंख की पीछी) को मानों—द्विगुणित कर रहा था। भावार्थ—उक्त क्षुल्लक जोड़ा मार्ग में प्राणिरक्षा के उद्देश्य से संयमोपकरण (चारित्रसाधक मयूरपिच्छ की पीछी) धारण किये हुए था। क्योंकि जब मार्ग में स्थित जीव-जन्तु विशेष कोमल मयूरपिच्छ द्वारा प्रतिलेखन—संरक्षण किये जाते हैं तब उनकी भलीभाँति रक्षा होती है। मयूरपिच्छों द्वारा प्रतिलेखन किये हुए (सुरक्षित) प्राणी इसप्रकार सुखी होते हैं मानों वे पालकी में ही स्थित हुए हैं। क्योंकि मयूरपिच्छ नेत्रों में प्रविष्ट होजाने पर भी उन्हें पीड़ित नहीं करते। अतः जैनतत्वदर्शन में साधुपुरुष व क्षुल्लक को संयमोपकरण (मयूरपिच्छ) रखने का विधान है। क्योंकि उसमें मार्दवता, शरीर को धूलि-धूसरित न होने देना, सुकोमलता-आदि जीवरक्षोपयोगी पाँच गुण पाये जाते हैं।

१, उपमालङ्कार।

परिगृहीतमहातपश्चरणभारमिव मन्दमन्दमध्वनि विहितविहारम्, अभिमानव्ययभयाद्विभ्यदिव पुरवीथिषु निभृतजिह्वारथम्, अतिबालिशदशमपि श्लाघनीयशीलैस्तपःपयोधिकल्लोलैर्वरीयसामपि शंसितव्रतचेतसामाचरिताश्चर्यचित्तचमत्कारम्,

'न दैन्यात्प्राणानां न च हृदयहरिणस्य रतये न दर्पादङ्गानां न च करणकरिणोऽस्य मदनात् ।
विधावृत्तिः किं नु क्षतमदनचरितश्रुतविधेः परे हेतौ मुक्तेरिह मुनिषु च खलु स्थितिरियम् ॥१२७॥
श्रुताय येषां न शरीरवृद्धिः श्रुतं चरित्राय च येषु नैव । तेषां बलित्वं ननु पूर्वकर्मव्यापारभारोद्वहनाय मन्ये ॥१२८॥
संसारवार्धेस्तरणैकहेतुमसारमप्येनमुशन्ति यस्मात् । तस्मान्निरीहैरपि रक्षणीयः कायः परं मुक्तिलताप्रसूत्यै' ॥१२९॥

इति विचिन्तयत्, तस्मान्महामुनिसमानन्दितवनदेवतामुखमण्डलात्कुण्डशैलात्त्रिचतुराणि निवर्तनान्यतिक्रान्तम्,

---

प्रकरण में प्रस्तुत क्षुल्लक जोड़ा भी मयूरपिच्छ की पीछी, जो कि चारित्र रक्षा का साधन है, रखता था[1]। प्राणिरक्षा के उद्देश्य से मार्ग पर प्रस्थान करता हुआ वह क्षुल्लक जोड़ा ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—वह अपने शिर पर महान् तपश्चर्या का बोझ धारण किये हुए है। जिसने नगर के मार्ग पर संचार करते समय अपने जिह्वारूपी रथ का संचार रोक रक्खा था, अतः मौनपूर्वक गमन करता हुआ वह ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—वह अपने स्वाभिमान-भङ्ग होने के भय से ही भयभीत होरहा था। क्योंकि वचन-व्यापार से स्वाभिमान नष्ट होता है, अतः वह भोजनवेला में मौनपूर्वक गमन कर रहा था। अत्यन्त बालक अवस्था से युक्त होने पर भी जिसने अपनी प्रशस्त आचारशाली तपश्चर्या रूप समुद्र-तरङ्गों द्वारा प्रशंसनीय चारित्र के धारक अत्यन्त वृद्ध तपस्वियों के चित्त में आश्चर्य से चमत्कार उत्पन्न किया था।

जो निम्नप्रकार विचार करते हुए विहार कर रहा था—'इस संसार में साधु महापुरुषों की आहार-ग्रहण में प्रवृत्ति, न तो प्राणरक्षा के उद्देश्य से, न अपने मनरूपी मृग का पोषण करने के उद्देश्य से होती है, न शारीरिक आठों अङ्गों को बलिष्ठ करने के लिये और न इन्द्रियरूप हाथियों के समूह को मदोन्मत्त बनाने के लिये होती है, किन्तु वे, निर्दोष आहार को, कामवासना को जड़ से उन्मूलन करनेवाले वीतराग सर्वज्ञ तीर्थङ्करों द्वारा निरूपित मुक्तिलक्ष्मी की प्राप्ति का उत्कृष्ट उपाय समझ कर निश्चय से उसमें प्रवृत्त होते हैं। भावार्थ—निर्दोष आहार से शरीर रक्षा होती है और उससे मोक्ष-प्राप्ति के उपायों में प्रवृत्ति होती है, यही साधु महात्माओं की निर्दोष आहार प्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य है[2] ॥१२७॥ जिन मानवों या साधु पुरुषों की शारीरिक वृद्धि श्रुताभ्यास (शास्त्रों का पठन-पाठन) के उद्देश्य से नहीं है और जिनका श्रुताभ्यास, चारित्र-संगठन करने के लिए नहीं है, उनकी शारीरिक दृढ़ता (बलिष्ठता) ऐसी प्रतीत होती है मानों—निश्चय से उन्होंने केवल पूर्वजन्म में किये हुये पाप कर्मों के व्यापार का बोझा ढोने के लिये ही उसे प्राप्त किया है ऐसा मैं जानता हूँ[3] ॥१२८॥ क्योंकि तीर्थङ्करों ने, इस मानव-शरीर को असार (तुच्छ) होने पर भी संसार समुद्र से पार करने का अद्वितीय (मुख्य) कारण कहा है, अतः दिगम्बर साधु पुरुषों को भी मुक्ति रूपी लता को उत्पन्न करने के लिये निश्चय से इसकी रक्षा करनी चाहिए'[4] ॥१२९॥

उक्त प्रकार चिन्तवन करने वाला और प्रस्तुत 'मुनिमनोहर मेखला' नामक छोटे पर्वत से, जहाँ पर महामुनियों से वन देवताओं का मुख-कमल प्रफुल्लित किया गया था, तीन चार निवर्तन (मील वगैरह) का मार्ग पार करके राजपुर की ओर आहारार्थ गमन कर रहा था,

---

१—तथा चोक्तं—रजसेदाणमगहणं मद्दवसुकुमालदालहुत्तं च । जत्थे दे पंचगुणा तं पडिलिहं पसंसन्ति ॥
यशस्तिलक की संस्कृत टीका पृ० १३७ से संकलित —संपादक

२. मध्यदीपकालङ्कार । ३. उत्प्रेक्षालङ्कार व उपेन्द्रवज्राछन्द । ४. उपमालङ्कार व उपजातिछन्द ।

आपातदुस्सहैर्महापरीषहैरिव तपः परीक्षितुमुपात्तासुराकारविधिभिर्धर्मप्रणिधिभिरिव प्रतिपक्षभावनाप्रकोपप्रपूर्तैर्मूर्तैः कर्मभिरिव धर्मध्वंसप्रबलैः कलिकालबलैरिव च तैस्तदानयनाय तेन महीक्षिता प्रेषितैर्नागरिकानुचरगणैः परिगृह्य परम्पराचरितवक्त्रवीक्षणैः 'आः, कष्टा खलु शरीरिणां सेवया जीवनचेष्टा पुरुषेषु । यस्मात्

सत्यं दूरे विहरति समं साधुभावेन पुंसां धर्मश्चित्तात्सह करुणया याति देशान्तराणि ।
पापं शापादिव च तनुते नीचवृत्तेन सार्द्धं सेवावृत्तेः परमिह परं पातकं नास्ति किंचित् ॥१३०॥

सौजन्यमैत्रीकरुणामणीनां व्ययं न चेद्भृत्यजनः करोति । फलं महीशादपि नैव तस्य यतोऽर्थमेवार्थनिमित्तमाहुः[१] ॥१३१॥

ऐसा वह क्षुल्लक-जोड़ा राजा मारिदत्त द्वारा मनुष्य-युगल लाने के लिए भेजे हुए ऐसे कोट्टपाल किङ्करों द्वारा पकड़ा गया, जो आगमन मात्र से उस प्रकार दुःखपूर्वक भी नहीं सहे जाते थे जिसप्रकार क्षुधा व तृषा-आदि परीषह आगमन मात्र से दुःखपूर्वक भी नहीं सहे जाते। जिन्होंने असुर-कुमारों (नारकियों को परस्पर में लड़ाने वाले देवताओं) सरीखी भयानक आकृति धारण की थी। अतः जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—प्रस्तुत क्षुल्लक जोड़े की तपश्चर्या की परीक्षा हेतु आए हुए राजकीय धर्म सम्बन्धी गुप्तचर ही हैं। अर्थात्—जिसप्रकार राजा के धर्म सम्बन्धी गुप्तचर धर्म की परीक्षा करने के लिए असुरों (दानवों) सरीखी रौद्र (भयानक) आकृति धारण करते हैं उसी प्रकार प्रस्तुत कोट्टपाल के नोकरों ने भी उक्त क्षुल्लक जोड़े की तपश्चर्या की परीक्षा करने के हेतु असुराकार (रौद्र-आकृति) धारण की थी। जो ज्ञानावरण-आदि कर्मों-सरीखे प्रतिपक्ष-भावना से विशेष क्रोध करते थे। अर्थात्—जिसप्रकार ज्ञानावरण-आदि कर्म प्रतिपक्ष-भावना (आत्मिक भावना—धर्मध्यानादि) से विशेष क्रोध करते हैं (धर्मध्यानादि प्रकट नहीं होने देते) उसी प्रकार वे भी प्रतिपक्षभावना (शत्रुता की भावना) से उत्पन्न हुए विशेष क्रोध से परिपूर्ण थे। वे धर्म का ध्वंस करने में उस प्रकार विशेष शक्तिशाली थे जिस प्रकार पंचमकाल (दुपमाकाल) की सामर्थ्य धर्म के ध्वंस करने में विशेष शक्तिशाली होती है। तदनन्तर (उस क्षुल्लक जोड़े को पकड़ लेने के बाद) वे लोग परस्पर एक दूसरे के मुख की ओर देखने लगे और उनका मनरूप समुद्र निम्नप्रकार अनेक प्रकार की संकल्प-विकल्प रूप तरङ्गों द्वारा विशेष चञ्चल हो उठा। उन्होंने पश्चाताप करते हुए विचार किया कि "दुःख है प्राणियों में से मनुष्यों की सेवावृत्ति की जीवन-क्रिया निश्चय से विशेष निन्दनीय है।

क्योंकि सेवावृत्ति करनेवाले मानवों का सत्य गुण सज्जनता के साथ दूर चला जाता है (नष्ट होजाता है) और उनके मन से प्राणिरक्षा रूप धर्म करुणा के साथ दूसरे देशों में कूचकर जाता है—नष्ट हो जाता है। एवं जिस प्रकार महामुनि द्वारा दिया गया शाप सैकड़ों व हजारों गुणा बढ़ता चला जाता है उसीप्रकार सेवावृत्ति करनेवालों का पाप भी क्षुद्र कर्मों के साथ-साथ सैकड़ों व हजारों गुणा बढ़ता चला जाता है, इसलिये सेवावृत्ति के समान संसार में कोई महान पाप नहीं है[१] ॥१३०॥

वास्तव में यदि सेवकसमूह, सज्जनता, मित्रता और जीवदया-आदि अपने गुणरूप मणियों का व्यय न करे तो उसे अपने स्वामी से धन कैसे प्राप्त होसकता है? क्योंकि विद्वानों ने कहा है कि धन खर्च करने से ही धन प्राप्त होता है[२] ॥१३१॥

---

१. काव्यसौन्दर्य—सहोक्त्यलङ्कार व मन्दाक्रान्ताछन्द । २. परिवृत्ति-अलङ्कार व उपजातिच्छन्द ।

इत्यनल्पसंकल्पकल्लोलोल्लोलस्वान्तसिन्धुभिः, 'संचिन्त्यान्तर्भवतु नामैवम्। तथाप्यस्मिन्भर्तुरादेशकर्मणि न प्रायेणाश्रेयांसि। यस्मादस्माकमप्याजन्माधर्मकर्मोपजीविनां निसर्गत आयःशूलिकाशयवशाभिनिवेशासेविनामेतद्दर्शनरभसात् करुणारसः स्वभावकाठिन्यनिष्ठुरोदयं हृदयं मृदूकरोति किं पुनर्न तस्य महीपतेर्विवेकबृहस्पतेः प्रकृत्यैव च विधुरबान्धवस्थितेः। तदत्र यथा स्वामिशासनमन्यथावृत्तिं न भजेत, यथा चेदं प्राणप्रयाणभयान्नोद्विजते, तथानुतिष्ठामः' इत्यभिप्रायप्रणयपरायणैरदुष्टान्तःकरणैः, अहो निखिलभुवनैकमङ्गलोचितकीर्तिमन्दाकिनीपवित्रितमूर्तिनिधान अशिश्विदान धर्मकथासनाथगल मुनिकुमारकयुगल, एतस्मिन्नुपान्तवर्तिनि वने भवानीभवनगतश्चातुराश्रमगुरुर्भवदूव्रतमन्त्रमाहात्म्याकृष्टसकलर्तुसंभूतप्रसूनफलपल्लवालंकृतकरशाखाजालाद्वनपालात्तत्रभवतोः स्वयमेव स्वयंभुवा भुवनानन्दसंपादितदेहसौन्दर्यवतोरागमनमाकर्ण्य युष्मद्दर्शनकुतूहली द्वावपि भवन्तौ व्याहरति। तदित इत आगम्यताम्' इति भाषितभर्मनिर्भरैः', अमीषां च सर्वंकषमनुष्याणामिव तं भीषणं वेषमीषदुन्मेषेण चक्षुषा निरीक्ष्य

'सोढस्त्वत्प्रणयादनेन मनसा तद्दुःखदावानलः संसाराब्धिनिमज्जनादपि कृतं किंचित्त्वदानन्दनम्।
त्वत्क्रीडागमकारणोचितमतेस्त्यक्तः श्रियः संगमो यद्यापि विधे न तुष्यसि तदा तत्रापि सज्जा वयम् ॥ १३२ ॥

अस्तु (इसप्रकार सेवावृत्ति महान् पाप भले ही क्यों न हो) तथापि स्वामी (मारिदत्त महाराज) की आज्ञा-पालनरूप इस कार्य में हम लोगों को प्रायः करके कष्ट नहीं होसकते। क्योंकि इस क्षुल्लक जोड़े के दर्शन-वेग से उत्पन्न हुआ करुणारस जब हम लोगों के, जो कि जन्म-पर्यन्त पापकर्म से जीविका करते हैं और जिनका चित्त तीक्ष्णकर्म (महान् जीव-हिंसा-आदि पापकर्म) करने के कारण खोटा अभिप्राय रखता है, स्वाभाविक निर्दयता से निष्ठुरता-युक्त हृदय को कोमल बनाता है, तब ज्ञान की अधिकता में बृहस्पति सरीखे और दूसरों के दुःखों में स्वभावतः बन्धुजनों की तरह करुणारस से भरे हुए मारिदत्त महाराज के हृदय को कोमल नहीं बनायगा ? अपितु अवश्य बनायेगा। अतः ऐसे अवसर पर हम लोगों को ऐसा कार्य करना चाहिए, जिससे स्वामी की आज्ञा का उल्लङ्घन न हो और यह क्षुल्लक जोड़ा भी प्राण जाने के भय से भयभीत न होने पावे।' इसप्रकार हृदय से प्रेम करने में तत्पर और निर्दोष-दया-युक्त अन्तःकरण-शाली उन कोट्टपाल-किङ्करों ने निम्नप्रकार कहे हुए वचनों द्वारा दूसरों को धोखा देने के आडम्बर से परिपूर्ण होकर उस क्षुल्लक जोड़े से निम्नप्रकार वचन कहे—

तीन लोक को अनोखा मङ्गल (पापगालन व सुखोत्पादन) उत्पन्न करनेवाली कीर्तिरूपी गङ्गा से पवित्र हुई शारीरिक निधि के धारक, विशुद्ध चरित्रशाली और धर्मकथाओं से व्याप्त हुए कण्ठ से विभूषित ऐसे हे साधुकुमार युगल ! (क्षुल्लक जोड़े !) इसी समीपवर्ती बगीचे में चण्डमारी देवी के मन्दिर में स्थित हुए ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति इन चार आश्रमवासियों के स्वामी मारिदत्त महाराज ने ऐसे वनमाली द्वारा, जिसके कर-कमलों का अञ्जलि-समूह, आपके चरित्ररूप मन्त्र के प्रभाव से खिंचकर आई हुई समस्त ऋतुओं (हिम, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा व शरद-ऋतुओं) के पुष्पों, फलों व पल्लवों से सुशोभित होरहा था, आप पूज्य महात्माओं का, जो ऐसे अनोखे शारीरिक सौन्दर्य से अलंकृत हैं, जिसे ब्रह्मा ने तीन लोक को आनन्दित करने के लिए स्वयं निर्माण किया था, आगमन सुना है, अतः आपके दर्शन की तीव्र लालसा-युक्त हुए वे आप दोनों को आमन्त्रित कर रहे हैं, इसलिए यहाँ आइए। इसप्रकार धोखा देनेवाले उन कोट्टपाल किंकरों द्वारा बलि के निमित्त पकड़े हुए क्षुल्लक जोड़े ने यमराजके नौकरों सरीखे उनका महाभयङ्कर आकार कुछ उघाड़े हुए नेत्रों से देखकर निम्नप्रकार विचार किया—

'हे विधि ! (हे पूर्वोपार्जित कर्म !) तुम्हारे स्नेहवश इस आत्मा ने वह दुःखरूप दावानल सहन किया। अर्थात्—पूर्वजन्मों (यशोधर-आदि की पर्यायों) में विष-आदि द्वारा मारे जाने-आदि के

अयं महानेष निरस्तदोषः कृती कथं ग्रासपथे मम स्यात् । इति व्यपेक्षास्ति न जातु दैवे तस्मादलं दैन्यपरिग्रहेण² ॥ १३३ ॥

इति ध्यायत्, अनायतनसेवनं च तदाराधनधृतधिषणानामसंशयं सद्दर्शनं तिमिरयतीति चानुस्मरणस्मेरान्तःकरणम्, शरीरेण प्रतिपन्नतन्मनुष्यमार्गानुसरणम्, तत्र कानने कैश्चित्कृतान्तदंष्ट्राकोटिकुटिलकरवालार्धोल्लासत्रसन्मानसमेषमहिषमयमातङ्गमितङ्गपग्रहपाणिभिः कैश्चित्कीनाशरसनातरलतरवारिधाराजलरुधिरावलेहलालसपलाशावेशभयभ्रश्यत्कुम्भीरमकरसालूरकुलीरकमठपाठीनकठोरकरप्रयत्नैः कैश्चिन्मृत्युमुखावर्तनिभोद्भ्रान्तभ्रमिभ्रमिभीषितभेरुण्डक्रौञ्चकोककुर्कुटकुररकलहंसग्रहणविह्वलितबाहुभिः कैश्चित्परेतपतिपुरमार्गानुकारिकाण्डखण्डितचमरचमूरु (रु) हरिहरिणवृकवराहवानरगौरखुराकुलितहस्तैरपरैश्च यमावासप्रवेशपरप्रास-

---

भयङ्कर दुःख भोगे और संसार-समुद्र में डूबने से (मयूर व कुत्ता-आदि की पर्यायों के दुःख भोगने से) थोड़ा तुम्हें आनन्द पहुँचाया। तत्पश्चात्—ऐसी राज्यलक्ष्मी का भी, जिसका योग्य अभिप्राय तुम्हारी क्रीड़ा-प्राप्ति का हेतु है, त्याग किया। हे विधे ! तथापि अब भी यदि तुम संतुष्ट नहीं होते। अर्थात्—उक्त दुःखों के सिवाय दूसरे दारुण दुःख देने के इच्छुक हो तो उन अपूर्व दुःखों के भोगने के लिये भी हम सहर्ष तैयार हैं[1] ॥१३२॥ अमुक मानव महान्, निर्दोष व पुण्यशाली है, इसलिये मेरे मुख का ग्रास किसप्रकार होसकता है? इसप्रकार के विचार करने की इच्छा कराल काल नहीं करता। अतः ऐसे अवसर पर दीनता दिखाने से कोई लाभ नहीं है[2] ॥१३३॥

"कुत्सित देवता के मन्दिर में जाने और उसके दर्शन करने के फलस्वरूप सम्यग्दर्शन की आराधना के कारण स्थिर बुद्धिशाली सम्यग्दृष्टियों का सम्यक्त्व निस्सन्देह मलिन होता है" इसप्रकार की विचार-धारा से जिसका चित्त कुछ विकसित होरहा था और जिसने केवल शरीर मात्र से (न कि मन से) कोट्टपाल-सेवकों का मार्ग अनुसरण स्वीकार किया था, ऐसा वह क्षुल्लकजोड़ा कोट्टपाल-किङ्करों द्वारा पकड़कर 'महाभैरव' नामक चण्डमारी देवी के मन्दिर में बलि किये जाने के उद्देश्य से लाया गया। कैसा है वह 'महाभैरव' नामका मन्दिर? जो वन में स्थित हुआ ऐसे निर्दयी पुरुषों से वेष्टित था, जिनमें कुछ ऐसे थे, जो यमराज की दाढ़ के अग्रभाग सरीखे कुटिल खड्ग को आधा निकालने से भयभीत मनवाले मेढ़े, भैंसे, ऊँट, हाथी और घोड़ों को बलि करने के लिए अपने हाथों से पकड़े हुए थे। और उन (निर्दयी पुरुषों) में कुछ ऐसे थे, जिनके हाथों का प्रयत्न (सावधानता) ऐसे नक्र, मकर, मैंडक, कैंकड़े, कछुए और मच्छ-आदि जल-जन्तुओं के ग्रहण करने से कठोर (निर्दयी) था, जो कि यमराज की जिह्वासरीखे चञ्चल तलवार-संबंधी धारा (अग्रभाग) जल में स्थित रुधिर का चारों तरफ से आस्वादन करने की विशेष आकाङ्क्षा करनेवाले राक्षसों के प्रवेश के भय से नीचे गिर रहे थे। और उनमें से कुछ ऐसे थे, जिनकी भुजाएँ, ऐसे भेरुण्ड (महापक्षी), कुररी गण, चकवे, मुर्गे, कुरर (जलकाक) और कलहँस (बतख) पक्षियों के, जो यमराज की मुखरूप भँवर के सदृश ऊपर घुमाए हुए चक्र के चलने से भयभीत किये गए थे, ग्रहण करने से व्याकुलित थीं। और उनमें से कुछ ऐसे थे, जिनके हस्त यमराज के नगर संबंधी मार्ग समान भयङ्कर बाणों द्वारा कुपित व भयभीत किये गए चमरीमृगों, व्याघ्रों, शेरों, मृगों, भेड़ियों, शूकरों, बन्दरों और गोरखुरों (गधे के आकार पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन जीवों) से व्याकुलित थे।

इसीप्रकार जो 'महाभैरव' नामका मन्दिर उक्त निर्दयी पुरुषों के सिवा दूसरे ऐसे निर्दयी पुरुषों से वेष्टित था। जिनकी भुजाओं में, यमराज के निवासस्थान (यमपुर) में प्रविष्ट करानेवाले सरीखे भाले,

---

१. रूपकालङ्कार। २. आक्षेपालङ्कार।

पट्टिसदुःस्फोटभुपुण्डिभिण्डिमा (न्दिपा) लमुद्गराद्यनेकायुधाबाधनिरोधितस्थलजलविलान्तरालजातजन्तुजनितभुजप्रयासैरद्यापि काश्यपीश्वरेण स्वयमालम्भनारम्भासंभवादविहितहिंसाध्यवसायैर्नगनगरग्रामारण्यजन्मसमवायैः पञ्चजनैः समस्तं जगत्संजिहीर्षुभिः पिनाकपाणिपरिजनैरिव परिवृतं महाभैरवं नाम तद्देवतायतनमानिन्ये ॥

तत्र च ताभ्यां 'क्व च आवयोर्जन्म, क्व चेदं वयः, क्व चायं चरमदशाश्लाघनीयतपश्चरणप्रक्रमः, क्व चेयं धर्मान्तरायपरम्परायां दैवस्य महती निघ्नता, क्व चायमसदृशप्रदेशप्रवेशः' इति मनागनुशयस्तिमितगतिभ्यामखिलदिक्चक्रयावलोकिभिरवलोकितैरुपहारार्थोपनीतानामङ्गिनामाजन्मजीवनजुषः कमलकुवलयकुसुमाशिष इव स्पर्शयद्भ्यामुत्सर्पिभिस्त्रैलोक्यपावनालेखैः पादनखमयूखैस्तदवस्थेषु देहिषु वधानुबन्धिवयांसि मनस्तमांसीव प्रसादयद्भ्याम् ।

उत्खातखड्गो मुनिबालकाभ्यां व्यलोकि भूपो भवने भवान्याः। नितम्बबिम्बोत्फणभोगिभीमस्तटीधरो मध्य इवापगायाः ॥१३४॥

अपि च हिंसाध्यवसायाशयस्खलनप्रवृद्धक्रोधानुबन्धाद्बद्धक्रमोत्साहः

पट्टिस (अस्त्र-विशेष), मूसल, भुपुण्डि—गर्जक (अस्त्रविशेष) भिण्डिमाल (गोफण) और लोहघन को आदि लेकर यष्टि, शक्ति, छुरी, और कटारी-आदि अनेक अगणित शस्त्रों द्वारा निर्विघ्न रोके गए स्थल-जात (मृग-आदि), जल-जात (मगर-मच्छ-आदि), बिलों में पैदा हुए (सर्प-आदि) जीवों से, प्रयास (दुःख) उत्पन्न कराया गया था। और जो अब भी (समस्त जीवों के एकत्रीकरण के अवसर में भी) पृथ्वीपति (मारिदत्त राजा) द्वारा सब से प्रथम हिंसा का आरंभ नहीं किया गया था, इसीलिए ही जिन्होंने जीवों का घात कर्म (बलि) नहीं किया था। और जिनमें कुछ ऐसे निर्दयी पुरुषों के समूह थे, जो कि पर्वत, नगर, ग्राम और वृक्षशाली वनों में उत्पन्न हुए थे। समस्त पृथिवी-मंडल का संहार, (नाश) करने के इच्छुक हुए जो श्रीमहादेव के कुटुम्ब वर्ग सरीखे प्रतीत होते थे[1]।

"कहाँ तो प्रशस्त राजकुल में हुआ हमारा जन्म और कहाँ हमारी यह सुकुमार अवस्था और कहाँ वृद्धावस्था में धारण करने योग्य प्रशंसनीय तपश्चर्या का प्रारम्भ एवं कहाँ यह भाग्य की गुरुतर—अत्यधिक—तत्परता, जो कि तपश्चर्या में विघ्न-समूह उपस्थित करती है एवं कहाँ यह अयोग्य स्थान पर गमन"।[2] इसप्रकार की विचार-धारा के फलस्वरूप कुछ पश्चाताप करने के कारण मन्द गमन करनेवाले ऐसे क्षुल्लक जोड़े द्वारा, जो ऐसा प्रतीत होरहा था—मानों—समस्त दिशाओं के मण्डल को देखनेवाली अपनी दृष्टियों द्वारा उन प्राणियों के लिए, जो कि देवी की पूजा के निमित्त बलि (घात) करने के उद्देश्यसे लाये गये थे, आजीवन जीवन-दान देनेवाली कोमल और नीलकमल के पुष्पों सरीखी आशीषणों (मस्तकों पर पुष्पों का निक्षेप रूप आशीर्वादों) को ही प्रदान कर रहा है।[3] इसीप्रकार जो ऐसा मालूम पड़ता था, मानों—अपने चरणों के नख-समूह की फैलती हुई ऐसी किरणों द्वारा, जिनके अग्रभाग तीन लोक को पवित्र करनेवाले थे, बलि के निमित्त लाए हुए उन प्राणियों की हृदय संबंधी दीनताओं को, जिनमें उनके घात की अवस्थाएँ वर्तमान हैं, प्रकाशित कर रहे थे।[4]

चण्डमारी देवी के 'महाभैरव' नाम के मन्दिर में ऐसा 'मारिदत्त' राजा देखा गया, जिसने हाथ से तलवार उठा रक्खी थी, इसलिए जो नदी के मध्य में वर्तमान ऐसे पर्वत सरीखा था, जो कि कटनी मंडल (मध्य पार्श्वभाग) पर फणा उठानेवाले सर्प से भयङ्कर है।[5] ॥१३४॥ उसका विशेष वर्णन यह है—

उस मारिदत्त राजा ने जीव-हिंसा संबंधी व्यापार के दुरभिप्राय की क्रियानिपतन से बढ़े हुए तीव्र क्रोध की निरन्तर प्रवृत्ति से अपने पैर उठाने का उद्यम किया था एवं विशेष रूप से अपने नेत्र चंचल किये थे

---

* 'पुषः' इति क०। १. उपमा व समुच्चयालंकार। २. विषमालंकार। ३. यथासंख्योपमालंकार। ४. उपमालंकार। ५. अतिशयालङ्कार।

सिंह इव व्यालोललोचनः, संहाराविष्टः शिपिविष्ट इव भ्रुकुटिभीमः, समालोकितारातिघटः सुभट इव स्फुरिताधरः, सपत्नलोहित-विहितस्नानकामः परशुराम इव शोणशरीरः, प्रकटिततडिद्दण्डाडम्बरः प्रलयकालाम्भोधर इव निस्त्रिंशदुर्दर्शः प्रत्यूहितस्वान्तः कृतान्त इव भीषणाकारः, क्रौर्यानलस्फुलिङ्गवर्षोचितैर्वीक्षितैः पर्यन्तेषु दावदाहव्यासिमिव परिस्फारयन् ।
किं च । ज्वलन्निवान्तर्ज्वलितेन तेजसा दहन्निवोग्रेण विलोकितेन । आशीर्विषः सर्प इवातिरौद्रः प्रचण्डेन खादन्निव चेष्टितेन ॥१३५॥
सा देवता च । दंष्ट्राकोटिनिविष्टदृष्टिकुटिलव्यालोकविस्फारितभ्रूभङ्गोद्भटभावभीषणमुखत्रस्यत्त्रिलोकीपति ।
लालाटोल्बणलोचनानलमिलज्ज्वालाकरालाम्बरप्लुष्टद्विट्पुरत्रयं विजयते यस्याः प्रचण्डं वपुः ॥ १३६ ॥

इसलिए वह सिंह-सरीखा प्रतीत होता था। अर्थात्—जिसप्रकार सिंह शिकार करने के लिए तीव्र क्रोध पूर्वक अपने पैर—पंजे– उठाता हुआ नेत्रों का चपल बनाता है उसीप्रकार क्रूर हिंसा-कर्म में तत्पर मारिदत्त राजा भी जीव-हिंसाके दुरभिप्राय-वश तीव्र-क्रोध पूर्वक अपने पैर उठाते हुए नेत्रों को चपल कर रहा था।[1] भ्रुकुटि-भङ्ग से भयानक प्रतीत होनेवाला राजा मारिदत्त पृथ्वी का प्रलय करनेवाले शिपिविष्ट (कर्कश शरीर धारक श्रीमहादेव) सरीखा मालूम होता था। अर्थात्–जिसप्रकार श्रीमहादेव पृथिवी का प्रलय करने के अभिप्राय के अवसर पर अपनी भ्रुकुटि चढ़ाने से भयङ्कर प्रतीत होते हैं उसीप्रकार प्रस्तुत मारिदत्त राजा भी प्रस्तुत जीव हिंसा के अवसर पर अपनी भौंहों को चढ़ाने से भयङ्कर प्रतीत होता था।[2] वह क्रोध-वश अपने ओष्ठों को उसप्रकार संचालन करता था जिसप्रकार शत्रु-रचनाको भलीप्रकार देखनेवाला सुभट (सहस्रभट, लक्षभट, और कोटिभट योद्धा वीर पुरुष) क्रोध-वश अपने ओष्ठ का संचालन करता है। वह क्रोध-वश उसप्रकार रक्त शरीर का धारक था जिसप्रकार मारे हुए शत्रुभूत क्षत्रियों के रक्तप्रवाह में स्नान करने के इच्छुक परशुराम का शरीर क्रोध-वश लाल वर्णशाली होता है। जिसप्रकार विजली-दंड का विस्तार प्रकट करनेवाला प्रलयकालीन मेघ महान् कष्ट से भी देखने के लिए अशक्य होता है उसीप्रकार वह मारिदत्त राजा भी खड्गधारण करने के फलस्वरूप महान् कष्ट से भी देखने के लिए अशक्य था। उसकी आकृति उसप्रकार भयानक थी जिसप्रकार विघ्न-बाधाओं से व्याप्त मनवाले यमराज की आकृति भयानक होती है। वह क्रूरता रूपी अग्निकणों की वृष्टि सरीखे अपने निरीक्षणों द्वारा सामने दावानल अग्नि के दीप्ति-प्रसार को प्रचुर करता हुआ सरीखा प्रतीत होरहा था।[3]

उसका विशेष वर्णन यह है कि—वह मारिदत्त राजा आभ्यन्तर (हृदय) में प्रदीप्त हुए प्रताप से जल रहा सरीखा और अपनी तीव्र व क्रूर दृष्टि से जगत को भस्म कर रहा सरीखा एवं अपने प्रचण्ड व्यापार से जगत को भक्षण कर रहा जैसा प्रतीत होरहा था एवं जो आशी-विष (दंष्ट्रा-विष या दृष्टिविष वाले सर्प) समान अत्यन्त भयङ्कर मालूम होता था[4] ॥१३५॥

उक्त क्षुल्लक जोड़े ने ऐसी चण्डमारी देवी, देखी। जिस देवी का ऐसा अत्यन्त महान् शरीर, अप्रतिहत (न रुकनेवाले) व्यापार रूप से वर्तमान है। जिससे तीन लोक के स्वामी (इन्द्र, चन्द्र व शेषनाग-आदि) इसलिए भयभीत होरहे थे, क्योंकि उसका मुख, दाढ़ के अग्रभाग पर लगी हुई दृष्टि (नेत्र) के कुटिल निरीक्षण से प्रचुर किये हुए (बढ़े हुए) भ्रुकुटि-भङ्ग (भौंहों का चढ़ाना) के आडम्बर-पूर्ण अभिप्राय (समस्त प्राणियों का भक्षणरूप आशय) से भयानक था। इसीप्रकार जिसके द्वारा ऐसे आकाश में, त्रिपुर दानव के तीनों नगर भस्म किये गये थे, जो कि उसके ललाट में उत्पन्न हुए व प्रकट प्रतीत होनेवाले तीसरे नेत्र की अग्नि में एकत्रित हुई ज्वालाओं से रौद्र (भयानक) था[5] ॥१३६॥

---

१. उपमालंकार। २. उपमालंकार। ३. उपमालङ्कार ४. उपमालङ्कार। ५. अतिशयालङ्कार।

यस्याश्च । उत्सर्पद्दर्पसर्पाकुलविकटजटाजूटबिभ्यद्विधूनि प्रान्तप्रेङ्खत्कपालावलिचलनरणद्घण्टखट्वाङ्गकानि ।
दैत्यध्वंसप्रमोदोद्धुरविधुतकराभोगखर्वद्रिर्रीणि स्फाराघाताङ्घ्रिपातोच्छलदुदधिजलान्युद्धतोद्वेल्लितानि ॥१३७॥

अपि च तस्याः शरीरे मनसि च किमिव नैर्घृण्यं वर्ण्यते । यस्याः कपालमालाः शिखण्डमण्डनानि, शवशिशवः श्रवणावतंसाः, प्रमितप्रकोष्ठाः कर्णकुण्डलानि, परेतकीकसमणयः कण्ठभूषणानि, परासुनलरसाः शरीरवर्णकानि, गतजीवितकरङ्काः करक्रीडाकमलानि, सीधुसिन्धवः संध्याचमनकुल्याः, पितृवनानि विहारभूमयः, चिताभसितानि चन्द्रकवलाः, चण्डातकमार्द्रचर्माणि, सारसनं मृतकान्त्रच्छेदाः, प्रनर्तनप्रदेशः संस्थितोरःस्थलानि, कन्दुकविनोदः स्तमोत्तमाङ्गैः, जलकेलयः शोणितदीर्घिकाभिः, निशाबलिप्रदीपाः श्मशानकृशानुकीलाभिः, प्रत्यवसानोपकरणानि नरशिरःकरोटिभिः, महान्ति दोहदानि च सर्वसत्त्वोपहारेण । या च लघीयसी भगिनीव यमस्य, जननीव महाकालस्य, दूतिकेव कृतान्तस्य, सहचरीव कालाग्निरुद्रस्य, महानसिकीव मातृमण्डलस्य, धात्रीव यातुधानलोकस्य, श्राद्धभूमिरिव पितृपतिपक्षस्य, क्षयरात्रिरिव समस्तजन्तूनाम्,

---

जिसकी ऐसी उद्धत चेष्टाएँ (वेषभूषा-आदि) थीं, जिनमें ऐसे जटा-जूट से चन्द्रमा भयभीत होरहे थे, जो कि विस्तृत और मदोन्मत्त काल-सर्पों से वेष्टित और विकट था। अर्थात्—प्रकट दिखाई देरहा था अथवा विशेष ऊँचा होने से गगनचुम्बी था। इसीप्रकार जिनमें क्षुद्र घण्टियों वाली खाट की ऐसी तकियाएँ थीं, जो शरीर के आगे (गले पर) हिलनेवाली मुण्डमाला के हिलने से शब्द कर रही थीं एवं जिनमें महिषासुर-आदि के मारने से उत्पन्न हुए हर्ष से उत्कट व कपनेवाले हाथों के विस्तार से पर्वत भग्न-शिखर होने के फलस्वरूप छोटे किये गए थे। इसीप्रकार जिनमें प्रचुर व निष्ठुर प्रहार करनेवाले चरणों के गिराने से समुद्र की जलराशि ऊपर उछल रही थी[1] ॥१३७॥

विशेष यह कि उस देवी की शारीरिक व मानसिक निर्दयता का वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है? अर्थात्—उसकी निर्दयता असाधारण थी। मुर्दों की मुण्डश्रेणियाँ जिसके मस्तक के आभूषण हैं। मरे हुए बच्चे जिसके कर्णपूर हैं। मृतकों के प्रकोष्ठ (विस्तृत हाथ) जिसके कानों के कुण्डल हैं। मृतकों की हड्डियाँ रूप मणियाँ जिसके कण्ठाभरण हैं। मुर्दों के नलों (पैर की हड्डियों) का रस (उनसे निकलनेवाला पतला पदार्थ) जिसके शरीर का विलेपन द्रव्य था। मुर्दों के शुष्क शरीर ही जिसके कर-क्रीड़ा-कमल थे। मद्य के समुद्र ही जिसकी संध्या-कालीन आचमनों की कुल्याएँ (कृत्रिम नदियाँ) थीं। श्मशान-भूमियाँ जिसके क्रीड़ावन थे। चिता की भस्मराशि जिसके मुख को विभूषित करनेवाले आभूषण थे। गीले चमड़े, जिसका लहँगा था। मुर्दों की आँतों के खण्ड, जिसकी करधोनी थी। मुर्दों की हृदयभूमियाँ, जिसकी नाट्यभूमि थी। बकरों के मस्तकों से जिसकी कन्दुक-क्रीड़ा होती थी। खून की बावड़ियों से जिसकी जल-क्रीड़ा होती थी। श्मशानभूमि की चिता की अग्नि-ज्वालाओं से जिसके संध्या-कालीन दीपक प्रज्वलित होते थे। मुर्दा मनुष्यों के शिर की हड्डियों से जिसके भोजन-पात्र निर्मित हुए थे और समस्त जीवों की बलि (हिंसा) रूप पूजन द्वारा जिसके मनोरथ पूर्ण होते थे[2]। जो यमराज की छोटी बहिन सरीखी, रुद्र की माता-सी और यमराज की दूती जैसी थी। जो प्रलय-कालीन रुद्र की सखी सरीखी और ब्रह्माणी व इन्द्राणी-आदि सप्त प्रकार के मातृ-मण्डल की पाचिका-सी और राक्षस लोक की उपमाता सरीखी थी। एवं जो यमराज के कर्ण में प्राप्त हुए की श्राद्ध-भूमि सरीखी और समस्त प्राणियों की प्रलय कालीन रात्रि जैसी थी[3] ॥

---

१. अतिशयालंकार। २. समुच्चयालङ्कार। ३. मालोपमालङ्कार।

न केवलमसौ नाम्ना चण्डमारीति पप्रथे। अप्यक्रूचित्तचारित्रैश्चण्डमारीति विश्रुता ॥१३८॥

तत्र सकलकुवलयामृतरुचिरभयरुचिमुनिकुमारस्ताद्दग्विधं जनसंबाधमवनिभातारं देवताकारं चावलोक्य

'विशुद्धबोधं तप एव रक्षा ग्रामेष्वरण्येषु च संयतानाम्। अतः कृतान्तेऽपि समीपवृत्तौ मातर्मनो मास्म कृथा निरीशम् ॥१३९॥

जीवस्य सद्दर्शनरत्नभाजश्चारित्रयुक्तस्य समाहितस्य। आशंसितो मृत्युरुपप्रयातः परं प्रमोदस्य समागमाय ॥ १४० ॥

सा मृतिर्यत्र जन्तूनां पुरो दुःखपरम्परा। देहस्यास्य पुनर्मोक्षात् पुण्यभाजां महोत्सवः ॥१४१॥'

इति निवेदयन्निव यतो मा कदाचिदस्याः क्षैणो भावश्चिरान्मनोरथशतैरासादितमिदं मनुष्यजन्म विफलतां नैषीदिति कृतानुकम्पनः सकरुणमभयमतेः स्वसुर्मुखमवालोकिष्ट।

यद्देवैरपि—पर्याप्तं विरसावसानकटुकैरुच्चावचैर्नाकिनां सौख्यैर्मानसदुःखदाववहनव्यापारदग्धात्मभिः।

इत्थं स्वर्गसुखावधीरणपरैराशास्यते तद्दिनं यत्रोत्पद्य मनुष्यजन्मनि मनो मोक्षाय धास्यामहे ॥ १४२ ॥

प्रस्तुत देवता केवल नाम मात्र से 'चण्डमारी' रूप से प्रसिद्ध नहीं थी किन्तु अपनी शारीरिक व मानसिक क्रियाओं (क्रूरता-आदि) से भी चण्डमारी नाम से विख्यात थी ॥१३८॥

उस चण्डमारी देवी के मन्दिर में उक्त क्षुल्लक जोड़े में से 'अभयरुचि क्षुल्लक' ने समस्त कुवलय (पृथिवी-मण्डल) को उसप्रकार आल्हादित (आनन्दित) करते हुए जिसप्रकार चन्द्रमा समस्त कुवलय (चन्द्रविकासी कमल समूह) को आल्हादित—प्रफुल्लित—करता है, महाभयङ्कर जन-समूह, राजा मारिदत्त और चण्डमारी देवी की मूर्ति देखी। तत्पश्चात्—अपनी बहिन अभयमति क्षुल्लिका को निम्नप्रकार बोध कराते हुए ही मानों—और 'इसकी स्त्री पर्याय दुःखों से क्षुब्ध होकर किसी अवसर पर, दीर्घकाल से सैकड़ों मनोरथों द्वारा प्राप्त किये हुए इस मनुष्य जन्म को विफलता में न प्राप्त करा देवे' इसलिए उस पर दया का वर्ताव करते हुए उसने दया दृष्टि से उसके मुख की ओर दृष्टिपात किया।

"हे बहिन! यदि यमराज भी सामने आजाय तथापि अपना चित्त रक्षक-हीन मत समझो; क्योंकि संयमी (चारित्र धारक) साधु पुरुषों की सम्यग्ज्ञान पूर्ण तपश्चर्या समस्त ग्रामों व पर्वतों में उनकी रक्षा करती है[1] ॥१३९॥ हे बहिन! सम्यग्दर्शन रूप चिन्तामणि रत्न से अलंकृत और चारित्र (अहिंसादिव्रतों का धारण), धर्मध्यान व शुक्लध्यान से सुशोभित आत्मा को प्राप्त हुई मृत्यु केवल प्रशंसनीय ही नहीं है अपितु निश्चय से शाश्वत कल्याण को भी उत्पन्न करनेवाली होती हैं[2] ॥१४०॥ प्राणियों की मृत्यु वही है, जिसमें उन्हें भविष्य जीवन में विविध भाँति की दारुण दुःख-श्रेणी भोगनी पड़े। परन्तु पुण्यवान पुरुष इस शरीर के छोड़ने को महान् उत्सव (पर्व) मानते हैं, क्योंकि उससे उन्हें भविष्य जीवन में शाश्वत सुख प्राप्त होता है[3] ॥१४१॥ "ऐसे देवताओं के सुखों से, जो कि नीरस (तुच्छ) और अन्त में कटुक (हलाहल-विषसरीखे घातक) हैं। इसीप्रकार जो उत्कृष्ट और निकृष्ट हैं। अर्थात् इन्द्रादि पदों के सुख उत्कृष्ट और किल्विषादि देवों के सुख निकृष्ट हैं तथा जिनका स्वरूप मानसिक दुःख रूप दावानल को प्रज्वलित करने के कारण भस्म (नष्ट) कर दिया गया है, हम लोगों (देवों) का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।" इस प्रकार निश्चय करके स्वर्ग-सुखों का त्याग करने में तत्पर हुए देवता लोग भी ऐसे उस दिन को प्राप्त करने की

---

१. समुच्चयालङ्कार। २. रूपकालङ्कार।

३. तथा चोक्तं—'मृत्युकल्पद्रुमं प्राप्य येनात्मार्थो न साधितः। निमग्नो जन्मजम्बाले सः पश्चात् किं करिष्यति ॥१॥

संस्कृत टीका पृ० १५२ से समुद्धृत—सम्पादक

अर्थात्—जिसने मृत्युरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त करके आत्म-कल्याण नहीं किया, वह संसार रूप कीचड़ में फँसा हुआ बाद में क्या कर सकता है? अपितु कुछ नहीं कर सकता।

यस्तु लब्ध्वापि जन्मेदं न धर्माय समीहते। तस्यात्मकर्मभूमीषु विजृम्भन्तां भवाङ्कुराः ॥ १४३ ॥

स्थिरप्रकृतिरभयमतिरपि। तेनैव पर्याप्तमुदारबुद्धे स्नेहेन मे पूर्वकृतेन वत्स। तस्मात्त्वदेहे मयि च क्षताशः परं पदे तत्र मनो निधेहि ॥ १४४ ॥

त्वं मोक्षलक्ष्मीक्षमदीक्षदेहः स्त्रीत्वान्न तन्मान्यमिदं वपुर्मे। अतो मदीयाङ्गहतान्तरायो मुक्त्यङ्गनासंगमने यतस्व ॥ १४५ ॥

इति विदितपरमार्थतयावधीरितमरणभया प्रसादवद्भिरपाङ्गपातैः सहजन्मनश्चेतसि शोचनचिन्तामिवापचिन्वती तदाननमपश्यत्।

किंच। देहायत्ते कर्मण्ययं नरः स्त्रीजनोऽयमिति भवति। चित्तायत्ते कर्मण्यधिका नारी तु मध्यमः पुरुषः ॥१४६॥

अचलापतिरपि स मारि (र) दत्तः प्रतीहारनिवेदितागमनवृत्तस्य मुनिकुमारकयुगलस्य विलोकनात्कुम्भोद्भवोदयात्तोयाशय इव नितरां प्रससाद चेतसि, विश्वद्युतिदर्शनान्नभ इव मुमोच कलुषतां लोचनयोः, जिनैतिह्यावगमान्महाभाग इव करुणरसमवाप करणेषु,

---

इच्छा करते हैं, जिस दिन हम लोग (देवता लोग) मनुष्य जन्म धारण करके समस्त कर्मोंके क्षयरूप मोक्षमार्ग में अपना चित्त स्थिर करेंगे[1] ॥१४२॥

जो मानव, इस मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भी अहिंसा रूप धर्म के पालन करने की सुचारु रूपसे चेष्टा नहीं करता उसके जीव ओर कर्म के प्रदेशों में दूसरे जन्मरूप अङ्कुर विस्तार पूर्वक उत्पन्न होवें[2] ॥१४३॥

पश्चात् चरित्रपालन में निश्चल स्वभाववाली व परमार्थ (तत्वज्ञान) जानने के फलस्वरूप मृत्यु-भय को निवारण करनेवाली अभयमति क्षुल्लिकाश्री ने अपने सहोदर-भाई (अभयरुचि क्षुल्लक) की मानसिक पीड़ा को दूर करती हुई ही मानों—विशेष प्रसन्न दृष्टिपूर्वक उसके मुख-कमल की ओर देखा[3]।

हे विशिष्ट ज्ञानी बंधु! पूर्वजन्म (चन्द्रमती की पर्याय) में उत्पन्न हुए स्नेह से मुझे पूर्णता होचुकी है, इसलिए अपने व मेरे शरीर से ममत्व छोड़कर शाश्वत् कल्याण कारक मोक्षपद में अपनी चित्त-वृत्ति स्थिर करो[4] ॥१४४॥ क्योंकि तुम्हारा शरीर मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करानेवाली तपश्चर्या के योग्य है और स्त्री होने के कारण मेरा यह शरीर मोक्ष-दीक्षा में माननीय नहीं है, अतः मेरे शरीर की चिन्ता छोड़कर मुक्तिरूप स्त्री के साथ समागम करने में प्रयत्न करो[5] ॥१४५॥ यद्यपि शरीराश्रित क्रियाओं (मोक्षोपयोगी तपश्चर्या-आदि) में पुरुष और स्त्री का भेद है। अर्थात्—पुरुष स्त्री की अपेक्षा विशेष तपश्चर्या-आदि कर सकता है परन्तु हृदय के अधीन रहनेवाली क्रियाओं (दयालुता, उदारता, सरलता व शीलधर्म-आदि सद्गुणों) में पुरुष की अपेक्षा नारी में विशेषता है। अतः वह सीता-आदि की तरह विशेष प्रशंसनीय है, जब कि पुरुष उक्त गुणों में नारी की अपेक्षा मध्यम (जघन्य) है[6] ॥१४६॥

उस क्षुल्लक जोड़े के दर्शन से, जिसका आने का वृत्तान्त द्वारपाल द्वारा निवेदन किया गया था, मारिदत्त राजा का चित्त उसप्रकार अत्यन्त प्रसन्न हुआ जिसप्रकार अगस्त्य नामक तारा के उदय से समुद्र प्रसन्न (वृद्धिंगत) होजाता है। जिसप्रकार सूर्योदय से आकाश मलिनता छोड़ देता है उसीप्रकार उसके दर्शन से मारिदत्त राजा के नेत्रों ने कलुषता (क्रूरदृष्टि) छोड़ दी। जिसप्रकार पुण्यवान् पुरुष के हृदय में जैनागम के ज्ञान से करुणारस का संचार होता है उसीप्रकार प्रस्तुत क्षुल्लक जोड़े के दर्शन से मारिदत्त राजा की इन्द्रियों में भी करुणारस का संचार हुआ।

---

१. रूपकालङ्कार। २. रूपकालङ्कार। ३. उत्प्रेक्षालङ्कार। ४. जाति-अलङ्कार। ५. रूपकालङ्कार। ६. जाति-अलङ्कार।

प्रणिधानविशेषान्मुमुक्षुरिव तमस्तिरश्चकारान्तरात्मवृत्तिः । पुनः कोपप्रसादयोरपरनरपाललक्ष्मीलाघवेतरव्यवहारपरिच्छेद-विडम्बिततुलादण्डविभ्रमेण भ्रूलतोल्लासनसंभ्रमेणापवार्य सभाभ्यन्तराध्वनि जनसंबाधम्, अतीव च मनसि विस्मयमानः प्रहर्षोत्कर्षवर्षाभिस्यन्दबिन्दुमञ्जरीजटिलपक्ष्मपल्लवः 'कथंनामैतद्दर्शनादावान्तामृतमिव नृशंसाशयबहलकालुष्यमपि मुहुः प्रशान्तं मे चेतः, चक्षुः पुनः कुलिशकीलितमिव कथं न विषयान्तरमवगाहते, चिरप्रवसितप्रणयिजनावलोकनादिव कथमय-मात्मा परमन्तर्मोदते, चित्तमपि चेदं चिरायाचरितपरिचयमिव कथमतीवानन्दथुमन्थरम्, किं नु खलु तदेतत्स्यान्मम भागिनेययमलम्, आचकर्ण चापरेद्युरेव रेवतकनामप्रसिद्धात्कुलवृद्धादेतस्य बालकाल एवाश्चर्यं तपश्चर्यापर्यायम्, भवन्ति हीमानीन्द्रियाण्यदृष्टपूर्वेष्वपि प्रियजनेषु प्रायेण प्रातस्तपनतेजांसीव रागोल्बणवयांसि । यतः ।

आनन्दबाष्पजलपूरितनेत्रपात्रैः प्रत्यङ्गजातपुलकप्रसरार्पितार्घैः चित्तैः प्रमोदमधुपर्ककृतातिथेयैराख्यायते प्रियजनो ननु पूर्वमेव॥१४७॥

जिसप्रकार धर्मध्यान व शुक्लध्यान के माहात्म्य से मोक्षाभिलाषी मुनि का मानसिक अज्ञान नष्ट होजाता है उसीप्रकार उस क्षुल्लक जोड़े के दर्शन के प्रभाव से मारिदत्त राजा का मानसिक अज्ञान नष्ट होगया । तदनन्तर उसे देखकर मन में विशेष आश्चर्य करते हुए उसके पक्ष्म (नेत्रों के रोमाग्र) रूप पल्लव अत्यन्त आनन्द के अश्रुपात की क्षरण होनेवालीं विन्दु-वल्लरियों से व्याप्त होगए। तत्पश्चात् उसने ऐसे भ्रुकुटि-लता के उत्क्षेप (चढ़ाना) संबंधी आदर से, जिसने अपने कोप और प्रसाद (प्रसन्नता) में दूसरे राजाओं की लक्ष्मी का लघुत्व और महत्व-रूप तोलने का ज्ञान करने में तराजू-दण्ड की शोभा तिरस्कृत की है। अर्थात्—जिस भ्रुकुटि उत्क्षेप संबंधी कोप से शत्रुभूत राजाओं की लक्ष्मी लघु (क्षीण) और प्रसाद से मित्र-राजाओं की लक्ष्मी महान् होती है।[1] सभा के मध्य मार्ग पर वर्तमान सेवक समूह को हटाकर अपने मन में निम्नप्रकार विचार किया—

"इस क्षुल्लक जोड़े के दर्शन से मेरा मन, जो कि पूर्व में जीव-हिंसा के दुरभिप्राय वश अत्यन्त कलुषित (मलिन) होरहा था, अमृत पान किए हुए सरीखा क्यों वार वार (विशेष) शान्त (क्रूरता रहित—अहिंसक) होगया है। अब मेरा नेत्र-युगल, वज्रकीलित-सा निश्चल हुआ, इसे छोड़कर दूसरे प्रदेश की ओर क्यों नहीं जाता? जिसप्रकार चिरकाल से परदेश में गये हुए प्रेमीजन के दर्शन के फलस्वरूप यह आत्मा मन में विशेष आनन्द विभोर हो उठती है उसी प्रकार इसके दर्शन से मेरा हृदय क्यों इतना अधिक आनन्द-विभोर होरहा है? ऐसा प्रतीत होता है—मानों—मेरे हृदय ने इस क्षुल्लक जोड़े से चिरकालीन परिचय प्राप्त कर रक्खा है; इसीलिए यह विशेष उल्लास से मन्दगामी होरहा है। अथवा निश्चय से क्या यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुआ क्षुल्लक-जोड़ा, मेरी बहिन की कुक्षि से साथ-साथ उत्पन्न हुआ भानेज-भानेजन का जोड़ा तो नहीं है? क्योंकि मैंने कल या परसों ही 'रेवतक' इस प्रकट नामवाले कुलवृद्ध के मुख से अपने भानेज-भानेजन के जोड़े को बाल्यकाल में दीक्षित होकर आश्चर्य जनक तपश्चर्या करते हुए सुना था। क्योंकि जिसप्रकार प्रातःकालीन सूर्य के तेज (प्रकाश) विशेष अनुरक्त (लालिमा-युक्त) होजाते हैं उसीप्रकार चक्षुरादिक इन्द्रियाँ भी पूर्व में विना देखे हुए प्रियजनों (बन्धुओं) को देखकर प्रायः करके अनुराग से उत्कट तारुण्यशाली (प्रेम-प्रवाह से ओतप्रोत) होजाती हैं।

मनुष्यों के ऐसे हृदय, जिन्होंने अपने नेत्र रूपी वर्तन, जिसे देखकर आनन्द की अश्रु-विन्दुओं से भरपूर कर लिये हैं, और जो सर्वाङ्गीण हर्ष के रोमाञ्च रूप पुष्प-पुञ्ज से जिसकी पूजा करने तत्पर होजाते हैं एवं आनन्द रूप मधुपर्क (दही और घृत-आदि) द्वारा जिसका अतिथि सत्कार करने में प्रयत्नशील होजाते हैं, उसे पूर्वमें ही (विना संभाषण किये ही) अपना प्रिय जन (बन्धु वर्ग) निश्चय कर लेते हैं[2] ॥१४७॥

१. यथासंख्य-अलंकार। २. रूपकालंकार।

तदलमत्र शौद्धोदनेरिव बाह्यग्राह्यविकलेन विकल्पजालेन। सफलयामि तावदेतदालापनदोहदादेव हृदयालवाल-परिसरे विहितावरोहमौत्सुक्यानोकहम्।' [इत्येवं चिन्तयतिस्म]।

अत्रावसरे स्वामिनः प्रसन्नरसं मानसमवसायावसरविलासनामकेन वैतालिकेनेदं वृत्तद्वयमागीयतेस्म—

'नासन्ना रिपवो न चापि भवतः कश्चिन्निदेशावशः श्रीरेषा तव देव या प्रणयिनी तस्यै न कोऽपीर्ष्यति।
गाढं मुष्टिनिपीडनश्रमभरप्रोद्भ्रान्तधाराजलां मुञ्चत्वाहवकेलिदोःसहचरीं तत्खड्गयष्टिं भवान् ॥ १४८ ॥
दयार्द्रचित्तैर्मुनिभिः समागमान्निसर्गहिंस्रोऽपि जनः प्रशाम्यति। आहार्यहिंसामतयः शमोदयं भजन्ति यद्येव तदद्भुतं कुतः ॥१४९॥

पुनरप्यसौ वैतालिकश्चिरमशिखामणिभूषणमपि कचमरीचिमेचकितमस्तकम्, अनवतंसमपि लोचनरुचिकुवलयित-कर्णम्,

---

अतः जिसप्रकार बौद्धदर्शन का विकल्पजाल (ज्ञान स्वरूप) इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने वाले वाह्य घट-पटादि पदार्थों के ज्ञान से शून्य होता है [क्योंकि बौद्धदर्शन की एक शाखा क्षणिक ज्ञाना-द्वैतवादी है, अतः उसके दर्शन में ज्ञान, वाह्य घट-पटादि पदार्थ को नहीं जानता] उसीप्रकार इस अवसर पर प्रस्तुत क्षुल्लक जोड़े के विषय में किया हुआ मेरा संकल्प-विकल्प समूह भी वाह्य पदार्थ (क्षुल्लक जोड़े का परिचय) के ज्ञान से शून्य होरहा है। अतः उक्तप्रकार के संकल्प-विकल्प-समूह से कोई लाभ नहीं है। इसलिए अब मैं अपनी हृदय रूपी क्यारी की समीपस्थ भूमि में अङ्कुरित हुए उत्कण्ठा रूप वृक्ष को इनके साथ किये जाने वाले संभाषण रूप मनोरथ से फलशाली वनाता हूँ प्रसङ्ग—प्रस्तुत क्षुल्लक जोड़े को देखकर मारिदत्त राजा ने अपने मन में उक्त विचार किया—

इसी अवसर पर मारिदत्त राजा का हृदय-कमल प्रफुल्लित जानकर 'अवसरविलास' नाम के वैतालिक (स्तुति-पाठक) ने निम्नप्रकार दो श्लोक पढ़े—

'हे राजाधिराज ! शत्रु आपके निकटतर नहीं हैं, कोई पुरुष आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करता. आपकी यह राज्य लक्ष्मी आपसे स्नेह प्रकट करनेवाली है और इससे कोई भी ईर्ष्या नहीं करता। इसलिए आप अपनी ऐसी खड्गयष्टि (तलवार) को. जिसका धाराजल, मुष्टि द्वारा दृढ़ता पूर्वक ग्रहण किये जाने के परिश्रम-भार से ऊपर उछला है, और जो युद्ध-क्रीड़ा में आपकी भुजा की सखी-सरीखी है, छोड़िए। [क्योंकि अब उससे आपका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता][2]॥१४८॥

'हे राजन्। जब स्वभावतः हिंसक पुरुष, करुणा रस से सरस हृदयशाली साधु पुरुषों की सङ्गति से शान्त (दयालु) होजाते हैं तब दूसरों के संसर्ग वश हिंसा में बुद्धि रखने वाले (निर्दयी मानव) उनके संसर्ग से दयालु होते हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अपि तु कोई आश्चर्य नहीं है[3] ॥१४९॥

फिर भी (उक्त दोनों श्लोकों के पढ़ने के वाद भी) उक्त वैतालिक (स्तुतिपाठक) ने प्रस्तुत ऐसे क्षुल्लक-जोड़े को वड़ी देर तक देखकर निम्नप्रकार एक श्लोक पढ़ा—

कैसा है वह क्षुल्लक जोड़ा ? अतिशय मनोज्ञ होने के फलस्वरूप जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—चूड़ामणि (शिरोरत्न) रूप आभूषण से रहित होता हुआ भी जिसका मस्तक केशों की किरण-समूह रूपी चूड़ामणि आभूषण से विभूषित है। कर्णपूर से रहित होकर के भी, जिसके दोनों श्रोत्र (कान), नेत्रों की कान्ति से मानों—कुवलयित (चन्द्र विकासी कमल-समूह से अलंकृत) ही थे।

---

१. रूपकालंकार। २. रूपकालंकार। ३. आक्षेपालंकार।

अनलंकारमपि कपोलकान्तिकुण्डलितमुखमण्डलम्, अनावरणमपि वपुःप्रभापटलदुकूलोत्तरीयम्, अरण्यप्रेम्णा वदनव्याजेन कमलसर इव भुजच्छलेना लतारामिवोरुमिषेण कदलीकाण्डकाननमिव चरणलक्षेणाशोकवनमिव च सहानयमानम्, इन्दुमृगेक्षणद्युतिसंपादितमिव कुन्तलेषु, सुरतरुफलकप्रसाधितमिवालिकयोः, कामकोदण्डकोटिघटितमिव भ्रूषु, रत्नकरण्डकोत्कीर्णमिव नेत्रेषु, स्मरशरपुङ्खोल्लिखितमिव पक्ष्मसु, रतिक्रीडाकीरास्यलावण्यविहितमिव नासयोः, लक्ष्मीविभ्रमादर्शविनिर्मितमिव कपोलेषु, कीर्तिसरस्वतीविलासदोलाकृतमिव श्रोत्रेषु, संध्यारुणामृतकरखण्डनिर्वर्तितमिवाधरयोस्तन्मुनिकुमारकयुगलं विलोक्येदं वृत्तमपाठीत्—

'बालद्रुमः स्व*सृलतोद्गतिकान्तमूर्तिर्जातः कथं पथि करालकृशानुवृत्तेः।
आः पाप पुष्पशर संप्रति कस्तवान्यः केलीकृते यदनयोस्त्वमु‡पेक्षितोऽसि ॥ १५० ॥'

कर्ण-वेष्टन से रहित होता हुआ भी जो ऐसा ज्ञात होता था—मानों—जिसका मुखमण्डल गालों की कान्तिरूपी सुवर्णमयी कुण्डलों से ही व्याप्त है। संधान वस्त्रों से रहित होकरके भी जो मानों—शारीरिक प्रभापटल (कान्ति-समूह) रूपी पट्टदुकूल सम्बन्धी उपरितन वस्त्रों से ही अलंकृत है। जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों—वन में प्रेम होने के कारण मनोज्ञ मुख के मिष से कमलवन को साथ ले जारहा है और भुजाओं के बहाने से लताओं के बगीचे को, ऊरुओं (जंघाओं) के बहाने से केलों के स्तम्भशाली वन को और चरणों के मिष से अशोक वन को साथ ही साथ लेजाता हुआ जारहा है। जो, अतिशय मनोज्ञ केशों से ऐसा विदित होता था—मानों—जिसके केशसमूह, चन्द्र-मृग की नेत्रों की कान्ति से ही रचे गए हैं। ललाटों की मनोज्ञता से जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—कल्पवृक्ष के पट्टकों (तख्तों) से ही रचा गया है। जो भ्रुकुटियों की मनोज्ञता से मानों - कामदेव के धनुष के अग्रभाग से ही रचा गया है। जो मनोज्ञ नेत्रों से मानों - लाल, श्वेत और कृष्णवर्ण-शाली रत्नसमूह से ही घटित किया गया है। जो मनोहर नेत्र-रोमों से, मानों—कामदेव के बाणों के पुङ्खों (प्रान्तपत्रों) से ही निर्मित किया गया हो। जो मनोज्ञ नासिका से ऐसा विदित होता था—मानों—उसकी नासिका, रति के क्रीड़ा करने योग्य शुकों की चञ्चुपुटों की कान्ति से ही रची गई है। जो गालों के सौन्दर्य से ऐसा मालूम पड़ता था, मानों—लक्ष्मी के क्रीड़ा-दर्पण से ही जिसकी सृष्टि हुई है और श्रोत्रों के लावण्य से ऐसा प्रतीत होता था—मानों—कीर्ति और सरस्वती के क्रीड़ा करने लायक झूलों से ही निर्मित किया गया है। जो लालिमा-शाली ओष्ठों से ऐसा जान पड़ता था—मानों—सन्ध्या-सम्बन्धी अव्यक्त लालिमावाले चन्द्र-खण्डों से ही निर्मित किया गया है[1]। प्रस्तुत वैतालिक द्वारा पठित श्लोक—आपकी बहिन रूपी बेलड़ी से उत्पन्न होने के कारण अतिशय मनोज्ञ यह 'अभयरुचि' नाम का बालक रूप वृक्ष भयानक दुःखाग्नि के मध्य में किसप्रकार प्राप्त हुआ? हे पापी कामदेव! अब वर्तमान समय में तुम्हारी क्रीड़ा का निमित्त (पृथिवी पर) कौन पुरुष वर्तमान है, जिसके कारण तुम इसके विषय में अनादर-युक्त होरहे हो। अथवा पाठान्तर में यह अभयरुचि रूप वृक्ष, जो कि अभयमतिरूपी शाखा के प्रादुर्भाव से मनोज्ञ मूर्ति है, भयानक दुःखाग्नि के मध्य कैसे प्राप्त हुआ? हे पापी कामदेव! अब वर्तमान में तुम्हारी क्रीड़ा-निमित्त दूसरा कौन होगा? जिस कारण तुम (पक्षान्तर में मारिदत्त राजा) इन दोनों में निरादर-युक्त होरहे हो। अभिप्राय यह है—कि जब स्त्री या लता में पुष्प (पक्षान्तर में शिशु) होते हैं, उनमें तूने उपेक्षा (निरादर) कर दी है तब तेरा क्रीड़ा-कार्य कैसे होगा? अर्थात्—तेरी पुष्पबाण-क्रीड़ा किसप्रकार से होगी?[2] ॥१५०॥

---

* 'शिशुलतोद्गति' इति क, ख, ग, घ। ‡'मुपेक्षितासि' इतिक०। १. उत्प्रेक्षालंकार। २. रूपकालंकार।

एतद्यासावुपनिशम्य प्रवेष्टहाटककटकप्रदानपुरःसरमेतदाननाम्बुरुहमवलोक्य पुनश्च यः समभ्यर्णोत्कीर्णतथावतीर्णदृषाकर्णविदीर्णवदनस्य वेतालचक्रस्य प्रतिसंक्रान्तविकटदंष्ट्राचक्रवालः स्वधाराजलनिमग्नसपत्नकीकसकराल इव, प्रतिबिम्बिताधरावलिहजिह्वाप्रतानः पराक्रमाकृष्टद्विष्टश्रीविरहविनोदपरिकल्पितकमलकानन इव, प्रतिमासमागताङ्गारनिभनेत्रनिकरः प्रदर्शितशत्रुक्षत्रक्षयकालोल्काजालावतर इव, पुरुहंसोदर्शनप्रकाशकेशप्रतिशरीरदुर्दर्शिकंकलः प्रचलिताखिलरिपुलाकग्रसनसमर्थजाठरानल इव, प्रतियातनागताङ्गसङ्गताभोगतनुः समाक्षिप्तविपक्षक्षयदक्षराक्षसक्षेत्र इव, अपि च यः स्वस्य स्वामिनो नृपयज्ञावसरेषु निजभुजप्रतापार्जनजनितसाचिव्य इव, सर्वभुवनप्रचारकुतूहलितकीर्तिकुलदेवतासहचरपराक्रमप्रसूतिप्रथमप्रजापतिरिव, दुर्वारवैरिवक्षःस्थलोद्दलनगलद्धाराधिरोपहारदुर्ललितवीरलक्ष्मीसमाकर्षणमन्त्र इव, सकलजगद्रक्षणक्षमशौर्यसिद्धौषधसाध्यवसुधावशीकरणोपदेश इव, समुत्सर्पद्दर्पोद्दामद्विषद्विषधरव्याजृम्भस्तम्भाविर्भवन्महासाहस इव, प्रतिकूलावनिपालविलासिनीविभ्रमभ्रम-

प्रस्तुत मारिदत्त राजा ने उक्त वैतालिक द्वारा पढ़े हुए उक्त तीनों श्लोक सुनकर भुजाओं के सुवर्णमयी कङ्कणों का प्रदान पूर्वक उसके मुखकमल की ओर दृष्टिपात किया। तत्पश्चात् उसने अपने हस्त पर धारण किये हुए ऐसे तीक्ष्ण खड्ग को ऐसे हस्त से, जो (हाथ) प्रताप रूप हाथी के लिए बन्धन-स्तम्भ सरीखा, व लक्ष्मी रूप लता का आलिङ्गन करने के हेतु वृक्ष-सा है एवं जो कलिकाल (पंचमकाल) रूप क्षुद्रकीड़ों द्वारा जीर्ण-शीर्ण होनेवाले भूमण्डल रूपी देवमन्दिर का उसप्रकार जीर्णोद्धार करता है जिसप्रकार महान् खंभा, जीर्ण-शीर्ण मन्दिर का जीर्णोद्धार करता है। जो याचकों के मनोरथ उसप्रकार पूर्ण करता है जिसप्रकार कल्पवृक्ष याचकों के मनोरथ पूर्ण करता है। जिसके द्वारा शत्रुरूपी पर्वत उसप्रकार चूर-चूर किये जाते थे, जिसप्रकार बिजली के गिरने से पर्वत चूर-चूर होजाते हैं और जो पृथिवी-मण्डल को क्रीड़ा-कमल सरीखा धारण कर रहा है, निकालकर चण्डमारी देवी के मन्दिर में फैंक दिया और इसके बाद संचालित किये हुए एवं ऊपर उठाए हुए करकमल से यात्रा में आये हुए समस्त लोगों का कोलाहल निराकरण करनेवाले उसने उस क्षुल्लक जोड़े को, अपनी तर्जनी अङ्गुलि के इशारे से आज्ञापित समीपवर्ती सेवक द्वारा बिछवाए हुए उत्तरीय आसन पर झूले सरीखे हिलनेवाले मणि-जड़ित सुवर्ण कुण्डलों की किरण-समूह द्वारा आकाश रूप बगीचे को पल्लवित करने से उत्पन्न हुई मनोज्ञता पूर्वक समीप में बैठाया।

कैसा है वह तीक्ष्ण खड्ग?—जिसमें ऐसे वेतालसमूह की, जो निकटवर्ती पाषाण-घटित होने से प्रतिबिम्बित हुआ था व कर्णपर्यन्त चमकते हुए मुखों से व्याप्त था, अत्यन्त कुटिलतर दाढ़ों की पंक्ति प्रतिबिम्बित हो रही थी; इसलिए जो ऐसा प्रतीत होरहा था मानों—अपने धारारूपी जल में डूबे हुए (पाताल में प्राप्त हुए) शत्रुओं की हड्डियों से ही भयङ्कर प्रतीत होरहा है। जिसमें ओंठ चाँटनेवाली जिह्वा-श्रेणी प्रतिबिम्बित हुई थी, जिससे ऐसा मालूम पड़ता था—मानों-बलात्कार पूर्वक खींची हुई—चोटी पकड़कर लाई हुई—शत्रु-लक्ष्मी के विरह को दूर करने के लिए ही जिसमें कमल-वन रचा गया है। जिसमें अङ्गार-सरीखे नेत्रोंवाले राक्षस-विशेषों का मण्डल प्रतिबिम्बित होरहा था; अतः जो ऐसा विदित होरहा था —मानों—शत्रुभूत राजाओं की मृत्यु सूचित करने के हेतु ही जिसमें उल्काजाल (अशुभ तारों) की श्रेणी का विशेष रूप से पतन उत्पन्न हुआ प्रकट किया गया है। जिसकी मूर्ति, बिलावों के नेत्र-सरीखी कान्ति-युक्त (अग्नि-ज्वाला-सरीखे) केशोंवाले राक्षसों के प्रतिबिम्बों से व्याप्त होने के कारण दुःख से भी नहीं देखी जासकती थी, इसलिए जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—जिसमें ऐसी विशेष प्रचण्ड जठराग्नि, जो समस्त शत्रु-मण्डल को भक्षण करने में समर्थ है, उद्दीपित की गई है। जिसके शरीर में कृष्ण शरीर का विस्तार प्रतिबिम्बित था अतः जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों—जिसने शत्रु-घात करने में समर्थ राक्षस-भूमि ही संग्राम-निमित्त ग्रहण की है[1]।

१. उत्प्रेक्षालंकार।

रोच्चाटनधूपधूमाडम्बर इव, समाह्वयरसभरितारातिमतिमधुकरीमोहनमहौषधिप्रारम्भ इव, संभूयोत्साहदुःसहद्विष्टद्विपघटाविघटनविद्वेषभेषजागम इव, कालेयकलङ्कपङ्किलाचारपरपरासुताचरितचरमाभिचार इव, तमनेकमहासमानीकसंतोषितरणदेवताविहितबलिविधानं वीरश्रीविभ्रमदर्पणनामानमपहसितकृतान्तरसनालीलं करवालं प्रतापद्विपालानस्थानाल्लक्ष्मीलताश्रयशिखरिणः कलिकालघुणजरजगत्प्रासादोत्तम्भनस्तम्भादर्थिजनत्रिदिवतरोर्हिं पदचलदारणाशनिदण्डाल्लीलाकमलमिव कुवलयं कलयतः करादुत्सृज्य रुद्राणीपादपीठोपकण्ठे दोलायमानमणिकुण्डलकिरणजालपल्लवितगगनारामसुभगमुत्तरलतरोद्दस्तहस्तास्तमितसमस्तयात्रायातजनकोलाहलः प्रदेशिनीनिदेशादिष्टनिकटलालाटिकपरिकल्पने पुरस्तादुत्तरीयासने तन्मुनिकुमारकयुगलमुपावीविशत्।

तदपि तत्पार्थिवार्थनया सपरिकरं तत्रोपविश्य 'नावयोः संसारसुखविमुखभावयोरमीषु प्राणेष्वपरेषु वा केषुचिन्मनीषितेषु कुतश्चित्काचिदपेक्षास्ति, परमन्यत्रैकस्मात्ततोनिःश्रेयसात् किंत्वात्मनि पुरोभागिन्यपि जने प्रायेण श्वःश्रेयसमेव चिन्तयन्ति सच्चरितचेतसः। भवन्ति च तथाविधेऽपि तस्मिंस्ते निसर्गादिहामुत्र चाविरुद्धे वर्त्मनि जनिततत्त्वोपदेशाः।

प्रस्तुत खड्ग में विशेषता यह थी जो (खड्ग) अपने स्वामी (मारिदत्त राजा) को संग्राम-भूमियों पर अपनी भुजाओं द्वारा प्रतापोपार्जन करने में सहायता उत्पन्न करानेवाला सरीखा था। जो ऐसे पराक्रम (पौरुष) को, जो कि समस्त लोक में पर्यटन करने का कौतूहल रखनेवाली कीर्तिरूपी कुलदेवता का मित्र है, उत्पन्न करने में ब्रह्मा के समान था। जो ऐसी वीरलक्ष्मी को, जो दुःख से भी जीतने के लिए अशक्य (विशेष शक्तिशाली) शत्रुओं के वक्षःस्थल को विदीर्ण करने पर बहनेवाले प्रवाह-पूर्ण रुधिर की पूजा करने में आसक्त है, बलात्कार पूर्वक खींचनेवाले मन्त्र-सरीखा है। जो ऐसी पृथिवी को, जो कि समस्त तीन लोक की रक्षा करने में समर्थ शौर्यरूप सिद्धौषधि—रसायन—द्वारा अधीन की जाती है, वश करने के लिए उसप्रकार समर्थ है, जिसप्रकार वशीकरण-आदि मंत्र शत्रु-आदि को वश करने में समर्थ होते हैं। जो विस्तृत उत्कटता-शाली व विशेष बलिष्ठ शत्रुरूप सर्पों का विस्तार उसप्रकार कीलित करता है जिसप्रकार कीलित करनेवाला मंत्र सर्पों को कीलित कर देता है। जो शत्रु-भूत राजाओं की कमनीय कामिनियों की भ्रुकुटिनर्तनरूप भौंरों को उसप्रकार उड़ा देता है जिसप्रकार धूप के धुएँ का विस्तार, भौंरों को उड़ा देता है। जो संग्राम-रस (अनुराग) से परिपूर्ण शत्रुओं की बुद्धिरूपी भ्रमरियों को उसप्रकार मूर्च्छित करता है जिसप्रकार महौषधि का प्रारम्भ (मूर्च्छित करनेवाली औषधिविशेष) बुद्धि को मूर्च्छित करती है। जो संग्राम में दुःख से भी सहन करने के लिए अशक्य (प्रचण्ड) शत्रुओं की गज-श्रेणी को उसप्रकार भगा देने में समर्थ है जिसप्रकार अप्रीतिजनक औषधि का आगम (मंत्रशास्त्र) शत्रुओं को भगादेने में समर्थ होता है। जो कलिकालरूप लोकापवाद के कारण पापाचारी शत्रुओं की उसप्रकार मृत्यु करता है जिसप्रकार उत्कृष्ट (अव्यर्थ) मारणमन्त्र शत्रुओं की मृत्यु करदेता है। जिसकी पूजाविधि अनेक महासंग्रामों में आनन्दित किये गए संग्राम-देवताओं द्वारा कीगई है। वीर लक्ष्मी के भ्रुकुटि-विक्षेप को देखने के लिए दर्पण सरीखा होने से जो 'वीरश्री विभ्रम दर्पण' नाम से अलंकृत है और जिसके द्वारा यमराज की जिह्वा-कान्ति तिरस्कृत की गई है। अर्थात्—जो यमराज की जिह्वा-सरीखा शत्रुओं को मृत्यु-घाट पर पहुँचाता है[1]।

तदनन्तर प्रस्तुत क्षुल्लकजोड़े ने मारिदत्त राजा द्वारा की हुई प्रार्थना से उक्त आसन पर पर्यङ्कासन बैठते हुए अपने मन में निम्नप्रकार विचार किया—"यद्यपि सांसारिक क्षणिक सुखों से विमुखचित्त रहनेवाले हम मुमुक्षुओं को शाश्वत् कल्याण कारक मोक्ष पद के सिवाय किसी भी कारण से इन प्राणों (पांच इन्द्रियआदि) की रक्षा करने की व दूसरे किसी भी स्पर्शादि इष्ट विषयों की अभिलाषा नहीं है, तथापि मोक्षमार्ग में

---

१. संकरालंकार।

अज्ञानभावादशुभाशयाद्वा कुर्वीत चेत्कोऽपि जनः खलत्वम् । तथापि सद्भिः प्रियमेव चिन्त्यं न मथ्यमानेऽप्यमृते विषं हि ॥१५१॥

सदाचारोचितमतिर्भूपतिरप्ययमतीवानवहेलविहितविष्टरप्रदानः कृतबहुमानः संभाषणोत्सुकधिषणः प्रसन्नान्तःकरण इवोपलक्ष्यते, व्यापारयति च प्रकटितप्रणययोरिवावयोरानन्दबाष्पोल्बणे मुहुर्मुहुर्वीक्षणे, तत्पर्याप्तमत्रोपेक्षणीयलोकसंमतया वाचंयमतया [तथा हि—] पुरः प्रणयभूमीषु फलं यदि समीहसे । जगदानन्दनिष्यन्दि वर्ष सूक्तिसुधारसम् ॥ १५२ ॥

इति च सुभाषितमनुस्मृत्य सौष्ठवसज्जं सलज्जं च—

स्वर्गापवर्गतरुपल्लवसंनिकाशं धर्मद्वयावनिविहारपथप्रकाशम् ।
उद्धृत्य हस्तयुगलं नृपमेवमूचे तत्तापसार्भकयुगं प्रथितैर्वचोभिः ॥१५३॥

तत्र मुनिकुमारः—

वर्णाश्रमाणां प्रतिपालयित्रे जगत्त्रयत्रायिपराक्रमाय । ददातु देवः स जिनः सदा ते राजन्नशेषाणि मनीषितानि ॥ १५४ ॥

प्रवृत्ति करनेवाले महापुरुष, अपनी और शत्रु-मित्र के शाश्वत् कल्याण की कामना प्रायः अवश्य करते हैं एवं उन्हें इस लोक व परलोक में पापरहित (शाश्वत् कल्याण-कारक) मोक्षमार्ग का उपदेशामृत पान कराते हैं। जिसप्रकार अमृत अनेक बार मथन किया जाने पर भी सदा अमृत ही रहता है, अर्थात्—कदापि विष नहीं होता उसीप्रकार सज्जन पुरुषों को भी किसी मानव द्वारा अज्ञान अथवा द्वेषबुद्धि-वश दुष्टता का वर्ताव किये जाने पर भी उसके साथ सज्जनता का व्यवहार करना चाहिए—उसकी सदा कल्याण-कामना करनी चाहिए[1] ॥ १५१ ॥

प्रकरण में यह मारिदत्त राजा भी जिसकी बुद्धि सदाचारों (आसन-प्रदानरूप विनय-आदि करने) के फलस्वरूप प्रशस्त है, जिसने सन्मान पूर्वक आसन प्रदान व विशेष सन्मान किया है और जिसकी बुद्धि हम लोगों के साथ वार्तालाप करने हेतु उत्कण्ठित है, प्रसन्नचित्त पुरुष-सरीखा दिखाई दे रहा है। यह, जिन पर स्नेह प्रकट किया गया है उन सरीखे हम लोगों की ओर आनन्द अश्रुओं से भरे हुए अपने नेत्र वार-वार प्रेरित कर रहा है, इसलिए हमें इसके साथ ऐसे मौन का वर्ताव, जो कि उपेक्षा करने योग्य (अशिष्ट पुरुषों) के साथ अभीष्ट होता है, उचित प्रतीत नहीं होता।

हे जीव ! यदि तुम, स्नेही पुरुषों द्वारा भविष्य में इष्ट फल (सुख-सामग्री) प्राप्त करना चाहते हो तो उन प्रेम-भूमि (विशेष स्नेही) पुरुषों में ऐसे सूक्त सुधारस (मधुर वचनामृत) की वृष्टि करो, जो कि समस्त पृथिवी-मंडल के लिए आनन्द की वृष्टि करने वाला है" ॥ १५२ ॥

उक्त सुभाषित (मधुर वचनामृत) का स्मरण करके उस प्रसिद्ध तपस्वी (सुदत्ताचार्य) के पुत्र-सरीखे शिष्य युगल (प्रस्तुत क्षुल्लक जोड़े) ने अपने ऐसे दोनों करकमल, जो स्वर्ग और मोक्षरूप वृक्षों के पल्लव-सरीखे हैं और जो दोनों धर्म (मुनिधर्म व श्रावकधर्म) रूपी पृथिवी के विहार मार्ग के सदृश हैं, ऊँचे उठाकर मारिदत्त राजा से निम्न प्रकार कहे जानेवाले स्तुति (आशीर्वाद) रूप वचन प्रसिद्ध कविताओं द्वारा अतिशय सौन्दर्य युक्त व लज्जापूर्वक कहे[2] ॥ १५३ ॥

उक्त अभयरुचि (क्षुल्लक) और अभयमति (क्षुल्लिका) नाम के क्षुल्लक जोड़े में से 'अभयरुचि' क्षुल्लक ने निम्नप्रकार आशीर्वाद-युक्त वचनामृत की वर्षा की। हे राजन् ! वह जगत्प्रसिद्ध भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ देव, समस्त वर्ण (ब्राह्मण-आदि) और आश्रम (ब्रह्मचारी-आदि) में स्थित प्रजा के रक्षक और तीन लोक की रक्षा करनेवाले पराक्रम से विभूषित आपके लिए सदा समस्त अभीष्ट (मनचाही) वस्तुएँ प्रदान करे[3] ॥१५४॥

---

१. अर्थान्तरन्यास-अलंकार। २. रूपकालङ्कार। ३. अतिशयालङ्कार।

अपि च—

असाविन्द्रः स्वर्गे भवति सुकृती यस्य चरितान्महीभारोद्धारादहिपतिरयं तिष्ठति सुखम्।
जगज्जातं वैतद्विजयसमयान्नन्दति परं चिरं क्षात्रं तेजस्तदिह जयतादद्भुतविधि ॥ १५५ ॥

कर्पूरद्रुमगर्भधूलिधवलं यत्केतकानां त्विषः श्वेतिम्ना परिभूय चन्द्रमहसा सार्द्धं प्रतिस्पर्धते।
तत्पाकोन्मुखनालिकेरसलिलच्छायावदातं यशः प्रालेयाचलचूलिकासु भवतो गायन्ति सिद्धाङ्गनाः ॥ १५६ ॥

मातर्गौरि फणीशकामिनि सति त्वं देवि हे रोहिणि श्रीमत्यभ्रमु वाल्ले च सुतनो मा मुञ्चताल्मप्रियान्।
नो चेदस्य नृपस्य कीर्तिविसरादुर्लक्ष्यशुभ्रे जने युष्माकं पतयोऽद्य दुर्लभतरा मन्ये भविष्यन्त्यमी ॥ १५७ ॥

कुवलयदलनीलः कुन्तलानां कलापो न भवति यदि गौर्याः शंकरे साश्च पिङ्गाः।
क्षितिप तव यशोभिः संभृतायां त्रिलोक्यां सरभसरतिकेलिः किं तयोः स्याद्दिदानीम् ॥ १५८ ॥

इन्दुधवलापि कीर्तिर्धवलितभुवनत्रयापि तव नृपते। मलिनयति रिपुवधूनां मुखानि यत्तात्र तच्चित्रम् ॥ १५९ ॥
भुजगसमखड्गजनितः सपत्नकुलकालतां प्रयातोऽपि। शुभ्रयति भुवनमखिलं पराक्रमस्ते तदाश्चर्यम् ॥ १६० ॥

तथा च—वह आश्चर्यजनक क्षात्र-तेज (क्षत्रिय राजाओं का प्रताप) इस संसार में चिरकाल पर्यन्त सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रवृत्त हो. अर्थात्—उसे हम नमस्कार करते हैं, जिसके प्रभाव से इन्द्र. स्वर्गलोक में पुण्यशाली व सफल होरहा है एवं जिसके आचरण से शेषनाग. पृथिवी के भार के उद्धार से सुख-पूर्वक जाग रहा है। अर्थात् क्षत्रिय राजाओं का प्रताप ही समस्त पृथिवी मंडल का भार वहन करता है, अतः धरणेन्द्र भी पाताल लोक में सुख पूर्वक राज्य करता है। इसीप्रकार जिसके द्वारा निश्चय से पृथिवी-मण्डल की समस्त प्रजा दिग्विजय के समय से लेकर अभी तक वृद्धिंगत होरही है[1] ॥१५५॥ हे राजन्! कपूर और तत्काल पके हुए नरियल के जल सरीखी (शुभ्र) कान्तिवाली आपकी जगत्प्रसिद्ध कीर्ति अपनी धवलिमा (उज्वलता) द्वारा केतकी पुष्पों की कान्ति तिरस्कृत करती हुई पूर्णचन्द्र के तेज से स्पर्द्धा करती है एवं देवियाँ हिमालय-शिखर पर स्थित हुई आपकी उज्वल कीर्ति का निम्नप्रकार सरस गान कर रही हैं[2] ॥१५६॥

हे जननी पार्वती! हे सती साध्वी देवी पद्मावती! हे देवी रोहणी! हे लक्ष्मी-शालिनी ऐरावत-प्रिये! हे सुन्दर शरीर धारिणी हंसिनी! आप सब अपने-अपने पतिदेवों को मत छोड़िए। अन्यथा—यदि आप अपने पतियों (श्रीमहादेव व शेषनाग-आदि) को छोड़ देगीं—तो ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—जब इस मारिदत्त राजा की कीर्ति-प्रसार से समस्त लोक की शुभ्रता दुर्लक्ष्य (दुःख से भी देखने के लिए अशक्य) होजायगी तब आपके पति (श्री महादेव, शेषनाग, चन्द्र, ऐरावत और हंस) इस समय विशेष दुर्लभ (कठिनाई से भी प्राप्त होने को अशक्य) होजाँयगे[3] ॥१५७॥ हे राजन्! जब तीन लोक आपकी शुभ्र कीर्ति द्वारा भरे हुए उज्वल होरहे हैं तब यदि पार्वती के केश-पाश नीलकमल पत्र सरीखे कृष्ण न होते और श्रीमहादेव की जटाएँ यदि गोरोचन-सरीखीं पीलीं न होतीं तो उन शंकर-पार्वती की वेगशाली संभोग-क्रीड़ा इस समय क्या होसकती थी[4]? ॥१५८॥ हे पृथिवी-पति! आपकी कीर्ति पूर्ण चन्द्र-सरीखी शुभ्र है और उसके द्वारा समस्त तीन लोक उज्वल (शुभ्र) किये गए हैं तथापि वह शत्रु-स्त्रियों के मुख मलिन करती है, यह बड़े आश्चर्य की बात है[5] ॥१५९॥ हे राजन्! आपका पराक्रम भुजग—सम—खड्ग—जनित अर्थात्—कालसर्प-समान कृष्ण (काले) खड्ग से उत्पन्न हुआ है और शत्रुओं के वंश में कृष्णत्व को प्राप्त करता है, तथापि समग्र पृथिवी-मण्डल को शुभ्र करता है, यह आश्चर्य-जनक है। यहाँपर यह ध्यान देने

१, समुच्चय व अतिशयालङ्कार। २, उपमा-अतिशयालङ्कार। ३. उत्प्रेक्षालङ्कार। ४, आक्षेपालङ्कार। ५. उपमालंकार।

त्वं चन्द्रस्त्वमसि रविः कुवलयकमलानुरञ्जनात्सत्यम्। किंतु यदरातिसद्मसु तमांसि विदधासि तच्चित्रम् ॥ १६१ ॥
कृष्णयति वैरिवर्गं रञ्जयति सतां मनांसि तव देव। दुर्वर्णयति खलानपि तथापि शुभ्रं यशश्चरितम् ॥ १६२ ॥
भूप त्वमेव महतां धुरि वर्णनीयः सिन्धुर्महानपि भवेल्लघुवृत्तिरेव।
यस्मं श्रिता य इह ते विनिमग्नवंशाः क्षोणीभृतस्त्वदनुगास्तु समृद्धवंशाः ॥ १६३ ॥
उत्सर्पद्दर्पवैरिव्रजभुजगकुलाभोगसंकोचमन्त्रः प्रह्वक्षोणीशकल्पद्रुमधरणिसुधासारवर्षाम्बुवाहः।
आसन्नोदन्वदद्रिव्रजदमरसखीगीतकीर्तिप्रवाहः कामं कल्पायुरेष प्रतपतु सुचिरं धर्मधामावलोकः ॥ १६४ ॥

योग्य है कि जब प्रस्तुत मारिदत्त राजा का पराक्रम सर्प-समान काले खड्ग से उत्पन्न होने के कारण काला है और उसने शत्रु-वंश में भी कृष्णता प्राप्त की है तब उसके द्वारा समग्र पृथिवी मण्डल का शुभ्र होना नितरां असंभव है (विरुद्ध प्रतीत होता है), अतः उसका परिहार यह है कि प्रस्तुत राजा का पराक्रम भुजग-सम-खड्ग-जनित (दोनों बाहुओं पर स्थित हुए अवक्र (सीधा) खड्ग से उत्पन्न हुआ) होकर सपत्नकुल-कालतां प्रयातः (शत्रु-वंशों में, मृत्यु उत्पन्न करने वाला) है, इसलिए समस्त पृथिवी मंडल को शुभ्र करता है[1]॥१६०॥

हे राजन! आप उसप्रकार कुवलय (पृथ्वी मण्डल) व कमला (लक्ष्मी) को अनुरञ्जन—उल्लासित (आनन्दित) करने के फलस्वरूप क्रमशः चन्द्र व सूर्य सरीखे हैं, जिसप्रकार चन्द्र कुवलय (चन्द्रविकासी कमल समूह) को व सूर्य कमलों को अनुरञ्जित (विकसित) करता है यह बात सत्य है किन्तु वैसे होने पर भी जो शत्रु-महलों में अन्धकार उत्पन्न करते हो यह आश्चर्य जनक है। अर्थात्—आपके पराक्रम द्वारा अनेक शत्रु धराशायी होते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके गृहों में अन्धकार-सा छाजाता है[2] ॥ १६१ ॥ हे राजाधिराज! आपके यश का स्वरूप शत्रु-मण्डल को कृष्ण वर्णवाला और सज्जनों के चित्त को रक्त (लालवर्ण-युक्त) करता हुआ दुष्टों को मलिन करता है तथापि शुभ्र है। अर्थात्—आपकी कीर्ति शत्रुओं को म्लानमुख, सज्जनों को आनन्दित और दुष्टों को मलिन करती हुई शुभ्र है[3] ॥ १६२ ॥ हे राजन! महापुरुषों में आप ही मुख्यरूप से वर्णन करने योग्य हैं। समुद्र महान् होने पर भी लघु ही है, क्योंकि जिन क्षोणीभृतों (पर्वतों) ने उसका आश्रय किया है, वे वि-निमग्नवंशाः (उनके वांस वृक्ष विशेष रूप से पाताल में चले जाते हैं—डूब जाते हैं) जब कि आप का आश्रय करने वाले क्षोणीभृत (राजा लोग) समृद्धवंशाः (वंशों—कुलों—की श्रीवृद्धि करनेवाले) होजाते हैं[4] ॥ १६३ ॥ यह मारिदत्त महाराज, जो विशेष उत्कट शत्रु-मण्डल रूपी सर्प समूह के विस्तार को उसप्रकार कीलित करते हैं, जिसप्रकार कीलित करनेवाला मन्त्र सर्प-समूह के विस्तार को कीलित करता है। जिसप्रकार मेघ भूमि पर अमृत की वेगपूर्ण वर्षा करता है उसीप्रकार मारिदत्त राजा भी उनके चरणकमलों में नम्रीभूत हुए राजा रूपी कल्पवृक्षों की भूमियों पर अमृत की वेगशाली वर्षा करते हैं। अर्थात्—उन्हें धन-मानादि प्रदान द्वारा सन्तुष्ट करते हैं। एवं समुद्र पर्यन्त पृथिवी के स्वामी होने से जिनका कीर्ति-प्रवाह (पवित्र गुणों की कथन सन्तति) अत्यन्त निकटवर्ती समुद्र के तट पर वर्तमान पर्वतों पर संचार करने वाली देवियों द्वारा गान किया जाता है। अर्थात् वीणा-आदि वाजों के स्वर-मण्डलों में जमाकर गाया जाता है और जो जीव दया रूप धर्म के रक्षक हैं, विशेषता के साथ दीर्घकाल तक कल्पान्त काल पर्यन्त जीनेवाले—चिरंजीवी होते हुए—ऐश्वर्यशाली होवें[5] ॥ १६४ ॥

---

१. विरोधाभास-अलङ्कार। २. यथासंख्यालंकार व श्लेषोपमा। ३. समुच्चय व अतिशयालंकार। ४. श्लेषालंकार। ५. रूपकालङ्कार।

पुष्पश्रीर्यस्य ताराः फलममृतरुचिः पत्त्रलक्ष्मीर्धुनद्याः कल्लोलाः स्कन्धबन्धो हरगिरिरमराम्भोधिरप्यालवालः।
कन्दः शेषश्च शाखाः पुनरखिलदिगाभोग एवैष स स्तात्त्रैलोक्यप्रीतिहेतुः क्षितिप तव यशःपादपोऽनल्पकल्पम् ॥ १६५ ॥

मुनिकुमारिका—

अन्यायतिमिरनाशन विधुरितजनशरण सज्जनानन्द। नृपवर लक्ष्मीवल्लभ भवतु चिरं धर्मवृद्धिस्ते ॥ १६६ ॥

सुरगिरिरमरसिन्धुरम्भोनिधिरवनिरनूरुसारथिः फणिपतिरमृतरोचिरमराश्च दिशो दश यावदम्बरम्।
तावदशेषभुवनचिन्तामणिचरित परं महोत्सवैरुत्सवचरितचन्द्र जय जीव विराज चिराय नन्द च ॥ १६७ ॥
उपभुज्य यद्दिशास्ते नपुंसकं वृद्धमपि यशः सर्वाः। द्यामुपभोक्तुं यातं तरलिततारां तदाश्चर्यम् ॥ १६८ ॥

रिपुकुलतिमिरनिकरदावानल जगति तनोषि मङ्गलम् दिवि भुवि विदिशि दिशि च विबुधार्चित धाम दधासि सन्ततम्।
भुवनाम्भोजसरसि महतां मत दिशसि विबोधनश्रियं धर्मविनोद भूप तव भानुमतश्च न किंचिदन्तरम् ॥ १६९ ॥

हे राजन्! वह जगत्प्रसिद्ध और प्रत्यक्ष किया हुआ आपका ऐसा यशरूप वृक्ष, अनन्तकाल तक तीन लोक के प्राणियों को आनन्दित करने का कारण हो, जिसमें तारा (नक्षत्र) रूप पुष्पों की शोभा होरही है। जो चन्द्ररूप फल से फलशाली होरहा है। जो आकाश-गङ्गा की तरङ्ग-समूह रूप पत्तों की शोभा से सुशोभित होता हुआ कैलासपर्वत रूप स्कन्ध -तने- से अलङ्कृत है और जो क्षीरसमुद्र रूप क्यारी में लगा हुआ एवं धरणेन्द्र रूप जड़ से शोभायमान होकर समस्त दिशाओं में विस्तार रूप शाखाओं से मण्डित है[1] ॥ १६५ ॥

तत्पश्चात्—सर्वश्री अभयमति-क्षुल्लिकाश्री-ने भी प्रस्तुत मारिदत्त राजा को निम्नप्रकार आशीर्वाद दिया—अन्याय (अनीति) रूप अन्धकार के विध्वंसक, दुःखित प्राणियों की पीड़ा को नष्ट करने में समर्थ, विद्वन्मण्डली को आनन्ददायक, राज्यलक्ष्मी के स्वामी एवं समस्त राजाओं में श्रेष्ठ ऐसे हे राजन्! आपकी चिरकाल पर्यन्त धर्मवृद्धि हो[2] ॥१६६॥ समस्त पृथिवी-मण्डल को चिन्तामणि के समान चिन्तित वस्तु देनेवाले और चन्द्रमा के समान आनन्ददायक ऐसे हे राजन्! आप निश्चय से संसार में तब तक पाँचों महोत्सवों से सर्वोत्कृष्ट रूप से विराजमान हों, दीर्घायु हों, शोभायमान हों और चिरकाल पर्यन्त समृद्धिशाली हों, जब तक संसार में सुमेरुपर्वत, महानदी गङ्गा, समुद्र, पृथिवी, सूर्य, शेषनाग, चन्द्र, देवतागण, दशों दिशाएँ और आकाश विद्यमान है[3] ॥१६७॥ हे राजन्! आपका यश नपुंसक (नपुंसकलिङ्ग अथवा नामर्द) और वृद्ध (वृद्धिंगत अथवा वृद्धावस्था से जीर्ण हुआ), समस्त दिशारूप स्त्रियों का उपभोग (रति-विलास) करके अतिशय मनोज्ञ व चञ्चल नेत्रोंवाली स्वर्गलक्ष्मी का उपभोग करने प्राप्त हुआ है, यह बड़े आश्चर्य की बात है[4] ॥१६८॥ शत्रु-मण्डल रूप अन्धकार-समूह के विध्वंस करने में अग्नि-सरीखे हे मारिदत्त महाराज! आप संसार में कल्याण विस्तारित करते हैं। हे विद्वत्पूज्य राजन्! आप आकाश, पृथिवीमंडल, विदिशाओं (अग्निकोण-आदि) व दिशाओं को निरन्तर प्रकाशित करते हैं। हे महानुभावों के अभीष्ट! आप जगत में स्थित शिष्ट पुरुष रूपी कमलवन में विकास-लक्ष्मी उत्पन्न करते हो, अतः जीवदया रूप धर्म में कौतूहल रखनेवाले राजन्! आपमें और सूर्य में कुछ भी भेद नहीं है। क्योंकि सूर्य अन्धकार नष्ट करता हुआ माङ्गलिक है एवं समस्त वस्तु का प्रकाशक होता हुआ कमलवन को प्रफुल्लित करता है, अतः आप और सूर्य समान ही हैं[5] ॥१६९॥

---

१. समुच्चय व रूपकालङ्कार। २. रूपकालङ्कार। ३. अत्युत्कर्ष समुच्चयालङ्कार। ४. श्लेषालङ्कार। ५. समुच्चय व उपमालङ्कार।

श्रीरमणीरतिचन्द्रः कीर्तिवधूकेलिकौमुदीचन्द्रः । जीयात्क्षितिपतिचन्द्रश्चिराय वसुधाङ्गनाहारचन्द्रः ॥ १७० ॥

शत्रुक्षत्रकलत्रनेत्रनलिनप्रालेयकालागमः क्षोणीरक्षणदक्ष दक्षिणनृपक्रीडावतारक्षमः ।

राजन्धर्मविलासवास भवतः कीर्त्यङ्गनासङ्गमः कामं भाति जगत्त्रये सुरवधूदत्तार्घपात्रक्रमः ॥ १७१ ॥

कमलानन्दनचतुरे चतुरम्भोधिप्रतापगुणविदिते । धर्मसखे विजयश्रीर्वसतु करे तव नृपद्युमणे ॥ १७२ ॥

वीरश्रीनलिनीप्रबोधनकरस्त्वं धर्मरत्नाकरस्त्वं लक्ष्मीकुचकुम्भमण्डनकरस्त्वं त्यागपुष्पाकरः ।

भूदेवीवनिताविनोदनकरस्त्वं लोकरक्षाकरस्त्वं सत्यं जगदेकरामनृपते विद्याविलासाकरः ॥ १७३ ॥

चञ्चत्कुन्तलचामरं कलरणत्काञ्ची*लयाडम्बरं भ्रूभङ्गार्पितभावमूलचरणन्यासासनानन्दितम् ।

खेलत्पाणिपताकमीक्षणपथानीताङ्गहारोत्सवं नृत्यं च प्रमदारतं च नृपतिस्थानं च ते स्तान्मुदे ॥ १७४ ॥

जो, लक्ष्मी और रमणी (स्त्री) के संभोग हेतु चन्द्र[1] (वांछनीय) हैं, कीर्ति-रूपी वधू के साथ क्रीड़ा करने में कार्तिकी पौर्णमासी के चन्द्र-सरीखे हैं एवं पृथ्वीरूप स्त्री का शरत्काल-संबंधी सुवर्णमयी आभूषण हैं। अर्थात्—जिसप्रकार शरत्काल में सुवर्ण-घटित-आभूषण स्त्री को विशेष सुशोभित करता है, उसीप्रकार मारिदत्त राजा भी पृथ्वीरूपी स्त्री को सुशोभित करते हैं। एवं जो राजाओं के चन्द्र-(कपूर) सरीखे सुगन्धित करनेवाले हैं, ऐसे राजा मारिदत्त चिरकाल तक चिरंजीवी हों अथवा सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रवर्तमान हों[2] ॥१७०॥ पृथ्वी-पालन करने में समर्थ व धर्म (दान-पुण्यादि व धनुष) के क्रीड़ामन्दिर हे राजन्! आपकी कीर्तिरूपी स्त्री का संभोग, जो कि शत्रुभूत राजाओं की स्त्रियों के नेत्ररूप कमलों को उसप्रकार दग्ध करने में समर्थ है जिसप्रकार हेमन्तऋतु कमलों को दग्ध करने में समर्थ होती है, एवं जो अनुकूल राजाओं की क्रीड़ा प्राप्त करने में समर्थ है तथा जिसके चरणों में देवियों द्वारा पूजा-भाजन समर्पण किया गया है, तीन लोक में विशेषता के साथ शोभायमान होरहा है[3] ॥१७१॥ हे सम्राट्सूर्य! आपके ऐसे करकमल पर दिग्विजय लक्ष्मी स्थित हो, जो कमला-नन्दन-चतुर है। अर्थात्—लक्ष्मी को आनन्दित करने में निपुण है। अथवा जो कमलानन्दन-चतुर है। अर्थात्—जो कामदेव के समान संभोग-क्रीड़ा में चतुर है। जो चारों समुद्रों में प्रताप गुण से विख्यात है। इसीप्रकार जिसका धर्म (दान-पुण्यादि वा धनुष) ही सखा (मित्र*) है[4] ॥१७२॥ हे राजन्! आप संसार में अद्वितीय (असहाय) राजा रामचन्द्र हैं। अर्थात्—राजा रामचन्द्र तो अपने सहायक सहोदर लक्ष्मण से सहित थे जब कि आप अद्वितीय (असहाय) राम हैं। आप वीरलक्ष्मी रूपी कमलिनी को प्रफुल्लित करने के कारण श्रीसूर्य हैं एवं धर्मरूप रत्न को उत्पन्न करने के लिए समुद्र हैं। आप लक्ष्मी के कुचकलशों को पत्र-रचना द्वारा विभूषित करते हैं और त्याग करने में वसन्त ऋतु हैं एवं आप पृथिवीदेवी रूपी मनोहर स्त्री के साथ संभोग क्रीड़ा करते हुए लोकों की रक्षा करते हैं तथा यह सत्य है कि आप विद्याविलास की खानि हैं[5] ॥१७३॥ हे राजन्! ऐसा नृत्य, स्त्रीसंभोग और सभामण्डप आपको प्रमुदित (हर्षित) करने के लिए हो। जिसमें (नृत्य व स्त्री-संभोग में) केशपाश रूपी चँमर कम्पित होरहे हैं। जिसमें (सभामण्डप में) हस्तों पर कुन्त (शस्त्र-विशेष) धारण करनेवाले पुरुषों के कुन्त संबधी चँमर सुशोभित हो रहे हैं। अथवा जिसमें चञ्चल बालों

---

१. 'चन्द्रः सुधांशुकर्पूरस्वर्णकम्पिल्लवारिषु' काम्ये च इति विश्वः। अर्थात्—चन्द्रशब्द, चन्द्रमा, कपूर, सुवर्ण, कबीला औषधि व जल एवं काम्य, इतने अर्थों में प्रयोग किया जाता है। २. रूपकालङ्कार। ३. रूपकालंकार। *'धर्मसखे' इसका दूसरा अर्थ यह है—धर्मस्य सखा तत्संबुद्धौ धर्मसखे। अर्थात्—धर्म या धनुष के मित्र हे मारिदत्त महाराज! विमर्श—यहाँ बहुव्रीहि में समासान्त प्रत्यय नहीं होता, अतः उक्त अर्थ से यह अर्थ विशेष अच्छा है—सम्पादक। ४. रूपकालङ्कार। ५. व्यतिरेक-रूपकालङ्कार। *'काञ्चीलताडम्बरं' इति (क)।

मुनिकुमारः—'अनर्थिनः खलु जनस्यामृतमपि निषिच्यमानं प्रायेण परिकल्पते संतापाय, जायते चोपदेष्टुः पिशाचकिन इवाकृतार्थव्यासः कथाप्रयासः,

वाले चँमर वर्तमान हैं—ढोरे जारहे हैं। जिसमें (उक्त तीनों-नृत्यादि में) मधुर शब्द करनेवाली करधोनी के लय (क्रीड़ा-साम्य) का विस्तार वर्तमान है। जिसमें (नृत्य व स्त्री-संभोग में) भ्रुकुटि-विक्षेप द्वारा भाव (४९ प्रकार का भाव व संभोग-दान संबंधी अभिप्राय) समर्पण किया गया है और जिसमें (सभामण्डपमें) भ्रुकुटि-विक्षेप द्वारा कार्य-निवेदन किया गया है। जिसमें (नृत्यपक्ष में) निरोह और चरण के आरोपण (स्थापन) व क्षेपण (संचालन) द्वारा दर्शकों के हृदय में उल्लास उत्पन्न किया गया है। जिसमें (स्त्रीसंभोग पक्ष में) पुरुष के निरोह और स्त्री के चरणों का न्यास संबंधी (रतिक्रीड़ोपयोगी) आसनविशेष द्वारा आनन्द पाया जाता है। जिसमें (सभामण्डप पक्ष में) निरोहों व चरणों के न्यासासन (स्थापनादि) द्वारा आनन्द पाया जाता है। जिसमें (नृत्यपक्ष में) दोनों हस्तरूप ध्वजाएँ नृत्य कर रही हैं और जिसमें (स्त्रीसंभोग पक्ष में) हस्त-श्रेणीरूप ध्वजाएँ संचालित की जारही हैं। जिसमें (सभामण्डप पक्ष में) करकमलों पर धारण की हुई ध्वजाएँ फहराई जारहीं हैं। जिसमें शारीरिक अङ्गों (हस्त-पादादि) के विक्षेप (नृत्यकला-पूर्ण संचालन) का उल्लास दृष्टिमार्ग पर लाया जारहा है। जिसमें (स्त्रीसंभोग पक्ष में) अङ्ग (रति-विलास के अङ्ग) और मोतियों के हार द्वारा दृष्टिपथ में आनन्द प्राप्त किया गया है एवं जिसमें (सभामण्डप में) हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेना रूप सैन्य के अङ्ग-समूह द्वारा हर्ष दृष्टिपथ में प्राप्त किया गया है[1] ॥१७४॥

पश्चात् सर्वश्री अभयरुचि कुमार (क्षुल्लक श्री) ने मनमें निम्नप्रकार विचार करते हुए राजा मारिदत्त का पुनः गुणगान करना प्रारम्भ किया—'ऐसे श्रोता को, जो वक्ता की बात नहीं सुनना चाहता, सुनाए हुए अमृत सरीखे मधुर वचन भी बहुधा क्लेशित करते हैं और साथ में वक्ता का कथन करने का कष्ट भी निष्फल-विस्तार-वाला होजाता है। निरर्थक बोलने वाला वक्ता भूत चढ़े हुए सरीखा निन्द्य होता है; क्योंकि उसके वचनों से श्रोताओं का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। भावार्थ—नीतिनिष्ठों[2] ने भी कहा है कि जो वक्ता, उस श्रोता से बातचीत करता है, जो कि उसकी बात नहीं सुनना चाहता, उसकी लोग इसप्रकार निन्दा करते हैं कि इस वक्ता को क्या पिशाच ने जकड़ लिया है? अथवा क्या इसे वातोल्वण सन्निपात रोग होगया है? जिसके फलस्वरूप ही मानों—यह निरर्थक प्रलाप कर रहा है। नीतिकार भागुरि[3] ने कहा है कि 'जो वक्ता उसकी बात न सुननेवाले मनुष्य के सामने निरर्थक बोलता है वह मूर्ख है, क्योंकि वह निस्सन्देह जंगल में रोता है'। जिसप्रकार अपनी इच्छानुकूल पति को चुननेवाली कन्याएँ, दूसरे को दी जाने पर (पिता द्वारा उनकी इच्छा के विरुद्ध दूसरों के साथ विवाही जाने पर) पिता को तिरस्कृत करती हैं या उसकी हँसी मजाक कराती हैं, उसीप्रकार वक्ता की निरर्थक वाणी भी उसे तिरस्कृत व हास्यास्पद बनाती है[4,5]।

१. यथासंख्य-अलङ्कार।

२. तथा च सोमदेवसूरिः—'स खलु पिशाचकी वातकी वा यः परेऽनर्थिनि वाचमुदीरयति' नीतिवाक्यामृते।

३. तथा च भागुरिः—अश्रोतुः पुरतो वाक्यं यो वदेदविचक्षणः। अरण्यरुदितं सोऽत्र कुरुते नात्र संशयः ॥१॥

४. तथा च सोमदेवसूरिः—पतिंवरा इव परार्थाः खलु वाचस्ताश्च निरर्थकं प्रकाश्यमानाः शपयन्त्यवश्यं जनयितारं।

५. तथा च वर्गः—वृथालापं च यः कुर्यात् स पुमान् हास्यतां व्रजेत्। पतिंवरा पिता यद्वदन्यस्यार्थे वृथा [ददत्] ॥१॥

पार्थिवस्वायमद्याप्यासेचनकावलोकनयोरावयोः सूक्तसुधारसेषु न तृप्यति, रजस्तमोबहुलेषु च प्राणिषु प्रथमतरमेव धर्मोपदेशः करोति महतीं शिरःशूलव्यथाम्, भवति चावधीरणाय वक्तुः, तदेनमभ्यस्तरसप्रसरैरेव वचोभिरुल्लासयामि, नयवेदिनो हि वनगज इव स्वादुकफलप्रलोभनमविदिततत्त्वे पुंसि छन्दानुवर्तनमपि भवत्यायत्यामभिमतावाप्तये' इत्यवगत्य पुनरपि सम-न्तापतिमुपश्लोकयितुमुपचक्रमे—

'दलितरिपुदैत्यदर्पः प्रतापभरचकितखचरलोकेन्द्रः। कलिकालजलधिसेतुर्जयतु नृपः समरशौण्डीरः ॥ १७५ ॥ वर्णः ॥

सकलमङ्गलधाम अथकाम कमलालय निखिलनय शौर्यनिगद कदनैकदोहद।
आनिगममसमानबल वैरिकाल जय जीव कामद ॥ १७६ ॥ मात्रा ॥

इति महति भवति किंचिद्वदामि निःशेषतस्तु नो पारयामि। वक्तुं त्वदीयगुणगरिमधाम सर्वज्ञवचनविषयं हि नाम ॥ १७७ ॥ चतुष्पदी ॥

प्रकरण में यह मारिदत्त राजा, जिनके दर्शन से इसकी तृप्ति का अन्त नहीं हुआ, ऐसे हम लोगों की मधुर वचनामृत की धारा से अब भी सन्तुष्ट नहीं होपाया। [अतः हमसे विशेष सूक्त सुधारस—मधुर वचनामृत—का पान करना चाहता है] परन्तु राज्यादि के मद से मदोन्मत्त व अज्ञानियों को सबसे पहले धर्म-कथा सुनाने से उनके मस्तक में शूल (पीड़ा) उत्पन्न होजाता है, जिसके फलस्वरूप वक्ता का भी अनादर होने लगता है। इसलिए मैं इसे अभ्यस्त (परिचित) शृङ्गार व वीररस-पूर्ण वचनामृत से आल्हादित करना चाहता हूँ। क्योंकि नीतिनिष्ठों ने कहा है कि जिसप्रकार विन्ध्याचल से लाया हुआ हाथी मधुर फलों का प्रलोभन देने से वश में हो जाता है, उसीप्रकार धर्मतत्व से अनभिज्ञ श्रोता भी वक्ता द्वारा की जानेवाली उसकी इच्छानुकूल प्रवृत्ति से वक्ता के वश में होजाता है, जिसके परिणाम स्वरूप वक्ता को उससे भविष्य में वाञ्छित फल की प्राप्ति होती है।'[1]

उक्त प्रकार निश्चय करके सर्वश्री अभयरुचि कुमार (क्षुल्लकश्री) ने पुनः प्रस्तुत मारिदत्त राजा का गुणगान करना प्रारंभ किया। वर्णनस्तुति—

'जो मारिदत्त महाराज शत्रुरूप दैत्यों का अभिमान चूर-चूर करनेवाले हैं, जिनके प्रचुर प्रताप से विद्याधर राजा भयभीत होते हैं एवं जो पंचमकाल-रूपी समुद्र से पार करने के लिए पुलसमान हैं और युद्धभूमि में शौण्डीर (त्याग व पराक्रम से विख्यात) हैं, वह संसार में सर्वोत्कृष्टरूप से विराजमान होवे। अर्थात्—उसकी हम भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं'[2]॥१७५॥ समस्त कल्याणों के धाम* (मन्दिर), समस्त जगत की विजय के इच्छुक, लक्ष्मी-निधान, समस्त नीतिशास्त्रों के आधार, वीरता का कथन करनेवाले, संग्राम करने का अद्वितीय मनोरथ रखनेवाले, सिद्धान्त में सूचित की हुई अनोखी शक्ति से सम्पन्न, शत्रुओं के लिए यमराज तुल्य व अभिलषित वस्तु देनेवाले ऐसे हे राजन्! आप सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्तमान होते हुए दीर्घायु होवें'[3]॥१७६॥ हे राजन! आपका गुण-गरिमारूप तेज, तीर्थङ्कर सर्वज्ञ की प्रशस्त वाणी द्वारा ही निरूपण किया जासकता है। आप वर्णाश्रम में वर्तमान समस्त लोक के गुरु होने से महान् हैं; अतः आपका समस्त गुणगान हमारी शक्ति के बाहिर है, इसलिए हम आप का अल्प गुणगान करते हैं'[4]॥१७७॥

---

१. उपमालंकार। २. रूपकालङ्कार। * अत्र धामशब्दः स्वभावेन अकारान्तः न तु नान्तः, ततः हे 'सकलमङ्गलधाम'। ह. लि. सटि० (क) प्रति से संकलित—सम्पादक। ३. मात्राच्छन्दः। ४. अतिशयालङ्कार व चतुष्पदी छन्द।

जय कमलकलशकुलिशाङ्कचरण सकलोपमानरुचिरचितकरण । यमवरुणधनदशक्रावतार कल्याणविजय संसारसार ॥ १७८ ॥
एकातपत्रवसुधाचिताङ्ग संग्रामकेलिदयिताभुजङ्ग । विद्याविनोदसहजानुराग कीर्तिप्रबन्धभृतभुवनभाग ॥ १७९ ॥
सत्पुरुषरत्नसंग्रहणनिघ्न गुरुदेवमहामुनिशमितविघ्न । निखिलाश्रितजनकल्पद्रुमाभ धरणिप्रतिपालनपद्मनाभ ॥ १८० ॥
रणवीर*वैरिकरिकृतविनोद शौण्डीरशिखामणिवन्द्यपाद । गुणघोषमुखरकोदण्डचण्डशरखण्डितरिपुगलनालखण्ड ॥ १८१ ॥
दोर्दण्डदलितपरबलगजेन्द्र निर्व्याजशौर्यतोषितसुरेन्द्र । कृतशत्रुकबन्धानर्ततर्ष जय‡समरमुक्तसुरकुसुमवर्ष ॥ १८२ ॥
निजभुजबलसाधितजगदसाध्य लक्ष्मीकुचनिबिडितबाहुमध्य । दुर्गाकरपीडनविषमनेत्र सर्वावनीनशेखरचरित्र ॥ १८३ ॥

जो कमल, घट, और वज्र के चिन्हों से व्याप्त हुए चरण-कमलों से सुशोभित हैं। जिसके मुख-आदि शारीरिक अवयव समस्त उपमानों (समान-धर्मवाली चन्द्र व कमलादि वस्तुओं) के कान्ति-मण्डल से रचे गए हैं। जो दण्डविधान में यमराज का अवतार, अगम्य (आक्रमण करने के अयोग्य) होने से वरुण के अवतार, याचकों की आशाओं की पूर्ति में कुबेर-सदृश और ऐश्वर्य में इन्द्र के अवतार हैं। जिसका दिग्विजय, समस्त प्राणियों के लिए माङ्गलिक (कल्याण कारक) है और जो संसार में सारभूत (सर्वश्रेष्ठ) हैं, ऐसे हे राजन्! आप सर्वोत्कर्ष रूप से प्रवृत्त हों ॥१७८॥ जिसका शरीर एकच्छत्र पृथ्वी के शासन-योग्य है, जो युद्धक्रीड़ा रूपी प्यारी स्त्री के उपभोग करने में कामी (कामवासना-युक्त) हैं, जो शास्त्र संबंधी कुतूहल में स्वाभाविक अनुराग (अकृत्रिम स्नेह) रखते हैं और जो कीर्ति समूह से पृथिवी मण्डल को परिपूर्ण करते हैं, ऐसे हे राजन्! आप सर्वोत्कर्ष रूप से प्रवृत्ति करें ॥१७९॥ जो सज्जन पुरुष-रूप रत्नों के स्वीकार करने में तत्पर हैं। जिसके द्वारा गुरुदेवों (माता-पिता व गुरुजन-आदि हितैषियों) और महामुनियों की विघ्न-बाधाओं का निवारण किया गया है। जो समस्त सेवकजनों के मनोरथ पूर्ण करने में कल्पवृक्ष के सदृश हैं और पृथिवी का रक्षण करने में श्रीनारायण-तुल्य हैं, ऐसे हे राजन्! आप सर्वोत्कर्ष रूप से प्रवृत्त हों ॥ १८० ॥ जिसने संग्राम में शूरता या पाठान्तर में धीरता दिखानेवाले शत्रुओं के हाथी नष्ट किये हैं। जिसके चरणकमल त्याग और पराक्रम में विख्यात हुए राजाओं के शिखा-मणियों (शिरोरत्नों) द्वारा नमस्कार करने के योग्य हैं। जिसके द्वारा डोरी की टङ्कार ध्वनि से शब्द करनेवाले धनुष के प्रचण्ड बाणों द्वारा शत्रुओं के कण्ठों के नाल-(नलुआ—नसें या नाड़ी) समूह अथवा कण्ठरूप-नालों (कमल-डण्डियों) के वन छिन्न भिन्न किये गए हैं, ऐसे हे मारिदत्त महाराज! आप सर्वोत्कर्ष रूपमें वर्द्धमान हों ॥ १८१ ॥ जिसने बाहुदण्ड द्वारा शत्रु-सेना के श्रेष्ठ हाथी चूर्ण किये हैं। जिसके द्वारा निष्कपट की हुई शूरता से सौधर्म—आदि स्वर्गों के इन्द्र उल्लासित (आनन्दित) किये गए हैं। जिसने शत्रुओं के कबन्धों (शिर-शून्य शरीरों) के नचाने की लालसा की है व जिसके संग्राम के अवसर पर देवताओं द्वारा पुष्प-वृष्टि कीगई है, ऐसे हे राजन्! आपकी जय हो, अर्थात्—आप सर्वोत्कर्ष रूप से वर्तमान हों ॥ १८२ ॥ जिसने अपनी भुजाओं (बाहुओं) की सामर्थ्य से संसार में असाध्य (प्राप्त होने के लिए अशक्य) सुख हस्त-गत (प्राप्त) किया है। जिसका वक्षःस्थल, लक्ष्मी के कुचों (स्तनों) द्वारा गाढ़ आलिङ्गन किया गया है। जो [शत्रु संबंधी] दुर्गों (जल, वन व पर्वतादि) और खानियों के पीड़ित (नष्ट-भ्रष्ट अथवा हस्तान्तरित) करने में नेत्रों की कुटिलता धारण करता है। अथवा दुर्गा—करपीडन—विषमनेत्र अर्थात्—जो श्रीपार्वती के साथ विवाह करने में श्रीमहादेव-सरीखा है और जिसका चरित्र, समस्त पृथिवी के राजाओं के लिए मुकुट-प्राय (शिरोधार्य) या श्रेष्ठ है ॥ १८३ ॥

A

* 'धीर' इति क०। ‡ 'समयमुक्त' इति क०। A—टिप्पण्यां तु संग्राम इति लिखितं।

चतुरुदधितटीवनगीतवर्ण वर्णस्थितिपालन दानकर्ण। कर्णप्रदेशविश्रान्तनयन नयनम्रनृपतिसद्भावसदन ॥ १८४ ॥
सदनश्रितविषमधरोपकण्ठ कण्ठप्रशस्त हृतनीतिकुण्ठ। लाटीमुखाब्जसंभोगहंस कर्णाटयुवतिसुरतावतंस ॥ १८५ ॥
आन्ध्रीकुचकुड्मलकृतविलास चोलीनयनोत्पलवनविकास। यवनीनितम्बनखपदविदग्ध मलयस्त्रीरतिभरकेलिमुग्ध।
वनवासियोषिदधरामृतार्ह सिंहलमहिलाननतिलकवर्ह ॥ १८६ ॥ पद्धतिका ॥

इति बुधजनकामः क्रीडितरामः सकलभुवनपतिपूजित। कृतबुधजनकामः क्षितिपतिरामस्त्वमिह चिरं जय विश्रुत[1]॥१८७॥घत्ता॥

जिसका वर्ण (यश) चारों समुद्रों के तटवर्ती उद्यानों में गाया गया है। जो ब्राह्मणादि वर्णों को स्थिर करने के हेतु उनका पालन करता है। जो सुवर्ण-राशि का दान करने में कर्ण की तुलना करते हैं। जिसके नेत्र कानों के समीप पर्यन्त विश्राम को प्राप्त हुए हैं। अर्थात्—जो दीर्घ-लोचन हैं और नीतिमार्ग से नम्रीभूत हुए राजाओं के सद्भाव (आकुलता) को [विश्राम देने में] गृह स्वरूप हैं। अर्थात् - नम्रीभूत राजाओं की आकुलता-निवारण के हेतु जो आधार भूत हैं ॥ १८४ ॥ जो, असाध्य (जीतने के लिए अशक्य) पृथिवी के समीपवर्ती प्रदेशों को [जीतकर] अपने गृह में लाया है। अथवा जिसने अपने गृह में स्थित असाध्य शत्रुओं को पर्वतों के समीप [पहुँचाया है]। अथवा टिप्पणीकार* के अभिप्राय से सदनश्रितविषमधरोपकण्ठ अर्थात्—जो विषमधरा ऊवड़-खावड़ जमीन) के समीपवर्ती गृहों में स्थित हुए विषम (असाध्य शत्रु) थे, वे [आपके पराक्रम द्वारा] पर्वत के समीपवर्ती हुए। जो मनोज्ञ कण्ठ से सुशोभित हैं। जिसने नैतिक कर्तव्यों में कुण्ठित (शिथिल) हुए (नीति-विरूद्ध प्रवृति करनेवाले पर-धन व परस्त्री में लम्पट) राजा लोग मार दिये हैं, अथवा तीक्ष्ण दंड द्वारा पीड़ित किये हैं। जो लाटी देश (भृगुकच्छ देश) की स्त्रियों के मुखकमलों का उसप्रकार संभोग (चुम्बनादि) करता है जिसप्रकार हंसपक्षी कमलों का उपभोग (चर्वण) करता है और जो कर्णाटक देश की युवतियों के साथ रतिविलास करने में अवतंस (कर्णपूर) समान श्रेष्ठ है, ऐसे हे मारिदत्त महाराज! आप सर्वोत्कर्ष रूप से वर्तमान हों ॥ १८५ ॥ जिसने आन्ध्र (तिलङ्ग) देश की स्त्रियों की कुचकलियों के साथ विलास (क्रीड़ा) किया है। जिससे चोली (समङ्ग) देश की कमनीय कामिनियों के नेत्र-रूपी नील कमलों के वगीचे को प्रफुल्लिता प्राप्त हुई है। जिसने यवनी (खुरासान-देशवर्ती) रमणीय रमणियों के नितम्बों (कमर के पृष्ठ भागों) पर किये हुए नखक्षतों के स्थानों पर क्रीड़ा करने की चतुराई प्राप्त की है और जो मलयाचलवर्ती कमनीय कामिनीयों की विशेष संभोग क्रीड़ा करने में कोमल है। अर्थात् उनके अभिप्राय-पालन में तत्पर है। जो वनों में निवास करनेवाली रमणियों के ओष्ठामृत का पान करने में योग्य है और जो सिंहल (लंका द्वीप) देश की महिलाओं के मुखों पर तिलक-रचना करने के योग्य है, ऐसे हे राजन्! आपकी सर्वोत्कर्ष रूप से वृद्धि हो[1] ॥ १८६ ॥ जो समस्त पृथिवी-मण्डलवर्ती राजाओं द्वारा पूजे गए हैं, अथवा जो उन्हें वश में करने के हेतु समुचित दण्ड की व्यवस्था करते हैं। जो तीन लोक में प्रसिद्ध हैं। जिनसे विद्वानों को अभीष्ट (मनचाही) वस्तु मिलती है। जिन्होंने पूर्वोक्त कमनीय कामिनियों का उपभोग किया है। जिसने विद्वज्जनों के ज्ञानादि गुणों की कामना (अभिलाषा) की है। अथवा

---

*'सदनाश्रितविषमधरोपकण्ठ A विषमधराया उपकण्ठे सदने गृहे श्रिता ये विषमास्ते धरे पर्वते श्रिताः। B—उपकण्ठः समीपं। इति ह. लि. (क) प्रति से संकलित—सम्पादक

१. यमकालंकार व षोडशमात्रा-शाली पद्धतिका छन्द।

तथा मुनिकुमारिकापि—'लक्ष्मीरामानङ्गः सपत्नकुलकालविक्रमोत्तुङ्गः। कीर्तिविलासतमङ्गः प्रतापरङ्गश्चिरं जयतु ॥ १८८ ॥'

उत्सारितारिसर्पः शरणागतनृपतिचित्तसंतर्पः। लक्ष्मीललामकूर्पस्तपतु चिरं नृपतिकन्दर्पः ॥ १८९ ॥

भुवनाब्जसरस्तरणिर्धर्मामृतदरणिरुदयतरुधरणिः। श्रीरमणीरतिसरणिर्मण्डलिकशिखामणिर्जीयात् ॥ १९० ॥ वर्णः ॥

कुवलयोत्सवचन्द्र नृपतीन्द्र लक्ष्मी*वरकीर्तिसर†दमृतवृष्टिपल्लवितबुध‡वन।

आ||भुवनमभिमानधन धैर्यसदन जय विहितसदवन ॥ १९१ ॥ मात्रा ॥

नृप महति भवति किंचिद्गिरामि वक्तुं गुणमखिलं नोत्सरामि।

द्योतिर्युमणेरवनीश यत्र का शक्तिः काचमणेर्हि तत्र ॥ १९२ ॥ चतुष्पदी ॥

कृत[1]-बुध जनक-श्रम-अर्थात्—जिसने विद्वज्जनों के गुणों का दरिद्रता-रूप रोग नष्ट किया है। अर्थात्—जो विद्वानों के लिए धन-प्रदान द्वारा उनकी सेवा करता है और जो राजाओं के मध्य में श्री रामचन्द्र-सरीखे हैं, ऐसे हे राजन्! आप संसार में दीर्घकाल पर्यन्त चिरंजीवी होते हुए सर्वोत्कर्ष रूपसे प्रवृत्त हों।[2] ॥ १८७ ॥

तत्पश्चात् सर्वश्री अभयमति (क्षुल्लिकाश्री) ने प्रस्तुत राजा का निम्नप्रकार गुण-गान करना आरम्भ किया—'ऐसे मारिदत्त राजा, जो प्रताप की प्रवृत्ति के लिए भूमिप्राय, लक्ष्मीरूपी कमनीय कामिनी का उपभोग करने में कामदेव, शत्रु-समूह की मृत्यु करने की सामर्थ्य के कारण उन्नत और कीर्ति के विलास (क्रीड़ा) करने के लिए महल हैं, चिरकाल तक सर्वोत्कर्ष रूप से प्रवृत्त हों अथवा चिरायु हों[3] ॥१८८॥' जो शत्रुरूप सर्पों को भगानेवाले हैं और जिससे शरण में अथवा गृह पर आए हुए शत्रुओं के चित्त सन्तुष्ट होते हैं। जो लक्ष्मी के मस्तक के मध्यदेशवर्ती तिलक-सदृश और राजाओं में कामदेव-सरीखे हैं, ऐसे राजा मारिदत्त चिरकाल पर्यन्त ऐश्वर्यशाली हों ॥१८९॥ जो पृथिवी-मण्डल रूप कमल वन को उसप्रकार विकसित करता है जिसप्रकार सूर्य कमल-वन को विकसित करता है। जो धर्म रूप अमृत को उसप्रकार धारण करते हैं जिसप्रकार स्वर्ग अमृत धारण करता है। जो उदय रूप वृक्ष के लिए पृथिवी-समान हैं। अर्थात्—जिसप्रकार पृथिवी वृक्ष को उन्नतिशील करती है उसीप्रकार जो प्रजा की उन्नति करता है। जो लक्ष्मी रूप कमनीय कामिनी के संभोग का मार्ग और माण्डलिक राजाओं का शिखामणि (शिरोरत्न) है, ऐसा राजा मारिदत्त चिरंजीवी हो[4] ॥१९०॥ जो पृथिवी-मण्डलरूप उत्पल-समूह (चन्द्र-विकासी कमल-समूह) को उसप्रकार विकसित करता है, जिसप्रकार चन्द्रमा, कुवलय (चन्द्र-विकासी कमल-समूह) को विकसित करता है। जो राजाधिराज और श्रीनारायण के अवतार हैं। जिसने कीर्तिरूपी फैलनेवाली अमृतवृष्टि द्वारा विद्वन्मण्डल-रूप वन उल्लासित (आनन्दित) किया है। जिसका तीन लोक पर्यन्त स्वाभिमान ही धन है। जो धैर्य के मन्दिर और विद्वानों के रक्षक हैं, ऐसे हे राजन्! आपकी जय हो। अर्थात्—आप सर्वोत्कर्ष रूप से वर्तमान हों ॥१९१॥

हे राजाधिराज! मैं आप महानुभाव का कुछ थोड़ा गुणगान करती हूँ; क्योंकि मैं आपका समग्र गुणगान करने को पार नहीं पा सकती। हे पृथ्वीपति! जिस स्थान पर सूर्य का प्रकाश होरहा है, वहाँपर काँच की क्या शक्ति है? अपि तु कोई शक्ति नहीं। अर्थात्—यहाँपर सर्वश्री सुदत्ताचार्य सूर्यस्थानीय व मेरा यह भाई (क्षुल्लक अभयरुचि) दीप्ति स्थानीय है, इन दोनों के सामने मैं काचमणि सी हूँ[5] ॥१९२॥

---

* 'धर' इति क, ग०। † 'विसरद' इति क ग। ‡ 'बुधजन' इति ग०। || 'आभुवनमहिमानधन' इति क०।

१—कृतरछेदितो बुधजनकानां विद्वज्जनगुणानां श्रमो रोगो दारिद्र्य-लक्षणो येन सः तथोक्तः। क्नम् हिंसायाम्। इति धातोः प्रयोगात्। २—रूपकालंकार व घत्ताछन्द। ३, रूपकालंकार ४. रूपकालंकार ५. चतुष्पदी छन्द।

जय लक्ष्मीकरकमलातपत्र सारस्वतरसनिष्यन्दपात्र। धर्मार्थकामसमवृत्तचित्त तीर्थार्थिमनोरथवर्ति वित्त ॥ १९३ ॥
शत्रुस्त्रीनेत्रविधूपलान्तनिश्च्योतचन्द्र रणकेलिकान्त। रिपुयुवतिहृदयसूर्याश्मशैलविरहानलजन्ममणिलील ॥ १९४ ॥
विनतक्षितीशवक्षोब्जकोशविहितश्रीरामासंनिवेश। शरणागतनृपतिमनोभिलषितचिन्तामणिनिपुणगुणप्रतीत ॥ १९५ ॥
भुवनत्रयधवलनसौधकुम्भ कीर्तिप्रबन्धभास्वद्विजृम्भ। संग्रामरङ्गनर्तितकबन्ध वीरश्रीगीतयशःप्रबन्ध ॥ १९६ ॥
यः कोऽपि भवति खलतामुपैति यमवक्त्रयन्त्रवशतां स याति। शौण्डीर्यश्रियि खचरेन्द्र दोर्दण्डदलितरिपुकुलकरीन्द्र ॥१९७॥
यस्तव सेवासु विकारमेति तस्मात्प्रागेव श्रीरपैति। यस्त्वां हतवृत्तिर्देव नृपतिरायोधनबद्धमतिः प्रयाति ॥ १९८ ॥
स करेणाङ्गाराकर्षणानि विषधरफणमणिभिर्भूषणानि। हरिकण्ठसटाभिर्वीजितानि दिक्करटिविषाणैः क्रीडितानि ॥
कालेनाकाशमितानि नाम ननु कर्तुं वाञ्छति धैर्यधाम ॥ १९९ ॥

जिसका छत्र, लक्ष्मी के हस्त पर वर्तमान क्रीड़ाकमल सरीखा है। जो सरस्वती-संबंधी रस के क्षरण का आधारभूत है। अर्थात्—जिससे श्रुतज्ञान रूपी रस प्रवाहित होता है। जिसकी चित्तवृत्ति धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों के समान रूप से पालन करने में (परस्पर में बाधा न डालती हुई) प्रवृत्त है। जिसका धन धर्मपात्रों (महामुनि व विद्वन्मण्डल-आदि) और याचकों के मनोरथ पूर्ण करता है, ऐसे हे राजन्! आप सर्वोत्कर्ष रूप से वृद्धिंगत हों ॥१९३॥ जिसप्रकार चन्द्रमा का उदय, चन्द्रकान्त-मणियों से जल प्रवाहित करने में समर्थ है उसीप्रकार जो शत्रु-स्त्रियों के नेत्ररूप चन्द्रकान्त-मणियों के प्रान्तभागों से अश्रुजल प्रवाहित करने में समर्थ है। जिसे संग्राम-क्रीड़ाएँ प्यारी हैं। जिसप्रकार सूर्य-किरणों के संसर्ग से सूर्यकान्त-मणियों के पर्वतों से अग्नि उत्पन्न होती है उसीप्रकार जो शत्रुओं की युवती स्त्रियों के हृदयरूप सूर्यकान्तमणियों के पर्वतों से विरह रूप अग्नि को उत्पन्न करने की शोभा से युक्त है ॥१९४॥ जो नम्रीभूत राजाओं की हृदय-कमल की कर्णिकाओं में लक्ष्मीरूप स्त्री का प्रवेश करनेवाले हैं। जिसप्रकार चिन्तामणि रत्न अभिलषित वस्तु के प्रदान करने में प्रवीण होने से विख्यात है उसीप्रकार जो दुःख निवारणार्थ शरण में आए हुए राजाओं को अभिलषित वस्तु के प्रदान करने में प्रवीणता गुण के कारण विख्यात है ॥१९५॥ जो तीन लोक को उसप्रकार उज्वल करता है जिसप्रकार पतले (तरल) चूना-आदि शुभ्र द्रव्यों का घट वस्तुओं को शुभ्र करता है। जिसकी प्रवृत्ति विद्वज्जनों द्वारा रचे हुए कीर्तिशास्त्र रूपी सूर्य की प्राप्ति के हेतु है। जिसने युद्धाङ्गण में कबन्ध (मस्तक रहित-शरीर) नचाए हैं और जिसका कीर्तिरूप सुकवि-रचित शास्त्र वीर लक्ष्मी द्वारा गान किया गया है ॥१९६॥ जिसने त्याग और विक्रम की प्रसिद्धि से, विद्याधरों के इन्द्र आश्चर्यान्वित किये हैं और जिसने बाहुदण्डों द्वारा शत्रु-समूह के श्रेष्ठ हाथियों को जमीन पर पछाड़कर चूर्णित कर दिया है, ऐसे हे राजन्! जो कोई पुरुष आपके साथ दुष्टता का वर्ताव करता है, वह यमराज के मुखरूपी कोल्हू की अधीनता प्राप्त करता है। अर्थात्—उसमें पेला जाने के फलस्वरूप मृत्यु-मुख में प्रविष्ट होता है ॥१९७ हे आराधनीय राजन्! जो राजा आपकी सेवा में विकृति (विमुखता) करता है, उसके पास से लक्ष्मी पहिले ही भाग जाती है। आपके साथ युद्ध करने में अपनी बुद्धि को नियन्त्रित (निश्चित) करता हुआ जो राजा आप पर आक्रमण करता है, उसकी वृत्ति (जीविका) नष्ट होजाती है ॥१९८॥ धैर्य के स्थान हे राजन्! अहो! मैं ऐसी सम्भावना करता हूँ कि जो आपसे युद्ध करने का इच्छुक है, वह नष्ट जीविका-युक्त मानव, हाथों से अग्नि के अङ्गार खींचना चाहता है, शेषनाग की फणाओं में स्थित हुए मणियों से आभूषण-निर्माण करने का इच्छुक है एवं सिंह की गर्दन की केसरों (केश-सटाओं) से चँमरों का निर्माण करके उनसे चँमर ढोरने की अभिलाषा करता है और दिग्गजों के दाँत रूपी मूसलों से क्रीड़ा करना चाहता है तथा पुरुष-धावन-क्रम (उछलना या दौड़ना) से आकाश की मर्यादा प्रमाण करना चाहता है।

लक्ष्मीरतिलोल प्रणयिगङ्ग परकीर्तिवधूग्रहणाभिषङ्ग । यस्तव परनारीरतिनिवृत्तिमाख्याति यथार्थमसौ न वेत्ति ॥ २०० ॥
तव नासीरोद्धतरेणुरागमज्जत्किरणो*रविरसितभागः । आभाति त्रपुदर्पणसमानबिम्बः क्षितिरमणीरतिनिधान ॥ २०१ ॥
तव सेनाजनसेविततटासु परिशुष्यद्वारिषु निम्नगासु । करिधाववधरणिसमतोचितानि नूनं भवन्ति नृप विस्तृतानि ॥२०२॥
हयत्कुञ्जरहयरथभटभरेण चूर्णीकृतदुर्गपरम्परेण । रिपुविषयेष्वहितारण्यदाव दुर्गत्वमुमाप्रतिमास्थमेव ॥२०३॥
भवतोऽम्बुधिरोधःकाननेषु दिग्विजयव्याजप्रस्थितेषु । सैन्येषु द्विषतां दर्शनानि संमुखमायान्ति न गर्जितानि ॥२०४॥
गृहवाप्य: सलिलधयो नृचन्द्र कुलशैलाः केलिनगा नरेन्द्र । लङ्कादिद्वीपविधिः समर्थभूतः प्रतिवेशनिभः कृतार्थ ॥२०५॥

भावार्थ—जिस प्रकार अङ्गार-आकर्षण-आदि उक्त बातें असम्भव व महाकष्ट-प्रद हैं उसीप्रकार महाप्रतापी मारिदत्त राजा से युद्ध की कामना करना भी असम्भव व कष्टदायक है।।१९९।। लक्ष्मी के साथ भोग करने में लम्पट, गङ्गादेवी नाम की पट्टरानी से विभूषित और शत्रुओं की कीर्तिरूपी वधू के स्वीकार करने में आसक्त ऐसे हे राजन् ! जो विद्वान्, तुम्हें परस्त्री के साथ रति-विलास करने से निवृत्त (त्यागी) कहता है, वह विद्वान् यथार्थ रहस्य नहीं जानता। क्योंकि आप निम्नप्रकार से परस्त्री के साथ रति विलास करने वाले हो। उदाहरणार्थ—आप लक्ष्मी (श्रीनारायण की पत्नी) का उपभोग करने में लम्पट हो और गङ्गा (शान्तनु की स्त्री और श्री महादेव की रखैली प्रिया) के साथ प्रेम करते हो। इसीप्रकार शत्रु-कीर्तिरूपी वधू में भी आसक्त हो। ऐसी परिस्थिति में भी जो विद्वान् आपको परस्त्री का भाई कहता है, वह यथार्थ रहस्य नहीं जानता[1] ॥२००॥ पृथ्वी-रूपी स्त्री के संभोग-मन्दिर ऐसे हे राजन् ! आपकी नासीर* (प्रमुखसेना) की उछलती हुई धूलि के राग (लालिमा) के कारण डूबती हुई किरणों वाला सूर्य मलिन बिम्बशाली होता हुआ राँगे के दर्पण-सरीखे मण्डलवाला होकर विद्वानों के चित्त में चमत्कार उत्पन्न करता है ॥ २०१ ॥ हे राजन् ! जिनके तटों पर आपकी सेनाओं का समूह निवास कर रहा है और जिनकी जलराशि सूख गई है, ऐसी गङ्गा, यमुना व सरयू-आदि नदियों के विस्तार निश्चय से हाथियों की दमन-भूमियों की समानता के योग्य होरहे हैं ॥२०२॥ शत्रुरूपी वन को भस्म करने के लिए दावानल अग्नि सरीखे हे राजन् ! आपके ऐसे सेना-समूह से, जिसमें हाथी, घोड़े, रथ और सहस्रभट, लक्षभट, और कोटिभट पैदल योद्धा वीर पुरुष वर्तमान हैं, और जिसके द्वारा शत्रु-देशों की दुर्गपरम्परा (किलाओं की श्रेणी) छिन्न-भिन्न (चूर चूर) कर दीगई है, शत्रु-देशों में दुर्गों (किलों) का नाम मात्र (चिन्हमात्र) भी नहीं रहा, इसलिए अब तो उन (शत्रु-देशों) में दुर्गत्व (दुर्गादेवीपन व किलापन) केवल पार्वती परमेश्वरी की मूर्ति में ही स्थित होगया है[2] ॥ २०३ ॥ हे राजन् ! जब आपकी सेनाओं ने समुद्र के तटवर्ती वनों में दिग्विजय के बहाने से प्रस्थान किया तब उनके सामने, शत्रु द्वारा भेजे हुए उपहार (रत्न, रेशमी वस्त्र, हाथी, घोड़े और स्त्रीरत्न-आदि उत्कृष्ट वस्तुओं की भेंटें) प्राप्त हुए न कि शत्रुओं की गर्जना ध्वनियाँ प्राप्त हुईं[3] ॥ २०४ ॥ मनुष्यों में चन्द्र, कृतकृत्य अथवा पुण्य संपादन करने का प्रयोजन रखने वाले, पृथिवी के स्वामी, उदारता, शौण्डीर्य (त्याग व विक्रम), गाम्भीर्य व वीर्य-आदि प्रशस्त गुणों से परिपूर्ण ऐसे हे राजाधिराज ! जिस आपका इस प्रकार से माहात्म्य वर्तमान है, तब आप को संसार में कौनसी वस्तु असाध्य (अप्राप्य) है ? अर्थात् कोई वस्तु अप्राप्य नहीं है—सभी पदार्थ प्राप्त होसकते हैं। आपके माहात्म्य के फलस्वरूप समुद्र, गृह की वावड़ियाँ या सरोवर होरहे हैं। हिमवान, सह्य और विन्ध्याचल-आदि कुलाचल आपके क्रीड़ापर्वत होरहे हैं। लङ्का-

A

* 'रविरमितभाग' इति क० ॥ A टिप्पणी—अमितं अपर्यन्तं—मर्यादारहितं भाग्यं पुण्यं यस्य तत्संबोधनं ।

१. निन्दास्तुति-अलंकार । विमर्श—जहाँपर शब्दों से निन्दा प्रतीत होती हो परन्तु पर्यवसान—फलितार्थ—में स्तुति प्रतीत हो उसे निन्दास्तुति अलंकार कहते हैं। *सेनामुखं तु नासीरमित्यमरः । २. हेतु-परिसंख्या-अलंकार । ३. दीपकालंकार ।

दिक्कुम्भिस्तम्भाः सोच्छ्रयस्य जाताः प्रशस्तिपट्टा जयस्य । यस्येत्थं तव महिमा महीन किमसाध्यं तस्य गुणौरहीन ॥२०६॥
गर्जिं जहीहि भोजावनीश चेदीश विशाश्मवशं प्रदेशम् । अश्मन्तक वेश्म विहाय याहि पल्लव लघु केलीरसमपैहि ॥२०७॥
चोलेश जलधिमुल्लङ्घ्य तिष्ठ पाण्ड्य स्मयमुज्झ हतप्रतिष्ठ । वेरम पर्यट मलयोपकण्ठमागच्छत नो चेत् पादपीठम् ॥२०८॥
ईशस्य निषेवितुमाशु सदसि तव दूतैरेवं देव वचसि । कथिते सति स क्षितिपः किमस्ति यः सेवाविधिषु न ते चकास्ति ॥२०९॥
केरलमहिलामुखकमलहंस वङ्गीवनिताश्रवणावतंस । चोलस्त्रीकुचकुड्मलविनोद पल्लवरमणीकृतविरहखेद ॥२१०॥
कुन्तलकान्तालक‡भङ्गनिरत मलयाङ्गनाङ्गनखदाननिरत । वनवासियोषिदीक्षणविमुग्ध कर्णाटयुवतिकैतवविदग्ध ।
कुरुजाङ्गलललनाकुचतनुत्र कम्बोजपुरन्ध्रीतिलकपत्र ॥२११॥ पद्धतिका ॥

आदि द्वीप जो कि महाशक्तिशाली और विषम स्थान हैं, [अथवा टिप्पणीकार के अभिप्राय से लङ्कादि दीपों की रचना, जो कि दूरवर्ती है] आपके समीपवर्ती गृह-सरीखे होरहे हैं और दिग्गजों के बन्धनस्तम्भ आपकी विजय के, जो कि लक्ष्मी से उन्नतिशील है, प्रशस्ति-पट्ट (प्रसिद्धि सूचक पाषाणविशेष) होचुके हैं[1] ॥२०५-२०६॥ "पृथिवी-पति हे भोज ! तुम व्यर्थ की गल-गर्जना (संग्राम-वीरता) छोड़ो। हे चेदीश (कण्डिनपुर के अधिपति) ! तुम पर्वत-संबंधी भूमि में प्रविष्ट होजाओ। हे अश्मन्तक (सपादलक्ष-पर्वत के निवासी) ! तुम गृह छोड़कर प्रस्थान करो। हे पल्लव (पञ्चद्रामिल) ! तुम क्रीड़ा-रस को शीघ्र छोड़ो। हे चोलेश (दक्षिणापथ में वर्तमान देश के स्वामी) अथवा (गङ्गापुर के स्वामी) ! तुम पूर्वसमुद्र का उल्लङ्घन करके दूसरे किनारे पर जाकर स्थित होजाओ। प्रतिष्ठा-हीन हे पाण्ड्य (दक्षिण देश के स्वामी) ! तुम गर्व छोड़ो। हे वेरम (दक्षिणापथ के स्वामी) ! तुम मलयाचल पर्वत के समीप भाग जाओ। ऊपर कहे हुए आप सब लोग यदि ऐसा नहीं करना चाहते। अर्थात्—सम्राट् मारिदत्त द्वारा भेजे हुए उक्त संदेश का पालन नहीं करना चाहते तो शीघ्र ही मारिदत्त महाराज के सिंहासन की सेवा करने के लिए उसकी सभा में उपस्थित होजाओ"। हे देव (राजन्) ! जब आपके दूतों द्वारा उक्त प्रकार के वचन उक्त राजाओं की सभा में विशेषता के साथ कहे गए, तब क्या कोई राजा ऐसा है ? जो आपके चरण-कमलों की सेवाविधि में जाग्रत न हो ? अर्थात्—समस्त राज-समूह आपकी सेवा में तत्पर है[2] ॥२०७-२०९॥ केरलदेश (अयोध्यापुरी का दक्षिणदिशावर्ती देश) की स्त्रियों के मुखकमलों को उसप्रकार विकसित (उल्लासित) करनेवाले जिसप्रकार सूर्य, कमलों को विकसित (प्रफुल्लित) करता है। वङ्गीदेश (अयोध्या का पूर्वदिशा-वर्ती देश) की कमनीय कामिनियों के कानों को उसप्रकार विभूषित करनेवाले जिसप्रकार कर्णपूर (कर्णाभूषण) कानों को विभूषित करता है। चोलदेश (अयोध्या की दक्षिण दिशा संबंधी देश) की रमणियों के कुच (स्तन) रूपी फूलों की अधखिली कलियों से क्रीड़ाकरनेवाले, पल्लवदेश (पञ्च द्रामिलदेश) की रमणियों के वियोग दुःख को उत्पन्न करनेवाले, कुन्तलदेश (पूर्वदेश) की स्त्रियों के केशों के विरलीकरण में तत्पर, मलयाचल की कमनीय कामिनियों के शरीर में नखक्षत करने में तत्पर, पर्वत संबंधी नगरों की रमणियों के दर्शन करने में विशेष उत्कण्ठित, कर्नाटक देशकी स्त्रियों को कपट के साथ आलिङ्गन करने में चतुर, हस्तिनापुर की स्त्रियों के कुच-कलशों को उसप्रकार आच्छादित करनेवाले जिसप्रकार कञ्चुक (जम्फर-आदि वस्त्र विशेष) कुचकलशों को आच्छादित करता है, ऐसे हे राजन् ! आप काश्मीर देश की कमनीय कामिनियों के मस्तकों को कुङ्कुम-तिलक रूप आभूषणों से विभूषित करते हैं[3] ॥२१०-२११॥

A

‡ भङ्गभरत' इति क० । A—टिप्पणी—नर्तने नटाचार्य ॥

१. आक्षेपालङ्कार । २. आक्षेपालङ्कार । ३. रूपकालंकार व षोडश (१६) मात्राशाली पद्धतिका छन्द ।

नृपनृपतीश्वर भूरमणीश्वर यदिदमखिलगुणसंश्रय। उक्तं किंचित्त्वत्स्तुतिकृतिविस्तचित्रं न महोदय ॥२१२॥ घत्ता ॥

यैरिन्दिरामन्दिर सुन्दरेन्द्र *श्रीराजकन्दर्प नतैर्नरेन्द्रैः। दृष्टोऽसि दृष्टाः क्षितिप क्षितीशाः कामैर्न कैस्त्वत्सवकारिभिस्ते ॥२१३॥

हस्तागतैस्त्रिदिवलोकगतैस्तटीभ्ररन्ध्रान्तरालनिरतैश्च सपत्नजातैः।
शौर्ये जगत्त्रयपुरीप्रथिते तवेत्थं को नाम विक्रमपराक्रमवानिहास्तु ॥२१४॥

सोऽपि राजा तयोरेवमभिनन्दतोर्वाचि वपुषि चानन्यजनसाधारणीं मधुरतां निर्वर्ण्य 'क्वेदं करतलस्पर्शेनापि हार्यसौकुमार्यं वपुः, क्व चायं वयःपरिणामकठोरकरणैरपि महासत्त्वाधिकारैर्निर्वोढुमशक्यारम्भस्तपःप्रारम्भः, क्वेमानि सकलचक्रवर्तिपदनिवेदनपिशुनानि कङ्केलिपल्लवच्छविषु करचरणतलेषु लक्षणानि, क्व चायमादित एवाजन्मभिक्षाकल्पमक्रमः प्रक्रमः। अहो आश्चर्यम्। कथमाभ्यामसत्यतां नीतोऽयं प्रत्यङ्गफलनिर्देशः।

पृथ्वीरूपी स्त्री के स्वामी, समस्त गुणों के निवास स्थान और अद्भुत उदयशाली ऐसे हे राजाधिराज! उक्त प्रकार से यह जो कुछ आपका गुणगान किया गया है, वह आपकी स्तुति करने में सही है। उक्त गुणगान आश्चर्य-जनक नहीं है, क्योंकि आपके गुण इससे भी विशेष हैं[1] ॥२१२॥ लक्ष्मी के निवास स्थान, इन्द्र-सरीखे मनोज्ञ और स्त्रियों के लिए कामदेव के समान विशेष प्रिय ऐसे हे राजन्! जो राजा लोग आपकी शरण में आकर नम्रीभूत हुए हैं और जिन्होंने आपकी सेवा की है, उन्होंने आपके प्रसाद से कौन-कौन से आनन्द-जनक भोग प्राप्त नहीं किए? सभी भोग प्राप्त किये[2] ॥२१३॥ हे राजन्! इसप्रकार आपके ऐसे शत्रु-समूहों से, जो कि वन्दीगृह में पड़े हुए हैं, जो स्वर्गवासी होचुके हैं और जो भाग कर पर्वतों की गुफाओं के मध्य भाग में स्थित हैं। अर्थात्—जिन्होंने दीक्षा धारण कर पर्वतों और गुफाओं में स्थित होकर तपश्चर्या की है, आपकी शूरवीरता तीन लोकरूपी नगरी में विख्यात होचुकी है तब इस संसार में आपको छोड़कर कौन पुरुष विक्रमवान और पराक्रमशाली (सामर्थ्यशाली व उद्यमशाली) है? अपितु कोई भी विक्रमशाली और पराक्रमी नहीं है[3] ॥ २१४ ॥

उक्त प्रकार गुणगान करते हुए क्षुल्लक जोड़े की अनोखी शारीरिक सुन्दरता और वचनों की मधुरता देखकर मारिदत्त राजा ने भी निम्नप्रकार मन में विचार किया—"कहाँ तो इनका प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला अनोखा सुकोमलवकान्त शरीर; जिसकी स्वाभाविक कोमलता, हस्ततल के स्पर्शमात्र से भी नष्ट होती है और कहाँ इनके द्वारा धारण की हुई ऐसी उग्र तपश्चर्या, जिसे युवावस्था के परिपाक से कठोर इन्द्रियोंवाले विशेषशक्तिशाली महापुरुष भी धारण नहीं कर सकते। इसीप्रकार कहाँ तो अशोकवृक्ष के किसलय-सरीखे इनके हाथ, पैर, और तलुवे, जिनमें छह खण्ड पृथिवी के स्वामी (चक्रवर्ती) की राज्यविभूति के सूचक चिन्ह अङ्कित हुए दृष्टिगोचर होरहे हैं और कहाँ इनके द्वारा ऐसी कठोर साधना आरम्भ की गई है, जिसमें जन्म-पर्यन्त भिक्षावृत्ति से जीवन-निर्वाह की परिपाटी पाई जाती है। अहो! बड़े आश्चर्य की बात है कि इन दोनों ने अपने शारीरिक शुभ चिन्हों द्वारा शुभ फल बतानेवाले सामुद्रिक शास्त्र को किस प्रकार से असत्य प्रमाणित कर दिया[4]? ॥

---

* श्रीराज इति क०। १. घत्ता छन्द, क्योंकि ६० मात्राओं से युक्त घत्ताछन्द होता है, कहींपर ६२ मात्राएँ भी होती हैं, इसके २७ भेद हैं। तथा चोक्तं—इदं घत्ताछन्दः। घत्तालक्षणं यथा—षष्टिमात्राभिर्घत्ता भवति। क्वचिद्द्विषष्टिमात्राभिर्भवति। सप्तविंशतिभेदा घत्ता भवति। संस्कृत टीका पृ. १८९ से समुद्धृत—सम्पादक

२. आक्षेपालङ्कार। ३. समुच्चय व आक्षेपालंकार। ४. विषमालंकार।

किं च नीलमणिसस्यानि कुन्तलेषु, शिशिरकरपरार्घतां भालयोः, तरङ्गरेखाविल्लीषु, रत्नसमुच्चयं लोचनयुगलयोः, कौस्तुभोत्पत्तिं कपोलेषु, अमृतधाराप्रवाहमालापेषु, गम्भीरत्वं नासयोः, [गम्भीरत्वमालापेषु],[१] प्रवालपल्लवोल्लासं रदनच्छदयोः, सुधारसप्रभां स्मितेषु, प्रचेतःपाशाम्भःश्रवणविषये, कम्बुकान्तिं कण्ठयोः, वीचिविलसितानि बाहासु, लक्ष्मीचिह्नानि करतलेषु, रमावेश्मशोभामुरःस्थलयोः,

विशेषता यह है कि इस क्षुल्लक-युगल की अनौखी सर्वाङ्ग-सुन्दरता देखकर ऐसा प्रतीत होता है—मानों—इसके निर्माता प्रत्यक्षीभूत ब्रह्मा ने समुद्र को परिवार-सहित (अन्य समुद्रों के साथ) विशेषरूप से दरिद्र (निर्धन) बना दिया है। उदाहरणार्थ—इसके नीलमणि-सरीखे कान्तिशाली केश-समूह देखकर ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—ब्रह्मा ने उनमें केशों के बहाने से इन्द्रनील मणियों की किरणें या अङ्कुर उत्पन्न करते हुए समुद्र को अन्य समुद्रों के साथ विशेष दरिद्र (मणि-हीन) बना दिया। इसके चन्द्र-जैसे मनोज्ञ मस्तकों को देखकर ऐसा विदित होता है—मानों—ब्रह्मा ने उनमें मस्तकों के छल से चन्द्रमा की प्रधानता उत्पन्न करते हुए, समुद्र को विशेष रूप से दरिद्र—निर्धन (चन्द्र-शून्य) बना दिया है। इसकी जलतरङ्ग-सीं चञ्चल भोहें देखकर ऐसा ज्ञात होता है मानों प्रजापति ने उनमें भ्रुकुटियों के मिष से समुद्र की चञ्चल तरङ्ग-पङ्क्ति ही उत्पन्न की है और जिसके फलस्वरूप उसने समुद्र को सपरिवार विशेष दरिद्र (तरङ्ग-हीन) बना दिया है। माणिक्य-सरीखे मनोज्ञ प्रतीत होनेवाले इसके नेत्रों की ओर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है—मानों—प्रजापति (ब्रह्मा) ने उनमें नेत्रों के मिष से कृष्ण, नील व लाल रत्नों की राशि ही उत्पन्न की है और जिसके फलस्वरूप ही उसने समुद्र को परिवार सहित विशेष दरिद्र (रत्नराशि-शून्य) बना दिया। इसके चमकीले अतिशय मनोज्ञ गालों को देखकर ऐसा जान पड़ता है—मानों—ब्रह्मा ने कपोल (गाल) तलों के बहाने से उनमें कौस्तुभमणि की उत्पन्न करते हुए समुद्र को विशेष दरिद्र (कौस्तुभ मणि से शून्य) बना डाला। इसके अतिशय मधुर स्वरों को सुनकर ऐसा जान पड़ता है—मानों—प्रजापति—ब्रह्मा ने, स्वरों के मिष से इनमें अमृत-धारा का प्रवाह ही प्रवाहित करते हुए समुद्र को अन्य समुद्रों के साथ दरिद्र (अमृत-शून्य) बना दिया है। इसकी अतिशय मनोज्ञ नासिकाओं की ओर दृष्टिपात करने पर ऐसा ज्ञात होता है—मानों—नासिकाओं के बहाने से इनमें गम्भीरता उत्पन्न करते हुए ब्रह्मा ने समुद्र को सपरिवार दरिद्र कर दिया। इसके अतिमनोज्ञ लालीवाले ओंठ देखकर ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—ब्रह्मा ने ओठों के बहाने से इनमें मूँगा की कोंपलें उत्पन्न करते हुए समुद्र को सपरिवार भाग्य-हीन बना डाला। इसकी मनोज्ञ मन्द मुसक्यान देखकर ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—ब्रह्मा ने इसके बहाने से ही इसमें अमृतरस की कान्ति भरते हुए समुद्र को दरिद्र (अमृत-शून्य) कर दिया। इसके मनोज्ञ कानों को देखकर ऐसा भान होता है—मानों—ब्रह्मा ने इसके कानों में दिक्पाल के आयुध उत्पन्न करते हुए समुद्र को विशेष दरिद्र (आयुध-हीन) कर दिया। इसीप्रकार इसके शंख सरीखे मनोज्ञ कण्ठ देखकर ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—कण्ठों के मिष से ब्रह्मा ने इनमें दक्षिणावर्त शंख की शोभा उत्पन्न करते हुए समुद्र का भाग फोड़ दिया। इसकी तरङ्गों-सरीखी चञ्चल भुजाएँ देखकर ऐसा प्रतीत होता है—मानों—उनमें ब्रह्माने तरङ्ग-शोभा उत्पन्न करते हुए समुद्र की दुर्दशा कर डाली—उसे तरङ्ग-हीन कर दिया। इसके सुन्दर हस्ततल देखकर ऐसा जान पड़ता है—मानों—ब्रह्माने उनमें लक्ष्मी के चिन्ह ही बनाए हैं, जिस के फलस्वरूप समुद्र को भाग्यहीन कर डाला। इसके लक्ष्मीगृह-सरीखे मनोज्ञ हृदय-स्थल देखकर ऐसा जान

१. [कोष्ठाङ्कित पाठ] संस्कृत टीका के आधार से नहीं होना चाहिए; क्योंकि उसे समन्वयपूर्वक पूर्व गद्य में प्रविष्ट कर दिया गया है—सम्पादक

वेत्रवेल्लितानि वलिषु, आवर्तविभ्रमं नाभिदेशयोः, पृथुत्वं नितम्बदेशे, वृत्तगुणनिर्माणमुरुषु, मुक्ताफलप्रसूतिं चरणनखेषु, लावण्यरसनिर्भरत्वं चास्य मिथुनस्य तनौ, अनेन सृजता प्रजापतिना नूनं सपरिवारः पारावार एव परं दारिद्र्यमानिन्ये।

अपि च। यत्रामृतेन समजन्म विभाति विश्वं, यत्रेन्दुना सह रतिं भजतेऽम्बुजश्रीः।
लावण्यमेव मधुरत्वमुपैति यत्र तद्वर्ण्यते किमिव रूपमयं जनोऽस्य॥ २१५॥

इति क्षणं च प्रविचिन्त्य भूपः सप्रश्रयं तन्मिथुनं बभाषे।
को नाम देशो भवतोः प्रसूत्यै किं वा कुलं यत्र बभूव जन्म॥ २१६॥

अज्ञातसंसारसुखं च बाल्ये जातं कुतः प्रव्रजनाय चेतः।
एतन्मम प्रार्थनतोऽभिधेयं सन्तो हि साधुष्वनुकूलवाचः॥ २१७॥

पड़ता है मानों—ब्रह्मा ने उनमें हृदय-स्थल के मिष से लक्ष्मी का मन्दिर ही उत्पन्न किया है। इसकी उदर-रेखाएँ ऐसी मालूम पड़ रही हैं—मानों—ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किये हुए वेत्रों के कम्पन ही हैं। इसके नाभिदेश की गम्भीरता देखकर ऐसा प्रतीत होता है—मानों—प्रजापति ने नाभि के बहाने से उसमें जल में भँवर पड़ने की शोभा उत्पन्न करके समुद्र का भाग्य फोड़ दिया। इसके नितम्ब (कमर के पीछे के भाग) देखकर ऐसा जान पड़ता है—मानों—ब्रह्मा ने उनमें विस्तीर्णता उत्पन्न करते हुए समुद्र को सपरिवार दरिद्र कर दिया। इसके गोल ऊरु (निरोहों) को देखकर ऐसा प्रतीत होता है—मानों—विधि ने उनमें वर्तुल (गोलाकार) गुण की रचना करते हुए समुद्र को दरिद्र कर दिया। इसके मोतियों-सरीखे कान्तिशाली चरण-नख देखकर ऐसा ज्ञात होता है—मानों—ब्रह्मा ने उनमें मोतियों की राशि उत्पन्न करते हुए समुद्र का भाग्य फोड़ दिया। इस युगल का सर्वाङ्ग सुन्दर शरीर देखकर ऐसा मालूम पड़ता है मानों—इसका शरीर कान्तिरस से ओत-प्रोत भरते हुए ब्रह्मा ने समुद्र को अन्य समुद्रों के साथ विशेष दरिद्र (कान्ति-हीन) बना दिया[1]।

इस मुनिकुमार-युगल—क्षुल्लकजोड़े—के अनोखे सौन्दर्य का वर्णन कवि किसप्रकार कर सकता है? अथवा किसके साथ इसकी तुलना कर सकता है? जिस अनोखे सौन्दर्य में इसका चरण से लेकर मस्तक पर्यन्त सारा शरीर अमृत के साथ उत्पन्न हुआ शोभायमान होरहा है। अर्थात्—जिसका समस्त शरीर अमृत-सरीखा उज्वल कान्तिशाली है। जिसमें कमल-लक्ष्मी (शोभा) चन्द्रमा के साथ अनुराग प्रकट कर रही है—संतुष्ट होरही है। अर्थात्—इसके नेत्र-युगल नीलकमल-सरीखे और मुख चन्द्रमा-सा है एवं जिसमें सौन्दर्य मधुरता के साथ वर्तमान है। अथवा जहाँपर नमक भी मीठा हो गया है। अर्थात्—जहाँ पर प्राप्त होकर खारी वस्तु अमृत-सी मिष्ट होजाती हैं[2]॥ २१५॥ तत्पश्चात् उसने (मारिदत्त राजा ने) उक्तप्रकार क्षणभर भलीप्रकार विचार करके प्रस्तुत मुनिकुमार-युगल (क्षुल्लकजोड़े) से विनयपूर्वक कहा—आपकी जन्मभूमि किस देश में है? एवं किस वंश में आपका पवित्र जन्म हुआ है? और आपकी चित्तवृत्ति, सांसारिक सुखों का स्वाद न लेती हुई बाल्यावस्था में ही ऐसी कठोर दीक्षा के ग्रहण करने में क्यों तत्पर हुई? मेरी विनीत प्रार्थना के कारण आपको मेरे उक्त तीनों प्रश्नों का उत्तर देना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसी नीति है कि सज्जन पुरुष रत्नत्रय की आराधना करनेवाले साधु पुरुषों के साथ हितकारक व कोमल वचन बोलनेवाले होते हैं[3]॥ २१६-२१७॥

---

१. उत्प्रेक्षालंकार। २. आक्षेप व उपमालंकार। ३. अर्थान्तरन्यासालंकार।

मुनिकुमारः—नान्यत्र दीक्षाग्रहणान्मुनीनां संकीर्तनं तत्त्रितयस्य युक्तम् ।
तथापि तत्कर्तुमहं यतिष्ये भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः ॥ २१८ ॥
ध्यानज्योतिरपास्ततामसचयः स्फारस्फुरत्केवलज्ञानाम्भोधितटैकदेशविलसत्त्रैलोक्यवेलाचलः ।
आनम्रेन्द्रशिखण्डमण्डनभवत्पादद्वयाम्भोरुहः श्रीनाथ प्रथितान्वयस्य भवतो भूयाज्जिनः श्रेयसे ॥ २१९ ॥
सोऽयमाशार्पितयशा महेन्द्रामरमान्यधीः । देयात्ते संततानन्दं वस्त्वभीष्टं जिनाधिपः ॥ २२० ॥

इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये कथावतारो नाम प्रथम आश्वासः ।

उक्त प्रश्नों को सुनकर मुनि-कुमार (अभयरुचि क्षुल्लक) ने कहा—साधु पुरुषों को दीक्षा-ग्रहण के सिवाय दूसरे देश व वंश का कथन करना उचित नहीं है तथापि मैं (अभयरुचि क्षुल्लक, जो कि पूर्वभव में यशस्तिलक अथवा यशोधर राजा था), उक्त तीनों बातों का कथन करने में प्रयत्न करूँगा। क्योंकि मुक्ति-लक्ष्मी की प्राप्ति की योग्यताशाली भव्यपुरुषों के प्रति शिष्ट पुरुषों का अनुराग होना स्वाभाविक है[1] ॥ २१८ ॥

हे लक्ष्मी-पति मारिदत्त महाराज! श्रीभगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ ऋषभादि-तीर्थङ्कर, जिन्होंने शुक्लध्यान-रूपी तेज द्वारा अन्धकार-समूह (ज्ञानावरण-आदि घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियाँ और नामकर्म की १६ प्रकृतियाँ इसप्रकार सब मिलाकर ६३ कर्म-प्रकृति रूप अन्धकार-समूह) को समूल नष्ट किया है और जिनका तीनलोक रूपी वेला-पर्वत (समुद्र-तटवर्ती पर्वत) लोकालोक को प्रचुरता से व्याप्त करनेवाले (जाननेवाले) और योगियों के चित्त में चमत्कार उत्पन्न करनेवाले केवलज्ञान-रूप समुद्र के तट के एक पार्श्वभाग में शोभायमान होरहा है। एवं जिसके चरण-कमल नमस्कार करते हुए इन्द्रों के मस्तकों के आभूषण हैं, विख्यात हरिवंश में उत्पन्न हुए आपका सदा कल्याण करने में समर्थ हों[2] ॥ २१९ ॥ [सोऽयमाशार्पितयशा] वह जगत-प्रसिद्ध प्रत्यक्षीभूत जिनेन्द्र भगवान्, जिसका शुभ्र यश दशों दिशाओं में व्याप्त है एवं [महेन्द्रामरमान्यधीः] जिसकी केवल ज्ञानरूपी बुद्धि समस्त राजाओं व देवों द्वारा पूजी गई है, [देयात्ते संततानन्दं] आप के लिए निरन्तर अनन्त सुख देनेवाली (वस्त्वभीष्टं जिनाधिपः) अभिलषित वस्तु (मुक्ति लक्ष्मी) प्रदान करें[3] ॥२२०॥ इसप्रकार समस्त तार्किक-(षड्दर्शन-वेत्ता) चक्रवर्तियों के चूड़ामणि (शिरोरत्न या सर्वश्रेष्ठ) श्रीमदाचार्य 'नेमिदेव' के शिष्य श्रीमत्सोमदेवसूरि द्वारा, जिसके चरण-कमल तत्काल निर्दोष गद्य-पद्य-विद्याधरों के चक्रवर्तियों के मस्तकों के आभूषण हुए हैं, रचे हुए 'यशोधरचरित' में, जिसका दूसरा नाम 'यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य' है, 'कथावतार' नामका प्रथम आश्वास (सर्ग) पूर्ण हुआ।

इसप्रकार दार्शनिक-चूडामणि श्रीमदम्बादासजी शास्त्री व श्रीमत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य के प्रधान शिष्य जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ व आयुर्वेद विशारद एवं महोपदेशक-आदि अनेक उपाधि-विभूषित सागरनिवासी श्रीमत्सुन्दरलालजी शास्त्री द्वारा रची हुई श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचित यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य की 'यशस्तिलक-दीपिका' नाम की भाषा टीका में 'कथावतार' नामका प्रथम आश्वास (सर्ग) पूर्ण हुआ।

---

१. अर्थान्तरन्यासालंकार। २. रूपक व अतिशयालंकार। ३. काव्य-सौन्दर्य-अतिशयालंकार एवं इस श्लोक के चारों चरणों का शुरू का एक एक अक्षर मिलाने से 'सोमदेव' नाम बन जाता है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थकार आचार्य श्री ने अपना अमर नाम अङ्कित किया है—सम्पादक

द्वितीय आश्वास

श्रीकान्ताकुचकुम्भविभ्रमधरव्यापारकल्पद्रुमाः स्वर्गस्त्रीजनलोचनोत्पलवनक्रीडाकृतार्थागमाः।
जन्मापूर्वविभूतिवीक्षणपथप्रस्थानसिद्धाशिषः पुष्यासुर्मनसो मतानि जगतः *स्याद्वादिवादत्विषः† ॥ १ ॥

स्याद्वादी (स्यादस्ति[1] व स्यान्नास्ति-आदि सात भङ्गों—धर्मों—का प्रत्येक वस्तु में निरूपण करनेवाले अर्थात्-अनेक धर्मात्मक जीव-आदि सात तत्वों के यथार्थवक्ता—मोक्षमार्ग के नेता—वीतराग व सर्वज्ञ ऋषभदेव-आदि तीर्थङ्कर) द्वारा निरूपण की हुई द्वादशाङ्ग शास्त्र की ऐसीं वाणियाँ, तीनलोक में स्थित भव्य प्राणियों के मनोरथों (स्वर्गश्री व मुक्तिलक्ष्मी की कामनाओं) की पूर्ति करें। जो चक्रवर्ती की लक्ष्मीरूपी कमनीय कामिनी के कुचकलशों की प्राप्ति होने से शोभायमान होनेवाले भव्यप्राणियों के मनोरथों की उसप्रकार पूर्ति करती हैं जिसप्रकार कल्पवृक्ष प्राणियों के समस्त मनोरथों—इच्छाओं—की पूर्ति करते हैं। अर्थात्—जो जैन-भारती चक्रवर्ती की विभूतिरूप रमणीक रमणी के कुचकलशों से क्रीड़ा करने की भव्यप्राणियों की इच्छा-पूर्ति करने के लिए कल्पवृक्ष के समान है। इसीप्रकार जो, स्वर्ग की देवियों के नेत्ररूप कुवलयों—चन्द्रविकासी कमलों के वन में भक्त पुरुषों का विहार कराने में समर्थ हैं, इसलिए जिनकी प्राप्ति सफल (सार्थक) अथवा केलिकरण निमित्त है। अर्थात्—जिस जैनभारती के प्रसाद से विद्वान् भक्तों को स्वर्ग की इन्द्र-लक्ष्मी प्राप्त होती है, जिसके फलस्वरूप उन्हें वहाँपर देवियों के नेत्ररूपी चन्द्रविकासी कमलों के वनों में यथेष्ट क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। एवं जो संसार में प्राप्त होनेवाली सर्वोत्कृष्ट मुक्ति-लक्ष्मी के निरीक्षण-मार्ग में किये जानेवाले प्रस्थान के प्रारम्भ में उसप्रकार माङ्गलिक निमित्त (कारण) हैं जिसप्रकार सिद्धचक्र-पूजा संबंधी पुष्पाक्षतों की आशिष-समूह, स्वर्गश्री के निरीक्षण-मार्ग में किये जानेवाले प्रस्थान के प्रारंभ में माङ्गलिक निमित्त हैं। अर्थात्—जिस जैन-भारती के प्रसाद से विद्वान् भक्त पुरुष को सर्वोत्कृष्ट मुक्तिलक्ष्मी की प्राप्ति होती है, क्योंकि मुक्तिलक्ष्मी की प्राप्ति के उपायों (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र) में जैनभारती के अभ्यास से उत्पन्न होनेवाला सम्यग्ज्ञान प्रधान है, क्योंकि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात्—विना सम्यग्ज्ञान के मुक्ति नहीं होसकती[2] ॥१॥

* 'स्याद्वादवादत्विषः' ख०। १. सर्वथानियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः। स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥ १ ॥ बृहत्स्वयंभूस्तोत्र से। अर्थात्—ऐसा 'स्यात्' (किसी अपेक्षा से) शब्द, जो वस्तुतत्व के सर्वथा एकान्तरूप से प्रतिपादन के नियम को निराकरण करता है और प्रमाण-सिद्ध वस्तुतत्व का कथन अपेक्षाओं (विविध दृष्टिकोणों) से करता है, आपके अनेकान्तवादी अर्हद्दर्शन में ही पाया जाता है, वह ('स्यात्' शब्द) आपके सिवाय दूसरे एकान्तवादियों (बौद्धादिकों) के दर्शन में नहीं है, क्योंकि वे मोक्षोपयोगी आत्मतत्व के सही स्वरूप से अनभिज्ञ हैं ॥ १ ॥

† तथा चोक्तम्—भारत्यां व्यवसाये व जिगीषायां रुचौ तथा। शोभायां पञ्चसु प्राहुः त्विड्ध्वनिं पूर्वसूरयः ॥ स. टी. से संकलित—सम्पादक

२. रूपकालङ्कार। * उक्तश्लोक में जैनभारती के प्रसाद से चक्रवर्ती की विभूति की प्राप्ति, इन्द्रलक्ष्मी का समागम और मुक्तिश्री की प्राप्ति का निर्देश किया गया है; अतः उक्त निरूपण से यह समझना चाहिए कि जैनभारती के प्रसाद से निम्नप्रकार सप्त परमस्थानों की प्राप्ति होती है। तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—'सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता। साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा' ॥१॥

या नाकलोकपतिमानसराजहंसी विद्याधरेश्वरविचारविहारदेवी।
मर्त्याधिपश्रवणभूषणरत्नवल्ली सा वः श्रियं वितरताज्जिनवाक्प्रसूतिः ॥ २ ॥

अहो जगत्त्रयप्रासादप्रकाशनकीर्तिकुलदेवतामहः महानुभावतोपलासारसृष्टिसूदितकलिकालव्याल धर्मावलोकमहीपाल परिप्राप्तसमस्तशास्त्रोदीर्णार्णवनिर्णय, समाकर्णय--अस्ति खल्विहैव षट्खण्डमण्डलीविभागविचित्रे भरतक्षेत्रे प्रहसितवसुवसतिकान्तयोऽवन्तयो नाम निखिललोकाभिलाषविलासिवस्तुसंपत्तिनिरस्तसुरपादपमदो जनपदः।

श्रिया गृहाणि श्रीर्दानैर्दानान्यभ्युपपत्तिभिः। यत्र नैसर्गिकीं प्रीतिं भजन्ति सुकृतात्मनाम्* ॥ ३ ॥
राजन्ते यत्र गेहानि खेलत्तर्णकमण्डलैः। वेलाचलकुलानीव कल्लोलैः क्षीरवारिधेः ॥ ४ ॥

वह जगत्प्रसिद्ध ऐसी जैनभारती—द्वादशाङ्गवाणी—आप लोगों के लिए स्वर्गश्री व मुक्तिलक्ष्मी प्रदान करे। जो देवेन्द्रों के मनरूप मानसरोवर में विहार करनेवाली राजहँसी है। अर्थात्—जिसप्रकार राजहँसी मानसरोवर में यथेष्ट क्रीड़ा करती है उसीप्रकार यह जैनभारती भक्तों को स्वर्ग का इन्द्र-पद प्रदान करती हुई उनके मनरूप मानसरोवर में यथेष्ट क्रीड़ा करती है। जो विद्याधर-राजाओं और गणधरदेवों के विचारों की गृहदेवता है। अर्थात्—जिसके प्रसाद से भक्त पुरुष, विद्याधरों के स्वामी व गणधरदेव होते हुए जिसकी गृहदेवता के समान उपासना करते हैं एवं जो भरत चक्रवर्ती से लेकर श्रेणिक राजा पर्यन्त समस्त राज-समूह के कानों को सुशोभित करने के लिए रत्न-जड़ित सुवर्णमयी कर्णकुण्डल है। भावार्थ—जिस द्वादशाङ्ग वाणी के प्रसाद से भक्तपुरुष स्वर्गलक्ष्मी, विद्याधर राजाओं की विभूति और भूमिगोचरी राजाओं की राज्यलक्ष्मी प्राप्त करते हुए मुक्तिलक्ष्मी के अनौखे वर होते हैं, ऐसी वह द्वादशाङ्ग-वाणी आप लोगों को स्वर्गश्री व मुक्तिलक्ष्मी प्रदान करे[1] ॥२॥

उक्त क्षुल्लक-युगल में से सर्वश्री अभयरुचि क्षुल्लक ने मारिदत्त राजा से कहा—हे राजन! आपकी कीर्तिरूपी कुल-देवता तीनलोक रूप महल को प्रकाशित करती है, इसलिये आप लोगों के सम्माननीय हैं। आपने महाप्रभावरूपी पाषाणों की वेगशाली वर्षा द्वारा कलिकालरूपी दुष्ट हाथी अथवा काले साँप को गिरा दिया है। आप धर्मरक्षा में तत्पर होते हुए समस्त शास्त्र-महासमुद्र का निश्चय करनेवाले हैं, अतः हे मारिदत्त महाराज! आप हम लोगों का देश, कुल व दीक्षा-ग्रहण का वृत्तान्त ध्यान पूर्वक सुनिए—छह खण्डों के देश-विभागों से आश्चर्यजनक इसी जम्बूद्वीप संबंधी भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में ऐसा 'अवन्ति' नाम का देश है, जिसने अपनी मनोज्ञ कान्ति (शोभा) द्वारा स्वर्गलोक की कान्ति तिरस्कृत—लज्जित—की है एवं जिसमें समस्त लोगों को अभिलषित वस्तुएँ प्राप्त होती हैं जिसके फलस्वरूप जिसने कल्पवृक्षों का अहङ्कार तिरस्कृत कर दिया है[2]।

जिस अवन्ति देश में पुण्यवान् पुरुषों के गृह धनादि लक्ष्मी के साथ और लक्ष्मी पात्रदान के साथ एवं पात्रदान सन्मानादि विधि के साथ स्वाभाविक स्नेह प्राप्त करते हैं[3] ॥ ३ ॥ जिसप्रकार क्षीरसमुद्र के तटवर्ती पर्वतों के समूह, उसकी तरङ्गों से सुशोभित होते हैं उसीप्रकार वहाँ के गृह भी क्रीड़ा करते हुए बछड़ों के समूहों से शोभायमान होते थे[4] ॥ ४ ॥

१. रूपकालंकार। २. उपमालंकार।

* टिप्पणीकार-विमर्श—'श्रिया गृहाणि श्रीर्दानैः' इत्यत्र पंचमाक्षरस्य गुरुत्वं न साधुः पंचमं लघु सर्वत्रेतिवचनात्तत्र 'प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन स्वयमेव स्वयं ददौ। तथा भवौ च भग्नेन तथाप्यदुष्टयास्ति मे भवं ॥ १ ॥ इत्यादि महाकविप्रयोगदर्शनात्। सटि. (क) से संकलित—सम्पादक। ३. दीपकालङ्कार। ४. उपमालङ्कार।

यत्र स्खलद्गतैर्बालैः कान्ताः कुट्टिमभूमयः । हंसैः पद्मसरांसीव मृदुगद्गदभाषिभिः ॥ ५ ॥

प्रजाप्रकाम्यसस्याढ्याः सर्वदा यत्र भूमयः । मुष्णन्तीवामरावासकल्पद्रुमवनश्रियम् ॥ ६ ॥

नित्यं कृतातिथेयेन धेनुकेन सुधारसैः । यत्राक्रियन्त देवानामपार्थाः कामधेनवः ॥ ७ ॥

विभ्रमोल्लासिभिर्यत्र बल्लवीनां विलोकितैः । हृता न बहु मन्यन्ते द्युसदोऽनिमिषाङ्गनाः ॥ ८ ॥

जीवितं कीर्तये यत्र दानाय द्रविणग्रहः । वपुः परोपकाराय धर्माय गृहपालनम् ॥ ९ ॥

बाल्यं विद्यागमैर्यत्र यौवनं गुरुसेवया । सर्वसङ्गपरित्यागैः संगतं चरमं वयः ॥ १० ॥

द्वावेव च जनौ यत्र वसतो वसतिं प्रति । अर्थिन्यवाङ्मुखो यो न युद्धे यो न पराङ्मुखः ॥ ११ ॥

जिसप्रकार प्रफुल्लित कमलों से व्याप्त हुए तालाव कोमल व अस्पष्ट वाणी बोलनेवाले राजहंसों से मनोहर प्रतीत होते हैं उसीप्रकार प्रस्तुत अवन्ति देश की कृत्रिम भूमियाँ भी कोमल व अस्पष्ट वाणी बोलनेवाले जमीन पर गिरते हुए गमन करनेवाले सुन्दर बच्चों से मनोहर प्रतीत होती थीं[1] ॥ ५ ॥ जिसकी भूमियाँ (खेत) सदा प्रजाजनों की मनचाही यथेष्ट धान्य-सम्पत्ति से परिपूर्ण थीं, इसलिए ऐसी मालूम होती थीं—मानों—वे स्वर्गलोक संबंधी कल्पवृक्षों के उपवन की लक्ष्मी चुरा रही हैं[2] ॥ ६ ॥ अमृत-सरीखे मधुर दुग्धपूर से सदा अतिथि सत्कार करनेवाले जिस अवन्ति देश की सद्यःप्रसूत (तत्काल में व्याई हुई) गायों के समूह द्वारा जहाँपर देवताओं की कामधेनुएँ निरर्थक कर दीगई थीं[3] ॥ ७ ॥ जहाँपर भ्रुकुटि-क्षेपों (कटाक्ष-विक्षेपों) द्वारा सुन्दर प्रतीत होनेवालीं गोपियों की विलासपूर्ण तिरछी चितवनों से मोहित हुए (उल्लास को प्राप्त हुए) देवता लोग अपनी अप्सराओं (देवियों) को विशेष सुन्दर नहीं मानते थे; क्योंकि उन्हें अपनी देवियों के निश्चल नेत्र मनोहर प्रतीत नहीं होते थे[4] ॥ ८ ॥ जहाँपर जनता का जीवन कीर्तिसंचय के लिए और लक्ष्मी-संचय पात्रदान के हेतु एवं शरीरधारण परोपकार- निमित्त तथा गृहस्थ जीवन दान-पूजादि धर्म प्राप्त करने के लिए था[5] ॥ ९ ॥ जहाँपर प्रजाजनों का बाल्य* (कुमारकाल) विद्याभ्यास से अलङ्कृत था व युवावस्था गुरुजनों की उपासना से विभूषित थी एवं वृद्धावस्था समस्त परिग्रहों का त्याग पूर्वक जैनेश्वरी दीक्षा के धारण से सुशोभित होती थी[6] ॥ १० ॥ जिस अवन्ती देश में प्रत्येक गृह में दो प्रकार के मनुष्य ही निवास करते थे। १—जो उदार होने के फलस्वरूप याचकों से विमुख नहीं होते थे। अर्थात्—उन्हें यथेष्ट दान देते थे और २—जो वीर होने के कारण कभी युद्ध से पराङ्मुख (पीठ फेरनेवाले) नहीं होते थे। अर्थात्—युद्ध भूमि में शत्रुओं से युद्ध करने तैयार रहते थे। निष्कर्ष—जिसमें दानवीर व युद्धवीर मनुष्य थे[7] ॥ ११ ॥

---

१. उपमालङ्कार। २. हेतु–अलङ्कार। ३. हेतूपमालङ्कार। ४. हेतूपमालंकार। ५. दीपकालंकार।

* बाल्यं विद्यागमैर्यत्रेत्यनेन 'शैशवेऽभ्यस्तविद्यानामित्येतदुक्तमितिचेन्न 'बाल्ये विद्याग्रहणादीनर्थान् कुर्यात्कामं यौवने, स्थविरे धर्मं मोक्षं चेति वात्स्यायनोक्तिमस्य कवेरन्यस्य चानुसरतः कस्यचिदपि दोषस्याभावात्तदुक्तं 'निष्यन्दः सर्वशास्त्राणां यत्काव्यं तन्न दोषभाक्' लोकोक्तिमन्यशास्त्रोक्तिमौचित्येन ब्रुवन् कविः ॥१॥ लोकमार्गानुगं किंचित्किंचिच्छास्त्रान्तरानुगं। उत्पाद्य वर्त्मगं किंचित्कवित्वं त्रिविधं कवेः ॥२॥ इति ह० लि० सटि० प्रति (क) से संकलित—सम्पादक।

६. दीपकालंकर,। ७ अतिशयालंकार।

यत्र च बहिरेव मार्गभूमिषु निसर्गादशेषमनुष्यमनीषितसमसंपन्नविभवैः सकललोकोपसेव्यमानसंपद्भिः पाणिपल्लवार्पितस्थविस्तबकैस्त्रिदिवतापसानामपि संपादितसत्रमैत्रीमनोभिरपहसितसुरकाननानोकहैर्वनदेवीदानमण्डपचारुभिस्तरुभिः, अनेकनीरचरविकिरकलापचापलप्रबलानिलान्दोलितपालिन्दीसंततिभिरविरलविकासोल्लसत्कुवलयकह्लारकैरवारविन्दमकरन्दबिन्दुस्पन्दसंदोहामोदसंदर्भिताभ्रपुष्पैरुत्ताननालीकिनीदलहस्तोद्धारहृदयहारिभिर्विफलितामृतप्रसूतिदिवसैर्दिविजदेवार्चनोपयोगभागिभिर्जलदेवताप्रपानिवेशैः सरःप्रदेशैः, मधुपमधुपानवशकोशकोशकास्त्रवत्किञ्जल्कासववासरालपरिमलोल्लासिभिर्लेखमुख्यवैखानसकुसुमावचयोचितैराखण्डलशिखण्डमण्डनकाण्डप्रसूनविडम्बितखाण्डवप्रसवोत्पत्तिभिर्विलुप्तकल्पवल्लीसृष्टिसमयैः करकिसलयावलम्बितप्रसूनमञ्जरीस्रग्भिर्वसन्तविलासवसतिसंतानैर्लताप्रतानैः,

---

जिस अवन्ति देश में प्रजाजनों की वृद्धिंगत भी ऐसी लक्ष्मियाँ (शोभाएँ) केवल अपने-अपने स्थानों पर उसप्रकार वृद्धिंगत होरही थीं, जिसप्रकार कुमारी कन्याएँ नवीन वर प्राप्त करने के पूर्व केवल अपने-अपने स्थानों (माता-पिता के गृहों) पर वृद्धिंगत होतीं हैं—बढ़ती रहती हैं। जिन्होंने (लक्ष्मियों ने) नगर के वाह्य प्रदेशों की मार्ग-भूमियों पर वर्तमान ऐसे वृक्षों, तालावों, विस्तृत लता-समूहों और दूसरे ऐसे वनश्रेणियों के वृक्षों द्वारा अतिथियों के मनोरथ पूर्ण किये थे।

कैसे हैं वे वृक्ष ? जिनकी लक्ष्मी (पत्तों, कोपलों, पुष्प व फलादि रूप शोभा) स्वभावतः समस्त मानवों के मनोरथों सरीखी (अनुकूल) उत्पन्न हुई थी। अर्थात्—जो स्वभावतः अपनी पुष्प-फलादि रूप लक्ष्मी द्वारा समस्त मानवों के मनोरथ पूर्ण करते हैं। जिनकी पुष्प, फल व छायादि रूप लक्ष्मी ब्राह्मण-आदि से लेकर चाण्डालादि पर्यन्त समस्त मानवों द्वारा आस्वादन (सेवन) की जारही थी। फलों के भार से झुके रहने के कारण जिन्होंने मनुष्यों के हस्त-कमलों पर फलों के गुच्छे समर्पित किये हैं। जिन्होंने स्वर्गलोक सम्बन्धी मुनियों के चित्तों में भी दानमंडप —सदावर्त्त—के स्नेह को उत्पन्न किया है। जिन्होंने अपनी लक्ष्मी द्वारा स्वर्गलोक-सम्बन्धी वनों (नन्दनवन-आदि) के कल्पवृक्ष तिरस्कृत (लज्जित) किये हैं और जो वनदेवी की सत्रशाला (सदावर्त स्थान) सरीखे मनोज्ञ प्रतीत होते थे।

कैसे हैं तालाव स्थान ? जिन्होंने ऐसी प्रचण्ड वायु द्वारा, जो बहुत से जलचर पक्षियों (हँस, सारस व चक्रवाक-आदि) की श्रेणी की चंचलता से उत्पन्न हुई थी, तरङ्ग-पंक्तियाँ कम्पित की हैं। जिनके जल प्रचुरतर विकास से उल्लसनशील कुवलय (चन्द्र विकासी कमल), लालकमल, कुमुद व श्वेत कमलों की मकरन्द (पुष्परस) बिन्दुओं के क्षरण-(गिरने) समूह की सुगन्धि से मिश्रित थे। जो चंचल कमलिनी के पत्तोंरूपी हाथों के उठाने से [छाया करने के कारण] अत्यन्त मनोहर प्रतीत होते थे। जिनके द्वारा वर्षा ऋतु के दिन तिरस्कृत किये गए थे। क्षीरसागर-सी उज्वल जलराशि से भरे हुए होने के फलस्वरूप जो स्वर्ग के इन्द्रों की अर्हन्त-पूजन के कार्य का आश्रय करणशील थे एवं जो जलदेवियों की प्याऊ सरीखे थे। कैसे हैं लतामण्डप ? जो भँवरों के पुष्परस-पान रूप मद्यपान के अधीन कमलों के मध्यभागरूप सुरापात्रों से क्षरण होती हुई केसरों की मद्य की विशेष सुगन्धि से उल्लसनशील (अतिशय शोभायमान) होरहे थे। जो देवर्षियों द्वारा किये हुए पुष्प-चुण्टन (तोड़ना) के योग्य थे। अर्थात्—देवर्षिगण भी जिन लताओं से फूलों का संचय करते थे। जिन्होंने ऐसे मनोज्ञ पुष्पों द्वारा, खाण्डव (देवोद्यान) की पुष्पोत्पत्ति तिरस्कृत की थी, जो इन्द्र संबंधी मस्तक के अग्रभाग के प्रशस्त आभूषण थे। जिन्होंने (लतामण्डपों ने) कल्पवृक्ष की लताओं की रचना का अवसर तिरस्कृत किया था। जिन्होंने कर (हाथ) सरीखे कोमल पत्तों पर पुष्पमञ्जरी की मालाएँ धारण कीं थीं और जो वसन्तरूप राजा के क्रीड़ागृह सरीखे थे।

अन्यैश्च निखिलभुवनजनजनितमनोरथावाप्तिभिः परिभूतभोगभूमिभूरुहप्रभावैः फलप्रदानोन्मुखपुण्यालेखिभिः वनराजिशाखिभिः कृतकृतार्थातिथयः प्रजानां वृद्धा अपि श्रियः कन्यका इवासंजातवरसमागमाः परमाजन्मसु विस्तारयामासुः।

मार्गोपान्तवनद्रुमावलिदलच्छायापनीतातपाः पूर्णाभ्यर्णसरोवतीर्णपवनव्याधूतदेहश्रमाः।
पुष्पैर्मन्दमुदः फलैर्भृतधियस्तोयैः कृतक्रीडनाः पान्था यत्र वहन्ति केलिकमलव्यालोलहारश्रियः॥ १२॥

अपि च यत्र पलव्यवहारः सुवर्णदक्षिणासु, मधुसमागमः समासंवर्तेषु, परदारोदन्तः कामागमेषु, क्षणिकस्थितिर्देशबलशासनेषु, चापलविलासः पृषदश्वेषु, भावसंकरः संसर्गविद्यासु,

---

कैसे हैं वनश्रेणी के वृक्ष? समस्त लोक के मनोरथ पूर्ण करनेवाले जिन्होंने देवकुरु व उत्तर कुरु—आदि भोगभूमि संबंधी कल्पवृत्तों का माहात्म्य तिरस्कृत किया था एवं जिनकी पवित्र आकृति फल देने के लिए उत्कण्ठित थी[1]।

जिस अवन्ति देश में ऐसे पथिक, क्रीड़ाकमल संबंधी पुष्पमालाओं की चंचल लक्ष्मियाँ (शोभाएँ) धारण करते थे, जिनका गर्मी से उत्पन्न हुआ कष्ट, मार्ग के समीपवर्ती उद्यान-वृत्त-पंक्ति के पत्तों की छाया द्वारा दूर किया गया था। जिनका शारीरिक श्रम (खेद), जल से भरे हुए निकटवर्ती तालाबों से वहती हुई शीतल समीर (वायु) द्वारा नष्ट कर दिया गया था। जो फूलों की प्राप्ति से विशेष हर्षित थे और वृक्षों के आम्रादि फल प्राप्त होजाने के फलस्वरूप भोजन की आकांक्षा रहित हुए जिन्होंने जल-क्रीड़ाएँ सम्पन्न की थीं[2]॥ १२॥

जिस अवन्ति देश में पलव्यवहार[3] सुवर्ण-दक्षिणाओं के अवसर पर था। अर्थात्—जहाँपर प्रजा के लोग सुवर्ण को काँटे पर तोलते समय या सुवर्ण-दान के अवसर पर पल-व्यवहार (परिमाण विशेष—४ रत्ती का परिमाण) से तोलते थे या लेन-देन करते थे, परन्तु वहाँ के देशवासियों में कहीं भी पल-व्यवहार (मांस-भक्षण की प्रवृत्ति) नहीं था। जहाँपर मधु-समागम वर्ष-प्रवर्तनों में था। अर्थात्—वर्ष व्यतीत होजाने पर एक बार मधु-समागम (वसन्त ऋतु की प्राप्ति) होता था परन्तु प्रजाजनों में मधु-समागम (मद्यपान) नहीं था। जहाँपर परा-दारा-उदन्त कामशास्त्रों में था। अर्थात्—उत्कृष्ट स्त्रियों का वृत्तान्त कामशास्त्रों में श्रवण किया जाता था अथवा उल्लिखित था न कि कुलटाओं का, परन्तु वहाँ के प्रजाजनों में पर-दारोदन्त (दूसरों की स्त्रियों का सेवन) नहीं था अथवा 'परेषां विदारणं वा परदारा' अर्थात्—दूसरों के घात करने की अनीति प्रजाजनों में नहीं थी। जहाँपर क्षणिक-स्थिति बौद्ध-दर्शनों में थी। अर्थात्—बौद्ध दार्शनिकों में समस्त पदार्थों में प्रतिक्षण विनश्वरता स्वीकार करने की मान्यता थी, परन्तु वहाँ की जनता में क्षणिक स्थिति (कहे हुए वचनों में चंचलता) नहीं थी। अर्थात्—वहाँ के सभी लोग कहे हुए वचनों पर दृढ़ रहते थे। जहाँपर चापलविलास (चपलता) वायु में था। परन्तु वहाँ के प्रजाजनों में चापलविलास (परस्त्रियों के ऊपर हस्तादि का क्षेप) नहीं था। अथवा [चाप-ल-विलास अर्थात्—चापं लातीति चापलं तस्य विलासः] अर्थात्—वहाँ के लोगों में निरर्थक धनुष का ग्रहण नहीं था। जहाँपर भावसंकर भरतऋषि-रचित संगीत शास्त्रों में था। अर्थात्—भावसंकर (४९ प्रकार के संगीत संबंधी भावों का मिश्रण या विविध अभिप्राय) संगीत शास्त्रों में पाया जाता था, परन्तु प्रजाजनों में भाव-संकर (क्रियाओं—कर्त्तव्यों—का मिश्रण) नहीं था। अर्थात्—वहाँ के ब्राह्मणादि वर्णों व ब्रह्मचारी-आदि आश्रमों के कर्त्तव्यों में व्यामिश्रता (एक वर्ण का कर्त्तव्य दूसरे वर्ण द्वारा पालन किया

---

१. उपमालङ्कार। २. उपमालंकार। ३. पलं मांसं परिमाणं च। ४. मधु मद्यं वसन्तश्च।

परद्रव्याभिलाषः प्रासादकृतिषु, अक्रमगतिः काद्रवेयेषु, करकठिनताकर्णनं पुरुषपरीक्षासु, शस्त्रसंपातः पत्त्रच्छेदेषु, बन्धविधिः* स्तुरङ्गक्रीडासु, लिङ्गभेदः प्राकृतेषु, उपसर्गयोगो धातुषु, निपातश्रुतिः शब्दशास्त्रेषु, दोषचिन्ता भिषग्वचनेषु, भङ्गनिशमनं यमकवाक्येषु,

जाना) नहीं थी। अर्थात्—समस्त ब्राह्मणादि वर्णों के लोग अपने-अपने कर्तव्यों में तत्पर होते हुए दूसरे वर्णों का कर्तव्य नहीं करते थे। जहाँपर *परद्रव्याभिलाष मन्दिरों के निर्माण में था। अर्थात्—वहाँ के लोग मन्दिरों के निर्माणार्थ पर-द्रव्य-अभिलाष करते थे। अर्थात्—उत्कृष्ट (न्याय से उपार्जन किये हुए) धन की या उत्कृष्ट काष्ठ की इच्छा करते थे, परन्तु प्रजा-जनों में पर-द्रव्य-अभिलाषा (दूसरों के धन के अपहरण की लालसा) नहीं थी। जहाँपर +अक्रमगति सर्पों में पाई जाती थी। अर्थात्—जहाँपर अक्रम-गति (विना पैरों के गमन करना) सांपों में थी, परन्तु वहाँ के लोगों में अक्रमगति (अन्यायप्रवृत्ति) नहीं थी। जहाँपर ×करकठिनताकर्णन, सामुद्रिक शास्त्रों में था। अर्थात्—हाथों की कठिनता[1]रूप चिन्ह द्वारा शुभ फल का निरूपण सामुद्रिक शास्त्रों में पाया जाता था, परन्तु प्रस्तुत देश में कर-कठिनताश्रवण (राजटेक्स की अधिकता का श्रवण) नहीं था। जहाँपर शस्त्रसंपात (छुरी-वगैरह शस्त्रों का व्यापार) पुस्तकों के पत्रों के काटने में अथवा नागवल्ली के पत्तों के काटने में था, किन्तु इन्द्रियों के काटने में शस्त्रों का प्रयोग नहीं होता था। जहाँपर बन्धविधि घोड़ों की क्रीड़ाओं में थी। अर्थात्—जहाँपर घोड़ों की क्रीड़ाओं में बन्ध-विधि (वृक्षों की जड़ों का पीड़न) पाई जाती थी, परन्तु जनता में बन्धविधि (लोहे की साकलों द्वारा बाँधने की विधि) नहीं थी। जहाँपर ÷लिङ्गभेद शास्त्रों में था। अर्थात्—लिङ्गभेद (स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग व नपुंसकलिङ्ग का भेद—दोष) प्राकृत व्याकरण शास्त्रों में पाया जाता था, परन्तु जनता में लिङ्ग-भेद (जननेन्द्रिय का छेदन अथवा तपस्वियों का पीड़न) नहीं था। जहाँपर †उपसर्ग-योग धातुओं (भू, व गम्-आदि क्रियाओं के रूपों) में था। अर्थात्—भू-आदि धातुओं के पूर्व उपसर्ग (प्र-परा-आदि उपसर्ग) जोड़े जाते थे परन्तु मुनियों के धर्मध्यानादि के अवसर पर उपसर्ग-योग (उपद्रवों की उपस्थिति) नहीं था। जहाँपर ‡निपातश्रुति व्याकरण शास्त्रों में थी। अर्थात्—निपातश्रुति (निपात संज्ञावाले अव्यय शब्दों का श्रवण अथवा पुरन्दर, वाचंयम, सर्वसह और द्विषंतप-इत्यादि प्रसिद्ध शब्दों का श्रवण) व्याकरण शास्त्रों में थी परन्तु निपातश्रुति (प्राणियों की हिंसावाले यज्ञों—अश्वमेध व राजसूय-आदि की विधि के समर्थक वेदों का प्रचार अथवा सदाचार-स्खलन) जनता में नहीं थी। जहाँपर §दोष-चिन्ता (वात, पित्त व कफों की विकृति का विचार) वैद्यक शास्त्रों में थी, परन्तु जनता में दोष-चिन्ता (दूसरों की निन्दा व चुगली करना) नहीं थी। इसीप्रकार जहाँपर ¶भङ्गनिशमन शब्दालङ्कारशाली शास्त्रों में था। अर्थात्—भङ्गनिशमन (पदों का विच्छेद) शब्दालङ्कारों में सुना जाता था, परन्तु भङ्गनिशमन (जीवों का घात करना अथवा व्रत का खंडन करना या भागना) जनता में नहीं था।

A
*विधिश्चतुरङ्गक्रीडासु इति ग०। A शतरञ्जक्रीडासु इत्यर्थः।

१. तथा चोक्तं—'अकर्मकठिनौ हस्तौ पादौ वा ध्वनिकोमलौ। यस्य पाणी च पादौ च तस्य राज्यं विनिर्दिशेत्' ॥१॥ यशस्तिलक की संस्कृत टीका पृ० २०२ से संगृहीत—सम्पादक।

*परद्रव्यं परधनं परदारु च। +अक्रमः अन्यायः चरणाभावश्च। ×वलिः हस्तश्च। ÷लिङ्गं स्त्रीपुंनपुंसकानि तपस्वी च। † उपसर्गः उपद्रवः प्रपरादिश्च। ‡ निपातः स्वाचारप्रच्यवः प्रसिद्धशब्दोच्चारणं च। § दोषाः पैशुन्यादयः वातादयश्च। ¶ भङ्गः पलायनं विवेचनं च।

सीताहरणश्रवणमितिहासेषु, बन्धुकलहाख्यानं भारतकथासु, कुरङ्गवृत्तिः केलिस्थानेषु, धर्मगुणच्छेदः संग्रामेषु, कुटिलता च कामकोदण्डकोटिषु। किं च।

धर्मे यत्र मनोरथाः प्रणयिता यत्रातिथिप्रेक्षणे त्यागे यत्र मनीषितानि मतयो यत्रोल्बणाः कीर्तिषु।
सत्ये यत्र मनांसि विक्रमविधौ यत्रोत्सवो देहिनां यत्रान्येऽपि निसर्गसङ्गनिपुणास्ते ते च सन्तो गुणाः ॥ १३ ॥
तत्रावन्तिषु विख्याता पृथुवंशोद्भवात्मनाम्। अस्ति विश्वंभरेशानां राज्यायोज्जयिनी पुरी ॥ १४ ॥
सौधनद्धध्वजाप्रान्तमणिदर्पणलोचना। या स्वयं त्रिदशावासलक्ष्मीं द्रष्टुमिवोत्थिता ॥ १५ ॥
शोभन्ते यत्र सद्मानि सितकेतुसमुच्छ्रयैः। हराद्रिशिखराणीव नवनिर्मोकनिर्गमैः ॥ १६ ॥

जहाँपर *सीता-हरण-श्रवण अर्थात्—सीता (जनकपुत्री) के हरे जानेका श्रवण, रामायणादि शास्त्रों में था, परन्तु सीता-हरण-श्रवण—अर्थात्—लक्ष्मी (धन) का उद्दालन (दुरुपयोग या नाश) जनता में नहीं था। जहाँपर बन्धु-कलह-आख्यान -अर्थात्—युधिष्ठिर व दुर्योधन-आदि बन्धुओं के युद्ध का कथन, पाण्डवपुराण अथवा महाभारत-आदि शास्त्रों में था परन्तु वहाँपर भाइयों में पारस्परिक कलह नहीं थी। जहाँपर †कुरङ्गवृत्ति (मृगों की तरह उछलना) क्रीड़ाभूमियों पर थी। अर्थात्—क्रीडास्थानों पर वहाँ के लोग हिरणों-सरीखे उछलते थे परन्तु वहाँ की जनता में कुरङ्गवृत्ति (धनादि के हेतु प्रीतिभङ्ग) नहीं थी। जहाँपर धर्म-गुणच्छेद (धनुष की डोरी का खण्डन) युद्धभूमियों पर था, परन्तु धर्म-गुण-च्छेद (दान-पूजादिरूप धर्म व ब्रह्मचर्यादि गुणों का अभाव) वहाँ के लोगों में नहीं था एवं जहाँपर वक्रता (टेढ़ापना) कामदेव के धनुष के दोनों कोनों में थी, परन्तु वहाँ की जनता की चित्त-वृत्तियों में वक्रता (कुटिलता—मायाचार) नहीं थी[1-2]।

कुछ विशेषता यह है जिस अवन्ति देश में प्राणियों के मनोरथों का झुकाव, धर्म (दान-पुण्यादि) पालन की ओर, प्रेम का झुकाव साधुजनों को आहारदान देने के लिए उन्हें अपने द्वार पर देखने की ओर, मानसिक इच्छाओं का झुकाव दान करने की ओर प्रवृत्त था। इसीप्रकार उनकी बुद्धियाँ यश-प्राप्ति में संलग्न रहती थीं और मनोवृत्ति का झुकाव सदा हित, मित व प्रिय वचन बोलने की ओर था एवं जहाँ के लोग पराक्रम-प्रकट करने में उत्साह-शील थे। इसीप्रकार वहाँ के लोगों में उक्त गुणों के सिवाय दूसरे उदारता व वीरता-आदि प्रशस्त गुणसमूह स्वभावतः परस्पर प्रीति करने में प्रवीण होते हुए निवास करते थे[3] ॥१३॥

उस अवन्ति देश में इक्ष्वाकु-आदि महान् क्षत्रिय-कुलों में उत्पन्न हुए राजाओं की राजधानी व विख्यात (प्रसिद्ध) उज्जयिनी नाम की नगरी है[4] ॥१४॥ राजमहलों पर आरोपण की हुई ध्वजाओं के अग्रभागों पर स्थित हुए रत्नमयी दर्पण ही हैं नेत्र जिसके ऐसी वह उज्जयिनी नगरी ऐसी प्रतीत होती थी—मानों—स्वर्ग-लक्ष्मी को देखने के लिए ही स्वयं ऊँचे उठी हुई शोभायमान होरही है[5] ॥१५॥ जिसप्रकार कैलास पर्वत के शिखर नवीन सर्पों की काँचलियों के निकलने से शोभायमान होते हैं उसी प्रकार उस नगरी के गृह-समूह भी शुभ्र ध्वजाओं के फहराने से शोभायमान होरहे थे[6] ॥१६॥

---

*सीता जानकी लक्ष्मीश्च। †कुरङ्गः कुत्सितनृत्यं मृगश्च कुत्सितरङ्गं वा मृगवदुच्छलनं वा।

१. परिसंख्यालंकार। २—तथा चोक्तं—'यत्र साधारणं किंचिदेकत्र प्रतिपाद्यते। अन्यत्र तन्निवृत्त्यै सा परिसंख्योच्यते यथा ॥' सं०टी० पृ० २०३, से संकलित—सम्पादक।

३. दीपक-समुच्चयालंकार। ४. जाति-अलंकार। ५. उत्प्रेक्षालंकार। ६. उपमालंकार।

नवपल्लवमालाङ्का यत्र तोरणपङ्क्तयः। भान्तीव मेखलानन्दिनितम्बाः सद्मश्रियः ॥ १७ ॥
क्रीडत्कलापिरम्याणि यत्र हर्म्याणि कुर्वते। शरणश्रीसपर्यासु विफलाश्चामरक्रियाः ॥ १८ ॥
सर्वर्तुश्रीश्रितच्छाया निष्कुटोद्यानपादपाः। पौरकामदुहो यत्र भोगभूमिद्रुमा इव ॥ १९ ॥
नक्तं सिप्रानिलैर्यत्र जाल्ममार्गानुगैः कृताः। वृथा रतिषु पौराणां यन्त्रव्यजनपुत्रिकाः ॥ २० ॥
चन्द्रोपलप्रणालाग्रैर्निशि चन्द्रातपप्लुतैः। हरन्ति यत्र हर्म्याणि यन्त्रधारागृहश्रियम् ॥ २१ ॥
यत्र सौधाग्रकुम्भेषु लब्धविश्रमणाः क्षणम्। व्योमाध्वनि सुखं यान्ति रविस्यन्दनवाजिनः ॥ २२ ॥
पर्यस्तभित्तिमणिद्योतैर्दीप्ता यत्र निशास्वपि। वियोगाय न कोकानां भवन्ति गृहदीर्घिकाः ॥ २३ ॥
त्यागाय यत्र वित्तानि चित्तं धर्माय देहिनाम्। गृहाण्यागन्तुभोगाय विनयाय गुणागमः २४ ॥
सत्त्रवर्त्मनि पान्थानां बहुदातृपरिग्रहात्। मूढीभवन्ति चेतांसि यत्राभ्युपगमोक्तिषु ॥ २५ ॥

जिसमें नवीन व कोमल पत्तों की मालाओं के चिन्होंवाली तोरण-पंक्तियाँ (वन्दनमाला श्रेणियाँ) उसप्रकार शोभायमान होतीं थीं जिसप्रकार करधोनी से वेष्टित होने के कारण आनन्द उत्पन्न करनेवाले गृहलक्ष्मी के नितम्ब (कमर के पश्चाद्भाग) शोभायमान होते हैं[1] ॥१७॥ जिस नगरी के अन्तःपुर के महलों ने, जो कि क्रीड़ा करते हुए मयूरों से मनोहर थे, गृह लक्ष्मी की पूजाओं में किये जानेवाले चँमरों के उपचार (ढोरे जाने) निष्फल कर दिये थे[2] ॥१८॥ जिस उज्जयिनी नगरी में समस्त छहों ऋतुओं (हिम, शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरद ऋतु) की लक्ष्मियों से अलङ्कृत है शोभा जिनकी ऐसे गृह संबंधी बगीचों के वृक्ष, भोगभूमि के कल्पवृक्षों सरीखे नागरिकों के लिए वाञ्छित फल देते हुए शोभायमान होरहे थे[3] ॥१९॥ जिस उज्जयिनी नगरी में रात्रि में गृह संबंधी झरोखों के मार्गों से पीछे से आनेवाली (बहनेवाली) सिप्रा नदी की शीतल, मन्द व सुगन्धित वायु द्वारा उस नगरी के निवासियों की संभोग-क्रीड़ा में उत्पन्न हुए खेद को दूर करने के हेतु यन्त्रों द्वारा संचालित कीजानेवाली पङ्खों की पुतलियाँ व्यर्थ कर दीगई थीं, क्योंकि वहाँ के नागरिकों का रतिविलास से उत्पन्न हुआ खेद सिप्रा नदी की शीतल, मन्द व सुगन्धि वायु द्वारा, जो कि उनके गृहों के झरोखों के मार्ग से प्रविष्ट होरही थी, दूर होजाता था[4] ॥ २० ॥ जिस नगरी के गृह, रात्रि में ऐसे चन्द्रकान्त-मणिमयी भित्तियों के अग्रभागों से, जिनसे चन्द्र किरणों के संसर्ग-वश जल-पूर क्षरण होरहा था, फुव्वारों की गृह-शोभा को तिरस्कृत कर रहे थे[5] ॥ २१ ॥ सूर्य-रथ के घोड़े, जिस नगरी के राजमहलों के अग्रभागों (शिखरों) पर स्थापित किये हुये कलशों पर क्षण भर विश्राम कर लेने के फलस्वरूप आकाश मार्ग में सुखपूर्वक (विना खेद उठाए) प्रस्थान करते हैं[6] ॥ २२ ॥ जिस नगरी की गृह-बावड़ियाँ, गृहभित्तियों पर जड़े हुए रत्नों की कान्तियों से चमकतीं हुईं सदा प्रकाशमान रहती थीं, जिसके फलस्वरूप वे रात्रि में भी चकवा-चकवी का वियोग करने में समर्थ नहीं थीं, क्योंकि बावड़ियों के निकटवर्त्ती चकवा-चकवी को रत्नमयी भित्तियों के प्रकाश से रात्रि में भी दिन प्रतीत होता था[7] ॥ २३ ॥ जिसमें नागरिकों की लक्ष्मी पात्रदान के लिये थी और चित्तवृत्ति धार्मिक कर्त्तव्य-पालन के लिये थी एवं गृह अतिथि-सत्कार के निमित्त थे तथा विद्याभ्यास-आदि गुणों का उपार्जन विनयशील बनाने के हेतु था[8] ॥ २४ ॥ जिस नगरी की दानशालाओं (सदावर्त-स्थानों) के मार्ग पर दानी-लोग इतनी अधिक संख्या में एकत्रित होजाते थे, जिससे कि याचक पान्थों की चित्तवृत्तियाँ, दातारों को उठकर नमस्कार

१. उपमालंकार। २. हेतूपमालंकार। ३. उपमालंकार। ४. जाति-अलंकार। ५. उपमालंकार। ६. प्रतिवस्तूपमालंकार। ७. भ्रान्तिमानलंकार। ८. दीपकालंकार।

सर्वरत्नानि वार्धीनां सर्ववस्तूनि भूभृताम् । द्वीपानां सर्वसाराणि यत्र संजग्मिरे मिथः ॥ २६ ॥

वयस्या भोगभूमीनां सध्रीची सुरसंपदाम् । आली च भोगभूतीनां या बभूव निजश्रिया ॥ २७ ॥

भ्रूचापविभ्रमोद्भ्रान्तनेत्रापाङ्गशिलीमुखाः । मुधा कुर्वन्ति कामिन्यो यत्र कामास्त्रगर्जितम् ॥ २८ ॥

अलककदलीकान्ताभोगाः पताकितलोचनाः पृथुतरकुचक्रोडकुम्भा मदालसविभ्रमाः ।

स्मरकरिघटाः कामोद्दामा इवाहवकल्पितास्त्रिभुवनजनानीतक्षोभा विभान्ति यदङ्गनाः ॥ २९ ॥

यत्र च कामिनीनां चिकुरेषु निसर्गकृष्णता न जनानां चरित्रेषु, सीमन्तेषु द्विधाभावो न स्वामिसेवासु, केकरालोकितेषु कुटिलत्वं न विनयोपदेशेषु, भ्रूलतासु भङ्गसंगमो न परस्परमैत्रीषु, लोचनेषु वर्णसंकरो न कुलाचारेषु,

---

बचन बोलने में किंकर्त्तव्य-विमूढ़ (किन-किन दाताओं को नमस्कार किया जावे ? इस प्रकार के विचार से शून्य) होगईं थीं[1] ॥ २५ ॥ जिस नगरी में सातों समुद्रों की समस्त रत्न-राशि (श्वेत, पीत, हरित, अरुण व श्याम रत्न-समूह) और पर्वतों की समस्त वस्तुएँ (कपूर, कस्तूरी व चन्दनादि) तथा द्वीपों की समस्त धनराशि परस्पर में सम्मिलित (एकत्रित) हुई सुशोभित थी[2] ॥ २६ ॥ जो उज्जयिनी नगरी अपनी लक्ष्मी से भोगभूमि की सखी, देवलक्ष्मी की मित्राणी एवं कर्पूर, कस्तूरी व चन्दनादि भोग सम्पत्ति की सहेली थी[3] ॥२७॥ जिस नगरी की ऐसी कमनीय कामिनियाँ, जो कि भ्रुकुटि (भोहें) रूपी धनुषों के विलास या नामोन्नाम (उतार-चढ़ाव) से चंचल हुए नेत्रों के प्रान्तभाग रूपी बाणों से सुशोभित हैं, कामदेव का धनुष-दर्प (गर्व) निरर्थक कर रही हैं[4] ॥२८॥ जिस नगरी की काम से उत्कट ऐसी कमनीय कामिनियाँ, संग्रामार्थ सजाईं गईं कामदेव के हाथियों की घटाओं (समूहों) सरीखी शोभायमान होरही हैं। कैसी हैं वे कमनीय कामिनियाँ और कामदेव की गज-(हाथी) घटाएँ? जिनका विस्तार केशपाश रूपी विशाल ध्वजाओं से मनोज्ञ है, जिनके नेत्र पताकित (छोटी ध्वजाओं से व्याप्त) हैं। जिनके कठिन और ऊँचे कुच (स्तन) ही मनोज्ञ कलश हैं, जिनकी भ्रुकुटियों (भोहों) का विलास (क्षेप—संचालन) यौवन-मद से मन्द उद्यमशाली है एवं जिन्होंने अपने अनोखे सौन्दर्य द्वारा तीन लोक संबंधी प्राणियों के चित्त क्षुब्ध (चलायमान) किये हैं[5] ॥२९॥

जिस उज्जयिनी नगरी में निसर्गकृष्णता* नवीन युवती स्त्रियों के केशपाशों में थी। अर्थात्—उनके केशपाश निसर्गकृष्ण (स्वाभाविक कृष्ण—भँवरों व इन्द्रनील मणियों-जैसे श्याम व चमकीले) थे परन्तु वहाँ सम्यग्दृष्टि नागरिकों के चरित्रों में निसर्गकृष्णता (स्वाभाविक मलिनता—दुराचारता) नहीं थी। जहाँपर द्विधाभाव❀ (केशपाशों को कंघी द्वारा दो तरफ—दाईं बाईं ओर—करना) स्त्रियों के केशपाशों में था, परन्तु मानवों की स्वामी-सेवाओं में द्विधाभाव (दो प्रकार की मनोवृत्ति—कुटिलचित्तवृत्ति या दोनों प्रकार से घात करना) नहीं था। जहाँपर कुटिलता † (वक्रता—टेढ़ापन) रमणीक रमणियों की कटाक्ष-विक्षेपवाली तिरछी चितवनों में थी परन्तु मानवों के विनय करने के वर्ताव में कुटिलता (मायाचार या अप्रसन्नता) नहीं थी। जहाँपर भ्रुकुटि (भोहें) रूपी लताओं में भङ्ग ‡ संगम (विलास पूर्वक ऊपर चढ़ाना) था, परन्तु मनुष्यों की पारस्परिक मैत्री में भङ्ग-संगम (विनाश होना) नहीं था। जहाँपर §वर्णसंकरता (श्वेत, कृष्ण व रक्त वर्णों का सम्मिश्रण) नेत्रों में थी, परन्तु विवाहादि कुलाचारों में वर्णसंकरता (एक ब्राह्मणादि वर्ण का दूसरे क्षत्रियादि वर्णों में विवाह होने का सम्मिश्रण) नहीं थी।

---

१. अतिशयालंकार । २. दीपकालंकार । ३. दीपकालंकार । ४ उपमालंकार । ५. रूपक व उपमालंकार ।

*कृष्णता कालता दुराचारता च । ❀ द्विधाभावः उभयथा विभागः उभयभेदना च । † कुटिलता वक्रता अप्रसन्नता च ।

‡ भङ्गः उत्क्षेपः नाशश्च । § रक्तादयः ब्राह्मणादयश्च ।

पयोधरेषु विवेकविकलता न परपरिभाषणेषु, मध्यदेशेषु दरिद्रता न मनीषितेषु, नितम्बेषु जडता न विद्याव्यतिकरेषु, चरणनखेषु वृद्धिविलोपदर्शनं न विभवमहोत्सवेषु, पादतलेषु पांसुलता न वृत्तेषु ।

या देवायतनैर्महद्भिरमरक्रीडावतारैर्वनैः सत्रैः प्रीणितपान्थसार्थहृदयैर्लक्ष्मीनिवासैर्गृहैः ।
वापीभिर्जलदेवतावसतिभिर्देवोपमानैर्जनैः स्वर्गात्रासपुरीव भाति विभवैरन्यैश्च तैस्तैरपि ॥ ३० ॥

तस्यां पराक्रमकुठारखण्डितसमस्तारातिसंतानतरुः, सकलवर्णाश्रमाचारपरिपालनगुरुः, गुरुरिव राज्यलक्ष्मीविनयोपदेशस्य, प्रथमयुगावतार इव सच्चरित्रस्य, धर्ममूर्तिरिव सत्यव्रतस्य, मोक्षालय इव परलोकाश्रयणस्य,

---

जहाँपर युवती स्त्रियों के कुच (स्तन) कलशों में *विवेकविकलता (परस्पर संलग्नता) थी, परन्तु परस्पर एक दूसरे के साथ वार्तालाप करने में विवेकविकलता (चतुराई-शून्यता) नहीं थी। जहाँपर स्त्रियों के उदरप्रदेशों में †दरिद्रता (कृशता) थी, परन्तु मनुष्यों की वाञ्छित वस्तुओं में दरिद्रता (निर्धनता) नहीं थी। जहाँपर ‡जड़ता (गुरुता—स्थूलता) स्त्रियों के नितम्बों (कमर के पीछे भागों) में थी, परन्तु मनुष्यों के विद्याभ्यास-संबंधों में जड़ता (मूर्खता) नहीं थी। जहाँपर §वृद्धि-विलोप-दर्शन (बढ़े हुओं को निहन्नी द्वारा काटने का दर्शन) पैरों के नाखूनों में था, परन्तु लक्ष्मी-प्राप्ति के उपायों (कृषि-व्यापारादि उद्योगों) में वृद्धि-विलोप-दर्शन (लक्ष्मी के नष्ट होने का दर्शन) नहीं था। जहाँपर $पांसुलता (धूलि-धूसरित होना) पैरों के तलुओं में थी परन्तु नागरिकों के चरित्रों में पांसुलता (मलिनता या व्यभिचार-प्रवृत्ति) नहीं थी।[1]

जो उज्जयिनी नगरी अत्यन्त ऊँचे व विशाल जिनमन्दिरों से, देवताओं की क्रीड़ा के प्रवेशवाले बगीचों से, पथिक-समूहों के हृदय संतुष्ट करनेवाली दानशालाओं (सदावर्त-स्थानों) से, धनादि वैभवशाली गृहों से, देवताओं की निवासभूमि बावड़ियों से एवं देवताओं सरीखे सुन्दर व सदाचारी मानव-समूह से और इसीप्रकार की दूसरी जगत्प्रसिद्ध धनादि संपत्तियों से स्वर्गपुरी (अमरावती) सरीखी शोभायमान होरही है[2] ॥३०॥

अहो, सज्जनता रूप अमूल्य माणिक्य की प्राप्ति में तत्पर और प्रसिद्ध 'चण्डमहासेन' राजा के सुपुत्र हे मारिदत्त महाराज! उक्तप्रकार से शोभायमान उस उज्जयिनी नगरी में ऐसा 'यशोर्घ' नामका राजा था। जिसने अपने पराक्रमरूप परशु द्वारा समस्त शत्रुओं के कुलवृक्ष काट डाले थे। जो समस्त वर्णों (ब्राह्मण-आदि) और आश्रमों (ब्रह्मचारी-आदि) में रहनेवाली प्रजा के सदाचार की उसप्रकार रक्षा करता था जिसप्रकार पिता अपनी सन्तान की रक्षा करता है। जो राजनीति-विद्याओं (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता व दण्डनीति) के विचार में बृहस्पति-सरीखा पारदर्शी था। जो सदाचार के पालन में ऐसा मालूम पड़ता था मानों—कृतयुग की मूर्तिमती प्रवृत्ति ही है। अथवा जो सदाचार का पालन उसप्रकार करता था जिसप्रकार कृतयुग की जनता की प्रवृत्ति सदाचार-पालन में स्वाभाविक तत्पर रहती है। जो सत्यव्रत का पालन करने से ऐसा प्रतीत होता था, मानों—धर्म की मूर्ति ही है। जो परलोक-प्राप्ति के लिए मोक्ष-सा था। अर्थात्—जो पारलौकिक स्थायी सुख की प्राप्ति उसप्रकार करता था जिसप्रकार मोक्ष मार्ग (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) के अनुष्ठान से पारलौकिक शाश्वत कल्याण प्राप्त होता है।

---

*विवेकः असंलग्नता चातुर्यं च। †दारिद्रता कृशता अधनता च। ‡जडता गुरुता मूर्खता च। §वृद्धिर्महत्त्वं श्रीश्च। $पांसुलता पारदारिकता धूलिधूसरता च।

1. श्लेष-परिसंख्यालंकार। 2. उपमा व समुच्चयालंकार।

त्रिदशावास इव मनोभिलषितस्य, पुण्याकर इवोत्सवपरम्परागमनस्य, भूसर्ग इव सर्वपार्थिवगुणानां समवायः, प्रजापतिरिव लब्ध-वर्णानां धुरि वर्णनीयः, तारेश्वर इव चतुरुदधिमध्यवर्तिनः कुवलयस्य प्रसाधयिता, शरत्समय इव प्रतापवर्धितमित्रमण्डलः, हेमन्त इव पल्लविताश्रितकुन्दकन्दलः, शिशिर इव दूषितद्विषदङ्गनापाङ्गपङ्कजः, वसन्त इव समानन्दितद्विजातिः, ग्रीष्म इव शोषित-परवाहिनीप्रसरः, पयोदागम इव संतर्पितवनीपकपादपो बभूव यशोर्घनामा महाभागः सकलविद्याविशारदमतिः क्षितिपतिः।

जो मनचाही वस्तुओं के प्राप्त करने में स्वर्गलोक-जैसा समर्थ था। जिसप्रकार वसन्त ऋतु महोत्सव-श्रेणियों की प्राप्ति की कारण होती है उसीप्रकार जो महोत्सव-श्रेणियों की प्राप्ति का कारण था। जो भूमि की सृष्टि सरीखा समस्त पार्थिव गुणों का समवाय (आधारभूत) था। अर्थात्—जिसप्रकार पृथिवी-सृष्टि में समस्त पार्थिव गुण (पृथिवी के गुण—भार-वहन-आदि व समुद्र-पर्वतादि के धारण की सामर्थ्य) होते हैं उसी प्रकार जिसमें समस्त पार्थिव-गुण (राजाओं के गुण—उदारता व शूरता-आदि) विद्यमान थे। जो कीर्ति-शाली विद्वान् पुरुषों के मध्य में उसप्रकार सर्वप्रथम श्लाघनीय (प्रशंसनीय) था जिसप्रकार ऋषभदेव भगवान् कीर्तिशाली विद्वान् पुरुषों के मध्य सर्वप्रथम प्रशंसनीय व पूज्य समझे जाते हैं[1]। जो चारों समुद्रों के मध्यवर्ती कुवलय (पृथ्वीमण्डल) को उसप्रकार साधन करता था—अच्छे राज्यशासन द्वारा उल्लास-युक्त विभूषित करता था—जिसप्रकार चन्द्रमा कुवलय (चन्द्रविकासी कमल-समूह) को अलङ्कृत (प्रफुल्लित) करता है। जिसप्रकार शरद् ऋतु (आश्विन-कार्तिक मास) प्र-ताप-वर्द्धित मित्रमण्डल (विशेष ताप द्वारा सूर्यमण्डल को वृद्धिंगत करनेवाली) होती है, उसीप्रकार जो प्रताप-वर्द्धितमित्रमण्डल (प्रताप—सैनिक व कोशशक्ति—द्वारा मित्र राजाओं के देश वृद्धिंगत करनेवाला) था। जिसप्रकार हेमन्त ऋतु (मार्गशीर्ष व पौषमास) पल्लवित-कुन्दकुन्दल (अट्टहास पुष्पलताओं को कोमल पत्तों से विभूषित करनेवाली) होती है उसीप्रकार जो पल्लवित-आश्रित-कुन्दकुन्दल (सेवकों के कुन्दकुन्दल[2]—यज्ञान्तस्नान-समूह—को वृद्धिंगत करानेवाला) था। जिसप्रकार शिशिरऋतु (माघ व फाल्गुन) दूषित-पङ्कज (कमलों को म्लान करनेवाली) होती है उसीप्रकार जो दूषित—द्विपदङ्गना—अपाङ्गपङ्कज (शत्रु-स्त्रियों के नेत्रप्रान्तरूपी कमलों को म्लान करनेवाला) था। जिसप्रकार ऋतुराज वसन्त समानन्दितद्विजाति (कोकिलाओं को आनन्दित करनेवाली) होती है उसीप्रकार जो समानन्दितद्विजाति (मुनियों या जैनब्राह्मणों को प्रमुदित करनेवाला) था। जिसप्रकार ग्रीष्मऋतु शोषित-परवाहिनीप्रसर—उत्कृष्ट नदियों के प्रसर—विस्तार—की शोषक होती है उसीप्रकार जो शोषित-परवाहिनीप्रसर (शत्रु-सेना का विस्तार अल्प करनेवाला) था। जिसप्रकार वर्षा ऋतु संतर्पित-अव—नीपक—पादप (धाराकदम्ब वृक्षों व दूसरे वृक्षों को चारों ओर से जलवृष्टि द्वारा सन्तर्पण करनेवाली) होती है उसीप्रकार जो संतर्पित-वनीपक-पादप (याचकरूप वृक्षों को सन्तुष्ट करनेवाला) था। इसीप्रकार महापुण्यशाली जो समस्त धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष संबंधी शास्त्रों में विचक्षण बुद्धिशाली था।

१. तथा चाह—स्वामी समन्तभद्राचार्यः—

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।

प्रबुद्धतत्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः॥ १ ॥ बृहत्स्वयंभूस्तोत्र से संगृहीत. —सम्पादक

अर्थ—जिस ऋषभदेव तीर्थङ्कर ने अवसर्पिणी काल के चतुर्थकाल संबंधी राजाओं में प्रथम प्रजापति (सम्राट्) होकर जीवनोपाय के जानने की इच्छा रखनेवाले प्रजाजनों को कृषि व व्यापारादि षट्कर्मों में शिक्षित किया था। पुनः तत्वज्ञानी होकर आश्चर्यजनक आत्मोन्नति करते हुए तत्वज्ञानियों में प्रधान होकर प्रजाजन, कुटुम्बीजन, शरीर व भोगों से विरक्त हुए॥ १ ॥ २. 'अवभृथा यत्र तत्र कुन्दो व्रजति जन्मेजयः, इति श्रुतिः—यशस्तिलक की संस्कृत टीका पृ० २१० से समुद्धृत — सम्पादक

अहो सौजन्यरत्नपरायणामुख्यायण, ममानेन मनुष्यजन्मना प्रपितामहः पूर्वेण तु पिता।

त्रिवेदीवेदिभिर्मान्यस्त्रिविक्रमपराक्रमः। त्रिदिवावसरत्कीर्तिस्त्रिलोकीपतिभिः समः॥ ३१॥

चतुर्वर्गसमारम्भश्चतुर्विद्यागमाग्रणीः। चतुःसमयसारज्ञश्चतुरम्भोधिविश्रुतः॥ ३२॥

धर्मश्चित्ते करे त्यागः सत्यं वक्त्रे श्रुतं श्रुतौ। यस्यानन्यजनाधेयमेतद्भूषणतां गतम्॥ ३३॥

येनार्थिजगतो*ऽस्यर्थं कामं पूरयता कृताः। सकामधेनवो व्यर्थाश्चिन्तामणिसुरद्रुमाः॥ ३४॥

धर्मत्यागाज्जयी बाणो धनुर्युद्धे पराङ्मुखम्। ततो यस्याभवद्वैरिविजयाय भुजद्वयम्॥ ३५॥

धिक्तं खड्गं रणे यस्य प्रीतिः शत्रुगलग्रहे। दोर्दण्ड एव यस्यासीत्ततो विद्विड्दण्डनः॥ ३६॥

जो इस जन्म की अपेक्षा से मेरा प्रपितामह (पिता का पितामह) था। अर्थात्—वर्तमान में मेरे पिता यशोमति राजा और उसके पिता यशोधर राजा और उसके पिता राजा यशोर्घ था। और पूर्वजन्म (यशोधर पर्याय) की अपेक्षा से मेरा पिता था[1]।

जो त्रिवेदी (ऋग्वेद, यजुर्वेद व सामवेद अथवा तर्क, व्याकरण व सिद्धान्त) वेत्ता विद्वानों द्वारा सम्माननीय और नारायण-सरीखा पराक्रमी था एवं जिसकी कीर्ति स्वर्गलोक की इन्द्रसभा में प्रवेश कर रही थी और जो इन्द्र, धरणेन्द्र व चक्रवर्त्ती-सा प्रतापी था[2] ॥ ३१ ॥ जिसकी प्रवृत्ति चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) के परिपालन में तत्पर थी। जो आन्वीक्षिकी (दर्शनशास्त्र), त्रयी (वर्णाश्रमों के कर्त्तव्यों को बतानेवाली विद्या). वार्ता (कृषि व व्यापारादि जीविकोपयोगी कर्तव्यों का निरूपण करनेवाली विद्या) और दण्डनीति (राजनीति) इन चारों विद्याओं के पारदर्शी विद्वानों में श्रेष्ठ था। जो चार सिद्धान्तों (जैन, शैव, वैदिक व बौद्धदर्शन) के रहस्य का ज्ञाता था और जिसकी कीर्ति चारों समुद्रों में विख्यात थी[3] ॥ ३२ ॥ जो अनोखे निम्नप्रकार धर्मादि प्रशस्त गुणरूप आभूषणों से अलङ्कृत था। उदाहरणार्थ—जिसका चित्त धर्म (अहिंसा) रूप आभूषण से, करकमल दानरूप आभूषण से, मुख सत्यभाषणरूप अलङ्कार से और कर्णयुगल शास्त्र-श्रवणरूप आभूषण से विभूषित थे[4] ॥ ३३ ॥ याचक-लोक के मनोरथ विशेषरूप से पूर्ण करनेवाले जिसने अभिलषित वस्तु देनेवालीं कामधेनु, चिन्तामणि और कल्पवृक्ष-आदि वस्तुएँ व्यर्थ कर दी थीं[5] ॥ ३४ ॥ जिस यशोर्घराजा की दोनों भुजाएँ शत्रुओं को पराजित करने के लिये इसलिये समर्थ थीं, क्योंकि बाण तो धर्म-त्याग से (धनुष द्वारा छोड़े जाने के कारण और दूसरे पक्ष में न्यायमार्ग का उल्लङ्घन करने के कारण) विजयश्री प्राप्त करता है एवं धनुष युद्ध के अवसर पर पराङ्मुख (डोरीवाले भाग को पीछा करनेवाला और दूसरे पक्ष में कायरतावश पीठ फेरनेवाला) होकर विजयश्री प्राप्त करनेवाला होता है[6] ॥ ३५ ॥ उस खड्ग को धिक्कार है, जो युद्धभूमि पर शत्रु-कण्ठों को छिन्न-भिन्न करने में अनुरक्त नहीं है, इसीकारण (टेढ़ा होने के मिष से प्रत्युपकार-शून्यतारूपी दोष होने के कारण) जिसका भुजारूपी दण्ड ही शत्रुओं का क्षय करनेवाला हुआ[7-8] ॥ ३६ ॥

---

*उक्त पाठ ह. लि॰ सटि॰ क, घ से संकलित। मु॰ प्रतौ तु 'जनतो' इति पाठः।

१. श्लेषोपमालंकार। २. उपमा-अतिशयालंकार। ३. अतिशयालंकार। ४. दीपक, उपमा व समुच्चयालङ्कार। ५. उपमालङ्कार। ६. श्लेषालङ्कार। ७. रूपक-श्लेषालङ्कार।

८. तथा चोक्तं—'कृतकार्येषु भृत्येषु नोपकुर्वन्ति ये नृपाः। जन्मान्तरेऽधिकर्द्धीनां ते स्युस्तद्गृहकिङ्कराः॥' ॥ १ ॥ अर्थात्—जो राजालोग, उनकी कार्य-सिद्धि करनेवाले सेवकों का प्रत्युपकार नहीं करते, वे भविष्य जन्म में उन सेवकों के, जो कि जन्मान्तर में अधिक ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाले होते हैं, गृह-किङ्कर (गृह-सेवक) होते हैं।—यशस्तिलककी संस्कृत टीका पृ॰ २१२ से समुद्धृत—सम्पादक।

येनात्राश्चर्यशौण्डीर्ययशोरूपैः कुशेशयैः। प्रत्यादिश्यन्त दिक्पालकर्णभूषणविभ्रमाः ॥ ३७ ॥

अभवत्कोऽपि नाभागो यस्य लक्ष्मीषु भूभुजः। नाभाग इति तेनासौ पप्रथे जगतां मतः ॥ ३८ ॥

निष्कण्टकमहीभागो निर्विपक्षमहोदयः। निर्व्याबाधप्रजः प्राप यः परं नाहवोत्सवम् ॥ ३९ ॥

भूपतेर्यस्य माकन्दमञ्जरीहृदयंगमाः। बभूवुर्भुवनेशानां कर्णपूराय कीर्तयः ॥ ४० ॥

गुणारत्नाम्बुधेर्यस्य ब्रह्मस्तम्बनिकेतने। सदा धवलनारम्भं सुधाकुम्भायते यशः ॥ ४१ ॥

यश्चक्षुः सर्वलोकानां यो दक्षः क्षितिरक्षणे। यः स्वयंभूर्जगद्वृद्धेर्यः श्रिया पुरुषोत्तमः ॥ ४२ ॥

प्रागद्रिमन्दरहिमाचलसेतुबन्धमर्यादमल्पकमिदं भुवनं विलोक्य।

स्वीयं यशः पृथुतरं व्यभजत्क्षितीन्द्रश्चन्द्रच्छलादुपरि शेषमिषादधस्तात् ॥ ४३ ॥

यं प्रतापकम्पितसुरासुरलोकपरिवृढमन*वरतोदितोदितविजयानकस्वनसूचितसकलदिक्पालसेवासमयराढमुपायनीकृताङ्कुशमर्यादमदमदिरामोदास्वादोन्मदमधुकरकुलकोलाहलखपुनरुक्तडिण्डिमाडम्बरकरिघटाः

जिस यशोर्घराजा ने इस संसार में अद्भुत त्याग, विक्रम और यशरूपी कमलों द्वारा दिक्पाल नरेन्द्रों अथवा इन्द्रादिकों के कर्णाभूषणों की शोभा निराकृत (तिरस्कृत) की थी[1] ॥३७॥ जिस राजा की लक्ष्मियों (धनों) में कोई भी अभाग (धनांश ग्रहण न करने वाला) नहीं हुआ। अर्थात्—सभी लोग इसके धन से लाभ उठाते थे; क्योंकि यह विशेष उदार था। अतः जगत के प्राणियों द्वारा माना हुआ यह 'नाभाग' (विशेष पुण्यशाली) यह दूसरा नाम प्राप्त करके लोक में विख्यात हुआ[2] ॥३८॥ जो यशोर्घराजा केवल आहव*-उत्सवों (ईश्वरपूजा-महोत्सवों) से विभूषित था, परन्तु वह निश्चय से कदापि आहव-उत्सव (युद्ध संबंधी उत्सव) को प्राप्त नहीं हुआ; क्योंकि वह, क्षुद्रशत्रु-रहित देशवाला, शत्रु-रहित उदयशाली और उपद्रवों से शून्य प्रजावाला था[3] ॥३९॥ जिस यशोर्घराजा की आम्रवृक्ष की मञ्जरियों (वल्लरियों) सरीखीं कीर्तियाँ, इन्द्र, धरणेन्द्र व चक्रवर्ती-आदि के कानों के आभूषण-निमित्त हुईं[4] ॥४०॥ गुणरूपी रत्नों के समुद्र जिस यशोर्घमहाराज का उज्वलीकरण-व्यापारशाली यश ब्रह्माण्डमन्दिर में सदा अमृत से भरे हुए घट के समान आचरण करता है[5] ॥४१॥ जो यशोर्घमहाराज सन्मार्ग-प्रदर्शक होने के फलस्वरूप समस्त प्रजाजनों के नेत्र अथवा चक्षुष्मान कुलकर थे। जो पृथ्वीपालन में विचक्षण अथवा प्रजापति थे। इसीप्रकार जो प्रजावृद्धि में श्रीब्रह्मा या श्री ऋषभदेव थे एवं लक्ष्मी से अलङ्कृत होने के फलस्वरूप नारायण या श्रीकृष्ण थे[6] ॥४२॥ जिस यशोर्घमहाराज ने अपने शुभ्र यश को विशाल (महान्) और उदयाचल, अस्ताचल, हिमाचल (हिमालय) और सेतुबन्ध (दक्षिण पर्वत) की सीमावाले मनुष्य लोक को अति अल्प (विशेष छोटा) जानकर, उसे (अपने शुभ्र यश को) चन्द्र के बहाने से आकाश में और शेषनाग के बहाने से अधोलोक में विभक्त कर दिया था। अर्थात्—जब उसका विस्तृत शुभ्र यश उक्त सीमावाले छोटे से मनुष्य लोक में नहीं समाया तो उसने उसे चन्द्र व शेषनाग के बहाने से क्रमशः आकाश में व अधोलोक में पहुँचा दिया। अर्थात्—उसकी चन्द्र व शेषनाग-सी उज्वल यशोराशि तीन लोक में व्याप्त थी[7] ॥४३॥

ऐसे समस्त राजा लोग, ऐसे जिस 'यशोर्घ' राजा की सेवा करते थे। जिन्होंने (जिन

---

१. उपमालङ्कार। २. श्लेषोपमालङ्कार। * आहवस्तु पुमान्यागे सङ्गरेऽप्याहवस्तथा इति विश्वः। अर्थात्—आहव शब्द यज्ञ व युद्ध इन दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। ३. हेतु-अलङ्कार। ४. उपमालङ्कार। ५. रूपक व उपमालंकार। ६. रूपक-अलंकार। ७. उपमालंकार। * 'अनवरतोदितविजमानकस्वनसेवोत्साहितसकलदिक्पालपताकिनीराढम्' इति क०।

समर्पितकशावशेषकदनकन्दुकविनोदविनीताजानेयजुहुराणनिवहाः समुपानीतकुलधनावधिविविधरत्नखचितकवचकाञ्चनसिचयनिचयाः प्रदर्शितनिजान्वयपरम्परायातापहसितसुरसुन्दरीविभ्रमरम्भोरुसंदर्भाः सिषेविरे धरणिपतयः ।

शौण्डीर्यधैर्यविजयार्जनसंकथासु यं वर्णयन्ति गुणिनो गुणरत्नराशिम् ।
औदार्यनिर्जितसुरद्रुमकामधेनुं यं च स्तुवन्ति जगतां पतयोऽधुनापि ॥ ४४ ॥

येन निःशेषविष्टपनिविष्टद्विष्टकण्टकोत्पाटनार्पितकरकृपाणेन निजभुजविजयार्जनजनितजगत्कल्याणपरम्परेण च नितान्तखातपर्यस्तपुरपर्यन्तधरणयः समदमातङ्गसंगतगेहगोचराः प्रहृष्टहरिविहाराकुलित*निकेतनवीथयः

राजाओं ने) ऐसे हाथियों के समूह, यशोर्घ महाराज के लिए भैंट रूप में उपस्थित किये थे, जो कि अङ्कुश की मर्यादा से संचालित किये जाते थे और जिन्होंने मद (गण्डस्थल-आदि स्थानों से वहनेवाला मदजल) रूप मद्य की सुगन्ध के आस्वाद-वश हर्षित हुए अथवा मत्त हुए भँवर-समूहों के झङ्कार शब्दों से बाजों के विस्तार द्विगुणित किये थे। इसीप्रकार जिन्होंने ऐसे कुलीन घोड़ों के समूह, भैंट में उपस्थित किये थे, जो कोड़ों की मर्यादा से संचालित किये जाते थे और संग्राम ही जिनकी गैंद क्रीड़ा थी एवं जो अच्छी तरह शिक्षित किये गए थे। एवं जिन्होंने पूर्व पुरुषों से संचित की हुई धनराशि और नाना प्रकार के रत्नजड़ित कवच (वख्तर) और सुवर्णमयी वस्त्रों के समूह भैंट किये थे और जिन्होंने अपनी कुल-श्रेणी में उत्पन्न हुई और अनोखे लावण्य-वश देवियों के विलास को तिरस्कृत करनेवाली उत्तम कन्याओं की श्रेणी भैंट की थी। कैसे हैं यशोर्घ राजा? जिसने प्रताप (दुःसह तेज) द्वारा समस्त सुरासुर लोकों (कल्पवासी, भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिषी देवों) के स्वामी कम्पित किये थे। जिसकी समस्त राजाओं की सेवा-समय (उत्सव संबंधी लग्न-समय) की शोभा, निरन्तर अत्यन्त उत्कृष्ट दिग्विजय सम्बन्धी नगाड़ों के शब्दों द्वारा सूचित की जाती थी[1]।

गुणवान् तीनलोक के स्वामी (इन्द्रादि), इस समय भी त्याग व विक्रम की ख्याति, धैर्य और दिग्विजय संबंधी कथानकों में जिस यशोर्घ महाराज का, जो कि गुणरूपरत्नों की राशि हैं और जिन्होंने अपनी उदारता द्वारा कल्पवृक्ष और कामधेनु को तिरस्कृत किया है, वर्णन व स्तवन करते हैं[2] ॥४४॥ समस्त पृथिवीमण्डल पर वर्तमान शत्रुभूत राजारूपी कण्टकों का उन्मूलन करने के लिए हस्त पर खड्ग धारण करनेवाले और अपनी भुजाओं द्वारा सम्पादन की हुई विजयलक्ष्मी से समस्त पृथिवीमण्डल की कल्याण-परम्परा उत्पन्न करनेवाले जिस 'यशोर्घ' महाराज के कुपित व प्रसन्न होनेपर उसके द्वारा ऐसे राजा लोग सदृशता (शब्द-समानता) में प्राप्त किये गए। कैसे हैं वे शत्रुभूत व मित्ररूप राजा लोग? जिस यशोर्घ महाराज के कुपित होनेपर जो नितान्त-खात-पर्यस्त-पुर-पर्यन्तधरणिशाली हुए। अर्थात्—जिन शत्रुभूत राजाओं के नगरों की बाह्यदेशवर्ती भूमियाँ विशेष रूप से विदीर्ण व भग्न (नष्ट) कर दीगईं थीं और जिसके प्रसन्न होनेपर मित्रराजा, नितान्त-खात-पर्यस्त-पुर-पर्यन्तधरणिवाले हुए। अर्थात्—जिसके प्रसन्न होने पर, मित्रराजाओं के नगरों की समीपवर्ती पृथिवियाँ, प्रचुर खाईयों से वेष्टित हुईं। जिसके क्रोध प्रकट करनेपर जो शत्रुभूत राजा, समद—मातङ्ग—संगत हुए। अर्थात्—अहङ्कारी चाण्डालों से संयुक्त हुए और जिसकी प्रसन्नता होनेपर जो मित्रभूत राजालोग, समद—मातङ्ग—संगत—गृहगोचर हुए। अर्थात्—जिनकी गृहसंचर-भूमियाँ मदोन्मत्त हाथियों से व्याप्त हुईं। जिसके रुष्ट होजाने पर जो शत्रुभूत राजा, प्रहृष्ट-हरि-विहार-आकुलित-निकेतनवीथि-शाली हुए। अर्थात्—जिन शत्रु राजाओं के गृहमार्ग, हर्षित हुए बन्दरों के पर्यटन से

---

१. अतिशय व उपमालंकार। २. उपमालंकार। * 'निकेतवीथयः' इति क०।

संचरत्खङ्गिप्रकाण्डसंकटदुर्गद्वारदेशाः प्रशान्तसमस्तकृत्यव्याप्तयः प्रथिततीर्थोपासनाविर्भवदाश्चर्यैश्वर्याः सविभ्रमभ्रान्तमहिषी-प्रचारभरितभवनभूमयः परपदाराधनप्रकटमहामन्त्रप्रभावाः

व्याप्त थे और जिसके प्रसन्न होनेपर जो मित्रभूत राजालोग, प्रहृष्ट-हरि-वि-हार-आकुलित-निकेतनवीथीवाले हुए। अर्थात्—जिन मित्रराजाओं की महल-वीथियाँ (पङ्क्तियाँ या मार्ग), हर्षित हुए घोड़ों से और विशिष्ट मोतियों की मालाओं से सुशोभित होरहीं थीं। जिसके कुपित होजाने पर जो शत्रुभूत राजालोग, संचरत्-खङ्गि-प्रकाण्ड-संकट-दुर्ग-द्वारदेशवाले हुए। अर्थात्—जिन शत्रु राजाओं के कोट के द्वारदेश, प्रवेश करते हुए गेंडों के समूहों से व्याप्त और [ऊजड़ होने के फलस्वरूप] मनुष्यों द्वारा प्रवेश करने के लिए अशक्य थे और जिसके प्रसन्न होनेपर, जो मित्रभूत राजालोग, संचरत्—खङ्गिप्रकाण्ड—संकट—दुर्ग—द्वारदेशवाले हुए। अर्थात्—जिनके कोट के दरवाजों का प्रवेश, संचार करते हुए श्रेष्ठ वीर पुरुषों के कारण संचार करने के लिए अशक्य था। जिसके कुपित होनेपर शत्रुभूत राजालोग, प्रशान्त—समस्त—कृत्यव्याप्ति-शाली हुए। अर्थात्—शान्त होचुकी हैं समस्त राजकार्यों की प्रवृत्तियाँ जिनकी ऐसे हुए और जिसके प्रसन्न होनेपर जो मित्रभूत राजालोग प्रशान्त-समस्त-कृत्य-व्याप्तिशाली हुए। अर्थात्—मैत्रीभाव के फलस्वरूप शान्त होचुकी हैं समस्त कृत्य व्याप्ति (भेद नीति-संबंधी व्याप्तियाँ) जिनकी ऐसे थे। जिसके कुपित होनेपर जो शत्रुभूत राजा, प्रथित—तीर्थ—उपासन—आविर्भवत्—आश्चर्य - ऐश्वर्यशाली हुए। अर्थात्—प्रसिद्ध तीर्थस्थानों (काशी व अयोध्या-आदि) में निवास करने से (राज्य छोड़कर तपश्चर्या करने के कारण) जिन शत्रु राजाओं को आश्चर्यजनक ऐश्वर्य (अणिमा व महिमा-आदि ऋद्धियाँ) प्रकट हुए थे और जिसके प्रसन्न होनेपर मित्रभूत राजालोग, प्रथित—तीर्थोपासन—आविर्भवद्—आश्चर्य—ऐश्वर्यशाली हुए। अर्थात्—विख्यात तीर्थों (मन्त्री, पुरोहित व सेनापति-आदि अठारह प्रकार की प्रकृतियों[1]) की सेवा से जिन्हें आश्चर्यजनक ऐश्वर्य (नार्पत्य—नृपतिपन) प्रकट हुआ था। जिसके कुपित होनेपर शत्रुभूत राजाओं के महलों की भूमियाँ, स-वि-भ्रम-भ्रान्त-महिषी-प्रचार-भरित—थीं। अर्थात्—काक-आदि पक्षियों के ऊपर गिरने के कारण भागी हुई भैंसों के प्रचार (चइ-भक्षण—खानेपीने के योग्य घास-आदि के भक्षण) से व्याप्त थीं और जिसके प्रसन्न होनेपर मित्रभूत राजाओं के महलों की पृथिवियाँ, सविभ्रम-भ्रान्त-महिषी-प्रचार-भरित थीं। अर्थात्—भ्रुकुटिक्षेप-(भोहों का विलास पूर्वक संचालन) सहित पर्यटन करती हुई पट्टरानियों के प्रचार (गमनागमन) से व्याप्त थीं। जिसके कुपित होने पर शत्रुभूत राजा लोग, परपद—आराधन—प्रकट—महामन्त्र—प्रभावशाली हुए। अर्थात्—जिनको मोक्ष की आराधना से महामन्त्र (पंच नमस्कार मंत्र या ॐ नमः शिवाय-आदि मंत्रों) का माहात्म्य प्रकट हुआ था। अर्थात्—जिनपर यशोर्घ महाराज ने कोप प्रकट किया, वे शत्रुभूत राजा लोग राज्य को छोड़कर वन में जाकर दीक्षित होकर तपश्चर्या करने में तत्पर हुए, जिसके फलस्वरूप उनमें मोक्षमार्ग की आराधना में हेतुभूत महामन्त्र का प्रभाव (अणिमा-आदि ऋद्धि) प्रकट हुआ एवं जिसके प्रसन्न होने पर मित्रभूत राजालोग, पर-पदाराधन-प्रकट-महामन्त्र-प्रभावशाली हुए। अर्थात्—जिनके पञ्चाङ्गमन्त्र[2]

१ 'खड्गप्रकाण्ड' इति क०। १. तथा चोक्तं राज्ञामष्टादशतीर्थानि यथा—सेनापतिर्गणको राजश्रेष्ठी दण्डाधियो मन्त्री महत्तरो बलवत्तरश्चत्वारो वर्णाश्चतुरङ्गबलं पुरोहितोऽमात्यो महामात्यश्चेति। यशस्तिलक की संस्कृत टीका से समुद्धृत पृ० २१६—सम्पादक। २. तथा चोक्तं—'सहायः साधनोपायो देशकोशबलाबलम्। विपत्तेश्च प्रतीकारः पञ्चाङ्गो मन्त्र इष्यते ॥१॥' अथवा प्रकारान्तरेण पञ्चाङ्गो मन्त्रः-कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपत् देशकालप्रविभागो विनिपातः प्रतीकारः कार्यश्चेति। सं० टी० पृ० २१७ से संकलित—

सकलजगद्व्यतिरिक्तोद्योगयोगोपायप्रसाधितप्रकृष्टात्मीयप्रवृत्तयः श्रीफलोपयोगातिशयविशेषवशीकृतविश्वविश्वंभराभृत्कटकाः प्रसीदद्नवद्यविद्यामन्दाकिनीप्रवाहविनिर्मूलितनिखिलसुखान्तरायतरवः स्वस्य रोषतोषयोः समतामानिन्यिरे भूमिभुजः।

येन व्यधायि द्वयमेव राज्ञा सुदुर्लभं प्रार्थितकामदेन। त्यागार्थिनां यावदयं जनोऽर्थी शौण्डीरशब्दः क्षितिपान्तरेषु ॥ ४९ ॥

(सहाय व साधनोपाय-आदि) का माहात्म्य, शत्रुओं द्वारा कीजानेवाली चरण-कमलों की सेवा से प्रकट होगया था। अर्थात्—जब यशोर्धमहाराज, जिन पर प्रसन्न होते थे, तब उन मित्रराजाओं के शत्रु उनके चरण-कमलों की सेवा करते थे, जिसके फलस्वरूप मित्र राष्ट्रों के पञ्चाङ्ग मंत्र का प्रभाव प्रकट हो-जाता था। जिसके कुपित होनेपर शत्रुभूत राजालोग, सकल-जगत्-व्यतिरिक्त-उद्योग-योग-उपाय-प्रसाधित-प्रकृष्ट-आत्मीय-प्रवृत्तिशाली थे। अर्थात्—जिसके रुष्ट होने पर शत्रुभूत राजाओं ने, लोकोत्तर उद्यमशाली समाधि (धर्मध्यान) की प्राप्ति के उपायों (वैराग्य-आदि) द्वारा उत्कृष्ट आत्मकल्याण की अनन्तज्ञानादि-लक्षणवाली प्रवृत्ति प्राप्त की थी और जिसके प्रसन्न होने पर मित्रभूत राजालोग सकल-जगत्-व्यतिरिक्त-उद्योग-योग-उपाय-प्रसाधित-प्रकृष्ट-आत्मीय-प्रवृतिशाली हुए। अर्थात्—जिसकी प्रसन्नता होने पर मित्र भूत राजाओं ने लोकोत्तर उद्योग (शत्रुओं पर चढ़ाई-आदि) किया जिसके फलस्वरूप उन्होंने योग (गैरमौजूद राज्यादि की प्राप्ति) के उपायों (साम, दान, दंड व भेदरूप साधनों) से अपनी भलाई करनेवाली ऐसी प्रवृत्ति स्वीकार की, जो प्रकृष्ट (असाधारण) थी। जिसके कुपित होने पर शत्रुभूत राजा लोग, श्रीफल-उपयोग-अतिशय-विशेष-वशीकृत-विश्व-विश्वंभराभृत्-कटकशाली हुए। अर्थात्—जिसके रुष्ट होजानेपर शत्रुभूत राजाओं ने बेल-फलों व पत्तों का विशेष भक्षण करने से विशेप रूप से समस्त पर्वतों के तट स्वीकार किये थे और जिसके प्रसन्न होनेपर मित्रभूत राजालोग, श्री-फल-उपयोग-अतिशय-विशेप-वशीकृत-विश्व-विश्वभंराभृत् कटकशाली थे। अर्थात्—जिन मित्रभूत राजाओं ने लक्ष्मी (राज्य लक्ष्मी व धनादि) के फलों (समस्त इन्द्रिय-सुखों) का अधिक आस्वादन (उपभोग) करने के हेतु राजाओं की सेनाएँ स्वीकार की थीं और जिसके कुपित होने पर शत्रुभूत राजा लोग, प्रसीदन्-अनवद्य-विद्या-मन्दाकिनी-प्रवाह-विनिर्मूलित-निखिलसुखान्तराय-तरुशाली थे। अर्थात्—प्रसन्नहोनेवाली निर्दोष विद्या (कर्म-मल कलङ्क से रहित और ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न होनेवाला केवलज्ञान) रूपी गङ्गाप्रवाह द्वारा, जिन्होंने सुखों के विघ्न-बाधा रूप वृक्ष जड़ से उखाड़कर फैंक दिये थे। अर्थात्—यशोर्घराजाके कोप-भाजन शत्रुभूत राजा वन में जाकर दीक्षित होजाते थे, जिसके फलस्वरूप वे, ज्ञानावरण-आदि घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न होनेवाली निर्दोष केवलज्ञान रूप विद्या की गङ्गा-पूर से उन विघ्न-बाधा रूप वृक्षों को जड़ से उखाड़कर फैंक देते थे, जो कि परमानन्द-रूप मोक्षसुख की प्राप्ति में विघ्न बाधाएँ उपस्थित करते थे। एवं जिसके प्रसन्न होनेपर मित्रभूत राजा लोग प्रसन्न होनेवाली निर्दोष विद्या (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता व दंडनीति रूप राजविद्या) रूपी गंगा के प्रवाह (निरन्तर प्रवृत्ति) द्वारा उन विघ्नरूप वृक्षों (शत्रु-आदि) को जड़ से उखाड़कर फैंक देते थे, जो कि उनके समस्त इन्द्रिय-सुखों में विघ्नबाधाएँ उपस्थित करते थे[1]।

याचकों के लिए इच्छित वस्तु देनेवाले जिस यशोर्घ महाराज ने निम्नप्रकार दो वस्तुएँ ही दुर्लभ की थीं। १—दानियों को समस्त पृथिवी-मंडल पर याचक मनुष्य की प्राप्ति दुर्लभ थी; क्योंकि यह समस्त पृथिवी-मण्डलवर्ती याचकों के मनोरथ पूर्ण कर देता था। २—दान और पराक्रम में प्रसिद्ध हुए 'शौण्डीर' शब्द की प्राप्ति भी दुर्लभ थी; क्योंकि समस्त भूमण्डल पर इसके सरीखा दानवीर व पराक्रमशाली कोई नहीं था[2] ॥ ४५ ॥

१. श्लेष व उपमालङ्कार। २. निन्दास्तुति-अलङ्कार।

यस्मै सच्चरित्रपवित्रकीर्तिकौमुदीसमासादितप्रीतिप्रसरः सर्वस्वमिव स्थैर्यं मन्दरः, सरित्पतिर्गाम्भीर्यम्, अनङ्गः सौभाग्यम्, अमरगुरुर्नीतिशास्त्ररहस्यम्, सुरतरुः सेव्यत्वम्, अवनिः क्षान्तिम्, अनङ्गश्रीर्महत्त्वम्, सरस्वती सिद्धिं वाचि, लक्ष्मीर्निदेशकर्मणि, चिन्तामणिर्मनसि, कुलदेवी वपुषि, वैवस्वतः सकलजनवश्यतायाम्, एवमन्येऽपि वरुणवैश्रवणप्रभृतयः कुलधनानीव स्वभागधेयानि स्पर्शयामासुः।

यस्मै प्रजापालनवर्णभाजे ददुः सुराः स्वांशममी नृपाय। ऐश्वर्यमिन्द्रस्तपनः प्रतापं कलाः कलावांश्च बलं बलालः ॥ ४६ ॥

यस्मादभूदयं लोकश्चतुर्वर्गफलोदयः। अन्यायभुजगाभोगगारुत्मतमणेर्नृपात् ॥ ४७ ॥

नमोभूभोगिलोकार्हैः स्रोतोभिर्भुवनत्रये। ततान भूभृतो यस्मात् कीर्तिस्त्रिपथगापगा ॥ ४८ ॥

जिसके प्रशस्त-चारित्र[1]—सदाचार (परनारी के प्रति मातृ-भगिनीभाव, उदारता, न्यायमार्ग में प्रवृत्ति, अप्रियवादी के प्रति प्रिय वचनों का व्यवहार व परदोष-श्रवण में बहिरापन-आदि) की पवित्र कीर्तिरूपी चन्द्रिका से विशेष प्रसन्न हुए सुमेरु पर्वत ने जिसके लिए अपना सर्वस्वधन सरीखा स्थैर्यगुण (निश्चलता—न्यायमार्ग पर निश्चल रहना), समुद्र ने गाम्भीर्य (गम्भीरता), कामदेव ने सौभाग्य (सब को प्रिय प्रतीत होना), बृहस्पति ने नीतिशास्त्र का रहस्य और कल्पवृक्ष ने सेव्यत्व (आश्रय किये जाने की योग्यता) प्रदान किया था। इसीप्रकार जिसके लिए भूमिदेवता ने अपना क्षमागुण, आकाशलक्ष्मी ने महत्ता, सरस्वती (द्वादशाङ्गवाणी) ने वचनसिद्धि, लक्ष्मी ने निदेशकर्म में सिद्धि, चिन्तामणि ने मानसिकसिद्धि, कुलदेवी ने शारीरिक सिद्धि और यमदेवता ने समस्त लोगों की वशीकरणसिद्धि प्रदान की थी एवं दूसरे भी वरुण और कुबेर-आदि देवताओं ने जिसके लिए पूर्वपुरुषों द्वारा संचित धन-राशि सरीखे अपने अपने प्रशस्त गुण (अगम्यत्व—जिसका कोई उल्लङ्घन न कर सके व अक्षयनिधि-आदि) प्रदान किये थे[2]।

प्रजा-संरक्षण रूप यश से विभूषित जिस यशोर्घ राजा के लिए इन प्रत्यक्षीभूत निम्नप्रकार के देवताओं ने अपना-अपना अंश (प्रशस्तगुण) प्रदान किया था। उदाहरणार्थ—जिसके लिए इन्द्र ने अपना ऐश्वर्य, सूर्य ने प्रताप, चन्द्रमा ने कलाएँ और वायुदेवता ने शक्ति प्रदान की थी[3] ॥ ४६ ॥ अन्याय रूप सर्प के फणा-मण्डल के संकोचनार्थ (नष्ट करने के लिए) गारुत्मत-मणि (विषापहार-मणि) सरीखे जिस यशोर्घ नरेन्द्र से यह समस्त दृष्टिगोचर मनुष्य लोक, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को सेवन करता हुआ उनके फल (लौकिक व पारलौकिक सुख) प्राप्त करता था[4] ॥ ४७ ॥ जिसप्रकार भूभृत् (हिमालय-पर्वत) से प्रवाहित हुई मन्दाकिनी (गंगा नदी) तीनलोक द्वारा पूज्य अपने प्रवाहों से लोक में विस्तृत या प्रसिद्ध होती है, उसीप्रकार जिस भूभृत् (यशोर्घराजारूपी हिमालय) से प्रवाहित हुई कीर्तिरूपी मन्दाकिनी, ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोकवर्ती प्राणियों द्वारा पूज्य अपने यशरूप प्रवाहों से तीन लोक में विस्तार को प्राप्त हुई[5] ॥ ४८ ॥

१. तथा चोक्तम्—'न ब्रूते परदूषणं परगुणं वक्त्यल्पमप्यन्वहं संतोषं वहते परर्द्धिषु परं वार्तासु धत्ते शुचम्। स्वल्पाघं न करोति नोज्झति नयं नौचित्यमुल्लङ्घयत्युक्तोऽप्यप्रियमप्रियं न रचयत्येतच्चरित्रं सताम् ॥ १ ॥' अर्थ—जो दूसरे के दोषोंपर दृष्टि न डालता हुआ उसके अल्प गुण की भी प्रति दिन प्रशंसा करता है। जो दूसरों की बढ़ती हुई सम्पत्ति देखकर अत्यन्त संतुष्ट होता हुआ दूसरे की दुःख की वार्तें जानकर शोकाकुल होजाता है। जो थोड़े से भी (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह) में प्रवृत्त न होकर नीति-मार्ग व धार्मिक मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता। एवं जिसके प्रति अप्रिय—कटुक—वचन कहे जाने पर भी जो कभी थोड़ा सा भी अप्रिय वचन नहीं बोलता, यह सब सज्जन पुरुषों का चरित्र है ॥१॥ २. दीपकालंकार। ३. समुच्चयालंकार। ४. रूपकालंकार। ५. रूपक व श्लेषालंकार।

यस्मात् पूर्वे परे भूपा न गुणैरतिशिश्यिरे । मध्यमोऽपि स्मृतस्तेषामुत्तमः प्रथमश्च सः ॥ ४९ ॥

अन्य एवाचलः कश्चिदेष नूनं महीपतिः । प्रवभूव परं यस्माल्लक्ष्म्या सह सरस्वती ॥ ५० ॥

यस्मादशेषगुणरत्ननिधेर्महीशादेते गुणा जगति पप्रथिरे महान्तः ।
शौर्यं हरावमरधेनुषु कामदत्वं गाम्भीर्यमम्बुधिषु भास्वति च प्रतापः ॥ ५१ ॥

यस्य शराभ्यासावसरेषु बद्धमुष्टिता न वसुविश्राणनेषु, पत्त्रभङ्गेषु भुजगता न हृषीकविलसितेषु, भूषणेषु विकृतिदर्शनं न मनोविजृम्भितेषु, मदगजेषु, परप्रणेयता न कार्यानुष्ठानेषु, विलासिनीगतिषु स्खलितता न प्रतापेषु, ‡करिकर्णेषु चपलता न कर्मारम्भेषु ।

भूतपूर्व (पूर्व में हुए) व भविष्य में होनेवाले राजा लोग, जिस यशोर्घमहाराज से गुणों से विशिष्ट अतिशयवान् (अधिक गुणशाली) नहीं हुए, इसलिए यह उनमें मध्यम (जघन्य) होता हुआ भी सर्वोत्कृष्ट व प्रथम (प्रमुख) स्मरण किया गया था। यहाँपर विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि जो राजाओं में मध्यम (जघन्य) है, वह उत्कृष्ट किसप्रकार होसकता है ? इसका समाधान यह है कि जो उनमें मध्यम (मध्यवर्ती) होता हुआ अपि—निश्चय से सर्वोत्कृष्ट व प्रमुख था[1] ॥ ४६ ॥ यह यशोर्घराजा निश्चय से एक ऐसा अपूर्व (अनौखा) पर्वत था, जिससे लक्ष्मी के साथ सरस्वती रूप नदी प्रवाहित हुई। भावार्थ—लोक में जिस पर्वत से सरस्वती नदी प्रवाहित होती है, उससे लक्ष्मी नहीं निकलती परन्तु प्रस्तुत यशोर्घराजा रूप पर्वत से लक्ष्मी के साथ सरस्वती रूपी नदी भी प्रवाहित हुई; अतः वास्तव में यह अनौखा पर्वत था[2] ॥५०॥ पृथिवी के स्वामी जिस राजा से, जो कि समस्त गुण रूप रत्नों की अक्षयनिधि था, निम्नप्रकार प्रत्यक्षीभूत महान् गुण संसार में विस्तृत व विख्यात हुए। उदाहरणार्थ—श्रीनारायण में अपूर्व वीरता, कामधेनुओं में अभीष्ट फल देने की शक्ति, समुद्र में गाम्भीर्य, और सूर्य में प्रताप प्रसिद्ध हुआ। भावार्थ—श्रीनारायण- आदि में अपूर्व वीरता-आदि महान् गुण इसी राजा से ही प्राप्त किये हुए होकर लोक में विस्तृत व विख्यात हुए; क्योंकि यह समस्त गुण रूप रत्नों की अक्षयनिधि था[3] ॥ ५१ ॥

धनुष पर बाण चढ़ाने के अवसरों पर जिसकी बद्धमुष्टिता (हाथ की मुट्ठी बाँधना) थी परन्तु याचकों के लिए धन देने के अवसरों पर बद्धमुष्टिता (कृपणता) नहीं थी। जिसकी भुजगता (अपनी भुजाओं पर कर्पूर व चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं का लेप) पत्त्र रचनाओं (लेपन-क्रियाओं) में थी। परन्तु इन्द्रिय-चेष्टाओं में भुजगता (विषमता—चंचलता) नहीं थी। अर्थात्—जितेन्द्रिय था। जिसका विकृतिदर्शन (नानाभाँति के आकारों का विलोकन) आभूषणों में था परन्तु जिसके चित्त प्रसारों में विकृतिदर्शन (कुचेष्टा) नहीं था। अर्थात्—नानाप्रकार की आकृतिवाले कर्ण-कुण्डल-आदि आभूषणों से अलंकृत होते हुए भी जिसकी मनोवृत्ति कुचेष्टा-युक्त नहीं थी। जिसकी परप्रणेयता (हस्तिपक-प्रेरणता—महावतों द्वारा लेजाया जाना) हाथियों में थी परन्तु जिसके कर्तव्यपालन में परप्रणेयता (पराधीनता) नहीं थी। अर्थात्—जो कर्त्तव्यपालन में दूसरों की अपेक्षा न करने के कारण स्वाधीन था। जिसकी स्खलितता (शुक्रधातु का त्याग) कमनीय कामिनियों के साथ रतिविलास में थी। अर्थात्—जो अपनी रानियों के साथ रतिविलास करने में वीर्यधातु का क्षरण करता था परन्तु जिसकी प्रतापशक्ति (सैनिक शक्ति व खजाने की शक्ति) में कदापि स्खलितता—क्षीणता नहीं थी। इसीप्रकार चपलता (चंचलता) जिसके केवल हाथियों के कानों में थी। अर्थात्—जिसके हाथियों के कान चंचल थे परन्तु जो कर्तव्य आरम्भ

‡ 'चामरेषु' इति क० । १. उपमालंकार । २. व्यतिरेक व रूपकालंकार । ३. समुच्चयालंकार ।

पातालवेलावनवारिवासविश्वंभराभृद्भ्रमणाच्चिराय। खिन्नेव कीर्तिः क्षितिपस्य यस्य विश्राम्यति स्म त्रिदिवालयेषु ॥५२॥

यस्मिन्दिग्जैत्रयात्राकृतकुतूहले च बभूवुर्महावाहिन्यः संध्याचमनकुल्या इव, वेलावनानि पुष्पावचयभूमय इव, पयोधयो जलकेलिदीर्घिका इव, द्वीपान्तराणि प्रतिवेशनिवेशा इव, कुलशिखरिणः क्रीडाचला इव, दिक्पालभवनान्युपकार्या इव, ककुम्कुम्भिस्तम्भाः प्रशस्तिशिला इव।

यस्मिन् महीं शासति भूमिनाथे बभूवुरल्पे किल कल्पलोकाः।
मनीषितावाप्तमनोरथानां स्वर्गाय यस्मान्न मनः प्रजानाम् ॥ ५३ ॥

अहो महीपाल नृपस्य तस्य त्वद्वंशजा चन्द्रमतिः प्रियासीत्। पतिव्रतत्वेन महीसपत्न्याः प्राप्तोपरिष्टात्पदवी यया हि ॥ ५४ ॥

साभूद्रतिस्तस्य मनोभवस्य धर्मावनिर्धर्मपरायणस्य। गुणैकधाम्नो गुणरत्नभूमिः कलाविनोदस्य कलाप्रसूतिः ॥ ५५ ॥

करके उसे छोड़ देने में चपलता—चंचलता—नहीं करता था[1]। नीतिनिष्ठों[2] ने भी कर्तव्य-पालन के विषय में उक्त बात कही है।

जिस यशोर्घ राजा की कीर्ति नागलोक, व्यन्तरों के निवास स्थान, असंख्यात समुद्र और कुलाचलों पर चिरकाल पर्यन्त पर्यटन करने के कारण थक चुकी थी, इसलिए ही मानों—वह दीर्घकाल तक देवताओं अथवा स्वर्ग-विमानों में विश्राम करने लगी[3] ॥५२॥

जब यशोर्घ महाराज ने दिग्विजय करने का कौतूहल किया तब उनके [प्रताप के प्रभाव से] गङ्गा व यमुना-आदि महानदियाँ, सामायिक समय-संबंधी आचमन करने की कृत्रिम नदियों-सरीखीं होगई एवं समुद्र के तटवर्ती बगीचे, फूल चुनने की पुष्प-वाटिकाओं जैसे, चारों समुद्र जलक्रीड़ा करने की बावड़ियों सरीखे, दूसरे द्वीप पड़ोसियों के गृहाङ्गण-सरीखे, हिमाचल व विन्ध्याचल-आदि कुलाचल क्रीड़ा-पर्वतों के सदृश, इन्द्रादिकों के भवन शिविरस्थानों के तुल्य और दिग्गजेन्द्रों के बन्धन-स्तम्भ प्रशस्ति-शिलाओं (प्रसिद्ध लेखन-पट्टों) सरीखे हुए[4] ॥

जब यशोर्घमहाराज पृथिवी पर शासन करते थे तब निश्चय से प्रजा के लिए स्वर्गलोक भी तुच्छतर होगए। क्योंकि मनोरथों के अनुकूल मनोवाञ्छित (मनचाही) वस्तुएँ प्राप्त करनेवाले प्रजाजनों का मन स्वर्ग-प्राप्ति के हेतु प्रवृत्त नहीं होता था[5] ॥५३॥

हे मारिदत्त महाराज! उस 'यशोर्घ' राजा की आपके वंश में उत्पन्न हुई 'चन्द्रमति' नाम की ऐसी पट्टरानी थी, जिसने निश्चय से पतिव्रत-धर्म के माहात्म्य से पृथिवीरूपी सपत्नी (सौत) से उच्च पद प्राप्त किया था[6] ॥ ५४ ॥ वह चन्द्रमति प्रिया, उस यशोर्घ महाराज रूप कामदेव की रति थी और धर्म में तत्पर रहनेवाले महाराज की धर्मभूमि थी एवं गुणों के अपूर्व गृहरूप महाराज की गुणरूप रत्नों की खानि थी तथा कलाओं की प्राप्ति का कौतूहल करनेवाले प्रस्तुत राजा की कलाओं की उत्पत्ति थी[7] ॥ ५५ ॥

---

१. परिसंख्या व श्लेषालंकार।

२. तथा चोक्तं—'नारभ्यते किमपि विघ्नभयेन नीचैः संजातविघ्नमध्यमाश्च परित्यजन्ति संछिद्यमानतनवोऽपि समाप्तविघ्ना नारब्धमुत्तमजनास्तु परित्यजन्ति ॥' संस्कृत टीका पृ० २२१ से संकलित—संपादक

अर्थात्—संसार में नीच पुरुष वे हैं, जो विघ्न आने के डर से कोई भी कार्य आरम्भ नहीं करते और अधम पुरुष वे हैं, जो कि विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होने पर आरम्भ किया हुआ कार्य छोड़ बैठते हैं एवं उत्तम पुरुष वे हैं, जिनका शरीर काटे जाने पर भी (अनेक कष्टों से क्लेशित होते हुए भी) विघ्न बाधाओं को नष्ट करते हुए आरंभ किया हुआ कार्य कदापि नहीं छोड़ते। ३. उत्प्रेक्षालंकार। ४. दीपक व उपमालंकार। ५. हेतु-अलंकार। ६. रूपकालङ्कार। ७. दीपकालङ्कार व रूपक एवं उपमालङ्कार।

शीलेन दृष्टान्तपदं जनानां निदर्शनत्वं पतिसुव्रतेन। पत्युर्निदेशावसरोपचारादाचार्यकं या च सतीषु केमे ॥ ५६ ॥

रूपं भर्तरि भावेन सौभाग्यं विनयेन च। कलावत्त्वमृजुत्वेन भूषयामास यात्मनः ॥ ५७ ॥

अपि च सत्यपि महति शुद्धान्ते या दयेव धर्मस्य, नयपद्धतिरिव स्याद्वादस्य, नीतिरिव राज्यस्य, क्षान्तिरिव तपसः, अनुत्सेकस्थितिरिव श्रुतस्य, कीर्तिरिव जीवितव्यस्य, विजयवैजयन्तीव मनसिजस्य, माकन्दमञ्जरीव पुष्पाकरस्य, कल्पलतेव त्रिदिवद्रुमस्य, कल्याणपरम्परेव पुण्योदयदिवसस्य, तस्य महीपतेर्मतिदेवतायाः प्रणयप्रासादाधिष्ठानभूमिरासीत्।

यस्याश्च भर्तुः श्रीर्विलासवयस्येव, कीर्तिः प्रसाधनसखीव, सागराम्बरा मनोरथानुचरीव, सरस्वती विनोदभुजिष्येव, भूषणलक्ष्मीर्निजरूपावलोकनादर्शकेलिरिव भवन्ती स्त्रीत्वेनैव सापत्न्यमभजत्, न पुनः प्रणयप्रसरखण्डनेन।

एवं तयोर्मरुदेवीनाभिराजमहाराजयोरिव परस्परानुबन्धपेशलं त्रिवर्गफलमनुभवतोरेकदा पुत्रप्रार्थनमनोरथावसथस्य तीर्थकालपालनपथ्यस्य प्रकाशितपरस्परप्रीतिरसस्य दिवसस्य ब्राह्मसमयावर्ते मुहूर्ते मिथःसंभाषणकथः प्रावर्ततायमुदन्तः—

जो चन्द्रमति महादेवी, शील (ब्रह्मचर्य) और पतिव्रत धर्म के पालन करने में लोगों के लिए उदाहरण-भूमि थी। अर्थात्—विद्वान्-लोग महिला-संसार को शील व पतिव्रत धर्म में स्थापित करने के लिए जिस चन्द्रमति महादेवी का दृष्टान्त अपनी वक्तृत्वकला व लेखनकला के अवसरों पर उल्लेख करते थे एवं जिसने पतिदेव की आज्ञा का तत्काल पालन करने में साध्वी (पतिव्रता) स्त्रियों में आचार्य-पद प्राप्त किया था। अर्थात्—जो सती व साध्वी स्त्रियों में शिरोमणि थी[1] ॥ ५६ ॥ जिसने पतिदेव में अनुराग द्वारा, अपना अनोखा लावण्य (सौन्दर्य) विभूषित किया था, इसीप्रकार विनय द्वारा सौभाग्य और सरलता द्वारा अपना कला-चातुर्य अलङ्कृत किया था[2] ॥ ५७ ॥

विशेषता यह है—यद्यपि प्रस्तुत यशोर्घ महाराज के अन्तःपुर (रनवास) में अधिक संख्या में (हजारों) रानियाँ थी तथापि उनमें यह चन्द्रमति महादेवी उस राजा की बुद्धि रूप देवता के प्रेमरूप प्रासाद (महल) की उसप्रकार अधिष्ठान-भूमि (मूलभूमि) थी जिसप्रकार दया (प्राणिरक्षा) धर्मरूप महल की अधिष्ठान भूमि होती है। जिसप्रकार नैगम-आदि नयों की पद्धति (मार्ग) अनेकान्त रूप महल की मूलभूमि होती है। जिसप्रकार नीति (न्याय मार्ग) राज्यरूप भवन की अधिष्ठान भूमि होती है। जिसप्रकार क्षमा तपश्चर्या की, विनय-प्रवृति शास्त्रज्ञान की व कीर्ति जीवन की अधिष्ठान भूमि होती है। जिसप्रकार तीनों लोकों पर विजयश्री प्राप्त करने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई कामदेव की विजयपताका, उसके भवन की अधिष्ठान भूमि होती है व जिसप्रकार आम्र-मञ्जरी वसन्त ऋतु की अधिष्ठान भूमि होती है एवं जिसप्रकार कल्पवल्ली कल्पवृक्ष की और जिसप्रकार कल्याण-श्रेणी (पुण्य-समूह) पुण्योदय वाले दिन की अधिष्ठान भूमि होती है[3]। जिस चन्द्रमति महादेवी के पतिदेव (यशोर्घ महाराज) की लक्ष्मी ने रतिविलास में सहायता देनेवाली सखी-सी होकर, कीर्ति ने सैरन्ध्री (वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करनेवाली सखी) सरीखी होती हुई, पृथिवी ने उसकी मनोरथ-पूर्ति करनेवाली किङ्करी-सी होकर, सरस्वती ने कौतूहल में सहायता पहुँचानेवाली भुजिष्या[4] (किङ्करी वेश्या) सरीखी होकर व आभूषण लक्ष्मी ने अपने रूप-निरीक्षण में दर्पण-क्रीड़ा जैसी होकर, केवल स्त्रीत्व के कारण से ही उसका सपत्नीत्व (सौत होना) स्वीकार किया था, न कि प्रेम-प्रसार के भङ्ग द्वारा[5]।

इसप्रकार वे दोनों दम्पती (चन्द्रमति पट्टरानी और यशोर्घ महाराज) जब मरुदेवी और नाभिराज-सरीखे धर्म, अर्थ, और काम इन तीनों पुरुषार्थों का फल परस्पर की बाधारहित सेवन कर रहे थे तब एक समय ऐसे दिन के, ब्राह्म मुहूर्त में जो कि पुत्र-प्राप्ति की याचनारूप मनोरथ का स्थान था और जिसमें चौथे दिन

१. उपमा व दीपकालङ्कार। २. दीपकालङ्कार। ३. दीपक व उपमालंकार। ४. 'भुजिष्या गणिका' इति देश्यात्। सं० टी० से संकलित— ५. दीपक व उपमालंकार।

आखण्डलः किल सुतत्वमुपागतो मे विद्याः प्रसाध्य सुरलोकगुरूपदिष्टाः।
मत्केतने तनयजन्ममहोत्सवश्रीः कामं व्यधायि च जनैः किल मोदमानैः ॥ ५८ ॥
इत्थं मया किमपि देव निशावसाने स्वप्ने व्यलोकि तव संततिहेतुभूतम्।
आकर्ण्य तन्नरपतिर्निजगाद देवीं पुत्रोऽचिरात्तव भविष्यति कामितश्रीः ॥ ५९ ॥

ततः किल। अवर्धि मध्येन सहाश्रितानां मनोरथैश्चन्द्रमतेः सुदत्याः। मुखप्रदेशे च बभूव कृष्णं कुचद्वयं वैरिबलेन सार्धम् ॥६०॥
सिंहानां शौर्यकेलीषु चतुरम्भोधिवीक्षणे। मत्तद्विपविनोदेषु सा बबन्ध मनः किल ॥ ६१ ॥
यस्माद्गुणाः पार्थिवलोकभाजः प्रायेण गर्भाश्रयिणो बभूवुः। तस्मात्किलासीत्पृथिवीगुणेषु तस्याः परं दोहदमायताक्ष्याः ॥६२॥
अन्यैव काचिद्वदनेन्दुलक्ष्मीरन्यैव नेत्रोत्पलकान्तिरासीत्। अन्यैव तस्याः कुचकुम्भशोभा मणेरिवान्तर्धृतरागवर्तेः ॥ ६३ ॥
गर्भभर्मणि महीपतिराप्तानादिदेश भिषजः किल तस्याः। चित्तवित्तसदृशं विधिमुच्चैर्निर्ममे तदुचितं च स देव्याः ॥ ६४ ॥

स्नान कीहुई चन्द्रमति महादेवी के साथ प्रस्तुत राजा द्वारा रतिविलास किया गया था एवं पारस्परिक दाम्पत्य प्रेम का अनुभव प्रकट किया गया था, परस्पर की संभाषण कथा-युक्त निम्नप्रकार का वृतान्त हुआ[१]।

चन्द्रमति महादेवी ने कहा—'हे पतिदेव! मैंने पिछली रात्रि में स्वप्नावस्था में आपकी संतान का निमित्त (सूचित करनेवाला चिन्ह) कुछ इसप्रकार स्वप्न देखा है—कि निश्चय से स्वर्ग का इन्द्र, बृहस्पति द्वारा कही हुई विद्याओं (व्याकरण, साहित्य, न्याय, धर्मशास्त्र व संगीत-आदि कलाओं) को पढ़कर मेरा पुत्र हुआ है और जिसके फलस्वरूप लोगों ने आनन्द-मग्न होते हुए मेरे महल में पुत्रजन्म के महोत्सव की शोभा यथेष्ट सम्पन्न की।' उक्त वात को सुनकर यशोर्घ महाराज ने अपनी प्रिया से कहा 'हे देवी! भविष्य में राज्यलक्ष्मी को भोगनेवाला प्रतापी पुत्र आपके शीघ्र होगा"[२] ॥५८-५९॥ पश्चात् उक्त स्वप्न को सार्थक करने के लिए ही मानों—प्रस्तुत चन्द्रमति महादेवी गर्भवती हुई। सुन्दर दन्त-पङ्क्तिवाली उस महादेवी का उदर आश्रितों के मनोरथों के साथ बृद्धिंगत होने लगा और उसके दोनों कुचकलश (स्तन-युगल) चूचुकस्थानों पर शत्रुओं की सैन्यशक्ति के साथ कृष्ण वर्णवाले होगए[३] ॥ ६० ॥ उस चन्द्रमति महादेवी का दोहला (दो हृदयों से उत्पन्न हुई इच्छा—गर्भावस्था की इच्छा) निश्चय से सिंहों की शूरता-युक्त क्रीड़ाओं में और चारों समुद्रों के देखने में तथा मदोन्मत्त हाथियों के साथ क्रीड़ा करने में हुआ[४] ॥ ६१ ॥ इस कारण से कि पार्थिव-गुण—राजाओं में वर्तमान गुण (पृथिवी पर शासन करना-आदि) राज-पुत्रों में प्रायः करके गर्भावस्था से ही वर्तमान रहते हैं, इसलिए ही मानों—उस विशाल नेत्रोंवाली चन्द्रमति महादेवी का दोहला (गर्भकालीन-इच्छा) केवल पार्थिव-गुणों (पृथिवी-गुणों—मिट्टी का भक्षण करना) में होता था। भावार्थ—प्रस्तुत महारानी चन्द्रमति का गर्भस्थ शिशु, भविष्य में पृथिवी का उपभोग करेगा, इसलिए ही मानों—उसे पृथिवी (मिट्टी) के भक्षण करने का दोहला होता था; क्योंकि राजाओं के गुण उनके पुत्रों में गर्भ से ही हुआ करते हैं[५] ॥ ६२ ॥ उस गर्भिणी चन्द्रमति महादेवी के मुखचन्द्रकी कान्ति कुछ अनिर्वचनीय (कहने के लिए अशक्य) और अपूर्व ही होगई थी एवं उसके दोनों नेत्ररूप कुवलयों (चन्द्रविकासी कमलों) की कान्ति भी कुछ अपूर्व ही होगई थी एवं उसके कुचकलशों (स्तन-कलशों) की कान्ति भी उस प्रकार अपूर्व होगई थी जिसप्रकार मध्य में स्थापित किये हुए नीले पत्ते-आदि श्याम पदार्थ के संयोगवाले मणि की कान्ति अपूर्व (शुभ्र और श्याम) होजाती है[६] ॥ ६३ ॥ उक्त बात को जानकर यशोर्घ राजा ने अपनी महारानी के गर्भ-पोषणार्थ हितैषी वैद्यों को आज्ञा दी और गर्भ-बृद्धि के योग्य और अपनी मानसिक इच्छा व श्री के अनुकूल संस्कार विधि (धृति संस्कार) अत्यन्त उल्लास पूर्वक स्वयं विशेषता के साथ

१. उपमालंकार। २. युग्मम्-जाति-अलंकार। ३. सहोक्ति-अलंकार। ४. दीपकालंकार। ५. हेतु-अलंकार। ६. दीपक व उपमालंकार।

इत्थं मिथोऽवोचदसौ महीक्षिन्मनस्विनीं तां किल सत्त्वशान्त्यै । मासोऽष्टमात्पूर्वमिदं त्वयोच्चैर्हासादिकं कर्म न देवि कार्यम् ॥६५॥
तैस्तैर्विधानैर्दृययत्नपूर्वैः स सूतिकासद्म चकार भूपः । मासे पुनर्वैजननेऽवतीर्णे तस्याः प्रसूतेः समयः किलासीत् ॥ ६६ ॥
अन्यत्र राहोः शुभदैरशेषैर्ग्रहैः प्रशस्तेऽवसरे बभूव । अस्यां पुरा जन्मनि चन्द्रमत्यां ममात्मलाभः परमोत्सवेन ॥ ६७ ॥

नृत्यद्वृद्धपुरन्ध्रिगेयसुभगाः सोल्लासहल्लाननाः खेलद्वामनकामिनीप्रियभुवः सानन्दधात्रीकुलाः ।
पिष्टापीडविडम्ब्यमानजरतीसीमन्तकान्ताङ्गणास्तूर्योघावरवैः समं किल बभुः शुद्धान्तमध्यास्तदा ॥ ६८ ॥

सम्पन्न की। भावार्थ—भगवज्जिनसेनाचार्य[1] ने भी गर्भाधान-आदि संस्कार-विधि का महत्वपूर्ण प्रभाव बताते हुए कहा है कि जिसप्रकार विशुद्ध खानि से उत्पन्न हुआ मणि संस्कार-विधि (शाणोल्लेखन-आदि) से अत्यन्त उज्वल व कान्तिशाली होजाता है उसीप्रकार यह आत्मा भी क्रिया (गर्भाधानादि संस्कार) व मन्त्रों के संस्कार से अत्यन्त निर्मल व विशुद्ध होजाता है एवं जिसप्रकार सुवर्ण-पाषाण उत्तम संस्कार क्रिया (छेदन, भेदन व अग्निपुट-पाक-आदि) से शुद्ध होजाता है, उसीप्रकार भव्य पुरुष भी उत्तम क्रियाओं—संस्कारों—को प्राप्त हुआ विशुद्ध होजाता है। वह संस्कार धार्मिक ज्ञान से उत्पन्न होता है और सम्यग्ज्ञान सर्वोत्तम है, इसलिए जब यह पुण्यवान् पुरुष साक्षात् सर्वज्ञदेव के मुखचन्द्र से सम्यग्ज्ञानामृत का पान करता है तब वह सम्यग्ज्ञान रूप गर्भ से संस्कार रूप जन्म से उत्पन्न होकर पाँच अणुव्रतों (अहिंसाणुव्रत व सत्याणुव्रत-आदि) तथा सात शीलों (दिग्व्रत-आदि) से विभूषित होकर 'द्विजन्मा' कहलाता है। प्राकरणिक प्रवचन यह है कि यशोर्घ महाराज ने अपनी रानी के गर्भस्थ शिशु में नैतिक व धार्मिक संस्कारों का बीजारोपण करने के उद्देश्य से सातवें महीने में धृतिसंस्कार[2] अत्यन्त उल्लास पूर्वक सम्पन्न किया था[3] ॥६४॥ प्रस्तुत यशोर्घ राजा ने गर्भस्थ जीव की शान्ति-हेतु अपनी मानवती प्रिया से एकान्त में इसप्रकार निश्चय से कहा—हे प्रिये ! तुम्हें आठ महीने तक पहिले की तरह जोर से हँसी-मजाक वगैरह नहीं करनी चाहिए। अर्थात्—तुम्हें जोर से हँसी-मजाक-आदि करके गर्भस्थ शिशु के संरक्षण व वृद्धि होने में बाँधाएँ उपस्थित नहीं करनी चाहिए[4] ॥६५॥ उस यशोर्घ महाराज ने ऐसे समुचित बिधानों से, जिनमें मुख्यता से गर्भिणी व गर्भस्थ शिशु की रक्षा के उपाय पाये जाते हैं, प्रसूति-गृह बनाया, तत्पश्चात् नवमाँ महीना आने पर उस चन्द्रमति महारानी का प्रसूति का अवसर प्राप्त हुआ[5] ॥६६॥ हे मारिदत्त महाराज ! केवल राहु ग्रह को छोड़कर अन्य दूसरे कल्याणकारक समस्त सूर्य-आदि आठ ग्रहों से प्रशस्त बेला (समय) की शुभ लग्न में इस 'अभयमति' से, जो कि पूर्वजन्म में चन्द्रमति महारानी थी, मेरा जन्म अत्यन्त आनन्द के साथ हुआ[6] ॥६७॥

उस समय (यशोधर महाराज के जन्मोत्सव के अवसर पर) ऐसे अन्तःपुर के प्रदेश, बाजों की आनन्द-दायक ध्वनियों के साथ शोभायमान होरहे थे। जो (अन्तःपुर-प्रदेश), नृत्य करती हुई वृद्ध

१. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—

विशुद्धाकरसंभूतो मणिः संस्कारयोगतः । यात्युत्कर्षं यथात्मैवं क्रियामन्त्रैः सुसंस्कृतः ॥ १ ॥
सुवर्णधातुरथवा शुद्ध्येदासाद्य संस्क्रियां । यथा तथैव भव्यात्मा शुद्ध्यत्यासादितक्रियः ॥ २ ॥
ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानमनुत्तरं । यदाथ लभते साक्षात् सर्वविन्मुखतः कृती ॥ ३ ॥
तदैष परमज्ञानगर्भात् संस्कारजन्मना । जातो भवेद् द्विजन्मेति व्रतैः शीलैश्च भूषितः ॥ ४ ॥

२. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्य :—

'धृतिस्तु सप्तमे मासि कार्या तद्वत्कृतादरैः । गृहमेधिभी रच्यन्ते मानसैर्गर्भवृद्धये' ॥१॥

३. जाति-अलङ्कार अथवा समुच्चयालङ्कार । ४. जाति-अलङ्कार । ५. जाति-अलङ्कार । ६. जाति-अलङ्कार ।

आमन्दं पल्लवीनां रतिरभसभरप्रासकेलीविनोदाः सामोदं केरलीनां मुखकमलवनामोदपानप्रगल्भाः।
आशैत्यं कुन्तलीनां कुचकलशरसात्रासकाराः समीराः काले वान्ति स्म तस्मिन्किल मलयलतानर्तिनो दाक्षिणात्याः ॥६९॥
व्योम काम इवासानामगच्छत्स्वच्छतां मुहुः। समपादि प्रसादश्च दिशां बन्धुदृशामिव ॥ ७० ॥
दुन्दुभिध्वनिरुत्तस्थे मोदाय सुहृदां दिवि। हरिश्चन्द्रपुरीलोकध्वनिर्ध्वंसाय च द्विषाम् ॥ ७१ ॥
राज्ञः समृद्धये स्वर्गात्पुष्पवृष्टिः पुरेऽपतत्। गेहे शिखण्डिमण्डूकवृष्टिश्च श्रीच्छिदे द्विषः ॥ ७२ ॥
श्रिये निजश्रिया राज्ञश्चारवस्तरवो बभुः। त एवारातिलोकानामुत्पाताय पुरे पुनः ॥ ७३ ॥
उल्ललास नृपतेः सदनेषु संपदे युवतिमङ्गलशब्दः। विद्विषां च नगरे विगमाय संततं धवलमौकुलिनादः ॥ ७४ ॥
अपि च। आनन्दवाद्यरवपूरितदिङ्मुखानि पौराङ्गनाजनविनोदमनोहराणि।
आमुक्तकेतुरचितोत्सवतोरणानि कामं तदा शुशुभिरे नगरे गृहाणि ॥ ७५ ॥

स्त्रियों के मञ्जुल गानों से प्रीति उत्पन्न कर रहे थे। जिनमें आशीतिक (आशीर्वाद देनेवाले) पुरुषों के मुख-कमल प्रसन्न होरहे थे। जिनकी भूमि, नृत्य करती हुई वामन (छोटे कद की) कमनीय कामिनियों से मनोज्ञ प्रतीत हो रही थी। जहाँपर दूध पिलानेवाली धायों की श्रेणी हर्षित होरही थी और जिनके आंगन, पचरँगे चूर्ण-पुञ्ज के क्षेपण से क्लेशित हुए वृद्ध स्त्रियों के केश-मार्गों से मनोज्ञ प्रतीत होरहे थे[1] ॥६८॥ उस अवसर पर दक्षिण देशवर्ती ऐसी शीतल, मन्द व सुगन्धित वायुओं का संचार हो रहा था, जिन्होंने दक्षिण देशवर्ती स्त्रियों के रतिविलास संबंधी वेग के अतिशय से क्रीड़ा देखने का कौतूहल प्राप्त किया था, जिसके फलस्वरूप मन्द-मन्द वह रहीं थीं। जो केरल देश (दक्षिण देश संबंधी देश) की कमनीय कामिनियों के मुखरूप कमल-वनों की सुगन्धि का आस्वाद करने में विशेष निपुण होने के फलस्वरूप सुगन्धित थीं। जो दक्षिण देश संबंधी कुन्तल देश की रमणीय रमणियों के कुच-कलशों (स्तनकलशों) के रसों (मैथुन क्रीडा के श्रम से उत्पन्न हुए प्रस्वेद-जलों) में कुछ समय पर्यन्त निवास करने के कारण शीतल थीं और जो मलयाचल पर्वत की लताओं को नचातीं थीं। भावार्थ—यशोधर महाराज के जन्मोत्सव के अवसर पर शीतल, मन्द व सुगन्धि वायुओं का संचार होरहा था[2] ॥६९॥ उस समय आकाश बारम्बार उसप्रकार निर्मल होगया था जिसप्रकार हितैषियों की इच्छा निर्मल होती है और दिशाएँ उसप्रकार प्रसन्न थीं जिसप्रकार बन्धुवर्गों के नेत्र प्रसन्न होते हैं[3] ॥७०॥ उस अवसर पर बन्धुजनों को प्रमुदित करने के हेतु आकाश में दुन्दुभि वाजों की ध्वनि हुई और शत्रुओं के नाश-हेतु उनका विनाश प्रकट करनेवाली आकाश-वाणी हुई[4] ॥७१॥ उस समय उज्जयिनी नगरी में यशोर्घ महाराज की लक्ष्मी-वृद्धि के लिए आकाश से पुष्प-वृष्टि हुई और शत्रुओं के गृहों में उनकी लक्ष्मी के विनाश-हेतु चोटी-सहित मेंढ़कों की वर्षा हुई[5] ॥७२॥ उस समय यशोर्घ महाराज की लक्ष्मी-वृद्धि के हेतु, वृक्ष अपनी पुष्प व फल-आदि सम्पत्ति से मनोज्ञ प्रतीत होते हुए शोभायमान होरहे थे और शत्रु-गृहों में वही वृक्ष असमय में फलशाली होने के फलस्वरूप उनके विनाश-निमित्त हुए[6] ॥७३॥ उस समय यशोर्घ महाराज के महलों में लक्ष्मी के निमित्त कमनीय कामिनियों की धवल गान-ध्वनि गूँज रही थी और शत्रुओं के नगर में उनके विनाश-हेतु शुभ्र काकों का कर्ण-कटु शब्द बहुत ऊँचे स्वर से होरहा था[7] ॥७४॥ उस समय उज्जयिनी नगरी में प्रजाजनों के ऐसे गृह, यथेष्ट शोभायमान होरहे थे, जिन्होंने जन्मोत्सव संबंधी वाजों की ध्वनियों से दिशाओं के अग्रभाग गुञ्जायमान किये थे। जो नागरिक रमणी-समूह की क्रीड़ाओं से मनोज्ञ प्रतीत होरहे थे और जिनमें बाँधी हुई ध्वजाएँ फहरा रही थीं एवं जिनमें तोरण बाँधे गए थे[8] ॥७५॥

---

१. जाति–अलंकार। २. हेतु-अलंकार। ३. समुच्चय व उपमालंकार। ४. दीपक व समुच्चयालंकार। ५. दीपकालंकार। ६. दीपकालंकार। ७. दीपकालंकार। ८. समुच्चयालंकार।

आखण्डलप्रतिमपुत्रवतां धुरीणः स्त्रीलोचनोत्पलविलासरसप्रवीणः ।
त्रैलोक्यपावनयशःकिरणोदयेन त्वं नन्दतात्तनयजन्ममहोत्सवेन ॥ ७६ ॥
धर्मः पल्लवितः श्रियः कुसुमिताः कामः फलैः श्लाघ्यते वंशस्ते क्षितिनाथ संप्रति परां छायां श्रितः कामपि ।
भूदेवी सकृतार्थतामुपगता *मूलान्वयानां पुनश्चित्ते माति न देव सान्द्रितरसस्त्वत्पुत्रजन्मोत्सवः ॥ ७७ ॥

तथा । सानन्दं वन्दिवृन्दैः क्वचिदवनिपतिः स्तूयते प्रार्थितार्थैर्बन्धूनां तुष्टिदानैः क्वचिदतनुमुदः सौविदल्लास्त्वरन्ते ।
आकल्पं भर्तृलक्ष्मीमियमनुभवतात्पुत्रपौत्रैश्च सार्धं देवीत्येवं पुरोधाः क्वचिदपि च पठत्याशिषः कामितश्रीः ॥७८॥
स्वर्गः कल्पद्रुमैर्भूः कुलधरणिधरैर्गौरधाम्ना पयोधिर्द्यौः पूष्णा भोगिलोको भुजगपरिवृढेनाकरक्ष्मेव रत्नैः ।
देवस्तावच्चिराय प्रथितपृथुयशाः कीर्तिपृथ्वी तथेयं देवी च स्तात्प्रमोदावहदिवसवती पुत्रजन्मोत्सवेन ॥ ७९ ॥

राजापि तदा

वस्तुवस्त्रवसुवाहनवर्षं याचकेषु स तथा किल चक्रे । जातकल्पविटपिष्विव भूयस्तेषु याचनमनो न यथासीत् ॥८०॥

उसीप्रकार उस समय किसी स्थान पर सुवर्ण व वस्त्र-आदि वस्तुओं की याचना करनेवाले स्तुतिपाठक-समूह यशोर्घ महाराजकी निम्नप्रकार आनन्द-पूर्वक स्तुति कर रहे थे—

"हे देव! आप, इन्द्र-सरीखे पुत्रशाली पुरुषों में श्रेठ हैं और कमनीय कामिनियों के नेत्ररूप कुवलयों (चन्द्र-विकासी कमलों) के उल्लास-रस में प्रवीण हैं। अतः आप ऐसे पुत्रजन्म संबंधी महोत्सव से, जो कि तीन लोक को पवित्र करनेवाली यशरूप किरणों का उत्पादक है, वृद्धिंगत होवें[1] ॥७६॥ हे देव! धर्म उल्लसित होगया, सम्पत्तियाँ पुष्पित होगईं और काम स्त्री के उपभोगरूप फलों से प्रशस्त होगया। इसप्रकार आपके धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ सफल होचुके। हे राजन्! इस समय आपके वंश की अपूर्व और अनिर्वचनीय (वर्णन करने के लिए अशक्य) शोभा होरही है। हे देव! पृथ्वीरूपी देवता भी कृतार्थ होचुकी और गाढ़ अनुराग-शाली आपके पुत्रजन्म का महोत्सव मन्त्रियों के चित्त में अत्यधिक होने के कारण समाता नहीं है[2] ॥७७॥

हे मारिदत्त महाराज! उस समय केवल स्तुति पाठकों ने ही यशोर्घमहाराज की स्तुति नहीं की किन्तु कञ्चुकी लोग भी किसी स्थान पर राजा के कुटुम्बी-जनों को हर्षित करते हुए व विशेष आनन्द-विभोर हुए राजा का गुणगान करने के हेतु उत्कण्ठित होरहे थे। इसीप्रकार कहींपर लक्ष्मी की चाह रखनेवाला पुरोहित निम्नप्रकार के आशीर्वाद-युक्त वचन स्पष्ट बोल रहा था—यह प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाली चन्द्रमति महादेवी चिरकाल तक पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रों (पड़पोतों) के साथ पति की लक्ष्मी का उपभोग करे[3] ॥७८॥ पुरोहित का आशीर्वाद—जिसप्रकार स्वर्ग कल्पवृक्षों से, समुद्र चन्द्रोदय से और पाताललोक धरणेन्द्र से चिरकाल पर्यन्त आनन्ददायक दिनवाला होता है, उसीप्रकार तीन लोक में विख्यात व विस्तृत है यश जिनका ऐसे यशोर्घ महाराज भी पुत्रजन्म के महोत्सव से चिरकाल पर्यन्त आनन्ददायक दिनवाले हों एवं जिसप्रकार पृथ्वी कुलाचलों से, आकाशभूमि सूर्य से और खानि की भूमि रत्नों से चिरकाल पर्यन्त आनन्ददायक दिनवाली होती है उसीप्रकार विस्तृत कीर्तिशालिनी चन्द्रमति महादेवी भी पुत्रजन्म संबंधी महोत्सव से आनन्द-दायक दिनवाली होवें[4] ॥७९॥

उस समय यशोर्घ महाराज ने भी प्रसन्नता-वश, स्तुतिपाठक-आदि याचकों के लिए उसप्रकार प्रचुर गृह, वस्त्र, धान्य व सवारी-आदि मनचाही वस्तुएँ वितरण कीं, जिसके फलस्वरूप उनका मन पुनः

---

* 'मौलान्वयानां' इति क० ।

१. २. ३. समुच्चयालंकार । ४ यथासंख्य, समुच्चय व उपमालंकार-आदि का संकरालंकार ।

जातक्रियां किल विधाय स भूपतिर्मे चक्रे यशोधर इति प्रथितं च नाम।
यज्जीवितादपि निजान्वयजन्मभाजां चेतः परं स्पृहयति स्म यशोर्जनाय ॥ ८१ ॥

पुनश्च किल तद्दशा*वशाद्ग्रथनमनोहरैः सुकविलोकवाक्कुसुमसरैर्बान्धवजनश्रवणभूतां नीयमानव्यवस्थाः क्रमेणोत्तानशयवरहसितजानुचङ्क्रमणस्खलद्गतिगद्गदालापावस्थाः समनुबभूव।

तथा हि। मुक्तः क्षुभ्यति मञ्चकेषु लभते नैवान्यहस्ते रतिं तातस्याङ्कगतश्च वक्षसि कुचावन्वेषते व्याकुलः।
स्वाङ्गुष्ठं वदने निधाय पिबति स्तन्येन शून्याननस्तं निष्पीड्य पुनश्च रोदिति शिशोश्चित्रं विचित्रा स्थितिः ॥८२॥
दृष्टेषु पूर्वं रमते गृहीतः स्पृष्टः कपोले च सफेनहासः। पुरोधसां स्वस्त्ययनोपचारमादाय हस्तेन मुखे दधाति ॥ ८३ ॥

कभी भी याचना करने में तत्पर नहीं हुआ ; क्योंकि यशोर्घ महाराज की उदारता-वश वे (याचक) जिनके यहाँ कल्प वृक्ष उत्पन्न हुए हैं वैसे होगए थे। अर्थात्—उन्हें प्रस्तुत यशोर्घ महाराज रूप कल्पवृक्ष से यथेष्ट मनचाहीं वस्तुएँ प्राप्त होचुकी थीं[1] ॥८०॥ तत्पश्चात् यशोर्घ महाराज ने मेरी जन्म-क्रिया (नाल-काटना-आदि विधि) करके मेरा 'यशोधर' इसप्रकार का ऐसा विख्यात नामसंस्कार किया, जिसकी प्राप्ति के लिए हमारे वंश में उत्पन्न हुए राजाओं की चित्तवृत्ति ऐसे यश के उपार्जन-हेतु लालायित रहती थी, जो कि उन्हें अपने जीवन से भी उत्कृष्ट है[2] ॥८१॥

तत्पश्चात् उस यशोधर कुमार ने निश्चय से ऊपर मुख किये हुए शयन करना, कुछ हँसना, घुटनों के बल चलना, जमीन पर कुछ गिरते हुए संचार करना और अस्पष्ट बोलना इन पांचप्रकार की ऐसीं अवस्थाओं का क्रमशः अच्छी तरह अनुभव किया (भोगा), जिनकी स्थिति (स्वरूप) बच्चे की अवस्था-वश गूँथी जाने से मनोज्ञ प्रतीत होनेवालीं ऐसीं प्रशस्त कवि-समूह की वाणीरूपी पुष्पमालाओं द्वारा कुटुम्बीजनों के कानों के आभूषणपने को प्राप्त की जानेवाली हैं। भावार्थ—कविसंसार अपनी अनोखी काव्यकला-शैली से शिशुओं की उक्त मनोज्ञ लीलाओं कीं मधुर कवितारूपी फूलमालाएँ गुम्फित करता है और उन्हें कुटुम्बी-जनों के कर्णाभूषण बनाता है। अर्थात्—कविसंसार कुटुम्बीजनों के श्रोत्र उक्त बाल-लीलाओंरूपी फूलमालाओं से अलङ्कृत करता है, जिसके फलस्वरूप उनके मन-मयूर आनंद-विभोर होते हुए उसप्रकार नृत्य करने लगते हैं, जिसप्रकार आकाश में घुमड़ते हुए बादलों को देखकर मयूर हर्षोन्मत्त होकर नाँच उठते हैं। इसप्रकार की कुटुम्बीजनों या पाठक-पाठिकाओं को उल्लासित करनेवालीं उक्त प्रकार की बाल-लीलाएँ प्रस्तुत यशोधर कुमार द्वारा अनुभव की गईं।

यशोधर महाराज कीं उक्त बाल-लीलाओं का निरूपण—आश्चर्य की बात है कि बच्चे की प्रकृति नानाभाँति की होती है। उदाहरणार्थ—बच्चा पालने में रखने से व्याकुल होजाता है और माता के सिवाय किसी दूसरे की हथेली पर प्राप्त हुआ सन्तुष्ट नहीं होता। जब यह पिता की गोद में प्राप्त होता है तब भूँख से व्याकुलित होता हुआ उसके (पिता के) वक्षःस्थल पर कुच (स्तन) ढूँढ़ने तत्पर होता है। पश्चात् वह अपना अँगूठा मुख में स्थापित कर पीता है, क्योंकि वह समझता है कि इसमें दूध है। ऐसा करने पर जब उसका मुख दूध से खाली रहता है तब अँगूठे को पीड़ित करता हुआ बार-बार रोता है[3] ॥८२॥ किसी के द्वारा गोदी में धारण किया हुआ बच्चा पूर्व में देखे हुए (परिचित) मनुष्यों में रम जाता है—क्रीड़ा करने लगता है। जब कोई उसके गाल छूता है तब वह फेन-सा शुभ्र मन्द हास्य करने लगता है। इसीप्रकार वह ब्राह्मणों द्वारा दिये हुए माङ्गलिक अक्षतों को हाथ से उठाकर अपने मुख में

---

* 'वशानुगमनमनोहरैः' इति क०।

१. उपमालंकार। २. जाति-अलंकार। ३. अर्थान्तरन्यास-अलंकार।

यत्रैव देवः सदयं विलोकते तत्रैव ते नाथ सुतोऽपि सादरः । न केवलं देहगुणैः समस्त्वया धियाप्ययं नूनमभिन्नवर्तनः ॥ ८४ ॥

यदेष बालोऽपि विनीतचित्तः कृतादरो बन्धुषु तन्न चित्रम् । को नाम चन्द्रस्य कलाप्रवृद्धौ नीलोत्पलोल्लासविधौ गुरुर्वा ॥८५॥

स्वल्पं रङ्गति जानुहस्तचरणः किंचित्कृतालम्बनः स्तोकं मुक्तकराङ्गुलिः परिपतन्धात्र्या नितम्बे धृतः ।
स्कन्धारोहणजातधीः पुनरयं तस्याः कचाकर्षणे क्रूरालोकनकोपकल्मषमनास्तद्वक्त्रमाहन्ति च ॥ ८६ ॥
आदायालकजालकान्मणिचितं पत्रं करे न्यस्यति स्थाने तस्य दधाति हस्तवलयं द्वाभ्यां विहीनः पुनः ।
मुक्त्वा घर्घरमालिकां कटितटाद्बद्ध्वा च तां पादयो र्निश्चेष्टः शिशुरेष जातरुदितः खेदाय मोदाय च ॥ ८७ ॥
तद्गेहं वनमेव यत्र शिशवः खेलन्ति न प्राङ्गणे तेषां जन्म वृथैव लोचनपथं याता न येषां सुताः ।
तेषामङ्गविलेपनं च नृपते पङ्कोपदेहैः समं येषां धूलिविधूसरात्मजरजश्चर्चा न वक्षःस्थले ॥ ८८ ॥

रख लेता है[1] ॥८३॥ प्रस्तुत यशोधर महाराज की बाल-क्रीड़ाएँ देखकर कोई मनुष्य यशोर्घ महाराज से कहता है कि हे स्वामिन्! आप जिस पुरुष की ओर दयादृष्टि-पूर्वक देखते हैं, उसके प्रति आपका पुत्र भी आदरवान् है, इसलिए यह आपका पुत्र केवल आपके सौन्दर्य-आदि-शारीरिक गुणों से ही समानता नहीं रखता किन्तु निश्चय से आपकी बुद्धि से भी सदृशता प्रकट कर रहा है[2] ॥८४॥ जिसप्रकार चन्द्रमा अपनी कलाओं को वृद्धिंगत करने में और कुवलयों (चन्द्र-विकासी कमलों) को प्रफुल्लित करने में किसी गुरु-आदि की अपेक्षा नहीं करता उसीप्रकार हे स्वामिन्! आपका स्वाभाविक विनयशील पुत्र, शिशु होने पर भी बन्धुजनों के प्रति आदर का वर्ताव करने में किसी गुरु-आदि की अपेक्षा नहीं करता इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है[3] ॥८५॥ बच्चा अपने घुटनों व हाथों का आश्रय (सहारा) लेकर कुछ गमनशील होता हुआ थोड़ा-सा चलता है और जब कुछ अँगुलियों के पकड़ने का आलम्बन (सहारा) लेता है तब कुछ चलता है; परन्तु ज्यों ही दूसरे के हाथों की अंगुलियों का पकड़ना थोड़ा छोड़ देता है त्यों हीं तत्काल जमीन पर गिर जाता है, पृथिवी पर गिरते हुए उसे जब धात्री (धाय) अपने नितम्ब (कमर का पीछे का भाग) पर धारण करती है तब उसे उसके कन्धे पर चढ़ने की बुद्धि उत्पन्न होजाती है, पश्चात् वह उस दूध पिलानेवाली धाय के केश पकड़कर खींचता है, ऐसा करने से जब धाय इसकी तरफ कुछ क्रूरदृष्टि से देखती है, तब यह क्रोध से कलुषित-चित्त होता हुआ उसका मुख ताड़ित कर देता है—थप्पड़ मार देता है[4] ॥८६॥ यह बच्चा माता या धाय के केशपाश पकड़कर खींचता है और उनके रत्न-चूर्ण व चन्दन-निर्मित मस्तक का तिलक मिटाकर उसे अपनी हथैली पर रख लेता है एवं मणि-चूर्ण के तिलक-युक्त माता के मस्तक पर हस्त-कङ्कण स्थापित करता है, परन्तु जब यह उक्त दोनों क्रियाओं से शून्य होना है, अर्थात्—तिलक व हस्त-कङ्कण की क्रियाएँ छोड़ देता है तब अपनी माता या धाय की करधोनी को उनकी कमर से खींचकर या खोलकर उससे अपने दोनों पैर वेष्टित कर लेता है—बाँध लेता है। ऐसा करने से जब वह चलने में असमर्थ होजाता है तो रोने लगता है। ऐसी अनोखी क्रियाएँ करनेवाला यह बच्चा माता या धाय के दुःख-सुख का कारण होता है। अर्थात्—रोनेके कारण दुःखजनक और अपनी अनोखी व ललित लीलाओं के दिखाने से आनन्द-दायक होता है[5] ॥८७॥ हे राजन्! जिस गृह के आँगन पर बच्चे नहीं खेलते, वह गृह नहीं, किन्तु जंगल ही है। जिन पुरुषों ने अपने नेत्रों द्वारा बच्चों को दृष्टिगोचर नहीं किया, उनका जन्म निरर्थक ही है और जिनका वक्षःस्थल धूलि-धूसरित बच्चों की धूलि से लिम्पित नहीं हुआ, उन पुरुषों द्वारा अपने शरीर पर किया गया कपूर, कस्तूरी व चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं का लेप कीचड़ के लेप-सरीखा निरर्थक है[6] ॥८८॥

१-२. जाति-अलङ्कार। ३. आक्षेपालंकार। ४-५. जाति-अलंकार। ६. रूपक व उपमालंकार।

लोलालकानि बहुलाञ्जनलोचनानि केलिश्रमश्वसितदुर्ललिताधराणि ।
आलिङ्गनोद्गतवपुःपुलकाः सुतानां चुम्बन्ति ये वदनकानि त एव धन्याः ॥ ८९ ॥

अम्बां तात इति ब्रवीति पितरं चाम्बेति संभाषते धात्रीपूर्वनिवेदितानि च पदान्यर्धोक्तितो जल्पति ।
शिक्षालापविधौ प्रकुप्यति धृतो नास्ते स्थिरोऽयं क्वचिद् व्याहूतो न शृणोति धावति पुनः प्रत्युत्थितः सत्वरम् ॥ ९० ॥

तदनु निर्वर्तिते समस्तलोकोत्सवशर्मणि चौलकर्मणि सवयःसचिवसुतकृतानुशीलनः समाचरितगुरुकुलोपनयनः, प्रजापतिरिव सर्ववर्णागमेषु, पारिरक्षक इव प्रसंख्यानोपदेशेषु, पूज्यपाद इव शब्देतिह्येषु, स्याद्वादेश्वर इव धर्माख्यानेषु, अकलङ्कदेव इव प्रमाणशास्त्रेषु, पणिपुत्र इव पदप्रयोगेषु, कविरिव राजराद्धान्तेषु, रोमपाद इव गजविद्यासु, रैवत इव हयनयेषु, अरुण इव रथचर्यासु, परशुराम इव शस्त्राधिगमेषु, शुकनास इव रत्नपरीक्षासु, भरत इव संगीतकमतेषु,

---

जो पुरुष बच्चों के आलिङ्गन से रोमाञ्चित शरीरशाली होते हुए उनके ऐसे सुन्दर मुख चूँमते हैं, जिनपर चञ्चल केश-समूह वर्तमान हैं, जिनके नेत्रों में प्रचुर अञ्जन आँजा गया है और जिनके ओष्ठ क्रीड़ा करने के परिश्रम से उत्पन्न हुई निःश्वास वायुओं से ललित प्रतीत नहीं होते, वे ही संसार में भाग्यशाली हैं[1] ।।८९।। जो बच्चा अज्ञान-वश माता को पिता और पिता को माता कहता है और उपमाता (धाय) द्वारा कहे हुए शब्दों को आधी—तुतलाती—बोली से बोलता है और माता द्वारा दीजानेवाली शिक्षाविधि (क्यों रे ! ऐसा क्यों कर रहा है ? माता के केश खींचता है, ऐसा मत कर-इत्यादि शिक्षा-पूर्ण उपदेश विधि) से कुपित होजाता है और रक्षित हुआ (पकड़कर एक जगह पर बैठाया हुआ) भी किसी एक स्थान पर निश्चल होकर नहीं बैठता और माता-पिता द्वारा बुलाया हुआ यह बच्चा उनके वचन नहीं सुनता, क्योंकि खेलने की धुन में मस्त रहता है। पश्चात्—उठकर शीघ्रता से ऐसा भागता है, जिसे देखने जी चाहता है[2] ।।९०।।

बाल्यकाल के पश्चात् समस्त जनों द्वारा किये हुए महोत्सव से आनन्द-दायक मेरा मुण्डन संस्कार हुआ। तत्पश्चात् कुमारकाल में समान आयुवाले मंत्री-पुत्रों के साथ विद्याभ्यास करने में तत्पर, पुरोहित-आदि गुरुजनों द्वारा भलीप्रकार सम्पन्न किये हुए यज्ञोपवीत व मौञ्जी-बन्धन-आदि संस्कारों से सुसंस्कृत, शास्त्राभ्यास में स्थिर बुद्धि का धारक, ब्रह्मचर्यव्रत से विभूषित और गुरुजनों की सेवा में तत्पर (विनयशील) हुए मैंने, बहुश्रुत विद्वान् गुरुजनों द्वारा सिखाई जानेवालीं एवं राज-कुल को अलङ्कृत करनेवालीं व अनेक मत संबंधी प्रशस्त विद्याएँ उसप्रकार ग्रहण कीं जिसप्रकार समुद्र नाना प्रकार के नीचे-ऊँचे प्रदेशों से प्रवाहित होनेवालीं नदियाँ ग्रहण करता है ।।९१।। जिसके फलस्वरूप मैंने समस्त विद्याओं के वेत्ता विद्वानों को आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली विद्वत्ता प्राप्त करली। उदाहरणार्थ—जिसप्रकार ब्रह्मा समस्त वर्णों (ब्राह्मणादि) के शास्त्रों में निपुण होता है उसीप्रकार मैं भी समस्त वर्णों (अक्षरों) के पढ़ने-लिखने आदि में निपुण होगया। जिसप्रकार साधु प्रसंख्यानोपदेश (ध्यान-शास्त्र) में प्रवीणता प्राप्त करता है उसीप्रकार मैंने भी प्रसंख्यानोपदेश (गणितशास्त्र) में प्रवीणता प्राप्त की। इसीप्रकार मैं पूज्यपाद स्वामी-सरीखा व्याकरण शास्त्र का, तीर्थङ्कर सर्वज्ञ अथवा गणधरदेव-सा अहिंसारूप धर्म की वक्तृत्व कला का, अकलङ्कदेव-सरीखा दर्शनशास्त्र का, पाणिनी आचार्य-सरीखा सूक्तिशाली (नैतिक मधुर वचनामृत वाले) शास्त्रों का, बृहस्पति या शुक्राचार्य-जैसा राज-नीतिशास्त्रों का, अंगराज-सा गजविद्या का, रविसुत-सरीखा अश्वविद्या (शालिहोत्र) का, सूर्यसारथि की तरह रथ-संचालन की कला का, परशुराम की तरह शस्त्रविद्या का, अगस्त्य के तुल्य रत्न-परीक्षा की कला का, भरत चक्रवर्ती या भरत ऋषि-समान

---

१. जाति-अलंकार।   २. जाति-अलङ्कार।

त्वष्टकिरिव विचित्रकर्मसु, काशिराज इव शरीरोपचारेषु, काव्य इव व्यूहरचनासु, दत्तक इव कन्तुसिद्धान्तेषु, चन्द्रायणीश इवापरास्वपि कलासु, सकलविद्याविदाश्चर्यप्रवणनैपुण्यमहमाश्रितः परिप्राप्तगोदानावसरश्च ।

विद्यास्तदा गुरुजनैरुपदिश्यमानाः स्वाध्यायधीर्नियमवान्विनयोपपन्नः ।
जग्राह भूपकुलभूषणहेतुभूताः स्रोतस्विनीरिव पयोधिरनेकमार्गाः ॥ ९१ ॥
असंपादितसंस्कारं सुजातमपि रत्नवत् । सुतरत्नं महीशानां सत्पदाय न जायते ॥ ९२ ॥

संगीत-(गीत, नृत्य व वादित्र) कला का, त्वष्टकि (देवसूत्रधार) के समान चित्रकला का, धन्वन्तरि के समान वैद्यकशास्त्र का, शुक्राचार्य के समान व्यूहरचना का और कामशास्त्र के आचार्य समान कामशास्त्र का पारदर्शी विद्वान् होगया एवं जिसप्रकार चन्द्र अपनी षोडश कलाओं का कलावित् (विद्वान्) होता है उसीप्रकार मैं भी समस्त प्रकार की चौंसठ कलाओं का कलावित् (विद्वान्) होगया । तदनन्तर मेरे गोदान (ब्रह्मचर्याश्रम-त्याग - विवाहसंस्कार) का अवसर प्राप्त हुआ[1] ।

जिसप्रकार रत्नों की खानि से उत्पन्न हुआ भी रत्न (मणिक्यादि) संस्कार-(शाणोल्लेखन-आदि) हीन हुआ शोभन स्थान-योग्य नहीं होता उसीप्रकार प्रशस्त (उच्च) कुल में उत्पन्न हुआ राजपुत्र रूपी रत्न भी राजनीति-आदि विद्याओं के अभ्यास रूप संस्कार से शून्य हुआ राज्य पद के योग्य नहीं होता । भावार्थ—सोमदेवसूरि,[2] † गुरु[3] व हारीत[4]-आदि नीतिकारों ने भी उक्त बात का समर्थन करते हुए दुष्ट राजा से होनेवाली प्रजा की हानि का निरूपण किया है। अभिप्राय यह है कि राजपुत्रों अथवा सर्वसाधारण मानवों को प्रशस्तपद (लौकिक व पारलौकिक सुखदायक उच्च स्थान) प्राप्त करने के लिए ललित कलाओं का अभ्यास करना विशेष आवश्यक है। क्योंकि नीतिनिष्ठों[5] ने भी कहा है कि संसार में मूर्ख मनुष्य को छोड़कर कोई दूसरा पशु नहीं है। क्योंकि जिसप्रकार गाय-भैंस-आदि पशु घास-आदि भक्षण करके मल-मूत्रादि क्षेपण करता है और धर्म-अधर्म (कर्तव्य-अकर्त्तव्य) नहीं जानता उसीप्रकार मूर्ख पुरुष भी खान-पानादि क्रिया करके मल-मूत्रादि क्षेपण करता है और धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य को नहीं जानता । नीतिकार वसिष्ठ[6] ने भी यही कहा है । नीतिकार महात्मा भर्तृहरि[7]

---

१. श्लेष, उपमा, दीपक व समुच्चयालङ्कार ।

२. तथा चाह सोमदेव सूरिः—असंस्काररत्नमिव सुजातमपि राजपुत्रं न नायकपदायामनन्ति साधवः ।

†—तथा च सोमदेवसूरिः—'न दुर्विनीताद्राज्ञः प्रजानां विनाशादपरोऽस्त्युत्पातः' अर्थात्—दुष्ट राजा से प्रजा का विनाश ही होता है, उसे छोड़कर और दूसरा कोई उपद्रव नहीं होसकता ।

३. तथा च गुरुः—अराजकानि राष्ट्राणि रक्षन्तीह परस्परं । मूर्खो राजा भवेद्येषां तानि गच्छन्तीह संक्षयं ॥ १ ॥ अर्थात्—जिन देशों में राजा नहीं होते, वे परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते रहते है परन्तु जिनमें मूर्ख राजा होता है वे नष्ट होजाते हैं ॥ १ ॥

४. तथा च हारीतः—उत्पातो भूमिकम्पाद्यः शान्तिकैर्याति सौम्यतां । नृपदुर्वृत्तः उत्पातो न कथंचित् प्रशाम्यति ॥ १ ॥ अर्थात्—भू-कम्प से होनेवाला उपद्रव शान्ति कर्मों (पूजन, जप व हवनादि धार्मिक कार्यों) से शान्त होजाता है परन्तु दुष्ट राजा से उत्पन्न हुआ उपद्रव किसीप्रकार भी शान्त नहीं होसकता ।

५. तथा च सोमदेव सूरिः—'न ह्यज्ञानादन्यः पशुरस्ति' नीतिवाक्यामृत से संकलित—सम्पादक ।

६. तथा च वसिष्ठः—मर्त्याः मूर्खतमा लोकाः पशवः शृङ्गवर्जिताः । धर्माधर्मौ न जानन्ति यतः शास्त्रपराङ्मुखाः॥१॥

७. तथा च भर्तृहरिः—साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः । तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥१॥

सौधाय राज्यबन्धाय द्वावेतौ न सतां मतौ । घुणक्षीणप्रभः स्तम्भः स्वातन्त्र्योपहतः सुतः ॥ ९३ ॥

ने भी कहा है कि जिसे साहित्य व संगीत-आदि कलाओं का ज्ञान नहीं है (जो मूर्ख है), वह विना सींग और पूँछ का साक्षात् पशु है। इसमें कई लोग यह शङ्का करते हैं कि यदि मूर्ख मानव यथार्थ में पशु है तो वह घास क्यों नहीं खाता ? इसका उत्तर यह है कि वह घास न खाकर के भी जीवित रहता है, इसमें पशुओं का उत्तम भाग्य (पुण्य) ही कारण है, अन्यथा वह घास भी खाने लगता। इसलिए प्रत्येक नर-नारी को कर्तव्य-बोध द्वारा श्रेय (यथार्थ सुख) की प्राप्ति के लिए नीति व धर्मशास्त्र-आदि शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए[1] ॥९२॥

नीतिवेत्ता विद्वानों ने निम्नप्रकार के दो पदार्थ क्रमशः राज-महल व राज्य-स्थापन के अयोग्य माने हैं। १—घुण-समूह (कीड़ों की श्रेणी) द्वारा भक्षण किया हुआ होने के फलस्वरूप क्षीणशक्तिवाला खम्भा और २—स्वच्छन्द पर्यटन-वश नष्ट-बुद्धि पुत्र। भावार्थ—नीतिनिष्ठों की मान्यता है कि जिसप्रकार घुण-समूह द्वारा खाये हुए खम्भे में महल का बोझ धारण करने की शक्ति नष्ट होजाती है, इसलिए उसे राजमहल में नहीं लगाना चाहिए. अन्यथा महल के गिर जाने का खतरा निश्चित रहता है, उसीप्रकार अज्ञान व दुराचार के कारण जिसकी बुद्धि नष्ट होचुकी है ऐसे राजपुत्र में भी राज्यशासन करने और उसे स्थापित रखते हुए संवर्द्धित करने की शक्ति नष्ट होजाती है, अतः उसे राजा नहीं बनाना चाहिए, अन्यथा राज्य के नष्ट होने की सम्भावना निश्चित रहती है। नीतिकार सोमदेवसूरि[2] ने लिखा है कि जब मनुष्य द्रव्यप्रकृति (राज्यपद के योग्य राजनैतिक ज्ञान और सदाचार-सम्पत्ति-आदि प्रशस्त गुणों) से अद्रव्य प्रकृति (उक्त गुणों को त्यागकर मूर्खता, अनाचार व कायरता-आदि दोषों) को प्राप्त होजाता है तब वह पागल हाथी की तरह राज्यपद के योग्य नहीं रहता। अर्थात्—जिसप्रकार पागल हाथी जनसाधारण के लिए भयङ्कर होता है उसीप्रकार जब मनुष्य में राजनैतिक ज्ञान, आचार-सम्पत्ति व शूरता-आदि राज्योपयोगी प्रशस्त गुण नष्ट होकर उनके स्थान में मूर्खता, अनाचार व कायरता आदि दोष घर कर लेते हैं, तब वह पागल हाथी सरीखा भयङ्कर होजाने से राज्यपद के योग्य नहीं रहता। नीतिकार वल्लभदेव[3] ने भी कहा है कि राजपुत्र शिष्ट व विद्वान् होनेपर भी यदि उसमें द्रव्य (राज्यपद के योग्य गुण) से अद्रव्यपना (मूर्खता व अनाचार-आदि दोष) होगया हो तो वह मिश्रगुण (पागल हाथी के सदृश) भयङ्कर होने के कारण राज्यपद के योग्य नहीं है। नीतिकार गुरु[4] विद्वान् ने भी लिखा है कि जो मनुष्य समस्त गुणों—राजनैतिक ज्ञान व सदाचार-आदि—से अलङ्कृत है, उसे 'राजद्रव्य' कहते हैं उसमें राजा होने की योग्यता है, वे गुण राजाओं को समस्त सत्कार्यों में सफलता उत्पन्न करते हैं। निष्कर्ष—हे मारिदत्त महाराज ! इसीलिए मैंने राजद्रव्य के गुण उक्त विविध भाँति की ललित कलाओं का अभ्यास किया[5] ॥९३॥

---

१. उपमालङ्कार। २. तथा च सोमदेवसूरिः—'यतो द्रव्याद्रव्यप्रकृतिरपि कश्चित्पुरुषः सङ्कीर्णगजवत्'
नीतिवाक्यामृत से समुद्धृत—सम्पादक

३. तथा च वल्लभदेवः—शिष्टात्मजोऽपि विदग्धोऽपि द्रव्याद्रव्यस्वभावकः। न स्याद्राज्यपदार्होऽसौ गजो मिश्रगुणो यथा ॥१॥

४. तथा च गुरुः—यः स्यात्सर्वगुणोपेतो राजद्रव्यं तदुच्यते। सर्वकृत्येषु भूपानां तदर्हं कृत्यसाधनम् ॥१॥

५. यथासंख्य-अलङ्कार। नीतिवाक्यामृत से संकलित—सम्पादक।

पुनरुल्लिखितलाञ्छनचन्द्रसमवदनमण्डले लक्ष्मीकुचकलशविजयिभुजशिखरसौन्दर्यभाजि सपत्नसंतानतरुस्तम्बोत्पाटनपटुदोर्दण्डमण्डलीविडम्बितस्तम्बेरमकराकारे श्रीसरस्वतीजलकेलिदीर्घिकालाघवकरणचतुरचक्षुषि मनागुद्भिद्यमानरोमश्यामिकामदरेखामण्डितगण्डस्थले दिग्गजालानस्तम्भशोभमानोरुणि स्मरविलासनिवासविलासिनीजनोन्मादसंपादनसिद्धौषधे संसारसारजन्मनि मनोजनटनाट्यमानमनोभिनवपात्रे निःशङ्कशृङ्गारोत्तरङ्गान्तरङ्गभङ्गीभङ्गुरकरणवृत्तिनि समुत्सर्पद्दर्पोद्रेकाधःकृतजगत्त्रये सतातजनस्य च परिजनस्य जनितयौवराज्य*कण्ठिकाबन्धनमनोरथेऽवतीर्णे ममोदीर्णे तारुण्यलावण्ये, तथा—

नितम्बलक्ष्म्या हृदयश्रिया च नित्यं निजावासमहत्त्वलोभात् । कृताल्पसीमो भजते च मध्यस्तदा तनुत्वं परमस्मदीयः ॥ ९४ ॥
को मन्त्री नृपतेर्यशोधर इति ख्यातः सुतः को रणे हन्ता वैरिबलं यशोधर इति ख्यातः सुतः कः सखा ।
कार्यारम्भविधौ यशोधर इति ख्यातः सुतो यस्य मे लोकेऽप्येवमवाप तातविषये प्रश्नोत्तरत्वं स्थितिः ॥ ९५ ॥

तत्पश्चात् जब मेरा ऐसा तारुण्य-(युवावस्था) सौन्दर्य प्रकट हुआ, जिसमें मेरा मुख-मण्डल, लाञ्छन-रहित चन्द्रमा-सरीखा आनन्द-दायक था। जो लक्ष्मी के कुचकलशों (स्तन-कलशों) को लज्जित करनेवाले मनोज्ञ दोनों स्कन्धों के सौन्दर्य से सुशोभित था। जिसने शत्रु-समूह रूपी वृक्ष-स्कन्ध को जड़ से उखाड़ने में समर्थ व शक्तिशालिनी भुजारूपी दंडमण्डली द्वारा हाथी के शुण्डादण्ड (सूँड) की आकृति तिरस्कृत की थी। जिसमें मेरे दोनों नेत्र स्वर्गलक्ष्मी व सरस्वती की जलक्रीड़ा करने की बावड़ियों को लज्जित करने में चतुर थे। जिसमें मेरे दोनों गाल-स्थल कुछ-कुछ प्रकट हुई रोमराजि की श्यामता रूपी मदरेखा (जवानी का मद बहना) से शोभायमान होरहे थे। जिसमें मेरी दोनों जङ्घाएँ दिग्गज के बाँधनेलायक खम्भों सरीखी अत्यन्त मनोज्ञ प्रतीत होती थीं। जो (जवानी का सौन्दर्य) काम की संभोग-क्रीड़ा की स्थानीभूत कमनीय कामिनियों के समूह को उन्मत्त (कामोद्रेक से विह्वल—बेचैन) करने में सिद्धौषधि (अव्यर्थ औषधि) के समान था। जिसकी उत्पत्ति संसार में सर्वश्रेष्ठ है। जिसमें कामदेव रूपी नाटकाचार्य द्वारा मनरूपी नवीन नाटक-पात्र (एक्टर) नचाया जारहा है। जिसमें निरङ्कुश (बेमर्याद) वेषभूषा (वस्त्राभूषणादि) रूप शृङ्गार से इच्छारूपी तरङ्गों से उछलनेवाली मानसिक विचित्रता (विकृति) द्वारा पंचेन्द्रियों की प्रवृत्ति चञ्चल होजाती है। अर्थात्—जिसमें निरङ्कुश वेष-भूषा द्वारा उद्भूत मानसिक विकार के कारण समस्त चक्षुरादि इन्द्रियाँ अपने अपने रूपादि विषयों में चञ्चलता पूर्वक प्रवृत्त होजाया करती हैं और जिसमें उत्पन्न हो रही मद की अधिकता से तीनों लोक अधःकृत किये गए हैं एवं जिसने पिता जी सहित कुटुम्बी-जनों के हृदय में मेरे लिए युवराज-पद की मोतियों की कण्ठी गले में पहिनाने की अभिलाषा उत्पन्न कराई थी।

उसीप्रकार उस युवावस्था-संबंधी सौन्दर्य के आगमन-समय केवल मेरे उदर-देश ने कृशता (क्षामता—पतलापन) प्राप्त की थी। अतः ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—नितम्बलक्ष्मी† व वक्षःस्थल-लक्ष्मी ने मेरे मनोज्ञ शरीर पर सदा अपना निवास करने की तीव्र इच्छा से ही मेरे उदर-देश की वृद्धि-सीमा अल्प (छोटी) कर दी थी, जिसके फलस्वरूप मानों—वह कृश होगया था[१] ॥९४॥ उस समय मेरे जगत्प्रसिद्ध [पराक्रमशाली] व्यक्तित्व ने पिता के समक्ष किये हुए लोगों के निम्नप्रकार प्रश्नों का समाधान करने में प्रवीणता प्राप्त की थी। जब कोई पुरुष किसी से प्रश्न करता था कि यशोर्घ राजा का बुद्धि सचिव कौन है ? तब वह उत्तर देता था, कि यशोधर नाम के राजकुमार ही प्रस्तुत राजा के बुद्धि-सचिव

---

* 'कण्ठकण्ठिका' इति क० । १. उत्प्रेक्षालंकार ।

† 'नितम्बलक्ष्म्या' इत्यादिना पुरुषस्य नितम्बसंपद्वर्णनं नायुक्तं त्यागेन समं प्रथिमानमाततान नितम्बभागः सटि० (क०) से संकलित—सम्पादक

पुनश्च गुरुमिवान्तेवासिनि स्वामिनमिव भृत्ये परंज्योतिरिव योगवरचक्षुषि पितरमुपचरति सति, विश्रम्भेषु च द्वितीय इव हृदये, निदेशकर्मणि धनक्रीत इव दासे, विधेयतायां स्वकीय इव चेतसि, निर्विकल्पतायामव्यभिचारिणीव सुहृदि, मयि प्रतिपन्नतदाराधनैकतानमनसि, अपरेषु च तेषु तेषु तदाज्ञावसरेष्वेकमप्यात्मानं हृद्यांशाविवोदकपात्रेष्वनेकमिव दर्शयति, दामानाभ्यामन्यत्र सर्वमपि परिजनं तदादेशविधिषु विदूरयति, देवताराधनेषु च तातस्य प्रतिचारिणि, गुरुजनोपासनेषु प्रतिवपुषि, धर्मविनियोगेषु पुरोधसि, शास्त्राभ्यासेषु शिष्यसधर्मणि, विद्यागोष्ठीषु कलोदाहरणसाक्षिणि,

---

हैं। इसीप्रकार जब कोई किसी से पूँछता था कि प्रस्तुत महाराज का युद्ध भूमि पर शत्रु-सैन्य का विध्वंस करनेवाला सेनापति कौन है? तब वह उत्तर देता था कि यशोधर नामका जगत्प्रसिद्ध राजकुमार ही प्रस्तुत महाराज का कर्मठ व वीर सेनापति है। पुनः कोई किसी से पूँछता था कि उक्त महाराज के सैन्य-संचालन-आदि कार्यों के आरम्भ करने में 'मित्र' कौन है? तब वह उत्तर देता था कि 'यशोधर' नामका राजकुमार ही प्रस्तुत कार्य-विधि में मित्र है[1] ॥६५॥

तत्पश्चात् जब मैं पिता की उसप्रकार सेवा-शुश्रूषा कर रहा था जिसप्रकार शिष्य गुरु की, सेवक स्वामी की और अध्यात्मज्ञानी योगी पुरुष, परमात्मा की सेवा-शुश्रूषा करता है। इसीप्रकार जब मेरे पिता मुझे उसप्रकार विश्वासपात्र समझते थे जिसप्रकार अपना हृदय विश्वासपात्र समझा जाता है। मैं पिता की आज्ञा-पालन उसप्रकार करता था जिसप्रकार वेतन देकर खरीदा हुआ (रक्खा हुआ) नौकर स्वामी की आज्ञा-पालन करता है। जिसप्रकार शिक्षित मन समुचित कर्त्तव्य-पालन करता है उसीप्रकार मैं भी समुचित कर्त्तव्य-पालन करता था। जब मैं, आदेश के विचार न करने में अव्यभिचारी (विपरीत न चलनेवाले—धोखा न देनेवाले) मित्र के समान था। अर्थात्—जिसप्रकार सच्चा मित्र अपने मित्र की आज्ञा-पालन करने में हानि-लाभ का विचार न करता हुआ उसकी आज्ञा-पालन करता है उसीप्रकार मैं भी अपने माता-पिता-आदि पूज्य पुरुषों की आज्ञा-पालन में हानि-लाभ का विचार न करता हुआ उनकी आज्ञा-पालन करता था। इसप्रकार जब मैंने अपने पिता की आराधना (सेवा) करने में अपने मन की निश्चलता स्वीकार कर ली थी एवं उन उन जगत्प्रसिद्ध आज्ञा-पालन के अवसरों पर मेरे अकेले एक जीवन ने अपने को उसप्रकार अनेकपन दिखलाया था जिसप्रकार चन्द्रमा एक होनेपर भी जल से भरे हुए अनेक पात्रों में अपने को प्रतिबिम्ब रूप से अनेक दिखलाता है। दान और मान को छोड़कर बाकी के समस्त पिता के प्रति किये जानेवाले शिष्टाचार-विधानों में मैंने समस्त कुटुम्बी-जन दूर कर दिये थे। अर्थात्—यद्यपि याचकों को दान देना और किसी का सन्मान करना ये दोनों कार्य पिता जी द्वारा किये जाते थे; अतः इनके सिवाय अन्य समस्त कार्य (आज्ञा-पालन-आदि शिष्टाचार) मैं ही करता था न कि कुटुम्बी-जन। इसीप्रकार मैं देवता की पूजाओं में पिता का सेवक था। अर्थात्—पूजादि सामग्री-समर्पक सेवक-सा सहायक था। इसीप्रकार जब मैं माता-पिता व गुरुजनों-आदि की सेवाओं का प्रतिशरीर (प्रतिबिम्ब) था। इसीप्रकार जब मैं धर्ममार्ग में पुरोहित था। अर्थात्—जिसप्रकार राजपुरोहित राजाओं के धार्मिक कार्यों में सहायक होता है उसीप्रकार मैं भी पुरोहित-सरीखा सहायक था। जब मैं शास्त्राभ्यास करने में शिष्य-जैसा था। अर्थात्—जिसप्रकार विद्यार्थी शास्त्राभ्यास करने में प्रवीण होता है उसीप्रकार मैं भी शास्त्राभ्यास में प्रवीण था। जब मैं विद्या-गोष्ठियों में कलाओं के उदाहरणों का साक्षी था। अर्थात्—मैं साहित्य व संगीत-आदि ललित कलाओं में ऐसा पारदर्शी विद्वान् था जिसके फलस्वरूप विद्वद्गोष्ठी में मेरा नाम कला-प्रवीणता में दृष्टान्तरूप से उपस्थित किया जाता था।

---

1. प्रश्नोत्तरालंकार।

रथचर्यासु यन्तरि, करिविनोदेष्वभिषादिनि, हयक्रीडासु चामरधृति, स्वैरविहारेष्वातपत्रोपकृति, धर्मासनेषु कार्यपुरश्चारिणि, समरसमयेषु सुभटाग्रेसरतया विक्रमिणि, परेण च तेन तेन विनयकर्मणा सकलस्यापि लोकस्य वदनारविन्देषु स्वकीयं यशोहंसं प्रचारयति, श्रवणाञ्जलिपुटेषु च निजकीर्तिसुधारसं प्रवर्षयति,

तातेऽपि मज्जन्मना रत्नाकर इवेन्दिरानुजेन धर्माराम इव फलसंपदा प्राक्पर्वत इव द्युमणिमण्डलेन सर्गादिदिवस इव प्रजापतिना द्वीपमध्य इव मन्दरेणात्मानं बहुमन्यमाने, सकलाकूपारकरपरिग्रहां कुलस्त्रियमिवैकभोग्यां भुवमनुशासति सति, तैस्तैर्मनोभिलाषासाद्विसंवादैः सुखसंकथाविनोदैर्मुहूर्तसमया इव समाः काश्चिद्व्यतीयुः ।

एवं रत्नकाञ्चनयोरिव समसमायोगेन धनदनलकूबरयोरिव परस्परप्रीत्या धनंजयजयन्तयोरिव महोपचयैश्वर्यरसेनाधोक्षजमनोजयोरिव चान्योन्यानुवर्तनेन नित्यमावयोर्वर्तमानयोरेकदा पुरंदरपुरपताकाञ्चलचुम्बनोचितमण्डले वनेजवनविकासवि-

---

जब मैं रथ-संचालन कला में प्रवीण पुरुषों में सारथि-सा निपुण और हाथियों की क्रीड़ा-कला में महावत-जैसा प्रवीण था। इसीप्रकार जब मैं घोड़ों की क्रीड़ा में घुड़सवार-सरीखा प्रवीण था। इसीप्रकार जब मैं वन-क्रीड़ाओं में छत्रधर था। अर्थात्—जिसप्रकार छत्रधर वनक्रीड़ा के अवसर पर उष्ण व वृष्टि आदि से वचाता हुआ उपकारक होता है उसीप्रकार मैं भी पिताजी की वनक्रीड़ा के अवसर पर छत्रधर-सा उपकारक था—उनकी विघ्न-बाधाएँ दूर करता था। जब मैं राजसभा-भवन संबंधी कार्यों (सन्धि व विग्रह-आदि) के निर्णय करने में अग्रेसर था। जब मैं संग्राम के अवसरों पर सहस्रभट, लक्षभट व कोटिभट योद्धाओं के मध्य प्रमुख होने के फलस्वरूप पराक्रमशाली था। इसीप्रकार जब मैं उस उस जगत्प्रसिद्ध विनय धर्म द्वारा समस्त मानवों के मुखकमलों में अपना यशरूपी हँस प्रविष्ट कर रहा था और जब मैं कानों के अञ्जलि पुटों में समस्त लोक द्वारा अपनी कीर्तिरूपी अमृत-वृष्टि करा रहा था। इसीप्रकार जब मेरे पिता यशोर्घमहाराज मेरे जन्म से अपने को उसप्रकार महान् (भाग्यशाली) समझते थे जिसप्रकार समुद्र चन्द्रोदय से, धर्मरूपी उद्यान स्वर्गादि फल सम्पत्ति से, उदयाचल पर्वत सूर्य विम्बोदय से, सृष्टि का प्रथम दिवस ब्रह्मा से और जम्बूद्वीप सुमेरु पर्वत से अपने को महान् समझता है। इसीप्रकार जब मेरे पिता ऐसी पृथ्वी का शासन कर रहे थे, जो कि कुलबधू-सरीखी केवल उन्हीं के द्वारा भोगी जाने वाली थी और जिसके चारों समुद्रों के मध्य टेक्स लगाया गया था तब उनकी पूर्वोक्त प्रकार से सेवा-शुश्रूषा करते हुए मेरे कुछ वर्ष, आनन्द देनेवाले कथा-कौतूहलों से, जिनमें मानसिक अभिलाषाओं को प्राप्त करानेवाले शिष्ट वचन पाये जाते हैं, मुहूर्त (दो घड़ी) सरीखे व्यतीत हुए।

इसप्रकार जब हम दोनों पिता-पुत्र (यशोर्घमहाराज व यशोधर कुमार) उसप्रकार सदृश-संयोग से शोभायमान होरहे थे जिसप्रकार रत्न और सुवर्ण का संयोग शोभायमान होता है। अर्थात्—मेरा पिता रत्न-सदृश और मैं सुवर्ण-समान था। इसीप्रकार जब हम दोनों उसप्रकार पारस्परिक प्रेम में वर्तमान थे जिसप्रकार कुबेर और उसका पुत्र नलकूबर पारस्परिक प्रेम में स्थित रहते हैं और जिसप्रकार देवताओं का इन्द्र और उसका पुत्र (जयन्त) विशेष उन्नतिशाली ऐश्वर्य (विभूति) के अनुराग से शोभायमान होते हैं, उसीप्रकार हम दोनों भी विशेष उन्नतिशील ऐश्वर्य (विभूति) के स्नेह से शोभायमान होरहे थे। एवं हम दोनों पारस्परिक अनुकूलता में उसप्रकार सदा वर्तमान थे जिसप्रकार श्रीनारायण (श्रीकृष्ण) और उनके पुत्र प्रद्युम्नकुमार सदा परस्पर अनुकूल रहते हैं तब एक समय नीचे लिखीं घटनाओं के घटने पर विजय (शत्रुओं का मान-मर्दन) से उन्नत या अप्रतिहत (किसी के द्वारा नष्ट न किये जानेवाला) राज्यशाली हमारे पिता (यशोर्घमहाराज) ने ऐसे अवसर पर जब वे अपना मुख घी में और दर्पण में देख रहे थे, अपने शिर पर सफेद बालरूपी अङ्कुर देखा। प्रस्तुत घटनाएँ—

लालाविरलवारलाजनमनसि मनसिजकलहविगलितकालेयपौलोमीकपोलकोमले हरिहर्म्यभर्मनिर्मितकलशकान्तिविलोपिनि पुरुहूतपुरंध्रिकाधरप्रसाधनजतुरसोत्कटपटलपेशले शचीश्रवणावतंसार्पितपारिजातमञ्जरीजालजयिनि सुरतसहचरोपचारच्युतालक्तकलेपसंपल्लवेषु स्तुतिमुखराम्बरचरीनिकुरम्बबिम्बाधरपल्लवेषु विकचमानकमलकोशप्रकाशप्रसरैः करैः पुनरपरमेव किमप्ययावकाहार्यं सौन्दर्यं सृजति सति गभस्तिमति, तपनतापसोञ्छितच्छाये इव तमस्तापिच्छगुलुच्छतुच्छे वियत्कच्छे, सकलदिक्पालविलासिनीसीमन्तसिन्दूरसंततिसुन्दरालेखरेखासु गगनवीथिकासु, खरकिरणकेसरिक्रमाक्रान्तिभीत इवापरगिरिशिखरान्तरविहारिणि शिशिरकरकरिणि, प्रालेयलवलिपिषु विलीनेष्विव लोकलोचनालोकलोपिषु नक्षत्रनिकरेषु, विधुरावसर इव मित्रैकशेषतां बिभ्राणे नभसि, वीरनरेश्वर इव करमात्रतन्त्रतयात्मप्रतापप्रकाशनाव्यवसायेऽर्दंसितनये, अरुणमणिमहीभृत्प्रभापिञ्जरितरुचिप्रविरलनीलिम्नि

एक समय जब ऐसा सूर्य उदित होचुका था, जो कि अपनी किरणों द्वारा, जिनका प्रसार (विस्तार) प्रफुल्लित कमल-कोश (मध्यभाग) के तेज-सरीखी लालिमा धारण कर रहा था, स्तुति वचन बोलतीं हुईं देवियों या विद्याधरियों के समूह संबंधी बिम्बफल-सरीखे ओष्ठपल्लवों में कोई अनौखे लाक्षारस के साथ चारों ओर से उपमा देने योग्य सौन्दर्य (मनोज्ञ लालिमा) की सृष्टि कर रहा था। कैसे हैं विद्याधरियों के ओष्ठपल्लव? जिनमें रति-विलास के समय मित्रता करनेवाले पतियों द्वारा कीजानेवाली पूजा (सन्मान) के अवसर पर गिरे हुए लाक्षारस-लेप के शोभा-लेश वर्तमान थे। कैसा है सूर्य? जिसका बिम्ब, इन्द्र-नगर (पूर्वदिशा में स्थित इन्द्रदिक्पाल-नगर) की ध्वजाओं के प्रान्तभागों के स्पर्श करने के योग्य (निकटतर) है। जिसके उदय में विकसित कमल-समूहों के आस्वादन करने में हंसी-श्रेणी का चित्त घना (आसक्त) होरहा था। जो इन्द्राणी के ऐसे गालस्थल-सरीखा मनोहर है जिसका काम की मैथुन क्रीड़ा द्वारा कुङ्कम गिर गया है। जो इन्द्र-भवन पर स्थित सुवर्णमयी कलश की कान्ति तिरस्कृत करता है। जो इन्द्र की बालपत्नी के ओष्ठों को अलङ्कृत करनेवाले लाक्षारस के उत्कट पटल (समूह) सरीखा मनोज्ञ (लालिमा-शाली) है। इसीप्रकार जो, इन्द्राणी के कानों के कर्णपूर के लिए स्थापित की हुई दिव्यपुष्प संबंधी लताश्रेणी को तिरस्कृत करता है। इसीप्रकार जब आकाशरूपी वन, अँधकाररूपी तमालवृक्ष के गुच्छों से रहित होने के फलस्वरूप ऐसा प्रतीत होरहा था मानों—सूर्यरूपी तापसी द्वारा उसकी छाया नष्ट कर दीगई है। अभिप्राय यह है कि जब वृक्षों से पत्ते व पुष्प तोड़ लिये जाते हैं तब उनमें छाया नहीं होती। जब आकाश-मार्ग ऐसे शोभायमान होरहे थे, जिनकी विन्यास-रेखा, समस्त दिक्पालों (इन्द्र. अग्नि, यम व नैऋत्य-आदि) की कमनीय कामिनियों के केश-भागों पर स्थित सिन्दूर-श्रेणी सी मनोज्ञ होरही थी। जब चन्द्रमारूपी हाथी अस्ताचल पर्वत की शिखर के मध्यभाग पर पर्यटन करता हुआ ऐसा प्रतीत होरहा था मानों—सूर्यरूपी सिंह के पंजों के आक्रमण से भयभीत हुआ है। इसीप्रकार जब नक्षत्र-श्रेणी, लोगों के नेत्र-प्रकाश से लुप्त (ओझल) हो रही थी; इसलिए जो ऐसी मालूम पड़ती थी - मानों थोड़े से पाले की लिपियों (अक्षर-विन्यासों) में ही गल चुकी है, इसीलिए ही मानों—दृष्टिगोचर नहीं होरही थी और जब आकाश केवल मित्र (सूर्य) को ही धारण कर रहा था। अर्थात्—जब आकाश में केवल सूर्य ही उदित होरहा था और दूसरे नक्षत्र-आदि अस्त होचुके थे, इसलिए जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—वह (आकाश) यह बता रहा था कि कष्ट के अवसर पर मित्र (मित्र व पक्ष में सूर्य) ही समीप में रहता है और उसके सिवा दूसरे सब लोग भाग जाते हैं। जब सूर्य करमात्र-तन्त्रता अर्थात्—केवल किरणों को स्वीकार करने से अपना प्रताप (उष्णता) प्रकट करने में उसप्रकार उद्यमशील होरहा था जिसप्रकार शूरवीर राजा कर-मात्रतन्त्रता—अल्प टेक्स और सैन्यशक्ति से अपना प्रताप (राजा का तेज—खजाने की शक्ति और सैन्य-शक्ति—प्रकट करने में उद्यमशील होता है। जब समस्त आकाश का नीलापन, उदयाचल पर्वत

विफलफेनस्फीतिनि निस्तरङ्गसङ्गे सागराम्भसीवोपलक्ष्यमाणे समस्तेऽपि विहायसि, भूर्जकुजवल्कलदुकूले लताकुसुमनूतनोत्तंसकालिनि विकसत्कोकनदामोदसान्द्रितशरीरे विश्वंभराधरदरोज्झितनिर्झरशीकरासारमुक्ताफलितवपुषि दिक्करटिकटकन्दरप्रवहद्दानासवास्वादलङ्घिते सविधप्रधावद्गन्धलुब्धमधुकरीसमाजकूजितालोकशब्दसंदर्भिणि झिल्लीकाझल्लरीस्वरसूचितसंचारे ककुप्सीमन्तिनीः संभावयितुं दिवाभुजगे इव शनैः शनैः परिसरति मरुति, त्रिदिवमुनिमण्डलीस्खलितजलदेवताजलकेलिकुतूहले जाह्नवीजले, वासरकरमुद्दिश्य द्विजातिहस्तोदस्तास्तोकस्तबकरक्तचन्दनच्छटाछद्मसिन्दूर्यमाणमण्डले व्योमसामजकुम्भस्थले, पालिन्दमन्दिरोदरतारतरोच्चार्यमाणमागधमङ्गलोल्लासतुन्दिले नगरदेवताङ्गणास्फालितविविधवाद्योद्धुरध्वानकोहले नवसमागमानन्दमन्थरमिथुनचरपतङ्गप्रलापकाहले कमलिनीमधुमत्तमत्तालिकलकलोत्ताले सहचरीरतिरसिकसारससरसितसरले क्रीडाकृतार्थकुररकामिनीव्याहारबहुले

की कान्तियों से पीली व लाल की हुई शोभा द्वारा अल्प कर दिया गया था इसलिए जो, ऐसेसमुद्रजल-सरीखा प्रतीत होरहा था, जिसकी फेन-वृद्धि नष्ट होचुकी है और जो तरङ्ग-सङ्गम से रहित है तथा जिसका नीलापन समुद्र के मध्य में स्थित हुए उदयाचल पर्वत के तेज से थोड़ासा होगया है।

इसीप्रकार जब ऐसी वायु, दिशारूपी कमनीय कामिनियों को संतुष्ट करने के लिए उसप्रकार मन्द-मन्द संचार कर रही थी, जिसप्रकार दिन में रतिविलास करनेवाला कामी पुरुष स्त्रियों को संतुष्ट करने के हेतु धीरे धीरे संचार करता है। कैसा है वह वायुरूपी दिवस-कामुक ? जिसके दुकूल (दुपट्टे) भोजपत्र-वृक्षों के वक्कल हैं। जो लताओं के पुष्परूपी नूतन मुकुट या कर्णपूर से अलङ्कृत है। जिसका शरीर फूले हुए लालकमलों की सुगन्धि से सान्द्रित (घना) होरहा है। जिसका शरीर पर्वतों की गुफाओं से प्रवाहित हुए झरनों के जलप्रवाह-समूहों द्वारा मोतियों के आभरणों से विभूषित किया गया है। जो दिग्गजों के गण्डस्थल-छिद्रों से प्रवाहित हुए मद (दान जल) रूप मद्य-पान के फलस्वरूप विह्वलीभूत (यहाँ-वहाँ संचरणशील) होरहा था। जिसमें ऐसी भँवरियों की श्रेणी के, जो समीप में संचार करती हुई सुगन्धि में लम्पट थी, गुंजारने रूपी जय जयकार शब्द की रचना पाई जाती है और जिसका आगमन, झिल्लीका (झींगुर या भँभीरी) रूपी विजय-घण्टाओं के शब्दों द्वारा सूचित-किया गया था। इसीप्रकार जब ऐसी गङ्गा नदी की जलराशि, जिसमें जल-देवताओं के क्रीड़ा-कौतूहल में स्वर्ग के लौकान्तिक देवों अथवा सप्तर्षियों की श्रेणी द्वारा विघ्न-बाधाएँ उपस्थित की जाती थी, होरही थी। अभिप्राय यह है कि जलक्रीड़ा के अवसर पर आए हुए लौकान्तिक देवों या सप्तर्षियों से, लज्जित हुई जलदेवता अपनी जल-क्रीड़ा छोड़ देती थीं। इसीप्रकार जब आकाशरूपी हाथी का कुम्भस्थल, जिसका प्रान्तभाग ऐसे प्रचुर पुष्प-गुच्छों और लालचन्दन की छटाओं के मिष (बहाने) से, सिन्दूर-विभूषित किया गया था जो कि सूर्य-पूजा के उद्देश्य से ब्राह्मणादि द्वारा ऊपर क्षेपण किये गए थे। इसीप्रकार जब गृहों की बावड़ियों में हँसश्रेणियों का ऐसा कलकलनाद (शब्द), सभी स्थानों में उत्पन्न होरहा था। जो (हँसश्रेणी का कलकल-नाद) राजमहल के मध्य में अत्यंत ऊँचे स्वर से पढ़े जानेवाले दिगम्बर ऋषियों या स्तुतिपाठकों के माङ्गलिक पाठ के उल्लास (विस्तार) वश वृद्धिंगत होरहा था। जो नगर-देवताओं के आँगनों (जिन मन्दिरों) पर ताड़ित किये हुए नानाप्रकार के बाजों (वेणु, वीणा, मृदङ्ग व शङ्ख-आदि) की उत्कट ध्वनियों से अस्पष्ट होगया था। इसीप्रकार जो, नवीन समागम से उत्पन्न हुए आनन्द के कारण मन्द गमन करनेवाले चकवा-चकवी के अनर्थक शब्दों से गम्भीर होगया था। जो कमलिनियों के पुष्परस-पान से सन्तुष्ट हुए एवं मद को प्राप्त हुए भँवरों के कोलाहल से उत्ताल (वृद्धिंगत) होरहा था। जो सारसी के साथ रतिविलास करने में रसिक (अनुरक्त) हुए सारस पक्षी के शब्दों से सरलता (अकुटिलता) धारण कर रहा था। जो मैथुन-क्रीड़ा से कृतार्थ (सन्तुष्ट) हुई कुररकामिनी (कुररपक्षी-भार्या) के शब्द से प्रचुर होरहा था।

वीचिकाचयप्रचारप्रारम्भविजृम्भितकुक्कुभकुदकुहानादशब्दाले प्रमदवनानोकहकुहरकुलायनिलीनशुकसारिकाशावशब्दासराले सुरासुरसमरसंप्लव इवादिपुरुषोत्पत्तिदिवस इवामृतमथनकाल इव सेतुबन्धप्रबन्ध इव प्रथमयुगावतारपुण्याह इव च सर्वतः समुच्छलति गृहदीर्घिकासु द्रुहिणद्विजकुलकोलाहले, निजनियोगव्यग्राङ्गनासंचरणरणन्मणिमञ्जीरस्वरसंकराव्यक्तकालसिञ्चलि-करेषु राजभवनभूमिषु भोगावलीपाठकेषु, त्रोटिकोटिविघटितपुटनिवेशैर्मृणालिनीपलाशैर्निशानिरशनविवशकायं बालिशनिकायं स्मरसंमर्दच्छर्दितौधस्यैः पयोधरास्यैर्वालवतीष्वभिसारिकास्विवाश्वासयन्तीषु मरालीषु, करेणुकरोल्लसितसल्लकीपल्लवापनीय-मानपरागोपदेहे नागनिवहे, तत्क्षणक्षरत्क्षीरप्रतीक्ष्यमाणातिथिषु व्रजलोकवीथिषु, आगामिज[1]गत्सर्वसंपादनाकुलकर्मणि ब्रह्मणि, प्रजापालनोपायनिरतान्तःकरणे नारायणे, प्रलयकालकलासंभालनादिनि कपर्दिनि, अनेकमखाह्वानगमनमूढमतिकक्षे सहस्राक्षे, होमाजिह्मब्राह्मणसमिध्यमानमहसि हुताशनि,

---

जो, तरङ्ग-समूहों में संचार करने के उद्यम से बढ़ी हुई जलकाक-पक्षियों की शब्द विशेष की ध्वनि से शब्दाय-मान होरहा था। जो, ऐसी शुक-सारिकाओं (तोता-मेनाओं) के बच्चों के शब्दों से विशेष प्रचुर होगया था, जो कि राजाओं के बगीचों के वृक्षों के मध्यवर्ती घोंसलों में बैठी हुई थीं। इसीप्रकार जो ऐसा प्रतीत होता था—मानों—देवताओं और दैत्यों के मध्य हुआ युद्ध-संगम ही है। अथवा मानों—ऋषभदेव तीर्थङ्कर के जन्मकल्याणक का दिवस ही है। अथवा मानों—देव और दानवों द्वारा किये हुए क्षीरसागर के मन्थन का अवसर ही है। अथवा—मानों—राम-लक्ष्मणादि द्वारा किये हुए सेतुबन्ध का प्रघट्टक ही है। अथवा मानों—ऋषभदेव के राज्य संबंधी उपदेश काल में किया हुआ पुण्याहवाचन (माङ्गलिक पाठ) ही है। इसीप्रकार जब राजमहल की भूमियों पर ऐसीं संगीतज्ञों की मधुर गान-ध्वनियाँ होरहीं थीं, जिनमें शब्द-प्रघट्टक (ध्वनियों का जमाव) इसलिए अस्पष्ट होरहा था, क्योंकि उनमें (गान-ध्वनियों में) अपने अपने अधिकारों में संलग्न हुईं कमनीय कामिनियों के संचार-वश मञ्जुल ध्वनि करनेवाले मणिमयी नूपुरों के झुनझुन शब्दों की संकरता (मिलावट) होरही थी। जब हँसिनियाँ, रात्रि में भोजन न मिलने के कारण व्याकुलित शरीरवाले अपने बच्चों के समूह को, ऐसी कमलिनी के नवीन पल्लवों से, जिनका पुटनिवेश (जुड़ा हुआ प्रदेश) चञ्चु-पुटों के अग्रभागों द्वारा तोड़ दिया गया है, उसप्रकार आश्वासन देरही थीं जिसप्रकार बच्चोंवाली अभिसारिकाएँ (अपने प्रिय के द्वारा बताए हुए संकेत स्थान पर जानेवाली कमनीय कामिनियाँ) अपने ऐसे कुचों (स्तनों) के अग्रभागों से, जिन्होंने रतिविलास संबंधी संमर्द (पीड़न) से दुग्ध उद्वान्त किया है—फेंका है, अपने बच्चों को प्रातः काल में आश्वासन देती हैं। अर्थात्—जिसप्रकार अभिसारिकाएँ स्तनों के अग्रभागों द्वारा प्रातःकाल में बच्चों को आश्वासन देती हैं, उसी प्रकार हँसिनियाँ भी अपने बच्चों को कमलिनी के कोमलपत्तों से आश्वासन देती थीं। जब हस्ती-समूह के शरीर पर स्थित हुई धूलि-राशि, हथिनियों के शुण्डादण्डों (सूंड़ों) से तोड़े हुए सल्लकी वृक्ष के कोमल पल्लवों द्वारा दूर की जारही थी। इसीप्रकार जब व्रजलोक-वीथियाँ (गोकुल के ग्वालों के मार्ग), जिनपर उसीसमय (प्रातःकाल में) दुहे हुए दूध से अतिथियों की पूजा की जारही थी। जब ब्रह्मा भविष्यत् लोक की पूर्णरूप से सृष्टि करने में किंकर्तव्य-विमूढ व्यापार-युक्त होरहे थे। जब नारायण (विष्णु) का मन ब्रह्मा द्वारा बनाई हुई सृष्टि की रक्षा करने के उपाय (उद्यम) में तत्पर होरहा था। इसीप्रकार जब रुद्र (महेश) लोक की संहार-वेला (समय) के स्मरण-शील होरहे थे। जब इन्द्र, जिसकी बुद्धिरूपी-लता बहुत से यज्ञों में आमन्त्रण व गमन (स्वयं वहाँ जाना अथवा तीर्थङ्करों के कल्याणकों में अनेक देवों सहित जाना) में व्याकुल होरही थी। जब

---

१. 'जगत्सर्ग' क०।

त्रिविष्टपव्यापारपरायणावस्थे मध्यस्थे, क्षपाक्षयक्षीणाकाङ्क्षवक्षसि रक्षसि, नूत्नरत्नयत्नाहितमनोरथे पाथोनिधिनाथे, प्रसंख्यानोन्मुखवैखानसमनोविनीयमानात्मनि मातरिश्वनि, वनीपकसंतर्पणोद्घाटितकोशे धनेशे, योगनिद्रोद्रेकमुद्रिताक्षिपक्ष्मे विशालाक्षे, धरोद्धरणाधीनचेतसि चक्षुःश्रवसि, परस्पराचरितसमय इव स्वकीयक्रियाकाण्डकण्डुलहृदये भुवनत्रये, पुनः खरदण्डिनीखण्डेषु चक्रवाकविकिरपरिषदि बन्धूकजीवेषु विद्रुमारामराजिषु पारापतपतङ्गचरणेषु सिन्दूरितशिरःपिण्डशुण्डाल-घटायां च विभक्तारुणिमनीवार्यमणि संजाते सूर्यमणिमुकुरुन्दसुन्दरे,

'दुःस्वप्नोपशमाय दुर्जनसमालोकागतैनश्छिदे दुश्चिन्ताहतये दुरीहितभवद्विघ्नव्युदासाय च ।
भूयः कल्पितदक्षिणैः कृतजयाघोषोत्सवं ब्राह्मणैः*राज्याबीक्षणमेतदस्तु भवतः सर्वेप्सितावाप्तये ॥ १६ ॥
यो दर्शयन्निजतनौ भुवनं समस्तं जातः समो भगवता मधुसूदनेन ।
लीलाविलासवसतिश्च मृगेक्षणानां क्षोणीश मङ्गलकरो मुकुरः स तेऽस्तु' ॥ १७ ॥

अग्नि, होम करने में सरल ब्राह्मणों द्वारा प्रदीप्त किये जारहे तेजवाली होरही थी। जब यम तीन लोक के प्रवर्तन में तत्पर अवस्था-युक्त होरहा था। जब राक्षस रात्रि-क्षय (दिन-प्रारंभ) होजाने के फलस्वरूप निराश-हृदयवाला होरहा था। जब वरुण नवीन रत्नों की प्राप्ति करने के प्रयत्न में मनोरथ को प्रेरित करनेवाला होरही थी। इसीप्रकार जब वायु, ध्यान या जप में तत्पर हुए तपस्वियों के हृदयों में सँकोच किये जारहे स्वरूप-युक्त होरही थी और जब कुबेर याचकों को सन्तुष्ट करने के लिए अपना खजाना प्रकट करनेवाला होरहा था एवं जब रुद्र योग-निद्राके उद्रेक (ध्यान के पश्चात् प्रकट हुई निद्राकी अधिकता) से अपने नेत्रों के पलक मुद्रित (बन्दकरनेवाला) और जब शेषनाग पृथिवी को ऊपर उठाने में तत्पर चित्तशाली होरहा था और जब तीन लोक का प्राणी-समूह, अपने-अपने आचार-(कर्तव्य) समूह के पालन में उद्यत मनवाला होरहा था, इसलिए जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—जिसने परस्पर में कर्तव्य का अवसर जान लिया है और जब सूर्य, सूर्यकान्तमणि के दर्पण-सरीखा मनोज्ञ प्रतीत होता हुआ ऐसा मालूम पड़ रहा था—मानों—जिसने कमलिनी-वनों, लालकमलों, चकवा-चकवी पक्षि-समूहों, बन्धूकजीवों (दुपहरी-फूलों), प्रवाल (मूँगा) वनों की श्रेणियों व कबूतरपक्षियों के चरणों में और सिन्दूर-लिप्त मस्तक पिंडवाले हाथियों के शुण्डों में अपनी लालिमा विभक्त करके दी है।

इसीप्रकार यशोर्घ महाराज, जो कि शत्रुओं पर प्राप्त की हुई विजय-लक्ष्मी के कारण उन्नत-राज्यशाली थे, जब अपना मुख, घी में और दर्पण में देखते हुए स्तुतिपाठकों के समूह द्वारा कही जानेवालीं निम्नप्रकार की सूक्तियाँ श्रवण कर रहे थे तब उन्होंने अपने मस्तक पर श्वेत बालरूपी अङ्कुर देखा।

'हे राजन्! जिनके लिए बहुत सी दक्षिणा (सुवर्ण-आदि का दान) दी गई है ऐसे ब्राह्मणों द्वारा जयध्वनि के आनन्द-पूर्वक किया जानेवाला यह आपका घृत-दर्शन (घी में मुख देखना), जो कि खोटे स्वप्नों की शान्ति, दुष्ट-दर्शन से उत्पन्न हुए पापों के ध्वंस और मानसिक खोटी चिन्ताओं (परधन व पर-कलत्र ग्रहण की कुचेष्टा) का नाश तथा उनसे उत्पन्न हुए विघ्न-समूह के नाश का हेतु (निमित्त) है, आपको समस्त अभिलषित वस्तुओं के प्राप्त करने में समर्थ होवे'[1] ॥९६॥ हे पृथिवीपति—राजाधिराज! यह दर्पण, जो कि अपने मध्य में समस्त लोक प्रदर्शित करने के फलस्वरूप भगवान् नारायण (श्रीकृष्ण) सरीखा प्रतीत होरहा है एवं जो मृगनयनी कमनीय कामिनियों की शृङ्गार चेष्टाओं† का क्रीड़ा-मन्दिर है, आपके लिए माङ्गलिक (कल्याण-कारक) होवे[2]' ॥९७॥

---

* 'राज्यावेक्षण' इति क०, घ०। † उक्तं च—हेलाविलासबिब्बोकलीलाललितविभ्रमाः। स्त्रीणां शृङ्गारचेष्टाः स्युर्हावपर्यायवाचकाः ॥१॥ सं० टी० पृ० २५२ से संकलित—सम्पादक

१. समुच्चयालंकार। २. समुच्चयालंकार।

इति बन्दिवृन्दोक्तसूक्तीः समाकर्णयतो विजयोर्जितराज्यस्याज्यावेक्षणं दर्पणनिरीक्षणं च कुर्वतः तस्य यशोर्घ-महाराजस्य पलिताङ्कुरदर्शनमभूत् ।

तं च हस्तेनावलम्ब्यालोक्य च स मे तातः किलैवमचिन्तयत्—

'मतिविभवविनाशोत्पातकेतुप्रतानः सुरतसुखसरोजोच्छेदनीहारसारः ।
मदनमदविनोदानन्दकन्दावमर्दप्रपतदशनिदण्डाडम्बरः केश एषः ॥ ९८ ॥

करणकरिणां दर्पोद्रेकप्रदारणवेणवो हृदयहरिणस्येहाध्वंसप्रसाधनवागुराः ।
मनसिजमनोभङ्गासङ्गे चिताभसितागमाः शुचिरुचिवशाः केशाः पुंसां यमोत्सवकेतवः ॥ ९९ ॥

कुन्दावदातैर्दयितावलोकितैर्दुग्धद्युतैः स्त्रीदशनच्छदामृतैः । सदा सहावासरसार्थने जने किमत्र चित्रं यदयं शुचिः कचः ॥१००॥

जरावल्लीतन्तुर्मनसिजचिताचक्रभसितं यमव्यालक्रीडासरणिसलिलं केशमिषतः ।
महामोहे पुंसां विषतरुजटाजालमलघु प्रियालोकप्रीतिस्थितिविरतये पत्रकमिदम् ॥ १०१ ॥

तत्पश्चात् मेरे पिता (यशोर्घ महाराज ने) उसे अपने करकमल पर स्थापित करते हुए देखा और निश्चय से निम्नप्रकार प्रशस्त विचार किया—

'यह श्वेत केश बुद्धि रूपी लक्ष्मी के विनाश-हेतु उत्पात-केतु (नवमग्रह) सरीखा है। अर्थात्—जिस प्रकार नवमग्रह के उदय से लक्ष्मी नष्ट होती है उसीप्रकार बृद्धावस्था में श्वेत केश हो जाने से बुद्धिरूपी लक्ष्मी नष्ट हो जाती है एवं यह (श्वेत केश) स्त्रीसंभोग-सुखरूप कमल को नष्ट करने हेतु स्थिर प्रालेय (पाला) जैसा है। अर्थात्—जिसप्रकार पाला पड़ने से कमल समूह नष्ट होजाते हैं उसीप्रकार बृद्धावस्था में श्वेत केश हो जाने से बृद्ध मानव का स्त्री-संभोग-संबंधी सुख भी नष्ट होजाता है। इसीप्रकार इस श्वेत केश की शोभा, उस सुख रूप वृक्ष की जड़ को चूर-चूर करने के लिए गिरते हुए विस्तृत विजलीदंड-सरीखी है, जो कि कामदेव के दर्प से उत्पन्न हुए स्त्रीसंभोग-कौतूहल से उत्पन्न होता है। अर्थात्—जिसप्रकार विजली गिरने से वृक्षों की जड़ें चूर-चूर होजाती हैं, उसीप्रकार सफेद बाल होजाने से क्षीणशक्ति बृद्ध पुरुष का स्त्री-संभोग संबंधी सुख भी चूर-चूर (नष्ट) होजाता है[1] ॥ ९८ ॥ चन्द्र-सरीखे शुभ्र मानवों के केश, इन्द्रिय-समूह रूप हाथियों के मद की अधिकता नष्ट करने के लिए बाँस वृक्ष-सरीखे हैं और मनोरूप मृग की चेष्टा नष्ट करने के हेतु बन्धन-पाश हैं। अर्थात्—जिसप्रकार बन्धन-करनेवाले जाल हिरणों की चेष्टा (यथेच्छ विहार-आदि) नष्ट कर देते हैं उसीप्रकार सफेद बालों से भी इन्द्रिय रूप हरिणों की चेष्टा (इन्द्रियों की विषयों में यथेच्छ प्रवृत्ति) नष्ट होजाती है एवं ये, कामदेव की इच्छा भङ्ग करने के लिए चिता-भस्म हैं। अर्थात्—जिसप्रकार चिता की भस्माधीन हुए (काल-कवलित) मानव में कामदेव की इच्छा नष्ट होजाती है उसीप्रकार सफेद बाल होजाने पर बृद्ध पुरुष में कामदेव की इच्छा (रतिविलास) नष्ट होजाती है। इसीप्रकार ये श्वेत बाल, यमराज की महोत्सव-ध्वजाएँ हैं। अर्थात्—जिसप्रकार ध्वजाएँ महोत्सव की सूचक होती हैं उसीप्रकार ये श्वेत बाल भी मृत्यु के सूचक हैं[2] ॥९९॥ क्योंकि जब यह मानव कुन्दपुष्प-सरीखी उज्वल कमनीय कामिनियों की कटाक्ष-विक्षेप पूर्वक की हुई तिरछी चितवनों के साथ और दुग्ध-जैसे शुभ्र रमणियों के ओष्ठरूप अमृत के साथ निरन्तर सहवास-रूप प्रेम की प्रार्थना करता है तब उसके केश श्वेत होजाने में आश्चर्य ही क्या है ? कोई आश्चर्य नहीं[3] ॥१००॥ श्वेत केश के बहाने से मानों—यह, बृद्धावस्था रूपी लता का तन्तु-सरीखा है। अथवा-नष्ट हुए कामदेव के चिता (मृतकाग्नि) मण्डल की भस्म-जैसा है। अथवा यह श्वेत केश के बहाने से मृत्यु-रूपी दुष्ट हाथी के क्रीड़ा करने की कृत्रिम नदी का उज्वल जल ही है। अथवा पुरुषों को मूर्च्छित करने के हेतु विष-वृक्ष का विशाल जड़-समूह ही है।

१. रूपकालंकार। २. रूपकालंकार। ३. हेतु व आक्षेपालंकार।

तारुण्यकाले मददुर्दिनैर्या सितेतरैः स्त्रीनयनैः प्रजाता। कृष्णच्छविः साद्य शिरोरुहश्रीर्जराजलैर्या क्रियतेऽवदाता ॥१०२॥

अपि च कामिनीजनविलास*विड्उत्सारणेषु चण्डालदण्डा इव, प्रलयप्रारम्भवार्ताकर्णनेषु मृत्युदूतागमनमार्गा इव, शृङ्गाररसप्रसरनिवारणेषु परागराजिसमागमा इव, स्वान्तस्फुरितखण्डनेषु परशुधारावपाता इव, करणग्रामविगमेषु धूमकेतूद्गमा इव, वपुर्लावण्योल्लेखनेषु स्फटिकशलाकावतारा इव, आगामिमतिमहामोहाविर्भावेषु विषतरुप्रसवपरिचया इव, मनःसरसि च मनसिजद्विजानवसरसूचनेषु कीकसाभोगा इव, अमी मनुष्याणां पलिताङ्कुराः।

अर्थात्—जिसप्रकार विषवृक्ष की जड़ भक्षण करने से मनुष्य मूर्छित होजाता है उसीप्रकार श्वेत केश भी वृद्ध मानव का मन मूर्च्छित—अज्ञानी—कर देते हैं। अथवा यह, स्त्रियों के देखने की प्रेम-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न (नष्ट) करने के लिए करौंत की धार है। अर्थात्—जिसप्रकार करौंत की धार लकड़ी वगैरह को चीर डालती है, उसीप्रकार वृद्ध पुरुष के श्वेत केश भी स्त्रियों द्वारा कीजाने वाली प्रेम-पूर्ण चितवन को नष्ट कर देते हैं। अथवा यह, स्त्रियों की प्रेममयी चितवन को नष्ट करने के लिए लेखपत्र (प्रतिज्ञापत्र) ही है[1] ॥१०१॥ जो केश-लक्ष्मी युवावस्था के अवसर पर मद (काम-विकार) रूपी अन्धकार से युक्त और श्यामवर्णवाले स्त्रियों के नेत्रों द्वारा कृष्ण कान्ति-युक्त होगई थी, वह आज वृद्धावस्था रूपी धोवन द्वारा उज्वल (शुभ्र) की जारही है[2] ॥१०२॥

ये मानवों के श्वेत बालरूपी अङ्कुर, स्त्री-समूह के साथ किये जानेवाले रतिविलासरूप विष्टा को उस प्रकार दूर करते हैं जिसप्रकार चाण्डालों के दण्ड (पशुओं की हड्डियाँ) विष्टा दूर करते हैं। जिसप्रकार यमराज-दूतों के आगमन-मार्ग, मृत्युकाल की शीघ्रता का वृत्तान्त सुनते हैं उसीप्रकार सफेद बालरूपी अङ्कुर भी शीघ्र होनेवाली मृत्यु का वृत्तान्त सुनते हैं। भावार्थ—जिसप्रकार यमदूतों का आगमन शीघ्र होनेवाली मृत्यु का सूचक है उसीप्रकार वृद्धों के सफेद बालाङ्कुर भी उनकी शीघ्र होनेवाली मृत्यु सूचित करते हैं। इसीप्रकार प्रस्तुत श्वेत बालाङ्कुर, शृङ्गाररस का विस्तार उसप्रकार निवारण (रोकना) करते हैं जिसप्रकार धूलि-समूह का आगमन वृद्धिंगत जल-प्रसार को निवारण कर देता है एवं जिसप्रकार कुल्हाड़े की धार ऊपर गिरने से लकड़ी छिन्न-भिन्न (चूर-चूर) होजाती है उसीप्रकार सफेद बालाङ्कुर भी मानसिक चेष्टाओं (काम-वासनाओं) को छिन्न-भिन्न (चूर-चूर) कर देते हैं। अर्थात्—वृद्धावस्था में जब सफेद बालरूपी अङ्कुरों का उद्गम होजाता है तब मानसिक चेष्टाएँ स्वयं नष्ट होजातीं हैं एवं जिसप्रकार धँधकती हुई अग्नि की उत्पत्ति ग्रामोंको भस्म कर देती है उसीप्रकार वृद्ध मानवों के सफेद बालाङ्कुर भी इन्द्रियरूपी ग्रामों को भस्म (शक्ति-हीन) कर देते हैं एवं जिसप्रकार स्फटिक पाषाण-घटित अस्त्रविशेष या बाण का समागम भूमि खोदने में समर्थ होता है, उसीप्रकार सफेद बालाङ्कुरों का समागम भी शारीरिक कान्ति को खोदने—नष्ट करने—में समर्थ होता है। इसीप्रकार ये सफेद बालाङ्कुर भविष्यत् में होनेवाली बुद्धि को विशेष रूप से मूर्च्छित करने में उसप्रकार समर्थ होते हैं जिसप्रकार विषवृक्ष के फूलों का संगम मानवों की बुद्धि को विशेषरूप से मूर्च्छित करता है। प्रकट हुए सफेद बालरूपी अङ्कुर, हृदयरूपी तालाब में स्थित हुए कामदेव रूपी ब्राह्मण (कर्म-चाण्डाल) के अयोग्यकाल की सूचना उसप्रकार कर देते हैं जिसप्रकार तालाब में स्थित हुआ हड्डियों का विस्तार ब्राह्मण का अयोग्यकाल सूचित करता है[3]।

* 'विलासोत्सारणेषु' इति क, ग, घ, च० प्रतिषु पाठः। A विलास एव उत्सारणं विष्ठा इति टिप्पणी। विमर्श—मुद्रित प्रतौ पाठः विशेष स्पष्टः—सम्पादकः

१. रूपकालंकार। २. हेतु-अलंकार। ३. उपमालङ्कार व समुच्चयालङ्कार।

अपि च। अज्ञस्य जन्तोः पलिताङ्कुरेक्षणं भवेन्मनोभङ्गकृते न धीमतः।
संसारतृष्णाभुजगीविजृम्भणप्रशान्तिसीमाभ्रिकुरा हि पाण्डुराः ॥ १०३ ॥
मुक्तिश्रियः प्रणयवीक्षणजालमार्गाः पुंसां चतुर्थपुरुषार्थतरुप्ररोहाः।
निःश्रेयसामृतरसागमनाग्रदूताः शुक्लाः कचा ननु तपश्चरणोपदेशाः' ॥ १०४ ॥

तदनु संजातनिर्वेदसंवेदनहृदयः सविधतरनिःश्रेयसाभ्युदयः सच्चरितलोकलोचनचन्द्रमाः पुनरिमाः किल शीलसाराः सस्मार संसारसागरोत्तरणपोतपात्रदशा द्वादशाप्यनुप्रेक्षाः।

तथाहि। उत्सृज्य जीवितजलं बहिरन्तरेते रिक्ता विशन्ति मरुतो जलयन्त्रकल्पाः।
एकोऽयमं जरति यूनि महत्यणौ च सर्वंकषः पुनरयं यतते कृतान्तः ॥ १०५ ॥

अथवा श्वेत केशरूप अङ्कुरों का दर्शन, विवेक-हीन प्राणी को ही मानसिक कष्ट देता है न कि तत्वज्ञानी को। क्योंकि उसके मानसिक क्षेत्र में निम्नप्रकार की विचारधारा प्रवाहित होती है। "ये श्वेतकेश सांसारिक तृष्णा रूपी कालसर्पिणी के विस्तार को शान्त करनेवाली मर्यादाएँ हैं[1]" ॥१०३॥ पुरुषों के ये शुभ्र केश निश्चय से मुक्तिलक्ष्मी की प्रेममयी चितवन के लिए झरोखे के छिद्र हैं। अर्थात्—जिसप्रकार स्त्रियाँ, झरोखों के छिद्रों से बाहिर के मानवों की ओर प्रेम-पूर्ण चितवन से देखती हैं उसीप्रकार वृद्धावस्था में शुभ्र केश होजाने से विवेकी वृद्ध पुरुष मुक्तिरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति के उपायों में प्रवृत्त होते हैं, जिसके फलस्वरूप मुक्तिलक्ष्मी उनकी ओर प्रेमपूर्ण चितवन से देखती है। एवं ये, मोक्षरूप वृक्ष के अङ्कुर हैं। क्योंकि श्वेत केश वृद्धपुरुष को मोक्ष पुरुषार्थ रूप कल्पवृक्ष की प्राप्ति के लिए प्रेरित करते हैं। इसीप्रकार ये मोक्षरूप अमृत-धारा-प्रवाह संबंधी आगमन के अग्रदूत (प्रथम संदेश लेजानेवाले दूत) हैं तथा ये दीक्षाग्रहण के शास्त्र हैं, क्योंकि इनके देखने से तत्वज्ञानी पुरुष दीक्षा धारण करने में तत्पर होते हैं[2] ॥१०४॥

तत्पश्चात्—श्वेत केशरूप अङ्कुर-दर्शन के अनन्तर—जिसके हृदय में संसार, शरीर और भोगों से विरक्त बुद्धि उत्पन्न हुई है, और जिसका मोक्ष-प्राप्ति रूप फल निकटवर्ती है एवं जो सदाचारी पुरुषों के नेत्रों को प्रमुदित करनेके लिए चन्द्र-समान है, ऐसे यशोर्घ महाराज ने ऐसी बारह भावनाओं का, जो कि अठारह हजार शील के भेदों में प्रधान और संसार-समुद्र से पार करने के लिए जहाज की घटिकाओं-सरीखी हैं, चिन्तवन किया[3]।

अनित्यभावना—ये उच्छ्वास-वायुएँ रिंहट की घरियों की माला-सरीखीं हैं। अर्थात्—जिसप्रकार रिंहट की घरियाँ कुएँ-आदि जलाशय से जलपूर खींचकर पश्चात् उसे जमीन पर फैंककर खाली होजाती हैं और पुनः जलराशि के ग्रहणार्थ फिर उसी जलाशय में प्रविष्ट होजाती हैं उसीप्रकार ये स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष से प्रतीत होने वालीं श्वासोच्छ्वास-वायुएँ भी शरीररूपी जलाशय (कुआ-आदि) से जीवन (आयुष्य) रूपी जल खींचकर तदनन्तर उसे बाहिर फैंककर खाली होजाती हैं, तत्पश्चात् पुनः शरीर के मध्य संचार करने लगती हैं। अर्थात्—इसप्रकार से आयु क्षण-क्षण में क्षीण होरही है एवं दावानल अग्नि-सरीखा यह यमराज वृद्ध, जवान, धनी व निर्धन पुरुष को नष्ट करने के लिए एकसा उद्यम करता है। अर्थात्—दावानल अग्नि-जैसा इसका प्राणिसंहार-विषयक व्यापार अद्वितीय है, तत्पूर्वक एकसा उद्यम करता है[4] ॥१०५॥

---

१. रूपकालङ्कार। २. रूपकालङ्कार। ३. रूपकालङ्कार। ४. उपमालंकार।

लावण्ययौवनमनोहरणीयताद्याः *कायेष्वमी यदि गुणाश्चिरमावसन्ति ।
सन्तो न जातु रमणीरमणीयसारं संसारमेनमवधीरयितुं यतन्ते ॥ १०६ ॥
उच्चैः पदं नयति जन्तुमधः पुनस्तं वात्येव रेणुनिचयं चपला विभूतिः ।
श्राम्यत्यतीव जनता वनितासुखाय ताः सूतवत्करगता अपि विप्लवन्ते ॥ १०७ ॥
शूरं विनीतमिव सज्जनवत्कुलीनं विद्यामहान्तमिव धार्मिकमुत्सृजन्ती ।
चिन्ताज्वरप्रसवभूमिरियं हि लोकं लक्ष्मीः †खलक्षणसखी कलुषीकरोति ॥ १०८ ॥

यदि मानवों की शारीरिक कान्ति, जवानी और सौन्दर्य-आदि गुण उनके शरीरों में चिरस्थायी रहते तब तो सज्जन पुरुष कमनीय कामिनियों से मनोज्ञ मध्यभाग वाले संसार को कदापि त्यागने का प्रयत्न न करते[1] ॥१०६॥ जिसप्रकार प्रचण्ड वायु, धूलि-राशि को उड़ाकर उसे ऊँचे स्थान (आकाश) पर लेजाती है पुनः नीचे स्थान (जमीन) पर गिरा देती है उसीप्रकार अत्यन्त चञ्चल धनादि लक्ष्मी भी प्राणी को ऊँचे स्थान (राज्यादि-पद) पर स्थापित करके पुनः उसे नीचे स्थान (दरिद्रावस्था) में प्रविष्ट कर देती है। इस संसार में समस्त लोक (मानव-समूह) उत्तम स्त्री-संबंधी संभोग-सुख प्राप्त करने के लिए कृषि व व्यापारादि जीविकोपयोगी उद्योगों में प्रवृत्त होता हुआ कष्ट उठाता है, परन्तु जिसप्रकार पारद (पारा) हस्त तल पर सुरक्षित रक्खा हुआ भी नष्ट होजाता है उसीप्रकार स्त्रियाँ भी हस्ततल पर धारण की हुई (भलीप्रकार सुरक्षित की हुई) भी नष्ट होजाती हैं[2] ॥१०७॥ यह धनादि लक्ष्मी, जो कि चिन्ता से उत्पन्न होनेवाले ज्वर का उत्पत्ति स्थान है और उसप्रकार क्षणिक स्नेह करती है जिसप्रकार दुष्ट क्षणिक स्नेह करता है, यह वीर पुरुष को उसप्रकार छोड़ देती है जिसप्रकार विनयशील को छोड़ देती है। अर्थात्—विनयी और शूरवीर दोनों को छोड़ देती है और कुलीन पुरुष को भी उसप्रकार छोड़ देती है जिसप्रकार सज्जन पुरुष को छोड़ देती है। एवं धार्मिक पुरुष को भी उसप्रकार ठुकरा देती है जिसप्रकार विद्वान् को ठुकरा देती है। इसीप्रकार यह समस्त संसार को पापी बनाती है। भावार्थ—इस संसार में प्रायः सभी पुरुष अप्राप्त धन की प्राप्ति, प्राप्त हुए की रक्षा और रक्षित किये हुए धन की वृद्धि के उद्देश्य से नाना भाँति के चिन्ता रूप ज्वर से पीड़ित रहते हैं, अतः यह लक्ष्मी चिन्ता रूप ज्वर की उत्पत्ति भूमि है एवं लक्ष्मी का स्नेह दुष्ट-प्रीति सरीखा क्षणिक होता है। नीतिकारों ने भी कहा है कि 'बाँदलों की छाया, घास की अग्नि, दुष्ट का स्नेह, पृथ्वी पर पड़ा हुआ पानी, वेश्या का अनुराग, और खोटा मित्र ये पानी के बबूले के समान क्षणिक हैं'[3]। प्रकरण में लक्ष्मी का स्नेह दुष्ट-प्रीति-सा क्षणिक है इसीप्रकार यह लक्ष्मी शूरवीर, विनयशील, सज्जन, कुलीन, विद्वान् और धार्मिक को छोड़ती हुई समस्त संसार को पापकालिमा से कलङ्कित करती है। क्योंकि 'लोभमूलानि पापानि' अर्थात् लोभ समस्त पापरूपी विषैले अङ्कुरों को उत्पन्न करने की जड़ है, अतः इसकी लालसा से प्रेरित हुआ प्राणी-समूह अनेक प्रकार के पाप संचय करता है[4] ॥१०८॥

A

*'कायानमी' इति क, ख, ग०, परन्तु अर्थभेदो नास्ति। †'खलु क्षणसखी' इति घ०, च०। A प्रलयकाल-समयस्तस्य सहचरी इति टिप्पणी ॥

१. समुच्चयोपमालंकार। २. उपमालंकार।

३. तथा चोक्तं—'अभ्रच्छाया तृणादग्निः खले प्रीतिः स्थले जलम्। वेश्यानुरागः कुमित्रं च षडेते बुद्बुदोपमाः ॥१॥ संस्कृत टीका से संकलित—सम्पादक ४. उपमालङ्कार।

वाचि भ्रुवोर्दृशि गतावलकावलीषु यासां मनःकुटिलतातटिनीतरङ्गाः ।
अन्तर्नमान्त इव दृष्टिपथे प्रयाताः कस्ताः करोतु सरलास्तरलायताक्षीः ॥ १०९ ॥
संहारबद्धकवलस्य यमस्य लोके कः पश्यतोहरविधेरवधिं प्रयातः ।
यस्माज्जगत्त्रयपुरीपरमेश्वरोऽपि तत्राहितोद्यमगुणे विधुरावधानः ॥ ११० ॥
इत्थं क्षणक्षयहुताशमुखे पतन्ति वस्तूनि वीक्ष्य परितः सुकृती यतात्मा ।
तत्कर्म किंचिदनुसर्तुमयं यतेत यस्मिन्नसौ नयनगोचरतां न याति ॥ १११ ॥ इत्यनित्यानुप्रेक्षा ॥ १ ॥
दत्तोदयेऽर्थनिचये हृदये स्वकार्ये सर्वः समाहितमतिः पुरतः समास्ते ।
जाते त्वपायसमयेऽम्बुपतौ पतत्रेः पोतादिव द्रुतवतः शरणं न तेऽस्ति ॥ ११२ ॥
बन्धुव्रजैः सुभटकोटिभिराप्तवर्गैर्मन्त्रास्त्रतन्त्रविधिभिः परिरक्ष्यमाणः ।
जन्तुर्बलादतिबलोऽपि कृतान्तदूतैरानीयते यमवशाय वराक एकः ॥ ११३ ॥

संसार में उन चञ्चल व विशाल नेत्रोंवालीं स्त्रियों को कौन सरल (निष्कपट) बना सकता है ? कोई नहीं बना सकता। जिनकी मानसिक कुटिलता रूपी नदी की तरङ्गें, उनके हृदयों में न समातीं हुईं हीं मानों—बाहिर दृष्टिगोचर होरही हैं। उदाहरणार्थ—जिनके वचन, भ्रुकुटि (भोहें), नेत्र और गति (गमन) और केश-श्रेणियों में कुटिलता दृष्टिगोचर होरही है[1] ॥१०९॥ क्योंकि जब भक्षणार्थ अध्यारोपित उद्यम-गुणवाले जिस यमराज (काल) को नष्ट करने में तीर्थङ्कर भगवान् अथवा श्रीमहादेव का प्रयास (प्रयत्न) भी निष्फल होगया तब जिसने समस्त संसार को तोड़ मरोड़कर खाने के उद्देश्य से अपने मुख का ग्रास (कवल—कौर) बनाया है और जो चौर-सरीखा अचानक आक्रमण करनेवाला है, ऐसे यमराज का अन्त (नाश) संसार में कौन पुरुष कर सका ? अपि तु कोई नहीं कर सका[2] ॥११०॥ पूर्वोक्त प्रकार से जीवन व यौवनादि वस्तुओं को चारों तरफ से यमराज (काल) रूप प्रलयकालीन अग्नि के मुख में प्रविष्ट होतीं हुईं देखकर इस पुण्यशाली व विवेकी पुरुष को प्रमाद-रहित होते हुए ऐसे किसी कर्त्तव्य (ऋषियों द्वारा बताया हुआ तपश्चरणादि) के अनुष्ठान में प्रयत्नशील होना चाहिए, जिसके फलस्वरूप उसे भविष्य में यह (यमराज) दृष्टिगोचर न होने पावे[3] ॥१११॥ इति अनित्यानुप्रेक्षा ॥१॥

अशरणाप्रेक्षा—हे जीव ! जब तेरे पास धनराशि संचित रहती है एवं उसका कार्य उदार-चित्तवृत्ति—दानशीलता—रहती है तब समस्त प्राणी (कुटुम्ब-आदि) सावधानचित्त होते हुए तेरे सामने बैठे रहते हैं। अर्थात्—नौकर के समान तेरी सेवा-शुश्रूषा करते रहते हैं। अभिप्राय यह है कि नीतिकारों[4-5] ने भी उक्त बात का समर्थन किया है। परन्तु मृत्युकाल के उपस्थित होने पर कोई भी तेरा उसप्रकार शरण (रक्षक) नहीं है जिसप्रकार समुद्र में जहाज से गिरे हुए पक्षी का कोई शरण नहीं होता। अर्थात्—समुद्र में जहाज से गिरा हुआ पक्षी समुद्र की अपार जलराशि के ऊपर उड़ता हुआ अन्त में थककर उसी समुद्र में डूबकर मर जाता है, क्योंकि उसे आश्रय (ठहरने के लिए वृक्षादि स्थान) नहीं मिलता[6] ॥११२॥ यह विचारा (दीन) प्राणी, जो कि वास्तव दृष्टि से समस्त सैन्य की अपेक्षा विशेष पराक्रमशाली भी है, मृत्युकाल के उपस्थित होने पर कुटुम्बीजनों, करोड़ों योद्धाओं और माता, पिता व गुरुजनादि हितैषी पुरुषों द्वारा, मन्त्रतन्त्र संबंधी विधानों, खड्गादि-

---

१. रूपक व उपमालङ्कार। २. दृष्टान्त व आक्षेपालङ्कार। ३. रूपकालङ्कार।
४. तथा च सोमदेव सूरिः—"पुरुषः धनस्य दासः न तु पुरुषस्य" नीतिवाक्यामृत से संकलित—सम्पादक
५. तथा चोक्तं—'अर्थिनमर्थो भवति' संस्कृत टीका से संगृहीत। ६. उपमालङ्कार।

संसीदतस्तव न जातु समस्ति शास्ता त्वत्तः परः परमवाप्तसमग्रबोधेः ।
तस्यां स्थिते त्वयि यतो दुरितोपतापसेनेयमेव सुविधे विधुराश्रया स्यात् ॥ ११४ ॥ इत्यशरणानुप्रेक्षा ॥२॥
कर्मार्पितं क्रमगतिः पुरुषः शरीरमेकं त्यजत्यपरमाभजते भवाब्धौ ।
शैलूषयोषिदिव संसृतिरेनमेषा नाना विडम्बयति चित्रकरैः प्रपञ्चैः ॥ ११५ ॥
दैवाद्धनेष्वधिगतेषु पटुर्न कायः काये पटौ न पुनरायुरवाप्तवित्तम् ।
इत्थं परस्परहतात्मभिरात्मधर्मैर्लोकं सुदुःखयति जन्मकरः प्रबन्धः ॥ ११६ ॥
आस्तां भवान्तरविधौ सुविपर्ययोऽयमत्रैव जन्मनि नृणामधरोच्चभावः ।
अल्पः पृथुः पृथुरपि क्षणतोऽल्प एव स्वामी भवत्यनुचरः स च तत्पदार्हः ॥ ११७ ॥
वैचित्र्यमित्थमनुभूय भवाम्बुराशेरातङ्कवाडवविडम्बितजन्तुवारेः ।
को नाम जन्मविषपादपपुष्पकल्पैः स्वं मोहयेन्मृगदृशां कृतधीः कटाक्षैः ॥ ११८ ॥ इति संसारानुप्रेक्षा ॥३॥

शस्त्रों तथा चतुरङ्ग (हाथी व घोड़े-आदि) सैन्य-विधानों से चारों तरफ से सुरक्षित किया हुआ भी यमराज के दूतों द्वारा उसके अधीन करने के लिए उसके पास अकेला (असहाय) लेजाया जाता है[1] ॥११३॥ हे सच्चरित्र आत्मन् ! पूर्ण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त किये हुए तुम्हारे सिवाय कोई पुरुष निश्चय से कभी भी दुःख भोगनेवाले तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता। वास्तव में तुम ही स्वयं अपने रक्षक हो। क्योंकि जब तुम सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र-रूप बोधि में लवलीन हो जाओगे तब तुम्हारा यह पाप-समूह (ज्ञानावरण-आदि कर्मराशि) और उससे होनेवाला सन्ताप (शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक दुःख) समूह स्वयं नष्ट होजायगा[2] ॥११४॥ इति अशरणानुप्रेक्षा ॥२॥

अथ संसारानुप्रेक्षा—संसार समुद्र में एकगति (मनुष्यादि गति) भोगकर या छोड़कर दूसरी गति प्राप्त करनेवाला यह आत्मा नामकर्म द्वारा दिया हुआ एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है, यही संसृति (संसार) कही जाती है, जो कि इस आत्मा को चिन्ता और आश्चर्यजनक नाना वेषों के धारण द्वारा उसप्रकार विडम्बित (क्लेशित अथवा अपने स्वरूप को छिपाये हुए) करती है जिसप्रकार नाट्य-भूमि पर स्थित हुई नटी आश्चर्यजनक नाना वेष धारण करके अपने को छिपाये रखने का प्रयत्न करती है[3] ॥११५॥ प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश लक्षणवाला चार प्रकार का यह ज्ञानावरण-आदि कर्मोंका बन्ध, जो कि नाना प्रकार की पर्यायों का उत्पादक है, परस्पर में एक दूसरे के द्वारा नष्ट कर दिया गया है स्वभाव जिनका ऐसे अपने स्वभावों द्वारा समस्त प्राणियों को निम्नप्रकार से अत्यन्त दुःखी बनाता है। उदाहरणार्थ—यदि संसार में जब किसी को भाग्योदय (पुण्योदय) से धन प्राप्त होजाता है तब उसे निरोगी शरीर प्राप्त नहीं होता। इसीप्रकार निरोगी शरीर मिल जाने पर भी उसका जीवन धनाढ्य नहीं होता[4] ॥११६॥ "दूसरे जन्मों में प्राणियों का विपर्यास (उच्च से नीच व नीच से उच्च होना) नहीं होता" इसप्रकार का वाद-विवाद छोड़िए। क्योंकि जब इसी जन्म में मानवों की उच्च से नीच और नीच से उच्च स्थिति प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होरही है। उदाहरणार्थ—लोक में निर्धन पुरुष धनाढ्य होजाता है और धनाढ्य पुरुष क्षणभर में निर्धन (दरिद्र) होजाता है। इसीप्रकार राजा सेवक होजाता है और सेवक राज्य-पद के योग्य (राजा) होजाता है तब इस आत्मा को जन्मान्तरों में भी उत्तम व जघन्यपद की प्राप्ति निर्विवाद स्वयं सिद्ध हुई समझनी चाहिए[5] ॥११७॥ ऐसे संसार-समुद्र की, जिसने अपनी तत्काल प्राण-घातक व्याधि रूप बड़वानल अग्नि द्वारा समस्त प्राणी-समूह रूपी जलराशि पीड़ित की है,

१. दीपक व उपमालंकार। २. रूपकालङ्कार। ३. रूपक व उपमालङ्कार। ४. जाति-अलङ्कार। ५. दीपकालङ्कार।

एकस्त्वमाविशसि जन्मनि संक्षये च भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धम्।
अन्यो न जातु सुखदुःखविधौ सहायः स्वाजीवनाय मिलितं विटपेटकं ते ॥ ११९ ॥
बाह्यः परिग्रहविधिस्तव दूरमास्तां देहोऽप्यमेति न समं सहसंभवोऽपि।
किं ताम्यसि त्वमनिशं क्षणदृष्टनष्टैर्दारात्मजद्रविणमन्दिरमोहपाशैः ॥ १२० ॥
संशोच्य शोकविवशो दिवसं तमेकमन्येद्युरादरपरः स्वजनस्तवार्थे।
कायोऽपि भस्म भवति प्रचयाच्चिताग्नेः संसारयन्त्रघटिकाघटने त्वमेकः ॥ १२१ ॥

उक्त प्रकार की विचित्रता का अनुभव करके कौन विवेकी पुरुष संसाररूपी विषवृक्ष के पुष्प-सरीखे स्त्रियों के कटाक्षों द्वारा अपनी आत्मा को विह्वलीभूत—व्याकुलित करेगा? अपितु कोई नहीं करेगा[1] ॥ ११८ ॥

अथ एकत्वानुप्रेक्षा—हे जीव! तू अकेला (असहाय) ही अपने द्वारा किये हुए पुण्य-पाप कर्मों के सुख-दुःख रूप फलों का सम्बन्ध भोगने के लिए स्वयं जन्म (गर्भवास) और मरण में प्रविष्ट होता है। दूसरा कोई पुरुष कभी भी तेरे सुख-दुःख रूप फल भोगने में अथवा तुझे सुखी या दुःखी बनाने में सहायक नहीं है। तब क्या पुत्र-कलत्रादि-समूह तेरा सहायक हो सकता है? अपितु नहीं हो सकता। क्योंकि वह तो विटपेटकA—शत्रु-समूह-सरीखा या नट-समूह-सा—अपनी प्राणरक्षा के निमित्त तेरे पास एकत्रित होरहा है। भावार्थ—शास्त्रकारों[2] ने भी उक्त बात का समर्थन करते हुए कहा है कि यह आत्मा स्वयं पुण्य-पाप कर्मों का बंध करती है और स्वयं ही उनके सुख-दुःख रूप फल भोगती है एवं स्वयं ही संसार में भ्रमण करती है और स्वयं छुटकारा पाकर मुक्तिरूपी लक्ष्मी प्राप्त कर लेती है। गीतोपनिषद्[3] में भी कहा है कि ईश्वर जगत का स्रष्टा (कर्त्ता) नहीं है और न वह उसके (लोगों के) पुण्य-पापरूप कर्मों की सृष्टि करता है। यह स्वभाव—प्रकृति (कर्म) ही जीव को पुण्य-पाप कर्मों में प्रवृत्त करता है। ईश्वर किसी के पाप या पुण्य का ग्राहक नहीं है, यथार्थ बात तो यह है कि ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ जाने से सब जीव मोह के द्वारा बन्धन को प्राप्त होते हैं"[4] ॥ ११९ ॥ हे जीव! जब जन्म के साथ ही उत्पन्न हुआ तेरा यह शरीर भी तेरे साथ जन्मान्तर (अगले जन्म) में नहीं जाता तब तेरा बाह्य परिग्रह (स्त्री-पुत्रादि) तो दूर रहे। अर्थात्—वह तो तुझ से बिलकुल पृथक् दृष्टिगोचर होरहा है, इसलिए वह जन्मान्तर में तेरे साथ किस प्रकार जा सकता है? नहीं जा सकता। अतः हे आत्मन्! पूर्व में एक मुहूर्त में देखे हुए और पश्चात् दूसरे मुहूर्त में नष्ट होनेवाले ऐसे इन स्त्री, पुत्र, धन और गृहरूप मोह-पाशबन्धनों से तू अपने को निरन्तर बाँधता हुआ क्यों क्लेशित होरहा है?[5] ॥१२०॥

हे जीव! तेरा कुटुम्ब-वर्ग शोक से विवश हुआ केवल उसी (मरण-संबंधी) दिन शोक करके दूसरे ही दिन तेरा धन ग्रहण करने के लिए सन्मान के साथ प्रवृत्त होजाता है और तेरा यह शरीर भी चिता—श्मशान—की अग्नि-समूह से भस्म होजाता है, इसलिए संसार-रूपी रिहिट की दुःखरूप घरियों के संचालन-व्यापार में तू अकेला ही रहता है। अर्थात्—कुटुम्ब-वर्ग में से कोई भी तेरा सहायक नहीं

१. रूपकालंकार। २. तथा चोक्तं—'स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते। स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥१॥ संस्कृत टीका पृ. २६२ से समुद्धृत—सम्पादक

३. तथा चोक्तं गीतोपनिषदि—न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१॥ नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥२॥

४. रूपकालंकार। A विटपेटकं नाटकमिव इव शब्दोऽत्राप्यप्रयुक्तोऽपि दृष्टव्यः इति टिप्पणी क०। ५. रूपकालङ्कार।

एषः स्वयं तदचलैर्ननु कर्मजालैर्लूतेव वेष्टयति नष्टमतिः स्वमेकः ।
पुण्यात्पुनः प्रशमतन्तुकृतावलम्बस्तद्धाम धावति विधूतसमस्तबाधम् ॥ १२२ ॥ इत्येकत्वानुप्रेक्षा ॥४॥
देहात्मकोऽहमिति चेतसि माकृथास्त्वं त्वत्तो यतोऽस्य वपुषः परमो विवेकः ।
त्वं धर्मशर्मवसतिः परितोऽवसायः कायः पुनर्जडतया गतधीनिकायः ॥ १२३ ॥
आसीदति त्वयि सति प्रतनोति कायः क्रान्ते तिरोभवति भूपवनादिरूपैः ।
भूतात्मकस्य मृतवन्न सुखादिभावस्तस्मात्कृती करणतः पृथगेव जीवः ॥ १२४ ॥
सानन्दमव्ययमनादिमनन्तशक्तिमुद्योतिं निरुपलेपगुणं प्रकृत्या ।
कृत्वा जडाश्रयमिमं पुरुषं समृद्धाः संतापयन्ति रसवद्दुरिताग्नयोऽमी ॥ १२५ ॥

है[1] ।।१२१।। हे आत्मन् ! जिसप्रकार मकड़ी अकेली ही अपने को जालों से वेष्टित करती है—बाँधती है उसीप्रकार निश्चय से यह जीव भी अकेला ही विवेक-शून्य हुआ वज्रलेप-सरीखे मजबूत कर्मरूप जालों से अपनी आत्मा को स्वयं बाँधता है। तत्पश्चात्—कर्मरूप जाल द्वारा बद्ध होजाने के अनन्तर—दान, उपवास, व्रत व सम्यग्दर्शन रूप पुण्योदय से कर्मों के उपशमरूप तन्तुओं का सहारा लेता हुआ ऐसा योगी पुरुषों का स्थान (मोक्षपद) को उत्कण्ठित हुआ प्राप्त करता है, जिसमें समस्त प्रकार का शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक दुःख-समूह जड़ से नष्ट हो चुका है[2] ।।१२२।। इति-एकत्वानुप्रेक्षा ।।४।।

अथ पृथक्त्वानुप्रेक्षा—हे आत्मन् ! "मैं शरीर रूप हूँ" इसप्रकार का विकल्प अपने चित्त में मत कर। अर्थात्—इस बहिरात्मबुद्धि को छोड़। क्योंकि यह शरीर तुझ से अत्यन्त पृथक् है। क्योंकि तुम तो धर्म (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य सहित चैतन्य स्वभाव रूप धर्म व सर्वोत्कृष्ट सुख के निवास स्थान हो एवं सर्वाङ्ग चेतनस्वभाव-शाली हो परन्तु शरीर तो जड़ है, इसलिए उसमें से चेतन स्वभाव-समूह नष्ट होचुका है। अर्थात्—उसमें (शरीर में) ज्ञान-दर्शनरूप चेतन-स्वभाव का अत्यन्त अभाव है[3] ।।१२३।। हे आत्मन् ! तेरे विद्यमान रहने पर ही शरीर स्थित रहता है व वृद्धिंगत होता है परन्तु जब तू दूसरी गति में चला जाता है तब तेरा यह शरीर पृथिवी, वायु व अग्नि-आदि तत्वों में मिल जाने के कारण अदृश्य (दिखाई न देनेवाला) होजाता है एवं जिसप्रकार मृतक (मुर्दे) को सुख-दुःख का ज्ञान नहीं होता उसीप्रकार पृथिवी, जल, अग्नि और वायुरूप जड़ शरीर को भी सुख-दुःखादि का ज्ञान नहीं होता, इसलिए पुण्यशाली यह जीव शरीर व इन्द्रियादिक से सर्वथा भिन्न ही है[4] ।।१२४।।

जिसप्रकार प्रज्वलित अग्नियाँ ऐसे पारद (पारा) को, जलाश्रित करके (निम्बू या अदरक-आदि के रस में घोटे जाने पर) सन्तापित (उष्ण) करती हैं, जो (पारद) आनन्द-दायक (शारीरिक स्वास्थ्य देनेवाला), अव्यय (अग्नि-आदि द्वारा नष्ट न होनेवाला), अनादि (उत्पन्न करनेवाली कारण-सामग्री-शून्य—उत्पन्न न होनेवाला) एवं जो अनन्त शक्तिशाली (अनन्त गुणों से अलंकृत) है। उदाहरणार्थ—मारा हुआ पारा सेवन करने के फलस्वरूप बुढ़ापा और रोग नष्ट करता है, और मूर्च्छित किया हुआ पारा व्याधि-विध्वंसक है एवं बाँधा हुआ पारा आकाश में उड़ने की शक्ति प्रदान करता है अतः पारे से दूसरा कौन हितकारी है ? इत्यादि सीमातीत गुणशाली है[5]। इसीप्रकार जो प्रकाशमान हुआ स्वभावतः मिट्टी व लोहादि धातुओं के लेप (संबंध) से रहित है, उसीप्रकार वृद्धिंगत (उदय में आई हुई) कर्म (ज्ञानावरणादि) रूप अग्नियाँ भी ऐसी इस आत्मा को शरीराश्रित करके—शरीर धारण

१. रूपकालङ्कार । २. उपमालंकार । ३. जाति-अलंकार । ४. उपमालङ्कार ।

५. तथा चोक्तम्—हतो हन्ति जराव्याधिं मूर्च्छितो व्याधिघातकः । बद्धः खेचरतां धत्ते कोऽन्यः सूतात्कृपाकरः ॥१॥ रसेन्द्रसारसंग्रह से संकलित—सम्पादक

कर्मास्रवानुभवनात्पुरुषः परोऽपि प्राप्नोति पातमशुभासु भवावनीषु ।
तस्मात्तयोः परमभेदविदो विदग्धाः श्रेयस्तदाद्रियन्तु यत्र न जन्मयोगः ॥ १२६ ॥ इति पृथक्त्वानुप्रेक्षा ॥५॥

करकर—सन्तापित (क्लेशित) करती हैं, जो (आत्मा), अनन्त सुखशाली व अविनश्वर है। अर्थात्—जो शस्त्रादि द्वारा काटा नहीं जासकता और अग्नि द्वारा जलाया नहीं जासकता एवं वायु द्वारा सुखाया नहीं जासकता तथा जलप्रवाह द्वारा गीला नहीं किया जासकता – इत्यादि किसी भी कारण से जो नष्ट नहीं होता[1]। इसीप्रकार जो अनादि है। अर्थात्– मौजूद होते हुए भी जिसको उत्पन्न करनेवाली कारण सामग्री नहीं है। अभिप्राय यह है कि जिसकी घट-पटादि पदार्थों की तरह उत्पत्ति नहीं होती किन्तु जो आकाश की तरह अनादि है। इसीप्रकार जो अनन्त-शक्तिशाली है। अर्थात्—जो केवलज्ञान और केवलदर्शन द्वारा अनन्त वस्तुओं के स्वरूप का ग्राहक होने के कारण अनन्तसामर्थ्य-शाली है एवं जो लोक व अलोक के स्वरूप का प्रकाशक है तथा स्वभाव—निश्चय नयकी अपेक्षा से—कर्ममल-कलङ्क से रहित शुद्ध है[2] ॥१२५॥ यह आत्मा शास्त्रवेत्ता व सदाचारी ब्राह्मण विद्वान्-सरीखा उत्कृष्ट (पवित्र) होनेपर भी कर्मरूप मद्य-पान के फलस्वरूप चाण्डाल-आदि की अपवित्र पर्यायरूप पृथिवियों में पतन प्राप्त करता है। अर्थात्—अशुभ पर्यायें धारण करता है, इसलिए निश्चय से शरीर और आत्मा का अत्यन्त भेद जाननेवाले व हेय (छोड़ने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) वस्तु के ज्ञानशाली विवेकी पुरुषों को ऐसे किसी श्रेयस्कारक (कल्याणकारक) कर्तव्य (जैनेश्वरी दीक्षा-धारण द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति) का पालन करना चाहिए, जिसमें इस आत्मा का संसार से संबंध न होने पावे। अर्थात्—जिन सत्य, शिव और सुन्दर कर्त्तव्यों के अनुष्ठान से यह, सांसारिक समस्त दुःखों से छुटकारा पाकर मुक्तिश्री प्राप्त कर सके। भावार्थ—वादिराज[3] महाकवि ने भी कहा है कि "कर्म द्वारा कवलित (खाई जाना—बद्ध होना) किये जाने के कारण ही इस आत्मा को अनेक शुभ-अशुभ पर्यायों में जन्म-धारण का कष्ट होता है, इसलिए यह जीव पापकर्म से प्रेरित हुआ चाण्डाल के मार्ग रूप पर्याय में उत्पन्न होता है। अतः कर्मरूप मादक कोदों के भक्षण से मत्त—मूर्च्छित हुआ यह जीव कौन-कौन से अशुभ स्थान (खोटे जन्म) धारण नहीं करता ? सभी धारण करता है।"

शास्त्रकारों[4] ने कहा है कि "जब जिसप्रकार दूध और पानी एकत्र संयुक्त होते हुए भी भिन्न भिन्न होते हैं उसीप्रकार शरीर और आत्मा एकत्र संयुक्त होते हुए भी भिन्न २ हैं तब प्रत्यक्ष भिन्न भिन्न प्रतीत होनेवाले स्त्री पुत्रादिक तो निस्सन्देह इस आत्मा से भिन्न हैं ही" अतः विवेकी पुरुष को शरीरादिक से भिन्न आत्म द्रव्य का चिंतवन करते हुए मोक्षमार्ग में प्रयत्नशील होना चाहिए[5] ॥१२६॥ इति पृथक्त्वानुप्रेक्षा ॥५॥

---

१. तथा चोक्तं गीतोपनिषदि—
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥१॥

२. रूपक व उपमालङ्कार ।

३. तथा च वादिराजो महाकविः—
कर्मणा कवलिता जनिता जातः पुरान्तरजनङ्गमवाटे । कर्मकोद्रवरसेन हि मत्तः किं किमेत्यशुभधाम न जीवः ॥१॥

४. तथा च श्रुतसागर सूरिः—
क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनोः । भेदो यदि ततोऽन्यत्र कलत्रादिषु का कथा ॥१॥

५. रूपकालङ्कार ।

आधीयते यदिह वस्तु गुणाय कान्तं काये तदेव मुहुरेत्यपवित्रभावम्।
छायाप्रतारितमतिर्मलरन्ध्रबन्धं किं जीव लालयसि भङ्गुरमेतदङ्गम् ॥ १२७ ॥
योषिद्भिरादृतकरं कृतमण्डनश्रीर्यः कामचामररुचिस्तव केशपाशः।
सोऽयं त्वयि श्रवणगोचरतां प्रयाते प्रेतावनीषु वनवायसवासगोऽभूत् ॥ १२८ ॥
अन्तर्बहिर्यदि भवेद्वपुषः शरीरं दैवात्तदानुभवनं ननु दूरमास्ताम्।
कौतूहलादपि यदीक्षितुमुत्सहेत कुर्यात्तदाभिरतिमत्र भवाञ्शरीरे ॥ १२९ ॥
तस्मान्निसर्गमलिनादपि लब्धतत्त्वाः कीनाशकेलिमनवाप्तधियोऽचिराय।
कायादतः किमपि तत्फलमर्जयन्तु यस्मादनन्तसुखसस्यविभूतिरेषा ॥ १३० ॥ इत्यशुचित्वानुप्रेक्षा ॥६॥
अन्तः कषायकलुषोऽशुभयोगसङ्गात्कर्माण्युपार्जयसि बन्धनिबन्धनानि।
रज्जूः करेणुवशगः करटी यथैतास्त्वं जीव मुञ्च तदिमानि दुरीहितानि ॥ १३१ ॥

अथ अशुचि-अनुप्रेक्षा—हे आत्मन्! इस शरीर को सुगन्धित करने के उद्देश्य से इस पर जो भी कपूर, अगुरु, चन्दन व पुष्प-वगैरह अत्यन्त सुन्दर व सुगन्धि वस्तु स्थापित कीजाती है, वही वस्तु इसके संबंध से अत्यन्त अपवित्र होजाती है, इसलिए गौर व श्याम-आदि शारीरिक वर्णों से ठगाई गई है बुद्धि जिसकी ऐसा तू विष्ठा-छिद्रों के बंधानरूप और स्वभाव से नष्ट होनेवाले ऐसे शरीर को किस प्रयोजन से बार बार पुष्ट करता है?[1] ॥१२७॥ हे आत्मन्! जो तेरा ऐसा केशपाश (बालों का समूह), जिसकी कान्ति (छवि) कामदेव रूप राजा के चमर-सरीखी श्यामवर्ण थी और जो जीवित अवस्था में कमल-सरीखे कोमल करोंवालीं कमनीय कामिनियों द्वारा चमेली व गुलाब-आदि सुगन्धि पुष्पों के सुगन्धित तैल-आदि से तेरा सन्मान करनेवाले कोमल करकमलों-पूर्वक विभूषित किया जाने के फलस्वरूप शोभायमान होरहा था, वही केशपाश तेरे काल-कवलित (मृत्यु का ग्रास) होजाने पर श्मशान-भूमियों पर पर्वत-संबंधी कृष्ण काकों के गले में प्राप्त होनेवाला हुआ।[2] ॥१२८॥ हे जीव! दैवयोग से यदि तेरा भीतरी शरीर (हड्डी व मांसादि) इस शरीर से बाहिर निकल आवे तो उसके अनुभव करने की बात तो दूर रहे, परन्तु यदि तू केवल कौतूहल मात्र से उसे देखने का उत्साह करने लगे तब कहीं तुझे इस शरीर में सम्मुख होकर राग-बुद्धि करनी चाहिए, अन्यथा नहीं[3] ॥१२९॥ इसलिए हेय (छोड़ने योग्य) व उपादेय (ग्रहण करने लायक) के विवेक से विभूषित तत्वज्ञानी पुरुष, यमराज की क्रीड़ा करने की ओर अपनी बुद्धि को प्राप्त न करते हुए (मृत्यु होने के पहिले) स्वाभाविक मलिन इस शरीर से कोई ऐसा अनिर्वचनीय (जिसका माहात्म्य वचनों से अगोचर है) मोक्षफल प्राप्त करें, जिससे यह अनन्तसुख रूप फल की विभूति (ऐश्वर्य) उत्पन्न होती है।

भावार्थ—श्रीगुणभद्राचार्य[4] ने भी इस मनुष्य-देह को घुण द्वारा भक्षण किये गए साँठे-सरीखी निस्सार, आपत्तिरूपी गाठों वाली, अन्त (वृद्धावस्था व पक्षान्तर में अग्र-भाग) में विरस (कष्ट-प्रद व पक्षान्तर में बेस्वाद) इत्यादि बताते हुए शीघ्र परलोक में श्रेयस्कर कर्तव्य-पालन द्वारा सार (सफल) करने का उपदेश दिया है[5] ॥१३०॥ इत्यशुचित्वानुप्रेक्षा ॥६॥

---

१. जाति-अलंकार। २. उपमालंकार। ३. जाति-अलंकार।
४. तथा च गुणभद्राचार्यः—
'व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं मूलेऽप्यभाग्योचितं विष्वक् क्षुत्क्षतपातकुष्ठकुथिताद्युग्रामयैश्छिद्रितम्।
मानुष्यं घुणभक्षितेक्षुसदृशं नामैकरम्यं वरं निःसारं परलोकबीजमचिरात् कृत्वेह सारीकुरु' ॥
५. रूपकालंकार।

संकल्पकल्पतरुसंश्रयणात्त्वदीयं चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन् ।
तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किंचनापि पक्षे परं भवसि कल्मषसंश्रयस्य ॥ १३२ ॥
सेर्ष्यं विभूतिषु मनीषितसंश्रयाणां चक्षुर्भवत्तव निजार्तिषु मोघवाञ्छम् ।
पापागमाय परमेव भवेद्विमूढ कामात्कुतः सुकृतदूरवतां हितानि ॥ १३३ ॥
दौर्विध्यदग्धमनसोऽन्तरुपात्तभुक्तेश्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितोत्तरङ्गम् ।
धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे कौतस्कुती तव भवेद्विफला प्रसूतिः ॥ १३४ ॥ इत्यास्रवानुप्रेक्षा ॥७॥
आगच्छतोऽभिनवकार्मणरेणुराशेर्जीवः करोति यदवस्खलनं वितन्द्रः ।
स्वतत्त्वचामरधरैः प्रणिधानहस्तैः सन्तो विदुस्तमिह संवरमात्मनीनम् ॥ १३५ ॥

अथ आस्रवानुप्रेक्षा—हे आत्मन् ! तुम मन में स्थित हुए क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषायों से कलुषित (मलिन) हुए अशुभ मन, वचन, व काययोग का आश्रय रूप कारण-वश ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मों को, जो कि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप बन्ध के कारण हैं। अर्थात्—अशुभ योगरूप कारण से आए हुए कर्म-समूह प्रकृति व प्रदेशबन्ध उत्पन्न करते हैं और कषायरूप कारण से गृहीत कर्म-समूह स्थिति व अनुभाग बन्ध उत्पन्न करते हैं, उसप्रकार स्वीकार करते हो जिसप्रकार हथिनी में लम्पट हुआ हाथी राजमहल में दृष्टिगोचर होनेवाले बन्धन स्वीकार करता है। अत. हे जीव ! तुम ये खोटे अभिप्राय (अशुभ योग व कषाय भाव) छोड़ो[1] ॥१३१॥ हे आत्मन् ! मानसिक संकल्परूप कल्पवृक्ष का आश्रय करने के फलस्वरूप तेरी विकृत चित्तवृत्ति, इस मनोरथ-रूप समुद्र में डूबती है। उससे (संकल्प रूप कल्पवृक्ष का आश्रय करने से) वास्तव में तुझे कुछ भी इष्ट-वस्तु का अनुभव नहीं होता और इसके विपरीत तुम केवल पाप का आश्रय (पापबंध) स्वीकार करनेवाले होजाते हो। भावार्थ—शास्त्रकारों[2] ने कहा है कि हे आत्मन् ! दूसरे की कमनीय कामिनी देखकर हृदय में राग मत करो, क्योंकि ऐसा करने से पाप से लिप्त हो जाओगे। तुम तो शुद्ध-बुद्ध हो अतः पाप चेष्टा मत करो[3] ॥१३२॥

हे आत्मन् ! निरर्थक इच्छा करनेवाली तेरी ऐसी विकृत मनोवृत्ति, जो केवल बाह्य इष्ट वस्तुएँ प्राप्त करने की आकांक्षाओं में ही प्रवृत्त होती है और स्वर्गादि के सुख देनेवाली वस्तुओं (देवताओं-आदि) के ऐश्वर्यों से ईर्ष्या (द्वेष) करती है, अतः हे विवेक-हीन आत्मन् ! ऐसा करने से वह तेरी विकृत मनोवृत्ति निश्चित रूप से पापोपार्जन (पापबंध) ही करती रहती है। क्योंकि पुण्य-हीन पुरुषों को केवल इच्छामात्र से किसप्रकार सुख प्राप्त होसकते हैं ? कदापि नहीं होसकते[4] ॥ १३३ ॥

हे आत्मन् ! निर्धनता (दरिद्रता) से भस्मीभूत मनवाले तेरा ऐसा मन, जिसमें उत्कट मनोरथ उत्पन्न हुए हैं, जिसप्रकार संकल्पमात्र से बाह्य पदार्थों में उनसे भोग ग्रहण करने के उद्देश्य से प्रवृत्त होरहा है, उसीप्रकार यदि अन्तस्तत्व नामवाले तेजपदार्थ (मोक्ष-मार्ग) में प्रवृत्त होजावे तब तो तेरी मनुष्य पर्याय में उत्पत्ति किसप्रकार निष्फल हो सकती है ? अपितु नहीं होसकती[5] ॥ १३४ ॥ इति आस्रवानुप्रेक्षा ॥७॥ अथ संवरानुप्रेक्षा—यह आत्मा प्रमाद-(कषाय) रहित होता हुआ जब आत्मतत्वरूपी चँमर धारण करनेवाले शुभध्यान (धर्मध्यानादि) रूपी करकमलों द्वारा भविष्य में आनेवाले नवीन कर्मों का पुद्गल परमाणु-पुञ्ज रोकता है तब उसे सत्पुरुष संसार में आत्मा का कल्याणकारक 'संवरतत्व' कहते हैं[6] ॥१३५॥

---

१. उपमालंकार। २. तथा चोक्तं—'दट्ठूण परकलत्तं रागं मा वहसि हियय मज्झम्मि। पावेण पाव लिप्पसि पावं मा वहसि त्वं च शुद्धो हि ॥ सं. टी. पृ. २६८ से संकलित—सम्पादक ३. रूपकालंकार। ४. आक्षेपालंकार। ५. आक्षेपालंकार। ६. रूपकालंकार।

यस्त्वां विचिन्तयति संचरते विचारैश्चार्वीं चिनोति परिमुञ्चति चण्डभावम् ।
चेतो निकुञ्चति समञ्चति वृत्तमुच्चैः स क्षेत्रनाथ निरुणद्धि कृती रजांसि ॥ १३६ ॥
नीरन्ध्रसंधिरवधीरितनीरपूरः पोतः सरित्पतिमपैति यथानपायः ।
जीवस्तथा क्षपितपूर्वतमःप्रतानः क्षीणास्रवश्च परमं पदमाश्रयेत ॥ १३७ ॥ इति संवरानुप्रेक्षा ॥८॥
मध्याधरोर्ध्वरचनः पवनत्रयान्तस्तुल्यः स्थितेन जघनस्थकरेण पुंसा ।
एकस्थितिस्तव निकेतनमेष लोकस्त्रस्यत्रिकीर्णजठरोऽनिषण्णमोक्षः ॥ १३८ ॥
कर्ता न तावदिह कोऽपि धियेच्छया वा दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि स प्रसङ्गः ।
कार्यं किमत्र सदनादिषु तक्षकाद्यैराहत्य चेत्त्रिभुवनं पुरुषः करोति ॥ १३९ ॥

हे आत्मन् ! जो आत्मतत्व का ध्यान करता हुआ भेदविज्ञान द्वारा आत्मतत्व में संचार करता है—प्रविष्ट व लीन होता है एवं जो अपनी विवेक बुद्धि विस्तृत करके क्रोध का त्याग करते हुए पंचेन्द्रियों के विषयों व क्रोधादि कषायों में प्रवृत्त होनेवाली अपनी चित्तवृत्ति संकुचित करता है। इसीप्रकार जो उच्चकोटि का चारित्र (सामायिक व छेदोपस्थापना-आदि) धारण करता है, वही तुम (आत्मा) पुण्यशाली होते हुए पाप कर्म का आस्रव (आना) रोकते हो[1] ॥१३६॥ जिसप्रकार ऐसी नौका, जो छिद्रों से रहित होने के कारण भविष्य में प्रविष्ट होनेवाली जलराशि से शून्य है और जिसमें से मध्य में भरी हुई जलराशि निकालकर फैंक दी गई है, निर्विघ्न (विपरीत दिशा का वायु-संचार-आदि विघ्न-बाधाओं से शून्य) होती हुई तिरकर समुद्र के पार प्राप्त होजाती है उसीप्रकार जिसने पूर्व में बाँधे हुए कर्मसमूह नष्ट कर दिये हैं और जो नवीन कर्मों के आस्रव से रहित है ऐसी विशुद्ध आत्मा भी मोक्ष प्राप्त करती है[2] ॥ १३७ ॥ इति संवरानुप्रेक्षा ॥ ८ ॥

अथ लोकानुप्रेक्षा—हे आत्मन् ! प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला ऐसा यह लोक, जो मध्यलोक, अधोलोक और ऊर्ध्वलोक की रचना-युक्त (तीन प्रकार का) है। जो अखीर में चारों तरफ से घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय से वेष्टित—घिरा हुआ—है। जो, पैर फैलाकर खड़े हुए और दोनों हाथों को कमर के अग्रभाग पर स्थापित किए हुए पुरुष की आकृति-सरीखा है। जिसकी स्थिति एक महान् स्कन्धरूप है। अर्थात्—जिसके समान कोई दूसरा महान्स्कन्ध नहीं है और जिसका मध्यभाग जीवराशि से भरा हुआ है। अर्थात्—जिसके एक राजू के विस्तार में त्रसजीवों का समूह भरा हुआ है और तेरह राजू में ऊर्ध्व व मध्यलोक की रचना है एवं सप्तम नरक के नीचे एक राजू में त्रसजीव नहीं हैं एवं जिसके ४५ लाख योजन के विस्तारवाले ऊपर के भाग पर मोक्ष स्थान है, तेरा गृह है[3] ॥ १३८ ॥

हे आत्मन् ! इस संसार में कोई भी (ब्रह्मा-आदि) ज्ञानशक्ति अथवा इच्छाशक्ति द्वारा इस लोक का कर्ता (बनानेवाला) नहीं है। अभिप्राय यह है कि यदि आप कहेंगे कि कोई जगत्कर्ता है तो उसमें निम्नप्रकार आपत्ति (दोष) आती है कि जब घट व कट-(चटाई) आदि वस्तुओं की कारण-सामग्री (मिट्टी व तृण आदि) वर्तमान है और उस अवसर पर ईश्वर की नित्य ज्ञानशक्ति व इच्छाशक्ति भी वर्तमान है तब घट व कट-आदि वस्तुएँ सदा उत्पन्न होतीं हुई दृष्टिगोचर होनीं चाहिए परन्तु उसप्रकार नहीं देखा जाता। अतः कोई (ब्रह्मा-आदि) भी ज्ञानशक्ति व इच्छाशक्ति द्वारा इस लोक (पृथिवी व पर्वत-आदि) का कर्ता नहीं है। अन्यथा—यदि कोई (ईश्वर) इसका कर्ता दृष्टिगोचर हुआ है—तो हार (पुष्पमाला) की रचना में भी

* 'राहत्य' इति क० ।

१. अनुपमानालंकार। २. दृष्टान्तालंकार। ३. उपमालंकार।

त्वं कल्मषावृतमतिर्निरये तिरश्चि पुण्योचितो दिवि नृषु द्वयकर्मयोगात् ।
इत्थं निषीदसि जगत्त्रयमन्दिरेऽस्मिन् स्वैरं प्रचारविषये तव लोक एषः ॥ १४० ॥
अत्रास्ति जीव न च किंचिदभुक्तमुक्तं स्थानं त्वया निखिलतः परिशीलनेन ।
तत्केवलं विगलिताखिलकर्मजालं स्पृष्टं कुतूहलधियापि न जातु धाम ॥ १४१ ॥ इति लोकानुप्रेक्षा ॥ ९ ॥
आपातरम्यरचनैर्विरसावसानैर्जन्मोद्भवैः सुखलवैः स्खलितान्तरङ्गः ।
दुःखानुषङ्गकरमर्जितवान्यदेनस्तत्त्वं सहस्व हतजीव नवप्रयातम् ॥ १४२ ॥

उसके करने का प्रसङ्ग दृष्टिगोचर होना चाहिये, क्योंकि क्या उस समय में भी उसमें ज्ञानशक्ति और इच्छाशक्ति वर्तमान नहीं है ? अपितु अवश्य है। ऐसा होने से (हार-आदि को भी ईश्वर कर्तृक मानने पर) माली वगैरह से फिर क्या प्रयोजन रहेगा ? यदि कोई पुरुष (ब्रह्मा-आदि), पृथिवी-आदि द्रव्यों के परमाणु-समूह को आहत्य[A] (संयुक्त करके) पृथिवी, पर्वत और वृक्ष-आदि तीनलोक की वस्तुएँ बनाता है तो फिर गृह-आदि के निर्माण (रचना) में बढ़ई और राज-आदि निर्माताओं से क्या प्रयोजन रहेगा ? कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। क्योंकि तीन लोक के निर्माता (ब्रह्मा) को क्या गृह-आदि का निर्माण करना कठिन है ? कोई कठिन नहीं है। अतः कर्तृत्व-वाद की मान्यता (ईश्वर को जगत्स्रष्टा मानने का सिद्धान्त) युक्ति-युक्त व यथार्थ (सही) नहीं है[1] ॥ १३९ ॥ हे आत्मन् ! जब तुम्हारी बुद्धि केवल पाप से घिरी रहती है तब तुम नरकगति व तिर्यञ्चगति में उत्पन्न होते हुए सदा या विशेषरूप से कष्ट सहते हो और जब पुण्य-शाली होते हो तब सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त स्वर्ग में जन्म धारण करते हो एवं जब पाप और पुण्यरूप दोनों प्रकार की कर्म-सामग्री के सम्बन्ध से युक्त होते हो तब मनुष्यगति में जन्म धारण करते हो। इसप्रकार से तीन लोकरूपी गृह में तुम उत्पन्न होते हुए निरन्तर कष्ट सहते हो। इसप्रकार यह लोक तुम्हारी इच्छानुसार प्रचार (परिभ्रमण-प्रकार) के हेतु है[2] ॥ १४० ॥

हे आत्मन ! इस लोक में कोई भी स्थान तुम्हारे द्वारा पूर्व में विना भोगे छोड़ा हुआ नहीं है। अर्थात्—सभी स्थान तुम्हारे द्वारा पूर्व में भोगे जाकर पश्चात् छोड़े गए हैं। अभिप्राय यह है कि इसके सभी स्थानों (ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोक) में तुम अनेकवार देव व मनुष्य-आदि की पर्यायें धारण करके उत्पन्न होचुके हो। क्योंकि अनादि काल से प्राणियों के अनेक जन्म हो चुके हैं। अतः अनन्त वार बारवार के परिशीलन (अभ्यास-सेवन अथवा अनुभवन) से तुम्हारे द्वारा इस लोक के सभी स्थान पूर्व में भोगे जाचुके हैं और पश्चात् छोड़े जाचुके हैं। परन्तु हे आत्मन् ! नष्ट होचुके हैं समस्त ज्ञानावरण-आदि कर्म-समूह जिसमें ऐसा वह जगत्प्रसिद्ध केवल मोक्ष-स्थान ही ऐसा बाकी है, जो कि तुम्हारे द्वारा कदापि कौतूहल-बुद्धि से भी नहीं छुआ गया। अर्थात्—केवल वही मोक्ष-स्थान तेरा अभुक्त पूर्व—जो कभी नहीं भोगा गया है[3] ॥१४१॥ इति लोकानुप्रेक्षा ॥९॥

अथ निर्जरानुप्रेक्षा—हे नष्ट आत्मन् ! तुम्हारी चित्तवृत्ति, ऐसे सांसारिक भोग(स्त्री-आदि) संबंधी सुख-लेशों से चंचल होचुकी है, जो भोगते समय तो अच्छे मालूम पड़ते हैं, परन्तु जिनका अन्त (अखीर) नीरस (महान् कटुक) है। इसलिए अब तुम नवीन उदय में आए हुए कर्मों का ऐसा फल (दुःख) तपश्चर्या द्वारा सहन करो, जिसके भोगने के फलस्वरूप तुमने शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक दुःख-समूह को उत्पन्न करनेवाला पाप संचय किया था[4] ॥१४२॥

१. आक्षेपालंकार। A. 'आहत्य' * इति क, ख०। *. 'एकहेलया युगपद्वा, इति टिप्पणी।
२. रूपकालङ्कार। ३. जाति-अलङ्कार। ४. जाति-अलङ्कार।

कालुष्यमेषि यदिह स्वयमात्मकामो जागर्ति तत्र ननु कर्म पुरातनं ते।
योऽहिं विवर्धयति कोऽपि विमुग्धबुद्धिः स्वस्योदयाय स नरः प्रवरः कथं स्यात् ॥ १४३ ॥
आतङ्कपावकशिखाः सरसावलेखाः स्वस्थे मनाग्मनसि ते लघु विस्मरन्ति।
तत्कालजातमतिविस्फुरितानि पश्चाज्जीवान्यथा यदि भवन्ति कुतोऽप्रियं ते ॥ १४४ ॥ इति निर्जरानुप्रेक्षा ॥१०॥
श्रद्धाभिसंधिरवधूतबहिःसमीहस्तत्त्वावसायसलिलाहितमूलबन्धः।
आत्मायमात्मनि तनोति फलद्वयार्थी धर्मं तमाहुरमृतोपमसत्यमाप्ताः ॥ १४५ ॥
मैत्त्रीदयादमशमागमनिर्वृतानां बाह्येन्द्रियप्रसरवर्जितमानसानाम्।
विद्याप्रभाप्रहतमोहमहाग्रहाणां धर्मः परापरफलः सुलभो नराणाम् ॥ १४६ ॥
इच्छाः फलैः कलयति प्रहृणद्धि बाधाः सृष्टेरसाम्यविभुरभ्युदयादिभिर्यः।
ज्योतींषि वृतयति चात्मसमीहितेषु धर्मः स शर्मनिधिरस्तु सतां हिताय ॥ १४७ ॥

हे आत्मन्! इस संसार में तुम पंचेन्द्रियों के विषयों की लालसा (इच्छा) करते हुए स्वयं अपने परिणाम कलुषित (मलिन) करते हो, क्योंकि उस विषयों की कामना-इच्छा-से निश्चय से तेरा पूर्व में बाँधा हुआ पाप कर्म जागृत होता है। अर्थात्—विशेषरूप से उदय में आता है। क्योंकि जो कोई अज्ञानियों का चक्रवर्ती अपने कल्याण के उद्देश्य से सर्प को दूध पिलाकर पुष्ट करता है, वह किसप्रकार श्रेष्ठ होसकता है? अपितु नहीं हो सकता[1] ॥१४३॥ हे जीव! जब तेरा मन कुछ स्वस्थ (निरोगी) होजाता है तब नवीन भोगी हुई रोग रूप अग्नि-ज्वालाएँ शीघ्र तेरे स्मृति-पथ (मार्ग) में प्राप्त नहीं होतीं। अर्थात्—तू उन्हें शीघ्र भूल जाता है। हे जीव! यदि तू रोग के अवसर पर उत्पन्न हुए अपने बुद्धि-चमत्कार (यदि मैं निरोग हो जाऊँगा तो अवश्य निश्चय से विशेष दान-पुण्यादि धर्म करूँगा-इत्यादि प्रशस्त विचार-धाराएँ) न भूले तो किसप्रकार तेरा अप्रिय (अकल्याण अथवा पापोपार्जन) हो सकता है? नहीं हो सकता[2] ॥१४४॥ इति निर्जरानुप्रेक्षा ॥१०॥

अथ धर्मानुपेक्षा—स्वर्ग व मोक्षफल का इच्छुक आत्मा जब सम्यग्दर्शन-संबंधी विशुद्ध अभिप्राययुक्त (सम्यग्दृष्टि) व पंचेन्द्रियों के विषयों की लालसा दूर करने वाला होता है। अर्थात्—समस्त पापक्रियाओं (हिंसा, झूँठ, चोरी, कुशील व परिग्रह) का त्यागरूप चारित्र धारण करता है एवं जब तत्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष इन सात तत्वों और पुण्य व पाप-सहित नौ पदार्थों एवं जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल इन छह द्रव्यों) के सम्यग्ज्ञान रूप जल से मूल-बन्ध (धर्म रूप वृक्ष की जड़) को आरोपित करनेवाला होता है। अर्थात्—जब जैनदर्शन-संबंधी तत्वश्रद्धा-सहित सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र से अलंकृत होता है, उसे (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को) सर्वज्ञ भगवान् अमृत सरीखा फल देने वाला 'धर्म' कहते हैं[3] ॥१४५॥ ऐसे महापुरुषों को, जिन्होंने मैत्री (अद्वेष), प्राणिरक्षा, इन्द्रिय-दमन (जितेन्द्रियता) और उत्तमक्षमा इन धार्मिक प्रशस्त गुणों की प्राप्ति से शाश्वत् सुख प्राप्त किया है। जिनकी चित्तवृत्ति पंचेन्द्रियों के विषयों (स्पर्श-आदि) में होनेवाली इन्द्रिय-प्रवृत्ति से रहित (शून्य) है एवं जिन्होंने सर्वज्ञ-प्रणीत शास्त्र-संबंधी तत्वज्ञान के माहात्म्य से अपना मोह (अज्ञान) रूप महान् पिशाच नष्ट कर दिया है, स्वर्गसुख व मोक्ष-सुख-दायक धर्म की प्राप्ति सुलभ (सरल) है[4] ॥१४६॥ समस्त सुखों की निधि रूप वह जगत्प्रसिद्ध धर्म, विद्वज्जनों को मोक्षप्राप्ति में समर्थ होवे।

१. आक्षेपालङ्कार।
२. रूपक व आक्षेपालङ्कार। ३. रूपक व उपमालङ्कार। ४. रूपकालङ्कार।

देहोपहारकुतपैः स्वपरोपतापैः कृत्वाध्वरेश्वरमिषं विदलन्मनीषाः ।
धर्मैषिणो य इह केचन मान्यभाजस्ते जातजीवितधियो विषमापिबन्ति ॥१४८॥
येऽन्यत्र मन्त्रमहिमेक्षणमुग्धबोधाः शार्वैषिणः पुनरतः शिवतां गृणन्ति ।
ते नावितारणदृशो दृषदोऽवलम्ब्य दुष्पारमम्बुधिजलं परिलङ्घयन्ति ॥१४९॥
धर्मश्रुतेरिह परत्र च येऽविचाराः संदिह्य तामसदृशः सततं यतन्ते ।
दुग्धाभिधानसमताविलबुद्धयस्ते नूनं गवार्कैरसपानपरा भवन्तु ॥१५०॥

जो धर्म, उत्तम फल (पुत्र, कलत्र, धन व आरोग्यादि) प्रदान करता हुआ प्राणियों के मनोरथ (स्वर्गश्री व मुक्तिश्री की कामना) पूर्ण करता है और उनके समस्त दुःख (शारीरिक, मानसिक व आगन्तुक-आदि समस्त कष्ट) विध्वंस करता हुआ राज्यादि विभूति के देने में अपनी अनोखी शक्ति रखता है। इसीप्रकार जो धर्म मानवों के अभिलषित (चाहे हुए अनन्त ज्ञानादि रूप मोक्ष) की प्राप्ति करने के लिए श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान-आदि को मोक्ष के प्रधान दूत बनाकर भेजता है[1] ॥१४७॥

इस संसार में जो कोई अज्ञानी पुरुष यज्ञ व रुद्र-पूजा का छल करके मनुष्य, स्त्री और पशुओं के जीवित शरीरों का तलवार की धार-आदि से घात द्वारा और कुतप A (श्राद्धकर्म में प्रशस्त माना हुआ दिन का आठवां भाग) द्वारा, जो कि अपने व दूसरों को दुःखप्रद हैं, वैदिक वचनों की मान्यताओं में प्रवृत्ति करते हुए धर्म के इच्छुक हैं, वे दुर्बुद्धि जीवित रहने के अभिप्राय से विष-पान करते हैं। अर्थात्—जिसप्रकार जीवित रहने के उद्देश्य से विष-पान करनेवाले का घात होता है उसीप्रकार स्वर्ग-आदि के सुखों की कामना से उक्त यज्ञीयहिंसा-आदि रूप अधर्म करने वाले की दुर्गति निश्चित होती है[2] ॥१४८॥

जो पुरुष दूसरे मतों के मन्त्रों का माहात्म्य (प्रभाव—दृष्टिबंध, मुष्टि-संचार व वशीकरण-आदि) देखने के फलस्वरूप अपनी बुद्धि अज्ञान से आच्छादित करते हुए रुद्र-मत का अनुसरण करके उसकी आराधना करते हैं और उससे अपने को मुक्त हुए मानते हैं, वे नौका में पार करने की बुद्धि रखते हुए भी विशाल चट्टान पर चढ़कर समुद्र की अपार जलराशि को पार करने वालों के समान अज्ञानी हैं। अर्थात्—जिसप्रकार विशाल चट्टान पर चढ़कर 'यह नौका हमें पार करेगी' यह कहनेवालों द्वारा समुद्र की अपार जलराशि पार नहीं की जासकती उसीप्रकार केवल रुद्र की आराधना मात्र से मुक्तिश्री की प्राप्ति नहीं होसकती[3] ॥१४९॥ जो पुरुष धर्म का नाममात्र श्रवण करके अर्हद्दर्शन व दूसरे दर्शन-संबंधी तत्त्वों का यथार्थ विचार नहीं करते और निरन्तर संदिग्ध होकर सदा धर्म करने का प्रयत्न करते हैं, उन मिथ्यादृष्टियों को दूध के नाममात्र की सदृशता से मलिन बुद्धिवाले मानवों-सरीखे होकर, गाय और अकौआ के दुग्ध-पान में तत्पर होना चाहिए। अर्थात्—गाय का दूध और अकौआ का दूध नाम और श्वेत रूपादि में समान है, परन्तु जिसप्रकार गाय के दूध को छोड़ कर अकौआ का दूध पीना हानिकारक है उसीप्रकार अहिंसा-प्रधान जैनधर्म को छोड़कर वैदिकी हिंसाप्रधान अन्य धर्म का पालन करना हानिकारक है[4] ॥१५०॥

---

१. रूपक व उपमालङ्कार । २. रूपक व उपमालङ्कार अथवा दृष्टान्तालङ्कार । ३. दृष्टान्तालङ्कार । ४. निषेधालङ्कार ।

A—तथा चोक्तं—दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभवति भास्करे । स कालः कुतपो यत्र पितृभ्यो दत्तमक्षयं ॥१॥
कुशे काले तिलेऽनंगे कम्बले सलिलेऽस्थिनि । वाहित्रे खड्गपात्रेऽग्नौ कुतपाख्या प्रकीर्तिता ॥२॥
मुहूर्तात्सप्तमादूर्ध्वमधस्तान्नवमस्तथा । स कालः कुतपो नाम प्रशस्तः श्राद्धकर्मणि ॥३॥
सटि० क, ग, च से संकलित—सम्पादक

अज्ञस्य शक्तिरसमर्थविधेर्निबोधस्तौ चारुचेरियममू तुदती न किंचित् ।
अन्धाङ्घ्रिहीनहतवाञ्छितमानसानां दृष्टा न जातु हितवृत्तिरनन्तराया ॥ १५१ ॥
चार्व्यो रुचौ तदुचिताचरणे च नृणां दृष्टार्थसिद्धिरगदादिनिषेवणेषु ।
तस्मात्परापरफलप्रदधर्मकामाः सन्तस्त्रयावगमनीतिपरा भवन्तु ॥ १५२ ॥ इति धर्मानुप्रेक्षा ॥ ११ ॥

ज्ञान-हीन मानव का चारित्र-धारण और चारित्र-शून्य मानव का ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन-शून्य (मिथ्यादृष्टि) के ज्ञान व चारित्र कुछ नहीं (निष्फल) हैं। अर्थात्—मिथ्या होने के कारण मोक्षप्राप्ति के उपाय नहीं हैं। इसीप्रकार तत्वार्थों की अरुचि (मिथ्यात्व) ज्ञान और चारित्र को पीड़ित करनेवाली है; क्योंकि मिथ्यात्व के संसर्ग से ज्ञान और चारित्र दूषित (मिथ्या) माने गए हैं। उदाहरणार्थ—जिसप्रकार अन्धे, लँगड़े और श्रद्धा-हीन (आलसी) पुरुषों का अभिलषित स्थान में गमन कदापि निर्विघ्न नहीं देखा गया। अर्थात्—जिसप्रकार अन्धा पुरुष ज्ञान के विना केवल चारित्र (गमन) मात्र से अभिलषित स्थान पर प्राप्त नहीं हो सकता और लँगड़ा पुरुष ज्ञान-युक्त होने पर भी चारित्र (गमन) के विना इच्छित स्थान प्राप्त नहीं कर सकता एवं जिसप्रकार श्रद्धाहीन (आलसी) पुरुष प्रवृत्ति-शून्य होने के कारण अपना अभिलषित स्थान प्राप्त नहीं कर सकता उसीप्रकार ज्ञानी पुरुष चारित्र धारण किये विना अभिलषित वस्तु (मोक्ष) प्राप्त नहीं कर सकता एवं चारित्रवान् पुरुष ज्ञान के विना मुक्तिश्री की प्राप्ति नहीं कर सकता तथा श्रद्धा-हीन मानव ज्ञान और चारित्र धारण करता हुआ भी मुक्तिश्री की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं होसकता। अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनों की प्राप्ति से मोक्ष होता है, जो कि वास्तविक धर्म है।

भावार्थ—प्रस्तुत ग्रंथ के संस्कृत टीकाकार (श्रुतसागर सूरि[1]) ने भी उक्त दृष्टान्त द्वारा प्रस्तुत विषय का समर्थन किया है[2] ॥१५१॥ सम्यग्दर्शन (तत्त्वश्रद्धा), सम्यग्ज्ञान (तत्त्वज्ञान) और सम्यग्चारित्र (हिंसा-आदि पाप क्रियाओं का त्याग) से अलङ्कृत हुए पुरुषों की लोक में औषधादि के सेवन से प्रयोजन-सिद्धि (रोगादि का नाश) प्रत्यक्ष देखी गई है। अर्थात्—जिसप्रकार रोगी पुरुष जब औषधि को भलीभाँति जानता है और श्रद्धा-वश उसे (कड़वी औषधि को भी) पीने की इच्छा करता है एवं श्रद्धावश योग्य आचरण (औषधि-सेवन) करता है तभी वह बीमारी से छुटकारा पाकर उल्लसित (आनन्दित) होता है, यह बात लोक में प्रत्यक्ष प्रतीत है। उसीप्रकार यह भव्यात्मा भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप औषधि के सेवन से कर्मबंध रूपी रोग से छुटकारा पाकर मुक्तिश्री को प्राप्त करता हुआ उल्लसित होता है—शाश्वत् कल्याण प्राप्त करता है, इसलिए जिन्हें स्वर्ग व मोक्षरूप उत्तम फल देनेवाले धर्म को प्राप्त करने की अभिलाषा है, उन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-संबंधी ज्ञान प्राप्त करने की नीति में प्रयत्नशील होना चाहिए[3] ॥१५२॥

इति धर्मानुप्रेक्षा ॥ ११ ॥

---

१. तथा च—श्रुतसागरसूरिः—'वनशिखिनि मृतोऽन्धः संचरन् बाढमङ्घ्रिद्वितयविकलमूर्तिर्वीक्ष्यमाणोऽपि पङ्गुः
अपि सनयनपादोऽश्रद्दधानश्च तस्माद्दृगवगमचरित्रैः संयुतैरेव सिद्धिः ॥१॥

अर्थात्—जब वन में भीषण दावानल अग्नि धँधक रही थी उस अवसर पर प्राप्त हुए अन्धा, लँगड़ा व आलसी तीनों जलकर काल-कवलित हुए, क्योंकि अन्धा संचार करता हुआ भी ज्ञान के बिना वहाँ से हट न सका व लँगड़ा ज्ञानी होकर के भी वहाँ से प्रस्थान न कर सका। इसीप्रकार नेत्र व पैरों वाला आलसी वहाँ पर पड़ा रहने से नष्ट हुआ, इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र तीनों की प्राप्ति मोक्ष प्राप्ति का उपाय है।

२. दृष्टान्तालङ्कार। ३. दृष्टान्तालङ्कार।

संसारसागरमिमं भ्रमता नितान्तं जीवेन मानवभवः समवापि दैवात् ।
तत्रापि यद्भुवनमान्यकुले प्रसूतिः सत्संगतिश्च तदिहान्धकवर्तकीयम् ॥ १५३ ॥
कृच्छ्राद्वनस्पतिगतेश्च्युत एष जीवः श्वभ्रेषु कल्मषवशेन पुनः प्रयाति ।
तेभ्यः परस्परविरोधिमृगप्रसूतावस्याः पशुप्रतिनिभेषु कुमानवेषु ॥ १५४ ॥
संसारयन्त्रमुदयास्तघटीपरीतं* सातानतामसगुणं भृतमाधितोयैः ।
इत्थं चतुर्गतिसरित्परिवर्तमध्यमावाहयेत्स्वकृतकर्मफलानि भोक्तुम् ॥ १५५ ॥
आतङ्कशोकभयभोगकलत्रपुत्रैर्यः खेदयेन्मनुजजन्म मनोरथाप्तम् ।
नूनं स भस्मकृतधीरिह रत्नराशिमुद्दीपयेदतनुमोहमलीमसात्मा ॥ १५६ ॥
बाह्यप्रपञ्चविमुखस्य शमोन्मुखस्य भूतानुकम्पनरुचः प्रियतथ्यवाचः ।
प्रत्यक्प्रवृत्तहृदयस्य जितेन्द्रियस्य भव्यस्य बोधिरियमस्तु पदाय तस्मै ॥ १५७ ॥ इति बोध्यनुप्रेक्षा ॥ १२ ॥

अथ बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—इस चतुर्गतिरूप संसार-समुद्र में अत्यन्त भ्रमण करनेवाली आत्मा ने विशेष पुण्योदय से यह मनुष्य जन्म प्राप्त किया और उसमें भी लोक में प्रशंसनीय कुल (ब्राह्मणादि वंश) में जन्म धारण करना और सज्जन पुरुषों की सङ्गति प्राप्त होना यह तो 'अन्धकवर्तकीय न्याय' सरीखा महादुर्लभ है। अर्थात्—जिसप्रकार अन्धे पुरुष के हाथों पर बटेर (पक्षी-विशेष) की प्राप्ति महादुर्लभ है उसीप्रकार मनुष्यजन्म प्राप्त होने पर भी उच्चवंश व सत्संग की प्राप्ति महादुर्लभ है[1] ॥१५३॥

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रतीत होनेवाला यह जीव महान् कष्ट-समूह से वनस्पति की पर्यायों (निगोद-आदि पर्यायों) से निकला। वहाँ से निकलकर इसने पापकर्मों के वश से बारबार नरकगति की पर्यायें ग्रहण कीं। वहाँ से कष्टपूर्वक निकलकर यह परस्पर एक दूसरे से वैर-विरोध करनेवाले मृग-व्याघ्रादि तिर्यञ्चों में उत्पन्न हुआ। पुनः वहाँ से निकला हुआ यह पशु-समान निन्द्य मानवों (कुभोग भूमि-संबंधी विकराल शरीर-धारक मनुष्यों) में उत्पन्न हुआ[2] ॥१५४॥ इसप्रकार यह जीव स्वयं उपार्जन किये हुए पुण्य-पाप कर्मों का सुख-दुःख रूप फल भोगने के हेतु ऐसे संसाररूप घटीयन्त्र (रिहिंट) का संचालन करता है, जो सूर्य के उदय व अस्त होनेरूप जलपूर्ण घरियों से व्याप्त है। जिसमें सातान (महान् व विस्तृत) पाप-श्रेणीरूपी घरियों की बाँधनेवालीं रस्सियाँ हैं और जो मानसिक पीड़ाओंरूपी जल-राशियों से भरा हुआ है एवं जिसका मध्यभाग चारगति (नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति व देवगति) रूपनदियों में चक्र-जैसा घूमता है[3] ॥१५५॥ जो मानव रोग, शोक, भय, भोग (कर्पूर व कस्तूरी-आदि भोग सामग्री), कमनीय कामिनी व पुत्र-आदि में उलझ कर अनेक मनोरथों से प्राप्त किया हुआ यह मानवीय जीवन व्यतीत कर देता है, विशेष अज्ञान से मलिन आत्मावाला वह अज्ञानी भस्म प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने पास की अमूल्य रत्न-राशि जला देता है। अर्थात्—जिसप्रकार भस्म के निमित्त अमूल्य रत्न-राशि का जलाना महामूर्खता है उसीप्रकार भोगों के निमित्त महादुर्लभ मानवीय जीवन का व्यतीत करना भी महामूर्खता है[4] ॥१५६॥ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रतीत होनेवाली यह रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की प्राप्ति, ऐसी भव्यात्मा को मोक्षपद की प्राप्ति के लिए समर्थ होवे, जो विषय-कषाय के विस्तार से विमुख—दूर—होकर प्रशम (क्रोधादि कषायों की मन्दता व उत्तमक्षमा) की प्राप्ति में तत्पर है। प्राणिरक्षा करने में श्रद्धालु हुए जिसकी वाणियाँ कानों को अमृत-जैसी मीठीं और यथार्थ हैं

---

१. उपमालङ्कार। २. उपमालङ्कार। ३. रूपकालंकार। ४. दृष्टान्तालंकार। *'संतानतामसगुणं' इति क०।

तथा— 'कृतः कीर्तिज्योत्स्नाप्रसरदमृतासारसलिलैरयं ब्रह्मस्तम्बो धवलभवनाभोगसुभगः।
भुजस्तम्भालानादियमपि रमासिन्धुरवधूर्वशं नीता दृप्तद्विषदगमभङ्गैर्मृधवने ॥ १५८ ॥
लताकान्तारम्यास्तरुपरिजनाकीर्णवसुधास्तटीप्रप्रासादाः कमलसुहृदानन्दितभुवः।
अरण्यानीर्लक्ष्मीरिव मुहुरुपाभित्य हृदयं परस्थानावाप्तेर्विजयि भवतान्मामकमिदम् ॥ १५९ ॥

इति विचिन्त्य विदूरितसंसारसुखसंकल्पश्चेतोविनिश्चिततपश्चरणकल्पः समाहूयाचिराय निवारितनिखिलजनसदसि रहसि मामेवमबूबुधत्—'समस्तशास्त्ररहस्योपास्तिपेशलबुद्धस्य वत्स, इयं हि राज्यरमाभिलाषितसमागमापि प्रायो निसर्गविनीताचारमपि राजकुमारमभिनवयौवनाङ्गनेव छलयति सद्वृत्तोपपत्तिषु मनसि, अन्धयति सन्मार्गदर्शनेषु लोचनयोः,

---

एवं जिसका हृदय (चित्तवृत्ति) परमात्मा के स्वरूप में स्थिर व लीन है और जिसने समस्त स्पर्शन-आदि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की है। अर्थात्—जो जितेन्द्रिय है[1] ॥ १५७॥ इति बोधि-अनुप्रेक्षा ॥१२॥

हे मारिदत्त महाराज ! मेरे पिता यशोर्घ महाराज ने जिसप्रकार उक्तप्रकार बारह भावनाओं का चिन्तवन किया उसीप्रकार सांसारिक सुख का संकल्प छोड़ते हुए व अपने मन में तपश्चरण (दीक्षा-धारण) करने का कल्प * (विधि) निश्चय करते हुए उन्होंने निम्नप्रकार प्रशस्त विचार किया—

मैंने इस तीन लोक को कीर्तिरूपी चन्द्रकान्तियों से विस्तृत होरही अमृत A (गोरस-दुग्ध) सरीखी वेगयुक्त वृष्टिवाली जलराशि द्वारा उज्वल किये हुए गृहों की परिपूर्णता से मनोहर (सर्वलोक को प्रीतिजनक) कर दिया। अर्थात्—उज्वल कर दिया। इसीप्रकार युद्धाङ्गण पर अभिमानी शत्रुरूपी वृक्षों को भङ्ग करके लक्ष्मीरूपी हथिनी को अपने दक्षिण हस्तरूप गजवन्धन-स्तम्भ से बाँधकर अपने वश में कर लिया[2] ॥ १५८ ॥

मेरा यह मन ऐसी विशाल वनस्थलियों को बार-बार प्राप्त करके परस्थान (मोक्ष स्थान व दूसरे पक्षमें शत्रु-स्थान दुर्ग-आदि) की प्राप्ति के फलस्वरूप विजयशाली होवे। जो (वनस्थलियाँ) लतारूपी कमनीय कामिनियों से विशेष मनोहर हैं। जिनकी भूमियाँ वृक्षरूपी कुटुम्बी-जनों से व्याप्त हैं। जो पर्वतरूपी मन्दिरों से अलङ्कृत हैं। जिनकी भूमि मृगरूपी मित्रों से सुशोभित है एवं जो ऐसी राज्यलक्ष्मी-सरीखीं हैं, जो रमणीक रमणियों से मनोज्ञ, कुटुम्बियों से व्याप्त पृथिवी वाली, पर्वत सरीखे उच्च व सुन्दर महलों से विभूषित और जिसकी भूमि मित्रों द्वारा आनन्द को प्राप्त कराई गई है[3] ॥ १५९ ॥

तत्पश्चात्—उन्होंने मुझे ऐसे एकान्त स्थान पर, जहाँ से समस्त लोक-समूह (मन्त्री व पुरोहित-आदि राज-कर्मचारी) हटा दिये गये थे, शीघ्र बुलाकर निम्नप्रकार नैतिक शिक्षा दी।

समस्त शास्त्रों के मर्म (रहस्य) का बार-बार अभ्यास करने के फलस्वरूप प्रशस्त विचारधारा से विभूषित हुए हे पुत्र ! यद्यपि प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाली यह राज्यलक्ष्मी अभिलषित फल देनेवाली है तथापि यह स्वभाविक विनयशील राजकुमार को भी प्रायः करके मानसिक वृत्ति द्वारा सदाचार-ग्रहण करने में उसप्रकार धोखा देती है—सदाचार से वंचित करती है जिसप्रकार नवीन तरुणी (युवती स्त्री) सदाचार से वंचित रखती है। इसीप्रकार यह (राज्य लक्ष्मी) धर्म-मार्ग (कर्तव्य-पथ) के देखने में नेत्रों को

---

१. जाति-अलंकार व अतिशयालंकार। २. रूपकालंकार। ३. रूपक व उपमालङ्कार।

* 'कल्पे विकल्पे कल्पाद्रौ संवृत्ते ब्रह्मवासरे। शास्त्रे न्याये विधौ इत्यनेकार्थः।

A अमृतं यज्ञशेषेऽम्बुसुधामोक्षेष्वयाचिते। अन्नकाञ्चनयोर्जग्धौ खे स्वादुनि रसायने।
घृते हृद्ये गोरसे चेत्यनेकार्थः। अत्र गोरसवाची कुतः अतीव श्वेतत्वात्।

ह. लि. सटि. प्रतियों से संकलित—सम्पादक

बधिरयति हितोपदेशेषु श्रवणयोः, निपातयति च नियमेन दुरन्तासु तासु *व्यसनसंततिषु। यौवनाविर्भावः पुनः क्षात्रपुत्राणां भूतावतार इव हेतुरात्मविडम्बनस्य, *प्रसवागम इव कारणं मदस्य, उन्मादयोग इव प्रसवभूमिरज्ञानविलसितस्य, *मदनकोरकोपयोग इव च निदानमनर्थपरम्परायाः। तदुभयस्याप्युपस्थितस्याङ्ग विक्रमतुङ्ग समागमसुखं धर्मसहितं तथानुभव यथा न भवसि परेषां तदन्तरायविषयः।

यतः। तातस्तावज्जडनिधिरभूत्सोदरः कालकूटः कृष्णे यस्या प्रणयपरता पङ्कजाते रतिश्च।
लक्ष्म्यास्तस्याः सकलनृपतिस्वैरिणीवृत्तिभाजः कः प्रेमान्धो भवतु कृतधीर्लोकविप्लाविकायाः ॥ १६० ॥
यस्मिन् रजः प्रसरति स्खलितादिवोच्चैरान्ध्यादिव प्रबलता तमसश्चकास्ति।

अन्धा बना देती है और कल्याणकारक उपदेशों के श्रवण में कानों को बहिरा बना देती है एवं भयङ्कर परिणाम (भविष्य) वाले व्यसनों * (वाक्पारुष्य-आदि अथवा दुःख-समूहों) में निश्चय से गिरा देती है। इसीप्रकार राजकुमारों की प्रकट हुई युवावस्था उसप्रकार उनके दुख का कारण है जिसप्रकार शरीर में पिशाच-प्रवेश दुःख का कारण है। जिसप्रकार मद्यपान मद (दर्प-नशा) उत्पन्न करता है उसीप्रकार यह युवावस्था भी राजकुमारों के हृदय में मद (अभिमान) उत्पन्न करती है। इसीप्रकार यह उसप्रकार अज्ञान-वृद्धि की उत्पत्ति-भूमि है जिसप्रकार वात-रोगी की वातोल्वणता अज्ञान-वृद्धि (मूर्च्छा-वृद्धि) की उत्पत्ति भूमि है और यह उसप्रकार अनर्थ-परम्परा (कर्तव्य-नाश की श्रेणी अथवा दुःख-परम्परा) का कारण है जिसप्रकार मादक कोदों का भक्षण अनर्थ-परम्परा का कारण है। इसलिए पराक्रम से उन्नतिशील हे पुत्र! तुम प्राप्त हुए उन दोनों का प्रेम (राज्यलक्ष्मी और युवावस्था की प्राप्तिरूप सुख) उसप्रकार धर्म-पूर्वक भोगो जिसके फलस्वरूप तुम उन दोनों के सुख भोगने में शत्रुओं द्वारा विघ्न-बाधाएँ उपस्थित करने योग्य न होने पाओ।

क्योंकि—कौन धर्म बुद्धि पुरुष, समस्त राजाओं के साथ कुलटा का आचार आश्रय करनेवाली (व्यभिचारिणी) व लोक को धोखा देने में चतुर ऐसी लक्ष्मी के साथ प्रेमान्ध होगा? अपि तु कोई नहीं। जिसका (लक्ष्मी का) पिता जड़निधि (श्लेषालङ्कार में ड और ल का अभेद होने से जलनिधि—समुद्र व पक्षान्तर में जड़निधि—मूर्खता की निधि) और जिसका छोटा भाई कालकूट (विष व पक्षान्तर में कालकूट—मृत्यु की कारण) है। इसीप्रकार जिसकी स्नेहतत्परता कृष्ण (श्रीनारायण व दूसरे पक्ष में कृष्ण—मलिन हृदय) के साथ है एवं जो पङ्कजात (कमल व पक्षान्तर में पापी पुरुष) के साथ प्रेम करती है[1] ॥ १६० ॥

जिस युवावस्था के प्रकट होने पर युवक पुरुष का उसप्रकार विशेष अपवाद होने लगता है जिसप्रकार पाप-प्रवृत्ति से मानव का विशेष अपवाद होता है। जिसके प्रकट होने पर अज्ञान की प्रौढ़ता उसप्रकार होती है जिसप्रकार अंधे होजाने से अज्ञान की प्रौढ़ता (विशेष वृद्धि) होने लगती है। इसीप्रकार जिसके प्राप्त होने पर सत्व गुण (प्रसन्नता गुण—नैतिक प्रवृत्ति) कामरूप अग्नि से

---

* 'तासु तासु' इति क, ग, च०।

A B C

* प्रसन्नासमागम इव कारणं मदस्य, उन्मादयोग इव असम्बद्धालापाभिनिवेशविश्रामस्थानं प्रसवभूमिरित्यादि' पाठान्तरं क, च प्रतियुगले। A. मदिरा। B. हेतुः। C. उत्पत्तिभूमिः। *. कोद्रवभोजनवत् सटि० प्रति से संकलित।

* वाग्दण्डयोश्च पारुष्यमर्थदूषणमेव च। पानं स्त्री मृगया द्यूतं व्यसनानि महीपतेः ॥१॥

ह० लि० सटि० प्रतियों से संकलित—सम्पादक

१. हेतु-अलंकार।

सत्वं तिरोभवति भीतमिवाङ्गजाग्नेस्तद्यौवनं विनय सज्जनसंगमेन ॥ १६१ ॥

नयविनयचातुरीरुचिरचरित्रपवित्र पुत्र, त्वयि स्वभावादेव विदूरितागसि महाभागमनसि न किंचिदुपदेष्टव्यमस्ति।

भयभीत हुआ-सरीखा नष्ट होजाता है। अतः हे पुत्र! उस युवावस्था को सज्जनों की संगति में व्यतीत करो।

विशद विवेचन—चन्द्रप्रभ-चरित्र के रचयिता वीरनन्दि आचार्य का प्राकरणिक प्रवचन हृदयङ्गम करने लायक है, जिसे श्रीषेण राजा ने जिनदीक्षा-धारण की प्रयाणवेला में अपने युवराज वीर पुत्र श्रीवर्मा (चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर की पूर्व पर्याय) के लिए दिया था—

'हे पुत्र! तुम विपत्ति-रहित या जितेन्द्रिय और शान्तशील होकर अपने तेज (सैनिक व कोशशक्ति) से शत्रुओं का उदय मिटाते हुए समुद्रपर्यन्त पृथ्वीमण्डल का पालन करो ॥ १ ॥ जिसतरह सूर्योदय से चक्रवाक पक्षी प्रसन्न होते हैं उसीतरह जिसमें सब प्रजा तुम्हारे अभ्युदय से खेद-रहित (सुखी) हो, वही गुप्तचरों (जासूसों) द्वारा देख जानकर करो ॥ २ ॥ हे पुत्र! वैभव की इच्छा से तुम अपने हितैषी लोगों को पीड़ा मत पहुँचाना; क्योंकि नीति-विशारदों ने कहा है कि प्रजा को खुश रखना—अपने पर अनुरक्त बनाना अथवा प्रजा से प्रेम का व्यवहार करना—ही वैभव का मुख्य कारण है ॥ ३ ॥ जो राजा विपत्ति-रहित होता है उसे नित्य ही संपत्ति प्राप्त होती है और जिस राजा का अपना परिवार वशवर्ती है, उसे कभी विपत्तियाँ नहीं होतीं। परिवार के वशवर्ती न होने से भारी विपत्ति का सामना करना पड़ता है ॥ ४ ॥ परिवार को अपने वश करने के लिए तुम कृतज्ञता सद्गुण का सहारा लेना। कृतघ्न पुरुष में और सब गुण होने पर भी वह सब लोगों को विरोधी बना लेता है ॥ ५ ॥

हे पुत्र! तुम कलि-दोष जो पापाचरण है उससे बचे रहकर 'धर्म' की रक्षा करते हुए 'अर्थ' और 'काम' को बढ़ाना। इस युक्ति से जो राजा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का सेवन करता है, वह ऐहिक व पारलौकिक सुख प्राप्त करता है ॥ ६ ॥ हे पुत्र! सावधान रहकर सदा मन्त्री व पुरोहित-आदि बड़े ज्ञानवृद्धों की सलाह से अपने कार्य करना। गुरु (एक पक्ष में उपाध्याय और दूसरे पक्ष में बृहस्पति) की शिक्षा प्राप्त करके ही नरेन्द्र सुरेन्द्र की शोभा या वैभव को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥ प्रजा को पीड़ित करनेवाले कर्मचारियों को दंड देकर और प्रजा के अनुकूल कर्मचारियों को दान-मानादि से तुम बढ़ाना। ऐसा करने से वन्दीजन तुम्हारी कीर्त्ति का कीर्त्तन करेंगे और उससे तुम्हारी कीर्त्ति दिग्दिगन्तर में व्याप्त होजायगी ॥ ८ ॥ तुम सदा अपनी चित्तवृत्ति (मानसिक अभिलषित कार्य) को छिपाये रखना। काम करने से पहले यह न प्रकट हो कि तुम क्या करना चाहते हो? क्योंकि जो पुरुष अपने मन्त्र (सलाह) को छिपाये रखते हैं और शत्रुओं के मन्त्र को फोड़-फाड़कर जान लेते हैं, वे शत्रुओं के लिए सदा अगम्य (न जीतने योग्य) रहते हैं ॥ ९ ॥ जैसे सूर्य तेज से परिपूर्ण है और सब आशाओं (दिशाओं) को व्याप्त किये रहता है तथा भूभृत् जो पर्वत हैं उनके शिर का अलङ्कार रूप है उसके कर (किरणें) बाधाहीन होकर पृथ्वी पर पड़ते हैं, वैसे ही तुम भी तेजस्वी होकर सबकी आशाओं को परिपूर्ण करो और भूभृत् जो राजा लोग हैं उनके सिरताज बनो, तुम्हारा कर (टेक्स) पृथ्वी पर बाधाहीन होकर प्राप्त हो—अनिवार्य हो ॥१०॥ निष्कर्ष—प्रकरण में हे मारिदत्त महाराज! मेरे पिता ने मुझे उक्त प्रकार की नैतिक शिक्षा दी[२]* ॥१६१॥

नीतिमार्ग और विनयशीलता की चतुराई के कारण विशेष मनोज्ञ चरित्र से पवित्र हुए हे पुत्र! जब तुम स्वभाव से ही निर्दोष और पवित्र मनशाली हो तब आपको कुछ भी नैतिक शिक्षा देने योग्य नहीं है।

*. देखिए चन्द्रप्रभचरित्र सर्ग ४ श्लोक ३४ से ४४। २. उपमालङ्कार।

यस्माद्बालकालकेलिष्वपि तव प्रवृत्तयः केसरिकिशोरकस्येव पराक्रमाक्रान्तवैरिकरिविहारभूमयः, पयोधरसमयस्यैव शरासारप्रसरसूत्रितसपत्नपुरप्रासादमेदिनीदूर्वांकुरप्ररोहाः, शरच्चन्द्रस्येव निखिलजगद्धामधवलनारब्धयशःप्रकाशामृतवृष्टयः, सुरफलेग्रहेरिव संतर्पितार्थिजनहृदयमनोरथाः, प्रतिपन्नदीक्षितस्येव सत्यशुचिवचन*रचनाप्रपञ्चितयः, प्रथमयुगावतारस्येव धर्ममहोत्सवपरायणाः, सुधापयोधरस्येव प्रमोदितसकलभुवनभागभुवः। तत्परमेतदेवाशास्महे—भवन्तु श्रीसरस्वतीसमागमानुबन्धीनि सिन्धुसलिलानीव चिरमायूंषि, परिपालयतु भवान् प्रजापतिरिव पूर्वावनीश्वरपरम्परायातपरिपालनोपदेशमशेषमिदमिलावलयम्, विश्रामयतु चास्माकमरालकालमवनिभारोद्धरणक्लपितमिमं युगंधरप्रदेशम्। वयं तु सांप्रतं भवद्भुजगजारोपितसमस्तसाम्राज्यभाराश्चिरायप्रार्थितचतुर्थपुरुषार्थसमर्थनमनोरथसाराः

क्योंकि जिसप्रकार सिंह-शावक (बच्चा) की चेष्टाएँ शिशुकालीन क्रीड़ाओं में भी अपने पराक्रम से शत्रुभूत हाथियों की संचार-भूमियों को व्याप्त करनेवालीं होतीं हैं उसीप्रकार आपकी चेष्टाएँ भी युवावस्था की बात तो दूर रहे किन्तु शिशुकालीन क्रीड़ाओं में भी अपने पराक्रम द्वारा शत्रुओं के हाथियों की पर्यटन—संचार—भूमियों को व्याप्त करनेवालीं हैं। जिसप्रकार वर्षाकाल की प्रवृत्तियाँ शरासार[1] (सर-आसार) अर्थात्—जल की वेगशाली वृष्टि के विस्तार द्वारा नगरवर्ती गृहों की भूमियों पर दूर्वाङ्कुर उत्पन्न करतीं हैं उसीप्रकार आपकी चेष्टाएँ भी शिशुकालीन क्रीड़ाओं में भी शरासार अर्थात्—बाणों की वेगशाली वृष्टि द्वारा शत्रुओं के नगरवर्ती गृहों में दुर्वाङ्कुरों की उत्पत्ति स्थापित करतीं हैं। जिसप्रकार शरत्कालीन चन्द्र की प्रवृत्तियाँ, समस्त तीन लोकरूपी गृह को उज्वल करने में अमृत-वृष्टि की रचना उत्पन्न करतीं हैं उसीप्रकार आपकी चेष्टाएँ भी शिशुकालीन क्रीड़ाओं में भी समस्त तीन लोकरूपी गृह को उज्वल करने में यशप्र-काशरूपी अमृत-वृष्टि की रचना (उत्पत्ति) करनेवालीं हैं एवं जिसप्रकार कल्पवृक्ष याचकों के मनोरथ पूर्ण करते हैं उसीप्रकार आपकी चेष्टाएँ भी याचकों के मनोरथ पूर्ण करनेवालीं हैं। जिसप्रकार अहिंसा-आदि महाव्रत धारण करनेवाले मुनियों की प्रवृत्तियों में सत्यता के कारण पवित्र वचनों का रचना-विस्तार पाया जाता है उसीप्रकार आपकी चेष्टाओं में भी सत्यता के कारण पवित्र वचनों का रचना-विस्तार पाया जाता है। आपकी प्रवृत्तियाँ पूजा व पात्र-दानादि धार्मिक महोत्सवों में उसप्रकार तत्पर हैं जिसप्रकार कृतयुग के प्रथम प्रवेश की प्रवृत्तियाँ धर्म-महोत्सवों में तत्पर होतीं हैं। जिसप्रकार अमृत-वृष्टि करनेवाले मेघों की प्रवृत्तियों द्वारा तीन लोक अथवा मनुष्य लोक की भूमियाँ हर्ष में प्राप्त कराईं जातीं हैं उसीप्रकार आपकी प्रवृत्तियों द्वारा भी तीन लोक की पृथिवियाँ हर्ष में प्राप्त कराईं जातीं हैं। अतः यद्यपि आपको कोई नैतिक शिक्षा देने योग्य नहीं है तथापि हम केवल यही आशीर्वाद देते हैं कि हे पुत्र! तुम्हारे जीवन (आयुष्य) चिरायु हों और उनमें लक्ष्मी (राज्यविभूति) और सरस्वती (द्वादशाङ्ग वाणी) का समागम उसप्रकार होता रहे जिसप्रकार समुद्र की जलराशि में लक्ष्मी और सरस्वती नदियों का समागम होता है। तुम ऋषभदेव तीर्थङ्कर के समान ऐसे इस पृथिवी-मंडल की रक्षा करो, जिसकी रक्षा का उपदेश (शिक्षा) पूर्वकाल के भरतचक्रवर्ती-आदि राजाओं की परम्परा से चला आरहा है। हे पुत्र! मेरे स्कन्ध (कन्धा) को, जो कि चिरकाल पर्यन्त पृथिवी का बोझ धारण करने के फलस्वरूप कष्ट को प्राप्त होचुका है, विश्राम प्राप्त कराओ। इस समय हम, जिन्होंने समस्त साम्राज्य का भार आपके बाहुदण्डरूपी हाथी पर स्थापित किया है और चिरकाल से प्रार्थना किये हुये मोक्ष पुरुषार्थ

* 'रचनप्रपञ्चितनयाः' इति क०।

१. तथा चोक्तं—बवयोर्डलयोश्चैव रलयोः शषयोस्तथा। अभेदमेव वाञ्छन्ति येऽलंकारविदो बुधाः ॥१॥ यश. संस्कृत टीका पृ० २८३ से संकलित—सम्पादक

परंवयःपरिणतिदूतीनिवेदितनिसर्गप्रणयायास्तपोवनाश्रमरमायाः समागमावसरवर्त्मानमिवात्मानं कर्तुमीहामहे।'

यशोधरः—'समस्तभुवनभूपालस्तूयमानकीर्तिकुलदैवत तात, युक्तमेवैतत्। किन्तु क्षितिपतिसुतानामखिलमनोरथेषु कामधेनुरपीयं राज्यलक्ष्मीः सकलदिक्पालकुलश्लाघ्यमानपादसेव देव, तातमन्तरेण किमपि सुखमुत्पादयन्त्यपि पुनः कार्यव्यासङ्गपरम्पराभिर्मदनफलप्रयुक्तिरिव भुक्तमाहारमतिबहुलहृदयखेदमुद्वमयति।

स्वच्छन्दवृत्तेः शनिदृष्टिरेषा सुखोत्सवोपायविधौ च विष्टिः।
केतूद्गतिः केलिमनोरथानां श्रीः स्याद्विना तातमनर्थहेतुः ॥ १६२ ॥
विना विनेतारमयं वृथा स्याद्यथा गजानां विनयोपदेशः।
राज्यं तथा राजकुमारकाणां विना विनेतारमिदं वृथैव ॥ १६३ ॥
गुरावर्पितभूभाराः सुखं ये न समासते।
तेषां दिवापि धीव्योम्नि चिन्ताध्वान्तं विजृम्भताम् ॥ १६४ ॥

किं च। पुत्रास्ते ननु पुण्यकीर्तनपदं तेऽनर्घ्यजन्मोत्सवास्ते पुत्रार्थिजनस्य वंशतिलकास्ते च श्रियः केतनम्।

के कारण (सम्यग्दर्शन-आदि उपाय) संबन्धी मनोरथों से शक्ति-शाली हैं, अपनी आत्मा को ऐसी तपोवन लक्ष्मी के समागम संबन्धी अवसर का मार्ग करना चाहते हैं, जिसका स्वाभाविक प्रेम वृद्धावस्थारूपी दूती के द्वारा कहा गया है।

उक्त बात को सुनकर यशोधर ने कहा—समस्त पृथिवीमण्डल के राजाओं द्वारा स्तुति की हुई कीर्त्तिरूपी कुलदेवता से अलंकृत ऐसे हे पिता जी। यह आपकी मान्यता उचित नहीं है। क्योंकि यद्यपि यह राजलक्ष्मी राजपुत्रों के समस्त मनोरथों की पूर्ति करने के लिए कामधेनु-सरीखी है तथापि समस्त राजसमूह द्वारा प्रशंसनीय चरणकमल की सेवावाले ऐसे हे देव! और कुछ सुख उत्पन्न करती हुई भी पश्चात् अनेक राजकीय कार्यों में आई हुई उलझनों की परम्परा से उनके सुख को उसप्रकार बाहिर फैंक देती है—नष्ट कर डालती है जिसप्रकार राजफल का भक्षण खाये हुए भोजन को विशेष हार्दिक दुःखपूर्वक वमन करा देता है।

क्योंकि पिता के विना यह लक्ष्मी (राज्यादि-विभूति) उसप्रकार दुःख का कारण (पीड़ाजनक) होती है जिसप्रकार स्वाधीन प्रवृत्ति करनेवाले मानव को शनैश्चर नामक ग्रह की पूर्ण दृष्टि (उदय) दुःख का कारण होती है और जिसप्रकार विष्टिनाम का सप्तमकरण मानव का सुख नष्ट करता है उसीप्रकार पिता के विना यह लक्ष्मी भी सुख-संबंधी उत्सवों के उपाय करने में सुख नष्ट कर देती है। इसीप्रकार पिता के विना यह लक्ष्मी क्रीड़ा करने के मनोरथ उसप्रकार भङ्ग (नष्ट) करती है जिसप्रकार केतु नामक नौवें ग्रह का उदय मानवों के क्रीड़ा करने के मनोरथ भङ्ग कर देता है[1] ॥१६२॥ जिसप्रकार महावत के विना हाथियों के लिए दिया जानेवाला शिक्षा का उपदेश निरर्थक है उसीप्रकार पिता के विना राजपुत्रों को यह राज्य भी निरर्थक है[2] ॥१६३॥ जो राजपुत्र, पिता पर पृथिवी-(राज्य) भार स्थापित करते हुए सुखपूर्वक नहीं रहते, उनके बुद्धिरूपी आकाश में दिन-रात चिन्तारूपी निविड़ अन्धकार विस्तृत होवे[3] ॥१६४॥ उक्त बात का विशेष निरूपण—जो पिता की आज्ञा-पालन के अवसर पर सेवक-सरीखे, शास्त्राभ्यास के समय शिष्य-सरीखे हैं और गुरु (पिता व शिक्षक) के कुपित होजाने पर भी जो उससे

---

१. दृष्टान्तालंकार। २. दृष्टान्तालंकार। ३. रूपकालंकार।

आदेशावसरे गुरोरनुचराः शिष्याः भुताराधने कोपे सप्रणयाः प्रसादसमये ये च प्रसन्नोदयाः ॥ १६५ ॥

निजप्रतापप्रभावसंभावितभूर्भुवःस्वस्त्रयीमहोत्सव देव, 'आत्मा वै पुत्रः' इति विदितशास्त्रहृदयानां गृहमेधीयानां पुराणपुरुषावगाह्यमैतिह्यम्। इदानीं तमन्तरेण को नाम निःश्रेयसधाम परस्तपःप्रारम्भावसरः। स्वकीयवंशाभिवृद्धिक्षेत्रात् पुत्राद्धर्मोऽपि नापरः समस्ति। यतः शास्त्रकृतः पुमांसं प्रसाधितात्मीयान्वयोदयमीमांसं दुरीहितागमाजन्मान्तर-संगमात्त्रायते यस्तं पुत्रं निर्वर्णयन्ति।

ततः। राज्यस्य तपसो वापि देवे श्रितवति श्रियम्। अहं छायेव देवस्य सहवृत्तिपरायणः ॥ १६६ ॥

इत्येकताचित्तसंतानस्य प्रतिजिज्ञासमानस्य मे प्रत्यादिश्य त्रिदशैरप्यनुल्लङ्घनीयव्यापारेण भ्रूक्षेपेण व्याहारव्यव-हारमादाय स्वकीयान्मुक्तिलक्ष्मीसमालिङ्गनाभ्यासात् कण्ठदेशादखिलमहीवलयवश्यतादेशमालामिव तारतरलमुक्ताफलामेकावलीं बबन्ध। यौवराज्याय समादिश्य च पट्टबन्धविवाहमहोत्सवाय खेदमोद*मन्दयमानसर्गं *सामन्तवर्गं विहितबहुसभाजनं

स्नेह करते हैं एवं गुरु के प्रसाद (प्रसन्नता) के अवसर पर जिनका हृदय प्रसन्न होजाता है, वे पुत्र, निश्चय से पवित्र कीर्ति के स्थान हैं, उनका जन्म-महोत्सव अमूल्य या दुर्लभ है और वे पुत्र की कामना करनेवाले लोगों के कुल-मण्डन हैं एवं राज्यलक्ष्मी के निवास-स्थान हैं[1] ॥१६५॥

अपने तेज (सैनिक-शक्ति व कोश-शक्ति) के माहात्म्य-वश अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक में महान् आनन्द उत्पन्न करनेवाले ऐसे हे राजाधिराज! 'आत्मा वै पुत्रः' अर्थात्—'निश्चय से पुत्र पिता की आत्मा है' यह वेदशास्त्र के मर्मज्ञ गृहस्थों का श्रीनारायण द्वारा माननीय ऐतिह्य[2] (चिरकाल से चली आनेवाली वैदिक मान्यता) है, अतः हे तात! इस समय पुत्र के सिवाय दूसरा कौनसा मोक्ष-स्थान व तपश्चर्या-धारण का अवसर है? अर्थात्—पुत्र ही मोक्ष देनेवाली तपश्चर्या है। इसलिए अपने वंशरूप बाँसवृक्ष की वृद्धि-हेतु भूमिस्थान-सरीखे पुत्र को छोड़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है। क्योंकि शास्त्रकारों (व्यास, वाल्मीकि, याज्ञवल्क्य व पाराशर-आदि ने कहा है कि जो, अपने कुल की उन्नति-संबंधी विचार के ज्ञाता पिता की पापकर्म के आगमनवाले पुनर्भव-संगम से रक्षा करता है, उसे 'पुत्र' कहते हैं।

इसलिए जब पूज्य आप राज्यलक्ष्मी व तपोलक्ष्मी का आश्रय किये हुए होंगे तब मैं उसप्रकार आपके सह-(साथ) गमन में तत्पर रहूँगा जिसप्रकार आपके शरीर की छाया आपके सह-गमन में तत्पर रहती है[3] ॥१६६॥

इसप्रकार स्थिरमनोवृत्ति-युक्त व उक्तप्रकार की प्रतिज्ञा करनेवाले मेरा उक्तप्रकार का वचनव्यापार (कथन) उन्होंने, देवों द्वारा भी उल्लङ्घन न करनेयोग्य चेष्टावाली अपनी भ्रुकुटी की प्रेरणा से रोका। तत्पश्चात्—उन्होंने अपने कंठदेश से, जिसके समीप मुक्तिरूपी लक्ष्मी का आलिङ्गन वर्तमान था, 'एकावली' नामकी माला (हारविशेष) को, जिसमें उज्वल व सर्वश्रेष्ठ एवं बहुमूल्य मोती-समूह पिरोये हुए थे और जो ऐसी मालूम पड़ती थी, मानों—समस्त भूमण्डल को वशीकरण करने के निमित्त की माला ही है, निकालकर मेरे कण्ठ पर बाँधदी—पहिना दी। तत्पश्चात्—उन्होंने समस्त अधीनस्थ नृपसमूह को, जो कि दुःख व सुख की वृद्धिंगत सृष्टि कर रहा था। अर्थात्—मेरे पिता की दीक्षा-धारण करने का समाचार श्रवण कर विशेष

* 'खेदमोदमन्दायमानं' इति ग०। * 'सर्वसामन्त' इति ग०। १. रूपक व समुच्चयालंकार।

२. उक्तं च—उपनिषत्काण्डे—'अथ त्रयो वा लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक' इति। सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन। कर्मणा पितृलोकः, विद्यया देवलोकस्त्रैलोक्यानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति।

३. उपमालंकार।

परिजनं च भगवतः समस्तश्रुतस्कन्धोद्धरणसमर्थमतिप्रसरस्य संयमधरस्य महर्षेः संनिकर्षे मनोजसामजमदमहोदधितरङ्गसंचयमिव कचनिचयमपहायाभिलषितमन्वतिष्ठत ।

तदन्वपरेद्युर्मम महादेव्या यागनागस्य तुरगस्य *चानुकूलात्मन्यहनि विहितगणकाह्वानः प्रतापवर्धनः सस्थपतिः सेनापतिः परिकल्पितसकलपट्टबन्धोत्सवोपकरणसंभारः शुभसंरम्भसारः पुण्यपानीयपूतोपान्ताश्रयाश्रमविप्रायाः सिप्रायास्तीर-तरुणतरुविराजमानहरितः सरितः कूले कमनीयलीले यथोक्तलक्षणायां प्राक्प्रवणायां च भुवि समं समाचरितमहावीथीप्रचारेण शाखानगरेणानेकरत्नचितमेतदुचितमतिविचित्रवस्त्रशोभापनीतातपमभिषेकमण्डपमनेकतोरणमण्डवेदिकावासविभक्तकक्षान्तरं संनिकायं विरचय्य, दिशि दिशि निवेशिताशेषनरेश्वरशिबिरः सपरिवारः समाहूय गजवाजिवजयोरधिकृतवंशमुद्धताङ्कुशमहामात्रं शालिहोत्रं च महासाधकम्

दुःखी व मेरा (यशोधर राजकुमार) राज्याभिषेक श्रवण कर सुखी होरहा था और विशेष प्रेम प्रकट करनेवाले कुटुम्बीजनों को बुलाकर, मुझे युवराज-पद पर स्थापित करने की तथा मेरा राज्यपट्टबन्ध-महोत्सव और विवाह-महोत्सव करने की आज्ञा दी। इसके अनन्तर उन्होंने भगवान्[1] (इन्द्रादि द्वारा पूज्य) व समस्त द्वादशाङ्ग-शास्त्र के ज्ञान से प्रौढ़ प्रतिभा-शाली 'संयमधर' नामक महर्षि के समीप जाकर ऐसे केश-समूह का, जो ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—कामदेवरूपी हाथी के मदरूप महासमुद्र की तरङ्ग पङ्क्ति ही है, पंच-मुष्टिपूर्वक लुञ्चन करके जैनेश्वरी दीक्षा धारण की।

तत्पश्चात् ऐसे 'प्रतापवर्द्धन' नाम के सेनापति ने दूसरे दिन निम्नप्रकार कार्य सम्पन्न किया, जो वास्तुविद्या के विद्वानों से सहित था। जिसने मेरी और अमृतमती महादेवी के राज्यपट्ट-(मुकुट) बन्ध-संबंधी और हाथी व घोड़े के उत्सव-संबंधी अनुकूल दिन में ज्योतिषियों को बुलाया था। जिसने राज्य पट्ट बाँधने के महोत्सव-संबंधी उपकरण-समूह एकत्रित कर लिया था और जो माङ्गलिक व श्रेयस्कर कार्यों के अनुष्ठान में अत्यन्त चतुर-प्रवीण था। उसने जलपूर द्वारा तटवर्ती आश्रमवासी ब्राह्मणों को पवित्र करनेवाली व तटवर्ती नवीन वृक्षों से शोभायमान दिशावाली सिप्रानदी के अत्यन्त रमणीक तट-संबंधी, वास्तुविद्या में कहे हुए लक्षणों वाली पूर्वदिशा की सर्वश्रेष्ठ अथवा सुसंस्कृत पृथिवी पर, ऐसा राज्याभिषेक व विवाहाभिषेक के योग्य सभामण्डप व भूमिप्रदेश बनवाया, जो निर्माण किये हुए ऐसे शाखानगर (प्रतिनगर—मूलनगर से दूसरा नगर) के साथ एक काल में बनवाया हुआ शोभायमान होरहा था, जिसमें महावीथियों (बाजार-मार्गों) की रचना कीगई थी। जिसमें (अभिषेक-मण्डप में) नाना प्रकारके रत्नसमूह जड़े हुए थे। अर्थात्—सुवर्णमयी व रत्नमयी शोभा से सुशोभित था। जो राज्यपट्टाभिषेक व विवाहाभिषेक के योग्य था। जिसने अत्यंत मनोज्ञ वस्त्रों के विस्तार से सूर्य का आतप (गर्मी) रोक दिया था। जिसकी निवास-भूमियाँ, बहुत से तोरणों से मण्डित महलों, वेदिकाओं व धनाढ्यों के निवास-स्थानों से पृथक् पृथक् निर्माण कीगई थीं। तत्पश्चात्—अपने परिवार-सहित उस प्रतापवर्द्धन सेनापति ने समस्त दिशाओं में समस्त राजाओं की सेनाएँ स्थापित करते हुए ऐसे 'उद्धताङ्कुश' और 'शालिहोत्र' नाम के क्रमशः हस्तिसेना व अश्व-सेना के प्रधान अमात्यों को, जिनका कुल (वंश) क्रमशः हाथियों व घोड़ों की सेना का अधिकारी था, बुलाकर कहा—

---

* 'चानुकूलेऽहनि' इति क, ग० ।

१. 'उक्तं च—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य तपसो नियमः श्रियः । वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इति स्मृतिः ॥' एवं षडर्थविशेषणविशिष्टो भगो विद्यते यस्य स भवति भगवान् तस्य भगवतः । संस्कृत टीका से संकलित—सम्पादक

'अतित्वरितमुभाभ्यामपि भवद्भ्यामुभयनयनेदिष्टैः स्वामिहितप्रतिष्ठैः सहोद्योग हे अभ्यावे सेनाङ्गे देवस्य विज्ञापनीये' इत्याचरत्।

तावुभावपि तद्वचनात्तथाचर्य तत्र परशुरामान्वयावकाश उद्धताङ्कुशस्तावदेवं मां व्यजिज्ञपत्—'देव, प्रतापवर्धनसेनापतिनिदेशान्मयोत्साहिताभिनिवेशा गुरुराजमुख्याभ्यामिभचारियाज्ञवल्क्यवाद्धलिनरनारदराजपुत्रगौतमादिमहामुनिप्रणीतमतङ्गजैविद्यावगाहसमीहमानमनःप्रचारा अतीतपरमेश्वरप्रसादासादितवीराम्रुतगणाधिपत्यसत्कारा विदितनिरवद्योपनिषत्सूरिपरिषद्देवस्यानीकिनीतिलकमहं सपर्यार्हं कलिङ्गविषयाधिपतिप्रहितप्रतिवर्षदेयवेदण्डमण्डलीमध्ये सिन्धुरमेकमुदयगिरिनामकं परीक्ष्य मन्मुखेनैवं विज्ञापयति—

तथाहि—कलिङ्गजं वनेन,

हे उद्धताङ्कुश! और हे शालिहोत्र! आप दोनों, स्वामी के हित-साधन में तत्पर रहनेवाले और हस्तिविद्या और अश्वविद्या के पारदर्शी विद्वान् पुरुषों की सहायता से परीक्षा करके सेना के प्रधान अङ्ग ऐसे सर्वश्रेष्ठ हाथी व सर्वश्रेष्ठ घोड़ा इन दोनों के विषय में प्रस्तुत यशोधर महाराज के लिए निवेदन कीजिये। प्रसङ्ग—इसप्रकार उक्त प्रतापवर्द्धन सेनापति ने उक्त कार्य सम्पन्न किया।

तत्पश्चात् उन दोनों उद्धताङ्कुश (हस्तिसेना-प्रमुख) और शालिहोत्र (अश्वसेना-प्रमुख) ने भी उक्त प्रतापवर्धन सेनापति की आज्ञानुसार हस्तिविद्या व अश्वविद्या के वेत्ता विद्वानों के साथ हाथी व घोड़े की परीक्षा करके उनमें से परशुराम-कुल में उत्पन्न हुए उद्धताङ्कुश ने मेरे (यशोधर के) पास आकर निम्नप्रकार निवेदन किया—हे देव! प्रतापवर्धन सेनापति की आज्ञानुसार ऐसी विद्वन्मण्डली ने, कलिङ्ग देश के राजा द्वारा भेजे हुए और प्रतिवर्ष आपके लिए भेंट में देने योग्य हस्ति-समूह में से जगत्प्रसिद्ध, एक (अद्वितीय) और आपकी हस्ति-सेना का मण्डन (सर्वश्रेष्ठ) एवं पाद-प्रक्षालनरूप पूजा के योग्य ऐसे उदयगिरि नामके हाथी की परीक्षा करके मेरे मुख से आपकी सेवा में यह विज्ञापन कराया है—कहलवाया है। कैसी विद्वन्मण्डली से परीक्षा करके? जिसका परीक्षा करने का अभिप्राय, मेरे द्वारा और गुरु-प्रमुख तथा राज-प्रमुख द्वारा (धनादि देकर) उत्साहित किया गया है। अर्थात्—उद्यम में प्राप्त कराया गया है और जिसका मानसिक व्यापार इभचारी, याज्ञवल्क्य, वाद्धलि या वाह्वलि, नर, नारद, राजपुत्र, एवं गौतम-आदि महामुनियों द्वारा रचे हुए गज-(हाथी) परीक्षा-संबंधी शास्त्रों के पठन-पाठन के अभ्यास-वश विशेष प्रवृत्त होरहा है, अर्थात्—विशेष उन्नतिशील है। एवं जिसने भूतपूर्व परमेश्वर (यशोर्घमहाराज) के प्रसाद से हस्ति-शिक्षा देनेवाले वीर-समूह (विद्वान्) प्राप्त किये हैं। जिसको हस्तिवैद्य द्वारा सन्मान प्राप्त हुआ है और जिसने निर्दोष उपनिषद (तदधिकृत प्रकरण—गजविद्या-संबंधी शास्त्र) का ज्ञान प्राप्त किया है।

अब उद्धताङ्कुश (हस्तिसेना-प्रमुख) मेरे समक्ष उदयगिरि नाम के प्रमुख हाथी की उन महत्वपूर्ण विशेषताओं (प्रशस्त गुण, जाति व कुल-आदि) का निम्नप्रकार निरूपण करता है, जिन्हें 'प्रतापवर्द्धन' सेनापति ने विद्वन्मण्डली द्वारा परीक्षा कराकर मेरे प्रति (प्रस्तुत यशोधर महाराज के प्रति) कहलवाया था।

हे देव! प्रतापवर्द्धन सेनापति ने निम्नप्रकार निवेदन किया है कि वह उदयगिरि नामका हाथी वन की अपेक्षा से 'कलिङ्गज' (कलिङ्ग[1] देश के वन में उत्पन्न हुआ) है। अर्थात्—हे राजन्! 'कालिङ्गजा गजाः श्रेष्ठाः इति वचनात्' अर्थात्—कलिङ्ग देश के वन में उत्पन्न हुए हाथी सर्वश्रेष्ठ होते हैं, ऐसा विद्वानों ने कहा है, अतः यह सर्वश्रेष्ठ है।

१. उक्तं च—'उत्कलानां च देशस्य दक्षिणस्यार्णवस्य च। सह्यस्य चैव विन्ध्यस्य मध्ये कालिङ्गजं वनम् ॥१॥'

कुलेनैरावणम्, समं प्रचारेण, देशेन साधारणम्, भद्रं जन्मना, संस्थानेन समसंबद्धम्, उत्सेधायामपरिणाहैः समसुविभक्त-सर्वकायम्, आयुषा द्वादशापि दशा भुञ्जानम्, अङ्गेन स्वायतव्यायतच्छविम्, आशंसनीयं वर्णप्रभाच्छायासंपत्तिभिः, कल्याणमाचारशीलशोभावेदितैः, प्रशस्तं लक्षणव्यञ्जनाभ्याम्,

---

यह ऐरावण नामक सर्वश्रेष्ठ हस्तिकुल का है एवं पर्वत और नदियों-आदि के मध्य में इसका गमन सम (अवक्र-सीधा) है, अतः समप्रचार गुण की अपेक्षा से भी श्रेष्ठ है [१, २, ३, ४]। इसीप्रकार हे राजन्! यह समस्त देशों में साधारणगति (न रुकनेवाली गति) से संचार करता है, अतः देश की अपेक्षा से यह साधारण गुणवाला है। अर्थात्—विद्वानों ने कहा है कि जो, जलप्राय देशों में और निर्जल देशों में वेरोक गति से संचार करता है, उसे साधारण गुणवाला हाथी कहते हैं। अथवा इसे सभी देश रुचते हैं, अतः साधारण गुण-शाली है। हे राजन्! भद्रजाति होने के फलस्वरूप यह श्रेष्ठ है। समचतुरस्रसंस्थान वाला इसका शरीर सुसम्बद्ध (सुडोल) है। अर्थात्—इसके शरीर का आकार ऊपर, नीचे और बीच में समानभागरूप—सुडोल—है। एवं उच्चता (ऊँचाई), लम्बाई व विशालता इन गुणों से इसके समस्त शरीर की आकृति समान रीति से—सुडोलरूप से—अच्छी तरह विभक्त की गई है, अतः सुडोल गुण के कारण से भी इसमें विशेषता है। यह, दश वर्षवाली एक अवस्था ऐसीं-ऐसीं दो अवस्थाएँ भोगनेवाला है। अर्थात्—इसकी आयु बीस वर्ष की है, अतः इसमें विशेषता है। इसीप्रकार इसके शरीर की त्वचा की कान्ति ऊँचीं-तिरछीं वलियों—सलों—से रहित है। अर्थात्—यह जवान हाथी है, जिसके फलस्वरूप इसकी त्वचाओं पर ऊँचीं व तिरछीं सलें नहीं हैं। अथवा इसका शरीर दीर्घ व पृथु है। इसीप्रकार यह शारीरिक श्याम-आदि वर्ण, कान्ति व छायारूप संपत्तियों से प्रशस्त है और यह, शारीरिक आचार, शील (मानसिक प्रकृति), शोभा (शारीरिक वृद्धि की विशेषता) और अर्थवेदिता (पदार्थज्ञान) इन गुणों से कल्याणकारक—शुभ सूचक—है एवं यह लक्षणों[५] (जन्म से उत्पन्न हुए शारीरिक शुभ चिन्हों) और व्यञ्जनों (जन्म के बाद प्रकट हुए शारीरिक चिन्हों) से अलङ्कृत होने के फलस्वरूप प्रशस्त (श्रेष्ठ) है। अथवा सुन्दर शुण्डादण्ड-आदि लक्षणों व विन्दु व स्वस्तिकादिक व्यञ्जनों से अलङ्कृत होने के कारण प्रशस्त है।

---

१. तथा चोक्तं—'कुलजातिवयोरूपैश्चारवर्ष्मबलायुषाम्। सत्वप्रचारसंस्थानदेशलक्षणरंहसा ॥१॥
एषां चतुर्दशानां तु यो गुणानां समाश्रयः। स राज्ञो यागनागः स्याद्भूरिभूतिसमृद्धये' ॥२॥

अर्थात्—वह यागनाग (सर्वश्रेष्ठ हाथी) राजाओं के ऐश्वर्य की विशेष वृद्धि करता है, जो कि कुल, जाति, वय, रूप, चार, वर्ष्म (शरीर), बल, आयु, सत्व, प्रचार, संस्थान, देश, लक्षण व रंहस इन १४ गुणों से विभूषित होता है।

२. तथा चोक्तं—'श्वेतवर्णो भवति स ऐरावणगजकुल उच्यते'।

३. तथा चो —'हरिर्वा श्यामवर्णो वा कालो वा व्यक्तवर्णकः। हरितः कुमुदाभो वा कुलवर्णः समुच्यते' ॥१॥

४. तथा चोक्तं—मिश्रो वा गिरिचारी वा कलिङ्गाकारजानिकः। सात्विको भद्रजातिश्च स तत्वात्कादिभिः शुभः ॥२॥ इत्येतैर्लक्षणैर्युक्तं यागनागं प्रचक्षते ॥' संस्कृत टीका पृ० २९१ से समुद्धृत—सम्पादक

५. तदुक्तम्—'लक्षणं जन्मसंबन्धमाजीवादिति निश्चितम्। पश्चाद्व्यक्तिं व्रजेयस्तु तद्व्यञ्जनमिति स्मृतम्' ॥१॥ अथवा कररदनादिकं लक्षणं विन्दुस्वस्तिकादिकं व्यञ्जनम्, संस्कृत टीका पृ० २९२से संकलित—संपादक

उत्तमं बलवर्ष्मवयोजवैः, ब्राह्मं संबन्धिलक्षणेन, भवन्तमिवानवद्यैर्गतिरूपसत्त्वस्वरानूकैः प्रियालोकम्, विनायकमिव पृथुपरिपूर्णायतमुखम्, अशोकपुष्पमिवारुणं तालुनि, कमलकोशमिव शोणप्रकाशमन्तरास्ये, पीनोपचितकायमुरोमणिविक्षोभकटककपोलसृक्वसु, अनुन्नतानवनतसुप्रमाणकुम्भम्, ऋजुपूर्णाह्रस्वकन्धरम्, अलिनीलघनदीर्घस्निग्धकेशपेशलम्, समसून्नतव्यूढमस्तकपिण्डम्, अनल्पासनावकाशम्, आरोपितकार्मुकाकारपरिणतानुवंशम्, अजकुक्षिम्, अनुपचितपेचकम्, ईषत्संवर्तकोन्नतभूमिदेशस्पर्शिगोलाङ्गूलवालधिम्, अभिव्यक्तोभयपुष्करम्, वराहजघनापरम्, आम्रपल्लवसंकाशकोशम्, अतीव सुप्रतिष्ठितैः समुद्गकूर्माकृतिभिर्गात्रापरतलैः पातालतले निपतन्तीमुद्धरन्तमिव मेदिनीम्, उत्सर्पद्भिरष्टमीहिमांशुनिभसुनिविष्टश्लिष्टविंशतिनखमयूखप्ररोहैर्भुवनसरसि विजृम्भमाणस्य तव यशोहंसस्य मृणालजालानीव परिकल्पयन्तम्,

---

हे देव! यह, बल (मार्ग-गमन, रोकना, मर्दनकरना व भारवाहन की शक्ति), शरीर, आयु (२३ वर्ष से लेकर ६० वर्ष) और जव (वेग, उदाहरणार्थ—भद्रजाति के हाथी उत्तम वेग) इन गुणों के कारण श्रेष्ठ है। यह ब्रह्मदेवता के लक्षणोंवाला होने से ब्राह्म है। अर्थात्—मनोज्ञ दृष्टि-आदि लक्षणोंवाले हाथी को 'ब्राह्म[1]' कहते हैं। हे राजन्! यह निर्दोषगति (हस्ती व अश्व-आदि का गमन), रूप (देव, मनुष्य व विद्याधर-आदि का सौन्दर्य), सत्व (मनुष्य, यक्ष व गन्धर्व-आदि की शक्ति) और स्वर (मेघ व शङ्ख-आदि की ध्वनि) की समानता से उसप्रकार प्रियदर्शन-शाली है जिसप्रकार आप निर्दोष—प्रशस्त—गमन, रूप व सत्वादि से प्रियदर्शन-शाली हैं। जो उसप्रकार विस्तीर्ण, परिपूर्ण और दीर्घमुख से शोभायमान है जिसप्रकार विनायक—श्रीगणेश—विस्तीर्ण, परिपूर्ण और दीर्घमुख से विभूषित हैं। जिसका तालु उसप्रकार अस्पष्ट लालिमा से अलङ्कृत है जिसप्रकार अशोक-वृक्ष का पुष्प अस्पष्ट लालिमा से अलङ्कृत होता है। इसके मुख का मध्यभाग, लालकमल-सी कान्ति से शोभायमान है। जिसका शरीर, हृदय, श्रोणिफलक (कमर के दोनों बगल), गण्डस्थल और ओष्ठ-प्रान्तों में स्थूल और वृद्धिंगत होरहा है। जिसके दोनों मस्तक-पिण्ड न तो अधिक ऊँचे हैं और न अधिक नीचे झुके हुए हैं, किन्तु उत्तम आकृति धारण कर रहे हैं। अर्थात्—युवती स्त्री के कुचकलशों-जैसे विशेष ऊँचे-नीचे न होकर उत्तम आकार के धारक हैं। जिसकी गर्दन सरल, मांसल (पुष्ट) और छोटी है जो भँवरों सरीखे श्याम, घने, दीर्घ और कान्ति-शाली केशों से मनोज्ञ है। यह सम (अव्यक्त या अवक्र) व विशेषोत्पन्न घने मस्तक-पिण्डवाला व विशाल पीठ के अवकाश वाला है। जिसका पृष्ठभाग क्रम से डोरी चढ़ाए हुए धनुषाकार को परिणत (प्राप्त) हुआ है। जिसका उदर बकरे-सरीखा दोनों पार्श्वभाग में ऊँचा है। जिसके पुच्छ (पूँछ) का मूलभाग स्थूल नहीं है। जिसकी पूँछ अपने प्रदेश में कुछ ऊँची और पृथ्वीतल का स्पर्श करनेवाली बैलकी पूँछ-जैसी है। जिसकी सूँड के दोनों भाग स्पष्ट दिखाई देते हैं। जिसके शरीर का पश्चिम भाग जंगली सुअर की जंघा-सरीखा है। जो आम्र-पल्लव-सरीखे अण्डकोशवाला है। जो ऐसे आगे और पीछे के शरीर-संबंधी तलों द्वारा, जो विशेष निश्चल हैं और पिटारी व कछुए की आकृति-सरीखे हैं, ऐसा मालूम पड़ता है मानों—रसातल में डूब रही पृथिवी को ऊपर की ओर उठा रहा है। जो अपने चारों पैरों के बीस नखों के ऐसे किरणाङ्कुरों से, जो ऊपर गमन करते हुए अष्टमी के अर्धचन्द्र-सरीखे शुभ्र एवं निश्चल और परस्पर में संलग्न हैं, ऐसा प्रतीत होता है—मानों—तीनलोक रूपी तालाव में विशेषरूप से व्याप्त होनेवाले आपके यशरूपी हँस के भक्षणार्थ मृणाल-समूहों को ही दिखा रहा है।

---

१. तदुक्तम्—'ननु विन्दुसदन्तेषु कुशातलनिभच्छविः। चारुदृष्टित्वमन्येक्षो ब्राह्यः सर्वार्थसाधनः ॥१॥

आनुपूर्वीपृथुवृत्तायतकोमलाभोगेन भविष्यदनेकजन्यजयादेशरेखाभिरिव कतिभिश्चिद्वलिभिरलंकृतेन सुजातसा मृदुदीर्घ-विस्तृताङ्गुलिना करेण मुहुर्मुहुरितस्ततो विनिकीर्णैर्वमथुपाथःशीकरैर्दिक्पालपुरपुरन्ध्रीणां पट्टबन्धावसरेऽस्मिन् मुक्ताफलो-पायनानीव दिशन्तम्, अनवरतमुच्छलता मलयजागुरुसरोजकेतकोत्पलकुमुदामोदसंवादिना मदवदनसौरभेण भवदैश्वर्य-दर्शनाशयावतीर्णानामम्बरचरकुमारकाणामर्घमिवोत्क्षिपन्तम्, अम्भोधरगम्भीरमधुरध्वनिना बृंहितेन सकलयागनागसाधना-धिपत्यमिवात्मनि विनिवेदयन्तम्, अरालपक्ष्मणः स्थिरप्रसन्नायतव्यक्तरक्तशुक्लकृष्णदृष्टिभागस्य मणिलवो लोचनयुगल-स्यारविन्दपरागपिङ्गलैरपाङ्गपातैः ककुबङ्गनासु पिष्टातकचूर्णमिव किरन्तम्, मनाग्दक्षिणोन्नतेन ताम्रचूडदलोपशोभिना समसुजातमधुसंनिकाशदशनद्वितयेन विदधानमिव नाकलोकावलोकनकुतूहलिन्यारस्वत्कीर्तेः सोपानमार्गम्, असिरातनप्रलम्बबहलसुकुमारोदयेन कर्णतालद्वयेनोद्यावदुन्दुभीनां नादमिव पुनरुक्तयन्तम्, उदग्रतया च खर्वयन्तमिव धरणिधरशिखराणि,

---

जो ऐसे शुण्डा-दण्ड (सूँड) द्वारा, वार-वार यहाँ वहाँ फैंके हुए उद्गार-संबंधी शुभ्र जल-कणों से ऐसा प्रतीत होरहा है, मानों—इस प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले राज्यपट्ट-बन्ध के अवसर पर इन्द्र-आदि दिक्पाल-नगरों की कमनीय कामिनियों के लिए मोतियों की भेंटें अर्पण कर रहा है। जिसकी (शुण्डदण्ड की) पूर्णता या विस्तार अनुक्रम से स्थूल (मोटा), गोलाकार, दीर्घ और सुकुमार है और जो कुछ संख्यावाली ऐसी वलियों (सूंड़ पर वर्तमान सिकुड़ी हुई रेखाओं) से, जो ऐसीं मालूम पड़तीं थीं मानों—भविष्य में होनेवाले अनेक युद्धों में प्राप्त कीजानेवाली विजयलक्ष्मी के कथन की रेखाएँ ही हैं—मण्डित है। एवं जिसका मद-प्रवाह शोभा जनक है तथा जो, कोमल, लम्बी और विस्तृत अङ्गुलियों से अलङ्कृत है। जो (प्रस्तुत-उदय गिरि नामक हाथी), मद-व्याप्त अपने मुख की ऐसी सुगन्धि से, जो निरन्तर आकाश में उड़ रही है और चन्दन, धूप, कमल, केतकी-पुष्प, उत्पल और कुमुदों—श्वेत चन्द्रविकासी कमलों—की सुगन्धि की सदृशता धारण कर रही थी, ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—आपका ऐश्वर्य देखने के अभिप्राय से आये हुए देव और विद्याधरों के पुत्रों के लिए पूजा ही छोड़ रहा है। अर्थात्—मानों—उनकी पूजा ही कर रहा है। जो, ऐसी चिंघारने की ध्वनि (शब्द) से, जिसकी ध्वनि मेघों-सरीखी गम्भीर और मधुर (कानों को अमृत प्राय) है, ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—अपने में समस्त राज्यपट्ट-बन्ध-योग्य हस्ति-सेना का स्वामित्व प्रगट कर रहा है। जो ऐसे दोनों नेत्रों के कमल-पराग-सरीखे पिङ्गल (गोरोचना-जैसे वर्णशाली) कटाक्ष-विक्षेपों। द्वारा ऐसा प्रतीत होरहा है—मानों—समस्त दिशारूपी कमनीय कामिनियों पर सुगन्धि चूर्ण ही बिखेर रहा है कैसे हैं दोनों नेत्र, जिनकी पलकें घनी और स्निग्ध हैं। जिनके दृष्टि-भाग, निश्चल, निर्मल, दीर्घ, विशेष-स्पष्ट, लालवर्ण-वाले और उज्वल व कृष्ण हैं और जिनकी कान्ति शुक्ल, कृष्ण और लालमणियों-जैसी है। जो ऐसे दन्त-(खींसें) युगल द्वारा, जो कि सम (शोभनविशालता-निर्गम-शाली), सुजात (रथ के हाल-सी आकृतिवाले) और मधु-जैसे वर्णशाली हैं। जो दक्षिण पार्श्वभाग में कुछ ऊँचे हैं एवं जो मुर्गे की चरणों की पश्चात् अङ्गुलि-सरीखे शोभायमान हैं, ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—स्वर्गलोक के देखने का कौतूहल करनेवाली आपकी कीर्ति के स्वर्गारोहण करने के लिए सोपान-(सीढ़ियों) मार्ग की रचना कर रहा है। जो ताड़पत्र-सरीखे (विशाल) ऐसे दोनों कानों की, जो कि सिराओं से अदृष्ट नहीं हैं (सिराओं—नसों—से व्याप्त होते हुए), लम्बे, विस्तीर्ण (चौड़े) और विशेष कोमल हैं, [ताड़न-वश उत्पन्न हुई] ध्वनि से जो ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—आनन्दभेरी की ध्वनि द्विगुणित कर रहा है। जो विशेष ऊँचा होने के फलस्वरूप ऐसा प्रतीत होरहा है—मानों—पर्वतों की शिखरों को छोटा कर रहा है।

समन्तात्प्रसरद्भिः सरस्वतीहासापहासिभिर्देहप्रभापटलैः स्वकीयशरीरश्रिताया वीरश्रियः पर्यन्तेषु सितसरसिरुहोपहारमिव संपादयन्तम्, अन्तरान्तराध्वजशङ्खचक्रस्वस्तिकनन्द्यावर्तविन्यासाभिः प्रदक्षिणावर्तवृत्तिभिः सूक्ष्ममुखस्निग्धाङ्कुराजिभिरणुतरबिन्दुमालाभिश्च निचितोचितप्रतीकम्, आपादितोत्सवसपर्यमिव विजयलक्ष्मीनिवासम्, एवमन्यैरपि बहलविपुलव्यक्तसंनिवेशमनोहारिभिर्मानोन्मानप्रमाणसमन्वितैश्चतुर्विधैरपि प्रदेशैरनूनानतिरिक्तम्, आचक्षाणमिव सप्तधास्थितत्वेन स्वामिनः सप्तसमुद्रमुद्रं शासनं महामहीशमहामात्राणाम्, द्वादशस्वपि क्षेत्रेषु शुभसमुदायप्रत्यङ्गफलम्, निष्पन्नयोगिनमिव क्षान्तं रूपादिषु विषयेषु, दिव्यर्षिमिव सर्वज्ञम्, असितार्तिमिव तेजस्विनम्, अभिजातमिवोदयप्रत्ययैर्विशुद्धम्,

---

जो सर्वत्र व्याप्त होनेवाले और सरस्वती का हास्य तिरस्कृत करनेवाले (विशेष उज्वल) शारीरिक कान्ति-समूहों से ऐसा प्रतीत होरहा है—मानों—अपने शरीर पर स्थित हुई वीरलक्ष्मी के समीप श्वेतकमलों की पूजा उत्पन्न कर रहा है। जिसके शारीरिक अवयव (अङ्गोपाङ्ग) हाथियों की ऐसीं रोम-राजियों और अत्यन्त सूक्ष्म विन्दुओं से पूर्ण व्याप्त और योग्य हैं, जो कि सूक्ष्म अग्रभागवालीं, स्निग्ध (सचिक्कण) तथा जिनके मध्य-मध्य में ध्वजा, शङ्ख, चक्र, स्वस्तिक, और नन्द्यावर्त की रचना पाई जाती है और जिनकी प्रवृत्ति प्रदक्षिणारूप आवर्तों-(जल में पड़नेवाले भ्रमों) सरीखी है। जो महोत्सव पूजन किये जानेवाले-सरीखा मनोज्ञ प्रतीत होता हुआ विजयलक्ष्मी का निवास-स्थान है। इसीप्रकार जो दूसरे ऐसे चार प्रकार के शारीरिक अवयवों (देशसद्भावी,[1] मानिक, उपधानिक व लाक्षणिकरूप अवयव) से, न तो न्यून (कम) है और न अधिक है, जिनकी रचना विशेष घनी, महान् और प्रकट होने के कारण अतिशय मनोज्ञ है और जो मान[2] (ऊंचाई का परिमाण), उन्मान[3] (तिरछाई) और विशालता से युक्त हैं। जो सात प्रकार के गुणों[4] (ओज, तेज, बल, शौर्य, सत्व, संहनन और जय) से विभूषित होने के फलस्वरूप ऐसा जान पड़ता है—मानों—महान् राजाओं और महान् हाथियों के स्वामियों के लिए आपके सात समुद्र पर्यन्त होनेवाले शासन (राजकीय आज्ञा) को ही सूचित कर रहा है। जिसके बारह प्रकार के शारीरिक अङ्गोपाङ्गों (सूँड, दाँत, (खींसें), मुख, मस्तक, नेत्र, कर्ण, गर्दन, शरीर, हृदय, जङ्घा व जननेन्द्रिय-आदि) पर शुभ-समूह-सूचक शारीरिक फल (चिन्ह) पाये जाते हैं।

जिसप्रकार वीतराग मुनि चक्षुरादि इन्द्रियों के विषयों—रूपादि—से चलायमान नहीं होता उसीप्रकार जो चक्षु-आदि इन्द्रियों के विषयों से चलायमान नहीं है। जिसप्रकार दिव्य ऋषि (केवलज्ञानी महात्मा मुनि) सर्वज्ञ (समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञाता) होता है उसीप्रकार जो सर्वज्ञ (सर्व वस्तुओं का ज्ञाता) है। जो उसप्रकार तेजस्वी[5] (प्रतापी—भारवहन-समर्थ) है जिसप्रकार अग्नि तेजस्वी होती है। जो उदयों (शत्रु के सामने हमला करने प्रस्थान करना व पक्षान्तर में जन्म) और प्रत्ययों (समीप में गमन करना व दूसरे पक्ष में विश्वास) से उसप्रकार विशुद्ध (पवित्र या व्याप्त) है जिसप्रकार कुलीन पुरुष उदय (जन्म) और धर्मनिष्ठा (संस्कार-आदि) तथा प्रत्यय (विश्वास-पात्रता) से विशुद्ध होता है।

---

१. उक्तं च—देशसद्भाविनं केचित् मानिकाश्चोपधानिकाः। केचिल्लाक्षणिकाश्चेति प्रदेशाश्च चतुर्विधाः ॥१॥

२. ३. तथा चोक्तम्—'ऊर्ध्वमानं तु विज्ञेयमुन्मानं तिर्यगाश्रयम्। प्रमाणं परिणाहेन त्रिष्वयं लक्षणक्रमः ॥१॥

४. तथाहि—'ओजस्तेजो बलं शौर्यं सत्वसंहननं जयः। प्रशस्तैः सप्तभिश्चैतैः स गजः सप्तधा स्थितः ॥१॥

५. तथा चोक्तम्—'भारस्यातीव वहनं विद्यात्तेजस्विनं गजम्'

अधोक्षजमिव कामवन्तम्, अमृतकान्तिमिवासंतापम्, आयोधनाग्रेसरमिव मनस्विनम्, अनाद्यूनमिव सुभगम्, आकरस्थानमिवान्येषामपि गुणरत्नानाम् ।

अत्रावसरे करिकलाभाभिधानो वाग्जीवनोऽध्यगीष्ट गजप्रशंसावृत्तानीमानि—

यस्माद्ब्रह्मानुरभूत्ततोऽण्डशकलाद्धस्ते धृताद्ब्रह्मभू-
गायन्सामपदानि यान्गणपतेर्वक्त्रानुरूपाकृतीन् ।
अस्राक्षीत्क्षितिरक्षणक्षमबलांस्ते हस्तिनस्ते नृप
प्रायः प्रीतिकृतो भवन्तु विजयश्रीकेलिकीर्तिप्रदाः ॥१६७॥

अतः प्रभाते परमेष्ठिनन्दनान्समर्च्य पश्यन्करिणो नरेश्वरः ।
न केवलं तस्य रणेषु कीर्तयः स सार्वभौमश्च भवत्यसंशयम् ॥१६८॥

सामोद्भवाय शुभलक्षणलक्षिताय दिव्यात्मने सकलदेवनिकेतनाय ।
कल्याणमङ्गलमहोत्सवकारणाय तुभ्यं नमः करिवराय वराय नित्यम् ॥१६९॥

जो उसप्रकार कामवान्[1] (समस्त प्राणियों का घातक) है जिसप्रकार श्रीनारायण कामवान् (प्रद्युम्न नाम के पुत्र से अलङ्कृत) होते हैं। जो उसप्रकार असंताप[2] (शस्त्रादि को सहन करनेवाला) है जिसप्रकार चन्द्रमा असंताप (शिशिर) होता है। जो उसप्रकार मनस्वी[3] (समस्त कर्म—भारा वहन-आदि सहन करनेवाला) है जिसप्रकार युद्ध में अग्रेसर रहनेवाला वीर पुरुष मनस्वी (स्वाभिमानी) होता है। जो उसप्रकार सुभग[4] (अल्पाहारी) है जिसप्रकार अनाद्यून[5]—विजिगीषु (विजयलक्ष्मी का इच्छुक राजा या अल्पाहारी) सुभग (भाग्यशाली) होता है। इसीप्रकार जो दूसरे गुणरूपी रत्नों की उसप्रकार खानि (उत्पत्ति स्थान) है जिसप्रकार खानि, माणिक्यादि रत्नों की उत्पत्ति के लिए खानि (समर्थ) होती है।

इसी अवसर पर 'करिकलाभ' (हाथियों की कला-शाली) नाम के स्तुति पाठक ने हाथियों की प्रशंसा-सूचक निम्नप्रकार श्लोक पढ़े—

हे राजन्! ब्रह्मा ने सामवेद-पदों का गान करते हुए, ऐसे जिन हाथियों को, जो कि गणेश जी के मुख-जैसी आकृतिशाली और पृथिवी-मंडल की रक्षा करने में समर्थ शक्तिवाले हैं, हस्त पर धारण किए गए उस प्रताप-शील पिण्ड-खण्ड से बनाया, जिससे सूर्य उत्पन्न हुआ है। वे आपके हाथी, जो कि विजयलक्ष्मी की क्रीड़ा से उत्पन्न होनेवाली कीर्ति को देनेवाले हैं, आपको विशेष हर्ष-जनक होवें[6] ॥ १६७ ॥ इसलिए जो राजा प्रातःकाल के अवसर पर ब्रह्मा के पुत्र हाथियों की पूजा करके दर्शन करता है, वह केवल युद्धों में ही विजयश्री प्राप्त करके कीर्तिभाजन नहीं होता किन्तु साथ में निस्सन्देह चक्रवर्ती भी होजाता है[7] ॥ १६८ ॥ तुझ ऐसे श्रेष्ठ हाथी के लिए वरदान के निमित्त सर्वदा नमस्कार हो, जो कि सामवेद से उत्पन्न हुआ, कल्याणकारक चिन्हों से विभूषित, अत्यन्त मनोज्ञ, समस्त इन्द्रादिक देवों का निवास-स्थान एवं शुभ, मङ्गल (सुख देना और पापध्वंस करना) व महान् आनन्द की उत्पत्ति का कारण है[8] ॥ १६९ ॥

---

१. 'जिघांसुं सर्वसत्वानां कामवन्तं प्रचक्षते' । २. तथा चोक्तम्—'अस्त्रादीनां च सहनादसंतापं विदुर्बुधाः' ।
३. 'सर्वकर्मसहत्वाच्च विद्यात्तार्थं मनस्विनम्' । ४. तदुक्तम्—'अल्पाहारेण यस्तृप्तः सुभगः स गजोत्तमः' ।
५. आद्यूनः स्यादौदरिको विजिगीषाविवर्जिते' । सं. टी. पृ. २९८-२९९ से संकलित—सम्पादक
६. उपमालंकार । ७. समुच्चयालंकार । ८. अतिशयालंकार ।

रवेरिवास्मादुषसि प्रबुद्धादृष्टात्प्रसन्नेन्द्रियदृश्यमूर्तेः।
दुःस्वप्नदुष्टग्रहदुष्टचेष्टाः प्रयान्ति नाशं सहसा नृपस्य ॥१७०॥
ये पूजयन्ति करिणं कृतयज्ञदीक्षं मन्त्राक्षरैर्जपितकर्णयुगं नरेन्द्राः।
तेषां शुभानि मदबृंहितकान्तिचेष्टाच्छायादिभिः स कथयेदहितक्षयं च ॥१७१॥
वृत्तानुपूर्वपृथुकोमलदीर्घहस्तः पद्माभपुष्करमुखः कलविङ्कनेत्रः।
यष्टी*रदो बहलदुन्दुभिघोषकर्णश्चन्द्रार्धविंशतिनखः करटी जयाय ॥१७२॥
वीरैः प्रधावद्भिरितस्ततः पुरः करेणुभिर्मार्गनिकाचबन्धनैः।
आतोद्यवाद्यैः करिणां पलायनैः प्रभावयेत्तं नृपतिर्गजेश्वरम् ॥१७३॥
इत्थं सिन्धुरचेष्टितानि चरतः श्रुत्वा रिपूणां गणः त्रासादस्तसमस्तविग्रहभरः स्यादृत्य इत्याचरन्।
एते हस्तिन एष वाजिनिवहः क्षोणीयमेते वयं देव ब्रूहि यदत्र भाति भवतः सर्वत्र सज्जा वयम् ॥१७४॥

जिसप्रकार प्रातःकाल में उदित हुए और प्रसन्न चक्षुरादि इन्द्रियों से दर्शनीय मूर्तिवाले सूर्य के दर्शन से दुष्टस्वप्न, दुष्टग्रह और पापचेष्टाओं के फल (दुःख) शीघ्र नष्ट होजाते हैं उसीप्रकार प्रातःकाल में जागे हुए और प्रसन्न चक्षुरादि इन्द्रियों से दर्शन करने योग्य शरीरवाले हाथी के दर्शन से भी राजा के दुष्टस्वप्न, दुष्टग्रह और पापचेष्टाओं के फल (दुःख) शीघ्र (तत्काल) नष्ट होजाते हैं[1] ॥ १७० ॥ जो राजा लोग ऐसे हाथी की पूजा करते हैं, जिसकी यज्ञ-दीक्षा कीगई है। अर्थात्—राज्यपट्ट-बन्ध-आदि के अवसरों पर राजा द्वारा जिसकी यज्ञदीक्षा (पूजा) कीगई है और जिसके दोनों कानों में मन्त्राक्षर जपे गये हैं (स्थापित-उच्चारण-किए गए हैं), वह हाथी, मद (गण्डस्थल-आदि स्थानों से बहनेवाला दानजल), गर्जना (चिंघारना), कान्ति (प्रभा) और चेष्टा (कर्ण और सूँड-आदि अङ्गोपाङ्गों का संचालन-आदि व्यापार) एवं छाया (तेजस्विता) इत्यादि गुणों द्वारा उन राजाओं के कल्याण सूचित करता हुआ शत्रु-विनाश को भी सूचित करता है[2] ॥ १७१ ॥ ऐसा हाथी शत्रुओं के ध्वंस-हेतु है, जिसकी सूँड, वर्तुलाकार (गोल आकारवाली), अनुक्रम से स्थूल (मोटी), कोमल (मृदु) और लम्बी होती है। जिसकी सूँड का अग्रभाग रक्तकमल-सरीखा अरुण (लाल) है। जिसके दोनों नेत्र चटक पक्षी-सरीखे और दन्त (खीसें) यष्टी[3]-(फल-भार से झुकी हुई उन्नत वृक्ष-शाखा) जैसे एवं दोनों कर्ण विस्तृत और दुन्दुभि (भेरी) की ध्वनि-सरीखे शब्द करनेवाले हैं एवं जिसके पैरों के बीसों नख अर्द्धचन्द्र-सदृश हैं[4] ॥ १७२ ॥

राजा को उस यागहस्ती (राज्यपट्ट-बन्ध की शोभा वृद्धिंगत करनेवाला सर्व श्रेष्ठ हाथी) की निम्नप्रकार उपायों द्वारा प्रसिद्धि करानी चाहिए। उदाहरणार्थ—प्रस्तुत हाथी के सामने व यहाँ वहाँ दौड़ते हुए सुभट (वीर) योद्धाओं द्वारा, उसे दूसरे हाथियों से लड़ाकर, मार्ग पर अर्गलाओं (बेड़ाओं) के बन्धनों द्वारा, बजवाए हुए बाजों की ध्वनियों से तथा दूसरे हाथियों के भागने द्वारा[5] ॥१७३॥ हे राजन्! जब शत्रु-समूह, इसप्रकार आपकी हस्ती-चेष्टाएँ (व्यापार) गुप्तचर द्वारा श्रवण कर लेता है तब वह भय-वश समस्त युद्ध के अतिशय छोड़कर निम्नप्रकार आचरण (कहना) करता हुआ शरण में आकर सेवक होजाता है। 'हे राजन्! ये हाथी और घोड़ों का समूह आपकी भेंट-हेतु वर्तमान है एवं यह पृथिवी आपकी सेवा में मौजूद है और ये सभी हम लोग सेवक हुए आपके समक्ष उपस्थित हैं। अतः इनमें से जो

१. उपमालङ्कार। २. अतिशयालङ्कार। *'क्वचिद् ह्रस्वस्य दीर्घता' इति टिप्पणीकारः ग०। ३. तथा चोक्तम्—'फल-भारनता शाखा यष्टिरित्युच्यते बुधैः'। ४. उपमालङ्कार। ५. दीपकालङ्कार। सं०टी०पृ० ३०१ से सङ्कलित—सम्पादक

सुभट इव विशस्त्रः स्वामिहीनेव सेना जनपद इव दुर्गैः क्षीणरक्षाविधानः ।
बलमवनिपतीनां वारणेन्द्रैर्विहीनं वशमवशमवश्यं वैरिवर्गैः क्रियेत ॥१७५॥
भयेषु दुर्गाणि जलेषु सेतवो गृहाणि मार्गेषु रणेषु राक्षसाः ।
मनःप्रसादेषु विनोद*वेधसो गजा इवान्यत्किमिहास्ति वाहनम् ॥१७६॥
अरिनगरकपाटस्फोटने वज्रदण्डाश्चलदचलनिपाताः शत्रुसैन्यावमर्दे ।
गुरुभरविनियोगे स्वामिनः कामितार्थाः प्रतिकरिभयकाले सिन्धुराः सेतुबन्धाः ॥१७७॥
परं प्रधानस्तुरगो रथो नरः कदाचिदेकं प्रहरेन्न वा युधि ।
स्वदेहजैरष्टभिरायुधैरयं करी तु हन्यादखिलं रिपोर्बलम् ॥१७८॥

पदार्थ आपके लिए रुचिकर है, उसके लिए आप आज्ञा दीजिए हम, सब (हाथी, घोड़े, पृथिवी व धनादि सामग्री) देने तैयार हैं[1] ॥१७४॥ जब राजाओं की सेना श्रेष्ठ हाथियों से रहित होती है तब वह पराधीन होती हुई शत्रु-वर्गों द्वारा उसीभाँति निस्सन्देह जीत लीजाती है जिसभाँति शस्त्र-हीन योद्धा जीत लिया जाता है अथवा जिसप्रकार नायक-हीन सेना जीत लीजाती है एवं जिसप्रकार रक्षा के उपायरूप दुर्ग (किला) से शून्य हुआ रक्षा के अयोग्य देश जीत लिया जाता है[2] ॥१७५॥ इस संसार में हाथी-सरीखा क्या दूसरा युद्धोपयोगी वाहन (सवारी) है ? अपि तु नहीं है। क्योंकि जो (हाथी) शत्रु-कृत आतङ्कों (भयों) के उपस्थित होने पर किले हैं। अर्थात्—जो किले-सरीखे विजिगीषु राजा की रक्षा करते हैं। जो नदी व तालाब-आदि जलराशि के उपस्थित होने पर पुल हैं। अर्थात्—हाथीरूपी पुलों द्वारा विशाल जलराशि सुगमता पूर्वक पार की जासकती है। जो मार्गों पर प्रस्थान करने के अवसरों पर गृह हैं। अर्थात्—हाथीरूपी विश्राम गृहों के कारण मार्ग तय करने में कष्ट नहीं होता। जो युद्धों के अवसर पर राक्षस हैं। अर्थात्—जिसप्रकार राक्षस शत्रुओं को नष्ट भ्रष्ट कर डालते हैं उसीप्रकार विजिगीषु राजा के हाथीरूपी राक्षस भी शत्रुओं को नष्ट भ्रष्ट कर डालते हैं और चित्त को प्रसन्न करने के अवसर पर जो कौतुक (विनोद) करने में निपुण हैं। अर्थात्—जिसप्रकार कौतुक करने में चतुर पुरुष चित्त प्रसन्न करता है उसीप्रकार हाथी रूपी कौतुक-निपुण वाहन भी चित्त प्रसन्न करते हैं[3] ॥१७६॥ जो हाथी, शत्रु-नगरों के किवाड़ विदीर्ण करने के लिए वज्रदण्ड हैं। अर्थात्—जिसप्रकार वज्रदण्ड (शस्त्र विशेष) के प्रहार द्वारा किवाड़ तोड़ दिए जाते हैं उसीप्रकार हस्तिरूप वज्रदण्डों द्वारा भी शत्रु-नगरों के किवाड़ तोड़ दिये जाते हैं। जो शत्रु-सेना को चूर-चूर करके लिए गमन-शील पर्वतों के पतन (गिरना) सरीखे हैं। अर्थात्—जिसप्रकार पर्वतों के गिरने से सेना चूर-चूर होजाती है उसीप्रकार हाथी रूपी पर्वतों के पतन से शत्रु-सेना भी चूर-चूर होजाती है और जो महान् भार-वहन कार्य में स्वामी के लिए अभिलषित वस्तु देनेवाले हैं। अर्थात्—जिसप्रकार अभिलषित भार उठानेवाले यन्त्र-आदि द्वारा महान् भार उठाया जासकता है उसीप्रकार हाथीरूपी अभिलषित वस्तु देनेवाले यन्त्रों द्वारा भी महान् भार उठाया जासकता है। इसीप्रकार जो, शत्रुओं के हाथियों द्वारा उपस्थित किये गए भय के अवसर पर पुलबन्ध (तरणोपाय) सरीखे भय दूर करते हैं[4] ॥१७७॥ जब कि प्रधान घोड़ा, रथ व पैदल सेना का सैनिक वीर पुरुष, युद्धभूमि पर कभी एक शत्रु का घात कर सकता है अथवा नहीं भी कर सकता परन्तु हाथी में महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह अपने शरीर से उत्पन्न हुए आठों शस्त्रों (१ सूँड़, २ दाँत (खीसें), ४ पैर और १ पूँछ इन आठ हथियारों) द्वारा शत्रुओं का समस्त सैन्य नष्ट कर देता है[5] ॥१७८॥

*'विनोदपण्डिता' क० ।

१. रूपकालंकार । २. प्राचुर्योपमालंकार । ३. रूपकालंकार । ४. रूपकालंकार । ५. अतिशयालंकार ।

मणिरणितनिनादादप्रभावः परेषां भवति नभसि केतुप्रेक्षणाद्देहसादः ।
व्रजति च सहसा यैः प्राणितं प्रासमात्रैः क्षितिप युधि समं तैर्वाहनं नान्यदस्ति ॥१७९॥
पुरः प्रत्यक्पक्षभ्रमिभिरभिहन्तुं व्यवसिते गतैः सर्वैर्गर्वात्समरसमये सिन्धुरपतौ ।
विदीर्णं मातङ्गैस्तुरगनिवहैश्चापि दलितं रथैः प्रास्तं पत्त्रैः पिशितकवलीभूतमचिरात् ॥१८०॥
दण्डासंहतभोगमण्डलविधीन् व्यूहान्रणप्राङ्गणे देव द्विड्जनैश्चिरेण रचितान् स्वप्नेऽप्यभेद्यान् परैः ।
कोऽभेत्स्यद्यदि नाभविष्यदवनीपालस्य दानद्रवद्रोणीतीरनिषण्णषट्पदततिर्दुर्वारणो वारणः ॥१८१॥
अभिजनकुलजात्याचारदेहप्रशस्तः सुविहितविनयश्चेद्यस्य A चेत्कोऽपि हस्ती ।
तपति तपनबिम्बे दानवानामिवैतत्प्रभवति न परेषां चेष्टितं तस्य राज्ञः ॥१८२॥

हे राजन् ! युद्ध भूमि पर उन जगत्प्रसिद्ध हाथियों सरीखा दूसरा कोई युद्धोपयोगी वाहन (सवारी) नहीं है। क्योंकि जो पैरों पर धारण किये हुए चक्रों (रत्नमयी आभूषणों) की झनकार-ध्वनि से शत्रुओं का प्रभाव (माहात्म्य) नष्ट करते हैं और (जिनपर बंधी हुई) आकाश में फहराई जानेवालीं ध्वजाओं के दर्शन से शत्रुओं का शरीर भङ्ग होता है। अर्थात्—ऊँचे हाथियों पर आरूढ हुए सैनिकों द्वारा जब गगनचुम्बी ध्वजाएँ फहराईं जातीं हैं तो उन्हें देखकर शत्रुओं का शरीर तत्काल क्षीण होजाता है और जिनके समीप में आनेमात्र से शीघ्र जीवन नष्ट होता है[1] ॥१७९॥ जब विजिगीषु (विजय के इच्छुक) राजा के इस श्रेष्ठ हाथी ने युद्ध के अवसर पर आगे और पीछे के शारीरिक भागों से किये हुए दाँए बाँए भाग के भ्रमणों द्वारा और समस्त प्रकार की वेगशाली गतियों-पूर्वक गर्व से मारने के लिए उद्यम किया तब उसके फलस्वरूप शत्रुभूत राजाओं के हाथी शीघ्र विदीर्ण हुए, घोड़ों के समूह भी तत्काल नष्ट हुए एवं रथ भी शीघ्र चूर-चूर हुए तथा पैदल सेना के लोग भी तत्काल मांस-पिण्ड होगए[2] ॥१८०॥

हे राजन् ! यदि विजय के इच्छुक राजा के पास ऐसा श्रेष्ठ हाथी, जिसके ऊपर गण्डस्थल-आदि स्थानों से प्रवाहित हुए मद की पर्वतीय नदी के तट पर भँवर-श्रेणियाँ स्थित हैं और जो महान् कष्ट से भी रोका नहीं जा सकता. न होता तो युद्धाङ्गण पर ऐसे सेना-व्यूह सेना-विन्यास-भेद), कौन भेदन (नष्ट) कर सकता ? अर्थात्—कोई भी नष्ट नहीं कर सकता। जो कि दण्डव्यूह (दंडाकार सैन्य-विन्यास), असंहतव्यूह (यहाँ वहाँ फैला हुआ सैन्य-विन्यास), भोग व्यूह (सर्प-शरीर के आकार सेना-विन्यास) और मण्डल-व्यूह (वर्तुलाकार—गोलाकार—सैन्य-विन्यास) के भेद से चार प्रकार के हैं, * जो युद्धाङ्गण पर शत्रु-समूहों द्वारा चिरकाल से रचे गए हैं तथा जो विजिगीषु राजाओं द्वारा स्वप्न में भी भेदन नहीं किये जा सकते[3] ॥१८१॥ जिस राजा के पास कोई भी अथवा पाठान्तर में एक भी ऐसा श्रेष्ठ हाथी वर्तमान होता है, जो कि अभिजनA (मन), कुल (पितृपक्ष), जाति (मातृपक्ष), आचार (अपने स्वामी की अप्रतिकूलता—विरुद्ध न होना) और शरीर (ऊँचा सुडौल शरीर) इन गुणों से प्रशस्त (श्रेष्ठ) एवं सुशिक्षित किया गया है, उस राजा पर शत्रु-चेष्टा (आक्रमण-व्यापार) उसप्रकार समर्थ नहीं होती जिसप्रकार सूर्य के उदय होने पर दानवों की चेष्टा (संचार) प्रवृत्त नहीं होती, क्योंकि दानव-चेष्टाएँ रात्रि में ही प्रवृत्त होतीं हैं[4] ॥१८२॥

A. 'चैकोऽपि' क० । १. दीपकालंकार । २. समुच्चयालंकार ।

* तदुक्तं—'दण्डो दण्डोपमव्यूहो विक्षिप्तश्चाप्यसंहतः । स्याद्भोगिभोगवद्भोगो मण्डलो मण्डलाकृतिः ॥१॥' इति क० ।

३. आक्षेपालंकार । A अभिजनं मन इति श्रीदेव नामा पञ्जिकाकारः । सं०टी०पृ० ३०५ से संकलित—सम्पादक

४. क्रियोपमालंकार ।

अविनीते यथा राज्ञि न चिरं नन्दति क्षितिः। तथाविनीतशुण्डालं बलं नारिबलं जयेत् ॥१८३॥
गजस्थितोऽस्त्रैर्नृप एक एव जेता सहस्रस्य भवेत्परेषाम्।
आसीनसिंहं नगमापतन्तमश्मस्तारमवर्षं प्रसहेत को हि ॥१८४॥
हन्ता सहस्रशोऽन्येषां सोढास्त्राणां सहस्रशः। रणे करिसमो नास्ति रथेषु नृषु वाजिषु ॥१८५॥
भुजगशिरसि रत्नं वारिधौ द्वीपलोकः स्फुरदुरगसमन्ते भूमिदेशे निधानम्।
न भवति नृप एव्यं यद्वदेवाप्यसत्वैर्गजपतिमधिरूढस्तद्वदेव क्षितीशः ॥१८६॥
हयः प्रधावे हनने कृतान्तः सुहृद्विदेशोऽस्त्रविधौ प्रहर्ता।
विलासिनी नर्तनकर्मकाले शिष्योऽपि चान्यत्र गिरः करीन्द्रः ॥१८७॥
गजबन्धे नरेन्द्रस्य व्रतमेतत् करिष्वयम्। *अस्नानपानभुक्तेषु तत्क्रियः स्यान्न यस्त्वयम् ॥१८८॥

जिसप्रकार अशिक्षित राजा की पृथिवी चिरकाल तक समृद्धिशालिनी (उन्नतिशील) नहीं होसकती उसीप्रकार अशिक्षित हाथीवाली राज-सेना भी शत्रु-सेना पर विजयश्री प्राप्त नहीं कर सकती[1] ॥१८३॥ हाथी पर आरूढ़ (चढ़ा हुआ) हुआ राजा अकेला (असहाय) होने पर भी शस्त्रों द्वारा हजारों शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकता है। उदाहरणार्थ—स्पष्ट है कि जब ऐसा पर्वत, जिसमें सिंह स्थित है और जिसने पाषाणों की वृष्टि आरम्भ या प्रेरित की है शिर पर टूट रहा है, तो उसे कौन पुरुष सहन कर सकता है ? अपितु कोई नहीं सहन कर सकता। भावार्थ—जिसप्रकार सिंह की मौजूदगीवाले और पाषाण-वृष्टि करनेवाले पर्वत को शिर पर टूटते हुए कोई सहन नहीं कर सकता उसीप्रकार हाथी पर आरूढ़ होकर शस्त्रों द्वारा युद्ध करते हुए राजा को भी जीतने के लिए कोई समर्थ नहीं होसकता। किन्तु इसके विपरीत वह राजा हजारों शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त करता है[2] ॥१८४॥ क्योंकि हाथी हजारों शत्रुओं को नष्ट करता है और शत्रु द्वारा प्रेरित किये हुए हजारों शस्त्र-प्रहार सहन करता है, इसलिए रथों, घोड़ों और पैदल सेनाओं में से कोई भी सेना युद्ध-भूमि पर हाथी की तुलना नहीं कर सकती[3] ॥१८५॥

हे राजन् ! जिसप्रकार सर्प के मस्तक (फणा) में स्थित हुआ रत्न दूसरे प्राणियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता और जिसप्रकार समुद्र-मध्य में स्थित हुए लङ्कादि द्वीपों का निवासी मनुष्य दूसरे प्राणियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता एवं जिसप्रकार जिसके समीप में सर्प फैल रहे हैं ऐसे पृथिवी-देश के मध्य स्थित हुई निधि (धनादि) दूसरे मनुष्यों द्वारा ग्रहण नहीं की जा सकती उसीप्रकार श्रेष्ठ हाथी पर चढ़ा हुआ राजा भी दूसरे मानवों (शत्रुओं) द्वारा ग्रहण (परास्त) नहीं किया जा सकता[4] ॥१८६॥ हे राजन् ! श्रेष्ठ हाथी घोड़ा-सा तेज दौड़ता है, यमराज-सरीखा शत्रु-घात करता है नौकर-सा आज्ञा-पालन करता है एवं शस्त्र-संचालन विधि में प्रहार करनेवाला है। अर्थात्—जिसप्रकार प्रहार करनेवाला शस्त्र-संचालन द्वारा शत्रु पर प्रहार करता हुआ शत्रु-घात करता है उसीप्रकार हाथी भी सूँड, खीसें, चारों पैर व पूँछ-आदि अपने शारीरिक अङ्गोपाङ्गरूप शस्त्रों द्वारा शत्रु पर प्रहार करता हुआ उनका घात करता है और नृत्य के अवसर पर वेश्या (वेश्या-सरीखा नृत्य करनेवाला) है एवं यह अक्षर रूप बोलना छोड़कर शिष्य है। अर्थात्—केवल अक्षर रूप वचनों का बोलना छोड़कर बाकी सब कार्य (आज्ञापालन-आदि) शिष्य-सरीखा करता है व जानता है[5] ॥ १८७ ॥ हस्ती-संग्रह करने के अवसर पर राजा का यह नियम होता है कि वह हस्तियों के स्नान, पान और भोजन किए विना स्वयं स्नान, पान व भोजन करनेवाला नहीं होता[6] ॥ १८८ ॥

---

*. 'अस्नातपीतभुक्तेषु' क०। १. दृष्टान्तालंकार। २. आक्षेपालंकार। ३. उपमालङ्कार। ४. दृष्टान्तालङ्कार। ५. असमस्तरूपकालंकार। ६. जाति-अलंकार।

बलेन कायेन जवेन कर्मणा परैरतुल्याः परमेण चायुषा ।
महीभुजां भाग्यबलान्महीतले कृतावतारास्त्रिदिवान्मतङ्गजाः ॥१८९॥
महान्तोऽमी सन्तोऽप्यमितबलसंपन्नवपुषो यदेवं तिष्ठन्ति क्षितिपशरणे शान्तमतयः ।
तदत्र श्रद्धेयं गजनयबुधैः कारणमिदं मुनीन्द्राणां शापः सुरपतिनिदेशश्च नियतम् ॥१९०॥

अनेकसमरसंप्रहारव्रणविजयप्रशस्तिशृङ्गारितगात्रः शालिहोत्रः कलिकालबृहस्पते कुम्भिनीपते, तथैव मन्मुखेनापि साश्चर्यशौर्यनिर्जिताशेषद्विषदाचार्यपरिषदेवस्याहृणावन्तमर्वन्तं विज्ञापयति—तथाहि । देव देवमिव भद्रजात्यमङ्गेन,

ऐसे हाथी, जो कि पराक्रम, शरीर, वेग और क्रिया (व्यापार) तथा उत्कृष्ट आयु इन गुणों में दूसरे प्राणियों से अनोखे हैं। अर्थात्—जैसे विशेष पराक्रम, विशेष स्थूलता व विशाल शरीर-आदि गुण हाथियों में पाये जाते हैं वैसे किन्हीं प्राणियों में नहीं पाये जाते, इसलिए हाथियों ने राजाओं के विशेष पुण्योदय के कारण ही स्वर्ग से अवतीर्ण होकर इस पृथिवी-मण्डल पर जन्मधारण किया है[1] ॥ १८९ ॥

ये हस्ती महान् (गुरुतर) और सीमातीत (बेमर्याद) पराक्रम-युक्त शरीर-धारक होते हुए भी जो राजमन्दिर में अपना चित्त क्रूर न करते हुए शान्त रहते हैं, इस संसार में इसका कारण गजशास्त्र व नीतिशास्त्र के वेत्ता विद्वानों को यह जानना चाहिये कि इसमें मुनीन्द्रों द्वारा दिया हुआ शाप और इन्द्र की आज्ञा ही कारण है। भावार्थ—लोक में प्रचुर शक्तिशाली (पराक्रमी) योद्धा क्रूर चित्तवाले देखे जाते हैं परन्तु हाथियों में इसका अपवाद पाया जाता है। अर्थात्—ये महान् और निस्सीम पराक्रमशाली होने पर भी राजमहल में स्थित होते हुए शान्त रहते हैं—कुपित नहीं होते। इसमें गजशास्त्र व नीतिनिष्ठों को यह कारण जानना चाहिये कि मुनीन्द्रों ने हाथियों को यह शाप दिया है कि तुम्हें राजमन्दिर में शान्त रहना होगा और इन्द्र की आज्ञा पालन करनी होगी[2] ॥ १९० ॥

अथान्तर (हस्ति सेना-प्रमुख 'उद्धताकुश' के निवेदन करने के पश्चात्) शालिहोत्र (अश्व—घोड़ा—सेना-प्रमुख) मेरे (यशोधर महाराज के) समस्त 'विजयवैनतेय' नामक श्रेष्ठ घोड़े की उन महत्वपूर्ण विशेषताओं (प्रशस्तगुण, जाति व कुल-आदि) का निरूपण करता है, जिन्हें 'प्रतापवर्द्धन' सेनापति ने अश्वपरीक्षा-निपुण विद्वन्मण्डली द्वारा परीक्षा कराकर प्रस्तुत यशोधर महाराज के प्रति कहलवाया था—

अनेक युद्धों के अवसर पर किए गए निष्ठुर प्रहार-सम्बन्धी आघातरूपी विजय-प्रशस्तियों (प्रसिद्धियों) से सुशोभित शरीरवाले 'शालिहोत्र' नाम के अश्वसेना-प्रमुख ने प्रस्तुत यशोधर महाराज से निम्नप्रकार निवेदन किया—कलिकाल में बृहस्पति-सरीखे महाबुद्धिशाली, पृथिवीनाथ हे राजाधिराज! आश्चर्यजनक पराक्रम द्वारा समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाली व अश्व-(घोड़ों) परीक्षा-निपुण विद्वत्परिषत् ने, प्रतापवर्द्धन सेनापति की आज्ञानुसार परीक्षा करके उद्धताङ्कुश की तरह मेरे मुख से भी पाद-प्रक्षालनादि पूजा-योग्य 'विजयवैनतय' नामक अश्वरत्न के विषय में आपके प्रति निम्नप्रकार विज्ञापन कराया है—

हे राजन्! वह 'विजयवैनतय' नाम का अश्वरत्न (श्रेष्ठ घोड़ा) शारीरिक उत्पत्ति की अपेक्षा उसप्रकार भद्रजाति[3] (सुन्दर व सचिक्कण रोम व त्वचा-युक्त, आनन्दजनक शरीर व संचारशाली, बुद्धिमान, विषाद-शून्य एवं भयभीत न करनेवाला) का है जिसप्रकार आप का सुन्दर शरीर भद्रजाति (श्रेष्ठ क्षत्रिय-जाति)

१. जाति-अलंकार। २. अनुपमालंकार।
३. उक्तं च—'सात्त्विकश्लक्ष्णं रोम त्वक्सुखसंचारविग्रहः। बुद्धिमानविषादी च भद्रः स्यात्त्रासवर्जितः' ॥ १ ॥

देव देवमिव वासवं सत्त्वेन, देव देवमिव सुभगालोकं समप्रकृत्या, देव देवमिव समं संस्थानेन, देव देवमिवावगाढं वयसा द्वितीयां दशान्तम्, देव देवमिवानुभवितारमायुषा दशापि दशाः, देव देवमिव पार्थिवं छायया, देव देवमिव वरीयांसं बलेन, देव देवमिव कण्ठीरवमानूकेन,

---

का है। हे राजन्! सत्वगुण (प्रशस्त मनोवृत्ति) से विभूषित होने के कारण वह उसप्रकार वासव (इन्द्र) है जिसप्रकार आप सत्वगुण[1] (प्रताप, ऐश्वर्य व पराक्रम) से अलंकृत होने के कारण वासव (इन्द्र) हैं। हे राजन्! समप्रकृति (प्रशस्त स्वभाव) से मण्डित होने के कारण जिसका दर्शन दूसरों को उसप्रकार प्रीतिजनक है जिसप्रकार आप का दर्शन समप्रकृति (सज्जन प्रकृति) के कारण दूसरों को प्रीतिजनक है। हे राजन्! उसकी शारीरिक आकृति उसप्रकार सम (समान, सुन्दर और सुडौल) है जिसप्रकार आपकी शारीरिक आकृति सम (समान, सुन्दर और सुडौल) है। हे देव! वह घोड़ारत्न युवावस्था संबंधी दूसरी दशा—भाग—में उसप्रकार आरूढ़ है जिसप्रकार आप युवावस्था संबंधी दूसरी दशा में आरूढ़ हैं।

भावार्थ—शास्त्रकारों[2] ने घोड़े की आयु ३२ वर्ष की निरूपण की है, उसके भीतर उसकी दश दशाएँ (अवस्थाएँ-भाग) होती हैं, जिनमें से एक दशा की आयु ३ वर्ष, २ माह और १० दिन की होती है। अर्थात्—३२ वर्ष में १० का भाग देने से प्रायः उक्त दशा की आयु निकलती है। प्रकरण में ध्यान देने योग्य यह है कि 'शालिहोत्र' नाम का अश्व-(घोड़े) सेना का अध्यक्ष यशोधर महाराज से प्रस्तुत 'विजयवैनतेय' नामक प्रमुख घोड़े के प्रशस्त गुणों का निरूपण करता हुआ उसकी जवानी का निरूपण कर रहा है कि हे राजन्! वह श्रेष्ठ घोड़ा तीन वर्ष, दो माह और दश दिनवाली पहली अवस्था (किशोरावस्था) को पार करके अब दूसरी जवानी अवस्था में आरूढ़ हो चुका है, जिसके फलस्वरूप[3] वह समस्त कर्म (भारवाहन व युद्ध करना-आदि) को सहन करने में समर्थ, विशेष शक्तिशाली, बुद्धि-सम्पन्न और सवारी के योग्य होचुका है, अतः श्रेष्ठ घोड़ा है। इसीप्रकार हे राजन्! वह अपनी आयु (३२ वर्ष) की उक्त दशों दशाएँ उसप्रकार भोगेगा (दीर्घायु होगा) जिसप्रकार आप अपनी आयु की दशों दशाएँ भोगोगे (दीर्घायु होंगे)। हे राजन्! वह पार्थिवी छाया[4] (मन व नेत्रों को आनन्द उत्पन्न करनेवाली, सचिक्कण, गम्भीर, महान्, निश्चल व अनेक वर्णयुक्त प्रशस्त कान्ति) से उसप्रकार अलंकृत है जिसप्रकार आप पार्थिवी छाया (राजकीय तेज अथवा शारीरिक प्रशस्त कान्ति) से विभूषित हैं। हे राजाधिराज! वह अश्वरत्न विशेष बल (भारवहन-आदि की सामर्थ्य) शाली होने के फलस्वरूप उसप्रकार विशेष महान् (गुरुतर) है जिसप्रकार आप बल (पराक्रम, सैन्य अथवा शारीरिक शक्ति) शाली होने से विशेष महान् हैं।

हे देव! वह अश्वरत्न आनूक* (विशेष शारीरिक शक्ति) से सम्पन्न होने के कारण उसप्रकार कण्ठीरव (सिंह) है जिसप्रकार आप अनूक[5] (प्रशस्त कुलशाली) होने के कारण कण्ठीरव (राज-सिंह—समस्त राजाओं में श्रेष्ठ) हैं।

---

१. उक्तं च—'तेजोविभूतिविक्रान्तैः सत्वमैन्द्रं विनिर्दिशेत्' ॥ सं० टी० पृ० ३०७ से संकलित—सम्पादक

२. तथा चोक्तम्—अथ कासौ दशा? तत्रोच्यते—
'आयुर्द्वात्रिंशतं तेषां दशाश्च दश कीर्तिताः। त्रयोऽब्दाश्च दशाहानि द्वौ च मासौ दशा मता' ॥१॥

३. उक्तं च—'सर्वकर्मसहो दृप्तः परां बुद्धिमुपागतः। द्वितीयस्यां दशायां स्याद्वाहः संप्राप्तवाहनः ॥१॥

४. उक्तं च—'अनेकवर्णा सुस्निग्धा गम्भीरा महती स्थिरा। प्रशस्ता पार्थिवीछाया मनोदृष्टिप्रसादिनी' ॥१॥

*. उक्तं च—आनूकेन—'अन्वयेन बलेन' ५. तथा चोक्तम्—'अनूकं शीलकुलयोः' इति विश्वः।
सं० टी० पृ० ३०८ से संकलित—सम्पादक

देव देवमिव समुद्रघोषं स्वरेण, देव [देवमिव*] कुलेन काम्बोजम्, वाजिराजं च जवेन, देव देवस्य यशोराशिमिव श्वेतमानं वर्णेन, देव देवस्य चित्तमिव सूक्ष्मदर्शनं तनूरुहेषु, देव देवस्यारिवर्गमिव मग्नवंशं पृष्ठप्रदेशे, देव देवस्य वीरश्रीविलास-चामरमिव रमणीयं वालधौ, देव देवस्य कीर्तिकुलदेवताकुन्तलकलापमिव मनोहरं केसरेषु, देव देवस्य प्रतापमिव विशालं ललाटासनजघनवक्षस्त्रिकेषु, देव शिखण्डिकण्ठाभोगमिव कान्तं कन्धरायाम्, इभकुम्भार्धमिव परार्ध्यं शिरसि, प्लक्षतरुपरिवर्तितच्छदपृष्ठमिव कमनीयं कर्णयोः, उल्लिखितमिव निर्मांसं हनुजानुजङ्घावदनघोणासु, स्फटिकमणिविनिर्मितमिव सुप्रकाशं लोचनयोः,

---

हे नरेन्द्र ! वह ध्वनि (हिनहिनाने का शब्द) से उसप्रकार समुद्रघोष (समुद्र के समान गम्भीर ध्वनि करनेवाला) है जिसप्रकार आप प्रशस्त (कर्ण-प्रिय) ध्वनि (वाणी) बोलने के कारण समुद्रघोष (सामुद्रिकशास्त्र-ज्योतिर्विद्या—में बताई हुई माङ्गलिक वाणी बोलनेवाले) हैं। हे राजन्! जिसप्रकार आप प्रशस्तकुल (क्षत्रिय वंश) में उत्पन्न हुए हैं उसीप्रकार वह घोड़ारत्न भी श्रेष्ठ बाल्हीक देश में उत्पन्न हुआ है। हे राजन् ! यह वेग (तेजी) से संचार करने में गरुड़ या अश्वराज (उच्चैःश्रवाः—इन्द्र का घोड़ा) सरीखा वेगशाली है। हे देव ! वह प्रशस्त श्वेत रूप से वस्तुओं को उसप्रकार उज्वल करता है जिसप्रकार आपका शुभ्र कीर्ति-पुञ्ज वस्तुओं को उज्वल कर रहा है।

भावार्थ—शास्त्रकारों[1] ने समस्त वर्णों में श्वेतवर्ण को प्रधान माना है, अतः वह इन्द्र के 'उच्चैःश्रवा' नाम के सर्वश्रेष्ठ घोड़ेरत्न के समान शुभ्र है, इसलिए वह आपकी शुभ्र यशोराशि-सरीखा वस्तुओं को शुभ्र कर रहा है। हे राजन् ! उसके रोम उसप्रकार सूक्ष्मदर्शन-शाली (स्पष्ट दिखाई न देनेवाले) हैं जिसप्रकार आपका चित्त सूक्ष्मदर्शन-शाली (सूक्ष्म पदार्थों को देखने व जाननेवाला) है। हे स्वामिन् ! जिसप्रकार आपके शत्रुओं का कुल—वंश—आपके प्रतापके कारण मग्नवंश (नष्ट) होचुका है उसीप्रकार उसका पृष्ठप्रदेश (बैठने योग्य पीठ का स्थान) भी मग्नवंश (दिखाई न देनेवाले स्थल-युक्त) है। अर्थात्—विशेष पुष्ट होने के कारण उसके पीठ के स्थान का स्थल दिखाई नहीं देता। हे देव ! जिसप्रकार आपकी वीर लक्ष्मी का श्वेत क्रीड़ा-चँमर मनोहर होता है उसीप्रकार उसकी पूँछ भी मनोहर है ! हे राजन् ! जिसप्रकार आपकी कीर्तिरूपी कुलदेवता का श्वेत केशपाश रमणीक है उसीप्रकार उसकी केसर (स्कन्ध-देश के केशों की शुभ्र झालर) भी रमणीक है। हे देव ! जिसप्रकार आपका प्रताप (सैनिक व खजाने की शक्ति) विशाल (विस्तृत) है उसीप्रकार उसका मस्तक, पीठ का भाग, जघन (कमर का अग्रभाग), हृदयस्थल और त्रिक (पृष्ठ—पीठ के नीचे का भाग) भी विशाल (विस्तृत) है। हे स्वामिन् ! जिसप्रकार मयूर के कण्ठ का विस्तार (आकार) चित्त को आनन्दित करता है उसीप्रकार उसकी गर्दन भी चित्त को आनन्दित करती हैं। हे देव ! जिसप्रकार हाथी के गण्डस्थल का अर्धभाग शुभ या प्रधान होता है उसीप्रकार उसका मस्तक भी शुभ या प्रधान है। हे देव ! जिसप्रकार वटवृक्ष और पाकरवृक्ष के उद्वेलित (सिकुड़े हुए) पत्र-पृष्ठभाग मनोहर होते हैं उसीप्रकार उसके दोनों कर्ण मनोहर हैं। हे देव ! उसके हनु (चिबुक—कपोलों के नीचे का भाग—ठोड़ी), जानु, जङ्घा (पींडी—जानुओं के नीचे के भाग), मुख व नासिका का स्थान मांस-रहित है, इससे वह ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—उक्त स्थान काँटों से विदीर्ण किये गये हैं, इसीलिए ही उनमें मांस नहीं है। हे स्वामिन् ! उसके दोनों नेत्र विशेष प्रकाश-शाली (अत्यधिक तेजस्वी—चमकीले) होने के कारण ऐसे मालूम पड़ते हैं—मानों—स्फटिक मणियों द्वारा ही रचे गये हैं।

---

*. कोष्ठाङ्कितपाठः सटि० (क०, ख०, ग०) प्रतिषु नास्ति।

१. तथा चोक्तम्—'श्वेतः प्रधानो वर्णानाम्' इति वचनात्। यतः इन्द्रस्य अश्व उच्चैःश्रवाः श्वेतवर्णो भवति। संस्कृत टीका पृ० ३०८ से संकलित—सम्पादक

नीरजपर्णमिव तलिनं सृक्कोष्ठजिह्वासु, देव देवस्य हृदयमिव गम्भीरं तालुनि, कमलकोशमिव कुर्मंपुलम्त-रास्ये, चन्द्रकलाशकलसंपादितमिव सुन्दरं दशनेषु, लक्ष्मीकुचकलशमिव पीवरं स्कन्धे, भटजूटमिवोद्बद्धं कुपीटदिशि, अजस्रजवाभ्यासादिव सुविभक्तघनगात्रम्, अवलीकैः खरखुराकृतिभिः शफैर्गतिप्रारम्भेषु रजस्वलत्वादिव भुवमस्पृशन्तम्, अमृतजलधिप्रतिबिम्बितेन्दुसंवादिना निटिलपुण्ड्रकेण कथयन्तमिव सकलायामिलायामवनिपालस्यैकातपत्रवर्यं*मैश्वर्यस्वम्, अहीनाविच्छिन्नाविचलितप्रदक्षिणवृत्तिभिर्देवमणिनिःश्रेणिश्रीवृक्षरोचमानादिनामभिरावर्तैः शुक्तिमुकुलावलीढकादिभिश्च तद्विशेषैराश्रितोचितप्रदेशमुदाहरन्तमिव देवस्य कल्याणपरम्पराम्, एवमपरैरपि लक्षणैर्दशस्वपि क्षेत्रेषु प्रशस्तं विजयवैनतेयनामधेयमत्र

हे देव ! जिसप्रकार कमल-पत्र कृश (पतला) होता है उसीप्रकार उसके ओष्ठ-प्रान्तभाग, ओष्ठ और जिह्वा भी कृश (पतली) है। हे राजन् ! उसके तालु आपके हृदय सरीखे गम्भीर हैं। हे राजन् ! उसके मुख का मध्यभाग कमल के मध्यभाग-जैसा शोभायमान है। हे राजन् ! उसकी विशेष मनोज्ञ दन्त-पङ्क्ति ऐसी प्रतीत होरही है—मानों—द्वितीया संबंधी चन्द्र-खण्डों से ही रची गई है। हे देव ! उसका स्कन्ध लक्ष्मी के कुच (स्तन) कलश-सरीखा स्थूल है। हे देव ! जिसप्रकार वीर पुरुष का केशपाश तनूदर (बीच में पतला या विरला) तथा बँधा हुआ होता है उसीप्रकार उस घोड़े रत्न का उदरभाग भी तनु (कृश) और बँधा हुआ (पुष्ट) है। हे राजन् ! निरन्तर वेग का अभ्यास करने से ही मानों—जिसका निविड (घना) शरीर अच्छी तरह पृथक् पृथक् अङ्गोपाङ्गों में विभक्त किया गया है। हे देव ! वह घोड़ा रत्न जब दौड़ना आरम्भ करता है तब रेखाओं से शून्य और गधे के खुरों-सरीखी आकृतिवालीं अपनीं टापों द्वारा पृथिवी-रुपी स्त्री का इसीलिए ही मानों—स्पर्श नहीं करता, क्योंकि वह रजस्वला (धूलि से व्याप्त और स्त्रीपक्ष में ऋतुमती—मासिकधर्मवाली) होचुकी है। वह ऐसे मस्तक-तिलक द्वारा, जो कि क्षीरसागर में प्रतिबिम्बित हुए पूर्ण चन्द्र का अनुकरण (तुलना) करता है, अपने राजा का समस्त पृथिवी मण्डल पर एकच्छत्र की मुख्यतावाले ऐश्वर्य का स्वामित्व ही मानों—प्रकट कर रहा है। हे राजन्। वह अश्वरत्न, ऐसे रोमों के आवर्तों (जल में पड़नेवाले गोलाकार भँवरों-सरीखे रोम कूपों) से योग्य स्थानों (मुख, नासिका व गर्दन-आदि शारीरिक अङ्गोपाङ्गों) का आश्रय कर रहा है। अर्थात्—उसके मुख व मस्तक-आदि शारीरिक अङ्गोपाङ्गों पर ऐसे रोमकूप पाए जाते हैं, जिनसे वह ऐसा प्रतीत हो रहा है—मानों—आपकी कल्याणपरम्परा को ही सूचित कर रहा है। कैसे हैं वे रोमावर्त ? जिनकी दाहिनी ओर की प्रवृत्ति (रचना) न्यूनता-रहित, विशेषकान्ति-शाली तथा नष्ट न होनेवाली है एवं जिनके देवमणि (गर्दन के नीचे भाग पर स्थित हुए रोमकूपों की 'देवमणि' संज्ञा है) निःश्रेणि (मस्तक के ऊपर स्थित हुए तीन रोम-कूपों की 'निःश्रेणि' संज्ञा है), श्रीवृक्ष (पर्याण-प्रदेश के रोमकूपों की श्रीवृक्ष संज्ञा है) और रोचमान (कण्ठ-प्रदेश संबंधी रोमकूपों) नाम हैं। इसीप्रकार उनके दूसरे विशेष भेदवाले ऐसे रोम-आवर्तों से भी शोभायमान होता हुआ वह अश्वरत्न आपकी कल्याणपरम्परा को सूचित कर रहा है, जो कि शुक्ति (सीप की आकृति-सरीखे रोमकूप) मुकुल (कुड्मल—अधखिली पुष्पकली-समान रोमकूप) और अवलीढक-(गवालीढ-समान आकार वाले) आदि के भेद से अनेक भेदवाले हैं। इसीप्रकार हे राजन् ! जो प्रस्तुत 'विजयवैनतेय' नामका घोड़ारत्न दश प्रकार के शारीरिक अङ्गोपाङ्गों[1] (मुख, मस्तक, गर्दन, पीठ, हृदय, हृदयासनकक्षा, नाभि, कुक्षि, खुर और जानु) पर वर्तमान अन्य दूसरे प्रशस्त चिन्हों से अलङ्कृत होने के कारण श्रेष्ठ है।

---

*. 'ऐश्वर्यं' ख०।

१.—तथा चोक्तम्—'तानि वक्त्रशिरोग्रीवावंशोवक्षश्च पञ्चमम्। हृदयासनकक्षाश्च नाभिः सप्तममेव च। कुक्ष्यष्टमं खुरं जानु जङ्घाश्च दशमं मतम् ॥'

प्रस्तावे वाजिविनोदमकरन्देन बन्दिना सलीलमभ्यधायि तुरङ्गमगुणसंकीर्तनानीमानि वृत्तानि—

गिरयो गिरिकप्रख्याः सरितः सारिणीसमाः। भवन्ति लङ्घने यस्य कासारा इव सागराः ॥१९१॥
एता दिशश्चतस्रोऽपि चतुश्चरणगोचराः। स्यदे यस्य प्रजायन्ते गोपुराङ्गणसन्निभाः ॥१९२॥
प्राप्नुवन्ति जवे यस्य भूमावपतिता अपि। निषादिनां पुरःक्षिप्ताः शल्यबालाः करग्रहम् ॥१९३॥
यस्य प्रवेगवेलायां सकाननधराधरा। धरणिः खुरलग्नेव सार्धमध्वनि धावति ॥१९४॥
किं च। बालवालधितनूरुहपृष्ठे वंशकेसरशिरःश्रवणेषु। वक्त्रनेत्रहृदयोदरदेशे कण्ठकोशखुरजानुजवेषु ॥१९५॥
अन्यत्र स्वल्पदोषोऽपि यद्येतेषु न दोषवान्। शुभावर्तच्छविच्छायो हयः *स्याद्विजयोदयः ॥१९६॥
मुक्ताफलेन्दीवरकाञ्चनाभाः किंजल्कभिन्नाञ्जनभृङ्गशोभाः।
बालारुणाशोकशुकप्रकाशास्तुरङ्गमा भूमिभुजां †जयेशाः ॥१९७॥

इसी अवसर पर 'वाजिविनोदमकरन्द' नाम के स्तुतिपाठक ने अश्व-गुणों को प्रकट करनेवाले निम्नप्रकार श्लोक विद्वत्तापूर्वक पढ़े—

जिस श्रेष्ठ घोड़े में लाँघने (उछलने) की ऐसी अद्भुत शक्ति होती है, जिसके फलस्वरूप पर्वत क्रीड़ा-कन्दुक (गेंद) सरीखे और नदियाँ सारिणी-(तलैया) जैसी एवं समुद्र तडाग-सदृश लाँघने योग्य होजाते हैं[1] ॥१९१॥ जब यह वेगपूर्वक दौड़ना आरम्भ करता है तब चारों दिशाएँ (पूर्व व पश्चिम-आदि) इसके चारों पैरों द्वारा प्राप्त करने योग्य होतीं हुईं नगर-द्वार की अग्रभूमि-सरीखीं सरलता से प्राप्त करने योग्य होजातीं हैं[2] ॥१९२॥ जिसके (घोड़े के) वेगपूर्वक दौड़ने के अवसर पर अश्वारोहियों (घुड़सवारों) द्वारा आगे पृथिवी पर फैंके हुए पुङ्खसहित बाण पृथिवी पर न गिरकर उन्हीं घुड़सवारों के हस्त से ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त करते हैं। भावार्थ—विशेष वेगपूर्वक दौड़नेवाले घोड़ों पर आरूढ़ हुए घुड़सवार घोड़ों को तेजी से दौड़ाने के पूर्व सामने पृथिवी की ओर बाण फैंककर बाद में घोड़े को तेजी से दौड़ाते हैं, उस समय बाणों को पृथिवी पर पहुँचने के पूर्व ही घोड़ा पहुँच जाता है, इसलिए घुड़सवार उन बाणों को पृथिवी पर न गिरते हुए भी ग्रहण कर लेता है। निष्कर्ष—प्रस्तुत श्लोक में 'अतिशयोक्ति अलंकार' पद्धति से घोड़े की वेगपूर्ण गति का वर्णन किया गया है[3] ॥१९३॥ जिसके विशेष वेगपूर्वक दौड़ने के अवसर पर वन और पर्वतों-सहित यह पृथिवी ऐसी मालूम पड़ती है—मानों—घोड़े की टापों से चिपटी हुई ही मार्ग पर उसके साथ दौड़ रही-सी दृष्टिगोचर होती है[4] ॥१९४॥

ऐसा घोड़ा, जिसके आवर्त (भँवर या घुँघराले बाल), छवि (रोमतेज) और कान्ति ये तीनों गुण शुभ सूचक हैं। इसीप्रकार जो केश-सहित पूँछ, रोमश्रेणी, पीठ, पीठ की हड्डी, स्कन्ध-केशों की झालर, मस्तक, दोनों कान, मुख, दोनों नेत्र, वक्षःस्थल, उदर-स्थान, गर्दन, कोश (जननेन्द्रिय), खुर (टाप) और जङ्घाओं की सन्धि (जोड़) एवं वेगपूर्वक दौड़ना इन स्थानों में दोष-युक्त (उदाहरणार्थ—केश-शून्य पूँछ, रोम-शून्यता और ऊबड़-खाबड़ पीठ-आदि) नहीं (गुणवान्) है। इसीतरह जो उक्त स्थानों को छोड़कर यदि अल्प दोष-युक्त भी है तथापि शत्रुओं को पराजित करता हुआ विजयश्री उत्पन्न करनेवाला होता है ॥१९५-१९६ युग्मम्[*]॥ राजाओं के ऐसे अश्व (घोड़े) शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, जिनकी कान्ति मोतियों की श्रेणी, नीलकमल और सुवर्ण-सदृश है। अर्थात्—जो शुक्ल श्याम व रक्तवर्ण-शाली हैं एवं जिनका वर्ण पुष्प-पराग, मर्दन किया हुआ अञ्जन और भँवरों-सरीखा है।

---

*'स्याद्विजयावहः' च०। †'जयाय' क०, घ०, च०।

१. उपमामध्यदीपकालंकार। २. उपमालङ्कार। ३. अतिशयालङ्कार। ४. उत्प्रेक्षालङ्कार। ५. समुच्चयालङ्कार।

गजेन्द्रकण्ठीरवतानकानां भेरीमृदङ्गानकनीरदानाम् ।
समस्वराः स्वामिनि *हेषितेन भवन्ति वाहाः †परमुत्सवेहाः ॥१९८॥
नीरेजनीलोत्पलमालतीनां सर्पिर्मधुक्षीरमदैः समानाः ।
स्वेदे मुखे श्रोतसि येषु गन्धास्ते वाजिनः कामदुहो नृपेषु ॥१९९॥
हंसप्लवङ्गपञ्चास्यद्विपशार्दूलसंनिभैः । मितद्रवः क्षितीन्द्राणामानूकैर्विजयप्रदाः ॥२००॥
ध्वजहलकलशकुशेशयकुलिश‡शशाङ्कार्धचन्द्रचक्रसमाः ।
तोरणतरवारिनिभास्तुरगेऽङ्कजवृत्तयः श्रेष्ठाः ॥२०१॥
वक्षसि बाह्वोरलिके §शफदेशे कर्णमूलयोश्चैव ।
आवर्तास्तुरगाणां शस्ताः केशान्तयोस्तथा $शुक्तिः ॥२०२॥
विशालभाला बहिरानतस्याः सूक्ष्मत्वचः पीवरबाहुदेशाः ।
सुदीर्घजङ्घाः पृथुपृष्ठमध्यास्तनूदराः कामकृतस्तुरङ्गाः ॥२०३॥

अर्थात्—गोरोचना-जैसे वर्णशाली व इन्द्रनील मणि-जैसे श्याम हैं एवं जिनका प्रकाश (वर्ण) उदय होते हुए सूर्य, अशोकवृक्ष और शुक-सरीखा है। अर्थात्—जो अव्यक्त लालिमा-युक्त, रक्तवर्ण व हरितवर्णशाली हैं[1] ॥१९७॥ ऐसे घोड़े अपनी ध्वनि (हिनहिनाने का शब्द) द्वारा निश्चय से राजा का महोत्सव प्रकट करनेवाली चेष्टा-युक्त होते हैं, जिनके शब्द श्रेष्ठ हाथी, सिंह और वृषभ-सरीखे हैं एवं जो भेरी, मृदङ्ग, पटह और मेघ-जैसी गम्भीर ध्वनि (शब्द) करते हैं[2] ॥१९८॥ जिन घोड़ों के स्वेद, मुख और दोनों कानों में, कमल, नीलकमल और मालती पुष्प-जैसी सुगन्धि होती है और जिनकी घी, मधु, दूध व हाथियों के मद (गण्डस्थल-आदि स्थानों से झरनेवाले मदजल) सरीखी गन्ध है, ऐसे घोड़े राजाओं के लिए इच्छित वस्तु (विजय-लाभ-आदि) प्रदान करनेवाले होते हैं[3] ॥१९९॥ जिन घोड़ों के नितम्ब (कमर के पीछे का भाग), हँस, बन्दर, सिंह, हाथी और व्याघ्र-जैसे शक्तिशाली होते हैं, वे राजाओं के लिए विजयलक्ष्मी प्रदान करते हैं[4] ॥२००॥ घोड़ों के ऐसे रोमों के आवर्त (भँवर) श्रेष्ठ (प्रशंसनीय व शुभसूचक) होते हैं, जो ध्वजा (पताका), हल, घट, कमल, वज्र, अर्धचन्द्र, चन्द्र और पृथिवीतल-सरीखे होते हैं एवं जो तोरण (द्वादशस्तम्भ-विन्यास—गृह के बाहर का फाटक) और खड्ग-जैसे होते हैं[5] ॥२०१॥ घोड़ों के हृदयस्थल, बाहु, मस्तक और चारों खुरों (टापों) के ऊपरी भागों पर तथा कानों के दोनों मूलभागों पर वर्तमान एवं गर्दन के दोनों भागों पर स्थित सीप-जैसे आकारवाले आवर्त (केश-भँवर या घुंघरालेबाल) श्रेष्ठ होते हैं[6] ॥२०२॥ ऐसे घोड़े अपने स्वामियों के लिए इष्टफल (विजयलाभ-आदि) देनेवाले होते हैं, जिनका मस्तक-स्थान विस्तृत और बाह्यप्रदेश संबंधी मुख नम्र (झुका हुआ) होता है। जिनका चर्म सूक्ष्म और बाहु-देश (आगे के पैर की जगह) स्थूल होते हैं। जिनकी जङ्घाएँ लम्बीं और पीठ (बैठने का स्थान) विस्तीर्ण होती है और जिनका उदरभाग (पेट) कृश (पतला) होता है[7] ॥२०३॥

---

*'हेषितेन' ख० । †'परमुत्सवाय' क०, घ०, च०, । ‡ उक्त शुद्धपाठः ख० प्रतितः संकलितः । मु० प्रतौ तु 'शशाङ्कार्धचक्रसमाः' पाठः । विमर्शः—मु० प्रतिस्थपाठेऽष्टादशमात्राणामभावेन छन्द(आर्या)भङ्गदोषः—सम्पादकः । §'स्त्रुपदेशे' (ललाटे) क० । $'शुक्ती' क० ।

१. उपमालङ्कार । २. समुच्चयालङ्कार । ३. उपमालङ्कार । ४. उपमालङ्कार । ५. उपमालङ्कार । ६. समुच्चयालङ्कार । ७. जाति-अलंकार ।

जीमूतकान्तिर्घनघोषहेषः करीन्द्रलीलागतिराज्यगन्धः ।
प्रियः परं माल्यविलेपनानामारोहणार्हस्तुरगो नृपस्य ॥२०४॥
कदनकन्दुककेलिविलासिनः परबलस्खलने परिघा हयाः ।
सकलभूवलयेक्षणदृष्टयः समरकालमनोरथसिद्धयः ॥२०५॥
अन्यूनाधिकदेहाः समसुविभक्ताश्च वर्ष्मभिः सर्वैः ।
संहतघनाङ्गबन्धाः कृतविनयाः कामदास्तुरगाः ॥२०६॥
जयः करे तस्य रणेषु राज्ञः काले परं वर्षति वासवश्च ।
धर्मार्थकामाभ्युदयः प्रजानामेकोऽपि यस्यास्ति हयः प्रशस्तः ॥२०७॥
कुलाचलकुचाम्भोधिनितम्बा वाहिनीभुजा ।
धरा पुरानना स्त्रीव तस्य यस्य तुरङ्गमाः ॥२०८॥

इति बन्दिभ्यां ताभ्यामुक्ते विज्ञप्ती निशम्य विभाव्य च पञ्चाङ्गलयनाधिकमङ्गस्पृष्टकमुत्तरीयदुकूलाञ्चलपिहित-बिम्बिना सिद्धादेशप्रमुखेन मौहूर्तिकसमाजेन, 'देव, प्रासादं संपाद्य प्रतिमां निवेशयेत्, प्रतिमां वा निवेश्य प्रासादं संपादयेत्,

ऐसा घोड़ा राजा के आरोहण-योग्य (सवारी-लायक) है, जो मेघ-जैसा श्याम है। जिसकी हिन-हिनाने की ध्वनि मेघ-गर्जन की ध्वनि-सदृश गम्भीर है एवं श्रेष्ठ हाथी-सरीखा विना खेद के मन्दगमन करनेवाले जिसका शरीर घी-सा सुगन्धित है तथा जो फूलों व चन्दनादि से विशेष अनुराग रखता है। अर्थात्—जो पुष्पमालाओं से अलंकृत होता हुआ चन्दनादि सुगन्धि द्रव्यों से लिप्त किया गया है[1] ॥२०४॥ ऐसे घोड़े श्रेष्ठ समझे जाते हैं, जो युद्ध रूपी गैंद से क्रीड़ा करने में आसक्त हुए शत्रु-सेना को रोकने में अर्गला (बेड़ा) हैं। अर्थात्—जो शत्रु-सेना को उसप्रकार रोकते हैं जिसप्रकार बेड़ा दूसरे का आगमन रोकता है। जिसके नेत्र समस्त पृथिवीमण्डल को देखने में समर्थ हैं और जो संग्राम के अवसर पर विजिगीषु के मनोरथ (विजयलाभ-आदि) सिद्ध (पूर्ण) करते हैं[2] ॥२०५॥ ऐसे घोड़े अभिलषित फल देनेवाले होते हैं, जिनके शारीरिक अङ्गोपाङ्ग (पैर व पीठ-आदि) न हीन हैं और न अधिक हैं। जो समस्त ऊँचाई, चौड़ाई व विशालता से समान व सुडौल विभक्त हैं एवं जिनकी शारीरिक रचना समुचित या दृढ़ और निविड (घनी) है और जो सूर्यमण्डल व चन्द्रमण्डल-आदि अनेक प्रकार की गतियों में शिक्षित किये गये हैं[3] ॥२०६॥ जिस राजा के पास एक भी उक्तलक्षण-युक्त प्रशंसनीय घोड़ा होता है, उसके करकमलों पर विजयलक्ष्मी रहती है। उसके राज्य में मेघों से जलवृष्टि समय पर होती है और उसकी प्रजा के धर्म (अहिंसा व परोपकार-आदि), अर्थ (धन-धान्यादि) एवं काम (पुष्पमाला व स्त्री-सुख एवं पंचेन्द्रिय के सुख) इन तीनों पुरुषार्थों की उत्पत्ति होती है[4] ॥२०७॥ जिस राजा के पास प्रशस्त घोड़े होते हैं, यह पृथिवी ऐसी स्त्री-सरीखी उसके वश में होजाती है, उदयाचल और अस्ताचल ही जिसके कुच (स्तन) कलश हैं, समुद्र ही जिसके नितम्ब हैं और गङ्गा व सिन्धु नदियाँ ही जिसकी दोनों भुजाएँ हैं एवं राजधानी ही जिसका मुख है[5] ॥२०८॥

इसप्रकार उक्त 'करिकलाभ' और 'वाजिविनोदमकरन्द' नामके स्तुतिपाठकों द्वारा कहीं हुई विज्ञप्तियाँ (विज्ञापन) श्रवण कर मैंने उन्हें अपने शरीर पर धारण कीं हुई ऐसीं वस्त्राभूषण-आदि वस्तुएँ प्रदान कीं, जो कि मेरे शारीरिक पांचों अङ्गों (कमर, उसके ऊपर का भाग (वक्षःस्थल), दोनों हाथ और मस्तक) पर धारण किये हुए वस्त्राभूषणों से भी विशेष उत्कृष्ट (बहुमूल्य) थीं।

तत्पश्चात् रेशमी दुपट्टे के प्रान्त-भाग से अपना मुख आच्छादित किये हुए और 'सिद्धादेश'

१. उपमालङ्कार। २. रूपकालंकार। ३. समुच्चयालङ्कार। ४. समुच्चयालङ्कार। ५. रूपकालङ्कार।

सति सामर्थ्ये प्रासादसंपादनं प्रतिमानिवेशनं च युगपत्कुर्यात्, इति यथा—तथा समाचरितदारकर्मणः पट्टबन्धोत्सवः, कृतपट्टबन्धोत्सवस्य वा दारकर्म, सत्यनुगुणतायुक्ते लग्ने दारकर्म पट्टबन्धोत्सवं च सह समाचरेदित्यत्र बीजाङ्कुरयोरिव न कश्चित्पूर्वापरक्रमनियमः। कोहलिनीफलपुष्पयोरिव सहभावे वा न विरोधः कोऽपि समस्ति। ततः श्रूयतामुभयोत्सवलग्न-विशुद्धिः।

तथाहि—सुकविकाव्यकथाविनोददोहदमाघ माघस्तावदयं मासः, सपत्नसंतानसरःशोषशुचे शुचिः पक्षः, दुर्वारवैरिकुलकामिनीवैधव्यदीक्षागुरो गुरुर्वारः, अनवरतवसुविश्राणनसंतर्पितसमस्तातिथे तिथिः पञ्चमी, प्रणतभूपालाङ्गनाश्रृङ्गार-

---

नामका ज्योतिषी विद्वान् है प्रधान जिसमें ऐसे ज्योतिषवेत्ता विद्वन्मण्डल ने आकर मुझ से निम्नप्रकार निवेदन करते हुए कहा—कि हे राजन्! आपके विवाहोत्सव और राज्यपट्टाभिषेक का उत्सव-समय निकटवर्ती है। हे राजन्! देवमन्दिर बनवाकर मूर्ति स्थापित करनी चाहिए? अथवा मूर्ति स्थापित करके देवमन्दिर बनवाना चाहिए? जिसप्रकार शक्ति (विशेष धन-आदि की योग्यता) होने पर उक्त दोनों शुभ कार्यों (मन्दिर-निर्माण व मूर्ति-स्थापन) का एक साथ करना युक्ति-संगत है उसीप्रकार जिसका विवाहसंस्कार किया गया है ऐसे राजा का राज्यपट्टाभिषेक संबंधी उत्सव करना चाहिए? अथवा जिसका राज्यपट्टाभिषेक संबंधी उत्सव किया जाचुका है ऐसे राजा का विवाहोत्सव करना चाहिए? यहाँपर भी यही न्याय (उचित) है कि यदि दोनों महोत्सवों का लग्न[1] (शुभ मुहूर्त, अथवा राशियों का उदय) अनुकूल (श्रेष्ठ) है तो विवाहोत्सव और राज्यपट्टाभिषेक संबंधी उत्सव इन दोनों को एक साथ करना युक्तिसंगत है। हे राजन्! जिसप्रकार बीज और अङ्कुर इन दोनों में पहिले और पीछे होने का क्रम-नियम पाया जाता है। अर्थात्—पहिले बीज होता है और पश्चात् अङ्कुर होता है। उसप्रकार विवाहोत्सव और राज्यपट्टाभिषेक संबंधी उत्सव इन दोनों में पहिले और पीछे होने का कोई क्रम-नियम नहीं होता। अर्थात्—लग्न अनुकूल होनेपर दोनों एकसाथ होसकते हैं एवं जिसप्रकार कूष्माण्डी (वृक्षविशेष) के पुष्प और फलों के एकसाथ उत्पन्न होने में विरोध पाया जाता है। अर्थात्—जिसप्रकार कूष्माण्ड-आदि वृक्षों में पहिले पुष्प होते हैं पश्चात् फल होते हैं, दोनों—पुष्प व फलों—की उत्पत्ति विरुद्ध होने के कारण एकसाथ नहीं होसकती उसप्रकार हे राजन्! यहाँपर विवाहोत्सव और राज्यपट्टाभिषेक संबंधी उत्सव इन दोनों को एकसाथ होने में किसीप्रकार का विरोध नहीं पाया जाता। अर्थात्-अनुकूल-लग्न (शुद्ध मुहूर्त) में ये दोनों कार्य एक साथ किये जासकते हैं। इसलिए आप विवाहोत्सव और राज्यपट्टाभिषेक-उत्सव इन दोनों उत्सवों की लग्न-विशुद्धि (मुहूर्त-विशुद्धि) निम्नप्रकार सुनिए—

अथानन्तर उक्त ज्योतिषज्ञ विद्वन्मण्डल यशोधर महाराज से दोनों उत्सवों (विवाहोत्सव व राज्यपट्टाभिषेक संबंधी उत्सव) का शुद्ध मुहूर्त निम्नप्रकार निवेदन करता है—

माघ (माघकवि) सदृश अच्छे कवियों की काव्यकथा की क्रीड़ा-मनोरथ रखनेवाले हे राजन्! अनुक्रम से इस समय माघ का महीना है। शत्रु-समूह रूपी तालाब को निर्जल करने में शुचि (आषाढ़ मास) सरीखे हे राजन्! इस समय शुचि (शुक्लपक्ष) है। दुःख से जीतने के लिए अशक्य (महाप्रतापी) शत्रु-समूह की कमनीय कामिनियों के वैधव्य (विधवा होना) व्रत के ग्रहण करने में गुरु का कार्य करनेवाले हे राजन्! आज गुरु (बृहस्पतिवार) नाम का शुभ दिन है। निरन्तर सुवर्ण व रत्नादि धन की दान वृष्टि द्वारा समस्त अतिथियों (दानपात्रों) को अच्छी तरह सन्तुष्ट करनेवाले हे राजन्! आज पञ्चमी तिथि है।

---

१. 'राशीनामुदयो लग्नम्' इति वचनात् सं० टी० पृ० ३१७ से संकलित—सम्पादक

समानमाभयप्रदावोत्तर उत्तरानक्षत्रम्, प्रचण्डदोर्दण्डमण्डनकण्डूलाहितदानवदमनसंपादितजगत्त्रयीहर्षण हर्षणो योगः,

भावार्थ—ज्योतिष-शास्त्र[1] में प्रतिपदा से लेकर क्रमशः नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा ये तिथियों की संज्ञाएँ हैं। अर्थात्—कृष्ण पक्ष व शुक्लपक्ष की प्रतिपदा (एकम), षष्ठी (छठ) और एकादशी ग्यारस) इन तीन तिथियों की 'नन्दा' संज्ञा और द्वितीया, सप्तमी और द्वादशी (बारस) की 'भद्रा' संज्ञा है एवं तृतीया, अष्टमी और त्रयोदशी (तेरस) की 'जया' संज्ञा और चतुर्थी, नवमी व चतुर्दशी को 'रिक्ता' तिथि कहते हैं एवं पंचमी, दशमी और अमावस्या अथवा पूर्णिमा की 'पूर्णा' संज्ञा है। इसीप्रकार सिद्धियोग (शुभ कार्य में शुभ देनेवाली) तिथियाँ भी निम्नप्रकार बार के अनुक्रम से कहीं गई हैं। अर्थात्—शुक्रवार को नन्दा, बुधवार को भद्रा, शनिवार को रिक्ता, मंगलवार को जया और बृहस्पतिवार को पूर्णा संज्ञक तिथिएँ सिद्धियोग—शुभकार्य में शुभ दायक—कहीं गई हैं। निष्कर्ष—उक्त निरूपण से 'पूर्णासिद्धियोग' सूचित किया गया है।

नम्रीभूत राजाओं की कमनीय कामिनियों को वस्त्राभूषणों से विभूषित करने में और उन्हें अभयदान देने में उत्तर (श्रेष्ठ) हे राजन्! आज उत्तरा ('उत्तराभाद्रपद') नाम का नक्षत्र है।

भावार्थ—ज्योतिषशास्त्र के विद्वानों[2] ने कहा है कि कमनीय कन्या के साथ पाणिग्रहण करने में वेधरहित मृगशिरा, मघा, स्वाति, तीनों उत्तरा (उत्तरा फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा और उत्तरा भाद्रपदा), मूल, अनुराधा, हस्त, रेवती और रोहिणी ये नक्षत्र शुभ-सूचक हैं। निष्कर्ष—उक्त प्रमाण से पूर्णा तिथि का सिद्धियोग व 'उत्तराभाद्रपद' नक्षत्र होने के फलस्वरूप आज का मुहूर्त विशेष महत्वपूर्ण (विवाह व राज्यपट्टोपयोगी) व प्रस्तुत दोनों महोत्सवों की निर्विघ्न पूर्ण सिद्धि प्रकट कर रहा है।

ऐसे शत्रुरूपी दैत्यों का, जो कि शक्तिशाली भुजदण्डों द्वारा किये जानेवाले युद्ध की खुजलीवाले हैं, दमन (भङ्ग) करने से तीन लोक को हर्षण (आनन्दित) करनेवाले ऐसे हे राजन्! आज 'हर्षण' नाम का चौदहवाँ शुभ योग है। भावार्थ—ज्यौतिषविद्या-विशारदों[3] ने विष्कम्भ, प्रीति, आयुष्मान, सौभाग्य, शोभन, अतिगण्ड, सुकर्मा, धृति, शूल, गण्ड, वृद्धि, ध्रुव, व्याघात, 'हर्षण' वज्र, सिद्धि, व्यतीपात, वरीयान्, परिघ, शिव, सिद्धि, साध्य, शुभ, शुक्ल, ब्रह्मा, ऐन्द्र और वैधृति, इसप्रकार २७ योग माने हैं, उनमें से 'हर्षण' योग १४ वाँ है, जो कि प्रस्तुत विवाहोत्सव व राज्यपट्टाभिषेक-उत्सव में विशेष शुभसूचक है। निष्कर्ष—योग[4] अपने नामानुसार फलदायक होते हैं, अतः 'हर्षण' नामका चौदहवाँ योग आपको दोनों उत्सवों में विशेष हर्ष—आनन्द—प्रदान करेगा। क्षत्रिय राजपुत्रों की ऐसी चरित्र-

१. तथा चोक्तम्—बृहदवकहडाचक्रे—नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा च तिथयः क्रमात्।
वारत्रयं समावर्त्य गणयेत् प्रतिपन्मुखाः ॥१॥
शुक्रे नन्दा बुधे भद्रा शनौ रिक्ता कुजे जया। गुरौ पूर्णा तिथिर्ज्ञेया सिद्धियोगाः शुभे शुभाः ॥२॥

२. तथा चोक्तम्—कन्याविवाहे निर्वेधो मघास्वात्युत्तरात्रये। मूलानुराधाहस्तेषु रेवतीरोहिणीमृगे ॥१॥
सं० टी० पृ० ३१८ से संकलित—सम्पादक

३—तथा चोक्तम्—योगाः सप्तविंशतिर्भवन्ति। ते के—
'विष्कम्भः प्रीतिरायुष्मान् सौभाग्यः शोभनस्तथा। अतिगण्डः सुकर्मा च धृतिः शूलं तथैव च ॥ १ ॥
गण्डो वृद्धिर्ध्रुवश्चैव व्याघातो हर्षणस्तथा। वज्रः सिद्धिर्व्यतीपातो वरीयान् परिघः शिवः ॥ २ ॥
सिद्धिः साध्यः शुभः शुक्लो ब्रह्मा ऐन्द्रोऽथ वैधृतिः, ॥ ३ ॥ संस्कृत टीका पृष्ठ ३१८ से संगृहीत—सम्पादक

४—तथा चोक्तम्—'सप्तविंशति योगास्ते स्वनामफलदायकाः, ॥ १ ॥ होडाचक्र से संकलित—सम्पादक

शौर्यधैर्यौदार्यवीर्यादिक्षत्रियचरित्रकीर्तनकथाप्रथम प्रथमं करणम्, निजप्रतापगुणगायनीकृतामरमिथुन मिथुनोदयः समयः, सकललोकलोचनोत्सवचन्द्र चन्द्र एकादशो लग्नस्य, श्रीसरस्वतीप्रसाधितपूर्वपाणिग्रह ग्रहगणः सर्वोऽपि सप्तमाष्टमद्वादशदेशा-श्रयशून्यो लग्नस्य, कल्याणपरम्परासम्पत्संपन्नदैवमानुष मानुषो लग्नांशकश्च, अशेषविश्वंभरेश्वरातिशायिजन्मोत्सवदिवस दिवसतारातारेश्वरावस्थाश्च प्रकामं प्रशस्ताः, विशेषेण तु गुरुबलं महादेव्याः, देवस्य चादित्यबलम्। तदुसिष्ठतु देवः' इति

कथन की वार्ता में, जिसमें उनकी शूरता, धीरता, उदारता और शक्ति-आदि प्रशस्त गुण पाये जाते हैं, प्रथम (प्रधान) ऐसे हे राजन्! आज 'बव' नामका प्रथम करण है।

भावार्थ—ज्योतिषशास्त्र के आचार्यों ने बव, बालव, कौलव, तैत्तिल, गर, वणिज, विष्टि, शकुनि, चतुष्पाद, नाग, व किंस्तुघ्न करण, इसप्रकार ११ करण माने हैं। उनमें से शुरु से लेकर सात करण—बव से लेकर विष्टिकरणपर्यन्त—चल (बदलनेवाले) हैं और अन्त के चार (शकुनि, चतुष्पाद, नाग व किंस्तुघ्न) स्थिर—अचल (प्रतिनियत तिथि में होनेवाले और न बदलने वाले) होते हैं। उदाहरणार्थ—कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन अन्त्य दल में 'शकुनि' करण होता है, अमावस्या के पहले दल में चतुष्पाद और पिछले दल में नागकरण होता है, शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के प्रथम दल में 'किंस्तुघ्न' करण होता है। अतः ये चार करण स्थिर—अचल—कहे जाते हैं। प्रकरण में शुक्लपक्ष के करण कोष्टक से, जो कि होडाचक्र पृ० १२ में उल्लिखित है, विदित होता है कि शुक्लपक्ष की पञ्चमी तिथि में दिन में बव (प्रथम) और रात्रि में बालव (दूसरा) करण है।

निष्कर्ष—हे राजन्! आज प्रथमकरण मुहूर्त-शुद्धि में विशेष महत्वपूर्ण (शुभ-सूचक) है देवी व देवता-युगलों को अपने प्रतापगुण का गान करने में तत्पर करनेवाले हे देव! प्रस्तुत समय मिथुन लग्नोदय से सुशोभित है। समस्त लोकों के नेत्रों को चन्द्र-सरीखे आनन्दित करनेवाले हे राजाधिराज! इस समय मिथुनलग्न के ग्यारह में चन्द्र का उदय है। लक्ष्मी और सरस्वती के साथ सबसे प्रथम विवाह किये हुए हे स्वामिन्! इससमय मिथुनलग्न के सातवें, आठवें और बारह में स्थान में कोई भी अशुभ ग्रह नहीं है। कल्याण-(शुभ) श्रेणीरूप सम्पत्ति से परिपूर्ण होने के कारण दिव्य (स्वर्गीय) मानवता को प्राप्त हुए हे नरेन्द्र! आज वृषलग्न का मिथुनांश द्विपद होने के फलस्वरूप मानुष होने से शुभसूचक है। समस्त पृथिवीमण्डल के राजाओं से विशेषतापूर्ण जन्म व उत्सवदिवस-शाली हे देव! प्रवास, नष्ट, हास्य, रति, क्रीडित, सप्तमुक्त, क्रूर, कम्पित व सुस्थित इनके मध्य में दिवसावस्था[1] विशेष प्रशस्त है एवं तारावस्था[2] भी प्रशस्त है। भावार्थ—छह ताराएं शुभ होती हैं। अर्थात्—जन्मतारा, दूसरी, छठी, चौथी, आठमी और नवमी तारा ये छह ताराएँ शुभ होता हैं और तीसरी, पाँचवीं और सातवीं तारा अशुभ होती है, जिस नक्षत्र में जन्म होता है, वहाँ से लेकर तारा की गणना की जाती है। अतः हे राजन्! तारा भी प्रशस्त है एवं चन्द्र की अवस्था (प्रथम) भी प्रशस्त है। हे देव! विशेषरूप से अमृतमती महादेवी का

१—तथा चोक्तम्–'प्रवासनष्टाख्यमृतंजयाख्या हास्या रतिक्रीडितसप्तमुक्ता क्रूराह्वया कम्पितसुस्थिताश्च ॥' तेषु मध्ये दिवसावस्था अतिशयेन प्रशस्ता वर्तते।

२—तदुक्तम्—'जन्मतारा द्वितीया च षष्ठी चैव चतुर्थिका। अष्टमी नवमी चैव षट् ताराश्च शुभावहाः॥ १॥' एतावतीं तृतीया, पञ्चमी सप्तमी च तारा अशुभा इत्यर्थः।

यस्मिन् नक्षत्रे जन्म भवति तस्माद्गण्यते। संस्कृत टीका पृष्ठ ३१९ से संगृहीत—सम्पादक

विनिवेदितसविधतरोत्सवसमयः समुपसृत्य विलासिनीजनजन्यमानमङ्गलालापं तमभिषेकमण्डपममरालयमिव सरत्नरजत-कार्तस्वरकलशम्, ईश्वरश्वशुरमिव विविधौषधिसनाथम्, अकूपारमिव समुद्रगापगाम्भःसुभगम्, अर्हन्निवासमिव प्रसाधित-सितातपत्रचामरसिंहासनम्, अम्बुजासनशयमिव कुतपाङ्कुरालंकृतमध्यम्, एवमपरेष्वपि तेषु तेष्वभिलषितेषु वस्तुषु कल्पग्राममिव परिपूरितकामम्, अन्वयागतकुलदेवतोपकण्ठपरिकल्पितसकलकुलधनायुधम्, आप्तलोकापनीयमानमानवसंबाधम्,

यत्पाकोन्मुखमुक्तशुक्तिपटलैर्मुक्ताफलैः स्फारितं यत्सद्यःप्रविरूढकन्दलदलैरुल्लासितं विद्रुमैः ।
यन्नारायणनाभिपङ्कजरजोराजीभिरापिञ्जरं तल्लक्ष्मीरमणीविनोद जलधेः पाथोऽस्तु ते प्रीतये ॥२०९॥

गुरुबल है और आपका आदित्य (सूर्य) बल है, अतः हे राजन् ! आप विवाहदीक्षा व राज्याभिषेक महोत्सव-सम्बन्धी ऐसे अभिषेक मण्डप में, प्राप्त होकर शोभायमान होइए ।

तत्पश्चात्—उक्तप्रकार से ज्योतिर्वित् विद्वन्मण्डली द्वारा प्रस्तुत दोनों उत्सवों की लग्नशुद्धि निवेदन करने के अनन्तर—मैं (यशोधर) उस ऐसे विवाहोत्सव व राज्याभिषेक-महोत्सव-मण्डप में प्राप्त हुआ, जिसमें कमनीय कामिनियों द्वारा माङ्गलिक गान-ध्वनि की जारही थी । वह (अभिषेक-मंडप) चाँदी के और रत्नजडित सुवर्णमयी पूर्ण कलशों से उसप्रकार अलंकृत होरहा था जिसप्रकार सुमेरु पर्वत रत्नमयी व सुवर्णमयी कलशों से अलंकृत होता है । उसमें नाना भाँति की औषधियाँ उसप्रकार वर्तमान थीं जिसप्रकार हिमालय पर्वत में नाना प्रकार की औषधियाँ वर्तमान रहती हैं । वह अभिषेक मण्डप समुद्र में जानेवाली गङ्गा-आदि नदियों की जलराशि से ऐसा विशेष रमणीक प्रतीत होता था जिसप्रकार समुद्र अपनी ओर आनेवाली (प्रविष्ट होनेवाली) गङ्गा-आदि नदियों के जलप्रवाह से मनोज्ञ प्रतीत होता है । वह श्वेतच्छत्रों, चमरों व सिंहासन से उसप्रकार विभूषित था जिसप्रकार तीर्थङ्कर सर्वज्ञ भगवान् का समवसरण श्वेतच्छत्रों, चमरों व सिंहासन से विभूषित होता है । उसका मध्यभाग कुशांकुरों से उसप्रकार अलंकृत होरहा था जिसप्रकार ब्रह्मा के हस्त का मध्यभाग कुशांकुरों से अलंकृत होता है । इसीप्रकार वह उन-उन जगत्प्रसिद्ध, अभिलषित व माङ्गलिक वस्तुओं से उसप्रकार लोगों के मनोरथ पूर्ण करता था जिसप्रकार स्वर्गलोक अभिलषित व माङ्गलिक वस्तुओं से देवताओं के मनोरथ पूर्ण करता है । जहाँपर वंश-परम्परा की कुलदेवता (अम्बिका) के समीप पूर्व पुरुषों द्वारा उपार्जित की हुई धनराशि व शस्त्र-श्रेणी स्थापित की गई थी और जिसमें मनुष्यों की संकीर्णता (भीड़) हितैषी कुटुम्बी-वर्गों द्वारा दूर की जारही थी ।

तत्पश्चात्—जलकेलिविलास नामक वैतालिक (स्तुतिपाठक) से निम्नप्रकार विवाह-दीक्षाभिषेक व राज्याभिषेक-सम्बन्धी माङ्गलिक कविताओं को श्रवण करता हुआ मैं गृहस्थाश्रम (विवाह-संस्कार) संबंधी दीक्षाभिषेक व राज्याभिषेक के मङ्गल स्नान से अभिषिक्त हुआ ।

लक्ष्मीरूप रमणी के साथ क्रीड़ा करनेवाले हे राजन् ! वह जगत्प्रसिद्ध ऐसा समुद्र जल, आपको विशेष आनन्दित (उल्लासित) करे, जो ऐसे मोक्तिकों (मोती-श्रेणियों) से प्रचुरीकृत (महान) है, जिन्होंने पाकोन्मुखता-वश (पके हुए होजाने के कारण) अपना (आधारभूत) शुक्तिपटल (सीपों का समूह) छोड़ दिया है । जो ऐसे समुद्र-संबंधी प्रवाल (मूँगा) मणियों से शोभायमान होरहा है, जिनमें तत्काल कन्दलदल (अंकुर-समूह) उत्पन्न हुए हैं एवं जो श्रीकृष्ण की नाभि से उत्पन्न हुए कमल की पराग-समूह से चारों तरफ या कुछ पीतवर्णशाली होरहा है[1] ॥ २०९ ॥

---

१. रूपकालङ्कार ।

यत्राभूदमृतातपः सुरकरी कल्पद्रुमः कौस्तुभो लक्ष्मीरप्सरसां गणश्च सुधया सार्धं बुधानां मुदे ।
यन्मूयो भुवनोपकारिचरितैरासेव्यमानं घनैस्तद्रत्नाकरवारि मज्जनविधौ भूयात्तव श्रेयसे ॥२१०॥
यन्नाकलोकमुनिमानसकल्मषाणां कार्श्यं करोति सकृदेव कृताभिषेकम् ।
प्रालेयशैलशिखराश्रमतापसानां सेव्यं च यत्तत्र तदम्बु मुदेऽस्तु गाङ्गम् ॥२११॥
यास्तीराश्रमवासितापसकुलैः संध्याविधावुल्बणाः सेव्यन्ते प्रतिवासरं सुरगणैर्याः पुण्यपण्यापणाः ।
उह्यन्ते शशिमौलिना च शिरसा त्वन्मज्जनायेव यास्ता वारः सवनाय सन्तु भवतो भागीरथीसंभवाः ॥२१२॥
यमुनानर्मदागोदा*चन्द्रभागासरस्वती । सरयूसिन्धुशोणोत्थैर्जलैर्देवोऽभिषिच्यताम् ॥२१३॥
इति जलकेलिविलासाद्वैतालिकान्मज्जनावसरवृत्तान्याकर्णयन्,
उल्लोलालकवीचिभिर्विचलितापाङ्गोत्पलश्रेणिभिः प्रक्षुभ्यत्कुचचक्रवाकमिथुनैर्व्यालोलनाभीह्रदैः ।
वारस्त्रीनिवहैः सतूर्यनिनदं जाताभिषेकोत्सवः कामं स्फारितकाञ्चिदेशपुलिनैः सिन्धुप्रवाहैरिव ॥२१४॥

वह प्रसिद्ध चीरसागर का ऐसा जल, जिसमें से चन्द्रमा, ऐरावत हाथी, कल्पवृक्ष, कौस्तुभमणि, लक्ष्मी, रम्भा, तिलोत्तमा, उर्वशी और मेनका-आदि स्वर्ग की अप्सरा-समूह विद्वज्जनों को प्रमुदित करने के हेतु अमृत के साथ-साथ उत्पन्न हुआ था एवं जो मनुष्य लोक का उपकार करनेवाले मेघों द्वारा आस्वादन किया गया है, इस माङ्गलिक स्नानविधि में आपका कल्याणकारक होवे। भावार्थ—महाकवि कालिदास[1] ने भी क्षीरसागर सम्बन्धी जलपूर के विषय में ललित काव्य-रचना-द्वारा प्रस्तुत विषय का निरूपण किया है[2] ॥ २१० ॥ वह प्रसिद्ध ऐसा गङ्गा-जल आपके हर्षनिमित्त होवे, जो एक बार भी स्नान विधि में प्रयुक्त किया हुआ स्वर्ग के मरीचि व अत्रि-आदि ऋषियों के मानसिक पाप-समूह क्षीण (नष्ट) करता है एवं जो हिमालय की शिखर पर स्थित हुए तपस्वियों के स्नान व पानादि के योग्य है[3] ॥ २११ ॥ वह ऐसा भागीरथी-(गंगा) उत्पन्न जल-पूर, आपके स्नान-निमित्त होवे। जो गंगा के तटवर्ती आश्रमों में निवास करनेवाले मुनि-समूह व देवता गणों द्वारा प्रतिदिन सेवन किया जाता है व सन्ध्या वन्दन-विधि में उद्रिक्त (समर्थ) है। जो पुण्यरूप क्रय (खरीदने योग्य) वस्तु का हट्टमार्ग (बाजार की दुकान) सरीखा है। अर्थात्—जिसप्रकार हट्टमार्ग से क्रय वस्तु खरीदी जाती है उसीप्रकार जिस गंगा-जल से पुण्यरूप क्रय वस्तु खरीदी जाती है और जो ऐसा प्रतीत हो रहा है मानों—आपके स्नान-निमित्त ही श्रीमहादेव ने जिसे अपने मस्तक पर स्थापित किया है[4] ॥ २१२ ॥ यमुना, नर्मदा, गोदा, चन्द्रभागा, सरस्वती, सरयू, सिन्धु और शोण (तालाव-विशेष) इन नदियों व तालाव से उत्पन्न हुए जलपूर द्वारा श्रीयशोधर महाराज स्नान कराए जावें[5] ॥ २१३ ॥

इसप्रकार मेरा विवाहदीक्षाभिषेक व राज्याभिषेक का उत्सव ऐसीं वेश्या-श्रेणियों द्वारा अनेक वादित्र-ध्वनिपूर्वक सम्पन्न हुआ, जो विशेष चञ्चल केशपाशरूपी तरङ्गों से व्याप्त थीं। जिनके नेत्रप्रान्तरूपी कमल-समूह चञ्चलता अथवा नानाप्रकार की चेष्टाओं से शोभायमान थे। जिनके कुच (स्तन) रूपी चक्रवाक (चकवा-चकवी) युगल कम्पित हो रहे थे। जिनके नाभिरूपी विवर विशेष

---

*'चान्द्रभागा' । ख० ।

१. तथा चोक्तं कालिदासेन महाकविना —
'लक्ष्मीकौस्तुभपारिजातकसुराधन्वन्तरिश्चन्द्रमा गावः कामदुघाः सुरेश्वरगजो रम्भादिदेवाङ्गनाः ।
अश्वः सप्तमुखः सुधा हरिधनुः शंखो विषं चाम्बुधे रत्नानीति चतुर्दश प्रतिदिनं कुर्वन्तु वो मंगलम्' ॥ १ ॥

२. समुच्चयालंकार । ३. अतिशयालंकार । ४. उत्प्रेक्षालंकार । ५. समुच्चयालंकार ।

पुनः सारस्वतसर्ग इव धृतधवलदुकूलमाल्यविलेपनालंकारः, समारक्षणदक्षाङ्गरक्षसारः, समाश्रित्य *मार्जनीयं देशमाचरितोपस्पर्शनः, कुशपूतपानीयपरिकल्पितसकलोपकरणप्रोक्षणः, पर्युपास्यासुतीवलद्वितीयः पृषदाज्येनामिक्षया च समेधितमहसं द्रविणोदशमनेकसुविदत्रवस्तुव्यस्तहस्तैर्निर्वर्तितयजत्रकर्मभिर्यायजूकलोकैर्जनितजैवातृकमन्त्राशीर्वादविधिभिर्यथा-विधानम्. 'अहो लक्ष्मीनिवासहृदय, विलासिनीविनोदचन्द्रोदय, श्रीमतीपतिश्रीवर्मनृपनन्दनामृतमतीमहादेवीपुरःसराभिर्महा-मण्डलेश्वरपार्थिवराभिः शतानन्द इव श्रुतिभिः, खाण्डवोद्यानदेश इव कल्पलताभिः, समुद्रीयोदकाभोग इव वेलानदीभिः, प्रथमतीर्थकरावतारसमय इव रत्नवृष्टिभिः, त्रिदिवपर्वत इव नक्षत्रपङ्क्तिभिः, पार्वणेन्दुरिव कलाभिः, सरोवकाश इव कमलिनीभिः, माधव इव वनलक्ष्मीभिः समम्

चञ्चल थे और जिन्होंने कमर के अग्रभागरूपी वालुकामय प्रदेश विशेष रूप से ऊँचे किये थे ; इसलिये जो उसप्रकार शोभायमान होरहीं थीं जिसप्रकार नदी-प्रवाह उक्त गुणों से शोभायमान होते हैं। अर्थात्—जिसप्रकार नदी-प्रवाह चञ्चल तरङ्ग-शाली, हिलनेवाले कमल-समूह से व्याप्त, चकवा-चकवी युगल के संचार से सुशोभित, चञ्चल मध्यभागों से युक्त और ऊँचे वालुकामय प्रदेशों से अलङ्कृत होते हैं[1] ॥२१४॥

उक्त दोनों अभिषेक-उत्सवों के पश्चात्—उज्वल पट्टदुकूल (रेशमी शुभ्र दुपट्टा), पुष्पमालाओं, कस्तूरी व चन्दन-आदि सुगन्धि द्रव्य-लेपों व आभूषणों से अलङ्कृत हुआ मैं उसप्रकार शोभायमान हो रहा था जिसप्रकार सरस्वती-सृष्टि शुभ्र वस्त्र, पुष्प-मालाओं व चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों के लेप और आभूषणों से अलङ्कृत हुई शोभायमान होती है। चारों तरफ से रक्षा करने में समर्थ शक्तिशाली सेनावाले मैंने हस्त-पादप्रक्षालन-योग्य स्थान पर जाकर आचमन-(कुरला) विधि की। तत्पश्चात्—मैंने डाभ से पवित्र जल द्वारा समस्त पूजनादि के उपकरण पात्रों की प्रोक्षण (अभिषेचन) विधि की और यज्वा (पुरोहित) से सहित हुए मैंने दधि-मिश्रित घृत से व दधिमिश्रित अविच्छिन्न दुग्ध-धाराओं से घृत द्वारा प्रज्वालित की गई अग्नि की, ऐसे अनेक हवन करनेवाले लोगों के साथ, जिनके करकमलों पर नानाप्रकार की माङ्गलिक वस्तुएँ (नारियल, खजूर व केला-आदि) विद्यमान थीं, जिन्होंने अग्निहोत्र-(हवन) विधि सम्पन्न की थी और जिन्होंने आयुवर्द्धक पुण्य मन्त्रों द्वारा [वर-वधू को] आशीर्वाद दिया था, पूजा की। अर्थात्—विवाह-होम किया। तत्पश्चात् 'मनोजकुञ्जर' नाम के ऐसे स्तुतिपाठक से, जो कि मेरी व मेरी प्रिया अमृतमति महादेवी के गुणगान कर रहा था, निम्नप्रकार गद्य-पद्यरूप वचन श्रवण करता हुआ मैं विवाह-दीक्षापूर्वक गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुआ और राज्यमुकुट से अलङ्कृत हुआ।

'लक्ष्मी के निवासभूत हृदययुक्त व कमनीय कामिनियों की क्रीड़ा-हेतु चन्द्रोदय-सरीखे हे यशोधर महाराज! आप ऐसी महामण्डलेश्वर राजाओं की कन्याओं के साथ, जिनमें श्रीमती नामकी पट्टरानी के पति श्रीवर्मा राजा की पुत्री अमृतमति महादेवी प्रधान है, उसप्रकार प्रीतिमान होवें जिसप्रकार ब्रह्मा वैदिक वाणियों से, स्वर्गलोक का उद्यान-प्रदेश कल्पवल्लियों से, समुद्र-संबंधी जलराशि का विस्तार समुद्र-समीपवर्ती या तटवर्ती नदियों से प्रीतिमान होता है एवं जिसप्रकार ऋषभदेव तीर्थंकर का जन्मकल्याणक महोत्सव रत्नवृष्टि से और सुमेरुपर्वत नक्षत्रपंक्तियों से, पूर्णिमासी का चन्द्र कलाओं से व जिसप्रकार तालाव-प्रदेश कमलिनियों से एवं जिसप्रकार वैसाखमास या वसन्त वन की पुष्प-फलादिरूप लक्ष्मी से प्रीतिमान या शोभायमान होता है।

---

* 'मार्जालीयं' (हस्तपादप्रक्षालनोचितं स्थानं) क०, ख०, ग०, ।

१. रूपक व उपमालङ्कार।

२४

लक्ष्मीरियं त्वमपि माधव एव साक्षादेषा शची सुरपतिस्त्वमपि प्रतीतः।
आशास्यते तदिह किं भवतोरिदानीं प्रीतिः परं रतिमनोभवयोरिवास्तु ॥२१५॥
एषा हिमांशुमणिनिर्मितदेहयष्टिस्त्वं चन्द्रचूर्णरचितावयवश्च साक्षात्।
एवं न चेत् कथमियं तव संगमेन प्रत्यङ्गनिर्गतजला सुतनुश्चकास्ति ॥२१६॥
त्वं चन्द्ररुचिरेषा तु सत्यं कमललोचना। कथं त्वयान्यथा दृष्टा भवेत्कुड्मलितेक्षणा ॥२१७॥
उक्ता वक्ति न किंचिदुत्तरमियं नालोकितालोकते शय्यायां विहितागमा च †विवशश्वासोल्बणं वेपते।
नर्मालापविधौ सकोपहृदया गन्तुं पुनर्वाञ्छति प्रीतिं कस्य तथापि नो वितनुते बाला नवे संगमे ॥२१८॥
किंचित्केकरवीक्षितं किमपि च भ्रूभङ्गलीलायितं किंचिन्मन्मनभाषितं किमपि च श्लेषाभिलाषंहितम्।
इत्थं मुग्धतया बहिर्विलसितं वध्वा नवे संगमे चित्तस्थेन मनोभुवा बलवता नीवी खलत्वं कृतम् ॥२१९॥

हे राजन्! यह 'अमृतमति' महादेवी लक्ष्मी है और आप भी साक्षात् श्रीनारायण ही हैं। यह इन्द्राणी है और आप साक्षात् विख्यात इन्द्र ही हैं। अतः आप दोनों को इस प्रसङ्ग में क्या आशीर्वाद दिया जाय? मेरे द्वारा केवल यही आशा की जाती है कि आप दोनों दम्पति का ऐसा उत्कृष्ट प्रेम हो जैसा रति और कामदेव में होता है ॥ २१५ ॥ हे राजन्! इस अमृतमती महादेवी का उत्तम शरीर चन्द्रकान्त मणियों से निर्मित हुआ है और आपका सुन्दर शरीर चन्द्र-चूर्ण से रचा गया है। हे देव! यदि ऐसा नहीं है तो यह सुन्दर शरीरवाली अमृतमति महादेवी आपके संगम से समस्त अंगों से प्रकट हुए जलों (स्वेद-जल) से व्याप्त हुई किसप्रकार शोभायमान हो सकती है?[1] ॥२१६॥ हे राजन्! आप चन्द्र के समान कान्तिशाली हैं और यह देवी निश्चय से कमल के समान सुन्दर नेत्रोंवाली है, अन्यथा—यदि ऐसा नहीं है—तो आपके द्वारा दर्शन की हुई यह संकुचित नेत्रोंवाली क्यों होजाती है?

भावार्थ—जिसप्रकार चन्द्रोदय से कमल संकुचित होजाते हैं उसीप्रकार इसके नेत्रकमल भी चन्द्र-जैसे आपके संसर्ग से संकुचित होजाते हैं, अतः निस्सन्देह आप चन्द्र हो और इस महादेवी के नेत्र कमल सरीखे मनोज्ञ हैं[2] ॥ २१७ ॥ हे राजन्! यह महादेवी आपके द्वारा वार्तालाप की हुई लज्जावश कुछ भी उत्तर नहीं देती। आपके द्वारा निरीक्षित (प्रेमपूर्वक देखी) हुई यह आपकी ओर नहीं देखती और रतिविलास के अवसर पर पलंग पर प्राप्त हुई यह पराधीन श्वासोच्छ्वासों की व्याप्तिपूर्वक कम्पित होती है एवं आपके द्वारा हँसी-मजाक किये जाने पर कुपित चित्त होती हुई वहाँ से भागना चाहती है। तथापि प्रथम मिलन के अवसर पर बाला (नव वधू) किस पुरुष के हृदय में प्रेम विस्तारित नहीं करती? अर्थात्—सभी के हृदय में प्रेम विस्तारित करती है[3] ॥ २१८ ॥ नई वहू के साथ प्रथम मिलन के अवसर पर उसकी मुग्धता (कोमलता) वश निम्नप्रकार बाह्य विलास (शृंगाररस-पूर्ण हाव-भाव-आदि चेष्टाएँ) होता है। उदाहरणार्थ—उसकी चितवन कुछ थोड़ी कटाक्ष-लीला-युक्त व भ्रुकुटियों (भौंहों) की उपक्षेप शोभा से सहित होती है और उसकी वाणी लज्जावश कुछ अस्पष्ट होती है तथा चेष्टा [अपने प्रियतम को] प्रेम-पूर्वक आलिङ्गन करने की ऐसी इच्छा-युक्त होती है, जो कि वचनों द्वारा निरूपण करने के लिए अशक्य है। इसी अवसर पर मनमें स्थित हुए प्रौढतर (विशेष शक्तिशाली) कामदेव द्वारा कुछ समय तक कटि (कमर) वस्त्र-बन्धन की दुष्टता रची गई। अर्थात्—कटिबन्धन-वस्त्र कुछ समय तक अर्गला (बेड़ा) सरीखा होकर रतिविलास सुख में बाधा-जनक हुआ[4] ॥ २१९ ॥

---

† 'विवशा' क०।

१ अनुमानालंकार। २ अनुमानालंकार। ३ अर्थान्तरन्यासालङ्कार। ४. उपमालङ्कार।

विद्लद्लकवासे कोल्लीलावतंसे नवनयनविलासे मन्मनालापहासे ।
क्षितिरमण तव स्यात् स्फारशृङ्गारलास्ये सरभसमबलास्ये कामकेली रहस्ये ॥२२०॥'

इति मामसृतमतिमहादेवीं च प्रतिपठतो मनोजकुञ्जराद्वन्दिनो वचांसि निशमयन्, किल तदाहं संजग्मे संपादितद्वितीयाश्रमदीक्षाभिषेकश्च—

करितुरङ्गमवह्निपुरोधसां तदनु दक्षिणवृत्तिभिरिङ्गितैः । जलधरानकशङ्खपिकस्वनैः श्रुतिसुखैर्ध्वनिभिश्च जयावहैः ॥२२१॥

समानन्दितमतिर्विधायात्मनस्तत्तत्रितयस्य च पट्टबन्धोत्सवमिति मधुकलोकविहितमङ्गलान्युपचर्य राज्यलक्ष्मीचिह्नानि संभाव्य च ।

अपहसितपुष्पदन्तं कुवलयकमलावबोधनादेव । अधरितसकलमहीधरमाभाति तवातपत्रमिदमेकम् ॥२२२॥
द्विषद्द्विपमदध्वंसान्मूभृतां शिरसि स्थितः । आरोहतां क्षितीशानां सिंहः सिंहासनं नृपः ॥२२३॥

हे पृथिवीनाथ ! एकान्त स्थान में नई बहू के ऐसे मुख पर आपकी कामक्रीड़ा उत्कण्ठा के साथ वेगपूर्वक होवे, जिसमें केशपाशों की स्थिति रतिविलास के कारण शिथिल हो रही है। जिसमें काम-क्रीड़ा के अवसर पर कर्णपूर (कानों के आभूषण) चंचल होरहे हैं। जिसमें नेत्रों के चेष्टित (शृङ्गाररस-पूर्ण तिरछी चितवन-आदि विलास) नवीन हैं और जिसमें अस्पष्ट शब्द-युक्त हास्य वर्तमान है एवं जिसमें प्रचुरतर (अत्यधिक) शृङ्गाररस का नृत्य होरहा है[1] ॥ २२० ॥'

हे मारिदत्त महाराज ! तदनन्तर हस्ती, अश्व (घोड़े), अग्नि और पुरोहित के दक्षिण पार्श्वभाग पर संचार करने के फलस्वरूप एवं कर्णामृतप्राय सुखद, मेघ-ध्वनि-सरीखीं नगाड़ों, शङ्खों व कोकिलाओं की ध्वनियों के श्रवण द्वारा तथा 'जय हो', 'चिरञ्जीवी हो', 'आनन्दित होओ' व 'वृद्धिंगत हो' इत्यादि जयकारी शब्दों के श्रवण से मेरा मन विशेष आल्हादित हुआ[2] ॥ २२१ ॥ तत्पश्चात् मैंने अपना और हाथी-घोड़े का तथा अमृतमती महादेवीं का पट्टबन्धोत्सव सम्पन्न (पूर्ण) किया। तदनन्तर छत्र व चमर-आदि राज्यलक्ष्मी-चिह्न स्वीकार करते हुए मैंने बन्दीजनों (स्तुतिपाठकों) द्वारा कहे हुए निम्नप्रकार माङ्गलिक श्लोक श्रवण किये—

हे राजन् ! यह प्रत्यक्षीभूत आपका अद्वितीय छत्र, जो कि कुवलय (पृथिवी-मण्डल और चन्द्रपक्ष में चन्द्रविकासी कमल-समूह) को अवबोधन (आनन्दित व प्रफुल्लित) करने के फलस्वरूप चन्द्र को तिरस्कृत करता है एवं कमला (राज्यलक्ष्मी व सूर्यपक्ष में कमल-समूह) को अवबोधन (वृद्धिंगत व प्रफुल्लित) करने से सूर्य को लज्जित करता है। इसीप्रकार जिसने समस्त महीधर (राजा और द्वितीय पक्ष में पर्वत) अधः स्थापित (तिरस्कृत) किये हैं। अर्थात्—जिसप्रकार चन्द्र व सूर्य उदयाचल के शिखर पर आरूढ़ हुए अन्य पर्वतों को अधःकृत करते हैं उसीप्रकार आपके छत्र द्वारा भी समस्त राज-समूह अधः स्थापित (तिरस्कृत) किये जाते हैं[3] ॥ २२२ ॥ ऐसे यशोधर महाराज, जो कि समस्त राजाओं में सिंह-सरीखे (महा प्रतापी) हैं; क्योंकि जिन्होंने शत्रुरूपी हाथियों का मद चूर-चूर किया है और समस्त भूभृतों (राजाओं और द्वितीय पक्ष में पर्वतों) के मस्तकों व शिखरों पर अधिष्ठान किया है राजसिंहासन पर आरूढ़ होवें[4] ॥ २२३ ॥

---

१. अत्र शृङ्गाररसः (शृङ्गाररस-प्रधानं पद्यमिदं) ।
२. जाति-अलंकार । ३. श्लिष्टोपमालंकार । ४. हेतूपमालंकार ।

मृगमदतिलकेऽस्मिन्नर्धचन्द्रावदाते जलनिधिरसनोर्वीभाजनैश्वर्यवर्ये ।
जनितसकललोकानल्पकल्पप्रमोदः क्षितिरमण ललाटे पट्टबन्धस्तवास्तु ॥२२४॥
विद्विष्टदर्पदीपार्चिर्नन्दनानिलपेशलैः । चामरैः सेव्यतां देवः श्रीकटाक्षोपहासिभिः ॥२२५॥
खड्गश्च तवायम्—लक्ष्मीविनोदकुमुदाकरचन्द्रहासः संग्रामकेलिनलिनीवनसूर्यहासः ।
विद्विष्टदैत्यमदमान्द्यहराट्टहासः कीर्तिस्त्रियास्त्रिभुवनोदरमोदहासः ॥२२६॥
मन्ये भुजामण्डलमण्डनेऽस्मिँल्लोकत्रयी तिष्ठति ते कृपाणे ।
स्थितः स्थितिं कम्पित एष कम्पं कुतोऽन्यथा नाथ करोति तस्याः ॥२२७॥
एषा मही तव करे करभाजि चापे कर्णान्तसङ्गिनि गुणे त्वयि सङ्गता श्रीः।
लक्ष्यानुवर्तिनि शरे तव देव जाते जाता न के त्वदनुवृत्तिपरा नरेन्द्राः ॥ २२८ ॥

हे पृथिवीनाथ ! आपके ऐसे मस्तक पर, जो कस्तूरि-तिलक से विभूषित और अष्टमी-चन्द्र-समान उज्वल तथा समुद्ररूप मेखला (करधोनी) वाली पृथिवी के स्थान का स्वामी होने के कारण श्रेष्ठ है, ऐसा पट्टबन्ध (राजमुकुट) मस्तकालङ्कार हुआ सुशोभित होवे, जिसने समस्त लोकों को बहुत से करोड़ों वर्ष तक आनन्द उत्पन्न किया है[1] ॥ २२४ ॥ प्रस्तुत यशोधर महाराज के ऊपर ऐसे चँमर ढोरे जावें, जो कि शत्रुओं की उत्कटतारूपी निर्धूम दीपक-ज्वालाओं को बुझानेवाली वायु से मनोहर हैं एवं लक्ष्मी के कटाक्षों का उपहास करनेवाले हैं। अर्थात्—जो लक्ष्मी के कटाक्ष-जैसे शुभ्र हैं[2] ॥ २२५ ॥ हे राजन् ! यह आपका ऐसा खड्ग, जो कि लक्ष्मी की क्रीड़ारूप कुमुद (चन्द्र-विकासी कमल) समूह को विकसित—प्रफुल्लित—करने के लिए चन्द्र-ज्योत्स्ना के सदृश है। अर्थात्—जिसप्रकार चन्द्र-किरणों द्वारा कैरव पुष्प-समूह प्रफुल्लित होते हैं उसीप्रकार आपके खड्ग से राज्यलक्ष्मी की क्रीड़ारूप कुमुद-वन विकसित व वृद्धिंगत होता है और जो युद्ध की क्रीड़ारूप कमलिनियों के वन को प्रफुल्लित करने के हेतु सूर्य-तेज है। अर्थात्—जिसप्रकार सूर्य की किरणों से कमलिनी-समूह प्रफुल्लित होता है उसीप्रकार आपके सूर्य-सदृश खड्ग से युद्ध करने की क्रीड़ारूप कमलिनियों का समूह प्रफुल्लित होता है एवं जो शत्रुरूप दानवों के मद की मन्दता (हीनता) के प्रलय (नाश) करने में रुद्र का अट्टहास है। अर्थात्—जिसप्रकार रुद्र के अट्टहास से दानवों का दर्प चूर-चूर होजाता है उसीप्रकार आपके खड्ग के दर्शन-मात्र से शत्रुरूप दानवों का मद चूर-चूर होजाता है। इसीप्रकार जो आपकी कीर्तिरूपी स्त्री का तीन लोक में प्रसार होने के कारण उत्पन्न हुए हर्ष का हास्य ही है[3] ॥ २२६ ॥ हे राजन् ! प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाले आपके ऐसे इस खड्ग (तलवार) पर, जो कि आपके बाहु-प्रदेश का आभूषण है, ऐसा मालूम पड़ता है मानों—तीन लोक निवास करते हैं। अन्यथा—यदि ऐसा नहीं है। अर्थात्—यदि इस पर तीन लोक निवास नहीं करते तो आपकी भुजाओं पर स्थित हुआ यह (खड्ग) तीन लोक की स्थिति (मर्यादा) पालन क्यों करता है ? एवं कम्पित किया हुआ यह तीन लोक को कम्पित (भयभीत) क्यों करता है ?[4] ॥ २२७ ॥ हे राजन् ! जब आप धनुष हस्त पर धारण करते हैं तब यह पृथिवी आपके अधीन होजाती है और जब आप धनुष की डोरी कानों तक खींचते हैं तब लक्ष्मी (राज्यविभूति) का आपसे मिलन होजाता है। इसीप्रकार जब आप बाण को लक्ष्य (बींधने योग्य शत्रु-आदि) के सन्मुख प्रेरित करते हो तब कौन से राजा लोग आपके सेवक नहीं होते ? अपि तु समस्त राज-समूह आपका सेवक होजाता है[5] ॥ २२८ ॥

---

१. हेतूपमालंकार। २. रूपक व उपमालंकार। ३. रूपकालंकार। ४. अनुमानालंकार।
५. सहोक्ति-अलंकार।

मन्त्रिपुरोहितमहामात्यसेनाधिपतिसखः पूर्णपात्रवायनकप्रसादसंप्रदायैः समस्तमनुरागरसोत्सर्पत्प्रमोदोत्सर्गं द्विजातिपरिजनसामन्तवर्गमाचरितगजवाजिनीराजनैः समरसंकथावरीयोभिर्विहितसर्वसन्नहनघोषणैरनन्यसामान्यजन्यार्जित-कीर्तिप्रसाधनपुनरुक्तालंकारविधिभिः सकललोकविधीयमानयशश्चन्दनवन्दनैर्निवातकवचनिचिताङ्गयष्टिभिः परश्शतैराप्त पुरुषैरपरैश्चात्मसमसंभावनैः कृपाणपाणिभिरग्रेसरैर्नरैः परिवृतः, समन्तादित्वरैरनवरतमशेषसत्त्वापहारव्यवहारघर्घरध्वनि-भिरुद्दात्तदीर्घदण्डविडम्बितदोर्दण्डमण्डलैः प्रशास्तृभिरग्रेगूभिश्च गोलधनुर्धरगोधाधिष्ठितवृत्तिभिर्वार्ताश्वैल्दक्यापण्डकपोगण्ड-चण्डालादिकादृशीकसमुत्सारणकुशलैर्विशोधितमार्गः संजातपरमोत्सवसंसर्गं 'इति पुण्यश्लोकालापहृदयालुभिः कुलवृद्धैरा-घोषितपुण्याहपरम्परः' ।

तत्पश्चात्—मंत्री, पुरोहित, प्रधानमंत्री और सेनापतिरूप मित्रों (अभीष्ट निकटवर्तियों) से विभूषित हुए मैंने समस्त ब्राह्मण-वर्ग के लिए दक्षिणा देकर आनन्दित किया और कुटुम्ब-वर्ग को वस्त्रादि लाहनक से सन्मानित कर हर्षित किया एवं सामन्तों (अधीनस्थ राजाओं) को प्रसन्नता के दान द्वारा सन्तुष्ट किया। तदनन्तर अकृत्रिम (स्वाभाविक) स्नेह की भावना से उत्पन्न हुए हर्ष के उत्साह-पूर्वक वहाँ से (महोत्सव मंडप से) राजधानी (उज्जयिनी) की ओर प्रस्थान किया।

उस समय मैं ऐसे आप्त (अङ्गरक्षा में हितैषी) पुरुषों से वेष्टित था, जिन्होंने याग हाथी (राज्याभिषेक व विवाह-दीक्षोपयोगी प्रधान हाथी) और 'विजयवैनतेय' नाम के प्रधान घोड़े की नीराजना (आरती—पूजाविशेष) विधि की थी। जो युद्ध के समीचीन वृत्तान्तों से विशेष महान् हैं। जिन्होंने समस्त सैनिकों को कवच व अस्त्र-शस्त्रादि से सुसज्जित होने की घोषणा की थी। जिन्होंने अनोखे संग्राम में प्राप्त किये हुए कीर्तिरूप आभूषण से अपना आभूषण-विधान द्विगुणित किया था। जो समस्त लोक (बालगोपाल-आदि) द्वारा गान किये जारहे यशरूप तरल चन्दन के तिलक से अलंकृत थे। अर्थात्—जिन्होंने यश को मस्तकारोपित किया था। जिनकी उत्तम शरीररूपी यष्टियाँ निविड कवचों (बख्तरों) से सुसज्जित थीं एवं जो १०० से भी अधिक थे। इसीप्रकार उस समय मैं, उत्थापित खड्ग को हस्त पर धारण करनेवाले और मेरे समान (यशोधर महाराज के सदृश) वीर ऐसे दूसरे विजयशाली पुरुषों से भी वेष्टित था। इसीप्रकार उस समय मैं ऐसे प्रशास्तृ (शिक्षादायक) पुरुषों से अलंकृत था, जो चारों ओर से यहाँ-वहाँ दौड़ रहे थे और निरन्तर समस्त प्राणियों के दूरीकरण-व्यापार में प्रवृत्त हुए कण्ठाभ्यन्तर-आवर्ती शब्द कर रहे थे। जिनके बाहुदण्ड-मण्डल उन्नत व दीर्घ (विस्तृत) दण्डों से तिरस्कृत हुए थे, अर्थात्—दीर्घ दण्डों की सदृशता रखते थे एवं उस समय मैं ऐसे अग्रगामी पुरुषों से भी वेष्टित था, जो अपने हस्तों पर गोफण और धनुष धारण किये हुए सैनिक पुरुषों से वेष्टित थे और जो कपटपूर्ण भाषण करनेवाले थे एवं जो रजस्वला स्त्रियों, नपुंसकों, विकल (हीन) अङ्गवालों व चाण्डाल-आदि देखने के अयोग्य व्यक्तियों को दूर करने में प्रवीण—कुशल—थे। उस समय उक्त पुरुषों द्वारा मेरा संचार करने का मार्ग शुद्ध किया गया था।

जिस समय मेरे महोत्सव का संगम पूर्ण हुआ उस समय पवित्र श्लोकों के कथन करने में सहृदयता रखनेवाले कुलवृद्धों द्वारा मेरी निम्नप्रकार पुण्याह-परम्परा (पवित्र दिन की श्रेणी) उच्च स्वर से उच्चारण कीगई थी।'

दधिदूर्वाक्षतपुष्पचन्दनरसैर्गोरोचनालालसैर्ध्वजदीपव्यजनातपत्रमुकुरैरापूर्णकुंभोत्करैः।
विहितानन्दमहोत्सवः कुलवधूगीतप्रसाद्यैः[*शुभै-]र्नृप वाद्यैरपि जातमङ्गलरवः पायाश्चिरं मेदिनीम् ॥ २२९॥
यावद्द्यौरवनिः कुलावनिभृतः शेषः पयोराशयः सूर्यः शीतरुचिर्दिशः सुरपतिर्ब्रह्मा च सर्गैः सह।
एतेषां द्विगुणीकृतोदयजयस्तत्साम्यभाजात्मना तावत्त्वं क्षितिपाल पालय महीं जातोत्सवः कामितैः ॥ २३० ॥
योषाः सुभूषाः करिणः प्रशस्ता नराश्च रत्नाम्बरहेमहस्ताः।
तव प्रयाणे नृप संमुखाः स्युः प्रादेशनानीव महीपतीनाम् ॥ २३१॥
भूयाद्गन्धवहैः सार्धमनुलोमोऽर्कनन्दनः। तथातोद्यैः समं नन्द्याद्भविवक्त्रः कलस्वनः ॥ २३२ ॥
गजस्यास्येव शौण्डीरवदान्यद्विषतामपि। निदधातु पदं मूर्ध्नि देवः सर्वजगत्पतिः ॥ २३३ ॥
अपि च। ब्रह्मन्ब्रह्मवजैत्रमन्त्रसुभगास्तूर्णं कुरु व्याहृतीर्द्रागिन्द्र प्रहिणु द्विषां विजितये दिव्यास्त्रतन्त्रं रथम्।
दिक्पालाः पुनरेत सत्वरममी देवस्य सेवाविधावित्थं पार्थिवनाथ कत्थनपरः शङ्खध्वनिर्जृम्भताम् ॥ २३४ ॥

हे राजन्! दही, दूब, अक्षत, पुष्प, चन्दनरस, गोरोचना की लालसा-युक्त (गोरोचना-युक्त) पदार्थ, ध्वजाएँ, दीपक की लौं, पंखे, छत्र, दर्पण और जल से भरे हुए घट-समूह, इन शुभ (माङ्गलिक) वस्तुओं द्वारा किये हुए आनन्द महोत्सव शाली आप कुलवधुओं की गान-ध्वनियों द्वारा प्रसन्नीभूत वादित्रों से माङ्गलिक ध्वनि उत्पन्न किये गए चिरकाल पर्यन्त पृथ्वी का पालन करें[1] ॥ २२९ ॥ हे पृथिवी-पालक यशोधर महाराज! आप मनोवाञ्छित पदार्थों की प्राप्ति से आनन्द उत्पन्न करते हुए एवं स्वर्ग-सरीखी अपनी आत्मा के साथ इन स्वर्गादि के जयोदय से द्विगुणीभूत जयोदय-शाली हुए तब तक इस पृथिवी-मण्डल की रक्षा करो जब तक स्वर्ग, पृथिवी, कुलाचल, शेष नाग (धरणेन्द्र), समुद्र, सूर्य, चन्द्र, पूर्व व पश्चिम दिशाएँ, इन्द्र एवं तीनों लोक के साथ ब्रह्मा की स्थिति वर्तमान है[2] ॥२३०॥ हे राजन्! राजधानी के प्रति आप के गमन-प्रारम्भ के अवसर पर निम्नप्रकार की वस्तुएँ आपके सम्मुख उसप्रकार प्राप्त हों जिसप्रकार राजाओं की भेंटें आपके सम्मुख प्राप्त होती हैं। उदाहरणार्थ—सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हुईं स्त्रियाँ, प्रशस्त—सर्वश्रेष्ठ (हस्ति-शास्त्र में कहे हुए लक्षणों से विशिष्ट) हाथी, रत्न, वस्त्र और सुवर्ण को हस्तों पर धारण करनेवाले मनुष्य[3] ॥२३१॥

हे राजन्! जब आप राजधानी के प्रति प्रयाण करें तब काक वायुओं के साथ अनुलोम (अनुकूल—आपके शरीर के पीछे गमन करनेवाला) हो एवं गर्दभ भी हस्त-वाद्यों (वीणा-आदि) के साथ मधुर शब्द करनेवाला होकर आपकी समृद्धि करनेवाला हो[4] ॥ २३२ ॥ यशोधर महाराज आसमुद्रान्त पृथिवी के स्वामी होते हुए ऐसे शत्रुओं के, जो कि शौण्डीर (त्याग और पराक्रम के कारण ख्याति-प्राप्त) और मधुर वचन बोलनेवाले हैं, मस्तक पर अपना चरण उसप्रकार स्थापित करें जिसप्रकार हाथी के मस्तक पर चरण स्थापित करते हैं[5] ॥ २३३ ॥

हे राजाधिराज श्रीयशोधरमहाराज! प्रस्तुत अवसर पर ऐसी शङ्खध्वनि (शङ्खनाद) विस्तृत हो, जो कि ऐसी मालूम पड़ती है—मानों—निम्नप्रकार सूचना देने में तत्पर हुई है—

'हे विधाता (ब्रह्मा)! तुम शीघ्र ही ऐसीं वेदध्वनियाँ करो, जो कि संग्राम-भूमि पर जयनशील मन्त्रों से हृदय-प्रिय हैं। हे इन्द्र! तुम शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त करने के हेतु

* अयं कोष्ठाङ्कितपाठोऽस्माभिः परिवर्तितः। मु० प्रतौ तु 'इभैः' अशुद्धपाठः। ह० लि० मू० व सटि० प्रतिषु मुद्रितप्रतिवत्पाठः —सम्पादकः

१. समुच्चयालंकार। २. दीपकालंकार। ३. उपमालंकार। ४. सहोक्ति-अलंकार। ५. उपमालंकार।

उत्तालैः कर्णतालैः किमिदमिति मनोव्याकुलं दिक्करीन्द्रैः प्रत्याक्षिप्तार्वगर्वस्खलितकरयुगं सादिना भास्करस्य ।
सद्यः संत्रस्तकान्तापरिचयचटुलैर्यः श्रुतः सिद्धसार्थैः स स्तात्दिक्पालसेवावसरविधिकरस्तूरघोषस्तवायम् ॥२३५॥

पुलोमात्मजानुगतः सुरपतिरिवैरावणं तथामृतमतिमहादेव्या सहारुह्य तं कुञ्जरेश्वरममरतरुप्रसूनमञ्जरीभिरिवोभयतः कामिनीकरवलयमणिमरीचिमेचकरुचिभिश्चामरपरम्पराभिरुपसेव्यमानः कौमुदीचन्द्रमण्डलविलासिनातपत्राभोगेनाम्बरसरसि परिकल्पितापरापरप्रदेशोद्दण्डपुण्डरीकानीकः सेवागतानेकमहासामन्तमुकुटमाणिक्योन्मुखमयूखजोखरिताञ्चल-

शीघ्र ही ऐसा रथ प्रेषित करो, जिसमें दिव्य (देवताधिष्ठित) आयुधों का * तन्त्र (साधन) वर्तमान है। हे प्रत्यक्षीभूत दिक्पालो ! तुम सब श्रीयशोधरमहाराज की सेवा विधि के हेतु बारम्बार शीघ्र आओ[1] ॥ २३४ ॥

हे राजन् ! वह जगत्प्रसिद्ध व प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाली आपकी ऐसी वाद्य-(बाजों) ध्वनि राजाओं की सेवा का अवसर-विधान सूचित करनेवाली होवे, जो दिग्गजेन्द्रों द्वारा उत्कण्ठित हुए कर्णरूप तालपत्रों से 'यह क्या गरज रहा है ?' इसप्रकार व्याकुल (विह्वल) मनपूर्वक श्रवण की गई है। इसीप्रकार जो सूर्य-सारथि द्वारा (पूर्व में) विध्वंस किये हुये सप्ताश्वों (सूर्य के घोड़ों) के गर्व से स्खलित (लगाम न खींचनेवाले) हस्तयुगल पूर्वक श्रवण की गई थी। भावार्थ—पूर्व में सूर्य-सारथि ने सूर्य के घोड़ों की लगाम दोनों हाथों द्वारा खींची थी और बार-बार ऐसा करने से उसने उनका तेजी से भागने का मद चूर-चूर कर दिया था, अतः उक्त बात (अब ये तेजी से नहीं भागेंगे) जानकर उसने प्रस्तुत यशोधर महाराज की वादित्र-ध्वनि के श्रवण के अवसर पर सूर्य के घोड़ों की लगाम दोनों हाथों द्वारा नहीं खींची, क्योंकि उसका मन प्रस्तुत वाद्य-ध्वनि के श्रवण में आसक्त हो रहा था। निष्कर्ष—उक्त वाद्य-ध्वनि के श्रवण के अवसर पर सूर्य-सारथि भागनेवाले सूर्य के घोड़ों को अपने दोनों हाथों से रोकने में समर्थ न होकर उस वाद्य-ध्वनि को निश्चल मनपूर्वक श्रवण कर रहा था। इसीप्रकार जो (वाद्य-ध्वनि) ऐसे विद्याधर-समूहों द्वारा श्रवण की गई थी, जो कि तत्काल भयभीत हुई देवियों का संगम हो जाने के कारण भागने के लिये चञ्चलता कर रहे थे[2] ॥ २३५ ॥

अथानन्तर उक्त अभिषेक मण्डप से राजधानी की ओर वापिस लौटते समय मैं उस अमृतमति महादेवी के साथ, जो कि 'श्रीमती' नाम की रानी के पति 'श्री वर्मा' राजा की सुपुत्री थी, उस 'उदयगिरि' नाम के श्रेष्ठ हाथी पर उसप्रकार आरूढ़ था जिसप्रकार इन्द्र इन्द्राणी सहित ऐरावत हाथी पर आरूढ़ होता है। उस समय मैं हस्ती पर आरूढ़ हुई कमनीय कामिनियों द्वारा दोनों पार्श्व-भागों (दाईं व बाईं ओर) से ऐसे चँमर-समूहों से ढोरा जारहा था। अर्थात्—कमनीय कामिनियाँ मेरे शिर पर ऐसी चँमर-श्रेणियाँ ढोर रहीं थीं, जो कि कल्पवृक्ष की पुष्प-मञ्जरियों-सरीखीं शुभ्र व मनोज्ञ थीं एवं जिनकी कान्ति कमनीय कामिनियों के हस्त-कङ्कणों की रत्न-किरणों से मेचक[3] (श्याम) होरही थी। इसीप्रकार उस अवसर पर मेरे शिर पर शोभायमान होनेवाले छत्र-विस्तार से ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—मैंने आकाशरूपी तालाव में सर्वत्र उन्नत श्वेत कमल-समूह की रचना की है और जो (विस्तृत छत्र) उसप्रकार शोभायमान हो रहा था जिसप्रकार चाँदनी-सहित चन्द्रमण्डल शोभायमान होता है।

*. उक्तं च—'तन्त्रं शास्त्रं कुलं तन्त्रं तन्त्रं सिद्धौषधिक्रिया। तन्त्रं सुखं बलं तन्त्रं तन्त्रं पाठनसाधनम् ॥'
१. उत्प्रेक्षालङ्कार। यश० सं० टी० पृ० ३३४ से सङ्कलित—सम्पादक
२. हेतु-अलंकार। ३. उक्तं च—'कृष्णेऽन्धकारे मायूरचन्द्रके श्यामलेऽपि च। मेचकः कथ्यते विद्भिश्चतुर्ष्वर्थेषु योजितः ॥ १ ॥ सं० टी० पृ० ३३५ से संकलित—सम्पादक

पल्लवैर्विचित्ररत्नरचिकाण्डकोटिभिः विविधाकृतिपताकादुकूलैरपरामिव दिवं भुवं चान्तरा त्रिदिवद्रुमोद्यानश्रियं विस्तारयन् जय जीव राज नन्द वर्धस्वेत्यादिबन्दिवृन्दालापबहलमूलेन वेणुवीणानुगताङ्गनागीतपल्लवितवृत्तिना खलखल-लीनाननहयहेषाघोषघस्मरेण मदमन्दिमोद्गुमरगण्डमण्डलशुण्डालगलनालनादसान्द्रभुतिना दिक्पालपुरप्रासादपालीप्रवेश-मांसलेन वेलाचलकुलगुहासङ्गसंजातमन्थरिम्णा प्रक्षोभितामभोधिनाभीनां दुन्दुभीनां स्वनेनानन्दितनिखिलभुवनस्तां मन्दाक्षितामरावतीरामणीयकां राजधानीमनु किल तदहं प्रत्यावृते।

ततः* सैन्यसीमन्तिनीचरणप्रणिपातप्रणयिमानसाप्रणीतप्रसृतासंवाहनविनोदकर्माणः कृतनितम्बस्थलीखेलखेदाः

उस समय फहराई जानेवालीं नाना-भाँति कीं ध्वजाओं के ऐसे वस्त्रों से मैं ऐसा प्रतीत हो रहा था—मानों—मैंने आकाश और पृथिवी-मण्डल के मध्य अनोखे कल्पवृक्ष-वन की लक्ष्मी (शोभा) ही विस्तारित की है और जिनके वस्त्र-प्रान्तभागरूप पल्लव (प्रवाल), मेरी सेवा के लिए आये हुए अनेक महासामन्तों (अधीन में रहनेवाले राजाओं) के मुकुटों में जड़े हुए रत्नों की ऊपर फैलनेवाली किरणों से मुकुट-शाली किये गये थे एवं जिनके (सुवर्णमयी) दंडों के अग्रभागों पर श्वेत, पीत, हरित, लाल और श्याम-आदि नाना-प्रकार के रत्न जड़े हुए थे। उक्त अवसर पर मैंने समुद्र का मध्य-प्रदेश संचालित करनेवालीं दुन्दुभियों (भेरियों) की ऐसी ध्वनि से समस्त पृथिवी मण्डलवर्ती जनसमूह आनन्दित किया था, जिसका (ध्वनि का) मूल (प्रथम आरम्भ), स्तुतिपाठक-समूहों के निम्नप्रकार आशीर्वाद-युक्त वचनों से, "हे राजन् ! आपकी जय हो, हे राजाधिराज ! आप दीर्घायु, और दीप्तिमान् हों एवं समृद्धि-शाली होते हुए पुत्र-पौत्रादि कुटुम्बियों से और धन व धान्यादि से वृद्धिंगत हों", स्थूल होरहा था। जिसकी मूर्च्छना वेणु (बाँसरी) और वीणाओं की ध्वनियों से मिश्रित हुए स्त्रियों के गीतों से वृद्धिंगत होरही थी। जो क्षुब्ध (हिलनेवालीं या खींची जानेवालीं) लगामों से व्याप्त मुखवाले घोड़ों की हिनहिनाने की ध्वनियाँ (शब्द) भक्षण (लुप्त) करता है। जिनका (दुन्दुभि बाजों—भेरियों—का) शब्द प्रवाहित हुए मद (दानजल) की अधिकता से व्याप्त उत्कृष्ट गण्डस्थलवाले हाथियों के गले की नाल (नाड़ी) अथवा गलरूपी नाल (कमल की डांडी) से उत्पन्न हुई चिंघारने की ध्वनियों द्वारा द्विगुणित होगया था और जो इन्द्रादिकों के नगर (स्वर्ग) वर्ती मन्दिरों की वेदियों के मध्य में प्रवेश करने से स्थूल था एवं समुद्र के तटवर्ती पर्वत-समूह की गुफाओं के मध्य-देश से उत्पन्न हुई अधिकता से व्याप्त था।

उक्त भेरी-आदि के शब्दों से समस्त पृथिवी-मण्डल को आनन्दित करता हुआ मैं उक्त अभिषेक मंडप से इन्द्रनगरी अमरावती की मनोज्ञता को लज्जित करनेवाली रमणीयता-युक्त राजधानी (उज्जयिनी) की ओर वापिस लौटा।

तदनन्तर मेरी सेना के प्रस्थान करने से उत्पन्न हुईं ऐसीं धूलियाँ प्रसृत हुईं (फैलीं), जिन्होंने ऐसा पाद-संमर्दनरूप क्रीड़ाकर्म किया था, जो सेनारूप कमनीय कामिनियों के पाद-स्पर्श करने पर स्नेह-युक्त चित्तों से किया जाकर वृद्धिंगत होरहा था। इसलिये जो (धूलियाँ) संभोग-क्रीड़ा के अवसर को सूचित करनेवाले स्त्रियों के पति-सरीखीं थीं। अर्थात्—जिसप्रकार रतिविलास के अवसर पर स्त्रियों के पति शुरु में उनका पाद-स्पर्श करते हैं उसीप्रकार धूलियाँ भी सेना का पाद-स्पर्श करती हैं—उड़ती हुई पैरों पर लगतीं हैं। अथवा पाठान्तर में जो (सैन्य-संचारोत्पन्न धूलियाँ) सेनारूप कमनीय कामिनियों के पाद-पतन में स्नेहयुक्त और जङ्घामर्दन का क्रीड़ा कर्म करनेवाली हैं। जिन्होंने नितम्ब-स्थलियों (कमर के पश्चात्

*. 'सैन्यसीमन्तिनीनां चरणप्रणिपातप्रणयिनः प्रणीतप्रसृतासंवाहनविनोदकर्माण:' क०।

संजनितनाभिविवरकुहरविहरणाः प्रतिपन्नवलिवाहिनीजलक्रीडाः परिमलितस्तनस्तम्बाडम्बराः परिपीताधरामृतलावण्याः परिक्लिष्टनयनकमलकान्तयः समाचरितसीमन्तप्रान्तचुम्बनाः सूत्रितसुरतसमागमाः प्रियतमा इव, पुनरमरसुन्दरीवदनचन्द्रकवलाः ककुबङ्गनालकप्रसाधनपिष्टातकचूर्णाश्चतुरुदधि[1]वेलावनदेवतापटवासाः पुनरुक्तदिक्करटिपांसुप्रमाथाः परिकल्पितधूर्जटिजटोद्धूलनारम्भाः कुलशैलशिखण्डिमंडनकदम्बमकरन्दाः पलिताङ्कुरिताम्बरचरकामिनीकुन्तलकलापाः प्रधूसरितरविरथतुरगकेसराः स्तिमितगगनापगापयःप्रवाहाः सकलदिक्पालमौलिमणिमयूखप्रसरनिरसननीहाराः पाण्डुरितारातिकुलविलासिनीगण्डमंडलाः प्रदर्शितागामिविरहानल*धूमोद्गमकलापा इव निखिलरोदोन्तरालमवनिमयसर्गसृष्टमिव कर्तुमावृत्ता व्यजृम्भन्त केतकीप्रसवपरागस्पर्धिनो बलसंचरणरेणवः।

भाग-प्रदेशों) पर क्रीड़ाओं द्वारा उसप्रकार खेद उत्पन्न किया था जिसप्रकार संभोग क्रीड़ा के अवसर पर स्त्रियों के पति उनकी नितम्ब-स्थलियों से क्रीड़ा करके उनको खेद उत्पन्न करते हैं। जिन्होंने नाभिविवर (छिद्र) रूप गुफाओं पर उसप्रकार विहार उत्पन्न किया था जिसप्रकार रतिविलास के इच्छुक भर्ता लोग स्त्रियों की नाभि-विवररूप गुफाओं पर विहार करते हैं। जिन्होंने त्रिवलीरूपी नदियों में उसप्रकार जलक्रीड़ा की है जिसप्रकार रतिविलास के अवसर पर स्त्रियों के पति त्रिवलीरूपी नदियों में जलक्रीड़ा करते हैं। जिन्होंने कुच (स्तन) तटों के आडम्बर (विस्तार) अर्थात्—विस्तृत स्तनतट उसप्रकार मर्दन (धूलि-धूसरित) किये हैं जिसप्रकार संभोगक्रीड़ा का अवसर सूचित करनेवाले भर्ता लोग कमनीय कामिनियों के विस्तृत—पीन (कठिन) स्तन तटों का मर्दन करते हैं। जिन्होंने ओष्ठरूप अमृत-कान्ति का उसप्रकार आस्वादन किया है जिसप्रकार रतिविलासी भर्ता लोग कामिनियों के ओष्ठामृत की कान्ति का पान करते हैं। जिन्होंने नेत्ररूप कमलों की कान्ति उसप्रकार मलिन की है जिसप्रकार संभोग के इच्छुक विलासी पति स्त्रियों के नेत्ररूप कमलों की कान्ति नेत्र-चुम्बन द्वारा मलिन करते हैं। जिन्होंने केशपाशों का चुम्बन (स्पर्श) उसप्रकार अच्छी तरह से किया था जिसप्रकार संभोग-क्रीड़ा के अवसर पर भर्ता लोग रमणियों के केशपाशों का चुम्बन (स्पर्श या मुख-संयोग) करते हैं।

फिर कैसी हैं वे सैन्य-संचार से उत्पन्न हुई धूलियाँ? जो बार-बार देवियों के मुखचन्द्र को [रोली-सरीखीं] विभूषित करती हैं। जो दिशारूपी कमनीय कामिनी के केशपाशों को सुगन्धित करने के लिए सुगन्धि चूर्ण-सरीखीं हैं एवं जिसप्रकार पटवास (वस्त्रों को सुगन्धि करनेवाला चूर्ण) वस्त्रों को सुगन्धित करता है उसीप्रकार प्रस्तुत धूलियाँ भी चारों समुद्रों के तटवर्ती वनों में निवास करनेवाली देवियों को सुगन्धित करतीं थीं। जिन्होंने दिग्गजों का धूलि-उत्क्षेपण (फैंकना) द्विगुणित किया है। जिन्होंने श्रीमहादेव की जटाओं को धूलि-धूसरित करने का प्रारम्भ चारों ओर से किया है। जो कुन्दपुष्परस-सरीखीं कुलाचलों के शिखर मण्डित (विभूषित) करती हैं। जिन्होंने देवियों और विद्याधरियों के केश-समूह शुभ्र किये हैं। जिन्होंने सूर्य-रथ के घोड़ों के केसर (स्कन्ध-केश) प्रधूसरित (कुछ शुभ्र) किये हैं। जिन्होंने आकाशनदी के जलपूर अल्प किये हैं। जो समस्त इन्द्रादिकों के मुकुट-रत्नों की किरण-प्रवृत्ति को निराकरण करने में वर्फ-सरीखीं हैं। अर्थात्—जिसप्रकार वर्फ वस्तुओं को उज्वल (शुभ्र) करता है उसीप्रकार धूलियाँ भी इन्द्रादि के मुकुट-रत्नों का किरण-विस्तार शुभ्र करतीं हैं। जिनके द्वारा शत्रु-समूहों एवं कमनीय कामिनियों के गालों के स्थल

---

1. 'वेलाचलवनदेवता' क०

* धूमोद्गमकला इव' क०। A 'उत्थान'। B 'रेखा' टिप्पण्यां।

पुनः करिकदलिकानिकर ‡ निरस्तातपप्रसराः परस्परमिलत्पताकापटप्रतानविहितवितानाडम्बराः ससंरंभसंचरद्रथकट्योड्डमरपांसवः करटिकटस्यन्दमानमदजलजनितकर्दमास्तुरगवेगखरखुरक्षोदनिबिडभूमयः करभक्रमसंपातमसृणतलाः पदश्रमश्रांतसीमन्तिनीघनघर्मजलगलद्घुसृणरसप्रसाधितसंमार्जनाः सेनाङ्गनास्तनक्षोभविभ्रश्यन्मुक्ताभरणमणिरचित *रङ्गवल्याः पुरोपवनदेवताप्रकीर्णकुसुमोपहाराः समजनिषत सभाकुट्टिमादपि मनोहराः प्रयाणमार्गाः।

ततोऽतिसविधसैन्यसमालोकनोत्तालविलासिनीसंकुलसौधशृङ्गमावर्जितोत्सवसपर्यासङ्गमपहसितसुरमंदिरं पुरमवलोक्य हंहो महाकविकाव्यकथावतंस सरस्वतीविलासमानसोत्तंसहंस प्रादुरासन् किल तदा मन्मतिलतायास्त्वादृशजनश्रवणभूषणोचितविषयः † सूक्तिमञ्जर्यः। तथाहि—

शुभ्र किये गये हैं। जो ऐसी प्रतीत होती थीं—मानों—जिन्होंने भविष्य में होनेवाली विरह रूप अग्नि की धूमोत्पत्ति के समूह ही प्रकट किये हैं और जो ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों—समस्त आकाश और पृथिवी के मध्यभाग में पृथिवी मण्डलमयी सृष्टि की रचना करने के लिए प्रवृत्त हुई हैं[1]।

अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज! राजधानी (उज्जयिनी) की ओर प्रस्थान करने के अवसर पर मेरे ऐसे गमन-मार्ग उस सभा-मण्डप की कृत्रिम (बनी हुई) बद्धभूमि से भी अधिक मनोहर हुए, जिनमें हाथियों के ऊपर स्थित हुए मयूर-पिच्छों के छत्र-समूहों से गर्मी-प्रवृत्ति नष्ट कर दी गई थी। परस्पर मिलनेवालीं ध्वजाओं के वस्त्र-समूहों से जहाँपर विस्तृत चँदेवे रचे गये थे। जिनमें वेगपूर्वक संचार करते हुये रथ-समूहों से उत्पन्न हुई उत्कट धूलियाँ वर्तमान थीं। जहाँपर हाथियों के गण्डस्थलों से प्रवाहित होनेवाले मदजलों द्वारा कर्दम (कीचड़) उत्पन्न की गई थी। जिनकी भूमि घोड़ों के वेगशाली व लोहटङ्क-सरीखे कठिन खुरों (टापों) के स्थापन या संघर्षण से निविड़ थी। ऊँटो के पाद-पतन से जिनके तल (उपरितन-भाग) दर्पण-सदृश सचिक्कण थे।

जिन प्रयाण-मार्गों पर ऐसे तरल कुङ्कुम का छिड़काव किया गया था, जो कि मार्ग चलने के परिश्रम से खेद-खिन्न हुई नवयुवतियों के घने स्वेद-जल विन्दुओं से नीचे गिर रहा है। सेना की स्त्रियों के कुच-कलशों (स्तनों) के संघट्टन से टूटकर नीचे गिरते हुये मोतियों व सुवर्णमयी आभूषणों के रत्न-समूहों से जहाँपर रंगावली (चतुष्क-पूरण) की गई थी एवं नगर सम्बन्धी बगीचों के वन-देवताओं द्वारा जहाँपर पुष्प-समूह बखेरे गये थे अथवा पुष्प-राशि भेंट दी गई थी[2]।

अथानन्तर महाकवियों की काव्य-रचनारूपी कर्णपूर से विभूपित व सरस्वती की क्रीड़ारूपी मानसरोवर के तीरवर्ती हँस[3] अथवा टिप्पणीकार के अभिप्राय से सरस्वती की क्रीड़ारूपी कमल-वन को विकसित करने हेतु हंस (सूर्य) सरीखे ऐसे हे मारिदत्त महाराज! जब मैंने ऐसी उज्जयिनी नगरी देखी, जिसके महलों के शिखर, अत्यन्त निकटवर्ती सेनाओं के देखने में उत्कण्ठित हुई मत्त[4] कामिनियों (रूपवती व युवती रमणियों) से व्याप्त थे और जिसमें ध्वजारोपण-आदि उत्सव-शोभा का संगम किया गया था एवं जिसने अपनी लक्ष्मी द्वारा इन्द्र-भवन तिरस्कृत (लज्जित) किये थे तब निश्चय से मेरी

A

‡. 'निखिल' क०। * 'रङ्गावलयः' क०। A 'चतुष्क' इति टिप्पणी। † सूक्तिमञ्जरयः' इति क० ग०। वल्लरिर्मञ्जरिः स्त्रियां' इति कोशप्रामाण्याद्ध्रस्वान्तोऽपि मञ्जरिशब्दः। मु० प्रति से संकलित—सम्पादक।

१. रूपकप्राय-अलंकार। २. जाति-अलंकार।

३. उक्तं च—'आत्मा पक्षी मुनिर्धर्मसुरगोरावणो रविः। हंस इत्युच्यते विद्भिरेने कार्यविचक्षणैः॥'

४. उक्तं च—'रूपयौवनसम्पन्ना नारी स्यान्मत्तकामिनी'। यश० की सं० टी० पृ० ३४१ से संकलित—सम्पादक

नितम्बशोभां बकमीर्विधाय काञ्चीगुणं तोरणपुष्पमालाः ।
ध्वजावलीलोलभुजाः स्वयं मे पुरः पुरी नृत्तमिवातनोति ॥२३६॥
सौधाग्रभागेषु पुराङ्गनानां नीलोत्पलस्पर्धिभिरीक्षणैर्मे ।
आनन्दभावादियमम्बरश्रीः पुष्पोपहाराय कृतादरेव ॥२३७॥
गवाक्षमार्गेषु विलासिनीनां विलोचनैर्मौक्तिकबिम्बकान्तैः ।
संदर्भितेयं नगरी चकास्ति नक्षत्रकीर्णेव सुमेरुभूमिः ॥२३८॥
अमी पुरंध्रीवदनैः प्रकामं वातायनाः पूरितरन्ध्रभागाः ।
श्रियं वहन्तीव सरःस्थलीनां वीचीविभक्ताम्बुज*षण्डभाजाम् ॥२३९॥

मनोभवव्यालप्रबोधसुधोपलासारसुन्दरैः कामदेवप्रासादसंपादनसूत्रपातकान्तिभिः प्रणयकलहंसक्रीडनमृणालजालै-रिवापाङ्गावलोकितैः, पुनरुक्तेनेव लाजाञ्जलिवर्षेणात्मानं फलार्थिनो लोकस्य कुसुमितमिव कुर्वन्नम्बरश्रीनृत्यहस्तैरिव पवमानचञ्चलचलनलंगताङ्गमुभगवृत्तिभिर्विविवर्गविनिर्मागमनोहराडम्बरै†रन्तरान्तरामुक्तकलक्वणन्मणिकिङ्किणीजालमालाभिः

वल्ली से ऐसीं मनोज्ञ वचनरूपी मञ्जरियाँ उत्पन्न हुईं, जो कि आप-सरीखे राजाओं के कानों को विभूषित करने में योग्य कर्तव्यवालीं हैं।

सूक्तिमञ्जरियों—मनोज्ञवाणीरूप-मञ्जरियों—द्वारा उज्जयिनी का निरूपण—

छज्जारूपी नितम्ब (कमर के पीछे का भाग) शोभा धारण करनेवाली और तोरणों की पुष्पमालारूपी मेखला (करधोनी) से अलङ्कृत हुई तथा ध्वजा-श्रेणीरूपी चञ्चल भुजाओं (बाहुओं) की रचना करनेवाली वह उज्जयिनी नगरी उस अवसर पर ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—मेरे समक्ष स्वयं नृत्य विस्तारित कर रही है[1] ॥२३६॥ उस अवसर पर यह प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाली आकाशलक्ष्मी विशेष हर्ष-वश महलों के अग्रभागों पर स्थित हुई नगर की कमनीय कामिनियों के नील कमलों को तिरस्कृत करनेवाले—नीलकमल-सरीखे—नेत्रों से ऐसी मालूम पड़ती थी—मानों—वह मेरे ऊपर पुष्पवृष्टि करने के हेतु मेरा आदर कर रही है[2] ॥ २३७ ॥

यह नगरी झरोखों के मार्गों से झाँकनेवालीं कमनीय कामिनियों के मोतियों के प्रतिबिम्बों से मनोज्ञ प्रतीत होनेवाले नेत्रों से संयुक्त हुई उसप्रकार शोभायमान होरही थी जिसप्रकार तारामण्डल से विभूषित हुई सुमेरुपर्वत-भूमि शोभायमान होती है[3] ॥ २३८ ॥ उस अवसर पर कमनीय कामिनियों के मुखों से यथेष्ट आच्छादित प्रदेशोंवाले झरोखों के मार्ग उसप्रकार की शोभा धारण कर रहे थे जिसप्रकार तरङ्ग-श्रेणियों द्वारा स्थापित किए हुए कमल-समूहों का आश्रय करनेवालीं सरोवर-स्थलियाँ शोभायमान होतीं हैं[4] ॥ २३९ ॥

तत्पश्चात्—मैं ऐसीं कटाक्षपूर्ण चितवनों से, जो कि कामदेवरूपी कालसर्प को जागृत करने के लिए चन्द्रकान्त मणियों की वेगपूर्ण वर्षा-सरीखीं शुभ्र व मनोज्ञ थीं एवं जो कामदेवरूपी महल को उत्पन्न करने के लिए सूत्रारोपण-सरीखी (कामोत्पादक व सूत-सीं शुभ्र) थीं और जो स्नेहरूपी राजहंस की क्रीडा-हेतु मृणालश्रेणी-सरीखीं थीं, द्विगुणित (दुगुनी) की हुई-सरीखीं लाजाञ्जलियों

---

*'खण्डभाजाम्' क०। A'वन' इति टिप्पणी।

†. 'रन्तरान्तरामुक्तकलक्षणमणिकिंकिंणीजालमालाभिः' क०। A 'मध्ये मध्ये'। B 'धारिभिर्मालावद्भिर्वा' इति टिप्पणी।

१. रूपक व-उत्प्रेक्षा-अलंकार। २. उपमा व उत्प्रेक्षालंकार। ३. उपमालंकार। ४. उपमालंकार।

महोत्सवपताकांशुकाञ्चलपल्लवैः प्रत्यावर्तमानमार्तण्डकरप्रसरम्, गगनलक्ष्मीवक्षोजमण्डलैरिव स्वकीयकान्तिपिञ्जरित*नभोभोगभित्तिभिः काञ्चनकलशैः परिकल्पिताभ्रंलिहशिखरिशिखरपरम्पराशोभम्, त्रिदिवदीर्घिकातरङ्गैरिवेतस्ततः प्रभावद्भिः सुधादीधितिप्रबन्धैर्धवलिताखिलदिग्वलयम्, अहीश्वरवेश्मदेवताविलासदोलाभिरिव रत्नमयस्तम्भावलम्बित†मुक्ताप्रलम्बप्रबलप्रवालानेकदिव्यदुकूलसंदोहाभिरुपरितनदेशोत्तम्भितध्वजप्रान्तप्रोतमरकतमणिमुकुरन्दकिरणहरिताङ्कुरप्रलोभमन्दितद्युमणिरथतुरगवेगाभिरुत्तुङ्गोत्तरङ्गतोरणश्रेणिकभिः प्रकाशितकुबेरपुरीरामणीयकावतारम्, महामण्डलेश्वरैरनवरतमुपायनीकृतकरीन्द्रमदलक्ष्मीजनित-

(माङ्गलिक अक्षतों) की वृष्टि द्वारा फलों (आम्र-आदि) के इच्छुक लोक (जनता) के लिए अपने को पुष्पशाली करता हुआ ऐसे 'त्रिभुवन तिलक' नाम के राजमहल में प्राप्त हुआ, जिसमें (राजमहल में) महोत्सव संबंधी ऐसे ध्वजा-वस्त्रों के प्रान्तभागरूपी पल्लवों द्वारा सूर्य की किरण-प्रवृत्ति पराङ्मुख (दूर) की जारही है। जो (ध्वजा-वस्त्र-प्रान्तपल्लव) ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—आकाशलक्ष्मी के नृत्य करते हुए हस्त ही है। जिनकी प्रवृत्ति वायु के चंचल संचारवाले अङ्गों से विशेष मनोहर है और जिनका विस्तार पंच वर्णों (हरित व पीत-आदि) की रचना के कारण रमणीक है एवं जिनके मध्य-मध्य में मधुर शब्द करती हुई रत्नजड़ित सुवर्णमयी क्षुद्र (छोटी) घण्टियों की श्रेणी बँधी हुई थी।

फिर कैसा है वह 'त्रिभुवनतिलक' नाम का राजभवन? जिसकी उच्च शिखरों पर ऐसे सुवर्ण-कलश, जिन्होंने अपनी कान्तियों द्वारा आकाशप्रदेश-भित्तियाँ पिञ्जरित (पीत-रक्तवर्णवाली) की हैं, इससे जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानों—आकाशलक्ष्मी के कुच-(स्तन) मण्डल ही है, स्थापित किये हुए थे, जिनसे वह ऐसा प्रतीत होता था—मानों—जहाँपर आकाश को स्पर्श करनेवाले (अत्यन्त ऊँचे) पर्वतों की शिखर-श्रेणियों की शोभा उत्पन्न की गई है। गङ्गानदी की तरङ्गों के सदृश शुभ्र और यहाँ-वहाँ फैलनेवाले चूना-आदि श्वेत पदार्थों की किरणों के विस्तार-समूहों से जिसने समस्त दिशाओं के मण्डल उज्वल किये थे। जिसने ऐसीं ऊँचीं व उत्तरङ्ग तोरण-श्रेणियों द्वारा कुवेर-संबंधी अलकानगरी की अत्यन्त मनोहर विशेष रचना प्रकट की थी। जो (तोरण-श्रेणियाँ) ऐसी प्रतीत होतीं थीं—मानों—शेषनाग की गृहदेवता के क्रीड़ा करने के भूले ही हैं। जिनमें रत्न-घटित स्तम्भों पर लटकीं हुईं मोतियों की विस्तृत मालाएँ तथा स्थूल प्रवाल (मूँगे) एवं अनेक दिव्य (अनोखे व स्वर्गीय) वस्त्रसमूह वर्तमान थे एवं जिनके प्रान्तभागों पर ध्वजाएँ बँधी हुई थी और उनके प्रान्तभागों पर स्थित हुए मरकत मणियों (हरित मणियों) रूपी दर्पणों की किरणरूप हरितांकुरों (दूब) के लोभ से आये हुए सूर्य-रथ के घोड़ों का वेग जिन्होंने अल्प कर दिया था।

भावार्थ—क्योंकि सूर्य-रथ के घोड़ों को ध्वजाओं के प्रान्तभागों पर स्थित हुए हरित मणिमयी दर्पणों की फैलनेवाली किरणों में हरिताङ्कुरों (दूब—हरीघास) की भ्रान्ति होजाती थी, अतः वहाँ रुक जाते थे।

फिर कैसा है वह 'त्रिभुवनतिलक' नाम का राजमहल? महामण्डलेश्वर राजाओं द्वारा निरन्तर भेंट-हेतु लाये हुए श्रेष्ठ हाथियों के गण्डस्थल-आदि स्थानों से प्रवाहित होनेवाली मदजल की लक्ष्मीरूप संपत्ति द्वारा जहाँपर छिटकाव उत्पन्न किया गया है। इसीप्रकार जहाँपर भेंट-हेतु आये हुए कुलीन घोड़ों के मुखों से उगली हुई फेनराशिरूपी श्वेतकमलों से पूजा की गई है और दूसरे राजाओं द्वारा भेजे हुए अनेक दूतों के हस्तों पर स्थापित की हुई प्रचुर वस्तुएँ (रत्न, सुवर्ण व रेशमी वस्त्र-आदि) द्वारा

*. 'नभोभागभित्तिभिः' क०। †. 'मुक्ताप्रालम्बप्रबलद्युमणिरथवेगतुरगवेगाभिः' क०।

संमार्जनम्, *उपाहृताजानेयहयाननोद्गीर्णडिण्डीरपिण्डपुण्डरीकविहितोपहारम्, अनेकप्रहितदूतहस्तविन्यस्तवस्तुविरचितरङ्गार्चनम्, अवसर्पितवारविलासिनीसंचरणवाचालतुलाकोटिक्वणिताकुलितविनोदवारलम् ।

किं च । प्रजापतिपुरमिवाप्यदुर्वासोधिष्ठितम्, पुरंदरागारमिवाप्यपारिजातम्, चित्रभानुभवनमिवाप्यधूमश्यामलम्, धर्मधाम इवाप्यदुरीहितव्यवहारम्, पुण्यजनावासमिवाप्यराक्षसभावम्, प्रचेतःपस्त्यमिवाप्यजडाशयम्, वातोद्वसितमिवाप्य-

---

जहाँपर अग्रभूमि या रङ्गमण्डप की पूजा की गई है तथा जहाँपर चारों ओर फैली हुई वेश्याओं के प्रवेश से मधुर शब्द करते हुए नूपुरों के मधुर शब्दों (झनकारों) द्वारा क्रीड़ा करनेवालीं राजहंसियाँ व्याकुलित की गई हैं।

प्रस्तुत 'त्रिभुवनतिलक' नाम के राजभवन में विशेषता यह थी कि वह निश्चय से ब्रह्मनगर के समान मनोज्ञ होता हुआ दुर्वास (दुर्वासा-आदि ऋषियों) से अधिष्ठित नहीं था। यहाँपर विरोध प्रतीत होता हैं, क्योंकि जो ब्रह्मनगर (स्वर्ग) जैसा मनोज्ञ होगा, वह दुर्वासा-आदि ऋषियों से युक्त नहीं था, यह कैसे हो सकता है ? अतः इसका परिहार यह है कि जो ब्रह्मनगर (स्वर्ग) जैसा मनोज्ञ होता हुआ निश्चय से दुर्वासों (मलिन वस्त्रोंवाले मनुष्यों) से युक्त नहीं था। अर्थात्—दिव्य व उज्ज्वल वस्त्रोंवाले मानवों से अधिष्ठित था। जो इन्द्रनगर (स्वर्ग) समान रमणीक होता हुआ अ-पारिजात (कल्पवृक्षों के पुष्पों से रहित) था। यह भी विरुद्ध मालूम पड़ता है, क्योंकि जो इन्द्रनगर-जैसा मनोज्ञ होगा, वह कल्पवृक्ष के पुष्पों से रहित किसप्रकार होसकता है ? अतः समाधान यह है कि जो इन्द्रनगर-सरीखा रमणीक व निश्चयसे अप-अरि-जात – शत्रु समूह से रहित था।

इसीप्रकार जो चित्रभानुभवन—अग्नि स्थान-सरीखा—होता हुआ निश्चय से अधूमश्यामल (धूम से मलिन नहीं) था। यहाँ भी विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि जो अग्नि का निवासस्थान होगा, वह धूम की मलिनता-शून्य किसप्रकार हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो चित्र-भानु-भवन-अर्थात्—नानाप्रकार की रत्न-किरणों का स्थान होता हुआ निश्चय से अधूमश्यामल—धूम-सरीखा कृष्ण नहीं था (उज्ज्वल) था। जो धर्मधाम (यमराज-मन्दिर-) समान होकर के भी अदुरीहितव्यवहार-शाली था। अर्थात्—दुश्चेष्टा-युक्त व्यवहार से रहित था। यह भी विरुद्ध है; क्योंकि जो यमराज का गृह होगा, वह दुश्चेष्टावाले व्यवहार से शून्य कैसे होसकता है ? अतः परिहार यह है कि जो धर्मधाम (दानादिधर्म का स्थान) है और निश्चय से अदुरीहितव्यवहार (पाप-व्यवहार से शून्य) था। जो पुण्यजनावास (राक्षसों का निवास-स्थान) होकर के भी अराक्षसभाव (राक्षस पदार्थ-रहित) था। यह भी विरुद्ध मालूम पड़ता है, क्योंकि जो राक्षसों का निवास स्थान होगा, वह राक्षस-शून्य कैसे होसकता है ? इसलिए इसका समाधान यह है कि जो पुण्यजनावास (पुण्य से पवित्र हुए लोगों का निवास स्थान) था और निश्चय से अराक्षसभाव—अदुष्ट परिणामवाले सज्जन लोगों से विभूषित था। जो प्रचेतःपस्त्य (वरुण—जलदेवता—के निवासस्थान-सरीखा—जलरूप) होता हुआ निश्चय से अजडाशय (श्लेष-अलंकार में ड और ल में भेद न होने के कारण अजलाशय) अर्थात्—जलाशय (तालाव-आदि) नहीं था। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो जलदेवता का निवास स्थान होगा, वह जलाशय से रहित किसप्रकार होसकता है ? अतः इसका परिहार यह है कि प्र-चेतः पस्त्य (प्रशस्त चित्त-शाली सज्जन पुरुषों का स्थान) और निश्चय से अजडाशय (मूर्खता-युक्त चित्तवाले मानवों से रहित) था। इसीप्रकार जो वातोद्वसित (पवनदिक्पालगृह) सरीखा होकर के भी अचपलनायक (स्थिर स्वामी-युक्त) था। यहाँ भी विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि जो पवनदिक्पाल का गृह होगा, वह स्थिरस्वामी-युक्त कैसे होगा ? अतः

A

*'उपाहृताजानेयहय' क० । A 'आनीताः कुलीनाश्वाः' इति टिप्पणी ।

चपलनायकम्, धनदधिष्ण्यमिवाप्यस्थाणुपरिगतम्, शंभुशरणमिवाप्यव्यालावलीढम्, ब्रध्नसौधमिवाप्यनेकरथम्, चन्द्रमन्दिरमिवाप्यमृदुप्रतापम्, हरिगेहमिवाप्यहिरण्यकशिपुनाशम्, नागेशनिवासमिवाप्यद्विजिह्वपरिजनम्,

समाधान यह है कि जो वातोदवसित (व[1]-अतोद-अव-सित) था। अर्थात्—विशिष्टों की पीड़ा रहितों—शिष्ट-पालन गुणवाले पुरुषों—से चारों ओर से संयुक्त था और निश्चय से जो अचपलनायक-शाली था। अर्थात्—जहाँपर स्थिरचित्तवाले (दूसरों का धन व दूसरों की स्त्री के ग्रहण से रहित—निश्चल हृदयवाले) नायक (सामन्त) वर्तमान थे। अथवा समाधान पक्ष में टिप्पणीकार के अभिप्राय से जो वात-उद्-व-(अव) सित (वायु और जल से चारों ओर से जटित—शीत वायु व शीतोदक-सहित) था और निश्चय से अचपलनायक (परदार-पराङ्मुख—स्वदारसंतोषी—सामन्त पुरुषों से अधिष्ठित) था। जो धनदधिष्ण्य (कुवेरमन्दिर) के समान होता हुआ निश्चय से अस्थाणुपरिगत (रुद्र—श्रीमहादेव—रहित) था। यह भी विरुद्ध है; क्योंकि जो कुवेर-मन्दिर होगा, वह रुद्र-रहित किसप्रकार होसकता है? क्योंकि कुवेर और रुद्र परस्पर में मित्र होने के कारण एक स्थान पर रहते हैं। इसलिए इसका परिहार यह है कि जो धनद-धिष्ण्य—दाताओं का गृह—होता हुआ अस्थाणुपरिगत (शाखा-हीन वृक्षों से रहित) था।

जो शंभुशरण—रुद्रमन्दिर—समान होता हुआ निश्चय से अव्याल-अवलीढ था। अर्थात्—सर्पों से युक्त नहीं था। यहाँपर विरोध मालूम पड़ता है; क्योंकि जो रुद्र-मन्दिर होगा, वह सर्पों से शून्य किसप्रकार होसकता है? अतः परिहार यह है कि जो शंभु-शरण—सुख उत्पन्न करनेवालों का गृह होकर के भी अ-व्याल-अवलीढ था। अर्थात्—दुष्ट पुरुषों से युक्त नहीं था। जो ब्रध्न-सौध (सूर्य-मन्दिर) सरीखा होकर के भी अनेकरथ (अनेक रथों से विभूषित) था। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि जो सूर्यमन्दिर होगा, वह अनेक रथवाला कैसे होसकता है? क्योंकि सूर्य के केवल एक ही रथ होता है। अतः परिहार यह है कि जो वृघ्न-सौध—विशेष ऊँचे होने के कारण सूर्य के समीपवर्ती व सुधा (चूना) से उज्वल गृहों से युक्त था और निश्चय से अनेक रथों से विभूषित था। अथवा टिप्पणीकार के अभिप्राय से अर्थात्—जहाँपर ब्रध्नानां (सूर्यकान्त मणियों का) सुधा यत्र (श्वेतद्रव्यविकार) पाया जाता है, ऐसा था और निश्चय से जो अनेक रथों से व्याप्त था। जो चन्द्रमन्दिर-सा होकर के भी अमृदु-प्रताप (तीव्रप्रताप-युक्त) था। यहाँपर भी विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि जो चन्द्रमन्दिर होगा, वह तीव्रप्रताप-युक्त किसप्रकार होसकता है? अतः परिहार यह है कि जो चन्द्रमन्दिर (प्रचुर सुवर्ण युक्त) है और निश्चय से जहाँपर अमृदु[2]-प्रताप-शालियों (तीक्ष्णों—हिंसकों) का प्रकृष्ट सन्ताप (पीड़ा) पाया जाता है ऐसा था। जो हरि-गेह (नारायण—विष्णु के गृह-समान) होता हुआ भी अ-हिरण्यकशिपुनाश—'हिरण्यकशिपु' नामक दैत्य के नाश से रहित था। यह भी विरुद्ध है; क्योंकि जो नारायण-गृह होगा वह हिरण्यकशिपु नामक दैत्य के नाश से रहित किसप्रकार होसकता है? अतः परिहार यह है कि जो नारायण-गृह सरीखा था और निश्चय से अ-हिरण्य-कशिपु-नाश-था। अर्थात्—सुवर्ण व कशिपु (भोजन व वस्त्र दोनों) के नाश से रहित था। अर्थात्—जहाँपर सुवर्ण, भोजन व वस्त्रों की प्रचुरता थी।

१—'व' शब्देन विशिष्टं कथं लभ्यते—इति चेत्,
तदुक्तं—विश्वप्रकाशे—'वो दन्त्योष्ठ्योऽपि वरुणे वारणे घारे वरे।
शोषणे पचने सन्धे वासे वृन्दे च वारिधौ॥
चन्दने वदने वादे वंदनायां च कीर्तितः॥'
संशोधित सं० टी० पृ० ३४६ से संगृहीत —सम्पादक

२- उक्तं च—'अतीक्ष्णं कोमलं मृदु'।

वनदेवतानिवासमिवाप्यकुरङ्गम्,

पताकितभ्रूः स्मितसौधकान्तिरालोलनेत्राम्बुरुहोपहारा ।
एषाङ्गनाविभ्रमदर्भिताङ्गी यागावनेः संवदतीव लक्ष्मीम् ॥२४०॥
इयं विलोलालकचामरश्रीर्नितम्ब *सिंहासनमण्डिता च ।
मम द्वितीयं कुचकुम्भशोभा सौभाग्यसाम्राज्यमिवादधाति ॥२४१॥

जो नागेशनिवास (नागराज के भवन) समान होता हुआ भी अ-द्विजिह्वपरिजन—सर्पों के कुटुम्ब से रहित—था । यह भी विरुद्ध है; क्योंकि जो नागराज (शेषनाग) का भवन होगा, वह सर्पों के कुटुम्ब से शून्य किसप्रकार होसकता है ? अतः समाधान यह है कि जो नागेशों (श्रेष्ठ हाथियों) का गृह था और निश्चय से जो अ-द्विजिह्व-परिजनों (दुर्जनों—घूँसखोर व लुटेरे-आदि दुष्टों—के कुटुम्ब-समूहों) से रहित था एवं जो वनदेवतानिवास (वनदेवता का निवास स्थान) होता हुआ भी अ-कुरङ्ग (मृग-रहित) था। यह भी विरुद्ध है; क्योंकि जो वनदेवता का निवास स्थान होगा, वह मृग-हीन किसप्रकार हो सकता है ? अतः समाधान यह है कि जो वन-देवता-निवास है। अर्थात् जो अमृत और जलदेवता या स्वर्ग देवता की लक्ष्मी का निवास स्थान है और निश्चय से जो अ-कु-रङ्ग—कुत्सित रङ्ग से शून्य है[1] ।

हे मारिदत्त महाराज ! उस अवसर पर ऐसी यह उज्जयिनी नगरी यज्ञभूमि-सरीखी लक्ष्मी (शोभा) प्रकट कर रही है, जिसमें कमनीय कामिनियों की भ्रुकुटिरूप पताकाएँ (ध्वजाएँ) वर्तमान हैं। अर्थात्—जिसप्रकार यज्ञभूमि पताकाओं (ध्वजाओं) से विभूषित होती है उसीप्रकार यह नगरी भी स्त्रियों की भ्रुकुटिरूपी ध्वजाओं से अलंकृत थी। जिसमें मन्दहास्यरूपी यज्ञमण्डप की शोभा पाई जाती है। अर्थात्—जिसप्रकार यज्ञमण्डप-भूमि सौध-कान्ति (यज्ञमण्डप-शोभा—चूर्ण) से शुभ्र होती है उसीप्रकार प्रस्तुत नगरी भी मन्द हास्यरूपी यज्ञमण्डप-शोभा से विभूषित थी एवं जिसमें स्त्रियों के चञ्चल नेत्ररूप कमलों की पूजा पाई जाती है। अर्थात्—जिसप्रकार यज्ञभूमि कमलों से सुशोभित होती है उसीप्रकार इस नगरी में भी कमनीय कामिनियों के चञ्चल नेत्ररूप कमलों की पूजाएँ (भेंटें) वर्तमान थीं और जिसका शरीर कमनीय कामिनियों के भ्रुकुटिक्षेप (उल्लास-पूर्वक भौंहों का चढ़ाना) रूपी दर्भ (डाभ) से संयुक्त है। अर्थात्—जिसप्रकार यज्ञभूमि दर्भ (डाभ) से विभूषित होती हैं उसीप्रकार प्रस्तुत नगरी भी स्त्रियों के भ्रुकुटि-क्षेपरूपी दर्भ (डाभ) से विभूषित थी[2] ॥२४०॥ ऐसी यह उज्जयिनी नगरी मेरे (यशोधर महाराज के) दूसरे सौभाग्य-साम्राज्य को धारण करती हुई सरीखी मालूम पड़ती है। जो कमनीय कामिनियों के चञ्चल केशपाशरूपी चँमरों की लक्ष्मी-शोभा-से विभूषित है। अर्थात्—जिसप्रकार साम्राज्य-लक्ष्मी चञ्चल केशोंवाले चँमरों की शोभा से अलंकृत होती है उसीप्रकार प्रस्तुत नगरी भी कमनीय कामिनियों के चञ्चल केशपाशरूपी चँमरों से अलंकृत थी। जो कमनीय कामिनियों के नितम्ब (कमर के पीछे के भाग) रूप सिंहासनों से सुशोभित थी। अर्थात्—जिसप्रकार साम्राज्य लक्ष्मी सिंहासन से मण्डित होती है उसीप्रकार वह नगरी भी स्त्रियों के नितम्बरूप सिंहासनों से अलंकृत थी और जिसमें स्त्रियों के कुच (स्तन) कलशों की शोभा पाई जाती थी। अर्थात्—जिसप्रकार साम्राज्य लक्ष्मी पूर्ण कलशों से सुशोभित होती है उसीप्रकार प्रस्तुत नगरी भी रमणीक रमणियों के कुच (स्तन) कलशों से अलंकृत थी[3] ॥२४१॥

* 'सिंहासनचारुमूर्तिः' क० ।

१. उपमालङ्कार व विरोधाभास-अलङ्कार । २. उपमालङ्कार । ३. उपमालङ्कार ।

एवमपरासामपि मदालोकनोत्सुकमनसां निजविभ्रमापहसितवासवीयावासवासितविलासानामनङ्गाश्रमकामधेनूनामिव मत्तकामिनीनां स्मरशरनिशितफलप्रकाशिभिः,

अपि च क्वचिद*शेषनिशितशास्त्रशेमुषीश्वरविचारगोचरीक्रियमाणसकलजगद्व्यवहारं धर्मराजनगरमिव, क्वचिद्द्विजन्मजनोदाह्रियमाणनिगमार्थं ब्रह्मालयमिव, क्वचिन्नरतसुताभिनीयमानेतिवृत्तं तण्डुभवनमिव, क्वचिद्बुधप्रधानविधीयमानतत्त्वोपदेशं समवसरणमिव, क्वचिद्दम्यमानसागरगणमरुणकरस्यन्दनमिव, † क्वचिद्विनीयमानसारङ्गसङ्गमङ्गराजनिकेतनमिव, क्वचिदासन्नास्मदीयदर्शनक्षुभितसर्वकर्मीणपरिवारमनङ्गमित्रोदय ‡ प्रमोदं रत्नाकरमिव,

हे मारिदत्त महाराज ! इसप्रकार मैं दूसरी ऐसीं मत्तकामिनियों (रूपवती व युवती रमणियों) की ऐसी कटाक्षपूर्ण चितवनों से, जो कि कामदेव के वाणों (पुष्पों) की तीक्ष्ण भल्लियों (अग्रभागों ?) के समान प्रकाशित होरही थीं। अर्थात्—जो कपूर के समान शुभ्र थीं, से द्विगुणित (दुगुनी) की हुई लाजाञ्जलियों (माङ्गलिक अक्षतों) की वर्षा द्वारा अपने को आम्रादि फल चाहनेवाले लोक के लिए पुष्पशाली करता हुआ ऐसे 'त्रिभुवन तिलक' नाम के राजभवन में प्राप्त हुआ। कैसी हैं वे रूप व यौवन-सम्पन्न कामिनियाँ? जिनका चित्त मेरे दर्शनार्थ उत्कण्ठित होरहा था, जिन्होंने अपनी भ्रुकुटि-विक्षेपों द्वारा स्वर्गलोक की देवियों की नेत्र-शोभा तिरस्कृत—लज्जित—की थी एवं जो कन्दर्प-(कामदेव) गृह की कामधेनु-सरीखीं (कामदेव को उद्दीपित करनेवालीं) थीं।

उस 'त्रिभुवनतिलक' नाम के राजभवन में विशेषता यह थी—कि जिसमें किसी स्थान पर समस्त संसार का ऐसा व्यवहार, जो कि निशित (सूक्ष्म तत्व का निरूपक) शास्त्रों के वेत्ता विद्वानों द्वारा जानने योग्य था, उसप्रकार पाया जाता था जिसप्रकार यमराज के नगर में समस्त संसार का ऐसा व्यवहार (यह मर चुका, यह मारा जारहा है और यह मरेगा इसप्रकार का वर्ताव), जो कि निशित (तीक्ष्ण—जीवों को ग्रहण करनेवाले) शास्त्रों के वेत्ता विद्वान् ऋषियों द्वारा जानने योग्य था। जिसमें किसी स्थल पर ब्राह्मण लोगों द्वारा निगमार्थ—नगरों व ग्रामों का उद्गृहीत धन उसप्रकार निरूपण किया जारहा था जिसप्रकार ब्रह्म-मन्दिर में विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा निगमार्थ (वेद-रहस्य) निरूपण किया जाता है। जहाँ किसी स्थान पर नटाचार्यों द्वारा भरत-शास्त्र (नाट्य-शास्त्र) का निरूपण उसप्रकार किया जारहा था जिसप्रकार तण्डु—(शंकरजी द्वारा दिये हुये ताण्डवनृत्य के उपदेश को ग्रहण करनेवाले प्रथम शिष्य भरतसुत—नाटकाचार्य) के महल में नाट्य-शास्त्र के आचार्यों द्वारा भरत-शास्त्र—नाट्य-शास्त्र का अभिनय किया जाता है। जो किसी स्थान पर विद्वानों में प्रधान विद्वानों द्वारा दिये जानेवाले तत्वोपदेश (नाना-भाँति की वीणा-आदि वादित्र-कला) से उसप्रकार विभूषित था जिसप्रकार समवसरणभूमि तत्वोपदेश (मोक्षोपयोगी जीव व अजीव-आदि तत्वों के उपदेश—दिव्यध्वनि) से विभूषित होती है। जिसमें किसी स्थान पर सागर-गण (घोड़ों की श्रेणी) उसप्रकार खेद-खिन्न किया जारहा था जिसप्रकार सूर्यरथ में सागर-गण (उसके घोड़ों का समूह) खेद-खिन्न किया जाता है। जहाँपर किसी स्थल पर हस्ति-समूह उसप्रकार शिक्षित किया जारहा था जिसप्रकार गज (हाथी) शास्त्र के आचार्य-गृह पर हस्ति-समूह शिक्षित किया जाता है। जहाँ किसी स्थान पर समीपवर्ती हम लोगों (यशोधर महाराज व अमृतमती महादेवी तथा चतुरङ्गिणी सेना-आदि) के दर्शन से समस्त कार्य करनेवालों का कुटुम्ब उसप्रकार क्षुब्ध (संचलित) होरहा था जिसप्रकार चन्द्र के उदय से प्रमुदित (वृद्धिंगत—उछलनेवालीं तरङ्गोंवाला) होनेवाला समुद्र क्षुब्ध (उत्कल्लोल) होता है।

* 'अशेषशास्त्रनिशितशेमुषीश्वर, क० । † 'क्वचिद्विनीयमान' क० । ‡ 'प्रमदं क०' ।

क्वचिच्च 'हले व्यलीकविलासव्यसनिनि वसन्तिके, कृतं कितवकिंवदन्तीभिः।
अविलम्बं यतस्व बकुलमुकुलावलीविरचनेषु। अङ्गो निरर्गलगते लवङ्गि, मा गाः सखीभिः सह सङ्गम्। अकालक्षेपं दक्षस्व[1] *रङ्गवल्लिप्रदानेषु। Xअयि प्रमादिनि मदने, किमद्यापि निद्रायसि[2]। द्रुतमाद्रियस्व[3]आरतीयप्रगुणतायाम्। अयि कुरङ्गि, किमकाण्डमितस्ततो हिण्डसे। अचिराय त्वरस्व देवस्याङ्गरागसंपादनेषु। अयि वाचालल्पने मालति, एष खलु समीपवर्ती देवः। तल्लघु Iलङ्घस्व भद्रासनप्रसाधनेषु। अये हसितदोहदहृदये कलहंसि, किं नाकर्णयसि सविधतरं तूरशब्दम्, यतो न तूर्णं सजसे ताम्बूलकपिलिकायाम्। अहे अलकवल्लरीभङ्गदुर्विदग्धे मधुकरि, किं मुधा विधमस्यात्मानम्। अद्धा प्रसाधय प्रकीर्णकानि। वर्धधर, अपसर प्रतूर्णमेकतः। किरात, निकेत निजनिवासे निभृतम्। कुब्ज, न्युब्ज

जहाँपर सर्वत्र उपरितन भूमिका-शिखर के प्रान्त भागों पर एकत्रित हुईं नवयुवती रमणियों के [शुभ्र] कटाक्षों के प्रसार (वितरण) द्वारा उज्वल ध्वजाओं के वस्त्र द्विगुणित शुभ्र किए गए थे एवं जहाँ किसी स्थान पर पचास वर्ष से ऊपर की आयुवाली वृद्ध स्त्रियों द्वारा समस्त परिवार चारों ओर से निम्नप्रकार व्याकुलित किया गया था। उदाहरणार्थ—'हे वसन्तिका नाम की सखि! तू निरर्थक शृङ्गार करने में आसक्त है, तुझे जुआरियों की बातचीत करने से क्या लाभ है? कोई लाभ नहीं। अब मञ्जुल पुष्प-कलियों की श्रेणी-रचना (मालाओं का गूँथना) में यत्न कर'। हे अनिषिद्ध गमनवाली (स्वच्छन्द गमन-शालिनी) लवङ्गिका नाम की अन्तःपुर-सुन्दरी सखी! तुम सखियों के साथ सङ्गम (मिलना-जुलना) मत करो और अविलम्ब (शीघ्र ही) रङ्गवल्लि (चतुष्क—चौक-पूरण) में दक्ष[1] होओ—शीघ्रता करो। हे प्रमाद करनेवाली 'मदन' नाम की अन्तःपुर-सुन्दरी! तुम इस समय में भी क्यों अधिक निद्रा[2] ले रही हो? आरती के सजाने की क्रिया में शीघ्र ही आदर[3] करो। अयि कुरङ्गि नाम की सखी! विना अवसर यहाँ-वहाँ क्यों घूम रही हो? तुम यशोधर महाराज के अङ्गराग (कपूर, अगुरु, कस्तूरी, कुङ्कम व कङ्कोल-आदि सुगन्धित व तरल वस्तुओं का विलेपन) करने में शीघ्र ही वेग-शालिनी (शीघ्रता करनेवाली) होओ। अयि विशेष वार्तालाप-युक्त मुखवाली अन्तःपुर-सुन्दरी मालती नाम की सखी! यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले यशोधर महाराज निकटवर्ती हो रहे हैं; अतः सिंहासन की प्रसाधन-विधि (अलङ्कृत करने की लक्ष्मी—शोभा) में शीघ्र ही समर्थ होओ। हे प्रफुल्लित व मनोरथों से व्याप्त मनवाली 'राजहंसी' नाम की सखी! तुम अत्यन्त निकटवर्ती वादित्र-ध्वनि क्यों नहीं श्रवण करती? जिससे ताम्बूल-स्थगिका (पान लगाने का व्यापार) में शीघ्र प्रगुणा (सरल या समर्थ) नहीं हो रही हो? केशमञ्जरी की मार्ग-रचना (सजावट) में विशेष निपुणता-युक्त हे मधुकरी नाम की सखी! तुम अपना स्वरूप निरर्थक क्यों विडम्बित—विडम्बना-युक्त करती हो? अब शीघ्र चँमर (ढोरने के लिए) सुसज्जित करो। हे नपुंसक! तू शीघ्र ही एक पार्श्वभाग पर दूर चला जा, (क्योंकि तेरे दर्शन से प्रस्तुत यशोधर महाराज को अपशकुन हो जायगा)। हे भिल्ल! तुम अपने गृह पर नम्रतापूर्वक निवास करो। क्योंकि तेरे देखने से प्रस्तुत राजा को अपशकुन होगा। अरे कुबड़े! तू शुभ परिणामों से शोभायमान होनेवाली चेष्टाओं में सरल हो जा। अरे बोने! तू ऐसी क्रीड़ाएँ रच (भाग जा), जिनमें उत्कण्ठा रूप रस प्रधानता से पाया जाता है, क्योंकि तेरे दर्शन से राजा सा० को अपशकुन होगा। हे कञ्चुकी (अन्तःपुर रक्षक)! तू अपने अधिकारों (अन्तःपुर-रक्षा-आदि) में चेष्टा रक्षा कर—प्रयत्नशील हो। अर्थात्—

*. 'रङ्गावलिप्रदानेषु' क०। X. 'अवि' क०। I 'रंघस्व' इति क०। A. रघि लघि सामर्थ्ये च—समर्थाभव

१. दक्षस्व—शीघ्रा भव। 'दक्ष शीघ्रार्थे च' इति धातोः रूपं। २. निद्रायसि—निद्रां करोषि। 'द्रा स्वप्ने' इति धातोः रूपं। ३. आद्रियस्व—'द्रिङ् आदरे' तुदादेर्धातोः रूपं।

शुभाशयविशिष्टासु चेष्टासु । वामन, आमन, सरभसरसक्रोडाः क्रीडाः । सौविदल्ल, सोल्लासमीहस्व निजनियोगेषु । *शुकपाक, सोत्कण्ठमुत्कण्ठस्व भोगावलीपाठेषु । सारिके, प्रमोदाधिकं कीर्तय मङ्गलानि । हंसि, कुतो न हंसि रसितुं निराबाधावकाशं देशं । सारस, कस तारस्वरः प्रदक्षिणप्रचारः । कुरङ्ग, रङ्गापसव्यं द्वीपिनां स्थाने, विजयकुञ्जर, उदाहर शुभोचितानीङ्गितानि । जयहय, सुघोषं हेषस्व ।' इति मातृव्यञ्जनाभिर्जरतीभिर्व्याकुलितनिखिलपरिजनं तस्त्रिभुवनतिलकं नाम समन्ततस्तुङ्गतमङ्ग-भङ्गोत्सङ्गसंगताङ्गनापाङ्गप्रसरपुनरुक्तसितपताकावसनं राजसदनमासादयांबभूव कीर्तिसाहारनामा वैतालिकः—

लक्ष्मीं बिभ्रत्पूध्वजौघैः क्वचिदनिलचलोल्लोलवीचेर्धुनया-
श्छायां पुष्यत्सुमेरोः क्वचिदरुणतरैः स्वर्णकुम्भांशुजालैः ।
कान्तिं कुर्वत्सुधाब्धेः क्वचिदतिसितिमद्योतिभिर्भित्तिभागैः
शोभां शिल्प्यद्धिमाद्रेः क्वचिदिव गगनाभोगभाग्भिश्च कूटैः ॥२४२॥

अन्तःपुर के मध्य में प्रविष्ट होजा। प्रस्तुत नरेश को अपना दर्शन न होने दें, क्योंकि तेरे दर्शन से उन्हें अपशकुन हो जायगा। हे शुक-शिशु ! तू सुरत-क्रीड़ा संबंधी वाक्यों के उच्चारण करने में उल्लासपूर्वक उत्कण्ठित होओ। हे मेना ! विशेष हर्षपूर्वक स्तुतिवचनों का पाठ कर। अयि राजहँसी ! तू किस कारण मधुर शब्द उच्चारण करने के लिए बाधा-शून्य स्थान पर नहीं जाती ? हे सारस पक्षी ! तुम विशेष उच्चस्वरवाले शब्दों का उच्चारण करते हुए राजा सा० के दक्षिण पार्श्वभाग में संचार करनेवाले होकर गमन करो। हे हरिण ! प्रस्तुत राजाधिराज के बाएँ पार्श्वभाग पर संचार करते हुए होकर शिकार-योग्य हिरणों के स्थान (वन) में जाओ। भावार्थ—क्योंकि ज्योतिषज्ञों[1] ने कहा है कि "यदि एक भी अथवा तीन, पाँच, सात और नव हरिण वामपार्श्व भाग पर संचार करते हुए वन की ओर जावें तो माङ्गलिक होते हैं। अतः प्रकरण में वृद्ध स्त्रियाँ प्रस्तुत यशोधर महाराज के शुभ शकुन के लिए उक्त बात मृगों के प्रति कह रही हैं। हे हाथियों के झुण्ड के स्वामी श्रेष्ठ हाथी ! तुम शुभ शकुन-योग्य चेष्टाएँ दिखाओ। हे उत्तमजाति-विभूषित घोड़े ! अच्छी ध्वनि-पूर्वक (जलसहित मेघ-सरीखी व समुद्र-ध्वनि-सी) ध्वनि (हिनहिनाने का शब्द) करो।

इसी अवसर पर 'कीर्तिसाहार' नाम के स्तुतिपाठक ने निम्नप्रकार तीन श्लोक पढ़े :—

हे राजन् ! यह आपका ऐसा महल विशेषरूप से शोभायमान हो रहा है, जो किसी स्थान पर अपनी शुभ्र ध्वजा-श्रेणियों द्वारा ऐसी गङ्गा की लक्ष्मी (शोभा) धारण कर रहा है (गङ्गा नदी-सरीखा प्रतीत होरहा है), जिसकी तरङ्गें वायु-बल से ऊपर उछल रहीं हैं। इसीप्रकार जो किसी स्थान पर अस्पष्ट लालिमा-युक्त सुवर्ण-कलशों की किरणों के समूह द्वारा सुमेरु पर्वत की शोभा वृद्धिंगत कर रहा है—सुमेरु-जैसा प्रतीत हो रहा है एवं जो अत्यन्त उज्वल कान्तिशाली भित्ति-प्रदेशों द्वारा क्षीरसमुद्र की शोभा रच रहा है और जो किसी स्थान पर आकाश में विशेषरूप से विस्तृत होनेवालीं शिखरों से हिमालय की शोभा (उपमा—सदृशता) धारण कर रहा है[2] ॥ २४२ ॥

* पाकः शिशुः इत्यर्थः इति क० ।

१. तथा चोक्तम्—'एकोऽपि यदि वा त्रीणि पञ्च सप्त नवापि वा । वामपार्श्वेषु गच्छन्तो मृगाः सर्वे शुभावहाः ॥ १ ॥'
सं० टी० पृ० ३५२ से संकलित—सम्पादक

२. उपमा व समुच्चयालंकार ।

श्रीलीलाकमलं तवावनिपते साम्राज्यचिह्नं मह-
त्कीर्त्युत्पत्तिनिकेतनं क्षितिवधूविश्रामधाम स्वयम् ।
लक्ष्मीविभ्रमदर्पणं कुलगृहं राज्याधिदेव्याः पुनः
क्रीडास्थानमिदं विभाति भवनं वाग्देवताया इव ॥२४३॥
वशीकृतमहीपालः श्रीलीलाकमलाकरः । चिरमत्र स्थितः सौधे चतुरन्तामव क्षितिम् ॥२४४॥
वित्तेश त्वरतां पुरः सुरतरूद्यानैः समं मातले
तूर्णं सज्जय सामजं कुरु गुरो *यानोचितां वाहिनीम् ।
आसीदित्थमशेषकल्मषमुषि प्रादुर्भवत्केवले
यस्मिन् स्वर्गपतेर्महोत्सवविधिः सोऽव्यात्त्रिलोकीं जिनः ॥२४५॥
कर्णाञ्जलिपुटैः पातुं चेतः सूक्तामृते यदि । श्रूयतां सोमदेवस्य नव्याः काव्योक्तियुक्तयः ॥२४६॥

इति सकलतार्किकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये पट्टबन्धोत्सवो नाम द्वितीय आश्वासः समाप्तः ।

हे राजन् ! आपका ऐसा यह विशाल भवन, जो कि लक्ष्मी का कीड़ा-कमल, महान् साम्राज्य-चिह्न एवं कीर्ति का उत्पत्ति-गृह है। अर्थात्—इससे आपकी कीर्ति उत्पन्न होती है। इसीप्रकार जो पृथिवीरूपी स्त्री का स्वाभाविक निवास-गृह, लक्ष्मी के विलास का मुकुर (दर्पण) व राज्य की अधिष्ठात्री देवता का कुलमन्दिर सरीखा और सरस्वती के क्रीड़ा-स्थान सदृश है, विशेषरूप से सुशोभित होरहा है[1] ॥२४३॥ हे राजन् ! ऐसे आप, जिन्होंने राजाओं को वशीकृत किया है (अपनी आज्ञापालन में प्राप्त कराया है) और जिसप्रकार कम-वनों में लक्ष्मी (शोभा) क्रीड़ा करती है उसीप्रकार आप में भी लक्ष्मी (राज्य-लक्ष्मी या शोभा) क्रीड़ा करती है, 'इस त्रिभुवनतिलक' नामके राजमहल में स्थिति हुए चार समुद्र पर्यन्त इस पृथिवी का चिरकाल तक पालन करो[2] ॥२४४॥ वह जगत्प्रसिद्ध ऐसा जिनेन्द्र (ऋषभदेव-आदि तीर्थङ्कर भगवान्) तीन लोक की रक्षा करे। अर्थात्—विघ्न-विनाश करता हुआ मोक्ष प्राप्ति करे, जिसके ऐसे केवलज्ञान कल्याणक के अवसर पर, जिसमें समस्त पाप प्रकृतियों (समस्त घातिया कर्म व १६ नाम कर्म की प्रकृतियाँ) को जड़ से नष्ट (क्षय) किया गया है, सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र की महोत्सवविधि इसप्रकार निम्नप्रकार सम्पन्न हुई। उदाहरणार्थ—हे कुबेर ! तुम कल्पवृक्षों के वनों के साथ-साथ आगे-आगे शीघ्र ही प्रस्थान करो। हे इन्द्र-सारथि ! तुम ऐरावत हाथी को शीघ्र ही सुसज्जित करो—प्रस्थान-योग्य बनाओ। हे बृहस्पति नामके मंत्री ! तुम देवताओं की सेना को शीघ्र ही प्रस्थान के योग्य करो[3] ॥२४५॥ हे विद्वानो ! यदि आपका मन काव्यरूप अमृत को कानरूपी अञ्जलिपुटों (पात्रों) द्वारा पीने का उत्सुक—उत्कण्ठित है तो सोमदेवाचार्य की 'यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्य' के मधुर वचनों की गद्यपद्यात्मक रचनाएँ आपके द्वारा श्रवण की जावें[4] ॥२४६॥

इसप्रकार समस्त तार्किक-(षड्दर्शन-वेत्ता) *चक्रवर्तियों* के चूड़ामणि (शिरोरत्न या सर्वश्रेष्ठ) श्रीमदाचार्य **'नेमिदेव'** के शिष्य **श्रीमत्सोमदेवसूरि द्वारा**, जिसके चरण कमल तत्काल निर्दोष गद्य-पद्य *विद्याधरों* के चक्रवर्तियों के मस्तकों के *आभूषण हुए हैं*, रचे हुए **'यशोधरमहाराजचरित'** में, जिसका दूसरा नाम **'यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य'** है, 'पट्टबन्धोत्सव' नामका द्वितीय आश्वास पूर्ण हुआ।

---

*'यात्रोचितां' क० ।

१. रूपक व उपमालंकार । २. रूपक व अतिशयालंकार । ३. अतिशयालंकार । ४. रूपक व उपमालंकार ।

इसप्रकार दार्शनिक-चूड़ामणि **श्रीमदम्बादास** जी शास्त्री व श्रीमत्पूज्यपाद आध्यात्मिक सन्त श्री १०५ क्षुल्लक **गणेशप्रसाद जी वर्णी** न्यायाचार्य के प्रधानशिष्य, जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ व आयुर्वेद विशारद एवं महोपदेशक-आदि अनेक उपाधि-विभूषित सागरनिवासी **श्रीमत्सुन्दरलाल** जी शास्त्री द्वारा रची हुई **श्रीमत्सोमदेवसूरि**-विरचित **यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य** की '**यशस्तिलकदीपिका**' नाम की भाषाटीका में 'पट्टबन्धोत्सव' नाम का द्वितीय आश्वास (सर्ग) पूर्ण हुआ।



तृतीय आश्वासः।

श्रीलीलाम्बुजगर्भसंभवतनुः स्वर्णाचलस्नानभूर्लक्ष्मीप्रार्थितसंगमोऽपि तपसः स्थानं परस्याभवत्।
ध्यानावन्ध्यविधिः समस्तविषयं ज्योतिः परं प्राप्तवान्यस्तद्धामधृतोदयश्च स जगत्पायादपायाज्जिनः ॥१॥

लक्ष्मीपतिप्रभृतिभिः कृतपादसेवः पायाज्जगन्ति स जयी जिनचन्द्रदेवः।
साम्यं त्रिविष्टपप्रतिस्थितविक्रमस्य दंष्ट्राधृतावनितलस्य हरेर्न यस्य ॥२॥

जिसका शरीर लक्ष्मी के क्रीड़ाकमल की कर्णिका (मध्यभाग) में उत्पन्न हुआ है। भावार्थ—जब भगवान् स्वर्ग से अवतरण करते हैं तब माता के गर्भाशय में कमल बनाकर उसकी कर्णिका (मध्यभाग) में स्थित होते हुए वृद्धिंगत होते रहते हैं। पश्चात्—जन्म के अवसर पर माता को बाधा (पीड़ा) न देते हुए जन्म धारण करते हैं, अतः आचार्यश्री ने कहा है कि भगवान् का शरीर लक्ष्मी के क्रीड़ा-कमल की कर्णिका में उत्पन्न हुआ है। इसीप्रकार जिसके जन्माभिषेक की भूमि सुमेरुपर्वत है। अर्थात्—जिसका जन्मकल्याणक महोत्सव सुमेरुपर्वत पर देवों द्वारा उल्लासपूर्वक सम्पन्न किया गया था। जिसका संगम साम्राज्य लक्ष्मी (राज्यविभूति) द्वारा प्रार्थना किया गया था। अभिप्राय यह है कि जिन्होंने युवावस्था में साम्राज्य-लक्ष्मी से अलंकृत होते हुए रामवत् राज्यशासन करते हुए प्रजा का पुत्रवत् पालन किया था एवं जिनमें से कुछ तीर्थङ्करों ने कुमारकाल में भी राज्यलक्ष्मी को तृणवत् तुच्छ समझकर तपश्चर्या धारण की थी। जो भगवान् उत्कृष्ट दीक्षा के स्थान हुए। अर्थात्—जिन्होंने साम्राज्य लक्ष्मी को छोड़कर उत्कृष्ट दिगम्बर दीक्षा धारण कर वनस्थलियों में प्राप्त होकर महान् तपश्चर्या की, जिसके फलस्वरूप जिन्होंने ऐसा सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त किया था, जो कि लोकाकाश और अलोकाकाश को प्रत्यक्ष जानता है। अर्थात्—जिसके केवलज्ञानरूपी दर्पण में अलोकाकाश के साथ तीन लोक के समस्त पदार्थ अपनी त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों सहित एककाल में प्रतिबिम्बित होते हैं। जिसका कर्तव्य धर्मध्यान व शुक्लध्यान द्वारा सफलीभूत हुआ है। अर्थात्—जिन्होंने धर्मध्यान व शुक्लध्यानरूपी अग्निसे घातिया कर्म (ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय व अन्तराय कर्म) रूपी इन्धन को भस्मसात् करते हुए अन्य देवताओं में न पाया जानेवाला अनोखा केवलज्ञान प्राप्त करके अपना कर्तव्य सफल किया था एवं जिसने अपना उदय (उत्कृष्ट—शुभजनक—अय—कर्तव्य) उस जगत्प्रसिद्ध स्थान (समस्त कर्मों के क्षयरूप लक्षणवाले मोक्ष स्थान) में आरोपित (स्थापित) किया था तथा जो अनन्तचतुष्टय (अनन्त-दर्शन, अनंतज्ञान, अनन्तसुख व अनन्तवीर्य) और नव केवललब्धियों से विभूषित है, ऐसा वह जगत्प्रसिद्ध ऋषभदेव-आदि से लेकर महावीर पर्यन्त तीर्थङ्कर परमदेव तीनलोक के प्राणियों की अपाय (चतुर्गति के दुःख-समूह) से रक्षा करे[1] ॥ १ ॥

वह जगत्प्रसिद्ध ऐसा जिनचन्द्रदेव (गणधरदेव-आदि को चन्द्र-सरीखा आल्हादित—उल्लासित—करनेवाला तीर्थङ्कर सर्वज्ञ परमदेव) तीन लोक की रक्षा करे, जिसके चरणकमलों की भक्ति श्रीनारायण की प्रमुखतावाले रुद्र व ब्रह्मा-आदि द्वारा की गई है, जो कर्मशत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त करने के कारण विजयलक्ष्मी से विभूषित हैं और जिसकी तुलना श्रीनारायण (विष्णु) के साथ नहीं होसकती।

१. रूपक, अतिशय व समुच्चयालंकार एवं शार्दूलविक्रीडितच्छन्द।

पुनस्तदध्यास्य श्रीसरस्वतीविलासकमलाकरं राजमन्दिरमहो अलमसाहसारम्भ, त्रिभुवनभवनस्तम्भ, कदाचित्समीपसमस्तलोकलोचनोन्मेषेषु निशीथिनीशेषेषु ।

हिमरुचिरस्तमेति निशि निगदितनिजविनियोगसंगरः । रविरपि नयन * विषयमयमावति जगति निजाय कर्मणे
तत्कलहं विहाय संविशत पुनर्ननु दूरमन्तरम्। प्रातः कथयतीव मिथुनेषु रसत्कृकवाकुमण्डलम् [1] † ॥३॥

निद्राशेषनिमीलितार्धनयनं किंचिद्विलम्बाक्षरं पर्यस्तालकजालकं प्रविलसद्धर्माम्बुमुक्ताफलम् ।
भ्रूभङ्गालसमल्पजृम्भणवशादीषत्प्रकम्पाधरं चुम्बालिङ्ग्य सखीमुखं ननु रवेरेषा प्रभा दृश्यते ॥४॥

अर्थात्—जो अनोखे हैं, क्योंकि जिनचन्द्र देव की शक्ति तीन लोक के उद्धार करने में स्थित है, जब कि विष्णु ने वराह-अवतार के समय दंष्ट्राओं (खीसों) द्वारा केवल पृथिवीमण्डल को उठाया था। अर्थात्—जब विष्णु ने वराह-अवतार धारण किया था तब प्रलयकाल के भय से उन्होंने पृथिवीमण्डल को अपनी खीसों द्वारा उठाया था, जब कि तीर्थङ्कर भगवान् मोक्षमार्ग के नेतृत्व द्वारा तीनलोक के प्राणी-समूह का उद्धार करते हैं [2-3] ॥२॥

अनोखे साहस का प्रारंभ करनेवाले और तीनलोकरूपी महल के आधार स्तम्भ ऐसे हे मारिदत्त महाराज ! मेरा राज्याभिषेक व विवाह दीक्षाभिषेक होने के पश्चात्—अथानन्तर—मैं लक्ष्मी और सरस्वती के क्रीड़ा कमलों के वन-सरीखे उस 'त्रिभुवनतिलक' नाम के राजमहल में स्थित हुआ। किसी अवसर पर जब समस्त प्राणियों के नेत्रोद्घाटनों को समीपवर्ती करनेवाले रात्रिशेष (प्रातःकाल) हो रहे थे तब मैंने (यशोधर महाराज ने) प्रातःकालीन सूक्तियों (सुवचन सुभाषितों) के पाठ से कठोर (महान् शब्द करनेवाले) कण्ठशाली स्तुतिपाठकों के अवसर की सूचना देने से अत्यन्त मनोहर उक्तियों (वचनों) वाले निम्नप्रकार के सुभाषित गीत श्रवण करते हुए ऐसा शय्यातल (पलंग), जिसमें कस्तूरी से व्याप्त शारीरिक लेप-वश विशेष मर्दन से उत्पन्न हुई सुगन्धि वर्तमान थी, उसप्रकार छोड़ा जिसप्रकार राजहँस गङ्गानदी का वालुकामय प्रदेश, जिसपर नवीन विकास के कारण मनोहर स्थली-युक्त कमलवन वर्तमान है, छोड़ता है।

हे राजन् ! शब्द करनेवाले मुर्गों का समूह प्रातःकालीन अवसर पर ऐसा प्रतीत हो रहा है—मानों—वह स्त्री-पुरुषों के युगलों को निम्नप्रकार सूचित कर रहा है—अहो ! स्त्री-पुरुषों के युगलो ! वह प्रसिद्ध चन्द्र, जिसने रात्रि में अपनी कर्तव्य-प्रतिज्ञा सूचित की है, अस्त हो रहा है और यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुआ सूर्य भी अपने योग्य कर्तव्य करने के लिए लोक में चारों ओर से नेत्रों द्वारा दृष्टिगोचर हो रहा है। इसलिए हे स्त्रीपुरुषों के युगल ! पारस्परिक कलह छोड़कर संभोग करो क्योंकि फिर तो रात्रि विशेष दूरवर्ती हो जायगी ॥ ३ ॥

हे राजन् ! आलिङ्गन करके अपनी प्रियतमा का ऐसा मुख चुम्बन कीजिए, क्योंकि निश्चय से यह प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाली सूर्य-दीप्ति दृष्टिगोचर हो रही है—प्रभात हो चुका है। जिसमें अल्प निन्द्रा-वश अर्धनेत्र निमीलित (मुद्रित) हैं। जिसमें अक्षरों का उच्चारण कुछ विलम्ब से हो रहा है। जिसकी केश-वल्लरियाँ यहाँ-वहाँ बिखरी हुई हैं। जिसपर स्वेदजल-बिन्दुरूपी मोतियों की श्रेणी सुशोभित हो रही है। जिसमें भ्रुकुटि-क्षेप (भौंहों का संचालन) का उद्यम मन्द है एवं थोड़ी जँभाई आने के कारण जिसमें

*'विषयमुपधावति' क० । † क० प्रति के आधार से पद्यरूप में परिवर्तित—सम्पादक

१. उत्प्रेक्षालंकार एवं दुवई (द्विपदी—प्रत्येक चरण में २८ मात्रा-युक्त मात्राच्छन्द)

२. व्यतिरेकालंकार ।

३. उक्तं च वाग्भट्टेन महाकविना—'केनचिद्यत्र धर्मेण द्वयोः संसिद्धसाम्ययोः । भवत्येकतराधिक्यं व्यतिरेकः स उच्यते ॥१॥'

विकिरनिकिर एष व्याकुलः पादपानां तिरयति शिखराणि प्रेङ्खितो द्वन्द्वशब्दः ।
इह च युवतिसार्थः सद्मकर्मप्रबन्धात्तरलितकुचकुम्भः संचरत्यङ्गणेषु ॥५॥
गलति तम इवायं चक्रनाम्नां वियोगः स्फुटति नलिनराजिः संध्यया सार्धमेषा ।
अगणितपतिनर्मा कूणितभ्रूलतान्तस्त्यजति कुलवधूनां वासगेहानि सार्थः ॥६॥
अविरलपुलकालीपांशुलास्याम्बुजानां नवनवनखरेखालेखलोलस्तनीनाम् ।
स्मरनरपतिदूतीविभ्रमः कामिनीनामिह विहरति यूथः प्रक्वणन्नूपुराणाम् ॥७॥
अलकवलयवृत्ताः किंचिदाकुञ्चितान्ताः सरसकरजरेखाः कामिनीनां कपोले ।
प्रविदधति पलाशस्याग्रशाखाशिखायामवनतमुकुलानां मञ्जरीणामभिख्याम् ॥८॥
द्वीपान्तरेषु नलिनीवनवर्तिवृत्ते भानौ क्रिया नृप न कापि यथेह भाति ।
एवं त्वयि प्रियतमाधरपानलोले लोके कुतः फलति कर्मवतां प्रयासः ॥९॥

ओष्ठों का कुछ-कुछ कम्पन हो रहा है[1] ॥ ४ ॥ यह पक्षियों का समूह व्याकुलित हुआ वृक्षों के शिखर आच्छादित कर रहा है। नर-माँदा पक्षियों के जोड़ों की ध्वनि चञ्चल होरही है। यह कमनीय कामिनियों की श्रेणी, जिसके कुच (स्तन) कलश गृहसंबंधी व्यापार-संबंध से शिथिलित हो रहे हैं, अङ्गणों पर संचार कर रही है[2] ॥ ५ ॥ हे राजन् ! इस प्रभात वेला में यह चकवा-चकवी का वियोग उसप्रकार विघटित होरहा है जिसप्रकार रात्रि का अन्धकार विघटित (नष्ट) होरहा है एवं यह कमल-समूह संध्या (प्रभातकाल) के साथ विकसित हो रहा है। अर्थात्—जिसप्रकार संध्या (प्रभातकाल) विकसित (प्रकट) होरही है उसीप्रकार कमल-समूह भी विकसित होरहा है और कुल वधुओं (कुलस्त्रियों) का समूह, जिसने पतियों द्वारा किये जानेवाले परिहास की ओर ध्यान नहीं दिया है और जिसने भ्रुकुटि (भोंहें) रूपी लताओं के प्रान्त भाग क्रोध-वश कुटिलित किये हैं, अपने विलास-मन्दिर छोड़ रहा है[3] ॥६॥ हे राजन् ! [इस प्रभातवेला के अवसर पर] इस स्थान पर ऐसी कमनीय कामिनियों की श्रेणी, जो कि कामदेवरूपी राजा की दूतियों-सी शोभा-शालिनी है, जिनके मुखकमल घनी रोमाञ्च-श्रेणी से व्याप्त हैं, जिनके स्तन नखों की नवीन राजियों (रेखाओं) के विलेखनों से चञ्चल होरहे हैं और जिनके नूपुर कानों के लिए मधुर शब्द कर रहे हैं, विहार (संचार—पर्यटन) कर रही है[4] ॥ ७ ॥

हे राजन् ! कमनीय कामिनियों के केशपाश-वलयों (समूहों या बन्धनों) पर प्रवृत्त (उत्पन्न) और आकुञ्चित (सिकुड़े हुए) प्रान्तभागवाले तत्काल में प्रियतमों द्वारा किये हुए नखचिह्न जब कमनीय कामिनियों की गालस्थली पर किये जाते हैं तब वे (नखचिह्न) उसप्रकार की शोभा धारण करते हैं जिसप्रकार पलाश वृक्ष की उपरितन शाखा के ऊपरी भाग पर उत्पन्न हुई व झुकी हुई कलियोंवाली मञ्जरियाँ शोभा धारण करती हैं[5] ॥८॥ हे राजन् ! इस लोक में जिसप्रकार से जब सूर्य पूर्व व पश्चिम-आदि विदेहक्षेत्रों में स्थित हुए कमलिनियों के वन में वर्तन-शील आचारवान् है। अर्थात्—कमलिनियों के वनों को प्रफुल्लित करने में प्रवृत्त होता है तब उसके समस्त दूसरे क्रियावानों की चेष्टा शोभायमान नहीं होसकती अथवा चित्त में चमत्कार उत्पन्न नहीं कर सकती, इसीप्रकार से जब आप अपनी प्रियतमा के ओष्ठामृत के आस्वादन करने में लम्पट हैं तब आपके समस्त दूसरे क्रियावान् पुरुषों का उद्यम किसप्रकार सफल हो सकता है ? अपि तु नहीं होसकता[6] ॥ ९ ॥

---

१. रूपक व अनुमानालंकार । २. जाति-अलंकार । ३. उपमा व सहोक्ति-अलंकार । ४. रूपक व उपमालंकार । ५. उपमालंकार । ६. दृष्टान्त व आक्षेपालंकार ।

स्मरभरकलहकेलिलुलितालकविदलिततिलकमण्डनं *नवनखलिखितलेखगण्डस्थलमदयनिपीडिताधरम्।
निद्रोद्‌भ्रमरनयनमबलामुखमुषसि समन्मनाक्षरं सुरतविलासहंस तव कथयति निखिलनिशासु जागरम् ॥१०॥
विद्विष्टदर्पहर मध्यम*लोकपालं कस्त्वां प्रबोधयतु सर्वजगत्प्रबोधम्।
लोकत्रयोद्धरणधामनिकेतनेषु निद्रा कुतो भवति नाथ भवादृशेषु ॥११॥
मन्त्र्येष राज्यरथसारथिरागतस्ते नीरोगतावहितवाक्प्रवणो भिषक्च।
पौरोगवोऽभिनवपाकपरः समास्ते द्वारे तवोत्सवमतिश्च पुरोहितोऽपि ॥१२॥
प्राभातिकानकरवश्रवणप्रबोधाद्दीर्घं रसन्ति गृहवापिषु राजहंसाः।
उत्तिष्ठ देव भज संप्रति राजलक्ष्मीसंपादितं विभवमेनमिति ब्रुवाणाः ॥१३॥

संभोग-क्रीड़ा की क्रीड़ा करने में राजहंस हे राजन्! प्रातःकाल के अवसर पर दिखाई देनेवाला आपकी प्रिया का ऐसा मुख समस्त पूर्व, मध्य व अपर रात्रियों में कामोद्रेकवश होनेवाले आपके जागरण को प्रकटरूप से कह रहा है, जिसका कुङ्कुम-तिलक और कज्जल-आदि मण्डन कामदेव की अधिकता से की हुई कलहक्रीड़ा से बिखरे हुए केशपाशों द्वारा लुप्त (मिटाया हुआ) किया गया है। जिसका गाल-स्थल नखों द्वारा रचे गए नवीन लेखों (लिपि-विशेषों) से व्याप्त है। जिसके ओष्ठ निर्दयतापूर्वक चुम्बन किये गए हैं। जिसके नेत्र रात्रिजागरण-वश आनेवाली निद्रा से उत्कट हैं एवं जिसमें गद्गद शब्दवाले अक्षर वर्तमान हैं।

भावार्थ—स्तुतिपाठक प्रस्तुत यशोधर महाराज से कह रहे हैं कि हे राजन्! आपकी प्रियतमा का मनोहर मुख इस प्रभातवेला में कुङ्कुम-तिलक और कज्जलादि मण्डन की शून्यता तथा ओष्ठचुम्बन-आदि रतिविलास-चिह्नों से व्याप्त हुआ आपके कामोद्रेक-वश होनेवाले सर्वरात्रि-संबंधी जागरण को प्रकट कर रहा है[1] ॥ १० ॥ शत्रुओं का मद चूर-चूर करनेवाले हे राजन्! आप सरीखे महापुरुषों में, जो कि तीनलोक को प्रकाशित करनेवाले तेज के गृह हैं, निद्रा किसप्रकार हो सकती है? अपि तु नहीं हो सकती। पृथिवीमण्डल के स्वामी आपको, जिनसे समस्त पृथिवीमण्डल को प्रबोध (सावधानता) प्राप्त होता है, कौन पुरुष जगा सकता है? अपितु कोई नहीं जगा सकता[2] ॥ ११ ॥ हे राजन्! यह प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाला आप का मंत्री आया है, जो कि राज्यरूपी रथ का सारथि है। अर्थात्—जिसप्रकार सारथि रथ का भली-भाँति संचालन करता है उसीप्रकार यह मंत्री भी आप के राज्यरूप रथ का सुचारुरूपेण संचालन करता है। इसीप्रकार 'वैद्यविद्याविलास' दूसरे नाम वाला 'सज्जनवैद्य' भी आया है, जो ऐसे आयुर्वेद शास्त्रों का, जो निदान व चिकित्सा-आदि उपायों द्वारा नीरोग करने में सावधान हैं, विद्वान् है और यह महानस-अध्यक्ष (भोजनशाला का स्वामी) भी तैयार बैठा है, जो कि नवीन पाकक्रिया में तत्पर है। अर्थात्—जो ६३ प्रकार के भोज्य व्यञ्जन पदार्थों की पाकक्रिया में तत्पर व कुशल है एवं हे राजन्! यह पुरोहित भी आप के दरवाजे पर बैठा है, जिसकी बुद्धि शान्तिकर्म महोत्सव के करने में समर्थ है[3] ॥ १२ ॥

हे राजाधिराज! राजमहल की बावड़ियों या सरोवरों में स्थित हुए राजहँस प्रातःकालीन भेरियों की ध्वनि-श्रवण से जागने के कारण महान् शब्द करते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे हैं—मानों—वे यह सूचित कर रहे हैं कि "हे राजन्! उठो, इस समय राजलक्ष्मी से उत्पन्न हुआ यह ऐश्वर्य भोगो"[4] ॥ १३ ॥

A

*'नवनखलिखितरेखगण्डस्थल' क०। *'पंचमलोकपालं' ग०। A 'जन' इति टिप्पण्यां। १. अनुमानालंकार। २. अतिशय व आक्षेपालंकार। ३. समुच्चयालंकार। ४. उत्प्रेक्षालंकार।

सुप्तेषु येषु रविरेष बुधावलोक यावत्तमो दलति तत्किल तेषु धत्ते ।
बोधं पुनर्दधति येऽस्य पुरो वितन्द्रास्तेजांसि नाथ वितनोति निजानि तेषु ॥१४॥

इति वैभातिकसूक्तपाठकठोरकण्ठकानां प्रबोधमङ्गलपाठकानामवसरावेदनसुन्दरोक्तीः सूक्तीराकर्णयन्नवोल्लासमांसल-सरोजकाननं मन्दाकिनीपुलिनं कलहंस इव तदा किलाहं मृगमदाङ्गरागबहुलपरिमलं पल्यङ्कतलमुज्झांचकार । कदाचिदासन्नो-दयद्युमणिमहसि प्रत्यूषानेहसि ।

विद्वज्जनों के नेत्र हे राजन् ! यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला सूर्य जितना अन्धकार नष्ट करता है उतना अन्धकार सोते हुए पुरुषों में स्थापितकर देता है और यह (सूर्य) उन पुरुषों में, जो निद्रा-शून्य (निरालसी) होते हुए इसके पूर्व में ही जागते रहते हैं, अपने तेज (प्रकाश) विस्तारित करता रहता है[1] ॥ १४ ॥

अथानन्तर किसी अवसर पर जब उदयाचलवर्ती सूर्य का निकटवर्ती महान् तेजशाली प्रातः काल हो रहा था तब सुखशयन पूँछनेवाले (स्तुतिपाठकों) के निम्नप्रकार सुभाषित गीतरूपी अमृतरस को कर्णा-भूषण बनाते हुए (श्रवण करते हुए) ऐसे मैंने (यशोधर महाराज ने) ऐसे सभामण्डप में प्रवेश किया, जिसने (यशोधरमहाराज ने) गुरुओं (विद्यागुरु व माता-पिता-आदि हितैषियों) तथा ऋषभादि तीर्थङ्कर देवों की सेवाविधि (पूजा-विधान) भलीप्रकार सम्पन्न की थी। जो प्रतापनिधि (सैनिकशक्ति व कोशशक्ति का खजाना) था। जो समस्त लोक के व्यवहारों (मर्यादापालन-आदि सदाचारों) में उसप्रकार अग्रेसर (प्रमुख) था जिसप्रकार सूर्य समस्त लोक-व्यवहारों (मार्ग-प्रदर्शन-आदि प्रवृत्तियों) में अग्रेसर (प्रमुख) होता है। जो पुरोहितों अथवा जन्मान्तर हितैषियों द्वारा दिये गए माङ्गलिक आशीर्वाद सम्मान-पूर्वक ग्रहण कर रहा था। जो कामदेव के धनुष (पुष्पों) से विभूषित बाहुयष्टि-मण्डल (समूह) वालीं कमनीय कामिनियों से उसप्रकार वेष्टित था जिसप्रकार समुद्र-तटवर्ती पर्वत ऐसी समुद्र-तरङ्गों से, जिनमें सर्पों की फणारूप आभूषणोंवालीं अग्रतरङ्गों की कान्ति पाई जाती है, वेष्टित होता है। जिसने प्रातःकाल-संबंधी क्रियाएँ (शौच, दन्तधावन व स्नान-आदि शारीरिक क्रियाएँ तथा ईश्वर-भक्ति स्वाध्याय व दान-पुण्य-आदि आत्मिक क्रियाएँ) पूर्ण कीं थीं। जिसने सामने स्थित सुमेरु-शालिनी वसति-सरीखी (पवित्र) बछड़े सहित गाय की प्रदक्षिणा की थी एवं जिसका मस्तक देश ऐसे कुछ पुष्पों से अलङ्कृत था, जो कि प्रकट दर्शन की प्रमुखतावाले और कल्पवृक्ष-सरीखे हैं। इसीप्रकार जो उसप्रकार धवल-अम्बर-शाली (उज्वल वस्त्र-धारक) होने से शोभायमान हो रहा था जिसप्रकार शुक्लपक्ष, धवल-अम्बर-शाली (शुभ्र आकाश को धारण करनेवाला) हुआ शोभायमान होता है। जो रत्नजड़ित सुवर्णमयी ऊर्मिका (मुद्रिका) आभूषण से अलङ्कृत हुआ उसप्रकार शोभायमान होरहा था जिसप्रकार ऊर्मिका (तरङ्ग-पङ्क्ति) रूप आभूषण से अलङ्कृत हुआ समुद्र शोभायमान होता है। जिसके दोनों श्रोत्र (कान) ऐसे चन्द्रकान्त मणियों के कुण्डलों से अलङ्कृत थे, जो (कुण्डल) ऐसे मालूम पड़ रहे थे—मानों—शुक्र और बृहस्पति ही मेरे लिए लक्ष्मी और सरस्वती के साथ की जानेवाली संभोगक्रीड़ा संबंधी रहस्य (गोप्यतत्व) की शिक्षा देने की इच्छा से ही मेरे दोनों कानों में लगे हुए थे। अर्थात्—मानों—शुक्र मुझे लक्ष्मी के साथ संभोग क्रीड़ा के रहस्य तत्व की शिक्षा देने के लिए मेरे एक कान में लगा हुआ शोभायमान हो रहा था और बृहस्पति मुझे सरस्वती के साथ रतिबिलास के रहस्य तत्व का उपदेश देने के लिए मेरे दूसरे कान में लगा हुआ शोभायमान हो रहा था[2]। जो (मैं) केवल ऊपर कहे हुए आभूषणों से ही अलङ्कृत नहीं था किन्तु इनके सिवाय मेरा शरीर दूसरे कुलीन लोगों के योग्य वेष (कण्ठाभरण, यज्ञोपवीत व कटिसूत्र-आदि) से मण्डित—विभूषित—था।

---

१. जाति-अलङ्कार। २. यथासंख्य व उत्प्रेक्षालंकार।

व्योमाम्बुधौ विद्रुमकाननश्रीर्वियद्वने किंशुकपुष्पकान्तिः।
आभाति रागः प्रथमं प्रभाते सुरेभसिन्दूरितकुम्भशोभः ॥१५॥

निशे विहायापि निशीथिनीशं रतिस्तवात्यन्तमिह प्रसिद्धा।
इयं त्वहःश्रीर्न विना दिनेशमास्ते निमेषार्धमपि स्वतन्त्रा ॥१६॥

अतो निसर्गान्निशि पांशुलत्वं शुद्धस्थितित्वं दिवसश्रियश्च।
मत्वैव संसर्गभयात्पुरैव संध्यां तयोः सीम्नि विधिः ससर्ज ॥१७॥

पूर्वं सरसकरजरेखाकृतिररुणविस्ततो रविस्तदनु च घुसृणपिण्डखण्डद्युतिरब्जचयच्छविस्ततः।
पुनरयमरुणरत्नमुकुरश्रीरुदयति रागनिर्भरैः कुर्वन्ककुभि ककुभि बन्धूकमयीमिव सृष्टिमंशुभिः ॥१८॥

शतमखधामहेमकुम्भाकृतिरिन्द्रसमुद्रविद्रुमस्तम्बरितमितकान्तिरहरुत्सव*समयसुवर्णदर्पणः।
उदयति रविरुदारहरिरोहणरुचिरुचिरोत्करैः करैर्दिग्दयितामुखानि पिञ्जरयन्नरुणितजलधिमण्डलः ॥१९॥

मेरे द्वारा श्रवण किए हुए स्तुतिपाठकों के सुभाषित गीत—

हे राजन्! प्रभातकाल के अवसर पर पूर्व में सूर्य की ऐसी लालिमा शोभायमान होरही है, जिसकी कान्ति आकाशरूपी समुद्र में विद्रुम-(मूँगा) वन की शोभा-सरीखी है और जिसकी कान्ति आकाशरूपी वन में पलास (टेसू) वृक्षों के पुष्पों के सदृश है एवं जिसकी शोभा ऐरावत हाथी के सिन्दूर से लाल किये गए गण्डस्थल-जैसी है[1] ॥ १५ ॥ हे रात्रि! चन्द्र को छोड़कर के भी अन्धकार के साथ तेरी अत्यन्त रति इस संसार में प्रसिद्ध है परन्तु यह दिवस-लक्ष्मी तो सूर्य के विना आधे पल पर्यन्त भी स्वच्छन्द चारिणी होकर नहीं ठहर सकती अतः तू पांशुला—कुलटा—है[2] ॥ १६ ॥ अतः स्वभाव से ही रात्रि में पांशुलत्व—कुलटात्व है और दिवसश्री में शुद्धस्थितित्व—पातिव्रत्य पाया जाता है, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है—मानों—व्यभिचारिणी और पतिव्रता के सम्पर्क-भय से ही विधाता ने दोनों (रात्रि और दिवसश्री) के मध्य पूर्व में ही संध्या की रचना की[3] ॥ १७ ॥ यह प्रत्यक्ष प्रतीत हुआ ऐसा सूर्य उदित हो रहा है, पूर्व में जिसकी आकृति तत्काल में [पति द्वारा] की हुई नख-रेखा-सरीखी अरुण (रक्त) है। पश्चात् जिसका आकार स्त्रियों के ओष्ठ-सा है। तदनन्तर जिसकी कान्ति कुङ्कुम के अर्धपिण्ड-सी है। तत्पश्चात्—जो रक्तकमल-समूह-सरीखा है। पुनः जिसकी कान्ति पद्मरागमणि के दर्पण-सी है एवं जो विशेष लालिमा-युक्त किरणों द्वारा प्रत्येक दिशा में बन्धूक पुष्पमयी रचना उत्पन्न करता हुआ-जैसा शोभायमान होरहा है[4] ॥ १८ ॥ हे राजन्! ऐसा सूर्य उदित होरहा है, जिसकी आकृति पूर्वदिक्पाल के महल पर स्थित हुए सुवर्ण-कलश सरीखी है। जिसकी कान्ति पूर्वसमुद्र के प्रवाल (मूँगा) समूह-सी निश्चल है। जो दिन के महोत्सव-कालसंबंधी सुवर्ण-दर्पण-सरीखा है। जो अपनी ऐसीं किरणों द्वारा, जिनका समूह अत्यन्त मनोहर हरिचन्दन-दीप्ति-सरीखा मनोज्ञ है, दिशारूपी वधू के मुख रक्तपीत करता हुआ सुशोभित होरहा है और जिसने समुद्र का विस्तार अरुणित (श्वेत-रक्त—अव्यक्त लालिमा-युक्त) किया है[5] ॥ १९ ॥

---

*'कलशविलासपल्लवः' क०।

१. रूपक व उपमालंकार। २. जाति-अलंकार। ३. उत्प्रेक्षालङ्कार। ४. उपमालंकार व दुवई छन्द। ५. रूपकालंकार एवं दुवई छन्द (प्रत्येक चरण में २८ मात्रा-युक्त द्विपदी नामक मात्राच्छन्द)।

अर्धकाव्यकविः—अरुणकिरणमध्ये विद्रुमस्तम्बबिम्बः क्षितिप किमिव शोभां भानु†रभ्युद्विभर्ति ।
राजा— युध युधि मम शत्रोः शोणितापूरितायां प्रतरदुपरि कोपात्पाटलं यद्वदास्यम् ॥२०॥

निशि मदनविनोदाद्वासरे च प्रजानामुदयनयनियोगाद्वाढमुद्रिक्तनिद्रः ।
इति वपुषि नितान्तं बिभ्रदम्भोजलक्ष्मीमुदयति तपनस्ते देव सामान्यवृत्तिः ॥२१॥

अलकवलयमध्ये पद्मरागप्रसूतिं नवकिसलयशोभां कर्णपालीप्रदेशे ।
कुचकलशतटानां कुङ्कुमस्येव रागं दधति रविमयूखाः प्रातरेतेऽबलासु ॥२२॥

काश्मीरकेसररुचः करजक्षताभाः कान्ताधरद्युतिभृतः शुकवक्त्रकल्पाः ।
सिन्दूरिताङ्गणतलास्तव देव चित्तं भानोः करा विविधचाटुतयाक्रमयन्ते ॥२३॥

इति सौखशायनिकानां सूक्तगीतामृतरसं कर्णपूरतां नयन् समाचरितगुरुदेवतोपासनविधिः प्रतापनिधिः सकलजगद्व्यवहारामणीर्महग्रामणीरिव संभावयन् पुरोहितैरुपनीतानि स्वस्त्ययनमङ्गलानि भुजङ्गभोगभूषणाम्बरङ्गरुचिभिरम्भोधिवीचिभिर्मेकलाचल इव कामकोदण्डमण्डितदोर्दण्डिकामण्डलाभिरबलाभिः परिवृतः संपादितप्रभातवृत्तः पुरस्कृतमन्दरां वसतिमिव प्रदक्षिणीकृत्य सवत्सां धेनुं प्रथमतराविर्भूतदर्शनैः कल्पतरुरिव कतिभिश्चित् प्रसूनैरुत्तंसितशिखण्डदेशः शुचिपक्ष इव धवलाम्बरधरः समुद्र इव सरत्नोर्मिकाभरणः श्रीसरस्वतीरतिरहस्योपदेशदित्सया कर्णलग्नाभ्यामुशनोबृहस्पतिभ्यामिव चन्द्रकान्तकुण्डलाभ्यामलंकृतश्रवणः परेण चाभिजातजनोचितेनाकल्पेनाध्यासितस्वशरीरः ।

समस्या-कारक कोई कवि पूँछता है—अस्पष्ट लालिमा-युक्त किरणों के मध्यवर्ती प्रवालों (मूँगों) सरीखा मण्डलशाली उदित होता हुआ सूर्य कैसी शोभा धारण कर रहा है? राजा—हे विद्वन्! रक्त से भरी हुई संग्राम-भूमि के ऊपर तैरता हुआ मेरे शत्रु का मुख कोप से पाटल (रक्त) हुआ जैसी शोभा धारण करता है वैसी शोभा सूर्य धारण कर रहा है[1] ॥ २० ॥ हे देव! आप रात्रि में कामक्रीड़ा करने के कारण और दिन में प्रजाओं की वृद्धि करने के अधिकार में संलग्न रहने से निद्रा-शून्य हो रहे हैं और शरीर में इसप्रकार अधिकरूप से रक्तकमल की शोभा धारण कर रहे हैं, अतः सूर्य सादृश्य प्रवृत्ति-युक्त हुआ उदित होरहा है। अर्थात्—आपकी सदृशता धारण करता हुआ उदित हो रहा है[2] ॥ २१ ॥

ये प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होनेवालीं सूर्य-किरणें प्रभात-वेला में स्त्रियों के केशपाश-समूह के मध्य प्रविष्ट हुईं पद्मराग मणियों की उत्पत्ति धारण करती हैं। अर्थात्—पद्मराग मणि-जैसीं रक्त प्रतीत हो रहीं हैं और स्त्रियों के कानों के उपरितन भाग में प्रविष्ट हुईं नवीन पल्लव की कान्ति धारण कर रही हैं एवं कमनीय कामिनियों के कुच (स्तन) कलश-प्रदेशों पर प्राप्त हुईं केसर की लालिमा-जैसी कान्ति धारण कर रही हैं[3] ॥ २२ ॥ हे राजन्! ऐसीं सूर्य-किरणें आपके चित्त में नाना-प्रकार की चाटुकारता (प्रेमस्तुति) पूर्वक प्रविष्ट होरही हैं। अर्थात्—आपके चित्त में उल्लास—आनन्द—उत्पन्न कर रहीं हैं। जो कुङ्कुम-पराग (केसर) जैसी हैं। जिनकी कान्ति नख-चिह्नों-सरीखी है। जो स्त्रियों के ओष्ठों की कान्ति (शोभा) धारण कर रहीं हैं और जो तोते की चोंच-सीं हैं तथा जिनके द्वारा गृहों की अग्रभूमियाँ (आँगन) रक्तवर्ण-शाली की गई हैं[4] ॥ २३ ॥

---

† 'रभ्युन्बिभर्ति' क० ख० ।

१. प्रश्नोत्तर व उपमालंकार। २. व्यतिरेक व तुल्योगिता-अलंकार। ३. उपमालंकार। ४. उपमालंकार।

समन्तादालानितानामपरोत्सर्गं दिग्गजसर्गमिव दर्शयतां दशनकोशारुणमणिमयूखोन्मुखरेखा*लेखपुनरुक्तयमान-कुम्भस्थलीसिन्दूरशोभानामनेकपानामनवरतकटकंदरद्रवदानसौरभाकृष्यमाणेन्दिन्दिरसुन्दरीकुलकुवलयित†गगनापगाभागम्, इ-तस्ततः ‡ कृतासरलचलस्थानां नेत्रचीनचित्रपटीपटोलरल्लिकाद्यावृतदेहानां प्रतियवसग्रासचलच्चामरचुम्ब्यमानलोचनान्तानां मुहुर्मुहुर्विजयपरम्पराप्रतिपादनपरेणेव दक्षिणचरणेन महीतलमुल्लिखतामुत्तालजलधिकल्लोललीलानां वाजिनामनिमेषहेषाघोषमुख-रितसविधसौधोत्सङ्गम्, अविरतदह्यमानकालागुरुधूपधूमोद्गमारभ्यमाणदिग्विलासिनीकुन्तलजालम्, उत्तरलतरपताकाप्रताना-तन्यमानाम्बरसरोहंसमालम्, उत्तुङ्गतमङ्गश्रृङ्गसंगतानेकमाणिक्योत्कीर्णकलशरुचिरच्यमानखेचरीकुचविचित्रपत्त्रभङ्गम्, अभि-नवोत्फुल्लफलितपल्लवान्तरालविलसत्कीरकामिनीपुनरुक्तवन्दनस्रक्प्रसङ्गम्, अन्तरान्तरावलम्बितोत्तरलतारहारमरीचिवीचिचय-प्रचाराचर्यमाणसुरसरित्सलिलसेकम्, अतिबहलकालेयकर्दमोन्मृष्टस्फटिककुट्टिमतलप्रवेकम्, अनल्पकर्पूरपरागपरिकल्पितरङ्गा-

---

कैसा है वह सभामण्डप ? जिसने आकाश-गङ्गा का प्रदेश या पाठान्तर में विस्तार उसके (सभामण्डप के) चारों ओर बँधे हुए ऐसे श्रेष्ठ हाथियों के गण्डस्थलों से निरन्तर प्रवाहित होनेवाले मदजल की सुगन्धि से खींची जानेवाली भँवरियों की श्रेणी द्वारा नीलकमलों से व्याप्त किया है, जिनके गण्डस्थलों की सिन्दूर-कान्ति दन्तमुसलों (खीसों) के कोशों (वेष्टन-खोलकों) में जड़े हुए पद्मरागमणियों की किरणों की ऊपर फैली हुई पंक्तियों के विन्यासों (स्थापन) से द्विगुणित की जारही थी और जो ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—ब्रह्मा की दिग्गज-सृष्टि में लोगों को दूसरी दिग्गज-सृष्टि-सरीखी सृष्टि का दर्शन ही करा रहे हैं। अभिप्राय यह है—कि जिसप्रकार दिग्गज प्रत्येक दिशा में स्थित होते हैं उसीप्रकार प्रस्तुत गज (हाथी) भी चारों ओर स्थित होने के फलस्वरूप दिग्गज सरीखे दिखाई देते हैं। जिसने ऐसे घोड़ों की निरन्तर होनेवाली हृषाध्वनि (हिनहिनाने के शब्द) से निकवता महलों का मध्यभाग शब्दायमान किया था, जिनकी पंक्ति (श्रेणी) वेमर्याद या पाठान्तर में प्रचुर—बहुलरूप से यहाँ वहाँ की गई थी। जिनका शरीर सूक्ष्म रेशमी वस्त्रों की व चीनदेशोत्पन्न वस्त्रों की नानाप्रकार की पटी (पछेवड़ी) व दुकूल एवं रक्त कम्बल-आदि से वेष्टित था। जिनके नेत्र-प्रान्तभाग प्रत्येक तृण ग्रास (कौर) के चर्वण से कम्पित होरहे मस्तक-स्थित चँमरों द्वारा स्पर्श किये जारहे हैं। जो अपने ऐसे दाहिने अग्र पैर से, जो ऐसा प्रतीत होरहा था—मानों—बार बार शत्रुओं पर विजयश्री-श्रेणियों की सूचना देने में ही तत्पर है, पृथिवी-तल खोद रहे हैं और जो उस-प्रकार शोभायमान होरहे थे जिसप्रकार उछलती हुई समुद्र की विशाल तरङ्गपंक्ति शोभायमान होती है। जहाँपर निरन्तर जलाई जा रही कालागुरु धूप की धूमोत्पत्ति द्वारा दिशारूपी कमनीय कामिनियों के केशपाश रचे जारहे हैं। जहाँपर विशेष चञ्चल फहराती हुई शुभ्र ध्वजा-श्रेणियों द्वारा आकाशरूपी तालाव में हँस-श्रेणी ही विस्तारित की जारही है। जहाँपर उन्नत महलों के शिखरों पर आरोपित (स्थापित) किये हुए रत्न-जड़ित सुवर्णमयी कलशों की कान्ति द्वारा देवियों व विद्याधरियों के कुच (स्तन) कलशों पर मनोज्ञ पत्र-रचना की जारही है। जहाँपर पुष्प व फलों से व्याप्त नवीन पल्लवों (शाखाग्रों) के मध्यभाग पर क्रीड़ा करतीं हुई मेनाओं द्वारा वन्दनमाला-श्रेणी द्विगुणित की गई है। जहाँपर बीच-बीच में चञ्चल अथवा महामध्यमणि-सहित व विशेष उज्वल मोतियों की मालाएँ आरोपित की गईं थीं—लटकाई गईं थीं, जिससे उनकी किरणों के लहरी-समूह के प्रसारों (विस्तारों) से जहाँपर गङ्गाजल का सिंचाव किया जारहा है। अत्यधिक काश्मीर की तरल केसर के छींटों से व्याप्त हुए स्फटिक मणिमयी कृत्रिम भूमितल

A B

* 'रेखालेखानिरिच्यमान' क०। † 'गगनापगाभोगम्' क० ग०। ‡ 'कृतासरालचलस्थानां' क० ख० च०।
A 'बहुल'। B 'पङ्क्तीनां' इति टिप्पणी।

बलिविधानम्, ईषदीषदुन्मिषत्कमलमालतीबकुलतिलकमल्लिकाशोकादिकुसुमोपहारामोदमन्दमधुलिहापाद्यमानापरमरकतमयवितर्दिकाप्रतानम्, अवलग्नागच्छद्गणपण्याङ्गनास्तनतुङ्गिमोत्सार्यमाणमार्गपरिजनबलम्, उच्चैस्तरोच्चार्यमाणजयजीवितयशःप्रकाशनाशीर्वादविदग्धबन्दिवृन्दवदनोच्छलत्कलकोलाहलम्, उदीर्णमणिस्तम्भिकामध्यप्रसाधितसिंहासनम्, अमरतरुपरिकरं मेरुशिखरमिव, लक्ष्मीकटाक्षवलक्षोभयपक्षविक्षिप्यमाणचामरपरम्परम्, अमृतोदधिदेवतापाङ्ग×द्विगुणतरङ्गप्रसराकुलं कुलशैलमिव, उपरिविततसितदुकूलवितानम्, उदितेन्दुमण्डलमुदयाचलमिव, अध ऊर्ध्वं भित्तीनां च रत्नफलकभागेषु प्रतिबिम्बितोपासनागतसमस्तसामन्तसमाजम्, असुरामरदिक्पाल*दत्तयात्राभाजमिव, विविधमणिविन्यासविहितबहुरूपाकृते रङ्गस्यावलोकनाद्भीतभूपालबालकाकुलितसौविदल्लम्, आखण्डलसभाप्रतिमल्लम्, 'मा भजत वैकृतमाकल्पम्, विजहीत धनयौवनमदोल्लासितानि

से जिसका विभाग किया गया था। जहाँपर प्रचुर कपूर-चूर्ण द्वारा चारों ओर चौक पूरा गया था। जहाँपर कुछ कुछ खिले हुए कमल, मालती (चमेली), बकुल, तिलक, मल्लिका और अशोक-आदि विविध भाँति के पुष्पों से पूजा होरही थी, जिनकी सुगन्धि-वश उनमें लीन हुए भँवरों से जहाँपर दूसरी मरकत मणिमयी विस्तृत वेदिका रची गई थी। अर्थात्—पुष्प-परागों से उद्धूलित हुए भ्रमर वैसे होगए थे।

जहाँपर मार्ग पर स्थित हुए कुटुम्बी-जन व सेना के लोग सेवा में प्राप्त हुई अनगिनती वेश्याओं के कुचकलशों की ऊँचाई से प्रेरित किये जारहे थे। जहाँपर उच्चस्वर से पढ़े जारहे ऐसे आशीर्वाद-युक्त वचनों में, जो कि जयकार, दीर्घायु और यश प्रकट कर रहे थे, निपुण स्तुतिपाठक-समूहों के मुखों से मधुर (कर्णामृतप्राय) कलकल-ध्वनि प्रकट की जारही थी। जहाँपर ऊँचे रत्नमयी छोटे छोटे खम्भों के मध्य सिंहासन शृङ्गारित (सुसज्जित) किया गया था; इसलिए जो (सभामण्डप) कल्पवृक्षों से वेष्टित हुए सुमेरु पर्वत की शिखर-सरीखा सुशोभित हो रहा था। जहाँपर लक्ष्मी के कटाक्ष-सरीखी उज्वल चँमर-श्रेणी दोनों (दाहिने व बाएँ) पार्श्वभागों पर ढोरी जारही थी। जो ऐसे कुलपर्वत-सरीखा शोभायमान होरहा था, जो कि क्षीरसागर संबंधी देवताओं के नेत्र-प्रान्तभागों से द्विगुणित हुए तरङ्ग विस्तारों से व्याप्त था। जहाँपर राजा साहिब के मस्तक के ऊपरी भाग पर उज्वल रेशमी वस्त्र का चँदेवा विस्तारित किया गया था। जिसके फलस्वरूप जो चन्द्रमण्डल के उदयवाले उदयाचल पर्वत-सरीखा शोभायमान होरहा था। जिसके अधोभाग व ऊपरीभाग की भित्तियों के माणिक्य-पट्टक-देशों में सेवार्थ आया हुआ समस्त राज-समूह प्रतिबिम्बित होरहा था; इसलिए जो ऐसा प्रतीत होरहा था—मानों—जहाँपर अधोभाग में प्रतिबिम्बित हुए दिक्पाल स्थानीय देवताओं द्वारा किये हुए संचार का आश्रय करनेवाला-सा सुशोभित होरहा है। जहाँपर ऐसी अग्रभूमि के देखने से, जहाँपर विविध भाँति के रत्नों से निर्मित हुए सिंह व व्याघ्रादिकों के अनेक आकार वर्तमान थे, सामन्त-बालक भयभीत होजाते थे, जिसके फलस्वरूप जहाँपर सौविदल्ल—कञ्चुकी (अन्तःपुर-रक्षक) खेद खिन्न किये गए थे। जो सौधर्म-इन्द्र की सभा के सदृश सुशोभित होरहा था। जहाँपर यहाँ वहाँ संचार करते हुए द्वारपालों द्वारा समीपवर्ती सेवक लोग निम्नप्रकार शिक्षा दिये जारहे थे—

"आप लोग विकार-जनक वेष मत धारण करो। धन व यौवन-मद द्वारा उत्पन्न कराये गए अपने अनुचित व्यवहार छोड़ो। अधिकार-शून्य बुद्धिवाले पुरुषो! यहाँपर प्रविष्ट मत होओ। आप लोग अपने अपने स्थानों पर अवकाश पूर्वक या बाधारहित बैठो। आप लोग परस्पर में संभाषण-युक्त और कुत्सित मार्ग का अनुसरण करनेवालीं कथाएँ (वार्ताएँ) मत कहो। अपने चित्तरूपी बन्दर की

A

× 'द्विगुणीकृततरङ्ग' क०। * 'दत्तयात्राभाजनमिव' क०। A सेवा।

टिरिटिल्लितानि, मा प्रविशतानधिकृतमनीषाः पुरुषाः, समाश्रमसंबाधमास्मभूमिकायाम्, मा कथयत मिथः प्रजल्पोत्पथाः कथाः, प्रमुञ्चत चापलं मनोमर्कटस्य, मा कुरुत पारिप्लवप्लुतानिमानिन्द्रियहयान्, केवलं किं प्रक्ष्यति, किं प्रवक्ष्यति, किमादेक्ष्यति, किं वा स्रक्ष्यति विनियोगजातं देव इत्येकायनमनसो निरीक्षध्वं देवस्य वदनम्' इतीतस्ततष्टीकमानैर्याष्टीकैर्विनीयमानानुकसेवकम्, अतिविधीयमानागन्तुकम्, अखिललोकलोचनेन्दीवरानन्दचन्द्रमसं लक्ष्मीविलासतामरसं नाम बुधप्रकाण्डमण्डलीविधीयमानधर्मागमालापमास्थानमण्डपमास्थाय निःसङ्गीकृतद्वारदेशः स्वयमेव यथादेशरूपमनुस्पिञ्जलमनाः

चपलता विशेषरूप से दूर करो। आप लोग इन इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व श्रोत्र इन ज्ञानेन्द्रियों व वाणी, हस्त, पाद-आदि कर्मेन्द्रियों) रूपी घोड़ों को चञ्चलता से उछलनेवाले मत करो।" सेवक लोग कहते हैं—कि यदि हम लोग उक्त बात न करें तो क्या करें? इस प्रश्न के समाधान में द्वारपाल उन्हें यह शिक्षा देते थे कि आप लोग केवल यशोधर महाराज का मुख एकाग्रचित्त होते हुए देखो कि प्रस्तुत राजाधिराज कौन से अधिकार-समूह के बारे में प्रश्न करेंगे? और कौन सा अधिकार-समूह कहेंगे? और क्या आज्ञा देंगे? एवं कौन से अधिकार की सृष्टि करेंगे?" जहाँपर आगन्तुक लोग अन्वेषण किए जारहे या देखे जारहे थे। जो समस्त लोगों के नेत्ररूप नील कमलों को प्रफुल्लित (आनन्दित) करने के लिए चन्द्रमा-सरीखा था एवं 'लक्ष्मी-विलास तामरस' नामवाले जहाँपर श्रेष्ठ विद्वन्मण्डली द्वारा स्मृतिशास्त्रों (धर्मशास्त्रों) के प्रवचन किये जारहे थे।

अथानन्तर (उक्तप्रकार के राज-सभामण्डप में प्रविष्ट होने के पश्चात्) निराकुल चित्तशाली मैंने मनुष्यों का प्रवेश निषिद्ध न करते हुए ऐसे न्यायाधिकारी पुरुषों के साथ, जो कि समस्त चौदह प्रकार की विद्याओं[1] की प्रवृत्ति के ज्ञाता थे, जिनका समस्त मार्गों का अनुसरण करनेवालों का न्याय (व्यवहार) संबंधी सन्देह नष्ट हो चुका था, जिन्होंने अनेक आचारों (व्यवहारों) के विचारक वृद्ध विद्वानों को

१. तदुक्तं—'षडङ्गानि चतुर्वेदा मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्याश्चैताश्चतुर्दश ॥१॥'
शिक्षा कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं छन्दो निरुक्तं चेति वेदानां अङ्गानि षट्।

अर्थात्—चार वेद हैं,—१ ऋग्वेद २ यजुर्वेद ३ सामवेद व ४ अथर्ववेद। उक्त वेदों के निम्नप्रकार ६ अङ्ग हैं। क्योंकि निम्नप्रकार ६ अङ्गों के ज्ञानसे उक्त चारों प्रकार के वेदों का ज्ञान हो सकता है। १-शिक्षा, २—कल्प, ३—व्याकरण, ४-निरुक्त, ५-छन्द और ६—ज्योतिष।

१. शिक्षा—स्वर और व्यञ्जनादि वर्णों का शुद्ध उच्चारण और शुद्ध लेखन को बतानेवाली विद्या को 'शिक्षा' कहते हैं। २. कल्प—धार्मिक आचार विचार या क्रियाकाण्डों-गर्भाधान-आदि संस्कारों के निरूपण करनेवाले शास्त्र को 'कल्प' कहते हैं। ३. व्याकरण—जिससे भाषा का शुद्ध लिखना, पढ़ना और बोलने का बोध हो। ४. निरुक्त—यौगिक, रूढि और योगरूढि शब्दों के प्रकृति व प्रत्यय-आदि का विश्लेषण करके प्राकरणिक द्रव्य पर्यायात्मक या अनेक धर्मात्मक पदार्थ के निरूपण करने वाले शास्त्र को 'निरुक्त' कहते हैं। ५. छन्द—पद्यों-वर्णवृत्त और मात्रावृत्त छन्दों के लक्ष्य व लक्षण के निर्देश करने वाले शास्त्र को 'छन्द शास्त्र' कहते हैं। ६. ज्योतिष—ग्रहों की गति और उससे विश्व के ऊपर होने वाले शुभ व अशुभ फलों को तथा प्रत्येक कार्य के सम्पादन के योग्य शुभ समय को बताने वाली विद्या को 'ज्योतिर्विद्या' कहते हैं इसप्रकार ये ६ वेदाङ्ग हैं।

इतिहास, पुराण, मीमांसा (विभिन्न व मौलिक सिद्धान्त बोधक वाक्यों पर शास्त्राविरुद्ध युक्तियों द्वारा विचार करके समीकरण करने वाली विद्या), न्याय (प्रमाण व नयों का विवेचन करनेवाला शास्त्र) और धर्मशास्त्र (अहिंसा धर्म के पूर्ण तथा व्यवहारिक रूप को विवेचन करनेवाला शास्त्र) उक्त प्रकार से १४ प्रकार की विद्याएँ हैं—नीतिवाक्यामृत पृ० १२० से समुद्धृत—सम्पादक

सकलविद्याव्यवहारवेदिभिर्विगतसर्वपथीनन्यायह्वापरैर्दृष्टश्रुतानेकाचारविचारिकोकैः †सत्यवादिभिस्तमोपहालोकैरिव यथार्थदर्शनस्थैर्धर्मस्थैः सह सर्वेषामाश्रमिणामितर‡व्यवहारविश्रामिणां च कार्याण्यपश्यम्। दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्यविपर्यासमासन्नैः कार्यतेऽतिसंधीयते च द्विषद्भिः।

नेत्रों द्वारा प्रत्यक्ष किया था और कानों द्वारा सुना था एवं जो सत्यवादी होते हुए उसप्रकार यथार्थ दृष्टि रखते थे। अर्थात्—वस्तुतत्व (न्याय-अन्याय) को उसप्रकार यथार्थ प्रकाशित करते थे जिसप्रकार सूर्य का प्रकाश वस्तुओं को यथार्थ प्रकाशित करता है, समस्त आश्रमवासियों (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ व यति आश्रमों में रहनेवाले) व समस्त वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्रवर्ण) में स्थित हुए प्रजाजनों के कार्य स्वयं देखे—उन पर न्यायानुकूल अथवा मण्डल (देश) धर्मानुसार विचार किया। मैंने इसलिए समस्त प्रजाजनों की देख-रेख स्वयं की। अर्थात्—उनके कर्तव्यों पर न्यायानुसार या मण्डल धर्मानुसार स्वयं विचार इसलिए किया, क्योंकि जो राजा प्रजा को अपना दर्शन नहीं देता। अर्थात्—स्वयं प्रजा के कार्यों पर न्यायानुसार विचार नहीं करता और उन्हें अधिकारी वर्ग पर छोड़ देता है, उसका कार्य अधिकारी लोग स्वार्थवश विगाड़ देते हैं और शत्रुगण भी उससे वगावत करने तत्पर हो जाते हैं अथवा परास्त कर देते हैं, अतः प्रजा को राजकीय दर्शन सरलता से होना चाहिए। भावार्थ—राजपुत्र[1] व गर्ग[2] नीतिकारों ने भी उक्त बात का समर्थन करते हुए क्रमशः कहा है कि "जो राजा अपने द्वार पर आए हुए विद्वान्, धनाढ्य, दीन, साधु व पीड़ित पुरुष की उपेक्षा करता है, उसे लक्ष्मी छोड़ देती है॥' "स्त्रियों में आसक्त रहनेवाले राजा का कार्य मंत्रियों द्वारा बिगाड़ दिया जाता है और शत्रुलोग भी उससे युद्ध करने तत्पर हो जाते हैं॥' निष्कर्ष—हे मारिदत्त महाराज! इसलिए मैंने समस्त प्रजा के कार्यों (शिष्टपालन व दुष्टनिग्रह-आदि) पर स्वयं न्यायानुकूल विचार किया। क्योंकि राजा को व्यसनों (जुआ खेलना व परस्त्री-सेवन-आदि) में फँसाने के सिवाय मंत्री-आदि अधिकारियों की जीविका का कोई दूसरा उपाय प्रायः उसप्रकार नहीं है जिसप्रकार पति को व्यसनों में फँसाने के सिवाय व्यभिचारिणी स्त्रियों की जीविका का दूसरा उपाय प्रायः नही है। अर्थात्—जिसप्रकार पति को व्यसनों में फँसा देने से व्यभिचारिणी स्त्रियों का यथेच्छ पर्यटन होता है उसीप्रकार राजा को व्यसनों में फँसा देने से मन्त्रियों की भी यथेच्छ प्रवृत्ति होती है, अर्थात्—वे निरङ्कुश होकर लाँच-घूस-आदि द्वारा प्रजा से यथेष्ट धन-संग्रह करते हैं।

भावार्थ—नीतिकार प्रस्तुत आचार्य[3] व रैभ्य[4] विद्वान् ने भी उक्त बात की पुष्टि करते हुए कहा है "कि जिसप्रकार धनाढ्यों को रोग-वृद्धि छोड़कर प्रायः वैद्यों की जीविका का कोई दूसरा उपाय नहीं है उसीप्रकार राजा को व्यसनों में फँसाने के सिवाय मंत्री-आदि अधिकारियों की जीविका का भी कोई दूसरा उपाय प्रायः नहीं है॥" "जिसप्रकार धनिकों की बीमारी का इलाज करने में वैद्यों को विशेष सम्पत्ति प्राप्त होती है उसीप्रकार स्वामी (राजा) को व्यसनों में फँसा देने से मंत्री-आदि

† 'सत्यवादिभिः' ख० प्रतौ नास्ति, अन्यत्र प्रतिषु वरीवर्ति—सम्पादकः। ‡ 'इतरव्यवहारविश्रमिणां' ख०।

१. तथा च राजपुत्रः—ज्ञानिनं धनिनं दीनं योगिनं वार्तिसंयुतं। द्वारस्थं य उपेक्षेत स श्रिया समुपेक्ष्यते॥१॥

२. तथा च गर्गः—स्त्रीसमासक्तचित्तो यः क्षितिपः संप्रजायते। वामतां सर्वकृत्येषु सचिवैर्नीयतेऽरिभिः॥१॥

३. तथा च सोमदेव सूरिः—"वैद्येषु श्रीमतां व्याधिवर्धनादिव नियोगिषु भर्तृव्यसनादपरो नास्ति जीवनोपायः"

४. तथा च रैभ्यः—ईश्वराणां यथा व्याधिर्वैद्यानां निधिरुत्तमः। नियोगिनां तथा ज्ञेयः स्वामिव्यसनसंभवः॥१॥

नीतिवाक्यामृत (भाषाटीकासमेत) पृ० २५६-२५७ से संगृहीत—सम्पादक

न हि नियोगिनामसतीजनानामिव भर्तुर्व्यसनादपरः प्रायेणास्ति जीवनोपायः। स्वामिनो वा नियुक्तानां स्त्रीणामिवाति-प्रसरणनिवारणात्। भवन्ति चात्र श्लोकाः—

नियुक्तहस्तार्पितराज्यभारास्तिष्ठन्ति ये स्वैरविहारसाराः।
बिडालवृन्दाहितदुग्धमुद्राः स्वपन्ति ते मूढधियः क्षितीन्द्राः ॥२४॥
ज्ञायेत मार्गः सलिले तिमीनां पतत्त्रिणां व्योम्नि कदाचिदेषः।
अध्यक्षसिद्धेऽपि कृतावलेपा न ज्ञायतेऽमात्यजनस्य वृत्तिः ॥२५॥
व्याधिवृद्धौ यथा वैद्यः श्रीमतामाहितोद्यमः। व्यसनेषु तथा राज्ञः कृतयत्ना नियोगिनः ॥२६॥
नियोगिभिर्विना नास्ति राज्यं भूपे हि केवले। तस्मादमी विधातव्या रक्षितव्याश्च यत्नतः ॥२७॥

अधिकारियों को भी विशेष सम्पत्ति मिलती है ॥१॥" जिसप्रकार मंत्री-आदि अधिकारीवर्ग की यथेच्छ प्रवृत्ति (रिश्वतखोरी आदि) रोकने के सिवाय राजा की जीविका का दूसरा कोई उपाय प्रायः उसप्रकार नहीं है जिसप्रकार स्त्रियों की यथेच्छ प्रवृत्ति रोकने के सिवाय उनके स्वामियों की जीविका का प्रायः कोई दूसरा उपाय नहीं है।

प्रस्तुत विषय-समर्थक श्लोक—

जो राजालोग मन्त्रियों के हाथों पर राज्य-भार समर्पित करते हुए स्वेच्छाचार प्रवृत्ति को मनोरञ्जन मानकर बैठते हैं और निश्चिन्त हुए निद्रा लेते हैं, वे उसप्रकार विवेकहीन (मूर्ख) समझे जाते हैं जिसप्रकार ऐसे मानव, जिन्होंने दूध-रक्षासंबंधी अपने अक्षरोंवाली मुद्रिका (अङ्गुलि-भूषण) मार्जार (विलाव) समूह में आरोपित की है। अर्थात्—विलाव-समूह के लिए दुग्ध-रक्षा का पूर्ण अधिकार दे दिया है, विवेकहीन (मूर्ख) समझे जाते हैं[1] ॥२४॥ मछलियों का गमनादि-मार्ग किसी समय जल में जाना जा सकता है और पक्षियों का संचार-मार्ग कभी आकाश में जाना जा सकता है परन्तु मन्त्री लोगों का ऐसा आचार (दाव पेंच-युक्त वर्ताव), जिसमें प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हुए कर्तव्य में भी चारों ओर से अवलेप (छद्मक्रिया—धोखेबाजी अथवा अदर्शन) किया गया है, नहीं जाना जा सकता[2] ॥२५॥

जिसप्रकार वैद्य धनाढ्यों के रोग को वृद्धिंगत करने में प्रयत्नशील होता है उसीप्रकार मंत्री लोग भी राजा को व्यसनों में फँसा देने में प्रयत्नशील उपाय रचनेवाले होते हैं[3] ॥२६॥ निश्चय से मन्त्रियों के विना केवल राजा द्वारा राज्य-संचालन नहीं हो सकता, अतः राजा को राज्य संचालनार्थ मन्त्री नियुक्त करना चाहिए और उनकी सावधानता पूर्वक रक्षा करनी चाहिए[4] ॥२७॥

प्रसङ्गानुवाद—हे मारिदत्त महाराज! किसी समय मन्त्रियों के आराधना-काल की अनुकूलता-युक्त पाँच प्रकार के मन्त्र (राजनैतिक ज्ञान से होनेवाली सलाह) के अवसरों पर धर्मविजयी[5] (शत्रु के पादपतन मात्र से संतुष्ट होनेवाला) राजा का अभिप्राय उसप्रकार स्वीकार करनेवाले मैंने जिसप्रकार सत्यवादी (मुनि), धर्मविजय का अद्वितीय अभिप्राय स्वीकार करता है, दैव (भाग्य—पुण्यकर्म) की स्थापना करनेवाले 'विद्यामहोदधि' नाम के मंत्री से निम्नप्रकार मंत्र-रक्षा व भाग्य-मुख्यता और पुरुषार्थ—उद्योग सिद्धान्त माननेवाले 'चार्वाक अवलोकन' (नास्तिक दर्शन के अनुयायी) नामके मंत्री से निम्नप्रकार

---

१. दृष्टान्तालंकार अथवा आक्षेपालंकार। २. स्वभावोक्ति—जाति-अलंकार। ३. दृष्टान्तालंकार अथवा उपमा-लंकार। ४. जाति-अलंकार। ५. विजिगीषवस्तावत्त्रयो वर्तन्ते—धर्मविजयी लोभविजयी असुरविजयी चेति। तत्र धर्मविजयी शत्रोः पादपतनमात्रेण तुष्यति, लोभविजयी शत्रोः सर्वस्वं गृहीत्वा तुष्यति...।—संस्कृत टीका से संकलित—सम्पादक

कदाचित्सचिवसेवावसरानुकूलेषु मन्त्रकालेषु

विशोधय महीपाल मन्त्रशालामशेषतः । अयुक्तोऽर्हति न स्थातुमस्यां रतिरहस्यवत् ॥२८॥

यतः—एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च हन्यते । सबन्धुराष्ट्रं राजानं हन्त्येको मन्त्रविप्लवः ॥२९॥

तव तेजोनिधेर्देव सर्वलोकैकचक्षुषः । को नाम दर्शयेन्मन्त्रं प्रदीपं द्युमणेरिव ॥३०॥

चन्द्रादिवाम्बु तत्कान्ते सूर्यात्तेजस्तदश्मनि । त्वत्तो गुणनिधेनाथ मतिर्मादृशि जायते ॥३१॥

पुरुषार्थ की श्रेष्ठता एवं दैव और पुरुषार्थ दोनों की स्थापना करनेवाले 'कविकुलशेखर' नाम के मंत्री से निम्नप्रकार दैव व भाग्य दोनों की मुख्यता तथा 'उपायसर्वज्ञ' नाम के नवीन मन्त्री से, उक्त मन्त्रियों के निम्नप्रकार अप्राकरणिक कथन का खंडन तथा राजनैतिक प्राकरणिक सिद्धान्त और ऐसे 'नीतिबृहस्पति' नाम के मंत्री से, जिसने समस्त मन्त्रियों में अपनी मुख्य स्थिति प्राप्त की थी, [निम्नप्रकार राजनैतिक सिद्धान्तों की विशेषता] श्रवण करते हुए, लक्ष्मी-मुद्रा के चिह्नवाली (लक्ष्मी देनेवाली) इति कर्तव्यता क्रिया (कर्तव्य-निश्चय) को उसप्रकार हस्तगत (स्वीकार) किया जिसप्रकार लक्ष्मी की मुद्रा (छाप) वाली सुवर्ण-मुद्रिका (अँगूठी) हस्तगत (स्वीकार) की जाती है। अर्थात्—अँगुलि में धारण की जाती है। तत्पश्चात् मैंने यथावसर सन्धि (मैत्री करना), विग्रह (युद्ध करना), यान (शत्रु पर चढ़ाई करना), आसन (शत्रु की उपेक्षा करना), संश्रय (आत्मसमर्पण करना) व द्वैधीभाव (भेद करना-अर्थात्-बलिष्ठ शत्रु के साथ सन्धि करना और निर्बल के साथ युद्ध करना अथवा बलिष्ठ शत्रु के साथ सन्धि पूर्वक युद्ध करना) इन छह राजाओं के गुणों (राज्यवृद्धि के उपायों) का अनुष्ठान किया[1]।

दैव (भाग्य) सिद्धान्त के समर्थक 'विद्यामहोदधि' नाम के मंत्री का कथन—

हे राजन् ! मन्त्र-गृह को समस्त प्रकार से विशुद्ध कीजिए। अर्थात्—मन्त्रशाला में अधिकार न रखनेवाले पुरुष को वहाँ से निकालिए। क्योंकि मन्त्र-भेद करनेवाला पुरुष उसप्रकार मन्त्रशाला में ठहरने के योग्य नहीं होता जिसप्रकार संभोग क्रीड़ा में अयोग्य पुरुष ठहरने के योग्य नहीं होता[2] ॥२८॥ क्योंकि विषरस (तरल जहर) एक पुरुष का घात करता है और शस्त्र द्वारा भी एक पुरुष मारा जाता है, जब कि केवल मन्त्र-भेद राजा को कुटुम्ब व राष्ट्र समेत मार देता है[3] ॥२९॥ हे राजन् ! जिसप्रकार समस्त लोक के पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए अद्वितीय नेत्र-सरीखे और प्रकाश-निधि (खजाने) सूर्य के लिए कोई पुरुष दीपक नहीं दिखा सकता उसीप्रकार ज्ञान-निधि (खजाने) और समस्त लोक के पदार्थों को जानने के लिए अद्वितीय नेत्रशाली ऐसे आपके लिए भी कोई पुरुष मन्त्र (राजनैतिक ज्ञानवाली सलाह) बोध नहीं करा सकता। अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार तेजोनिधि व सर्वलोक-लोचन-प्राय सूर्य को दीपक दिखाना निरर्थक है उसीप्रकार ज्ञान-निधि आपको भी मन्त्र का बोध कराना निरर्थक है[4] ॥ ३० ॥

हे राजन् ! जिसप्रकार चन्द्रमा के उदय से चन्द्रकान्त मणि से जल प्रवाहित (झरना) होता है और सूर्य-किरणों से सूर्यकान्त मणि से अग्नि उत्पन्न होती है उसीप्रकार ज्ञान-निधि आप से हम सरीखे

१. तथा चाह सोमदेवसूरिः—सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यं ॥ १ ॥ पणबन्धः सन्धिः ॥२॥ अपराधो विग्रहः ॥३॥ अभ्युदयो यानं ॥४॥ उपेक्षणमासनम् ॥५॥ परस्यात्मार्पणं संश्रयः ॥६॥ एकेन सह सन्धायान्येन सह विग्रहकरणमेकत्र वा शत्रौ सन्धानपूर्वं विग्रहो द्वैधीभावः ॥७॥ प्रथमपक्षे सन्धीयमानो विगृह्यमाणो विजिगीषुरिति द्वैधीभावो बुद्ध्याश्रयः ॥८॥

देखिए हमारे द्वारा हिन्दी अनुवाद किया हुआ नीतिवाक्यामृत पृष्ठ ३७४ (व्यवहार समुद्देश)—सम्पादक

२. उपमालंकार। ३. व्यतिरेकालंकार। ४. दृष्टान्तालंकार।

स्वस्यैव बुद्धिशुद्ध्यर्थं किंतु किंचिन्निगद्यते । निकषाश्मोपकाराय न सुवर्णपरीक्षणम् ॥३२॥
स्वयं नयानभिज्ञस्य निसर्गात्सज्जनद्विषः । पुरः क्षितिपतेर्नाम मौनं मान्यैर्विधीयते ॥३३॥
समस्तशास्त्रसंदर्भप्रगल्भप्रतिभे त्वयि । सल्लोकलोचनानन्दे को हि वाचंयमक्रियः ॥३४॥
किं च—उक्ते युक्तेऽपि यः स्वामी विपर्यस्येद्दुराग्रहात् । प्रत्यर्थिवेदिवेतण्डसमे तत्र क ईश्वरः ॥३५॥
दैवमादौ ततोऽमीषां ग्रहाणामनुकूलताम् । स्वं च धर्मानुबन्धं च विचिन्त्योत्सहतां नृपः ॥३६॥

मानव में बुद्धि उत्पन्न होती है[1] ॥ ३१ ॥ हे राजन् ! अपनी बुद्धि विज्ञापित (प्रदर्शित) करने के हेतु ही मेरे द्वारा आपके प्रति कुछ विज्ञापन किया जाता है, क्योंकि सुवर्ण-परीक्षण (कसौटी पत्थर पर सुवर्ण को घिसना) सुवर्ण के उपकार-हेतु होता है, न कि कसौटी के उपकार के लिए[2] ॥३२॥ नीतिशास्त्र-वेत्ताओं ने ऐसे राजा के समक्ष मौन रखने का विधान किया है, जो कि स्वयं नीतिशास्त्र का ज्ञाता नहीं है और सज्जनों (विद्वानों) से स्वभावतः द्वेष करता है[3] ॥३३॥ हे राजन् ! यह स्पष्ट है कि ऐसे आपके समक्ष, कौन बुद्धिमान् पुरुष मौन धारण करनेवाला हो सकता है ? अपितु कोई नहीं हो सकता। जिसकी प्रतिभा (बुद्धि-विशेषता) समस्त शास्त्र (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का ज्ञान करानेवाले ग्रन्थ) समूह के जानने में प्रौढ़ (तीक्ष्ण) है और जो विद्वानों के नेत्रों को आनन्दित करनेवाला है[4] ॥ ३४ ॥ जो राजा हित की बात कही जाने पर भी उसे दुष्ट अभिप्राय-वश विपरीत (अहितकारक) मानता है, वह हित की शिक्षा देनेवाले को शत्रु माननेवाले हाथी-सरीखा दुष्ट है, उसे समझाने के लिए कौन पुरुष समर्थ है ? अपि तु कोई समर्थ नहीं है। भावार्थ—जिसप्रकार पागल हाथी हित-शिक्षा देनेवाले महावत-आदि को शत्रु समझकर मार देता है उसीप्रकार दुष्ट राजा भी दुष्ट अभिप्राय के कारण हितैषी के साथ शत्रुता करता हुआ उसे मार देता है, अतः दुष्ट हाथी के समान दुष्ट राजा को समझाने के लिए कौन समर्थ हो सकता है[5] ॥ ३५ ॥

प्रस्तुत मंत्री द्वारा दैव (भाग्य) सिद्धान्त का समर्थन—हे राजन् ! राजा को सब से पहिले दैव (भाग्य पूर्व जन्म में किये हुए पुण्यकर्म) की शक्ति का विचार करना चाहिए। तदनन्तर इन प्रत्यक्षीभूत सूर्य-आदि ग्रहों की अनुकूलता (उच्चता) का विचार करते हुए अपनी शक्ति या धन का और धर्म के अनुबन्ध (विरोध-रहितपने) का भलीप्रकार चिंतवन करके [शिष्ट-पालन, दुष्टनिग्रह-आदि कर्त्तव्य कर्म करने के लिए] उत्साहित होना चाहिए।

भावार्थ—प्राणियों द्वारा पूर्वजन्म में किये हुए पुण्य व पापकर्म को 'दैव' कहते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें क्रमशः सुख-सामग्री (धनादि लक्ष्मी) व दुखसामग्री (दरिद्रता व मूर्खता-आदि) प्राप्त होती हैं। अर्थात्—पूर्वजन्म में किये हुए पुण्य से इस जन्म में सुखसामग्री व पाप से दुःखसामग्री प्राप्त होती है। व्यास[6] नीतिकार ने कहा है कि 'जिसने पूर्वजन्म में दान, अध्ययन व तपश्चर्या की है, वह पूर्वकालीन अभ्यास-वश इस जन्म में भी उसीप्रकार दान-आदि पुण्यकर्म में प्रवृत्ति करता है।' यहाँपर प्रकरण में उक्त मंत्री यशोधर महाराज से कहता है कि हे राजन् ! आपको दैवशक्ति-आदि का इसप्रकार विचार करना चाहिए कि मैंने पूर्वजन्म में दान-आदि पुण्य संचय किया था जिसके फलस्वरूप मुझे राज्यादि-लक्ष्मी प्राप्त हुई और इसीकारण मेरे सूर्य-आदि ग्रह भी अनुकूल हैं और कोश (खजाने) भी पर्याप्त है,

---

१. उपमालंकार अथवा दृष्टान्तालंकार। २. अर्थान्तरन्यास-अलङ्कार। ३. जाति-अलङ्कार। ४. आक्षेपालङ्कार। ५. उपमा व आक्षेपालंकार।

६. तथा च व्यासः—येन यच्च कृतं पूर्वं दानमध्ययनं तपः। तेनैवाभ्यासयोगेन तच्चैवाभ्यस्यते पुनः ॥१॥
नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृ० ३६७ से संगृहीत—सम्पादक

आगर्भाच्छ्रीरियं यावद्येन चिन्ता कृता पुरा । तद्दैवमुत्तरत्रापि जागरिष्यति देहिनाम् ॥३७॥
एवमेव परं लोकः *क्लिश्नात्यात्मानमात्मना । यदत्र लिखितं भाले तत्स्थितस्यापि जायते ॥३८॥
मघोनस्त्रिदिवैश्वर्ये शेषस्योद्धरणे भुवः । को नाम पौरुषारम्भस्तदत्र शरणं विधिः ॥३९॥
तस्माद्यथासुखं देवः †श्रियमानयतामिमाम् । रिक्तः सुखैर्गतः कालः पुनर्नायाति जन्तुषु ॥४०॥
वार्तयापि हि शत्रूणां प्रक्षुभ्यति मनोम्बुधिः । कस्तान्दृष्टिपथे कुर्यान्नरः कुम्भीनसानिव ॥४१॥
दुर्गं मन्दरकन्दराणि परिधिस्ते गोत्रधात्रीधराः खेयं सप्तपयोधयः स्वविषयः स्वर्गः सुराः सैनिकाः ।
मन्त्री चास्य गुरुस्तथाप्ययमगात्प्रायः परेषां वशं दैवाद्देवपतिस्तदत्र नृप किं तन्त्रेण मन्त्रेण वा ॥४२॥
या नैव लभ्या त्रिदशानुवृत्त्या मनोरथैरप्यनवापनीया ।
सा देव लक्ष्मीः स्वयमागतेयं निषेव्यतामत्र सुखेन सौधे ॥४३॥

अतः मुझे दान-पुण्य-आदि धर्म का निरन्तर पालन करते हुए शिष्टपालन व दुष्टनिग्रहरूप राजकर्तव्य में प्रवृत्ति करनी चाहिए[1] ॥ ३६ ॥ हे देव ! गर्भ से लेकर चली आनेवाली यह प्रत्यक्ष प्रतीत राज्यलक्ष्मी जिस पूर्वोपार्जित पुण्य द्वारा उपस्थित की गई है, वही पुण्य (दैव) आगामी काल में भी प्राणियों के लिए लक्ष्मी उत्पन्न करने के लिए जाग्रत (सावधान) होगा[2] ॥३७॥ हे राजन् ! यह लोक (मानव-वगैरह प्राणी) [नाना प्रकार के पुरुषार्थ—उद्योग—द्वारा] केवल अपनी आत्मा को स्वयं व्यर्थ ही क्लेशित (दुःखी) करता है, क्योंकि इस संसार में जो प्राणियों के मस्तक पर लिखा गया है (जो सुखसामग्री भाग्य द्वारा प्राप्त होने योग्य है) वह उद्यम-हीन मानव को भी प्राप्त होजाती है[3] ॥३८॥ हे राजन् ! इन्द्र को स्वर्ग का राज्य करने में और धरणेन्द्र को पृथिवी को मस्तक पर धारण करने में कौन से पुरुषार्थ (उद्योग) का आरम्भ करना पड़ता है ? अपि तु किसी पुरुषार्थ का आरम्भ नहीं करना पड़ता। अतः इस संसार में प्राणियों के लिए दैव (भाग्य) ही शरण (दुःख दूर करने में समर्थ) है[4] ॥३९॥ इसलिए हे राजन् ! प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाली इस राज्य-लक्ष्मी को सुख का उल्लङ्घन न करके भोगिए। क्योंकि जो सुख भोगने का समय (युवावस्था-आदि) सुखों के विना निकल जाता है, वह प्राणियों को पुनः प्राप्त नहीं होता[5] ॥४०॥

हे राजन् ! जब शत्रुओं के केवल वृत्तान्त मात्र से भी मनरूपी समुद्र क्षुब्ध (व्याकुलित) हो जाता है तब सर्पों के समान महाभयङ्कर उन शत्रुओं को कौन पुरुष नेत्रों द्वारा दृष्टिगोचर करेगा ? अपि तु कोई नहीं करेगा[6] ॥४१॥ हे राजन् ! जब कि यह प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाला ऐसा देवताओं का इन्द्र दैव से (पाप कर्म के उदय से) प्रायः करके पराधीन होगया, यद्यपि उसके पास महान् सैन्य-आदि शक्ति वर्तमान है। उदाहरणार्थ—सुमेरुपर्वत के मध्यभाग या गुफाएँ ही जिसका [अभेद्य] दुर्ग (किला) है। वे जगत्प्रसिद्ध कुलाचल ही जिसकी परिधि (कोट) है। सात समुद्र ही जिसकी खातिका (खाई) है। स्वर्गलोक ही जिसका निजी राष्ट्र है। देवता जिसके सैनिक हैं और बृहस्पति ही जिसका बुद्धिसचिव है, इसलिए इस संसार में [भाग्य के प्रतिकूल होने पर] सैन्य-शक्ति से क्या लाभ है ? अथवा पञ्चाङ्ग मन्त्र से भी कौन सा प्रयोजन सिद्ध होता है ? अपितु कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतः संसार में दैव (पूर्वजन्म-कृत पुण्य) ही प्रधान है[7] ॥४२॥ हे राजन् ! वह जगत्प्रसिद्ध व प्रत्यक्षप्रतीत होनेवाली ऐसी राज्यलक्ष्मीं, जो कि न तो देवताओं की सेवा द्वारा प्राप्त हो सकती है और न मनोरथों द्वारा प्राप्त होने योग्य है, जब आपको स्वयं

---

*'क्लिश्यत्यात्मानमात्मना' क० । †'श्रियं मानयतामिमां' क० ।

१. समुच्चयालंकार । २. अनुमानालंकार । ३. अनुमानालंकार । ४. आक्षेपालंकार । ५. अनुमानालंकार । ६. आक्षेप व उपमालंकार । ७. समुच्चयालंकार ।

यस्तत्प्रसादादधिगम्य लक्ष्मीं धर्मे पुनर्मन्दतरादरः स्यात् ।
तस्मात्कृतघ्नः किमिहापरोऽस्ति रिक्तः पुरोजन्मनि वा मनुष्यः ॥४४॥
धनं धर्मविलोपेन परभोगाय भूपतेः । पापं स्वात्मनि जायेत हरेर्द्विपवधादिव ॥४५॥
इति दैववादिनो विद्यामहोदधेः सचिवात्,
चेष्टमानः । क्रियाः सर्वाः प्राप्नोति न पुनः स्थितः । दृष्ट्वैवं पौरुषीं शक्तिं को दृष्टाग्रहे ग्रहः ॥४६॥

प्राप्त हुई है। अर्थात्—भाग्योदय से स्वयं मिली है तब इस 'त्रिभुवनतिलक' नामके राजमहल में स्थित हुए आप के द्वारा निश्चिन्त रूप से भोगी जावे।[1] ॥४३॥ हे राजन्! जो मानव पुण्य-प्रसाद से लक्ष्मी प्राप्त करके भी पुनः पुण्यकर्म (दानादि) के संचय करने में शिथिल (आलसी) होता है, उससे दूसरा कौन पुरुष कृतघ्न है? अपि तु वही कृतघ्न है एवं उससे दूसरा कौन पुरुष भविष्य जन्म में रिक्त (खाली—दरिद्र) होगा? अपितु कोई नहीं[2] ॥४४॥ धर्म नष्ट करके (अन्याय द्वारा) प्राप्त किया हुआ राजा का धन दूसरे (कुटुम्बी-आदि) द्वारा भोगा जाता है और राजा उसप्रकार पाप का भाजन होता है जिसप्रकार हाथी की शिकार करने से सिंह स्वयं पाप का भाजन (पात्र) होता है। क्योंकि उसका मांस गीदड़-वगैरह जंगली जानवर खाते हैं। भावार्थ—नीतिकारों के[3-4] उद्धरणों का भी यही अभिप्राय है[5] ॥४५॥

पुरुषार्थ (उद्योग) वादी 'चार्वाक अवलोकन' (नास्तिक दर्शन का अनुयायी) नामक मंत्री का कथन—हे राजन्! लोक में यह बात प्रत्यक्ष है कि उद्यमशील पुरुष समस्त भोजनादि कार्य प्राप्त करता है (समस्त कार्यों में सफलता प्राप्त करता है) और निश्चल (भाग्य भरोसे बैठा हुआ उद्यम-हीन—आलसी पुरुष) किसी भी भोजनादि कार्य में सफलता प्राप्त नहीं करता। इस प्रकार उद्योग-गुण देखकर कौन पुरुष दैववाद (भाग्य सिद्धान्त) के विषय में दुष्ट अभिप्राय-युक्त होगा? अपितु कोई नहीं।

भावार्थ—नीतिनिष्ठों[6] ने भी कहा है कि 'भाग्य अनुकूल होने पर भी उद्योग-हीन मनुष्य का कल्याण नहीं होसकता'। वल्लभदेव[7] (नीतिकार) ने भी कहा है कि 'उद्योग करने से कार्य सिद्ध होते हैं न कि मनोरथों से। सोते हुए सिंह के मुख में हिरण स्वयं प्रविष्ट नहीं होते किन्तु पुरुषार्थ—उद्यम द्वारा ही प्रविष्ट होते हैं'। प्रकरण में पुरुषार्थवादी उक्त मंत्री यशोधर महाराज से कहता है कि हे राजन्! उद्योगी पुरुष कार्य सिद्धि करता है न कि भाग्य-भरोसे बैठा रहनेवाला आलसी। इसलिए पुरुषार्थ की ऐसी अनोखी शक्ति देखते हुए आपको राज्य की श्रीवृद्धि के लिए सतत् उद्योगशील होना चाहिए और भाग्यवाद

---

१. अतिशयालंकार। २. आक्षेपालंकार।

३. तथा च सोमदेवसूरिः—'धर्मातिक्रमाद्धनं परेऽनुभवन्ति, स्वयं तु परं पापस्य भाजनं सिंह इव सिन्धुरवधात्'।

४. तथा च विदुरः—एकाकी कुरुते पापं फलं भुङ्क्ते महाजनः। भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥१॥ अर्थात्—नीतिकार विदुर ने कहा है कि 'यह जीव अकेला ही पाप करता है और कुटुम्बी लोग उसका धन भोगते हैं, वे तो छूट जाते हैं परन्तु कर्ता दोष-लिप्त हो जाता है—दुर्गति के दुःख भोगता है' ॥१॥

नीतिवाक्यामृत पृ० ३७ से संकलित—सम्पादक

५. उपमालंकार।

६. तथा च सोमदेवसूरिः—'सत्यपि दैवेऽनुकूले न निष्कर्मणो भद्रमस्ति'

७. तथा च वल्लभदेवः—उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः। न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥१॥

नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृ० ३६६-३६९ से संकलित—संपादक

पुण्यपापे नृणां दैवं ते च स्वाभाविके न हि। किं तूभयं समीहातस्तद्दैवं कः सुधीर्भजेत् ॥४७॥
नरस्य बद्धहस्तस्य पुरो भक्ते कृतेऽपि यत्। अशक्तं मुखनिक्षेपे तद्दैवं कः समाश्रयेत् ॥४८॥
दैवैकशरणे पुंसि वृथा कृष्यादयः क्रियाः। अकृत्वा कंचिदारम्भमाकाशकवलो भवेत् ॥४९॥
दैवावलम्बनवशः पुरुषस्य हस्तादासादितान्यपि धनानि भवन्ति दूरे।
आनीय रत्ननिचयं पथि जातनिद्रे जागर्ति तत्र पथिके हि न जातु दैवम् ॥५०॥
किं च। विहाय पौरुषं यो हि दैवमेवावलम्बते। प्रासादसिंहवत्तस्य मूर्ध्नि तिष्ठन्ति वायसाः ॥५१॥

का आग्रह छोड़ देना चाहिए[1] ॥ ४६ ॥ हे राजन् ! मनुष्यों द्वारा पूर्वजन्म में किये हुए पुण्य व पापकर्म 'दैव' शब्द के अर्थ हैं और वे (पुण्य-पाप) निश्चय से स्वाभाविक (प्राकृतिक) न होते हुए नैतिक व अनैतिक पुरुषार्थ से उत्पन्न होते हैं। अर्थात्—रामचन्द्र-आदि महापुरुषों की तरह नैतिक सत् प्रवृत्ति करने से पुण्य उत्पन्न होता है और रावण-आदि अशिष्ट पुरुषों की तरह नीति-विरुद्ध असत् प्रवृत्ति करने से पाप उत्पन्न होता है, इसलिए कौन विद्वान् पुरुष दैव (भाग्य) का आश्रय लेगा ? अपितु कोई नहीं लेगा। निष्कर्ष—भाग्य-भरोसे न बैठकर सदा उद्यमशील होना चाहिए[2] ॥ ४७ ॥ जो दैव (भाग्य) दोनों हस्तों की मुट्ठी बाँधे हुए (भाग्य-भरोसे बैठे हुए) मनुष्य के सामने उपस्थित हुए भोजन को उसके मुँह में लाकर स्थापित करने में समर्थ नहीं है, उस दैव का कौन पुरुष अवलम्बन करेगा ? अपितु कोई नहीं अवलम्बन करेगा।

भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार सोमदेवसूरि[3] और भागुरि[4] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार भाग्यवश प्राप्त हुआ अन्न भाग्य-भरोसे रहनेवाले व क्षुधा-पीड़ित मानव के मुख में स्वयं प्रविष्ट नहीं होता किन्तु हस्त-संचालन-आदि पुरुषार्थ द्वारा ही प्रविष्ट होता है उसीप्रकार केवल भाग्य-भरोसे रहनेवाले (उद्यमहीन) मानव को कार्य में सफलता नहीं मिलती किन्तु पुरुषार्थ करने से ही मिलती है।' इसलिए उक्त मंत्री कहता है कि हे राजन् ! कार्य-सिद्धि में असमर्थ दैव को कौन स्वीकार कर सकता है ? अपितु कोई नहीं। अतः पुरुषार्थ ही प्रयोजन-सिद्धि करने के कारण श्रेष्ठ है न कि दैव[5] ॥ ४८ ॥ दैव (भाग्य) को ही शरण (प्रयोजन-सिद्धि द्वारा आपत्ति-निवारक) माननेवाले के यहाँ विशेष धान्यादि उत्पन्न करने के उद्देश्य से कीजानेवालीं प्रत्यक्ष प्रतीत हुईं कृषि व व्यापारादि क्रियाएँ (कर्त्तव्य) निरर्थक हो जायगीं इसलिये लोक में कृषि व व्यापारादि उद्यम न करके केवल भाग्य-भरोसे बैठनेवाला मानव आकाश में ही भोजन-ग्रास (कौर) प्राप्त करता है। अर्थात्—उसे कुछ भी सुख-सामग्री प्राप्त नहीं होती[6] ॥४९॥ जिसप्रकार रत्न-राशि लाकर मार्ग पर निद्रा लेनेवाले पथिक (रस्तागीर) का भाग्य उसकी रत्नराशि की कदापि रक्षा नहीं कर सकता, क्योंकि वह चोरों द्वारा अपहरण कर ली जाती है उसीप्रकार दैव (भाग्य) का आश्रय लेनेवाले पुरुष के प्राप्त हुए धन भी निश्चय उसके हाथ से दूर चले जाते हैं—अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं। अर्थात्—उसीप्रकार उसका भाग्य भी उसके धन की रक्षा नहीं कर सकता[7] ॥ ५० ॥

हे राजन् ! उद्यम को छोड़कर केवल भाग्य का ही आश्रय करनेवाले मानव के मस्तक पर उसप्रकार काक—कौए बैठते हैं जिसप्रकार महल के कृत्रिम (बनावटी) सिंह पर कौए बैठते हैं। अर्थात्—उद्यम-हीन

---

१. आक्षेपालंकार। २. आक्षेपालंकार।

३. तथा च सोमदेवसूरिः—"न खलु दैवमीहमानस्य कृतमप्यन्नं मुखे स्वयं प्रविशति ॥"

४. तथा च भागुरिः—प्राप्तं दैववशादन्नं क्षुधार्त्तस्यापि चेच्छुभं। तावन्न प्रविशेद् वक्त्रे यावत्प्रेषति नोत्करः ॥१॥
नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृ० ३६७-३६९ से संगृहीत—संपादक

५. आक्षेपालंकार। ६. उपमालंकार। ७. दृष्टान्तालंकार।

तेजोहीने महीपाले *स्वाः परे च विकुर्वते । निःशङ्कं हि न को धत्ते पदं भस्मन्यनूष्मणि ॥५२॥
अहंकारविहीनस्य किं विवेकेन भूभुजः । नरे कातरचित्ते हि कः स्याद्धस्त्रपरिग्रहः ॥५३॥
†हर्षोऽमर्षश्च नो यस्य धनाय निधनाय च । को विशेषो भवेद्राज्ञस्तस्य चित्रगतस्य च ॥५४॥
येषां बाहुबलं नास्ति येषां नास्ति मनोबलम् । तेषां चन्द्रबलं देव किं कुर्यादम्बरे स्थितम् ॥५५॥
उदयास्तमयारम्भे ग्रहाणां कोऽपरो ग्रहः । कोऽन्यः स्रष्टा जगत्स्रष्टुः कपाले भैक्ष्यमश्नतः ॥५६॥

(आलसी) पुरुष उसप्रकार शत्रुओं द्वारा मार दिया जाता है जिसप्रकार महलों का बनावटी सिंह कौओं-आदि द्वारा नष्टकर दिया जाता है[1] ॥ ५१ ॥ हे राजन् ! जिसप्रकार निश्चय से उष्णता-शून्य (शीतल) राख पर कौन पुरुष निर्भयता-पूर्वक पैर नहीं रखता ? अपि तु सभी रखते हैं उसीप्रकार उद्यम-हीन राजासे भी कुटुम्बी-गण व शत्रुलोग शत्रुता करने तत्पर होजाते हैं[2] ॥५२॥ जिसप्रकार भयभीत (डरपोक) मनवाले पुरुष का शस्त्र-धारण निरर्थक है उसीप्रकार उद्योग-हीन राजा का ज्ञान भी निरर्थक है[3] ॥५३॥ हे राजन् ! जिस राजा का हर्ष (प्रसन्न होना) धन देने में समर्थ नहीं है। अर्थात्—जो राजा किसी शिष्ट पुरुष से प्रसन्न हुआ उसे धन नहीं देता—शिष्टपालन नहीं करता एवं जिस राजा का क्रोध शत्रु की मृत्यु करने में समर्थ नहीं है। अर्थात्—जो शत्रुओं व आततायियों पर कुपित होकर उनका घात करने में समर्थ नहीं होता—दुष्ट-निग्रह नहीं करता। ऐसे पौरुष-शून्य राजा में और चित्र-लिखित (फोटोवाले) राजा में क्या विशेषता—भेद—है ? अपि तु कोई विशेषता नहीं है। अर्थात्—पौरुष-हीन राजा फोटोवाले राजा सरीखा कुछ नहीं है। निष्कर्ष—राजा का कर्तव्य है कि वह हर्षगुण द्वारा शिष्ट-पालन और क्रोध द्वारा दुष्ट-निग्रह करता हुआ फोटो में स्थित राजा की अपेक्षा अपनी महत्वपूर्ण विशेषता स्थापित करे[4] ॥ ५४ ॥

हे राजन् ! जिन पुरुषों में भुजा-मण्डल-संबंधी शक्ति (पराक्रम) नहीं पाई जाती और जिनमें मानसिक शक्ति (चित्त में उत्साह शक्ति) जाग्रत हुई शोभायमान नहीं है, उन उद्यम-हीन पुरुषों का आकाश में स्थित हुआ चन्द्र-बल (जन्म-आदि संबंधी चन्द्र ग्रह की शुभ-सूचक माङ्गलिक शक्ति) क्या कर सकता है ? अपितु कुछ भी नहीं कर सकता[5] ॥५५॥ हे राजन् । सूर्य, चन्द्र, राहु व केतु-आदि नवग्रहों का उदय और अस्त होना प्रारम्भ होता है। अर्थात्—अमुक व्यक्ति के चन्द्र ग्रह का उदय इतने समय तक रहकर पश्चात् अस्त होजायगा, जिसके फलस्वरूप वह चन्द्र के उदयकाल में धन-आदि सुख-सामग्री प्राप्त करके पश्चात्—उक्तग्रह के अस्त काल में दुःख-सामग्री प्राप्त करेगा। इसप्रकार इन शुभ व अशुभ नव ग्रहों का उदय व अस्त होना प्रारम्भ होता है परन्तु उन ग्रहों को उदित व अस्त करनेवाला दूसरा कौन ग्रह है ? अपितु कोई ग्रह नहीं है। इसीप्रकार समस्त तीन लोक की सृष्टि करनेवाले श्रीमहादेव की, जो कि कपाल (मुर्दों की खोपड़ी) में भिक्षा-भोजन करते हैं, सृष्टि करनेवाला दूसरा (भाग्य-आदि) कौन है ? अपितु कोई नहीं है। भावार्थ—जिसप्रकार जब ग्रहों के उदित व अस्त करने में दूसरा ग्रह समर्थ नहीं है एवं श्री महादेव की सृष्टि करनेवाला दूसरा कोई भाग्य-आदि पदार्थ नहीं है उसीप्रकार लोक को भी सुखी-दुःखी करने में प्रशस्त व अप्रशस्त भाग्य भी समर्थ नहीं है। इसलिए भाग्य कुछ नहीं है, केवल पुरुषार्थ ही प्रधान है। प्रकरण में प्रस्तुत दृष्टान्तों द्वारा 'चार्वाक अवलोकन' नाम का मंत्री दैवसिद्धान्त का खंडन करता हुआ पौरुषतत्व की सिद्धि यशोधर महाराज के समक्ष कर रहा है[6] ॥५६॥ हे राजन् !

---

* 'स्वे परे च' क० । † 'हर्षामर्षौ न यस्येह' क० ।

१. दृष्टान्तालङ्कार । २. दृष्टान्तालङ्कार । ३. आक्षेपालङ्कार । ४. यथासंख्य-अलङ्कार व आक्षेपालङ्कार । ५. आक्षेपालङ्कार । ६. आक्षेपालङ्कार ।

तद्विक्रमक्रमाक्रान्तसमस्तभुवनस्थितिः। विद्विष्टदानवोच्छेदाद्विजयी हरिवद्भव ॥५७॥

कामपि श्रियमासाद्य यस्तद्वृद्ध्यै न चेष्टते। तस्यायतिषु न श्रेयो बीजभोजिकुटुम्बिवत् ॥५८॥

सुखं श्रीभ्यः श्रियः शौर्याच्छौर्यं स्वायत्तजन्मकम्। तथाप्यत्रैतदाश्चर्यं यत्सीदन्ति नरेश्वराः ॥५९॥

लब्धाप्यनन्यसामान्यसाहसं नायकं विना। लक्ष्मीर्न निर्भराश्लेषा प्रमदेव जरत्पतौ ॥६०॥

इति पौरुषभाषिणः चार्वाकावलोकनात्,

दैवं च मानुषं कर्म लोकस्यास्य फलाप्तिषु। कुतोऽन्यथा विचित्राणि फलानि समचेष्टिषु ॥६१॥

इसलिए आप अपने पराक्रमरूपी चरण द्वारा समस्त लोक के स्थान स्वाधीन किये हुए होकर शत्रुरूपी दैत्यों का गर्वोन्मूलन (नाश) करने के फलस्वरूप उसप्रकार विजयशाली होओ जिसप्रकार श्रीनारायण अपने पराक्रमशाली चरण द्वारा समस्त लोक के स्थान स्वाधीन करते हुए दानवों के उच्छेद (नाश) से विजयशाली होते हैं[1] ॥५७॥ हे देव! कुछ भी लक्ष्मी प्राप्त करके उसकी वृद्धि के लिए पुरुषार्थ न करनेवाले (प्रयत्नशील न होनेवाले) मानव का उत्तरकाल (भविष्य जीवन) में उसप्रकार कल्याण नहीं होता जिसप्रकार बीज खानेवाले किसान का उत्तर काल में कल्याण नही होता[2] ॥५८॥ हे राजन्! धनादि सम्पत्तियों से सुख प्राप्त होता है और सम्पत्तियाँ शूरता (वीरता) से उत्पन्न होतीं हैं एवं शूरता स्वाधीनता से उत्पन्न होनेवाली है। अर्थात्—स्वाभाविक पुरुषार्थ शक्ति से उत्पन्न होती है। तथापि राजा लोग जो दरिद्रता संबंधी दुःख भोगते हैं, लोक में यही आश्चर्यजनक है[3] ॥५९॥ हे राजन्! प्राप्त हुई भी लक्ष्मी अनोखे पुरुषार्थी स्वामी के विना अर्थात्—भाग्य-भरोसे बैठे रहनेवाले उद्यम-हीन पुरुषका उसप्रकार गाढ़ आलिङ्गन नहीं करती जिसप्रकार स्त्री जरा (वृद्धावस्था) से जीर्ण-शीर्ण (शक्तिहीन) हुए वृद्ध पुरुष का गाढ़ आलिङ्गन नहीं करती[4] ॥६०॥

अथानन्तर—भाग्य व पुरुषार्थ इन दोनों की स्थापना (सिद्धि) करनेवाले 'कविकुलशेखर' नाम के मन्त्री का कथन—

हे राजन्! इस लोक के प्राणियों को जो इष्टफल (धनादि सुख सामग्री) और अनिष्टफल (दरिद्रता-आदि दुःखसामग्री) प्राप्त होते हैं, उसमें भाग्य व पुरुषार्थ दोनों कारण हैं। अर्थात्—भाग्य अनुकूल होने पर किये जानेवाले समुचित पुरुषार्थ द्वारा लोगों को सुख-सामग्री (धन-धान्यादि इष्ट वस्तुएँ) प्राप्त होती है और भाग्य के प्रतिकूल होने पर अयोग्य पुरुषार्थ द्वारा दुःख-सामग्री (दरिद्रता-आदि अनिष्ट पदार्थ) प्राप्त होती है। अभिप्राय यह है कि केवल भाग्य व केवल पुरुषार्थ कार्य सिद्धि करनेवाला नहीं है किन्तु दोनों से कार्य सिद्धि होती है, अन्यथा—यदि उक्त बात न मानी जाय। अर्थात्—भाग्य व पुरुषार्थ दोनों द्वारा फल सिद्धि न मानी जाय—तो एक-सरीखा उद्यम करनेवाले पुरुषों में नाना-प्रकार के उच्च व जघन्य फल क्यों देखे जाते हैं? अर्थात्—एक-सरीखा कृषि व व्यापार-आदि कार्य करनेवालों को अधिक धान्य व कम धान्य और विशेष धन-लाभ व अल्प धन-लाभ क्यों होता है? नहीं होना चाहिए[5] ॥६१॥ हे राजन्! जिस कार्य में बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ किये विना ही—अचानक—कार्य-सिद्धि होजाती है, उस कार्य-सिद्धि में 'दैव' प्रधान कारण है और जिस कार्य में बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ द्वारा कार्य-सिद्धि होती है, उसमें 'पुरुषार्थ' प्रधान है।

१. उपमालङ्कार। २. उपमालङ्कार। ३. हेतु-अलङ्कार। ४. उपमालङ्कार। ५. आक्षेपालंकार।

अप्रेक्षापूर्विका यत्र कार्यसिद्धिः प्रजायते । तत्र दैवं नृपान्यत्र प्रधानं पौरुषं भवेत् ॥६२॥
सुप्तस्य सर्पसंपर्के दैवमायुषि कारणम् । *दृष्ट्वा तु वञ्चिते सर्पे पौरुषं तत्र कारणम् ॥६३॥
परस्परोपकारेण जीवितौषधयोरिव । दैवपौरुषयोर्वृत्तिः फलजन्मनि मन्यताम् ॥६४॥
तथापि पौरुषायत्ताः सत्त्वानां सकलाः क्रियाः । अतस्तच्चिन्त्यमन्यत्र का चिन्तातीन्द्रियात्मनि ॥६५॥
इति द्वयाश्रयिणः कविकुलशेखरात्,

भावार्थ—दार्शनिक-चूडामणि भगवान् समन्तभद्राचार्य[1] ने भी कहा है कि "जिस समय मनुष्यों को इष्ट (सुखादि) व अनिष्ट (दुःखादि) पदार्थ बिना उद्योग किये—अचानक—प्राप्त होते हैं, वहाँ उनका अनुकूल व प्रतिकूल भाग्य ही कारण समझना चाहिये, वहाँ पुरुषार्थ गौण है। इसीप्रकार पुरुषार्थ द्वारा सिद्ध होनेवाले सुख-दुःखादि में क्रमशः नीति व अनीतिपूर्ण 'पुरुषार्थ' कारण है, वहाँ 'दैव' गौण है। अभिप्राय यह है कि इष्ट-अनिष्ट पदार्थ की सिद्धि में क्रमशः अनुकूल-प्रतिकूल भाग्य व नीति-अनीति-युक्त पुरुषार्थ इन दोनों की उपयोगिता है केवल एक की ही नहीं। प्रकरण में 'कविकुलशेखर' नाम का मंत्री यशोधर महाराज के समक्ष उपर्युक्त सिद्धान्त का निरूपण करता है[2] ॥ ६२ ॥

हे राजन्! उक्त बात का समर्थक दृष्टान्त यह है कि सोते हुए मनुष्य को सर्प का स्पर्श हो जानेपर यदि वह जीवित रह जाता है, उस समय उसकी जीवन-रक्षा में दैव (भाग्य) प्रधान कारण है और जागृत अवस्था में जब मानव ने सर्प को देखा, पश्चात् उसने उसे परिहरण कर दिया—हटा दिया (फैंक दिया) अर्थात्—पुरुषार्थ द्वारा उसने अपनी जीवन रक्षा कर ली उस समय उसकी जीवन रक्षा में पुरुषार्थ प्रधान कारण है[3] ॥ ६३ ॥ हे राजन्! आप को यह बात जान लेनी चाहिए कि दैव और पुरुषार्थ कार्य-सिद्धि में जब प्रवृत्त होते हैं तब वे आयु और औषधि के समान परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा करते हुए ही प्रवृत्त होते हैं। अर्थात्—जिसप्रकार जीवित (आयुकर्म) औषधि का उपकारक है और औषधि आयु कर्म का उपकारक है। क्योंकि आयुष्य होने पर औषधि लगती है और औषधि के होने पर जीवित स्थिर रहता है इसीप्रकार 'दैव' (भाग्य) होने पर पुरुषार्थ फलता है और पुरुषार्थ होने पर 'दैव' फलता है[4] ॥ ६४ ॥ हे राजन्! यद्यपि सिद्धान्त उक्त प्रकार है तथापि कर्तव्यदृष्टि से प्राणियों की समस्त चेष्टाएँ पुरुषार्थ के अधीन होतीं हैं, इसलिए पुरुषार्थ करना चाहिए और चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा प्रतीत न होनेवाले भाग्य की क्यों चिन्ता करनी चाहिए? अपि तु नहीं करनी चाहिए। भावार्थ—नीतिकार प्रस्तुत सोमदेवसूरि[5] ने कहा है कि "विवेकी पुरुष को भाग्य के भरोसे न बैठते हुए लौकिक (कृषि-व्यापारादि) व धार्मिक (दान-शीलादि) कार्यों में नैतिक पुरुषार्थ करना चाहिए"। नीतिकार वल्लभदेव[6] विद्वान् ने भी कहा है कि "उद्योगी पुरुष को धनादि लक्ष्मी प्राप्त होती है, 'भाग्य ही सब कुछ धनादि लक्ष्मी देता है' यह कायर—आलसी—लोग कहते हैं, इसलिए दैव—भाग्य को

* 'दृष्ट्वा तु Aवञ्चिते सर्पे' ख० ग० । A 'परिहृते' इति टिप्पणी ख० ग० ।

१. तथा च समन्तभद्राचार्यः—अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः। बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥१॥ देवागमस्तोत्र से संकलित—सम्पादक

२. जाति-अलंकार ।

३. जाति-अलंकार । ४. उपमालंकार । ५. तथा च सोमदेवसूरिः—'तच्चिन्त्यमचिन्त्यं वा दैवं' ।

६. तथा च वल्लभदेवः—उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥ १ ॥
नीतिवाक्यामृत पृ. ३६७-३६८ से संकलित—सम्पादक

मठस्थानमिदं नैव न वादसमयोऽपि च। किं तु मन्त्रनिषद्येयं तत्प्रस्तुतमिहोच्यताम् ॥ ६६ ॥
विजिगीषुररिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहो*ऽत्र मध्यमः। उदासीनोऽन्तरान्तर्द्धिरित्येषा विषयस्थितिः ॥ ६७ ॥

हटाकर अपनी शक्ति से पुरुषार्थ करो, यत्न करने पर भी यदि कार्य सिद्ध नहीं होता तो इसमें क्या दोष है ? अपि तु कोई दोष नहीं। प्रकरण में भाग्य व पुरुषार्थ दोनों की कार्य-सिद्धि में अपेक्षा माननेवाला 'कविकुलशेखर' नाम का मंत्री यशोधर महाराज से उक्त विषय का निरूपण कर रहा है[1] ॥ ६५ ॥

'उपायसर्वज्ञ' नाम के नवीन मंत्री का कथन—

हे राजन् ! यह मठस्थान (विद्यालय) नहीं है और न प्रस्तुत समय वाद-विवाद करने का है किन्तु यह मंत्र-शाला (राजनैतिक ज्ञान की सलाह का स्थान—राज-सभा) है, इसलिये यहाँ राजनैतिक प्रकरण की बात कही जानी चाहिये[2] ॥ ६६ ॥ हे राजन् ! विजिगीषु, अरि, मित्र, पार्ष्णिग्राह, मध्यम, उदासीन और अन्तर्द्धि ये राष्ट्र की मर्यादा है। भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार सोमदेव सूरि[3] ने कहा है कि '१—विजिगीषु, २—अरि, ३—मित्र, ४—पार्ष्णिग्राह, ५—मध्यम, ६—उदासीन, ७—आक्रन्द, ८—आसार और ९—अन्तर्द्धि ये नौ प्रकार के राजा लोग यथायोग्य गुण-समूह और ऐश्वर्य के तारतम्य से युक्त होने के कारण राज-मण्डल के अधिष्ठाता हैं। अभिप्राय यह है कि विजिगीषु राजा इन्हें अपने अनुकूल रखने का प्रयत्न करे। १—विजिगीषु—ऐसे राजा को, जो राज्याभिषेक से अभिषिक्त हुआ भाग्यशाली है एवं खजाना व अमात्य-आदि प्रकृति से सम्पन्न है तथा राजनीति-निपुण व शूरवीर—पराक्रमी है, 'विजिगीषु' कहते हैं। २—अरि—जो अपने निकट सम्बन्धियों का अपराध करता हुआ कभी भी दुष्टता करने से बाज नहीं आता उसे 'अरि' (शत्रु) कहते हैं। ३—मित्र—सम्पत्तिकाल की तरह विपत्तिकाल में भी स्नेह करनेवाले को 'मित्र' कहते हैं। सारांश यह है—कि जो लोग सम्पत्तिकाल में स्वार्थवश स्नेह करते हैं और विपत्तिकाल में धोखा देते हैं वे मित्र नहीं किन्तु शत्रु हैं। जैमिनि[4] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है। वे दोनों व्यक्ति परस्पर में 'नित्यमित्र' हो सकते हैं, जो शत्रुकृत पीड़ा-आदि आपत्तिकाल के अवसर पर परस्पर एक दूसरे द्वारा रक्षा किये जाते हैं या एक दूसरे के रक्षक हैं[5]। नीतिकार नारद[6] विद्वान् के उद्धरण का भी उक्त आशय समझना चाहिये। वंश परम्परा के सम्बन्ध से युक्त बन्धु-आदि सहज मित्र हैं[7]। भागुरि[8] विद्वान् ने भी 'सहजमित्र' का यही लक्षण किया है। जो व्यक्ति अपनी

* 'ग्राहोऽथ मध्यमः, ग०। १. आक्षेपालंकार। २. जाति-अलंकार।

३. तथा च सोमदेवसूरिः—"उदासीन-मध्यम-विजिगीषुअमित्रमित्रपार्ष्णिग्राहाक्रन्दासारान्तर्द्धयो यथासम्भवगुणगण-विभवतारतम्यान्मण्डलानामधिष्ठातारः" ॥

राजात्मदैवद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो नयविक्रमयोरधिष्ठानं विजिगीषुः ॥

य एव स्वस्याहितानुष्ठानेन प्रातिकूल्यमियर्ति स एवारिः ॥

मित्रलक्षणमुक्तमेव पुरस्तात्—यः सम्पदीव विपद्यपि मेद्यति तन्मित्रम् ॥

४. तथा च जैमिनिः—यत्समृद्धौ क्रियात्स्नेहं यद्वत्तद्वत्तथापदि। तन्मित्रं प्रोच्यते सद्भिर्वैपरीत्येन वैरिणः ॥ १ ॥

५. तथा च सोमदेवसूरिः—यः कारणमन्तरेण रक्ष्यो रक्षको वा भवति तन्नित्यं मित्रं ॥

६. तथा च नारदः—रक्ष्यते वध्यमानस्तु अन्यैर्निष्कारणं नरः। रक्षेद्वा वध्यमानं यत्तन्नित्यं मित्रमुच्यते ॥ १ ॥

७. तथा च सोमदेवसूरिः—तत्सहजं मित्रं यत्पूर्वपुरुषपरम्परायातः सम्बन्धः ॥

८. तथा च भागुरिः—सम्बन्धः पूर्वजानां यस्तेन योऽत्र समाययौ। मित्रत्वं कथितं तच्च सहजं मित्रमेव हि ॥१॥

स एव विजयी तेषां शौर्यं यस्य नयानुगम्। किमसाध्यं ततो देव त्वया तद्वयसद्मना ॥ ६८ ॥

उदरपूर्ति व प्राण-रक्षा-हेतु अपने स्वामी से वेतन-आदि लेकर स्नेह करता है, वह 'कृत्रिम मित्र' है[१]। नीतिकार भारद्वाज[२] विद्वान् ने भी कृत्रिम मित्र का यही लक्षण किया है। ४—पार्ष्णिग्राह—जब विजिगीषु राजा शत्रुभूत राजा के साथ युद्ध-हेतु प्रस्थान करता है तब जो बाद में क्रुद्ध हुआ विजिगीषु का देश नष्ट भ्रष्ट कर डालता है उसे 'पार्ष्णिग्राह' कहते हैं[३]। ५—मध्यम—जो उदासीन की तरह मर्यादातीत मंडल का रक्षक होने से अन्य राजा की अपेक्षा प्रबल सैन्य शक्ति से युक्त होने पर भी किसी कारण-वश (यदि मैं एकाकी सहायता करूँगा तो दूसरा मुझ से बैर बाँध लेगा—इत्यादि कारण से) विजय की कामना करनेवाले अन्य राजा के विषय में मध्यस्थ बना रहता है—उससे युद्ध नहीं करता—उसे 'मध्यस्थ' या 'मध्यम' कहते हैं[४]। ६—उदासीन—अपने देश में वर्तमान जो राजा किसी अन्य विजिगीषु राजा के आगे पीछे या पार्श्वभाग पर स्थित हुआ और मध्यम-आदि युद्ध करनेवालों के निग्रह करने में और उन्हें युद्ध करने से रोकने में सामर्थ्यवान् होने पर भी किसी कारण-वश या किसी अपेक्षा-वश दूसरे विजिगीषु राजा के विषय में उपेक्षा करता है—उससे युद्ध नहीं करता—उसे 'उदासीन' कहते हैं[५]। ७—आक्रन्द—जो पार्ष्णिग्राह से बिलकुल विपरीत चलता है—जो विजिगीषु की विजय-यात्रा में हर तरह से सहायता पहुँचाता है, उसे 'आक्रन्द' कहते हैं, क्योंकि प्रायः समस्त सीमाधिपति मित्रता रखते हैं, अतः वे सब 'आक्रन्द' हैं[६]। ८—आसार—जो पार्ष्णिग्राह का विरोधी और आक्रन्द से मैत्री रखता है, वह 'आसार' है[७]। ९—अन्तर्द्धि—शत्रु राजा व विजिगीषु राजा इन दोनों के देश में है जीविका जिसकी—दोनों की तरफ से वेतन पानेवाला पर्वत या अटवी में रहनेवाला 'अन्तर्द्धि' है[८]।

प्राकरणिक सारांश यह है कि 'उपायसर्वज्ञ' नाम का नवीन मंत्री यशोधर महाराज से प्राकरणिक राजनैतिक विषय निरूपण करता हुआ कहता है कि हे राजन्! विजिगीषु-आदि उक्त राजा लोग राष्ट्र की मर्यादा हैं[१] ॥६७॥

हे राजन्! उन विजयशाली राजाओं में वही राजा विजयश्री प्राप्त करता है, जो नय (राजनैतिक ज्ञान व सदाचार सम्पत्ति) के साथ रहने वाली पराक्रम शक्ति (सैन्य व खजाने की शक्ति) से विभूषित है। इसलिए हे देव! जब आप उक्त दोनों गुणों के स्थान हैं तब आप के द्वारा लोक

१. तथा च सोमदेवसूरिः—यद्वृत्तिर्जीवितहेतोराश्रितं तत्कृत्रिमं मित्रम् ॥

२. तथा च भारद्वाजः—वृत्तिं गृह्णाति यः स्नेहं नरस्य कुरुते नरः। तन्मित्रं कृत्रिमं प्राहुर्नीतिशास्त्रविदो जनाः॥

नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृ० ३०३ से (मित्र प्रकरण) व पृ० ३७१ से (विजिगीषु-आदि का स्वरूप) संकलित—सम्पादक

३-८. तथा च सोमदेवसूरिः—यो विजिगीषौ प्रस्थितेऽपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात् कोपं जनयति स पार्ष्णिग्राहः ॥१॥ उदासीनवदनियतमण्डलोऽपरभूपापेक्षया समधिकबलोऽपि कुतश्चित्कारणदन्यस्मिन् नृपतौ विजिगीषुमाणे यो मध्यस्थभावमवलम्बते स मध्यस्थः ॥२॥ अग्रतः पृष्ठतः कोणे वा सन्निकृष्टे वा मण्डले स्थितो मध्यमादीनां विग्रहीतानां निग्रहे संहितानामनुग्रहे समर्थोऽपि केनचित्कारणेनान्यस्मिन् भूपतौ विजिगीषुमाणे य उदास्ते स उदासीनः ॥३॥ पार्ष्णिग्राहाद्यः पश्चिमः स आक्रन्दः ॥४॥ पार्ष्णिग्राहामित्रमासार आक्रन्दमित्रं च ॥५॥ अरिविजिगीषोर्मण्डलान्तर्विहितवृत्तिरुभयवेतनः पर्वताटवीकृताश्रयश्चान्तर्द्धिः ॥६॥ नीतिवाक्यामृत (भाषाटीकासमेत) पृ० ३७१ से संकलित—सम्पादक

९. जाति-अलंकार।

देशकालव्ययोपायसहायफलनिश्चयः। देव यत्र स मन्त्रोऽन्यत्तुण्डकण्डूविनोदनम् ॥ ६९ ॥

में कौन सी इष्ट वस्तु प्राप्त करने के अयोग्य हैं? अपितु सभी इष्ट वस्तुएँ (विजयश्री-आदि) आपके द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। भावार्थ—नीतिकारों ने[1] [2] कहा है कि जिसप्रकार जड़-सहित वृक्ष शाखा, पुष्प व फलादि से वृद्धिंगत होता है उसीप्रकार राज्यरूपी वृक्ष भी राजनैतिक ज्ञान, सदाचार तथा पराक्रम शक्ति से समृद्धिशाली होता है। अतः राजा का कर्तव्य है कि वह अपने राज्य को सुरक्षित, वृद्धिंगत व स्थायी बनाने के लिए सदाचार लक्ष्मी से अलङ्कृत हुआ सैनिक शक्ति व खजाने की शक्ति का संचय करता रहे, अन्यथा दुराचारी व सैन्य-हीन होने से राज्य नष्ट हो जाता है। शुक्र[3] विद्वान् के उद्धरण का यही अभिप्राय है। प्रकरण में 'उपायसर्वज्ञ' नाम का मंत्री मन्त्रशाला में यशोधर महाराज से कहता है कि हे देव! उक्त दोनों गुण विजयश्री के कारण हैं और आप उक्त दोनों गुणों से विभूषित हैं अतः आप को विजयश्री-आदि सभी इष्ट फल प्राप्त हो सकते हैं[4] ॥ ६८ ॥

हे राजन्! जिस मन्त्र (सुयोग्य मन्त्रियों के साथ किया हुआ राजनैतिक विचार) में निम्न प्रकार पाँच तत्त्व (गुण) पाये जाते हैं, वही मंत्र कहा जाता है और जिसमें निम्नप्रकार पाँच गुण नहीं हैं, वह मंत्र न होकर केवल मुख की खुजली मिटाना मात्र है। १—देश व काल का विभाग, २—व्ययोपाय (विनिपात प्रतीकार), ३—उपाय (कार्य-प्रारम्भ करने का उपाय), ४—सहाय (पुरुष व द्रव्य संपत्ति) और ५—फल (कार्यसिद्धि)।

भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार आचार्य[5]श्री की मान्यता के अनुसार मन्त्र (मन्त्रियों के साथ किये हुए विचार) के पाँच अङ्ग होते हैं। १—कार्य प्रारम्भ का उपाय, २—पुरुष व द्रव्यसंपत्ति, ३—देश और काल का विभाग, ४—विनिपात प्रतीकार और ५—कार्यसिद्धि।

१—कार्य-प्रारम्भ करने का उपाय—जैसे अपने राष्ट्र को शत्रुओं से सुरक्षित रखने के लिए उसमें खाई, परकोटा व दुर्ग-आदि निर्माण करने के साधनों पर विचार करना और दूसरे देश में शत्रुभूत राजा के यहाँ सन्धि व विग्रह-आदि के उद्देश्य से गुप्तचर व दूत भेजना-आदि कार्यों के साधनों पर विचार करना यह मन्त्र का पहला अङ्ग है। किसी नीतिकार[6] ने कहा है कि 'जो पुरुष कार्य-प्रारम्भ करने के पूर्व ही उसकी पूर्णता का उपाय—साम व दान-आदि—नहीं सोचता, उसका वह कार्य कभी भी पूर्ण नहीं होता' ॥ १ ॥

२—पुरुष व द्रव्यसंपत्ति—अर्थात्—यह पुरुष अमुक कार्य करने में प्रवीण है, यह जानकर उसे उस कार्य में नियुक्त करना। इसीप्रकार द्रव्यसंपत्ति—कि इतने धन से अमुक कार्य सिद्ध होगा, यह क्रमशः 'पुरुषसंपत्' और 'द्रव्य-संपत्' नाम का दूसरा मन्त्राङ्ग है। अथवा स्वदेश-परदेश की अपेक्षा से प्रत्येक

१. तथा च सोमदेवसूरिः—राज्यस्य मूलं क्रमो विक्रमश्च।
२. तथा च शुक्रः—क्रमविक्रममूलस्य राज्यस्य यथा तरोः। समूलस्य भवेद् वृद्धिस्ताभ्यां हीनस्य संक्षयः ॥१॥
३. तथा च शुक्रः—लौकिकं व्यवहारं यः कुरुते नयवृद्धितः। तद्वृद्धया वृद्धिमायाति राज्यं तत्र क्रमागतम् ॥१॥
४. आक्षेपालंकार। नीतिवाक्यामृत (भा० टी०) पृ० ७७-७८ से संकलित—सम्पादक
५. तथा च सोमदेवसूरिः—"कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपद् देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिश्चेति पंचांगो मंत्रः" ॥
६. तथा चोक्तं-कार्यारम्भेषु नोपायं तत्सिद्ध्यर्थं च चिन्तयेत्। यः पूर्वं तस्य नो सिद्धिं तत्कार्यं याति कर्हिचित् ॥१॥

के दो भेद होजाते हैं। उदाहरणार्थ—पुरुषसंपत्ति—अपने देश में दुर्ग-आदि बनाने में विशेष चतुर बढ़ई व लुहार-आदि और द्रव्यसंपत्ति—लकड़ी व पत्थर-आदि। इसीप्रकार दूसरे देश में पुरुष—सन्धि-आदि करने में कुशल दूत तथा सेनापति और द्रव्य—रत्न व सुवर्ण-आदि। किसी नीतिकार[1] ने पुरुषसंपत्ति व द्रव्यसंपत्ति के विषय में कहा है कि 'जो मनुष्य अपने कार्यकुशल पुरुष को उस कार्य के करने में नियुक्त नहीं करता तथा उस कार्य के योग्य धन नहीं लगाता, उससे कार्य-सिद्धि नहीं हो पाती ॥१॥

३—देश और काल का विभाग—अमुक कार्य करने में अमुक देश व अमुक काल अनुकूल एवं अमुक देश व अमुक काल प्रतिकूल है, इसका विभाग (विचार) करना मंत्र का तीसरा अङ्ग है। अथवा अपने देश में देश (दुर्ग-आदि बनाने के लिए जनपद के बीच का देश) और काल—सुभिक्ष-दुर्भिक्ष तथा वर्षा एवं दूसरे के देश में सन्धि-आदि करने पर कोई उपजाऊ प्रदेश और काल—आक्रमण करने या न करने का समय—कहलाता है, इनका विचार करना—यह 'देशकालविभाग' नामका तीसरा मन्त्राङ्ग कहलाता है। किसी विद्वान्[2] ने देश व काल के बारे में कहा है कि 'जिसप्रकार नमक पानी में डालने से नष्ट हो जाता है एवं जिसप्रकार मछली जमीन पर प्राप्त होने से नष्ट हो जाती है उसीप्रकार राजा भी खोटे देश को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है ॥ १ ॥ जिसप्रकार काक (कौआ) रात्रि के समय और उल्लू दिन के समय घूमता हुआ नष्ट हो जाता है उसीप्रकार राजा भी वर्षा-काल-आदि खोटे समय को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। अर्थात्—वर्षा-ऋतु-आदि कुसमय में लड़ाई करनेवाला राजा भी अपनी सेना को निस्सन्देह कष्ट में डाल देता है ॥ २ ॥

४—विनिपात प्रतीकार—आई हुई आपत्तियों के नाश का उपाय चिंतवन करना। जैसे अपने दुर्ग-आदि पर आनेवाले या आए हुए विघ्नों का प्रतीकार करना यह मंत्र का 'विनिपातप्रतीकार' नाम का चौथा अङ्ग है। किसी विद्वान्[3] ने प्रस्तुत मन्त्राङ्ग के विषय में कहा है कि 'जो मनुष्य आपत्ति पड़ने पर मोह (अज्ञान) को प्राप्त नहीं होता एवं यथाशक्ति उद्योग करता है, वह उस आपत्ति को नष्ट कर देता है ॥ १ ॥

५—कार्यसिद्धि—उन्नति, अवनति और सम-अवस्था यह तीन प्रकार की कार्य-सिद्धि है। जिन साम-आदि उपायों से विजिगीषु राजा अपनी उन्नति, शत्रु की अवनति या दोनों की सम-अवस्था को प्राप्त हो, यह 'कार्यसिद्धि' नामका पाँचवाँ मन्त्राङ्ग है। किसी विद्वान्[4] ने कहा है कि 'जो मनुष्य साम, दान, दंड व भेद-आदि उपायों से कार्य-सिद्धि का चिंतवन करता है और कहींपर उससे विरक्त नहीं होता, उसका कार्य निश्चय से सिद्ध होजाता है। सारांश यह है कि विजिगीषु राजा को समस्त मन्त्री-मण्डल के साथ उक्त पंचाङ्ग मन्त्र का विचार करते हुए तदनुकूल प्रवृत्ति करनी चाहिए। प्रकरण में-'उपायसर्वज्ञ' नामका नवीन मंत्री यशोधर महाराज से मन्त्रशाला में उक्त पञ्चाङ्ग मंत्र का स्वरूप निरूपण करता है और कहता है कि राजन्! जिस मंत्र में उक्त पाँच अङ्ग या गुण पाये जावें, वही वास्तविक मन्त्र है और

१. तथा चोक्तं—समर्थं पुरुषं कृत्ये तदर्हं च तथा धनम्। योजयेत् यो न कृत्येषु तत्सिद्धिं तस्य नो भजेत् ॥ १ ॥

२. उक्तं च यतः—यथात्र सैन्धवस्तोये स्थले मत्स्यो विनश्यति। शीघ्रं तथा महीपालः कुदेशं प्राप्य सीदति ॥१॥

यथा काको निशाकाले कौशिकश्च दिवा चरन्। स विनश्यति कालेन तथा भूपो न संशयः ॥२॥

३. उक्तं च यतः—आपत्काले तु सम्प्राप्ते यो न मोहं प्रगच्छति। उद्यमं कुरुते शक्त्या स तं नाशयति ध्रुवं ॥१॥

४. तथा चोक्तं—सामादिभिरुपायैर्यः कार्यसिद्धिं प्रचिन्तयेत्। न निर्वेगं क्वचिद्याति तस्य तत् सिद्ध्यति ध्रुवं ॥१॥

नीतिवाक्यामृत मन्त्रिसमुद्देश (भाषाटीका-समेत) पृ० १६३-१६४ से संकलित-सम्पादक

मन्त्रः कार्यानुगो येषां कार्यं स्वामिहितानुगम्। त एव मन्त्रिणो राज्ञां न तु ये गल्लफुल्लनाः ॥ ७० ॥

नृपस्तदर्थमुद्यच्छेदकृत्वा दीर्घसूत्रिताम्। मन्त्रक्रियान्यथा तस्य † निरर्था कृपणेष्विव ॥ ७१ ॥

इसे छोड़कर विना प्रकरण का विषय कहना वह तो अपने मुख की खुजली मिटाना मात्र है—निरर्थक है, क्योंकि उससे विजिगीषु राजा का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता[1] ॥६९॥ जिनका मन्त्र (राजनैतिक निश्चित विचार) राजा की कार्य-सिद्धि—प्रयोजन सिद्धि—करनेवाला है एवं जो ऐसे कर्त्तव्य का अनुष्ठान करते हैं, जिससे राजा का कल्याण होता है, वे ही राजाओं के मन्त्री हैं और जो केवल वाग्जाल (वचन-समूह) बोलनेवाले हैं, वे मंत्री नहीं कहे जासकते। भावार्थ—प्रस्तुत श्लोक में 'उपायसर्वज्ञ' नामके नवीन मंत्री ने यशोधर महाराज के प्रति निम्नप्रकार नीतिशास्त्र में कहा हुआ मन्त्रियों का लक्षण व कर्तव्य निर्देश किया है। प्रस्तुत नीतिकार आचार्य[2] श्री ने कहा है कि 'जो विना प्रारम्भ किये हुए कार्य का प्रारम्भ करें, प्रारम्भ किये हुए कार्यों को पूरा करें और पूर्ण किये हुए कार्य में विशेषता लावें तथा अपने अधिकार का उचित स्थान में प्रभाव दिखावें, उन्हें मन्त्री कहते हैं।' शुक्र[3] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो कुशल पुरुष राजा के समस्त कार्यों में विशेषता लाते हुए अपने अधिकार का प्रभाव दिखाने में प्रवीण हों, वे राजमंत्री होने के योग्य हैं, जिनमें उक्त कार्य सम्पन्न करने की योग्यता नहीं है, वे मंत्री-पद के योग्य नहीं' ॥१॥

इसीप्रकार मन्त्रियों के कर्तव्य[4] के विषय में कहा है कि 'मन्त्रियों को राजा के लिए दुःख देना उत्तम है। अर्थात्—यदि मंत्री भविष्य में हितकारक किन्तु तत्काल अप्रिय लगनेवाले ऐसे कठोर वचन बोलकर राजा को उस समय दुःखी करता है तो उत्तम है, परन्तु अकर्तव्य का उपदेश देकर राजा का नाश करना अच्छा नहीं। अर्थात्—तत्काल प्रिय लगनेवाले किन्तु भविष्य में हानिकारक वचन बोलकर अकार्य—नीति-विरुद्ध असत्कार्य—का उपदेश देकर उसका नाश करना अच्छा नहीं। नारद विद्वान्[5] के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है[6] ॥७०॥ हे राजन्! राजा को काल विलम्ब न करके (शीघ्र ही) योग्य मन्त्रियों के साथ निश्चित किये हुए मन्त्र (राजनैतिक विचार) को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उत्साह करना चाहिए। अन्यथा (काल-विलम्ब होजाने पर) राजा की मन्त्रक्रिया (राजनैतिक विचार) उसप्रकार निरर्थक होती है जिसप्रकार कृपणों (कंजूसों) की मन्त्रक्रिया (दान देने का विचार) निरर्थक होती है। अर्थात्—कंजूस सोचते हैं कि हम इतना धन दान करेंगे परन्तु बाद में नहीं करते, अतः जिसप्रकार कंजूसों द्वारा की हुई मन्त्रकिया (दान-विचार) कार्यरूप में परिणत न होने के कारण निरर्थक होती है उसीप्रकार

A

† 'निरर्था क्षपणेष्विव' ख०। A—'यथा क्षपणः राजमन्त्रवार्ता करोति परन्तु संग्रामं न करोति तेन निरर्था मन्त्रक्रिया तस्य' इति टिप्पणी।

१. रूपकालङ्कार।

२. तथा च सोमदेवसूरिः—अकृतारम्भमारब्धस्याप्यनुष्ठानमनुष्ठितविशेषं विनियोगसम्पदं च ये कुर्युस्ते मन्त्रिणः।

३. तथा च शुक्रः—दर्शयन्ति विशेषं ये सर्वकर्मसु भूपतेः। स्वाधिकारप्रभावं च मंत्रिणस्तेऽन्यथा परे ॥१॥
नीतिवाक्यामृत (मन्त्रीसमुद्देश भाषाटीका-समेत) पृ. १६३ से संकलित

४. तथा च सोमदेवसूरिः—वरं स्वामिनो दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः।

५. तथा च नारदः—वरं पीडाकरं वाक्यं परिणामसुखावहं। मंत्रिणा भूमिपालस्य न मृष्टं यद्भयानकम् ॥१॥

६. जाति-अलंकार। नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृ. १७२-१७३ से संकलित—सम्पादक

स्वदेशः परदेशो वा मन्त्री भवतु भूभुजाम्। प्रारब्धकार्यनिर्वाहसुखसिद्ध्या प्रयोजनम् ॥ ७२ ॥

राजाओं की मंत्रक्रिया भी समय चूक जानेपर कार्यरूप में परिणत न होने के कारण निरर्थक होती है। अथवा पाठान्तर में जिसप्रकार क्षपण (नग्न दिगम्बर साधु) राजनैतिक युद्ध-आदि की मन्त्रणा (विचार) करता है परन्तु युद्ध नहीं करता, अतः जिसप्रकार उसकी मन्त्रक्रिया निरर्थक होती है उसीप्रकार समय चूक जानेपर राजाओं की मन्त्रक्रिया निरर्थक होती है।

भावार्थ—नीतिकार प्रस्तुत आचार्यश्री[1] ने कहा है कि 'मन्त्र (विचार) निश्चित होजाने पर विजिगीषु राजा उसे शीघ्र ही कार्यरूप में परिणत करने का यत्न करे, इसमें उसे आलस्य नहीं करना चाहिए।' नीतिकार कौटिल्य[2] ने भी कहा है कि 'अर्थ का निश्चय करके उसे शीघ्र ही कार्यरूप में परिणत करना चाहिए समय को व्यर्थ विताना श्रेयस्कर नहीं।' शुक्र विद्वान्[3] ने भी कहा है कि 'जो मानव विचार निश्चित करके उसी समय उसका आचरण नहीं करता उसे मन्त्र का फल (कार्यसिद्धि) प्राप्त नहीं होता' ॥१॥ प्रस्तुत आचार्य[4] ने कहा है कि "जिसप्रकार औषधि के जान लेने मात्र से व्याधियों का नाश नहीं होता किन्तु उसके सेवन से ही होता है उसीप्रकार विचार मात्र से राजाओं के सन्धि व विग्रह-आदि कार्य सिद्ध नहीं हो सकते किन्तु मन्त्रणा के अनुकूल प्रवृत्ति करने से ही कार्य सिद्ध होते हैं"। नारद[5] विद्वान् ने भी उक्त बात की पुष्टि की है[6] ॥ ७१ ॥

हे राजन्! राजाओं का प्रधान मंत्री चाहे अपने देश (आर्यावर्त—भारतवर्ष) का निवासी हो अथवा दूसरे देश का रहनेवाला हो, हो सकता है। क्योंकि राजाओं को तो प्रारम्भ किये हुए कार्य (सन्धि व विग्रह-आदि) के पूर्ण करने से उत्पन्न हुई सुख-प्राप्ति से ही प्रयोजन रहता है। अर्थात्—राजा का उक्त प्रयोजन जिससे सिद्ध होता हो, वह चाहे स्वदेशवासी हो या परदेशवासी हो, मंत्री हो सकता है। उदाहरणार्थ—हे राजन्! अपने शरीर में उत्पन्न हुआ रोग दुःखजनक होता है और वन में उत्पन्न हुई जड़ी-बूटी-आदि औषधि सुख देती है। अर्थात्—बीमारी को नष्ट करती हुई आरोग्यतारूप सुख उत्पन्न करती है, इसलिए पुरुषों के गुण (सदाचार, कुलीनता, व्यसन-शून्यता, स्वामी से द्रोह न करते हुए उसके कार्य की सिद्धि करना, नीतिज्ञता, युद्धकला-प्रवीणता व निष्कपटता-आदि) कार्यकारी (प्रयोजन सिद्ध करनेवाले) होते हैं। अपनी जाति या दूसरी जाति का विचार पङ्क्ति भोजन के अवसर पर होता है परन्तु राजनीति के प्रकरण में तो दूसरे से भी कार्यसिद्धि करा लेनी चाहिए। क्योंकि जिसप्रकार जंगली जड़ी-बूटी-आदि औषधि बीमारी के ध्वंस द्वारा आरोग्यतारूप सुख उत्पन्न करती है उसीप्रकार परदेश का

१. तथा च सोमदेवसूरिः—उद्धृतमन्त्रो न दीर्घसूत्रः स्यात् ॥१॥ नीतिवाक्यामृत मंत्रिसमुद्देश सूत्र ४२।

२. तथा च कौटिल्यः—अवाप्तार्थः कालं नातिक्रमेत् ॥१॥ कौटिल्य अर्थशास्त्र मन्त्राधिकार सूत्र ५०।

३. तथा च शुक्रः—यो मंत्रं मंत्रयित्वा तु नानुष्ठानं करोति च। तत्क्षणात्तस्य मन्त्रस्य जायते नात्र संशयः? ॥१॥ नीतिवाक्यामृत पृ. १६९ से संकलित—सम्पादक

४. तथा च सोमदेवसूरिः—न ह्योषधिज्ञानादेव व्याधिप्रशमः ॥१॥ नीतिवाक्यामृत मन्त्रिसमुद्देश सूत्र ४४

५. तथा च नारदः—विज्ञायते भेषजे यद्वत् विना भक्षं न नश्यति। व्याधिस्तथा च मंत्रेऽपि न सिद्धिः कृत्यवर्जिते ॥ नीतिवाक्यामृत पृ. १६९—१७० से संगृहीत—सम्पादक

६. उपमालंकार।

दुःखाय देहजो व्याधिः सुखाय वनजौषधिः । गुणाः कार्यकृतः पुंसां भोजने स्वपरक्रिया: ॥ ७३ ॥

निवासी निष्पक्षता-आदि गुणों से विभूषित हुआ गुणवान् व्यक्ति भी राज्य-संचालन आदि में सहायक होता हुआ मंत्री हो सकता है।

विशद विवेचन एवं विमर्श—यहाँपर 'उपायसर्वज्ञ' नामका मन्त्री राजसभा में यशोधर महाराज से कह रहा है कि राजाओं को मन्त्री की सहायता से आरम्भ किये हुए कार्य (सन्धि व विग्रह-आदि) पूर्ण करके सुख-प्राप्तिरूप प्रयोजन सिद्ध करना पड़ता है, अतः वह प्रयोजन जिससे सिद्ध हो सके वह चाहे स्वदेशवासी हो या परदेशवासी हो, मन्त्री हो सकता है। क्योंकि अपनी जाति या परजाति का विचार पङ्क्तिभोजन की वेला में किया जाता है न कि राजनीति के प्रकरण में। तत्पश्चात् उसने विशेष मनोज्ञ व हृदय-स्पर्शी उदाहरणों (शारीरिक व्याधि दुःखहेतु व जंगली जड़ी-बूटी रोगध्वंस द्वारा सुखहेतु है) द्वारा उक्त विषय का समर्थन किया है परन्तु प्रस्तुत शास्त्रकर्ता आचार्यप्रवर श्रीमत्सोमदेवसूरि ने अपने ही दूसरे नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ में प्रधानमन्त्री के सद्गुणों का निर्देश करते समय 'स्वदेशवासी' गुण का भी विशेष महत्वपूर्ण समर्थन किया है। नीतिवाक्यामृत में आचार्य श्री[1] ने लिखा है कि 'बुद्धिमान राजा को या प्रजा को निम्नप्रकार गुणों से विभूषित प्रधान मन्त्री नियुक्त करना चाहिए। जो द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्णों में से एक वर्ण का हो किन्तु शुद्र न हो, अपने देश (आर्यावर्त—भारतवर्ष) का निवासी हो किन्तु विदेश का रहनेवाला न हो। जो सदाचारी हो—दुष्कर्मों में प्रवृत्ति करनेवाला न हो किन्तु पवित्र आचरण-शाली हो। जो कुलीन हो—जिसके माता और पिता का पक्ष (वंश) विशुद्ध हो (जो कि विवाहित समान वर्णवाले माता-पिता से उत्पन्न हो)। जो जुआ, मद्यपान व परस्त्री सेवन-आदि व्यसनों से दूर हो। जो द्रोह करनेवाला न हो—जो दूसरे राजा से मिला हुआ न होकर, केवल अपने स्वामी में ही श्रद्धा-युक्त हो। जो व्यवहार विद्या में निपुण हो (जिसने समस्त व्यवहार-शास्त्रों—नीतिशास्त्रों के रहस्य का अध्ययन-मनन किया हो। जो युद्धविद्या में निपुण होता हुआ शत्रु-चेष्टा की परीक्षा में प्रवीण हो अथवा समस्त प्रकार के छल-कपट से रहित हो। अर्थात्—दूसरे के कपट को जाननेवाला होने पर भी स्वयं कपट करनेवाला न हो। अभिप्राय यह है कि प्रधान मन्त्री निम्नप्रकार नौ गुणों से विभूषित होना चाहिए।

१. द्विज, २. स्वदेशवासी, ३. सदाचारी, ४. कुलीन, ५. व्यसनों से रहित, ६. स्वामी से द्रोह न करनेवाला, ७. नीतिज्ञ, ८. युद्धविद्या-विशारद और ९. निष्कपट।

उक्त गुणों में से 'स्वदेशवासी' गुण का समर्थन करते हुए प्रस्तुत आचार्य श्रीमत्सोमदेवसूरि[2] ने उक्त ग्रंथ में लिखा है कि 'समस्त पक्षपातों में अपने देश का पक्षपात प्रधान माना गया है' एवं हारीत[3] विद्वान् ने भी लिखा है कि 'जो राजा अपने देशवासी मन्त्री को नियुक्त करता है, वह आपत्तिकाल आने पर उससे मुक्त हो जाता है'। अभिप्राय यह है कि राज-सचिव के उक्त ९ गुणों में से 'अपने देश का निवासी' गुण की महत्वपूर्ण विशेषता है; क्योंकि दूसरे देश का मन्त्री अपने देश का पक्ष करने के कारण

१. तथा च सोमदेवसूरिः—'ब्राह्मणक्षत्रियविशामेकतमं स्वदेशजमाचाराभिजनविशुद्धमव्यसनिनमव्यभिचारिणमधीताखिलव्यवहारतन्त्रमस्त्रज्ञमशेषोपाधिविशुद्धं च मन्त्रिणं कुर्वीत ॥

२. तथा च सोमदेवसूरिः—'समस्तपक्षपातेषु स्वदेशपक्षपातो महान्'

३. तथा च हारीतः—'स्वदेशजममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः । आपत्कालेन सम्प्राप्तेन स तेन विमुच्यते ॥१॥

मन्त्रयुद्धाश्रितश्रीणां शस्त्रयुद्धेन किं फलम्। को नाम शैलमारोहेदर्के लब्धमधुः सुधीः ॥ ७४

कभी राज्य का अहित भी कर सकता है, अतएव मन्त्री को अपने देश का निवासी होना आवश्यक है। प्राकरणिक विमर्श-युक्त प्रवचन यह है कि जब एक ही आचार्य ने प्रस्तुत 'यशस्तिलकचम्पू' में प्रधान मंत्री का स्वदेशवासी गुण गौण या उपेक्षित किया और अपने नीतिवाक्यामृत में स्वदेशवासी गुण का समर्थन किया तब उसके कथन में परस्पर विरोध प्रतीत होता है परन्तु ऐसा नहीं है, अर्थात्—इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि नीतिवाक्यामृत में आचार्यश्री की दृष्टि प्रधान मन्त्री के गुण-निरूपण की रही है और प्रस्तुत 'यशस्तिलकचम्पू' में सन्धि व विग्रह-आदि प्रयोजन-सिद्धि की मुख्यता रखते हुए कहा है कि आरम्भ किये हुए सन्धि व विग्रहादि कार्यों के निर्वाह (पूर्ण करना) द्वारा राजाओं की सुखप्राप्ति रूप प्रयोजन सिद्धि करनेवाला मंत्री हो सकता है, चाहे वह स्वदेश का निवासी हो अथवा विदेश का रहनेवाला हो। अतः भिन्न २ दृष्टिकोणों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न प्रकार का निरूपण हुआ है, इसमें विरोध कुछ नहीं है[१-२] ॥ ७२-७३ ॥

हे राजन्! मन्त्र-(राजनैतिक सलाह) युद्ध द्वारा लक्ष्मी (राज्य-विभूति) प्राप्त करनेवाले राजाओं को शस्त्र-युद्ध करने से क्या प्रयोजन है? अपितु कोई प्रयोजन नहीं है। उदाहरणार्थ—मन्दार वृक्ष पर ही मधु प्राप्त करनेवाला कौन बुद्धिमान् पुरुष पर्वत पर चढ़ेगा? अपितु कोई नहीं। अर्थात्—जिसप्रकार मधु का इच्छुक बुद्धिमान् पुरुष जब मन्दार वृक्ष पर मधु प्राप्त कर लेता है तब उसकी प्राप्ति के लिए पर्वत पर नहीं चढ़ता उसीप्रकार लक्ष्मी के इच्छुक राजा लोग जब मन्त्र-युद्ध द्वारा लक्ष्मी प्राप्त कर लेते हैं तब वे उसकी प्राप्ति-हेतु शस्त्र-युद्ध में क्यों प्रवृत्त होंगे? अपितु नहीं प्रवृत्त होंगे। भावार्थ—प्रस्तुत आचार्यश्री[३] ने अपने 'नीति वाक्यामृत' में कहा है कि 'परस्पर वैर-विरोध न करनेवाले (प्रेम और सहानुभूति रखनेवाले) एवं हँसी मजाक-आदि स्वच्छन्द वार्तालाप न करनेवाले सावधान मंत्रियों द्वारा जो मन्त्रणा (राजनैतिक सलाह) की जाती है, उससे अल्प उपाय द्वारा उपयोगी महान् कार्य (राज्यादि लक्ष्मी) की सिद्धि होती है यही मंत्र-माहात्म्य है। नारद[४] विद्वान् ने भी कहा है कि "सावधान (बुद्धिमान्) राजमंत्री एकान्त में बैठकर जो षाड्गुण्य (सन्धि व विग्रहादि) संबंधी मन्त्रणा करते हैं, उसके फलस्वरूप वे राजा के महान् कार्य (संधि व विग्रहादि षाड्गुण्य) को बिना क्लेश के सिद्ध कर डालते हैं" ॥१॥ इसीप्रकार हारीत[५] विद्वान् ने कहा है कि 'राजा जिस कार्य को युद्ध करके अनेक कष्ट उठाकर सिद्ध करता है, उसका वह कार्य मन्त्र-शक्तिरूप उपाय से सरलता से सिद्ध होजाता है, अतः उसे मन्त्रियों के साथ अवश्य मन्त्रणा करानी चाहिए' ॥ १ ॥ निष्कर्ष—प्रकरण में 'उपायसर्वज्ञ' नाम के मंत्री ने यशोधर महाराज के प्रति उक्त दृष्टान्त द्वारा शस्त्र-युद्ध की अपेक्षा मन्त्र-युद्ध की महत्वपूर्ण विशेषता निरूपण की[६] ॥७४॥

---

१. अर्थान्तरन्यास-अलंकार। २. दृष्टान्तालंकार।

३. तथा च सोमदेवसूरिः—अविरुद्धैरस्वैरैर्विहितो मंत्रो लघुनोपायेन महतः कार्यस्य सिद्धिर्मन्त्रफलम्।

४. तथा च नारदः—सावधानाश्च ये मंत्रं चक्रुरेकान्तमाश्रिताः। साधयन्ति नरेन्द्रस्य कृत्यं क्लेशविवर्जितम् ॥१॥

५. तथा च हारीतः—यत्कार्यं साधयेद् राजा क्लेशैः संग्रामपूर्वकैः। मन्त्रेण सुखसाध्यं तत्तस्मान्मंत्रं प्रकारयेत्॥१॥
नीतिवाक्यामृत (भा. टी.) पृ. १७१-१७२ से संकलित—सम्पादक

६. आक्षेपालंकार व दृष्टान्तालंकार।

अकृत्वा निजदेशस्य रक्षां यो विजिगीषते । स नृपः परिधानेन वृत्तमौलिः पुमानिव ॥ ७५ ॥
नरस्योपायमूढस्य मुधा भुजविजृम्भितम् । शराः किं व्यस्तसंधानाः साधयन्ति मनीषितम् ॥ ७६ ॥
अयं लघुर्महानेष न चिन्ता नयवेदिषु । नद्याः पूरप्लवायान्ति समं तीरतृणद्रुमाः ॥ ७७ ॥

हे राजन् ! [सबसे पहले राजा को अपने राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए] क्योंकि जो राजा अपने राष्ट्र की रक्षा न करके दूसरा देश ग्रहण करने की इच्छा करता है, वह उसप्रकार हँसी व निन्दा का पात्र होता है जिसप्रकार अन्तरीय वस्त्र (धोती) उतारकर उसके द्वारा अपना मस्तक वेष्टित करनेवाला (साफा बाँधनेवाला) मानव हँसी व निन्दा का पात्र होता है। भावार्थ - नीतिकार प्रस्तुत आचार्य[1] श्री ने कहा है कि 'जो राजा स्वदेश की रक्षा न करके शत्रुभूत राजा के राष्ट्र पर आक्रमण करता है, उसका वह कार्य नंगे को पगड़ी बाँधने सरीखा निरर्थक है। अर्थात्—जिसप्रकार नंगे को पगड़ी बाँध लेने पर भी उसके नंगेपन की निवृत्ति नहीं होसकती उसीप्रकार अपने राज्य की रक्षा न कर शत्रु-देश पर हमला करनेवाले राजा का भी संकटों से छुटकारा नहीं होसकता। विदुर[2] विद्वान् के उद्धरण का अभिप्राय यह है कि "विजिगीषु को शत्रु-राष्ट्र नष्ट करने के समान स्वराष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए ॥१॥ निष्कर्ष—प्रस्तुत 'उपायसर्वज्ञ' मंत्री उक्त उदाहरण द्वारा यशोधर महाराज को सबसे पहिले अपने राष्ट्र की रक्षा करने के लिए प्रेरित कर रहा है[3] ॥७५॥

हे राजन् ! [विजिगीषु राजा को शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त करने के उपायों—साम व दान-आदि का—ज्ञान होना आवश्यक है] क्योंकि विजयश्री के उपायों (साम, दान, दण्ड व भेदरूप तरीकों) को न जाननेवाले विजिगीषु राजा की भुजाओं की शक्ति निरर्थक है—विजयश्री प्राप्त करने में समर्थ नहीं होसकती। उदाहरणार्थ—धनुष पर न चढ़ाए हुए बाण क्या अभिलषित लक्ष्य भेद करने में समर्थ होसकते हैं ? अपि तु नहीं होसकते। अर्थात्—जिसप्रकार धनुष पर न चढ़ाए हुए बाण लक्ष्य-भेद द्वारा मनचाही विजयश्री प्राप्त नहीं कर सकते उसीप्रकार साम व दान-आदि शत्रु-विनाश के उपायों को न जाननेवाले विजिगीषु राजा की भुजाओं की शक्ति भी शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त नहीं कर सकती। भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार आचार्य[4] श्री ने साम व दान-आदि विजयश्री के उपायों का माहात्म्य निर्देश करते हुए कहा है कि 'साम व दान-आदि नैतिक उपायों के प्रयोग में निपुण, पराक्रमी एवं जिससे अमात्य-आदि राज-कर्मचारीगण व प्रजा अनुरक्त है, ऐसा राजा अल्प देश का स्वामी होने पर भी चक्रवर्ती-सरीखा निर्भय माना गया है। प्रकरण में प्रस्तुत मन्त्री यशोधर महाराज के प्रति कहता है कि राजन् ! साम-आदि उपाय न जाननेवाले विजिगीषु राजा की भुजाओं की शक्ति उसप्रकार निरर्थक है जिसप्रकार धनुष पर न चढ़ाए हुए बाण निरर्थक होते हैं[5] ॥ ७६ ॥

हे राजन् ! राजनीति-वेत्ताओं को इसप्रकार की चिन्ता नहीं होती कि यह शत्रु हीनशक्ति-युक्त है और अमुक शत्रु महाशक्तिशाली है। क्योंकि नदी का पूर (प्रवाह) आने से उसके तटवर्ती वृक्ष व घास एक साथ थक कर गिर जाते हैं। अर्थात्—जिसप्रकार नदी का पूर उसके तटवर्ती वृक्ष व घास को एक साथ गिरा देता है उसीप्रकार नीतिवेत्ताओं के साम व दानादि उपायों द्वारा भी हीन शक्ति व

१. तथा च सोमदेवसूरिः—स्वमण्डलमपरिपालयतः परदेशाभियोगो विवसनस्य शिरोवेष्टनमिव ॥१॥
२. तथा च विदुरः—य एव यत्नः कर्तव्यः परराष्ट्रविमर्दने । स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥१॥
३. उपमालंकार । नीतिवाक्यामृत (भा. टी.) व्यवहार समुद्देश पृ. ३७५ से संगृहीत—सम्पादक
४. तथा च सोमदेवसूरिः—उपायोपपन्नविक्रमोऽनुरक्तप्रकृतिरल्पदेशोऽपि भूपतिर्भवति सार्वभौमः ॥ नीतिवाक्यामृत व्यवहारसमुद्देश सूत्र ७८ (भा. टी.) पृ. ३७८ से संकलित—सम्पादक ५. आक्षेपालंकार।

तदाह—

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुः क्षिप्तो धनुष्मता। प्राज्ञेन तु मतिः क्षिप्ता हन्याद्गर्भगतानपि ॥ ७८ ॥

महान् शक्तिशाली शत्रु भी नष्ट कर दिये जाते हैं, अतः उन्हें हीन-शक्ति व महाशक्ति-शाली शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त करने की चिन्ता नहीं होती। भावार्थ—उक्त विषय पर प्रस्तुत नीतिकार[1] आचार्यश्री, शुक्र[2] एवं गुरु[3] विद्वानों के उद्धरणों का भी यही अभिप्राय है[4] ॥ ७७ ॥ धनुर्धारी पुरुष द्वारा फैंका हुआ बाण एक शत्रु का घात करता है अथवा नहीं भी करता परन्तु नीतिवेत्ता द्वारा प्रेरित की हुई बुद्धिशक्ति तो गर्भस्थ शत्रुओं का भी घात कर देती है। पुनः सामने वर्तमान शत्रुओं के घात करने के बारे में तो कहना ही क्या है। अर्थात्—उनका घात तो अवश्य ही कर डालती है।

भावार्थ—यहाँपर 'उपायसर्वज्ञ' नाम का मंत्री यशोधर महाराज के प्रति प्रस्तुत नीतिकार[5] द्वारा कहीं हुई निम्नप्रकार की विजिगीषु राजाओं की तीन शक्तियों (मन्त्रशक्ति, प्रभुशक्ति व उत्साहशक्ति) में से मन्त्रशक्ति व प्रभुशक्ति का विवेचन करता हुआ उनमें से मन्त्रशक्ति (ज्ञानबल) की महत्वपूर्ण विशेषता का दिग्दर्शन करता है। ज्ञानबल को 'मंत्रशक्ति' कहते हैं और जिस विजिगीषु के पास विशाल खजाना व हाथी, घोड़े, रथ व पैदलरूप चतुरङ्ग सेना है, वह उसकी 'प्रभुत्वशक्ति' है तथा पराक्रम व सैन्य-शक्ति को 'उत्साहशक्ति' कहते हैं एवं प्रभुशक्ति (शारीरिक बल) की अपेक्षा मन्त्रशक्ति (बुद्धिबल) महान् समझी जाती[6] है। प्रस्तुत नीतिकार[7] ने कहा है कि जिसप्रकार नीतिज्ञों की बुद्धियाँ शत्रु के उन्मूलन करने में समर्थ होतीं हैं उसप्रकार वीर पुरुषों द्वारा प्रेषित किये हुए बाण समर्थ नहीं होते। गौतम[8] विद्वान् का उद्धरण भी तीक्ष्ण बाणों की अपेक्षा विद्वानों की बुद्धि को शत्रु-वध करने में विशेष उपयोगी बताता है। प्रस्तुत नीतिकार[9] ने लिखा है कि 'धनुर्धारियों के बाण निशाना बाँधकर चलाए हुए भी प्रत्यक्ष में वर्तमान लक्ष्यभेद करने में असफल होजाते हैं परन्तु बुद्धिमान् पुरुष बुद्धिबल से विना देखे हुए पदार्थ भी भलीभाँति सिद्ध कर लेता है। शुक्र[10] विद्वान् का उद्धरण भी बुद्धिबल को अदृष्टकार्य में सफलताजनक बताता है ॥ १ ॥

---

१. तथा च सोमदेवसूरिः—नाल्पं महद्वापक्षेपोपायज्ञस्य। नदीपूरः सममेवोन्मूलयति तीरजतृणांह्रिपान् ॥

२. तथा च शुक्रः—यथोपायान् विजानाति शत्रूणां पृथिवीपतिः। तस्याग्रे न महान् शत्रुस्तिष्ठने न कुतो लघुः ॥१॥

३. तथा च गुरुः—पार्थिवो मृदुवाक्यैर्यः शत्रूनालापयेत् सुधीः। नाशं नयेच्छनैस्तांश्च तीरजान् सिन्धुपूरवत् ॥१॥
नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृ. २०२-२०३ से संकलित—सम्पादक

४. दृष्टान्तालंकार।

५. तथा च सोमदेवसूरिः—ज्ञानबलं मन्त्रशक्तिः ॥१॥ कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः ॥२॥ विक्रमो बलं चोत्साह-शक्तिस्तत्र रामो दृष्टान्तः ॥३॥

६. तथा च सोमदेवसूरिः—बुद्धिशक्तिरात्मशक्तेरपि गरीयसी ॥४॥

७. तथा च सोमदेवसूरिः—न तथेषवः प्रभवन्ति यथा प्रज्ञावतां प्रज्ञाः ॥१॥

८. तथा च गौतमः—न तथात्र शरास्तीक्ष्णाः समर्थाः स्युरिपोर्वधे। यथा बुद्धिमतां प्रज्ञा तस्मात्तां सन्नियोजयेत् ॥१॥ नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृ. ३७३-३७४ से संकलित—सम्पादक

९. तथा च सोमदेवसूरिः—दृष्टेऽप्यर्थे सम्भवन्त्यपराद्धेषवो धनुष्मतोऽदृष्टमर्थं साधु साधयति प्रज्ञावान् ॥१॥

१०. तथा च शुक्रः—धानुष्कस्य शरो व्यर्थो दृष्टे लक्ष्येऽपि याति च। अदृष्टान्यपि कार्याणि बुद्धिमान् सम्प्रसाधयेत् ॥१॥

लब्धा अपि श्रियो यान्ति पुंसां भोक्तुमजानताम् । अबद्धाः कुञ्जरेन्द्राणां पुलाका इव हस्तगाः ॥ ७९ ॥
निजवंशैकदीपस्य वैरं सापत्नजं न ते । चतुरन्तमहीनाथे त्वयि तद्भूमिजं कुतः ॥ ८० ॥

सोमदेवसूरि[1] लिखते हैं कि महाकवि श्रीभवभूति-विरचित 'मालतीमाधव' नामक नाटक में लिखा है कि माधव के पिता 'देवरात' ने बहुत दूर रहकर के भी 'कामन्दकी' नाम की सन्यासिनी के प्रयोग द्वारा (उसे मालती के पास भेजकर) अपने पुत्र 'माधव' के लिए 'मालती' प्राप्त की थी, यह देवरात की बुद्धिशक्ति का ही अनोखा माहात्म्य था। विद्वानों की बुद्धि ही शत्रु पर विजयश्री प्राप्त करने में सफल शस्त्र मानी जाती है; क्योंकि जिसप्रकार वज्र के प्रहार से ताड़ित किए हुए पर्वत पुनः उत्पन्न नहीं होते उसीप्रकार विद्वानों की बुद्धि द्वारा जीते गए शत्रु भी पुनः शत्रुता करने का साहस नहीं करते[2]। गुरु[3] विद्वान् ने भी बुद्धिशस्त्र को शत्रु से विजयश्री प्राप्त कराने में सफल बताया है। प्रकरण में प्रस्तुत मंत्री यशोधर महाराज से बुद्धिबल का माहात्म्य निर्देश करता है[4] ॥ ७८ ॥

हे राजन्! धनादि सम्पत्तियों का उपभोग न जाननेवालों की प्राप्त हुई भी सम्पत्तियाँ उसप्रकार नष्ट होजाती हैं जिसप्रकार श्रेष्ठ हाथियों की सूँड पर स्थित हुई क्षुद्र घण्टिकाएँ तृण-आदि की रस्सियों के बन्धनों के विना नष्ट होजाती हैं। अर्थात्—शिथिल होकर जमीन पर गिर जातीं हैं।

भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार[5] ने कहा है कि लोभी का संचित धन राजा, कुटुम्बी या चोर इनमें से किसी एक का है। वल्लभदेव[6] विद्वान् ने लिखा है कि पात्रों को दान देना, उपभोग करना और नाश होना, इसप्रकार धन की तीन गति होतीं हैं। अतः जो व्यक्ति न तो पात्र दान करता है और न स्वयं तथा कुटुम्ब के भरण पोषण में धन खर्च करता है, उसके धन की तीसरी गति निश्चित है। अर्थात्—उसका धन नष्ट होजाता है। प्रकरण में प्रस्तुत मन्त्री यशोधर महाराज से कहता है कि हे राजन्! श्रेष्ठ हाथियों की बन्धन-हीन क्षुद्र घण्टिकाओं की तरह लोभी का धन नष्ट हो जाता है[7] ॥ ७९ ॥ हे राजन्! आप अपने वंश को प्रकाशित करने के लिए अकेले दीपक हैं। अर्थात्—अपने माता-पिता (यशोर्घ महाराज व चन्द्रमती रानी) के इकलौते पुत्र हैं, इसलिए आपके पास सापत्नज वैर (दूसरी माता से उत्पन्न हुए पुत्र की शत्रुता) नहीं है। इसीप्रकार जब आप चारों समुद्रों पर्यन्त पृथिवी के स्वामी हैं तब आपमें पृथिवी संबंधी शत्रुता भी किस प्रकार हो सकती है? अपितु नहीं हो सकती[8] ॥८०॥

१. तथा च सोमदेवसूरिः—श्रूयते हि किल दूरस्थोऽपि माधवपिता कामन्दकीयप्रयोगेण माधवाय मालतीं साधयामास।

२. तथा च सोमदेवसूरिः—प्रज्ञा ह्यमोघं शस्त्रं कुशलबुद्धीनां ॥१॥ प्रज्ञाहताः कुलिशहता इव न प्रादुर्भवन्ति भूमिभृतः ॥२॥

३. तथा च गुरुः—प्रज्ञाशस्त्रममोघं च विज्ञानाद् बुद्धिरूपिणी। तया हता न जायन्ते पर्वता इव भूमिपाः ॥१॥

४. दीपकालंकार। नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृ. ३८६-३८७ (युद्धसमुद्देश) से संकलित—सम्पादक

५. तथा च सोमदेवसूरिः—कदर्यस्यार्थसंग्रहो राजदायादतस्कराणामन्यतमस्य निधिः ॥१॥

६. तथा च वल्लभदेवः—दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥१॥ नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृ. ४८ से संकलित—सम्पादक

७. उपमालंकार। ८. हेतु-अलङ्कार व आक्षेपालङ्कार।

न त्वयि स्त्रीजमप्येतत्परनारीसहोदरे। नयविक्रमसंपन्ने वैरं नान्यदपि त्वयि ॥ ८१ ॥

उदयः समता हानिस्त्रयः काला महीभुजाम्। तत्राद्य एव योद्धव्यं स्थातव्यमुभयोः पुनः ॥ ८२

हे राजन्! जब आप परस्त्री के लिए बन्धु-सरीखे हैं। अर्थात्—जब आप दूसरों की स्त्रियों के साथ बहिन का बर्ताव करते हैं तब आप के प्रति कोई परस्त्री संबंधी शत्रुता भी नहीं करता एवं जब आप नीति (राजनैतिक ज्ञान व सदाचार सम्पत्ति) से अलङ्कृत तथा पराक्रम-शाली हैं तब आप में दूसरे के धन-ग्रहण-आदि से होने वाली दूसरी शत्रुता भी नहीं है।

भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार सोमदेवसूरि[1] ने कहा है कि 'सदाचार लक्ष्मी राज्यलक्ष्मी को चिरस्थायी बनाने में कारण है'। शुक्रविद्वान्[2] के उद्धरण का अभिप्राय है कि 'जो राजा अपने नैतिक ज्ञान की वृद्धि करता हुआ लोकव्यवहार—सदाचार—में निपुण है, उसके क्रमागत राज्य की श्रीवृद्धि होती है'। प्रस्तुत नीतिकार[3] ने कहा है कि 'जो राजा क्रम—नीति (सदाचार व राजनैतिक ज्ञान) और पराक्रम (सैनिकशक्ति) इनमें से केवल एक ही गुण प्राप्त करता है उसका राज्य नष्ट होजाता है'।

शुक्र[4] विद्वान् ने कहा है कि 'जो राज्य जल के समान (जिसप्रकार पाताल में स्थित हुआ जल यंत्र द्वारा खींच लिया जाता है) पराक्रम से प्राप्त कर लिया गया हो परन्तु बुद्धिमान् राजा जब उसे नष्ट होता हुआ देखे तब उसे राजनीति (सन्धि, विग्रह, यान व आसन-आदि एवं सामादि उपायों) से उसे पूर्व की तरह सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिए।' नारद[5] के उद्धरण का अभिप्राय यह है कि 'जो राजा पराक्रम-हीन होने के कारण युद्ध से विमुख हो जाता है, उसका कुलपरम्परा से चला आ रहा राज्य नष्ट हो जाता है'। प्रकरण में प्रस्तुत मंत्री यशोधर महाराज से कहता है कि हे राजन्! जब आप उक्त नीतिशास्त्रोक्त प्रशस्त गुणों—नय (राजनैतिक ज्ञान व सदाचार सम्पत्ति), पराक्रम एवं परस्त्री के प्रति भगिनीभाव (जितेन्द्रियता) से विभूषित हैं तब आप के प्रति अनीति से उत्पन्न हुई किसी प्रकार की शत्रुता कौन रख सकता है। निष्कर्ष—जब आप स्वयं निष्कण्टक (शत्रु-हीन) हैं तब आपका राज्य भी निष्कण्टक है एवं उसका कारण आपका राजनैतिक ज्ञान व सदाचार सम्पत्ति तथा पराक्रम शक्ति है[6] ॥ ८१ ॥

हे राजन्! विजिगीषु राजाओं के सन्धि व विग्रह-आदि के सूचक तीन काल (अवसर) होते हैं। १—उदयकाल, २—समताकाल और ३—हानिकाल।

१—उदयकाल—जब विजिगीषु राजा शत्रुभूत राजा की अपेक्षा प्रभुशक्ति (सैन्यशक्ति व खजाने की शक्ति), मंत्रशक्ति (राजनैतिक ज्ञान की सलाह) व उत्साहशक्ति (पराक्रम व सैन्य-संगठन) से अधिक शक्तिशाली होता है तब उसका वह 'उदयकाल' समझा जाता है। २—समताकाल—वह

१. तथा च सोमदेव सूरिः—आचारसम्पत्तिः क्रमसम्पत्तिं करोति ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—लौकिकं व्यवहारं यः कुरुते नयवृद्धितः। तद्वृद्धया वृद्धिमायाति राज्यं तत्र क्रमागतम् ॥१॥

३. तथा च सोमदेवसूरिः—क्रमविक्रमयोरन्यतरपरिग्रहेण राज्यस्य दुष्करः परिणामः ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—राज्यं हि सलिलं यद्वद्यद्बलेन समाहृतम्। भूयोपि तत्ततोऽभ्येति लब्ध्वा कालस्य संक्षयम् ॥ ॥१॥

५. तथा च नारदः—पराक्रमच्युतो यस्तु राजा संग्रामकातरः। अपि क्रमागतं तस्य नाशं राज्यं प्रगच्छति ॥१॥

नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृ. ७३-७४ से संकलित—सम्पादक

६. रूपकालङ्कार व हेतु-अलङ्कार।

है जब विजिगीषु की और शत्रुराजा की उक्त तीनों शक्तियाँ समान होतीं हैं और ३—हानिकाल—वह है जब विजिगीषु शत्रुभूत राजा से उक्त तीनों शक्तियों में हीनशक्तिवाला होता है। विजिगीषु को उक्त तीनों कालों में से पहिले उदयकाल में ही शत्रुराजा से युद्ध करना चाहिए। अर्थात्—जब विजिगीषु राजा शत्रुराजा से सैन्यशक्ति, खजाने की शक्ति व पराक्रम-आदि से विशेष शक्तिशाली हो तब उसे शत्रुराजा से युद्ध करना चाहिए और बाकी के दोनों कालों में—समता व हानिकाल में—युद्ध नहीं करना चाहिए।

भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार[1] ने कहा है कि 'जो विजिगीषु शत्रु की अपेक्षा उक्त तीनों प्रकार की शक्तियों (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति व उत्साहशक्ति) से अधिक शक्तिशाली है, वह उदयशाली होने के कारण श्रेष्ठ है; क्योंकि उसकी युद्ध में विजय होती है और जो उक्त तीनों शक्तियों से हीन है, वह जघन्य है, क्योंकि वह शत्रु से परास्त होजाता है एवं जो उक्त तीनों शक्तियों में शत्रु के सदृश है, वह 'सम' है उसे भी शत्रुराजा से युद्ध नहीं करना चाहिए'। गुरु विद्वान्[2] का उद्धरण भी समान शक्तिवाले विजिगीषु को युद्ध करने का निषेध करता है। शत्रुराजा से हीनशक्तिवाले और अधिक शक्तिशाली विजिगीषु का कर्तव्य निर्देश करते हुए प्रस्तुत नीतिकार[3] ने क्रमशः लिखा है कि 'हीनशक्तिवाले विजिगीषु को शत्रुराजा के लिए आर्थिक दंड देकर सन्धि कर लेनी चाहिए जब कि उसके द्वारा प्रतिज्ञा की हुई व्यवस्था में मर्यादा का उल्लंघन न हो। अर्थात्—शपथ-आदि खिलाकर भविष्य में विश्वासघात न करने का निश्चय करने के उपरान्त ही सन्धि करनी चाहिए अन्यथा नहीं' ॥१॥ शुक्र[4] विद्वान् ने भी हीनशक्तिवाले विजिगीषु को शत्रुराजा के लिए आर्थिक दंड देकर सन्धि करना बताया है ॥१॥

यदि विजिगीषु शत्रुराजा से सैन्य व कोशशक्ति-आदि में अधिक शक्तिशाली है और यदि उसकी सेना में क्षोभ नहीं है तब उसे शत्रु से युद्ध छेड़ देना चाहिए[5] ॥१॥ गुरु[6] विद्वान् ने भी बलिष्ठ, विश्वासपात्र व विशेष सैन्यशाली विजिगीषु को युद्ध करने का निरूपण किया है। यदि विजिगीषु शत्रु द्वारा अपनी भविष्य की कुशलता का निश्चय कर ले कि शत्रु मुझे नष्ट नहीं करेगा और न मैं शत्रु को नष्ट करूँगा तब उसके साथ युद्ध न करके मित्रता कर लेनी चाहिए[7]। जैमिनि[8] विद्वान् ने भी उदासीन शत्रु-राजा के प्रति युद्ध करने का निषेध किया है।

---

१. तथा च सोमदेवसूरिः—शक्तित्रयोपचितो ज्यायान् शक्तित्रयापचितो हीनः समानशक्तित्रयः समः ॥१॥

२. तथा च गुरुः—समेनापि न योद्धव्यं यद्युपायत्रयं भवेत्। अन्योन्याहति ? यो संगो द्वाभ्यां संजायते यतः ॥१॥
नीतिवाक्यामृत (भा. टी.) पृ.३७२ व्यवहारसमुद्देश से संगृहीत—सम्पादक

३. तथा च सोमदेवसूरिः—हीयमानः पणबन्धेन सन्धिमुपेयात्
यदि नास्ति परेषां विपणितेऽर्थे मर्यादोल्लंघनम् ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—हीयमानेन दातव्यो दण्डः शत्रोर्जिगीषुणा।
बलयुक्तेन यत्कार्यं तैः समं निश्चिनिनिश्चयोः ? ॥१॥

५. तथा च सोमदेवसूरिः—अभ्युच्चीयमानः परं विगृह्णीयाद्यदि नास्त्यात्मबलेषु क्षोभः ॥१॥

६. तथा च गुरुः—यदि स्यादधिकः शत्रोर्विजिगीषुर्निजैर्बलैः। क्षोभेन रहितैः कार्यः शत्रुणा सह विग्रहः ॥१॥

७. तथा च सोमदेवसूरिः—न मां परो हन्तुं नाहं परं हन्तुं शक्त इत्यासीत यद्यायत्यामस्ति कुशलम् ॥१॥

८. तथा च जैमिनिः—न विग्रहं स्वयं कुर्यादुदासीने परे स्थिते। बलाढ्येनापि यो न स्यादायत्यां चेष्टितं शुभं ॥१॥

पादयुद्धमिवेभेन भूयसा सह विग्रहः । तं संघातविघातेन साधयेद्वनहस्तिवत् ॥ ८३ ॥

प्रस्तुत नीतिकार[1] ने कहा है कि विजिगीषु यदि सर्वगुण सम्पन्न—प्रचुर सैन्य व कोशशक्तिशाली है एवं उसका राज्य निष्कण्टक है तथा प्रजा-आदि का उस पर कोप नहीं है तो उसे शत्रु के साथ युद्ध करना चाहिए। अर्थात्—उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि युद्ध करने से उसके राज्य को किसी तरह की हानि तो नहीं होगी। भागुरि[2] विद्वान् ने भी गुण-युक्त व निष्कण्टक विजिगीषु को शत्रु से युद्ध करने को लिखा है ॥१॥ सैन्य व कोश-आदि शक्ति से क्षीण हुए विजिगीषु को उस शत्रुराजा के प्रति आत्म-समर्पण कर देना चाहिए, जो व्यसनी नहीं है, ऐसा करने से निर्बल विजिगीषु उसप्रकार शक्तिशाली होजाता है जिसप्रकार अनेक तन्तुओं के आश्रय से रस्सी मजबूत होजाती है[3]। गुरु[4] ने भी शक्ति-हीन राजा को शक्तिशाली शत्रु के प्रति आत्मसमर्पण करना बताया है ॥१॥ प्रकरण में उक्त मंत्री यशोधर महाराज के प्रति विजिगीषु राजा की उक्त उदय, समता व हानि इन तीन अवस्थाओं का निरूपण करके शुरु की उदय अवस्था में युद्ध करने को कहता है और दूसरी व तीसरी अवस्था में युद्ध करने का निषेध करता है[5] ॥८२॥

हे राजन्! प्रचुर (अधिक) सैन्यशक्ति-शाली शत्रुभूत राजा के साथ युद्ध करने से हीनशक्तिवाले विजिगीषु राजा की उसप्रकार हानि होती है जिसप्रकार हाथी के साथ युद्ध करने से पैदल सैनिक की हानि होती है। अर्थात्—जिसप्रकार हाथी के साथ युद्ध करनेवाला पैदल सैनिक उसके द्वारा मार दिया जाता है उसीप्रकार हीन शक्तिवाला विजिगीषु भी प्रचुर सैन्यशाली शत्रु के साथ युद्ध करता हुआ मार दिया जाता है, इसलिए विजिगीषु को अपने सैन्य-समूह का संगठन करके उस सैन्य द्वारा महान् शक्तिशाली शत्रु का घात करते हुए उसे उसप्रकार जीतना चाहिए जिसप्रकार अकेला जंगली हाथी बहुत से हाथियों द्वारा या पैदल सैनिकों द्वारा वश में कर लिया जाता है।

भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार[6] ने कहा है कि 'जिसप्रकार पदाति—पैदल—सैनिक हाथी के साथ युद्ध करने से नष्ट होजाते हैं उसीप्रकार हीन शक्तिवाला विजिगीषु भी अपने से अधिक शक्तिशाली शत्रु के साथ युद्ध करने से नष्ट होजाता है ॥ १ ॥ भारद्वाज[7] विद्वान् के उद्धरण द्वारा भी उक्त बात का समर्थन होता है ॥ १ ॥ प्रकरण में उक्त मंत्री ने यशोधर महाराज के उक्त बात कही है[8] ॥ ८३ ॥ हे राजन्! समान शक्तिवाले शत्रुभूत राजा के साथ युद्ध करने पर विजिगीषु और शत्रु ये दोनों उसप्रकार नष्ट होते हैं जिसप्रकार कच्चे मिट्टी के घड़े से कच्चा मिट्टी का घड़ा ताडित किये जाने पर दोनों नष्ट होजाते हैं। अभिप्राय यह है कि यदि पक्के घड़े के साथ कच्चा घड़ा ताड़ित किया जावे तो कच्चा घड़ा ही फूटता है, इससे हीन शक्तिवाले शत्रु के साथ युद्ध करने से विजिगीषु को विजयश्री प्राप्त होती है

१. तथा च सोमदेवसूरिः—गुणातिशययुक्तो यायाद्यदि न सन्ति राष्ट्रकण्टका मध्ये न भवति पश्चात्कोपः ॥१॥
२. तथा च भागुरिः—गुणयुक्तोऽपि भूपालोऽपि यायाद्विद्विषोपरि ? यद्येतेन हि राष्ट्रस्य बहवः शत्रवोऽपरे ॥१॥
३. तथा च सोमदेवसूरिः—रज्जुवलनमिव शक्तिहीनः संश्रयं कुर्याद्यदि न भवति परेषामामिषम् ॥१॥
४. तथा च गुरुः—स्याद्यदा शक्तिहीनस्तु विजिगीषुर्हि वैरिणः । संश्रयीत तदा चान्यं बलाय व्यसनच्युतात् ॥१॥
५. जाति-अलङ्कार। नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृ. ३७५-३७६ से समुद्धृत—सम्पादक
६. तथा च सोमदेवसूरिः—ज्यायसा सह विग्रहो हस्तिना पदातियुद्धमिव ॥१॥
७. तथा च भारद्वाजः—हस्तिना सह संग्रामः पदातीनां क्षयावहः । तथा बलवता नूनं दुर्बलस्य क्षयावहः ॥१॥
८. उपमालङ्कार। नीतिवाक्यामृत (भा. टी.) पृ. ३९८ से संकलित—सम्पादक

आमभाजनवद्युद्धे समेनोभयतः क्षयः। एवं प्रबन्धयेदन्यैर्गजं प्रतिगजैरिव ॥ ८४ ॥
हीनोऽपि सुभटानीकस्तीक्ष्णैरन्यैः सहाहवे। नेतव्यः क्षीणतां नो चेत्तयैर्दासत्वमानयेत् ॥ ८५ ॥

परन्तु समान शक्तिवाले शत्रु के साथ युद्ध करने से दोनों नष्ट होजाते हैं। अतः ऐसे अवसर पर विजिगीषु राजा को समान शक्तिशाली शत्रुभूत राजा के लिए दूसरे मित्रभूत राजाओं की सहायता से उसप्रकार बाँध लेना चाहिए जिसप्रकार हाथी को दूसरे हाथियों द्वारा पकड़वाकर बाँध दिया जाता है।

भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार[1] ने समान शक्तिवाले शत्रुभूतराजा के साथ युद्ध करने के विषय में कहा है कि 'समान शक्तिवालों का परस्पर युद्ध होने से दोनों का मरण निश्चित रहता है और विजय-प्राप्ति संदिग्ध रहती है; क्योंकि यदि कच्चे घड़े परस्पर एक दूसरे से ताडित किये जावें तो दोनों नष्ट होजाते हैं ॥ १ ॥ भागुरि[2] विद्वान् ने भी उक्त दृष्टान्त देते हुए समान बलवानों को युद्ध करने का निषेध किया है। प्रकरण में उक्त मंत्री ने यशोधर महाराज के प्रति समान शक्तिशाली शत्रुभूत राजा के साथ युद्ध करने से उत्पन्न होनेवाली हानि बताते हुए उसके प्रति विजिगीषु का कर्तव्य बताया है[3] ॥ ८४ ॥ विजिगीषु राजा को शत्रुभूत राजा के योद्धाओं का समूह, जो कि हीन (थोड़ी) या अधिक संख्यावाला है, अपने दूसरे तीक्ष्ण (हिंसक) योद्धाओं द्वारा युद्ध भूमि पर नष्ट कर देना चाहिए। यदि विजिगीषु के उक्त उपाय द्वारा वह नष्ट न किया जासके तो उसे राजनैतिक दाव-पेचों द्वारा अपना सेवक बना लेना चाहिए[4] ॥ ८५ ॥ हे राजन्! मैं (विजिगीषु) महान् हूँ और शत्रु हीन है, अतः यह मेरा क्या कर सकता है? इसप्रकार की चिन्ता (विचार) छोड़िए। क्योंकि तेजस्वी लघु होनेपर भी महान् शत्रु को परास्त कर सकता है, इसका समर्थक उदाहरण यह है कि तेजस्वी सिंह-शावक (शेर का बच्चा) श्रेष्ठ हाथी की शिकार (मृत्यु) कर देता है।

भावार्थ—इसी नीतिकार[5] ने कहा है कि जो विजिगीषु राजा अपने जीवन की अभिलाषा नहीं करता (मृत्यु से भी नहीं डरता) उसकी वीरता का वेग उसे शत्रु से युद्ध करने के लिए उसप्रकार प्रेरित करता है जिसप्रकार सिंह-शावक लघु होने पर भी वीरता-से प्रेरित हुआ श्रेष्ठ हाथी को मार देता है।

नारद[6] विद्वान् ने भी मृत्यु से डरनेवालों को कायर और न डरनेवालों को वीर तथा युद्ध में विजयश्री प्राप्त करनेवाले कहा है। जैमिनि[7] विद्वान् का उद्धरण भी सिंहशावक के दृष्टान्त द्वारा ऐसे विजिगीषु की, जो कि लघु होने पर भी वीरता-युक्त है, महान् शत्रु पर होनेवाली विजयश्री का समर्थन करता है ॥ १ ॥

१. तथा च सोमदेवसूरिः—समस्य समेन सह विग्रहे निश्चितं मरणं जये च सन्देहः,
आमं हि पात्रमामेनाभिहतमुभयतः क्षयं करोति ॥१॥

२. तथा च भागुरिः—समेनापि न योद्धव्यमित्युवाच बृहस्पतिः। अन्योन्याहतिना भंगो घटाभ्यां जायते यतः ॥१॥

३. उपमालंकार। ४. उपमालङ्कार। नीति. (भा. टी.) पृ. ३९८ (युद्धसमुद्देश) से संकलित—सम्पादक

५. तथा च सोमदेव सूरि :—स्वजीविते हि निराशस्याचार्यो भवति वीर्यवेगः ॥१॥ लघुरपि सिंहशावो हन्त्येव दन्तिनम् ॥२॥
नीतिवाक्यामृत (भा० टी०) युद्धसमुद्देश सूत्र ६४-६५ पृ० ३९६

६. तथा च नारदः—न तेषां जायते वीर्यं जीवितव्यस्य वाञ्छकाः।
न मृत्योर्ये भयं चक्रुस्ते [वीराः स्युर्जयान्विताः] ॥१॥

७. तथा च जैमिनिः—यद्यपि स्याल्लघुः सिंहस्तथापि द्विपमाहवे। एवं राजापि वीर्याढ्यो महारिं हन्ति चेल्लघुः ॥१॥
नीतिवाक्यामृत (भा. टी.) युद्धसमुद्देश पृ. ३९७ से संकलित—सम्पादक।

अहं महानयं स्वल्पश्चिन्तेयं नृप मुच्यताम् । सिंहशावात्करीन्द्राणां मृत्युरत्र निदर्शनम् ॥ ८६ ॥
पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निशितैः शरैः । तामवस्थां गतानां तु न विद्मः किं भविष्यति ॥ ८७ ॥
क्षत्रसारं भृतं शूरमस्त्रज्ञमनुरागि चेत् । अपि स्वल्पं श्रियै सैन्यं वृथेयं मुण्डमण्डली ॥ ८८ ॥

प्रकरण में उक्त मंत्री ने यशोधर महाराज के प्रति उक्त दृष्टान्त द्वारा इस बात का समर्थन किया कि ऐसा विजिगीषु, जो कि लघु होने पर भी वीरता-युक्त है, प्रचुर शक्तिशाली शत्रु पर विजयश्री प्राप्त कर सकता है [1] ॥८६॥ हे राजन् ! विवेकी राजाओं को पुष्पों द्वारा भी युद्ध नहीं करना चाहिए। पुनः तीक्ष्ण बाणों द्वारा युद्ध करने के बारे में तो कहना ही क्या है ? अर्थात्—तीक्ष्ण बाण-आदि शस्त्रों द्वारा तो कभी युद्ध करना ही नहीं चाहिए। क्योंकि युद्ध-अवस्था को प्राप्त हुए प्राणियों का क्या होगा ? अर्थात्—कितनी दयनीय अवस्था होगी इसे हम नहीं जानते। भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार[2] ने कहा है कि 'नीतिशास्त्र के वेत्ता पुरुष जब पुष्पों द्वारा भी युद्ध करना नहीं चाहते तब शस्त्र-युद्ध किस प्रकार चाहेंगे ? अपितु नहीं चाहेंगे। विदुर[3] विद्वान् ने भी उक्त दृष्टान्त देते हुए शस्त्र-युद्ध का निषेध किया है। प्रकरण में उक्त मंत्री यशोधर महाराज से युद्धाङ्गण में धराशायी हुए सैनिकों की दयनीय अवस्था का निर्देश करता हुआ शस्त्र-युद्ध का निषेध करता है[4] ॥८७॥ हे राजन् ! विजिगीषु की ऐसी फौज थोड़ी होने पर भी लक्ष्मी-निमित्त होती है। अर्थात्—विजिगीषु की शत्रु से विजयश्री प्राप्त कराने में कारण है, जिसमें वीर व शक्तिशाली राजपुत्र वर्तमान हों, जो अन्न व घृत-आदि भोज्य वस्तुओं द्वारा पुष्ट की गई है, जो युद्ध में निर्भयता पूर्वक वीरता दिखाती हो एवं जो तलवार-आदि से युद्ध करने में प्रवीण हो तथा स्वामी से स्वाभाविक स्नेह करती हो परन्तु इसके विपरीत उक्त गुणों से शून्य—सारहीन (शक्ति-हीन व कर्तव्य विमुखता-आदि दोषों से व्याप्त) यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली अधिक फौज निरर्थक है। भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार[5] ने कहा है कि 'सारहीन (शक्तिहीन व कर्त्तव्य विमुख) बहुत सी फौज की अपेक्षा सारयुक्त (शक्तिशाली व कर्तव्य-परायण) थोड़ी सी फौज ही उत्तम है। नारद[6] विद्वान् ने भी अच्छी तैयार थोड़ी भी फौज को उत्तम व बहुत सी डरपोक फौज को नगण्य बताया है ॥ १॥ आचार्य श्री ने [7] सार-हीन पल्टन से होनेवाली हानि बताते हुए कहा है कि 'जब शत्रुकृत उपद्रव द्वारा विजिगीषु की सारहीन सेना नष्ट हो जाती है तब उसकी शक्तिशाली सेना भी नष्ट हो जाती है—अधीर होजाती है, अतः विजिगगीषु को दुर्बल सैन्य न रखनी चाहिए। कौशिक [8] ने भी कायर सेना का भंग विजिगीषु की वीर सेना के भङ्ग का कारण बताया है ॥१॥ प्राकरणिक अभिप्राय यह है कि 'उपायसर्वज्ञ' नाम का मंत्री यशोधर महाराज के प्रति उक्त प्रकार की सार—शक्तिशाली कर्तव्य परायण—फौज को विजयश्री का कारण और सार-हीन फौज को पराजय का कारण बता रहा है[9] ॥८८॥

१. प्रतिवस्तूपमालंकार ।
२. तथा च सोमदेवसूरिः—पुष्पयुद्धमपि नीतिवेदिनो नेच्छन्ति किं पुनः शस्त्रयुद्धं ॥१॥
३. तथा च विदुरः—पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनः निशितैः शरैः । उपायपतया ? पूर्वं तस्माद्युद्धं समाचरेत् ॥१॥
४. जाति-अलङ्कार । नीतिवाक्यामृत (भा. टी.) प्रकीर्णक समुद्देश पृ. ४१५-४१७ से संकलित—सम्पादक
५. तथा च सोमदेवसूरिः—वरमल्पमपि सारं बलं न भूयसी मुण्डमण्डली ॥१॥
६. तथा च नारदः—वरं स्वल्पापि च श्रेष्ठा नास्वल्यापि च कातरा । भूपतीनां च सर्वेषां युद्धकाले पताकिनी ॥१॥
७. तथा च सोमदेवसूरिः—असारबलभंगः सारबलभंगं करोति ॥ १ ॥
८. तथा च कौशिकः—कातराणां च यो भंगो संग्रामे स्यान्महीपतेः । स हि भंगं करोत्येव सर्वेषां नात्र संशयः ॥१॥
९. समुच्चयालंकार । नीतिवाक्यामृत से समुद्धृत—सम्पादक

अन्योन्य‡शत्रुसंक्षोभान्निष्कण्टकमहीतलः। लक्ष्मीपतिस्तटस्थोऽपि भिन्नमुद्रवहित्रवत् ॥ ८९ ॥

हे राजन्! जो विजयश्री का इच्छुक राजा शत्रुभूत राजाओं को परस्पर में युद्ध कराने के कारण अपनी भूमि को निष्कण्टक—क्षुद्रशत्रुओं से रहित—बना लेता है, वह तटस्थ—दूरवर्ती—होने पर भी उसप्रकार लक्ष्मी (राज्य-सम्पत्ति) का स्वामी होजाता है जिसप्रकार दूसरे देश को प्राप्त हुआ बड़ा व्यापारी ऐसी जहाज का स्वामी होता है, जिस पर उसने अपने नाम की छाप लगा दी है। अर्थात्—जिसप्रकार माल (वस्त्र-आदि) से भरी हुई जहाज पर अपना नाम अङ्कित करके दूसरे देश को प्रस्थान करनेवाला व्यापारी उस जहाज का स्वामी होता है उसीप्रकार विजयश्री का इच्छुक राजा भी भेद नीति का अवलम्बन करके तटस्थ होकर के भी शत्रुभूत राजाओं को आपस में लड़ाकर अपने पृथ्वी-तल को क्षुद्र शत्रुओं से रहित करता हुआ राज्य लक्ष्मी का स्वामी होजाता है। भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार[1] ने विजिगीषु राजा का कर्त्तव्य निर्देश करते हुए कहा है कि "विजिगीषु को शत्रु के कुटुम्बियों को अपने पक्ष में मिलाना चाहिये, क्योंकि उनके मिलाने के सिवाय शत्रु-सेना को नष्ट करनेवाला कोई मन्त्र नहीं है"। शुक्र[2] विद्वान् ने भी उक्त बात कही है ॥ १ ॥ भेदनीति के बारे में निम्नप्रकार लिखा है कि "विजिगीषु जिस शत्रु पर चढ़ाई करे, उसके कुटुम्बियों को साम-दानादि उपाय द्वारा अपने पक्ष में मिलाकर उन्हें शत्रु से युद्ध करने के लिये प्रेरित करे।

विजयश्री चाहनेवाले राजा को अपनी फौज की क्षति द्वारा शत्रु को नष्ट नहीं करना चाहिये किन्तु कांटे से कांटा निकालने की तरह शत्रु द्वारा शत्रु को नष्ट करने में प्रयत्नशील होना चाहिये। जिसप्रकार बेल से बेल ताड़ित किये जाने पर दोनों में से एक अथवा दोनों फूट जाते हैं उसीप्रकार जब विजिगीषु द्वारा शत्रु से शत्रु लड़ाया जाता है तब उनमें से एक का अथवा दोनों का नाश निश्चित होता है, जिसके फलस्वरूप विजिगीषु का दोनों प्रकार से लाभ होता है"। विजिगीषु का कर्त्तव्य है कि "शत्रु ने इसका जितना नुकसान किया है उससे ज्यादा शत्रु की हानि करके उससे सन्धि कर ले*"। गौतम[3] विद्वान् ने भी "शत्रु से सन्धि करने के बारे में उक्त बात का समर्थन किया है ॥ १ ॥ आचार्यश्री[4] ने कहा है कि "जिसप्रकार ठण्डा लोहा गरम लोहे से नहीं जुड़ता किन्तु गरम लोहे ही जुड़ते हैं उसीप्रकार दोनों कुपित होने पर परस्पर सन्धि के सूत्र में बँधते हैं"। शुक्र[5] विद्वान् का उद्धरण भी यही कहता है ॥ १ ॥

‡ 'शत्रुसंत्रासान्निष्कण्टकमहीतलः' क०।

१. तथा च सोमदेवसूरिः—न दायादादपरः परबलस्याकर्षणमंत्रोऽस्ति ॥ १ ॥
यस्याभिमुखं गच्छेत्तस्यावश्यं दायादानुत्थापयेत् ॥ २ ॥

२. तथा च शुक्रः—न दायादात् परो बैरी विद्यतेऽत्र कथंचन। अभिचारकमन्त्रश्च शत्रुसैन्यनिषूदने ॥ १ ॥

*तथा च सोमदेवसूरि :—कण्टकेन कण्टकमिव परेण परमुद्धरेत् ॥ १ ॥
विल्वेन हि विल्वं हन्यमानमुभयथाप्यात्मनो लाभाय ॥ २ ॥
यावत्परेणापकृतं तावतोऽधिकमपकृत्य सन्धिं कुर्यात् ॥ ३ ॥

३. तथा च गौतमः—यावन्मात्रोऽपराधश्च शत्रुणा हि कृतो भवेत्। तावत्तस्याधिकं कृत्वा सन्धिः कार्यो बलान्वितैः ॥ १ ॥

४. तथा च सोमदेवसूरि :—नातप्तं लोहं लोहेन सन्धत्ते ॥ १ ॥

५. तथा च शुक्र :—द्वाभ्यामपि तप्ताभ्यां लोहाभ्यां च यथा भवेत्। भूमिपानां च विज्ञेयस्तथा सन्धिः परस्परम् ॥ १ ॥
नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृ० ३९५-३९६ युद्धसमुद्देश से संकलित—सम्पादक

तन्नयानायनिक्षेपात् कुरु हस्ते द्विषत्तिमीन् । दोर्भ्यां युद्धाम्बुधिक्षोभात्तद्गृहे कुशलं कुतः ॥ ९० ॥
एकं वपुरुभौ हस्तौ शत्रवश्च पदे पदे । दुःखकृत्कण्टकोऽपि स्यात्कियत्खड्गेन साध्यते ॥ ९१ ॥
साम्ना दानेन भेदेन यत्कार्यं नैव सिध्यति । तत्र दण्डः प्रयोक्तव्यो नृपेण श्रियमिच्छता ॥ ९२ ॥

आचार्यश्री[1] ने लिखा है कि 'जब विजिगीषु को मालूम होजावे कि "आक्रमणकारी का शत्रु उसके साथ युद्ध करने तैयार है (दोनों शत्रु परस्पर में युद्ध कर रहे हैं) तब इसे द्वैधीभाव (वलिष्ठ से सन्धि व निर्वल से युद्ध) अवश्य करना चाहिये'। गर्ग[2] विद्वान् ने भी द्वैधीभाव का यही अवसर बताया है ॥ १ ॥ "दोनों विजिगीषुओं के बीच में घिरा हुआ शत्रु दो शेरों के बीच में फँसे हुये हाथी के समान सरलता से जीता जासकता है ‡"। शुक्र[3] ने भी दोनों विजिगीषुओं से आक्रान्त हुए सीमाधिप शत्रु को सुखसाध्य—सरलता से जीतने के योग्य—बताया है" ॥ १ ॥ प्राकरणिक निष्कर्ष—उपायसर्वज्ञ नाम का मन्त्री यशोधर महाराज के प्रति द्वैधीभाव (दोनों शत्रुओं को लड़ाकर वलिष्ठ से सन्धि व हीन से विग्रह) का निरूपण करता है एवं उसके फलस्वरूप विजिगीषु मध्यस्थ हुआ निष्कण्टक होने से लक्ष्मी का आश्रय उक्त दृष्टान्त के समान होता है' यह निरूपण कर रहा है[4] ॥ ८९ ॥

हे राजन् ! इसलिए युद्धरूपी समुद्र में नीति (साम, दान, दंड व भेदरूप उपाय) रूपी जाल के निक्षेप (डालना) से शत्रुरूप मच्छों को हस्तगत कीजिए—अपना सेवक बनाइए। क्योंकि केवल दोनों भुजाओं द्वारा युद्धरूप समुद्र को पार करने से योद्धाओं के गृह में कुशलता किसप्रकार होसकती है ? अपि तु कदापि नहीं होसकती[5] ॥ ९० ॥ हे राजन् ! विजिगीषु राजा के शत्रु पद पद में (सब जगह) वर्तमान हैं एवं कण्टक[6] (बदरी-कण्टक-सरीखा क्षुद्र शत्रु) भी पीड़ा-जनक होता है जब उन पर विजय प्राप्त करने के लिए उसके पास एक शरीर और दो हस्त हैं तब बताइए कि विजिगीषु केवल तलवार द्वारा कितनी संख्या में शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकता है ? अपि तु नहीं कर सकता। अभिप्राय यह है कि विजयश्री के इच्छुक राजा को साम, दान, दण्ड व भेदरूप उपायों द्वारा शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त करते हुए उन्हें वश में करना चाहिए, जिसके परिणामस्वरूप उसका राज्य निष्कण्टक (समस्त प्रकार के शत्रुओं से रहित) होगा[7] ॥९१॥

हे देव ! जो कार्य साम, दान व भेदनीति से सिद्ध (पूर्ण) नहीं होता उसको सिद्ध करने के हेतु विजय श्री के इच्छुक राजा को दंडनीति (शत्रु का बध करना या उसे दुःखित करना या उसके धन

१. तथा च सोमदेवसूरि :—द्वैधीभावं गच्छेद् यदन्योऽवश्यमात्मना सहोत्सहते ॥ १ ॥

२. तथा च गर्ग :—यद्यसौ सन्धिमादातुं युद्धाय कुरुते क्षणं । निश्चयेन तदा तेन सह सन्धिस्तथा रणम् ॥ १ ॥

‡ तथा च सोमदेवसूरि :—बलद्वयमध्यस्थितः शत्रुरुभयसिंहमध्यस्थितः करीव भवति सुखसाध्यः ॥ १ ॥

३. तथा च शुक्र :—सिंहयोर्मध्ये यो हस्ती सुखसाध्यो यथा भवेत् । तथा सीमाधिपोऽन्येन विगृहीतो वशो भवेत् ॥ १ ॥
नीतिवाक्यामृत व्यवहारसमुद्देश (भा० टी०) पृ० ३७६ व ३७८ से संगृहीत—सम्पादक

४. उपमालंकार।

५. रूपकालंकार व आक्षेपालंकार।

६. उक्तं च—'सूच्यग्रे क्षुद्रशत्रौ च रोमहर्षे च कण्टकः' सं० टी० पृ० ३८९ से संगृहीत—सम्पादक

७. आक्षेपालंकार।

का अपहरण करना) का आश्रय लेना चाहिए। भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार आचार्य[1] श्रीने शत्रुभूत राजा व प्रतिकूल व्यक्ति को वश करने के उक्त चार उपाय (साम, दान, दंड व भेद) माने हैं। उनमें से सामनीति के पाँच भेद हैं। १. गुणसंकीर्तन, २. सम्बन्धोपाख्यान, ३. अन्योपकारदर्शन, ४. आयतिप्रदर्शन और ५. आत्मोपसन्धान।

१. गुणसंकीर्तन—प्रतिकूल व्यक्ति को अपने वशीभूत करने के लिए उसके गुणों का उसके समक्ष कथन द्वारा उसकी प्रशंसा करना। २. सम्बन्धोपाख्यान-जिस उपाय से प्रतिकूल व्यक्ति की मित्रता दृढ़ होती हो, उसे उसके प्रति कहना। ३. अन्योपकारदर्शन—विरुद्ध व्यक्ति की भलाई करना। ४. आयतिप्रदर्शन—'हम लोगों की मैत्री का परिणाम भविष्य जीवन को सुखी बनाना है' इसप्रकार प्रयोजनार्थी को प्रतिकूल व्यक्ति के लिए प्रकट करना और ५. आत्मोपसन्धान—'मेरा धन आप अपने कार्य में उपयोग कर सकते हैं' इसप्रकार दूसरे को वश करने के लिए कहना। शत्रु को वश करने के अभिप्राय से उसे अपनी सम्पत्ति का उपभोग करने के लिए विजिगीषु द्वारा इसप्रकार का अधिकार-सा दे दिया जाता है कि 'यह सम्पत्ति मेरी है इसे आप अपनी इच्छानुसार कार्यों में लगा सकते हैं, इसे 'आत्मोपसन्धान' नाम की 'सामनीति' कहते हैं। व्यास[2] विद्वान् ने कहा है कि 'जिसप्रकार कर्कश वचनों द्वारा सज्जनों के चित्त विकृत नहीं होते उसीप्रकार सामनीति से प्रयोजनार्थी का कार्य विकृत न होकर सिद्ध होता है और जिसप्रकार शक्कर द्वारा शान्त होनेवाले पित्त में पटोल (औषधिविशेष) का प्रयोग व्यर्थ है उसीप्रकार सामनीति से सिद्ध होनेवाले कार्य में दंडनीति का प्रयोग भी व्यर्थ है' ॥२॥

२. दाननीति—वह है जहाँपर विजय का इच्छुक शत्रु से अपनी प्रचुर सम्पत्ति के संरक्षणार्थ उसे थोड़ा सा धन देकर प्रसन्न कर लेता है, उसे 'दाननीति, कहते हैं[3]। शुक्र[4] विद्वान् ने भी 'शत्रु से प्रचुर धन की रक्षार्थ उसे थोड़ा सा धन देकर प्रसन्न करने को उपप्रदान—दाननीति—कहा है' ॥१॥ विजिगीषु अपने सैन्यनायक, तीक्ष्ण व अन्य गुप्तचरों तथा दोनों तरफ से वेतन पानेवाले गुप्तचरों द्वारा शत्रु-सेना में परस्पर एक दूसरे के प्रति सन्देह व तिरस्कार उत्पन्न कराकर भेद (फूट) डालता है उसे 'भेदनीति' कहते हैं[5]। गुरु[6] ने भी उक्त उपाय द्वारा शत्रु-सेना में परस्पर भेद डालने को 'भेदनीति' कहा है। शत्रु का बध करना, उसे दुःखित करना या उसके

१. तथा च सोमदेवसूरिः—सामोपप्रदानभेददण्डा उपायाः ॥१॥
तत्र पंचविधं साम, गुणसंकीर्तनं सम्बन्धोपाख्यानं परोपकारदर्शनमायतिप्रदर्शनमात्मोपसन्धानमिति ॥२॥
यन्मम द्रव्यं तद्भवता स्वकृत्येषु प्रयुज्यतामित्यात्मोपसन्धानं ॥३॥

२. तथा च व्यासः—साम्ना यत्सिद्धिदं कृत्यं ततो नो विकृतिं भजेत्। सज्जनानां यथा चित्तं दुरुक्तैरपि कीर्तितैः॥१॥
साम्नैव यत्र सिद्धिर्न दण्डो बुधेन विनियोज्यः। पित्तं यदि शर्करया शाम्यति तत्किं पटोलेन ॥२॥

३. तथा च सोमदेव सूरिः—बह्वर्थसंरक्षणायाल्पार्थप्रदानेन परप्रसादनमुपप्रदानं

४. तथा च शुक्रः—बह्वर्थः स्वल्पवित्तेन यदा शत्रोः प्ररक्षते। परप्रसादनं तत्र प्रोक्तं तच्च विचक्षणैः ॥१॥

५. तथा च सोमदेवसूरिः—योगतीक्ष्णगूढपुरुषोभयवेतनैः परबलस्य परस्परशंकाजननं निर्भर्त्सनं वा भेदः ॥१॥

६. तथा च गुरुः—सैन्यं विषं तथा गुप्ताः पुरुषाः सेवकात्मकाः। तैश्च भेदः प्रकर्तव्यो मिथः सैन्यस्य भूपतेः ॥१॥

सामसाध्येषु कार्येषु को हि शस्त्रं प्रयोजयेत्। मृतिहेतुर्गुडो यत्र कस्तत्र विषदायकः ॥ ९३ ॥
अकुर्वन्नात्मलक्ष्मीणां संविभागं नरेश्वरः। मधुच्छत्रमिवाप्नोति सर्वनाशं सहात्मना ॥ ९४ ॥

धन का अपहरण करना दंडनीति है[1]। जैमिनि[2] नीतिवेत्ता ने भी दंडनीति की उक्तप्रकार व्याख्या की है। प्राकरणिक अभिप्राय यह है कि उक्त मंत्री यशोधर महाराज से कहता है कि राजन्! साम, दान व भेदनीति द्वारा सिद्ध न होनेवाले कार्य में दंडनीति की अपेक्षा होती है न कि सर्वत्र[3] ॥९२॥ हे राजन्! निश्चय से उक्त पाँचप्रकार की सामनीति द्वारा सिद्ध होनेवाले कार्यों (शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त करना-आदि) में कौन पुरुष शस्त्र प्रेरित करेगा? अपि तु कोई नहीं। उदाहरणार्थ—गुड़-भक्षण जिस पुरुष के घात का हेतु है उस पुरुष के घात के लिए विष देनेवाला कौन होगा? अपितु कोई नहीं। भावार्थ—आचार्य[4] श्री ने कहा है कि "विजय के इच्छुक राजा को सामनीति द्वारा सिद्ध होनेवाला इष्ट प्रयोजन (शत्रु-विजय-आदि) युद्ध द्वारा सिद्ध नहीं करना चाहिए, क्योंकि जब गुड़-भक्षण द्वारा ही अभिलषित प्रयोजन (आरोग्य-लाभ) सिद्ध होता है तब कौन बुद्धिमान् पुरुष विष-भक्षण में प्रवृत्त होगा? अपि कोई नहीं"। वल्लभदेव[5] विद्वान् ने भी कहा कि 'जिसप्रकार जब शक्कर-भक्षण से पित्त शान्त होता है तब पटोल (औषधिविशेष) के भक्षण से कोई लाभ नहीं उसीप्रकार सामनीति द्वारा सिद्ध होनेवाले शत्रु-विजय-आदि कार्यों में दंडनीति का प्रयोग विद्वानों को नहीं करना चाहिए' ॥१॥

नीतिवेत्ता हारीत[6] ने कहा है कि 'जब गुड़-भक्षण से शारीरिक आरोग्यता शक्ति होती है तब उसके लिए विष-भक्षण में कौन प्रवृत्त होगा? अपि तु कोई नहीं' ॥१॥ प्रकरण में उक्त मंत्री उक्त उदाहरण द्वारा सामनीति से सिद्ध होनेवाले कार्यों में दण्डनीति का प्रयोग निरर्थक सिद्ध कर रहा है[7] ॥९३॥

जो राजा कुटुम्बियों-आदि के लिए अपनी संपत्ति का वितरण (दान) नहीं करता, वह अपने जीवन के साथ उसप्रकार समस्त लक्ष्मी का क्षय प्राप्त करता है जिसप्रकार शहद का छत्ता शहद की मक्खियों के क्षय के साथ नष्ट होता है। अर्थात्—जिसप्रकार शहद की मक्खियाँ चिरकाल तक पुष्पों से शहद इकट्ठा करतीं हैं और भौरों को नहीं खाने देतीं, इसलिए उनका शहद भील लोग छत्ता तोड़कर लेजाते हैं उसीप्रकार कुटुम्बियों-आदि को अपनी सम्पत्तियों का दान न करनेवाले राजा का धन भी उसके साथ नष्ट होजाता है—चोरों-आदि द्वारा अपहरण कर लिया जाता है।

---

१. तथा च सोमदेवसूरिः—वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं च दण्डः ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः—वधस्तु क्रियते यत्र परिक्लेशोऽथवा रिपोः। अर्थस्य ग्रहणं भूरिर्दण्डः स परिकीर्तितः ॥१॥
नीतिवाक्यामृत व्यवहारसमुद्देश (भा. टी.) पृ. ३७९-३८० से संकलित—सम्पादक

३. जाति-अलङ्कार।

४. तथा च सोमदेवसूरिः—सामसाध्यं युद्धसाध्यं न कुर्यात्। गुडादभिप्रेतसिद्धौ को नाम विषं भुञ्जीत ॥

५. तथा च वल्लभदेवः—साम्नैव यत्र सिद्धिस्तत्र न दण्डो बुधैर्विनियोज्यः।
पित्तं यदि शर्करया शाम्यति ततः किं तत्पटोलेन ॥ १ ॥

६. तथा च हारीतः—गुडास्वादनतः शक्तिर्यदि गात्रस्य जायते। आरोग्यलक्षणा नाम तद्भक्षयति को विषं ॥१॥
नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृ० ३९० (युद्धसमुद्देश) से समुद्धृत—सम्पादक

७. दृष्टान्तालंकार व आक्षेपालंकार।

अभित्त्वा शत्रुसंघातं यः पराक्रमते नृपः। स तुङ्गस्तम्बसंलग्नवीरणाकर्षकायते ॥ ९५ ॥
शक्तिहीने मतिः कैव का शक्तिर्मतिवर्जिते। नृपस्य * तस्य दृष्टान्तः पङ्गुरन्धश्च कथ्यताम् ॥ ९६ ॥
दूरस्थानपि भूपाल क्षेत्रेऽस्मिन्नरिपक्षिणः। बलोपलमहाघोषैः क्षिप † क्षेपणिहस्तवत् ॥ ९७ ॥

भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार आचार्यश्री[1] ने कहा है कि 'पात्रदान न करनेवाले लोभी का धन शहद के छत्ते सरीखा नष्ट होजाता है।' वर्ग[2] विद्वान् के उद्धरण का अभिप्राय यह है कि 'पात्रों को दान न देनेवाला लोभी उसी धन के साथ राजाओं और चोरों द्वारा मार दिया जाता है॥ १॥ निष्कर्ष—प्रकरण में उक्त मंत्री यशोधर महाराज के प्रति दाननीति न करनेवाले राजा की हानि उक्त दृष्टान्त द्वारा समर्थन कर रहा है[3] ॥ ९४ ॥

जो राजा शत्रु-समूह में भेद (फोड़ना) न करके युद्ध करने के लिए उत्साह करता है, वह ऊँचे वृक्ष के स्कन्ध-प्रदेशों पर लगे हुए बाँस वृक्ष के खींचनेवाले सरीखा आचरण करता है। अर्थात्—जिसप्रकार ऊँचे वृक्ष के स्कन्धों पर लगे हुए बाँस-वृक्ष का खींचना असंभव होता है उसीप्रकार शत्रु-समूह में भेद डाले बिना शत्रु-समूह पर विजयश्री प्राप्त करना भी असंभव है। भावार्थ—विजयश्री के इच्छुक राजा को शत्रुओं के कुटुम्बियों को उसप्रकार अपने पक्ष में मिलाना चाहिए जिसप्रकार श्रीरामचन्द्र ने शत्रुपक्ष (रावण) के कुटुम्बी (भाई) विभीषण को अपने पक्ष में मिलाया था[4] ॥ ९५ ॥

हे राजन्! पराक्रम व सैन्य-शक्ति से हीन राजा का राजनैतिक ज्ञान क्या है? अपितु कुछ नहीं—निरर्थक है। इसीप्रकार राजनैतिक ज्ञान से शून्य राजा की शक्ति (पराक्रम व सैन्य-शक्ति) भी क्या है? अपि तु कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ—जिसप्रकार शक्ति-हीन लगड़े का ज्ञान निरर्थक है और ज्ञान-हीन अन्धे की शक्ति निष्फल होती है। अर्थात्—जिसप्रकार लँगड़ा शक्ति (चलने की योग्यता) हीन होने के कारण ज्ञान-युक्त होता हुआ भी अभिलषित स्थान को प्राप्त नहीं हो सकता उसीप्रकार पराक्रमशक्ति से हीन हुआ राजा राजनैतिक ज्ञानशाली होने पर भी अभिलषित वस्तु (राज्य-संचालन-आदि) की प्राप्ति नहीं कर सकता एवं जिसप्रकार अन्धा पुरुष ज्ञान-शून्य होने के कारण शक्ति (चलने की शक्ति) सम्पन्न होता हुआ भी अभिलषित स्थान पर प्राप्त नहीं हो सकता उसीप्रकार राजनैतिक ज्ञान से शून्य हुआ राजा भी पराक्रमशक्ति-सम्पन्न होने पर भी अभिलषित पदार्थ (राज्य-संचालन-आदि कार्य) प्राप्त नहीं कर सकता। भावार्थ—हम प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण श्लोक नं० ८१ की व्याख्या में कर चुके हैं[5] ॥ ९६ ॥

हे राजन्! आप इस उज्जयिनी राजधानी में स्थित हुए दूरवर्ती भी शत्रुरूप पक्षियों को सैन्य, पाषाण व महान् शब्दों के प्रेषण से उसप्रकार प्रेरित (नष्ट) करो जिसप्रकार गोलागोफण—पाषाण-सहित गुँथने—को हाथों पर धारण करनेवाला मानव दूरवर्ती पक्षियों या शत्रुओं को पाषाण-

* 'तत्र' ग०। † 'क्षिपणिहस्तवत्' क०।

१. तथा च सोमदेवसूरिः—तीर्थमर्थेनासंभावयन् मधुच्छत्रमिव सर्वात्मना विनश्यति।

२. तथा च वर्गः—यो न यच्छति पात्रेभ्यः स्वधनं कृपणो जनः। तेनैव सह भूपालैश्चौराद्यैर्वा स हन्यते ॥ १ ॥
नीतिवाक्यामृत पृ० ४१ से समुद्धृत—सम्पादक

३. दृष्टान्त व सहोक्ति-अलंकार। ४. उपमालंकार। ५. आक्षेपालङ्कार व उपमालङ्कार।

निपाजीव इव स्वामिन्स्थिरीकृतनिजासनः। चक्रं *भ्रमय दिक्पालपुरभाजनसिद्धये ॥ ९८ ॥
नृणां परिच्छदः स्वस्य कार्यायाथ सुखाय च। तदर्थमात्मनः क्लेशे किं परिच्छदसंपदा ॥ ९९ ॥
स वाहं वेति संदेहो †मतेर्यत्रोपजायते। तत्रादावेव को नाम रणे प्रेरयते नृपम् ॥ १०० ॥
पाति क्षेत्रं यथा गोपः स्थित्वा तन्नाभि ‡मञ्चुके। तथा त्वमपि राजेन्द्र चतुरन्तामव क्षितिम् ॥ १०१ ॥
येऽनन्तरं स्थिता भूमेस्ते नृपास्तव भूपते। प्रतिहारसमं द्वारि तिष्ठन्त्याज्ञापरायणाः ॥ १०२ ॥
अन्येऽपि मण्डलाधीशाः कृतलोकैकशासनम्। वाञ्छितैस्त्वां §निषेवन्ते सिद्धाः कल्पद्रुमा इव ॥ १०३ ॥
स्वानुवर्तिषु लोकेषु $यस्तु क्षोभाय चेष्टते। श्रेयांसि न चिरं तस्य सुप्तव्याल+प्रबोधिवत् ॥ १०४ ॥

आदि फैंककर मारता है[१] ॥ ९७ ॥ हे स्वामिन्! आप, जिन्होंने अपना अनिश्चल आसन (स्थिति या सिंहासन) निश्चल किया है, चारों दिशाओं में स्थित हुए राजाओं के नगररूपी भोज्यपात्रों (वर्तनों) की प्राप्ति के लिए चक्र (सैन्य) को उसप्रकार भेजिए जिसप्रकार कुँभार अपना आसन (पीढ़ा) निश्चल किये हुए पात्रों (घटादि वर्तनों) की प्राप्ति के लिए चक्र घुमाता है[२] ॥ ९८ ॥

हे राजन्! मनुष्यों का परिवार इसलिए है कि उससे अपना कार्य (इष्ट प्रयोजन) सिद्ध कराया जावे और जिससे सुख प्राप्त हो, इसलिए जो लोग परिवार द्वारा इष्ट प्रयोजन-सिद्धि न कराते हुए उसके लिए स्वयं कष्ट उठाते हैं--उद्यमशील होते हैं, उनकी परिवारलक्ष्मी से क्या लाभ? अपितु कोई लाभ नहीं। भावार्थ—प्रकरण में प्रस्तुत मंत्री यशोधर महाराज से शत्रु-देश में फौज भेजने के लिए प्रेरित करता हुआ कह रहा है कि हे राजन्! आप का परिवार (कुटुम्बीजन, अमात्यवर्ग व सैन्य (पलटन)-आदि) इष्ट प्रयोजन-सिद्धि (शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त करना-आदि) के हेतु है, अतः उनसे इष्ट प्रयोजन सिद्ध कराना चाहिए सिजके फलस्वरूप सुख प्राप्त होता है और यदि आप इष्ट प्रयोजनार्थ स्वयं कष्ट करेंगे—शत्रु-देश पर चढ़ाई-आदि करेंगे-- तो आपको परिवार-विभूति से क्या लाभ होगा? कोई लाभ नहीं[३] ॥ ९९ ॥ हे राजन्! जिस युद्ध में मनुष्यों की बुद्धि में इसप्रकार सन्देह उत्पन्न होता है कि 'वह शत्रु [जिसके साथ युद्ध हो रहा है] राजा होगा? अथवा मैं (विजयश्री का इच्छुक) राजा होऊँगा?' उस युद्ध में राजा को शुरू में ही भेजने के लिए कौन प्रेरित करता है? अपि तु कोई नहीं प्रेरित करता[४] ॥ १०० ॥ हे राजेन्द्र! जिसप्रकार किसान खेत के मध्यभाग में वर्तमान मञ्चक (खाट या मड़वा) पर स्थित हुआ खेत की रक्षा करता है उसीप्रकार आप भी [अपने राज्य के मध्यवर्ती उज्जयिनी राजधानी में स्थित हुए] चार समुद्रपर्यन्त पृथिवी की रक्षा कीजिए[५] ॥ १०१ ॥

हे राजेन्द्र! आपके देश के निकटवर्ती राजा लोग आपकी आज्ञा पालन में तत्पर हुए आपके दरवाजे पर उसप्रकार स्थित होरहे हैं जिसप्रकार द्वारपाल आपके दरवाजे पर स्थित हैं[६] ॥ १०२ ॥ हे राजन्! उनके सिवाय दूसरे भी अन्य देश के राजा लोग हस्त-प्राप्त कल्पवृक्ष सरीखे हुए संसार में अद्वितीय शासन करनेवाले आपकी मनचाही भेंटों द्वारा सेवा कर रहे हैं[७] ॥ १०३ ॥ हे राजन्! जो राजा अपने अनुकूल चलनेवाले सेवकों को कुपित करने के लिए प्रवृत्त होता है, उसको उसप्रकार चिरकाल तक कल्याण नहीं होते जिसप्रकार सोते हुए सर्प को जगानेवाले के कल्याण नहीं होते[८] ॥ १०४ ॥ हे राजन्! तथापि

* 'भ्रामय' क०। † 'मतिर्यत्रोपजायते' क०। ‡ 'मञ्चके' क०। § 'निषेवन्ति' क०।
$ 'यस्तत्क्षोभाय' क०। + 'प्रबोधवत्' क०।

१. दृष्टान्तालंकार। २. उपमालंकार व रूपकालंकार। ३. आक्षेपालंकार।
४. आक्षेपालङ्कार। ५. दृष्टान्तालङ्कार। ६. उपमालङ्कार। ७. उपमालङ्कार। ८. उपमालङ्कार।

व्यलीकैश्वर्यपर्यासव्यस्तमर्यादचेतसाम् । विनयाय तथाप्येषां दिक्षु दण्डोऽतिविस्यताम् ॥ १०५ ॥

इति नवकादुपायसर्वज्ञात् 'साध्वाह देव, आर्यमिश्राणामग्रणी: प्राज्ञ उपायसर्वज्ञः ।

द्विषतापि हिते प्रोक्ते सन्तस्तदनुलोमनाः । विवदेतात्र को नाम समकार्यधुरोदिते ॥ १०६ ॥

केवलमिदमशेषार्थशास्त्रोपात्तसारसमुच्चयं सुभाषितत्रयं शारीरं कर्मेव प्रत्यहमवधातव्यम् ।

स्वस्मान्निजः परोऽन्यस्मात् *स्वः परस्मात् परो निजात् ।
रक्ष्यः स्वस्मात् परस्माच्च नित्यमात्मा जिगीषुणा ॥ १०७ ॥+

इन ऐसे उद्दण्ड राजाओं के शिक्षण करने के लिए (उद्दण्डता दूर करने के हेतु) आपको समस्त दिशाओं में फौज भेजनी चाहिए, जिनके चित्त में से झूँठे ऐश्वर्य-मद के कारण मर्यादा (सदाचार) बिलकुल नष्ट होचुकी है[1] ॥ १०५ ॥

समस्त मन्त्रिमण्डल में प्रधान 'नीतिबृहस्पति' नामके मंत्री का कथन—हे राजन् ! यह 'उपाय सर्वज्ञ' नाम का नवीन मन्त्री उचित कह रहा है, क्योंकि यह समस्त विद्वानों में अग्रेसर (प्रधान) और विशिष्ट बुद्धिशाली विद्वान् है ।

हे राजन् ! यदि शत्रु द्वारा भी भविष्य में कल्याणकारक बात कही जावे तो उसे भी सज्जन पुरुष स्वीकार करते हैं—मानते हैं। हे राजन् ! ऐसे विषय पर, जिसमें साधारण कार्य का निरूपण मुख्यता से किया गया है, कौन विवाद करेगा ? अपि तु कोई नहीं करेगा[2] ॥ १०६ ॥

हे राजन् ! निम्नप्रकार कहा जानेवाला सुभाषितत्रय (कानों को अमृतप्राय तीन श्लोकों का रहस्य), जिसमें समस्त अर्थशास्त्रों (नीतिशास्त्रों) से सार-समूह ग्रहण किया गया है, आपको उसप्रकार निरन्तर धारण (पालन) करना चाहिए जिसप्रकार शरीररक्षा के कार्य (भोजनादि) सदा धारण किये जाते हैं ।

हे राजन् ! विजयश्री के इच्छुक राजा को अपने आदमी की रक्षा स्वयं करनी चाहिए और दूसरे की रक्षा दूसरे की सहायता से करनी चाहिए। कभी अपना आदमी दूसरों के द्वारा सताया हुआ दूसरे से रक्षा करने के योग्य है और कभी दूसरा आदमी किसी से पीड़ित हुआ अपने सेवकों द्वारा रक्षा करने के योग्य होता है परन्तु अपनी आत्मा की रक्षा अपने से और दूसरों से सब प्रकार से सदा करनी चाहिए[3] ॥१०७॥ हे राजन् ! आप बगीचे के माली-सरीखे निम्नप्रकार यथायोग्य व्यापार (साम, दान-आदि नीतियों का समुचित प्रयोग) में चतुर हुए पृथिवी का पालन (संरक्षण) कीजिये। अर्थात्—जिसप्रकार बगीचे का माली निम्नप्रकार के कर्तव्य-पालन द्वारा अपने बगीचे की रक्षा करता है उसीप्रकार आप भी निम्नप्रकार के कर्तव्य-पालन द्वारा पृथिवी की रक्षा कीजिए। अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार बगीचे का माली बेरी व बबूल-आदि कटीले वृक्षों को बगीचे से बाहिर वर्तमान वृतिस्थान (बाड़ी—विरवाई) पर बाँधता हुआ बगीचे की रक्षा करता है। अर्थात्—उक्त कटीले वृक्षों को काटकर बगीचे के चारों ओर बाड़ (विरवाई) लगाकर बगीचे की रक्षा करता है उसीप्रकार राजा भी क्षुद्र शत्रुओं को अपने देश से

---

* 'परोऽन्यस्मात्परो निजात्' क० ।

\+ 'परे परेभ्यः स्वैः स्वेभ्यः स्वे परेभ्यश्च तैः । परे रक्ष्यः स्वेभ्यः परेभ्यश्च नित्यमात्मा विपश्चिता क० । अर्थात्—उक्त श्लोक नं० १०७ के पश्चात् ह० लि० मू० प्रति क० में अधिक उल्लिखित है—सम्पादक

१. जाति-अलङ्कार २. आक्षेपालङ्कार । ३. जाति-अलङ्कार ।

वृक्षान्कण्टकिनो बहिर्नियमयन्*विश्लेषयन्संहिता-
नुत्खातान्प्रतिरोपयन्कुसुमितांश्चिन्वंल्लघून् वर्धयन् ।
उच्चान्संनमयन्पृ†थूंश्च कृशयन्नत्युच्छ्रितान्पातय-
न्मालाकार इव प्रयोगनिपुणो राजन्महीं पालय ॥ १०८ ॥

स्वल्पादपि रिपोर्बीजादश्वत्थस्येव ×शाखिनि । भयं जायेत कालेन तस्मात्कस्तमुपेक्षते' ॥ १०९ ॥

इति समासादितसमस्तसचिवपुरःसरस्थितेर्नीतिबृहस्पतेश्च लक्ष्मीमुद्राङ्कां गाङ्गेयोर्मिकामिव हस्तेकृत्येतिकर्तव्यताक्रियां सत्यवागिव प्रतिपन्नधर्मविजयैकभावो यथाकालं षडपि गुणानन्वतिष्ठम् ।

बाहिर निकालकर—उन्हें देश निकाले का दंड देकर—पृथ्वी का पालन करता है। जिसप्रकार बगीचे का माली परस्पर में मिले हुए आम व अनार-आदि वृक्षों को पृथक्-पृथक् करता हुआ—विरले करता हुआ—बगीचे की रक्षा करता है उसीप्रकार राजा भी परस्पर में मिले हुए शत्रुभूत राजाओं को भेदनीति द्वारा पृथक्-पृथक् करता हुआ पृथ्वी का पालन करता है। जिसप्रकार बगीचे का माली वायु के झकोरों-आदि द्वारा उखाड़े हुए वृक्षों व पौधों को पुनः क्यारी में आरोपित—स्थापित—करता हुआ बगीचे की रक्षा करता है उसीप्रकार राजा भी सजा पाए हुए अपराधियों को पुनः आरोपित—मन्त्री-आदि के पदों पर नियुक्त—करता हुआ पृथ्वी का पालन करता है। जिसप्रकार बगीचे का माली फूले हुए वृक्षों से पुष्प-राशि चुनता हुआ बगीचे की रक्षा करता है उसीप्रकार राजा भी धनाढ्य प्रजाजनों से टेक्स रूप में छठा अंश ग्रहण करता हुआ पृथ्वी का पालन करता है। जिसप्रकार बगीचे का माली छोटे वृक्षों व पौधों को बढ़ाता हुआ बगीचे की रक्षा करता है उसीप्रकार राजा भी युद्ध में मरे हुए सैनिकों के पुत्रादिकों को बढ़ाता हुआ—धनादि देकर सहायता करता हुआ—पृथ्वी का पालन करता है। जिसप्रकार बगीचे का माली ऊँचे वृक्षों को भलीप्रकार नमाता है, क्योंकि उनकी छाया गिरने से दूसरे वृक्ष नहीं बढ़ पाते, इसलिए उन्हें नमाता हुआ बगीचे की रक्षा करता है उसीप्रकार राजा भी घमण्डी शत्रुभूत राजाओं को नमाता हुआ—अपने वश करता हुआ पृथ्वी का पालन करता है। जिसप्रकार बगीचे का माली विस्तीर्ण—विशाल (विशेष लम्बे चौड़े) वृक्षों को कृश (पतले) करता हुआ (कलम करता हुआ) बगीचे की रक्षा करता है उसीप्रकार राजा भी अत्यधिक सैन्यशाली शत्रुभूत राजाओं को कृश (थोड़ी सेनावाले) करता हुआ पृथ्वी की रक्षा करता है एवं जिसप्रकार बगीचे का माली विशाल ऊँचे वृक्षों को गिराता हुआ बगीचे की रक्षा करता है उसीप्रकार राजा भी प्रचुर फौजवाले शत्रुभूत राजाओं को युद्धभूमि में धराशायी बनाता हुआ पृथ्वी का संरक्षण करता है[1] ॥ १०८ ॥

हे राजन्! हीनशक्ति-शाली शत्रु के बीज (संतान) से भी विजयश्री के इच्छुक राजा को उत्तरकाल में उसप्रकार भय उत्पन्न होता है जिसप्रकार पीपल वृक्ष के छोटे से बीज से भी दूसरे वृक्षों को उत्तरकाल में भय उत्पन्न होता है। क्योंकि वह (पीपल का पेड़) दूसरे वृक्षों को समूल नष्ट कर डालता है। इसलिये हे राजन्! अल्प शक्तिवाले शत्रुरूपी बीज की कौन उपेक्षा (अनादर) करेगा? अपि तु कोई नहीं करेगा। निष्कर्ष—इसलिये हे राजन्! शत्रुओं को उखाड़ते हुए राज्य को निष्कण्टक बनाइए[2] ॥ १०९ ॥

---

* 'विश्लेषयन्संहतान्' क०। † 'पृथूंश्च लघयन्नत्युच्छ्रितान्' क०। × 'शाखिनः' क०।

१. दृष्टान्तालंकार। २. उपमालंकार व आक्षेपालंकार।

यथा मदगजारूढे वतयातप्रयोगिणि । न चिरं श्रीस्तथामन्त्रे जाततन्त्रेऽपि राजनि ॥ ११० ॥

शुचयः स्वामिनि स्निग्धा राजराद्धान्तवेदिनः । मन्त्राधिकारिणो राज्ञामभिजाताः स्वदेशजाः ॥ १११ ॥

कदाचित्सततसन्मानदानाह्लादितसमस्तमित्रतन्त्रः सचिवलोकमतिसमुद्धृतमन्त्रः श्रीविलासिनी* सूत्रितैश्वर्यवरेषु वसुमतीश्वरेषु खलु दूतपूर्वाः सर्वेऽपि संध्यादयो गुणा† इत्यवधार्याकार्य च ।

दक्षः शूरः शुचिः प्राज्ञः प्रगल्भः प्रतिभानवान् । विद्वान्वाग्मी‡ तितिक्षुश्च द्विजन्मा स्थविरः प्रियः ॥ ११२ ॥

प्राकरणिक मन्त्र व मन्त्री का स्वरूप—जिसप्रकार मदोन्मत्त हाथी पर आरूढ़ हुआ पुरुष यदि वचन, पाद-संचालन व अङ्कुश-प्रयोग-आदि हस्ति-संचालन के साधनों का प्रयोग (व्यवहार) नहीं करता तो उसकी चिरकाल तक शोभा नहीं होती। अर्थात्—वह हाथी द्वारा जमीन पर गिरा दिया जाता है उसीप्रकार प्रचुर सैन्यशाली राजा भी यदि मन्त्रज्ञान से शून्य है तो उसके पास भी राज्यलक्ष्मी चिरकाल तक नहीं ठहर सकती। अर्थात्—नष्ट होजाती है[1] ॥११०॥ राजाओं के मन्त्री (बुद्धि-सचिव) ऐसे होते हैं, जो शुचि हों। अर्थात् परस्त्री व परधन की लालसा-आदि नीतिविरुद्ध आचरणों से रहित हों, स्वामी से स्नेह प्रकट करनेवाले हों, राजनीतिशास्त्र के वेत्ता हों एवं जो कुलीन और अपने देश के निवासी हों। भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार ने मन्त्रियों में द्विज, स्वदेशवासी, सदाचारी, कुलीन व व्यसनों से रहित-आदि नौ गुणों का निरूपण किया है, जिसे हम इसी आश्वास के नं० ७२-७३ की व्याख्या में विशेष विवेचन कर चुके हैं, प्रस्तुत श्लोक में उनमें से उक्त पाँच मुख्य गुणों का कथन है, इसप्रकार यहाँ तक मन्त्राधिकार समाप्त हुआ[2] ॥१११॥

हे मारिदत्त महाराज! निरन्तर आदर-सत्कार के प्रदान द्वारा समस्त मित्रों व सैनिकों को आनन्दित करनेवाले और मन्त्रि-मण्डल की बुद्धि से मन्त्र का निश्चय करनेवाले मैंने ऐसा निश्चय करके कि "राजाओं में, जो कि राज्यलक्ष्मी-रूपी वेश्या द्वारा सूचित किये हुए ऐश्वर्य से श्रेष्ठ हैं, जो सन्धि व विग्रह (युद्ध) आदि गुण पाए जाते हैं, वे दूतपूर्वक ही होते हैं। अर्थात्—राजदूतों की सहायता से ही सम्पन्न होते हैं" ऐसे 'हिरण्यगर्भ' नाम के दूत को बुलाया, जिसमें निम्नप्रकार (नीतिशास्त्र में कहे हुए) गुण वर्तमान थे।

१. दक्ष (सन्धि व विग्रह-आदि राजनैतिक कर्त्तव्यों के करने में कुशल), २. शूरवीर (शस्त्र-संचालन व राजनीति-शास्त्र के प्रयोग करने में निपुण), ३. शुचि, अर्थात्—पवित्र (निर्लोभी व निर्मल शरीर तथा विशुद्ध वस्त्र-युक्त अथवा शत्रु के धर्म, अर्थ, काम और भय की जानकारी के लिए—अर्थात्—अमुक शत्रुभूत राजा धार्मिक है ? अथवा अधार्मिक ? उसके खजाने में प्रचुर सम्पत्ति है ? अथवा नहीं ? वह कामान्ध है ? अथवा जितेन्द्रिय ? वह बहादुर है ? अथवा डरपोक ? इत्यादि ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से—गुप्तचरों द्वारा छल से शत्रु-चेष्टा की परीक्षा करना इस 'उपधा' नाम के गुण से विभूषित), ४. प्राज्ञ (अपने व पर की विचार शक्ति से सम्पन्न—विद्वान्), ५. प्रगल्भ (दूसरे के चित्त को प्रसन्न करने में कुशल), ६. प्रतिभानवान् (शत्रु द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों के निवारणार्थ अनेक उपाय प्रकट करने-वाला), ७. विद्वान् (अपनी व शत्रु की व्यवस्था को जानने में निपुण), ८. वाग्मी (वक्ता—हृदय में स्थित अभिप्राय को प्रकट करने में प्रवीण), ९. तितिक्षु (दूसरों के गरजने पर गम्भीर प्रकृतिवाला), १०. द्विजन्मा (ब्राह्मण क्षत्रिय व वैश्य में से एक), ११. स्थविर (नीतिशास्त्र व ऐश्वर्य-आदि से जिसका

---

*'सूत्रितस्वयंवरेषु' क० । † 'इत्यवधार्य च' क० । परन्तु मु. प्रतौ पाठः समीचीनः—सम्पादकः

‡ 'तितिक्षश्च' मु. प्रतौ परन्तु च० प्रतितः व कोशतश्च संशोधितः—सम्पादकः

१. दृष्टान्तालङ्कार । २. जाति-अलङ्कार ।

आचार विकृत—विकार-युक्त—न हो) और १२. जो प्रिय हो। अर्थात्—जिसे देखकर नेत्र व मन में आल्हाद—उल्लास (आनन्द) उत्पन्न होता हो।

भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकार श्रीमत्सोमदेवसूरि[1] ने निम्नप्रकार राजदूत का लक्षण, गुण व भेद निरूपण किये हैं। 'जो अधिकारी दूरदेशवर्ती सन्धि व विग्रह (युद्ध)-आदि राजकीय कार्यों की उसप्रकार सिद्धि व प्रदर्शन करता है जिसप्रकार मंत्री उक्त कार्यों की सिद्धि या प्रदर्शन करता है ॥१॥' राजपुत्र[2] विद्वान् के उद्धरण का भी यही आशय है ॥१॥ नीतिकारों[3] ने राजदूत के गुण भी निम्नप्रकार उल्लेख किये हैं। १. स्वामीभक्त, २. द्यूतक्रीड़न व मद्यपानादि व्यसनों में अनासक्त, ३. चतुर, ४. पवित्र (निर्लोभी), विद्वान्, उदार, बुद्धिमान्, सहिष्णु, शत्रु-रहस्यका ज्ञाता व कुलीन ये दूत के मुख्य गुण हैं। शुक्र[4] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो राजा चतुर, कुलीन, उदार एवं अन्य दूत के योग्य गुणों से अलंकृत दूत को भेजता है, उसका कार्य सिद्ध होता है ॥१॥ राजदूतों के भेद निर्देश करते हुए नीतिकार[5] लिखते हैं कि 'दूत तीन प्रकार के होते हैं। १. निसृष्टार्थ, २. परिमितार्थ व ३. शासनहर। १. निसृष्टार्थ—जिसके द्वारा निश्चित किये हुए सन्धि व विग्रह को उसका स्वामी प्रमाण मानता है, वह 'निसृष्टार्थ' है, जैसे पांडवों का श्री कृष्ण। अभिप्राय यह है कि श्री कृष्ण ने पाण्डवों की ओर से जाकर कौरवों के साथ युद्ध करना निश्चित किया था, उसे पाण्डवों को प्रमाण मानना पड़ा, अतः श्री कृष्ण पाण्डवों के 'निसृष्टार्थ' दूत थे। इसीप्रकार राजा द्वारा भेजे हुए संदेश और शासन (लेख) को जैसे का तैसा शत्रु के पास कहने या देनेवाले को क्रमशः 'परिमितार्थ' व 'शासनहर' जानना चाहिए'।

भृगु[6] विद्वान् ने कहा है कि 'जिसका निश्चित वाक्य—सन्धि-विग्रहादि—अभिलषित न होनेपर भी राजा द्वारा उल्लङ्घन न किया जासके उसे नीतिज्ञों ने 'निसृष्टार्थ' कहा है ॥१॥ जो राजा द्वारा कहा हुआ संदेश—वाक्य—शत्रु के प्रति यथार्थ कहता है, उससे हीनाधिक नहीं कहता उसे 'परिमितार्थ' जानना चाहिए ॥२॥ एवं जो राजा द्वारा लिखा हुआ लेख शत्रु को यथावत् प्रदान करता है, उसे नीतिज्ञों ने 'शासनहर' कहा है ॥३॥, प्रकरण में यशोधर महाराज ने 'राज-दूत की सहायता से ही सन्धि व विग्रह-आदि कार्य सम्पन्न होते हैं' ऐसा निश्चय करके 'हिरण्यगर्भ' नामके दूत को बुलाया, जो कि निसृष्टार्थ था अर्थात्—जिसके द्वारा किये गए सन्धि व विग्रह-आदि उन्हें प्रमाण (मान्य) थे और जिसमें नीतिशास्त्रोक्त उक्त गुण वर्तमान थे[7] ॥११२॥

---

१. तथा च सोमदेवसूरिः—अनासन्नेष्वर्थेषु दूतो मन्त्री ॥१॥

२. तथा च राजपुत्रः—देशान्तरस्थितं कार्यं दूतद्वारेण सिद्ध्यति। तस्माद्दूतो यथा मंत्री तत्कार्यं हि प्रसाधयेत् ॥१॥

३. तथा च सोमदेवसूरिः—स्वामिभक्तिरव्यसनिता दाक्ष्यं शुचित्वममूर्खता प्रागल्भ्यं प्रतिभानवत्वं क्षान्तिः परमर्मवेदित्वं जातिश्च प्रथमे दूतगुणाः ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—दक्षं जात्यं प्रगल्भं च, दूतं यः प्रेषयेन्नृपः। अन्यैश्च स्वगुणैर्युक्तं तस्य कृत्यं प्रसिद्ध्यति ॥१॥

५. तथा च सोमदेवसूरिः—स त्रिविधो निसृष्टार्थः परिमितार्थः शासनहरश्चेति ॥१॥ यत्कृतौ स्वामिनः सन्धिविग्रहौ प्रमाणं स निसृष्टार्थः यथा कृष्णः पाण्डवानाम् ॥२॥

६. तथा च भृगुः—यद्वाक्यं नान्यथाभावि प्रभोर्यद्यप्यनीप्सितम्। निसृष्टार्थः स विज्ञेयो दूतो नीतिविचक्षणैः ॥१॥ यत्प्रोक्तं प्रभुणा वाक्यं तत् प्रमाणं वदेच्च यः। परिमितार्थ इति ज्ञेयो दूतो नान्यं ब्रवीति यः ॥२॥ प्रभुणा लेखितं यच्च तत् परस्य निवेदयेत्। यः शासनहरः सोऽपि दूतो ज्ञेयो नयान्वितैः ॥३॥ नीतिवाक्यामृत (भा. टी.) दूतसमुद्देश पृ. २२४-२२५ से संकलित—सम्पादक

७. समुच्चयालंकार।

इति गुणविशिष्टमशेषमनीषिपुरुषपरिषदिष्टमखिलप्रयाणसामग्रीषुविधेयं हिरण्यगर्भनामधेयं शास्त्रशस्त्राभ्यासनिर्जितामरगुरुपार्थं निसृष्टार्थं निजप्रज्ञातिशयावहेलितपुलहपुलोमपुलस्तिपालकाप्यकात्यायनमतिजातं दूतमाक्षपटलिकेन तमेव लेखार्थं श्रावयामास।

तथाहि—

गर्वं बर्बर मुञ्च मा चरत रे पञ्चालकाश्चापलं केलिं केरल संहर प्रविश रे मद्रेश देशान्तरम्।
मिथ्यैश्वर्यबलावलेपरभसभ्रश्यद्विवेकात्मनामित्थं वष्टिरिटिङ्कितं न सहते देवः स दैवाश्रयः॥ ११३॥
शौण्डीर्यशालिनि जगत्त्रयलब्धवर्णे देवे न यः प्रणतिभावमुपैति भूपः।
तस्याहवेषु वयसां शिरसि प्रबन्धो यद्वाश्रमेषु परलोकधिया जटानाम्॥ ११४॥
दूतस्य पुनः स्वामिनैवमुक्तस्यापीदमनुष्ठानम्—
संकीर्तयेत्साम रिपौ सदर्पे नयं सनीतौ बलिनि प्रभेदम्।
मन्त्रेण तन्त्रेण च हीनवृत्तौ दण्डाश्रयोपायविधिं विधिज्ञः॥ ११५॥

इसीप्रकार जो 'हिरण्यगर्भ' नाम का राजदूत निम्नप्रकार के गुणों से अलङ्कृत था। उदाहरणार्थ—जो समस्त विद्वज्जनों की सभा में प्रेमपात्र था। जो समस्त प्रस्थान करने योग्य वस्तुओं में अनुराग रखता था। जो शास्त्र (नीतिशास्त्र) के अभ्यास से बृहस्पति को जीतनेवाला और शस्त्र-संचालन के अभ्यास द्वारा अर्जुन पर विजयश्री प्राप्त करनेवाला था। जो निसृष्टार्थ था। अर्थात्—जिसका सन्धि-विग्रहादि व्यापार मेरे (यशोधर महाराज) द्वारा प्रमाण माना जाता था एवं जिसने अपनी बुद्धि की विशेषता द्वारा पुलह (राजनीति का विद्वान् ऋषिविशेष), पुलोम, पुलस्ति, पालकाप्य और कात्यायन (वररुचि) इन (राजनीति के विद्वानों) का बुद्धि-समूह तिरस्कृत किया था। तत्पश्चात्—मैंने आक्षपटलिक (लेख-वाचक अधिकारी) से निम्नप्रकार राजनैतिक लेख-विषय (रहस्य) प्रस्तुत दूत के लिए श्रवण कराया—

प्रस्तुत लेख—रे बर्बर! (रे सवालाख पर्वतों के स्वामी!) तुम मिथ्या अभिमान छोड़ो। हे पञ्चाल देश में उत्पन्न हुए क्षत्रिय राजाओ! तुम लोग चपलता मत करो। हे केरल! (मलयाचल-निकटवर्ती देश के स्वामी!) तुम क्रीडा संकुचित करो। रे मद्रेश! (मद्रदेश के स्वामी!) तुम दूसरे देश में प्रविष्ट होजाओ। क्योंकि वे जगत्प्रसिद्ध व भाग्यशाली (विशेष पुण्यवान्) यशोधर महाराज आप लोगों का, जिनका हेयोपादेयज्ञान मिथ्या (निरर्थक) ऐश्वर्य व सैन्य-गर्व (मद) से वेगपूर्वक नष्ट हो चुका है, अनुचित व्यवहार सहन नहीं करते[1]॥ ११३॥ त्याग और पराक्रम की ख्याति से शोभायमान एवं तीन लोक में यश प्राप्त करनेवाले यशोधर महाराज के साथ जो राजा नम्रता का वर्ताव नहीं करता—उद्दण्डता करता है—उसके मस्तक पर संग्राम-भूमि में काक व गीध-वगैरह पक्षियों का प्रबन्ध (मेलापक) होवे। अर्थात्—उसका मस्तक छिन्न भिन्न किया जायगा। अथवा प्रस्तुत महाराज से भयभीत हुआ वह शत्रुभूत उद्दण्ड राजा स्वर्गादि के सुख की कामना-बुद्धि से प्रेरित हुआ गङ्गादि नदियों के तटवर्ती आश्रमों पर तपश्चर्या करता हुआ मस्तक पर जटाएँ प्रबन्ध (धारण) करे[2]॥ ११४॥

राजा द्वारा उक्तप्रकार समझाए हुए (शत्रुभूत राजा के प्रति लेख लिखवाकर समझाए हुए) राजदूत का उक्त कथन के पश्चात् निम्नप्रकार कर्त्तव्य है—

राजनीति-वेत्ता (उपाय-चतुर) राजदूत को अभिमानी शत्रुभूत राजा के समक्ष उक्त पाँचप्रकार की सामनीति का निरूपण करना चाहिए और न्यायवान् शत्रु के साथ न्याय का वर्ताव करने को कहना चाहिए तथा बलिष्ठ (प्रचुर सैन्य-शाली) शत्रुभूत राजा के साथ भेदनीति का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात्—

---

१. समुच्चयालंकार। २. दीपकालंकार।

अन्यथा—

वागर्थरूक्षलुब्धानां दूतानां दुःप्रवृत्तिभिः। श्रीः स्वामिनः प्रवृद्धापि क्रियते संशयाश्रया ॥ ११६ ॥

कदाचित्कृतकार्धचन्द्रचुम्बितचन्द्रकापीडविडम्बित* मुण्डमण्डलः, ‼तूलिनीकुसुमकुड्मलाकृतिजातुषोत्कर्षितकर्णकुण्डलः, कार्मणानेकजटाजातिजटितकण्ठिकावगुण्ठनजठरकण्ठनालः, चिरचेलचीरीचर्चितविचित्र‡प्रपदीनप्रालम्बजालः, कुवलीफलस्थूलत्रापुषमणिविनिर्मिताङ्गदसंपादितप्रकाण्डमण्डनः, कूर्परपर्यन्तप्रकोष्ठ†प्रकल्पितगवलवलयावरुण्डनः, काकनन्तिकाफलमालोपरचित वैकक्षकवक्षःस्थलः,

दोनों शत्रुओं को लड़ाकर बलिष्ठ के साथ सन्धि और हीन के साथ युद्ध करना चाहिए तथा उक्त पञ्चाङ्ग मन्त्र व सैन्यशक्ति से हीन शत्रु के समक्ष ऐसे उपाय का विधान कहना चाहिए, जिसमें दण्ड का आश्रय (युद्ध करने की घोषणा) हो[1] ॥ ११५ ॥

अन्यथा—यदि राजदूत उक्तप्रकार से शत्रुभूत राजा के साथ उक्त-प्रकार साम-आदि नीति का बर्ताव न करे—तो उससे विजिगीषु राजा का परिणाम—

जो राजदूत शत्रुभूत राजा के प्रति कठोर वचनों का प्रयोग करते हैं और कठोर विषय का निरूपण करते हैं एवं लोभी हैं। अर्थात्—शत्रुराजा से लाँच-घूँस लेते हैं, उनके दुराचारों द्वारा राजा की बढ़ी हुई भी राज्यलक्ष्मी सन्देह को प्राप्त हुई की जाती है। अर्थात्—नष्ट की जाती है[2] ॥ ११६ ॥

हे मारिदत्त महाराज! किसी अवसर पर मैंने (यशोधर महाराज ने) 'वरिष्ठक' नाम के गुप्तचर-विभाग के अधिकारी से यह श्रवण किया कि 'ऐसा 'शङ्खनक' नाम का गुप्तचर अपने देश व दूसरे देश के निवासी भेद-योग्य व भेद करने के अयोग्य मनुष्य-समूह का वृत्तान्त ग्रहण करके आया है'। तत्पश्चात्—मैंने उसे अपने समीप बुलाकर उसके साथ निम्नप्रकार हँसी-मजाक की बात-चीत की। कैसा है वह 'शङ्खनक' नाम का गुप्तचर? जिसका मस्तक-प्रदेश कृत्रिम अर्धचन्द्र से व्याप्त मोर-पंखों के मुकुट से सुशोभित होरहा था। जिसने कानों पर सेमरवृक्ष की कुसुमकलियों-सरीखी आकृतिवाले लाक्षामयी (लाख के) कुण्डल धारण किये थे। जिसकी कण्ठकन्दली (कण्ठरूपी नाल—कमल की डण्डी) ऐसी कण्ठी के चारों तरफ बँधी हुई होने से कठिन थी, जो कि वशीकरण व उच्चाटन-आदि कार्यों में उपयोगी अनेक प्रकार की जटाओं (मूलों—जड़ों) से जड़ी (बनी) हुई थी। जो ऐसा लम्बजाल (अँगरखा) धारण किये हुए था, जो कि पुराने कपड़ों की धज्जियों से बना हुआ, नाना रँगोंवाला तथा गुल्फ (घोटूँ) पर्यन्त लम्बा था। जो बदरी (बेर) फलों-सरीखे स्थूल त्रापुषजाति के मणियों से बने हुए अङ्गद (भुजाओं के आभूषण) धारण किये हुए था, इसलिये जिनकी कान्ति से जिसने प्रकोष्ठ (कोहनी से नीचे का स्थान) और मणिबन्ध (कलाई-स्थान) के आभरण उत्पन्न किये थे। जिसने हाथ की कलाई से लेकर कोहनी-पर्यन्त मणिबन्ध स्थानों पर भैंसा के सींगों की पहुँचियों का अवरुण्डन (आभूषण या शोभा ?) धारण किया था। जिसका वक्षःस्थल घोंघचियों की दो मालाओं से सुशोभित उत्तरीय वस्त्र से व्याप्त था।

* 'मस्तकमण्डलः' क०। ‼ 'शू (शू) लिनीकुसुम' क०। परन्तु मु० प्रतौ पाठः समीचीनः।

‡ 'आप्रपदीनप्रालम्बजालः' क०। † 'प्रकल्पितगवलयावरुण्डनः' क०। परन्तु मु. प्रतौ पाठः विशेषस्पष्टः शुद्धश्च।

A

I 'वैकक्षवक्षःस्थलः क० एवं वैकक्षकवक्षःस्थलः' ग०।

A 'तिर्यक् वक्षसि निक्षिप्तं वैकक्षकमुदाहृतं' इति टिप्पणी। परन्तु अर्थभेदो नास्ति—सम्पादकः

१. दीपकालंकार। २. जाति-अलंकार।

कठोरकमठपृष्ठाष्ठीलस्थपुटपाणितलः, पटच्चरपर्याणगोणीगुह्यापिहितमेहनः, पुराणतरमन्दीरमेखलालंकृतनितम्बनिवेशनः, कंसहंसकरसितवाचालचरणचारचातुरीशोभितवीथीजनमनस्कारः, कासरेक्षणविषाणक्वाणविनिवेदित S निशाबलिप्रचारः, किरातवेषस्य भगवतो विश्वमूर्तेरपरमेव कमप्याकल्पं बिभ्राणः, पुत्रभाण्डं बन्दिवृन्दारकस्य कटकाधिपतेः, A आमिभोगावलीपाठिनः सुभटसौहार्दस्य, दौहित्रः श्रोत्रियकितवनाम्नो नर्मसचिवस्य, समाश्रयस्थानमवकीर्णिलोकानाम्, + अखिलपुनर्भूविवाहकृतकशिपुवेतनसम्बन्धः, सकलगोकुलालिखिततूबरसुरभिसैरिभीदायनिबन्धः, प्रचुरप्रतिकर्मविकृतगात्रैः ※सन्निपुत्रैर्दाण्डाजिनकैश्च परिव्राजकैः 'एष खलु भगवान् B संजातमहायोगिनीसंगतिरतीन्द्रियज्ञानोद्गतिः सिद्धः सामेधिकः संवननकर्मणा करिणा केसरिणमपि संगमयति विद्वेषभेषजेन जननीमप्यात्मजेषु वैरिणीं विदधाति

जिसका हस्ततल कठोर कछुए की पीठ के अष्ठील (कूर्पर—प्रान्तभाग) सरीखा ऊँचा-नीचा था। जिसने अपनी जननेन्द्रिय पुराने जीन की गोणी (चर्ममय आच्छादन) की लँगोटी द्वारा आच्छादित की थी—ढक रक्खी थी। जिसने अपना कमरभाग मथानी की विशेषजीर्ण रस्सी की करधोनी से अलङ्कृत किया था। जो पैरों में काँसे के नूपुर पहिने हुए था, इसलिए उनके मधुर शब्दों से उसके दोनों पैर विशेष शब्द कर रहे थे, उन शब्द करते हुए पैरों के गमन की चतुराई द्वारा जिसने रस्तागीर लोगों के चित्त का विस्तार चलायमान किया था। जिसने भैंस के सींग के शब्दों द्वारा रात्रि का बलिप्रचार (पूजा-प्रवृत्ति) प्रकट किया था। जो (शङ्खनक) भिल्ल (भील) वेषधारक भगवान् श्रीमहादेव का अनोखा व अनिर्वचनीय (कहने के लिए अशक्य) वेष धारण कर रहा था। जो स्तुतिपाठकों में प्रधान 'कटकाधिपति' नामवाले मानव का पुत्र था और 'सुभटसौहार्द' नामवाले चारणभाट का दामाद एवं 'श्रोत्रिय कितव' नामवाले नर्मसचिव (भांड) का दोहिता (नाती—लड़की का लड़का) था। जो ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हुए लोगों का विश्राम स्थान था। समस्त व्यभिचारिणी विधवा स्त्रियों के विवाह के अवसर पर जिसे भोजन व वस्त्र एवं वेतन मिलने का संबंध किया गया था। जिसका समस्त गोकुलों (ग्वालों के स्थानों) में शृङ्ग-रहित गाएँ व भैंसों का दाय-संबंध (दान-संबंध) राज-पत्र में लिखा हुआ था। जिसके ज्ञान, मन्त्र व तन्त्र का प्रभाव ऐसे परिव्राजकों (शैवलिङ्गी सन्यासी-वेषधारकों) द्वारा निम्नप्रकार जनाया जा रहा था, जिनके शरीर बहुतसी नैपथ्य विधि (भस्म-लेपन-आदि सजावट) से विकृत होरहे थे व जो ऐसे मनुष्यों के पुत्र थे, जो कि माया, योगशास्त्र, ज्योतिष व वैद्यक-आदि लोकोपयोगी कलाओं के आधार से राजा (यशोधर महाराज) के हित व अहित पुरुषों के जानने में चतुर थे एवं जो दण्ड व चर्मधारक थे।

'हे लोगो! निश्चय से यह 'शङ्खनक' नाम का योगीश्वर—ऋषियों में प्रधान ऋषि—है। जिसने महाविद्या देवताओं को प्रत्यक्ष जानना प्रत्यक्ष कर लिया है। जिसे इन्द्रिय-रहित ज्ञान (अलौकिक ज्ञान) की उत्पत्ति होचुकी है एवं जो सिद्ध है। अर्थात्—संसारी जीवों की अपेक्षा विलक्षण है—अलौकिक या जीवन्मुक्त है। इसके वचन अव्यभिचारी—यथार्थ वस्तु के निरूपण करनेवाले—हैं। यह ऋषिराज निश्चय से वशीकरण विधि से सिंह का भी हाथी के साथ संगम कर देता है और वैरविरोध उत्पन्न करनेवाली औषधि के सामर्थ्य से माता को भी पुत्रों के साथ वैर विरोध उत्पन्न करनेवाली बना देता है'। अथानन्तर मैंने (यशोधर महाराज ने) उक्त गुप्तचर से हँसी-मजाक करते हुए पूँछा—अहो शङ्खनक! तेरी वह उदरवृद्धि (तोंद-बढ़ना), जिसे मैंने पूर्व में देखी थी, इस समय किस कारण से नहीं होरही है?

S 'दिशाबलिप्रचारः' क०।

A 'यामिभोगावलीपाठिनः' क०। + 'अखिलपुनर्भूकृतकशिपुवेतनप्रबन्धः' क०। ※ 'सन्निपुत्रैः' क०।

B 'संजातमहायोगिनीसंबंधोऽतीन्द्रियज्ञाननिधिः' क०।

इत्यावेद्यमानज्ञानमन्त्रतन्त्रप्रभावः स्वपुरविषयनिवासिनः कृत्याकृत्यलोकस्य जनश्रुतिमादायागतः शङ्खनकनामा प्रणिधिरिति गूढपुरुषाधिष्ठायकाद्धरिष्ठकादाकर्ण्याहूय च तम् 'हंहो शङ्खनक, कुतो न खलु संप्रति सा तव तुन्दवृद्धिः, इति तेन सह नर्मालापमकरवम् ।

सोऽपि 'देव, कामिनीजनकटाक्षैरिवातिदीर्घविशदच्छविभिर्दीदिविभिः, विरहिणीहृदयैरिव सोष्मभिः काञ्चनच्छायापलापैः सूपैः, कान्ताननैरिव C तत्प्राञ्जलिपेयपरिमलैः प्राज्यैराज्यैः, स्त्रीकैतवैरिव जनितस्वान्तप्रीतिभिर्बहुरसवशैरवदंशैः, लासिकाविलासैरिव मनोहरैः समानीतनेत्रनासारसनानन्दभावैः खाण्डवैः, प्रियतमाधरैरिव स्वाद्यमानैर D विच्छिन्नखिन्नैः पक्वान्नैः, तरुणीपयोधरैरिव सुजाताभोगैः स्तब्धविधिभिर्दधिभिः, प्रणयिनीविलोकितैरिव मधुरकान्तिभिः स्निग्धैर्दुग्धैः, अभिनवाङ्गनासंगमैरिवातीव स्वादुभिः शर्करासंपर्कसमासन्नैः परमान्नैः, E मेहनरसरहस्यैरिव सर्वाङ्गीणसंतापहारिभिर्घनसारपारीदन्तुरैर्वारिपूरैः, आकण्ठमानयनमाशिखमाशिखाग्रं च प्रतिदिवसं ❀ दशद्वादशवारान्पस्सलवस्सलानामेवंविधस्य च

तत्पश्चात्—उक्त 'शङ्खनक' नाम के गुप्तचर ने मेरे साथ निम्नप्रकार वार्तालाप किया। अर्थात्—मेरे उक्त प्रश्न का निम्नप्रकार उत्तर दिया—

हे राजन्! ऐसे आप सरीखों की ही, जो कि निम्नप्रकार भोज्य पदार्थों व जलपूरों से कण्ठ तक, नेत्रों तक, मस्तक तक और मस्तक के ऊपर वर्तमान जुल्फों तक दिन में दश-बारह वार भोजन करके सन्तुष्ट हैं व भोजन-भट्ट हैं और जिनके पास दुःख दूर करनेवाली प्रचुर सम्पत्ति वर्तमान है, तौंद बढ़ती है। इसीप्रकार केवल आप सरीखों की ही नहीं, अपि तु ऐसे आलसी मनुष्य की, जो उक्तप्रकार का है। अर्थात्—जो दिन में १०-१२ वार निम्नप्रकार के भोज्य पदार्थों व जलपूरों के भक्षण-पान से सन्तुष्ट है व भोजन-भट्ट है एवं जिसका यथार्थदर्शन प्रचुर लक्ष्मी की शिखा (अग्र) के प्रकाश से उसप्रकार नष्ट हो चुका है (जो लक्ष्मी के गर्व के कारण किसी की ओर प्रेमपूर्वक नहीं देखता) जिसप्रकार रात्रि में दीपक को हस्तपर धारण करनेवाले पुरुष का यथोक्त दर्शन नष्ट होजाता है, तौंद बढ़ती है परन्तु हम सरीखे भिक्षुकों का, जो कि आपके प्रसाद से अथवा श्रीमहादेव की कृपा से उपमान और उपमेय-रहित हैं। अर्थात्—जो विशेष दरिद्र हैं। अभिप्राय यह है कि हमारे समान कोई दरिद्र नहीं है, जिसकी उपमा—सदृशता—हमें दी जावे एवं हमारे समान उपमेय—उपमा देने योग्य—हम ही हैं, यह प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाला जठर (उदर) किसप्रकार वृद्धिंगत होसकता है? अपि तु नहीं होसकता।

तौंद बढ़ानेवाले भोज्य पदार्थ—हे राजन्! जिन्हें ऐसे चाँवल विशेष रूप से भोजन में प्राप्त होते हैं, जो उसप्रकार अतिदीर्घ (लम्बे) और विशद (शुभ्र) कान्तिशाली हैं जिसप्रकार नवीन युवतियों के कटाक्ष-दर्शन अतिदीर्घ और विशदकान्ति-शाली (विशेष शुभ्र) होते हैं। इसीप्रकार जिन्हें ऐसी दालें खाने को मिलती हैं, जो उसप्रकार सुवर्ण की कान्ति तिरस्कृत करतीं हुईं उष्ण होती हैं जिसप्रकार विरहिणी स्त्री के हृदय सुवर्ण सदृश गौरवर्ण और उष्ण होते हैं। इसीप्रकार जिन्हें ऐसे घृत विशेष रूपसे खाने को मिलते हैं, जिनकी सुगन्धि नासिकारूप अञ्जलियों द्वारा उसप्रकार आस्वादन करने योग्य है जिसप्रकार स्त्रियों के मुखों की सुगन्धि नासिकारूप अञ्जलियों द्वारा आस्वादन कीजाती है। इसीप्रकार जिन्हें ऐसे अवदंश (मद्यपान की रुचि उत्पन्न करने के हेतु भुंजे चने व धान्य के खीले) खाने को मिलते हैं, जो कि उसप्रकार इमली-आदि

C 'नासाञ्जलिपेयपरिमलैः ख० ग०। A 'नासिकाञ्जलिभिः' इति ख० प्रतौ टिप्पणी। D 'अविच्छिन्नखिन्नैः' क०।

E 'मोहनरसरहस्यैरिव' क० ख० ग० च०। 'मोहनरसहास्यैरिव' घ०। A 'सुरत' इति टिप्पणी।

❀ 'प्रतिदिवसं दश द्वादश वा वारान् पत्सलवत्सलानां' क०।

तमिस्रायां ‡ गृहीतप्रदीपस्येवोत्कोटश्रीशिखाप्रकाशप्रशान्तयथार्थदर्शनस्य स्वभावादेव तुन्दपरिमृजस्य लोकस्य लोकापत्तुद-संपदां भवादृशानामेवायं तुन्दोऽमन्दिमानमास्कन्दति। अस्मादृशां तु देवप्रसादा†दुपमानोपमेयार्थरहितानां कथं नामायं पिचण्डः स्फायताम्' इत्याललाप।

पुनः सपरिहासमेनमहमेवमवोचम्—'अयि हुलाधिपते, किमद्य क्वचनापि हस्तमुखसंयोगोऽभूत्।' 'चतुः-समुद्रमुद्राङ्कितमेदिनीपरिवृढ, बाढम्।' 'कथय कथय।' 'देव, श्रूयताम्। त्रिपुरुषोल्लिखितकमण्डलुकम्बुकलावत्फलकना-मावलीप्रशस्ते, अस्ति खल्वस्यामेव पुरि प्रकृतिपुरुषस्यं * श्वरवर्तेर्दिवाकीर्तेर्नप्ता, स्वस्रीयो बलाहकस्य संवाहकस्य, मैथुनिकः

के खट्टे रसों से संस्कृत किये हुए और हृदयको आनन्दित करनेवाले हैं जिसप्रकार स्त्रियों की कपटपूर्ण चेष्टाएँ हृदय को उल्लासित—आनन्दित—करतीं हुईं विशेष प्रेमरस से पूर्ण होती है। जो ऐसे खाण्डवों (मिष्टान्न-व्यञ्जनों—बरफी-आदि) से सन्तुष्ट हैं, जो उसप्रकार मनोहर (हृदय को आनन्द उत्पन्न करनेवाले) और नेत्र, घ्राण व जिह्वा इन्द्रिय को आनन्द उत्पन्न करनेवाले हैं जिसप्रकार नृत्यकारिणी की नेत्र-चेष्टाएँ मनोहर व नेत्रादि में उल्लास—आनंद—उत्पन्न करती हैं। इसीप्रकार जो ऐसे पूर्ण पचनेवाले पकवानों द्वारा सन्तुष्ट हैं, जो उसप्रकार स्वाद-योग्य (रुचिकर) हैं जिसप्रकार प्यारी स्त्री के ओष्ठ स्वादु और रुचि उत्पन्न करते हैं। जिन्हें ऐसे दही खाने मिलते हैं, जो उसप्रकार विस्तृत व कठिन (जमे हुए) हैं जिसप्रकार नवयुवतियों के कुच (स्तन) कलश विस्तृत व कठिन होते हैं। जिन्हें ऐसे दूध पीने मिलते हैं, जो उसप्रकार स्वादु व मधुर कान्तिशाली (शुभ्र) और सचिक्कण हैं जिसप्रकार स्नेह करनेवाली स्त्रियों के कटाक्ष-निरीक्षण स्वादु व प्रिय होते हैं। जिन्हें ऐसी दूध की खीरें खाने को मिलतीं हैं, जिनके समीप शक्कर का मिश्रण है और जो उसप्रकार स्वादु व मिष्ट हैं जिसप्रकार नवीन विवाहित स्त्रियों के संयोग अत्यन्त स्वादु व मिष्ट होते हैं एवं जिन्हें ऐसे जलप्रवाह पीने को मिलते हैं, जो कपूरपालिका (समूह) जैसे चमत्कार उत्पन्न करते हैं और जो उसप्रकार समस्त शरीर का सन्ताप दूर करते हैं जिसप्रकार सुरतरस (मैथुनरस) के गोप्यतत्व सर्वाङ्गीण सन्ताप दूर करते हैं।[1]

अथानन्तर फिर भी मैंने इससे (शङ्खनक नाम के गुप्तचर से) हँसी मजाक पूर्वक निम्नप्रकार कहा (पूँछा)—हे मेढो के स्वामी (भार-वाहक)! क्या किसी स्थान पर आज तेरा हस्त-मुख-संयोग (भोजन) हुआ? शङ्खनक ने उत्तर में कहा—हे समुद्र पर्यन्त पृथ्वी के स्वामी! विशेषरूप से हुआ। मैंने कहा—कह-कह। उसने कहा—हे राजन्! सुनिए, जिसकी नामावली-प्रशस्ति (प्रसिद्धि) ब्रह्मा द्वारा अपने कमण्डलुरूपी फलक (पटिया) पर और विष्णु द्वारा अपने पाञ्चजन्य नाम के शंख पर और महेश द्वारा अपने ललाट पर स्थित अर्धचन्द्ररूपी फलक पर उकीरी गई है ऐसे हे राजन्! इसी उज्जयिनी नगरी में ऐसा 'किलिञ्जक' नाम का मनुष्य है, उसने मुझे कुछ अनिर्वचनीय (कहने के लिए अशक्य) भोजन कराया है, जो शिल्पि (बढ़ई) का कार्य करनेवाले 'ईश्वरवर्ति' नाम के नाई अथवा चाण्डाल का दोहता (लड़की का लड़का) और 'बलाहक' नाम के अङ्गमर्दक का भानेज तथा 'सवरक' नामवाले शय्यापालक का शाला है। वह अपने यश की अपेक्षा आपसे (यशोधर महाराज से) तीन-चार अङ्गुल ऊपर वर्तमान है। हे राजन्! यह (किलिञ्जक) आप-सरीखा अग्रेसर (प्रधान) अवश्य है परन्तु कृपणों में अग्रेसर है। यह आप-सरीखा प्रथम गणनीय अवश्य है, परन्तु किंपचों (कृपणों) के मध्य प्रथम गणनीय है। यह उसप्रकार दृष्टान्त स्थान है जिसप्रकार आप दृष्टान्त स्थान हैं परन्तु

‡ 'गृहीतप्रदीपस्येवोत्कटश्रीशिखा' ग०। † 'उपमानोपमेयार्थिरहितानां' ग०।
* 'ईश्वरवर्ते दिवाकीर्तिर्नप्ता' क०। 1. प्रायेण-उपमालंकार।

सवरकस्यास्तरकस्य, स्वकीयेन च यशसा देवादपि त्रिचतुरैरक्षरैरुपरिवर्तमानः, तथा हि—मितंपचानामग्रेसरः, किंपचानां प्रथमगण्यः, कीकटानामुदाहरणभूमिः, कदर्याणां धुरिवर्णनीयः, शिखामणिर्लोलुभानाम्, भोजनावसानानन्तरमादेयनामा, संप्रति च परमरमारमणीकामिनः स्वामिनः प्रसादभूमिः, दाक्षिणात्यदेशजन्मनो जङ्घाचारिकनायकस्य विश्वावसोः प्रतिहस्तः किलिञ्जकनामधेयो देवेन कृतसंकेत इवापरकृष्णमुखमक्षिकामुण्डमण्डलीप्रतिमतुषपरुषपाषाणाकीर्णविवर्णविशीर्णजीर्णषाव-नालौदनादिप्रारम्भम्, अतिपूतिपर्युषितविरसालसान्द्रोत्तरारम्भम्, उन्दुरमूत्रमित *कुथितातस्यतैलधारावपातप्रायम्, † असमस्तसिद्धैर्वारुकोपदंशनिकायम्,

दरिद्रों का दृष्टान्त-स्थान है। अर्थात्—दरिद्रों की गणना में लोग इसका दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। यह आप जैसा मुख्यता से वर्णन करने योग्य अवश्य है परन्तु कृपणों (लोभियों) के मध्य वर्णनीय है। भावार्थ—जैसा कृपण के विषय में शास्त्रकारों १-२ ने कहा है।

हे राजन्! जो लोभियों का शिखामणि (शिरोरत्न) है। जिसका नाम भोजन करने के पश्चात् ही ग्रहण किया जाता है। अर्थात्—जिसका नाम भोजन के पूर्व नहीं लिया जाता, क्योंकि कंजूस का नाम लेने से भोजन में अन्तराय (विघ्न) होता है। जो कि वर्तमान में साम्राज्यलक्ष्मी रूपी रमणी के इच्छुक आपकी कृपादृष्टि का पात्र है और जो कर्णाटक देशोत्पन्न व गुप्तचरों में प्रधान 'विश्वावसु' का प्रतिहस्त (दर्वी—कलछी) सरीखा है एवं जो मुझे भोजन कराते समय ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—आपके द्वारा संकेत (शिक्षित) ही किया गया था।

हे राजन्! वह भोजन कैसा था? उसे श्रवण कीजिए—

जिसमें शुरू में ही छह प्रकार की धान्यों का ऐसा भात परोसने का आरम्भ किया गया था, जो कि अनोखी कृष्ण मुखवाली मक्खियों के मुखमण्डल-सरीखा (काला), धान्य-भूसे से व्याप्त होने के कारण कठोर, दाँत तोड़नेवाले कंकड़ों से मिला हुआ, मलिन, सैकड़ों खण्डवाला एवं चिरकाल का पुराना था। जिसके (भात के) ऊपर अत्यन्त दुर्गन्धी व परसों की राँधी हुई पुरानी उड़द की दालें विशेष मात्रा में उड़ेलीं गईं थीं। जिसमें प्रायः करके चूहे के मूत्र-सरीखी (बहुत थोड़ी) व दुर्गन्धी अलसी के तैल की धारा जरासी गिराई गई थी। जिस भोजन में कुछ पके हुए और प्रायः कड़ुए ककड़ी के खण्डों का व्यञ्जन-समूह वर्तमान था।

A

* 'कुथितातसतैल' ख०। A 'अलसी' इति टिप्पणी। † 'असमस्तसिद्धपक्षरुद्धोपदंशनिकायं' क०।

१. तथा चोक्तं—दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोषनिषण्णस्य सहजमलिनस्य। कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥ १ ॥

अर्थात्—कृपण (लोभी) और कृपाण (तलवार) इसमें केवल 'आ' की दीर्घमात्रा का ही भेद है। अर्थात्—'कृपण' शब्द के 'प' में ह्रस्व 'अ' है और 'कृपाण' शब्द के 'पा' में दीर्घ 'आ' विद्यमान है बाकी सर्व धर्म समान हैं, क्योंकि कृपण अपने धन को मुष्टि में रखता है और तलवार भी हाथ की मुट्ठी पर धारण की जाती है। कृपण अपने कोष (खजाने) में बैठा रहता है और तलवार भी कोष (म्यान) में स्थापित की जाती है। कृपण मलिन रहता है और तलवार भी मलिन (कृष्ण) होती है, इसलिए 'कृपण और 'कृपाण' में केवल आकार का ही भेद है अन्य सर्व धर्म समान हैं। अर्थात्—जिसप्रकार तलवार घातक है उसीप्रकार लोभी का धन भी धार्मिक कार्यों में न लगने के कारण उसका घातक है, क्योंकि उससे उसे सुख नहीं मिलता और उल्टे दुर्गति के दुःख प्राप्त होते हैं।

२. तथा च वल्लभदेवः—किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला। या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥ १ ॥

अर्थात्—वल्लभदेव[२] विद्वान् ने भी कहा है कि 'उस लोभी की सम्पत्ति से क्या लाभ है? जिसे वह अपनी स्त्री-सरीखा केवल स्वयं भोगता है तथा जिसकी सम्पत्ति वेश्या-सी सर्व साधारण पान्थों द्वारा नहीं भोगी जाती'।

अर्धेरद्धालाबूफलफालिप्रकारम्, ईषत्स्विन्नकर्कारुकर्कशच्छेदसारम्, अवाल्मालूरमूलकचक्रकोपक्रमम्, अभ्रष्टचिर्भटिका-भक्षणभग्नभावक्रमोपक्रमम्, अपक्वार्काग्निदमनरिङ्गिणीफलाविरलविरचनम्, अगस्तिचूताम्रातकपिचुमन्दकन्दल*सदनम्, अनेकदिवस†वासार्थिताम्लखलकविस्तारम्, अतीवपाकोपहतबृहतीवार्ताकफलसोभाजनकन्दसालनकावतारम्, एरण्डफल-पलाण्डुमुण्डिकाडम्बरम्, ‡ उच्छूनोद्वेल्लितवल्लकरालककोकुन्दोड्डमरम्, अनल्पराजिकावर्जितावन्तिसोमावसानम्, +उमासलिलसमक्षारपानीयपानम्। स किमपि मामबूभुजन्न चाशनाया उपशान्ति मनागप्यवापम्। केवलं तस्य वञ्चितदृष्टिपातया स्ववासिन्या परिविष्टो S मूलाटीवराटोत्कटकद्वरलकालशेयविशिष्टः सर्वपात्रीणः श्यामाकभक्तः प्राणत्राण-मकार्षीदिति च क्षणमात्रं द्रवालापानन्दितचेतास्तमखण्डक्षीणे शरणे किमप्युदन्तजातमापप्रच्छे।

सर्वचेतोगतानर्थान्द्रष्टुं येषां कुतूहलम्। ते भवन्तु परं चारैश्चक्षुष्मन्तः क्षितीश्वराः ॥११७॥

जिसमें अर्धपक्व तूँमाफलों के प्रचुर खण्ड वर्तमान थे। जो अर्धपक्व कुम्हड़ा के कठोर खण्डों से मनोहर था। जिसमें बृहत् (महान्) बेलफलों, मूलियों और चक्रकों (खटाल पत्तों की शाक विशेषों) का उपक्रम (जानकर किया हुआ प्रारम्भ) था। जिसमें कुछ साक्षात् अग्नि में पके हुए चिर्भटिका-फलों (किंचरिका-फल विशेषों) के भक्षण करने से अरुचिक्रम का उपक्रम—आरम्भ—नष्ट होगया था। जिसमें कच्चे अकौआ-फलों व क्षुधा-नाशक भटकटैया फलों के विशेष वितरण की रचना की गई थी। जो अगस्तिवृक्ष, आम्रवृक्ष, आम्रातक (कपिप्रिय वृक्ष) व नीमवृक्ष इनके कन्दलों—खण्डों—का स्थान था। जिसमें ऐसी आम्लखटक—खट्टी वस्तु—अधिक रूप से वर्तमान थी, जो कि बहुत दिनों की रक्खी हुई होने से पुरानी थी एवं मांगकर लाई गई थी। जिसमें विशेष पकीं हुई भटकटैयाँ, रानकटेहली के फल, शिग्रुवृक्ष व कन्द (उङ्गलिका) इनके सालनकों—समूहों—का परिवेषण पाया जाता था। जिसमें एरण्डफल व प्याज के अग्रभागों का प्राचुर्य था। जो स्थूलभूत (मोटे) व हिलनेवाले बाँसों के समान कङ्कनी और कोकुन्दों (अण्डरों) से उत्कट था। जिसमें अखीर में विशेष राई से मिश्रित काँजी वर्तमान थी एवं जिसमें लवणसमुद्र-सरीखा विशेष खारा जल-पान वर्तमान था।

हे राजन्! 'उस किलिञ्जक' ने मुझे उक्त प्रकार का भोजन कराया परन्तु मेरी भूँख की शान्ति जरा सी भी नहीं हुई। तत्पश्चात्—उसकी स्त्री द्वारा उसकी नजर बचाकर दिये हुए, अच्छी तरह खाये हुए ऐसे छह धान्यों के भात ने, जिसमें दही से उत्पन्न हुआ, कामदेव के सदृश शुभ्र व खट्टा मट्टा वर्तमान था और जो समस्त कौल (जुलाहा)-आदि के योग्य था, मेरी प्राण-रक्षा की। इस प्रकार मुहूर्तपर्यन्त हँसी-मजाक के वचनों द्वारा हर्षित चित्त हुए मैंने (यशोधर महाराज ने) उस 'शङ्खनक' नाम के गुप्तचर से एकान्तगृह में कुछ भी विवक्षित वृत्तान्त पूँछा।

जिन राजाओं को समस्त (स्वदेश व परदेशवासी) मानवों के हृदय में स्थित हुए कार्यों के देखने की उत्कट इच्छा है, वे (राजालोग) निश्चय से गुप्तचररूपी नेत्रों से नेत्रशाली होवें[1] ॥११७॥

---

* 'कन्दलोपरचनम्' क०।

† 'वासाम्लिताम्लखलकविस्तारं' क०। 'वासार्पिताम्ल' घ०। ‡ 'उद्यनोद्वेल्लित' क०। +'समासलिलसमक्षार' ख०।

S 'मूलाटीवराटोत्कटकाद्वरलकालशेयविशिष्टः' घ०। A 'दूधिमूलं' B 'आम्लाधिकः'। C 'तक्र' इति टिप्पणी।

१ जाति-अलङ्कार।

चारसंचारतो येषां नाध्यक्षा स्वपरस्थितिः। नियुक्तारातिसंपातात्तेषां नार्थो न चासवः ॥११८॥

जो राजा लोग गुप्तचरों के प्रयोग द्वारा अपने व दूसरे देश की स्थिति प्रत्यक्ष नहीं करते, उनके ऊपर नियोगियों – सेनापति-आदि अधिकारियों व शत्रुओं के आक्रमण होते हैं, जिसके फल स्वरूप उनके पास न तो राज्यलक्ष्मी ही स्थित रहती है और न उनके प्राण ही सुरक्षित रह सकते हैं।

भावार्थ—नीतिशास्त्र के वेत्ताओं ने गुप्तचरों के निम्नप्रकार लक्षण, गुण व उनके न होने से हानि व होने से लाभ-आदि का निरूपण किया है। प्रस्तुत नीतिकार सोमदेवसूरि[1] ने कहा है कि 'गुप्तचर स्वदेश व परदेश संबंधी कार्य-अकार्य का ज्ञान करने के लिए राजाओं के नेत्र हैं'। गुरु[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'राजालोग दूरदेशवर्ती होकर के भी स्वदेश-परदेश संबंधी कार्य-अकार्य गुप्तचरों द्वारा जानते हैं ॥१॥' उनके गुणों का निर्देश करते हुए सोमदेव सूरि[3] ने कहा है 'सन्तोष, आलस्य का न होना (उत्साह अथवा निरोगता), सत्यभाषण व विचार शक्ति ये गुप्तचरों के गुण हैं'। भागुरि[4] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिन राजाओं के गुप्तचर आलस्य-रहित (उत्साही), सन्तोषी, सत्यवादी और तर्कणाशक्ति-शाली होते हैं, वे अवश्य राजकीय कार्य सिद्ध करते हैं ॥१॥' गुप्तचरों के न होने से होनेवाली हानि का कथन करते हुए सोमदेव सूरि[5] लिखते हैं कि 'निश्चय से जिस राजा के यहाँ गुप्तचर नहीं होते, वह स्वदेश व परदेश संबंधी शत्रुओं द्वारा आक्रमण किया जाता है, अतः विजय श्री के इच्छुक राजा को स्वदेश व परदेश में गुप्तचर भेजना चाहिए।' चारायण[6] विद्वान् ने कहा है कि 'राजाओं को वैद्य, ज्योतिषी, विद्वान्, स्त्री, सपेरा, और शराबी-आदि नाना प्रकार के गुप्तचरों द्वारा अपनी तथा शत्रुओं की सैन्य-शक्ति जाननी चाहिए'। जिसप्रकार द्वारपाल के विना धनाढ्य पुरुष का रात्रि में कल्याण नहीं होसकता उसीप्रकार गुप्तचरों के विना राजाओं का कल्याण नहीं होसकता[7]। वर्ग[8] विद्वान् के उद्धरण का भी उक्त अभिप्राय है ॥१॥ इसीलिए प्रकरण में आचार्य श्री ने यशोधर महाराज को संकेत करते हुए गुप्तचरों से होनेवाला उक्त लाभ और न होने से उक्त हानि का निर्देश किया है[9]॥११८॥

हे मारिदत्त महाराज! किसी अवसर पर जब मैंने 'शंखनक' नाम के गुप्तचर के समक्ष 'पामरोदार' नामके मंत्री की निम्नप्रकार प्रशंसा की तदनन्तर मैंने (यशोधर महाराज ने) निम्नप्रकार आदर पूर्वक पूँछे गए 'शङ्खनक' नाम के गुप्तचर से प्रस्तुत मंत्री के विषय में निम्नप्रकार वृत्तान्त सुना। इसके पूर्व मैंने उससे निम्नप्रकार पूँछा—

१. तथा च सोमदेवसूरिः—स्वपरमण्डलकार्याकार्यावलोकने चाराः खलु चक्षूंषि क्षितिपतीनाम् ॥१॥

२. तथा च गुरुः—स्वमण्डले परं चैव कार्याकार्यं च यद्भवेत् । चरैः पश्यन्ति यद्भूपा सुदूरमपि संस्थिताः ॥१॥

३. तथा च सोमदेवसूरिः—अलौल्यममान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चारगुणाः ॥१॥

४. तथा च भागुरिः—अनालस्यमलौल्यं च सत्यवादित्वमेव च । ऊहकत्वं भवेद्येषां ते चराः कार्यसाधकाः ॥१॥

५. तथा च सोमदेवसूरिः—अनवसर्पो हि राजा स्वैः परैश्चातिसन्धीयते ॥१॥

६. तथा च चारायणः—वैद्यसंवत्सराचार्यैश्चारैर्ज्ञेयं निजं बलम् । वामाहिरण्डिकोन्मत्तैः परेषामपि भूभुजाम् ॥१॥

७. तथा च सोमदेवसूरिः—किमस्त्ययामिकस्य निशि कुशलम् ॥१॥

८. तथा च वर्गः—यथा प्राहरिकैर्बाह्यं रात्रौ क्षेमं न जायते । चारैर्विना न भूपस्य तथा ज्ञेयं विचक्षणैः ॥१॥

९. जाति-अलङ्कार । नीतिवाक्यामृत (भा. टी.) चारसमुद्देश पृ. २३१-२३२ से संकलित—सम्पादक

कदाचित्करतलीकृतसकलसचिवचेतःकूटकपट कापटिक, यः खलु मया तत्रान्वयागतप्रजाप्रणये जनपदविषये सर्वर्द्धिसमृद्धोऽपि व्रतप्रश्रिताशयतया त्रिविधास्वपि स्त्रीषु महर्षिरिवासंजातस्मरशरशरव्यहृदयः, संसारतिमिरावसरावेशोऽपि न मनागपि प्रभालेपीमणिरिव संपन्नमलिनाभिनिवेशः, पयःपातोच्छ्वसितस्य महीतलस्य गर्भिणीजठरसमस्वादतिकारुणिकत-

---

मन्त्री के मन में स्थित हुए समस्त झूँठे पाखण्ड को हथेली पर रक्खे हुए आँवले की तरह स्पष्ट जाननेवाले ऐसे हे शङ्खनक! जिस देश की प्रजा के साथ मेरा वंशपरम्परा से स्नेह चला आरहा है, उस अवन्ति देश के मध्य निश्चय से मेरे द्वारा जो 'पामरोदार' नाम का मंत्री नियुक्त किया गया है, जो कि अपने योग्य किंकरों की सेना सहित है एवं जिसने बुद्धि (राजनैतिक ज्ञान) के प्रभाव से बृहस्पति-मण्डल को लज्जित किया है तथा [जो निम्नप्रकार कहे जानेवाले प्रशस्त गुणों से अलंकृत है], उसका इस समय प्रजा के साथ कैसा आचार (वर्ताव) है? कैसा है वह 'पामरोदार' नाम का मंत्री?

परिपूर्ण ऋद्धि (लक्ष्मी) से अलंकृत होनेपर भी ब्रह्मचर्यव्रत से विनीत अभिप्राय-वश जिसका हृदय तीनों प्रकार की (वाला, युवती व मध्यम अवस्थावाली) दूसरों की कमनीय कामिनियों में उसप्रकार काम-वाणों द्वारा वींधने योग्य नहीं है जिसप्रकार परिपूर्ण ऋद्धियों (अणिमा-व महिमा-आदि ऋद्धियों) से अलंकृत हुआ महर्षि अहिंसादि व्रतों से विभूषित होने के कारण स्त्रियों में चित्तवृत्ति नहीं करता। भावार्थ—नीतिकार सोमदेवसूरि[1] ने कहा है कि दूसरे की स्त्री की ओर दृष्टिपात करने के अवसर पर भाग्यशाली पुरुष अन्धे-जैसे होते हैं। अर्थात्—उनपर कुदृष्टि नहीं डालते। अभिप्राय यह है कि उनका अपनी पत्नी के सिवाय अन्य स्त्रीजाति पर मातृ-भगिनीभाव होता है। हारीत[2] विद्वान् के उद्धरण का भी अभिप्राय यह है कि जिन्होंने पूर्वजन्म में विशेष पुण्य संचय किया है—भाग्यशाली हैं—वे दूसरे की स्त्री की ओर कुदृष्टि-पूर्वक नहीं देखते ॥१॥ प्रस्तुत नीतिकार[3] लिखते हैं कि 'शील (नैतिक प्रवृत्ति—सदाचार) ही पुरुषों का आभूषण है, ऊपरी कटक-कुण्डल-आदि-आभूषण शरीर को कष्ट पहुँचानेवाले हैं, अतः वे वास्तविक आभूषण नहीं'। नीतिकार भर्तृहरि[4] ने भी है कि "कानों की शोभा शास्त्र-श्रवण से है न कि कुण्डल धारण से, हाथों की शोभा पात्र-दान से है न कि कङ्कण-धारण से एवं दयालु पुरुषों के शरीर की शोभा परोपकार करने से होती है न कि चन्दनादि के लेप से ॥१॥" प्रकरण में यशोधर महाराज प्रस्तुत मंत्री की प्रशंसा करते हुए उक्त गुप्तचर से कह रहे हैं कि उक्त मंत्री भाग्यशाली है; क्योंकि वह धनाढ्य होनेपर भी दूसरों की कमनीय कामिनियों के प्रति महर्षि के समान मातृ-भगिनीभाव रखता है। हे शङ्खनक! जो मंत्री [प्रथम युवावस्था में प्रविष्ट होने के कारण] संसार संबंधी अन्धकार (दीनता) के अवसर के प्रवेशवाला होनेपर भी उसप्रकार थोड़ा-सा भी मलिन अभिप्राय (नीतिविरुद्ध प्रवृत्ति—दुराचार) प्राप्त करनेवाला नहीं है जिसप्रकार महान् ज्योतिशाली रत्न मलिनता (कृष्णता या किट्टकालिमादि मलिनता) प्राप्त नहीं करता। जो यह सोचकर कि 'जल-वृष्टि द्वारा उल्लासित (आनन्दित) हुआ पृथ्वीतल

---

१. तथा च सोमदेवसूरिः—परकलत्रदर्शनेऽन्धभावो महाभाग्यानाम्।

२. तथा च हारीतः—अन्यदेहान्तरे धर्मो यैः कृतश्च सुपुष्कलः। इह जन्मनि तेऽन्यस्य न वीक्षन्ते नितंबिनीम् ॥१॥

३. तथा च सोमदेवसूरिः—शीलमलङ्कारः पुरुषाणां न देहखेदावहो बहिराकल्पः ॥ १ ॥

नीतिवाक्यामृत से संकलित—सम्पादक

४. तथा च भर्तृहरिः—श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन।
वभाति कायः करुणाकुलानां, परोपकारेण न तु चन्दनेन ॥१॥ भर्तृहरिशतक से संगृहीत—सम्पादक

याङ्गुष्ठमात्रीमपि धरित्रीं न कर्षयति, महाकृपालुतया सत्त्वसंमर्दभयेन पदात्पदमपि भ्रमन्भविल इव नादत्ते दारवं पादपरित्राणम्, एकान्ततः परमपदस्पृहयालुतया स्वैरकथास्वपि कर्मन्दीव न तृष्यति विषविषमोल्लेखेषु विषयसुखेषु, सदैव शुचिरिव ब्रह्मचारी तथापि लोकव्यवहारप्रतिपालनार्थं देवोपासनायामपि समाप्लुत्य वैखानस इव जपति जलजन्तुद्वेजनजनितकल्मषप्रघर्षणायाघमर्षणतन्त्रान् मन्त्रान्। आस्तां तावदशुभस्य दर्शनं स्पर्शनं च, किंतु मनसाऽप्यस्य परामर्शे शंसितव्रत इव प्रत्यादिशत्याशम्। असह-

गर्भिणी के उदर-सरीखा होता है। अर्थात्—जिसप्रकार बीज (वीर्य) के पतन द्वारा गर्भिणी का उदर उल्लासित—आनन्दित—होता है उसीप्रकार पृथ्वीतल भी जल-वृष्टि द्वारा उल्लासित—आनन्दि—होता है, अत्यन्त दयालु होने के कारण अङ्गुष्ठ प्रमाण भी पृथिवी नहीं खोदता। जिसप्रकार दयालु मुनि प्राणि-घात के भय से काष्ठ-पादुका (खड़ाऊँ) नहीं धारण करता उसीप्रकार जो जीव-घात के भय से एक पद (डग) मात्र भी पृथिवी पर संचार करता हुआ काष्ठ-पादुका नहीं पहिनता।

जो (मंत्री) पूर्णरूप से मोक्षपद की प्राप्ति का इच्छुक होने के कारण अपनी इच्छानुसार कही जानेवाली कथाओं के अवसर पर भी ऐसे विपय-सुखों की, जिनका अग्र (भविष्य) विष के समान क्रूरतर (प्राणघातक) हैं, अभिलाषा उसप्रकार नहीं करता जिसप्रकार तपस्वी (साधु) विषय-सुखों की अभिलाषा नहीं करता। जो (मन्त्री) ब्रह्मचारी होने के फलस्वरूप उसप्रकार शुचि (पवित्र) है जिसप्रकार शुचि (अग्नि) पवित्र होती है, इसलिए 'ब्रह्मचारी सदा शुचिः' अर्थात्—'ब्रह्मचारी सदा पवित्र होता है' इस नीति के अनुसार जो सदा पवित्र होने पर भी लोकव्यवहार पालन करने के उद्देश्य से—अर्थात्—'अस्नातो देवान् न प्रपूजयेत्' अर्थात्—'विना स्नान किये देवताओं की पूजा नहीं करनी चाहिए' इत्यादि लौकिक व्यवहार पालन करने के अभिप्राय से—देवपूजा करने के लिए भी उष्ण जल से स्नान करने के पश्चात् जल-जन्तुओं को पीड़ित करने से उत्पन्न हुए पाप की शान्ति-हेतु पाप नष्ट करने में समर्थ मन्त्रों का जाप उसप्रकार करता है जिसप्रकार वैखानस (तपस्वी) पाप नष्ट करनेवाले मन्त्रों का जप करता है।

जो अशुभ वस्तुओं (मद्य, मांस, गीला चमड़ा व चाण्डालादि) का दर्शन (देखना) और स्पर्श (छूना) तो दूर रहे किन्तु मनोवृत्ति द्वारा अशुभ पदार्थों का संकल्प मात्र होने पर भी भोजन संबंधी अन्तराय उसप्रकार करता है। अर्थात्—भोजन को उसप्रकार छोड़ देता है जिसप्रकार अहिंसादि महाव्रतों को पालनेवाला मुनि भोजन के अवसर पर अशुभ वस्तुओं के दर्शन या स्पर्श से भोजन-त्याग करता है। भावार्थ—शास्त्रकारों ने कहा है कि व्रती (श्रावक या मुनि) को भोजन के अवसर पर मांस, रक्त, गीला चमड़ा, हड्डी, पीप, मुर्दा व मल-मूत्रादि, इन अशुभ पदार्थों के देखने पर भोजन छोड़ देना चाहिए और चाण्डाल व कुत्ते-आदि घातक जीवों के देखने पर अथवा उनके शब्द सुनने पर तथा छोड़े हुए अन्न-आदि पदार्थ के सेवन के अवसर पर भोजन छोड़ देना चाहिए[1] ॥ १-२ ॥ प्रकरण में यशोधर महाराज 'शङ्खनक' नाम के गुप्तचर से प्रस्तुत 'पामरोदार' नाम के मंत्री का सदाचार वर्णन करते हुए उक्त बात कह रहे हैं।

इसीप्रकार जो (मन्त्री) 'मरने के पश्चात् जीवात्मा के साथ न जानेवाले शरीरों का पुष्ट करना मनुष्यों के लिए निरर्थक है' इसप्रकार निश्चय करके पर्व (दीपोत्सव-आदि) दिनों में भी शाकमात्र ग्रास अथवा जौ के

१. उक्तं च—मांसरक्तार्द्रचर्मास्थिपूयदर्शनतस्त्यजेत्। मृताङ्गिवीक्षणादन्नं प्रत्याख्यातान्नसेवनात् ॥१॥

मातङ्गश्वपचादीनां दर्शने तद्वचःश्रुतौ। भोजनं परिहर्तव्यं मलमूत्रादिदर्शने ॥२॥

यशस्तिलक की संस्कृत टीका पृ० ४०८ से समुद्धृत—सम्पादक

प्रवृत्तसङ्गेषु ह्यङ्गेषु को नाम नराणां लालनायाग्रह *इत्याकलय्य पर्वेतरसेष्वपि दिवसेषु मुमुक्षुरिव न शाकमुष्टेर्यवमुष्टेर्वापर-माहरत्याहारम्। ईषद्दुःखमप्यन्यस्मिन्नुत्पादितमात्मन्युप्तबीजमिव जन्मान्तरे शतशः फलतीति दयालुभावाद्दुरितभीरुभावाच्च[1] न दलं फलं वा योगीव स्वयमवचिनोति वनस्पतीन्। परोपरोधादनुभवंश्च तन्नापतङ्गपावकस्पर्शपूतमनुभवति। केवलं मयि† चिरपरिचयोदन्वदसीमस्नेहनिघ्नत्वात्सुहृदिव वृत्तविघ्नाकारमपि राज्यभारमूरीकृतवान्। नालम्पटमनस्कारोऽस्तीह कश्चिद्विपश्चिदप्यधिगताधिकारो नर इति व्यभिचारयितुमिव कुशलाशयतया च घटशतेनापि स्नाति ‡बिन्दुनापि न स्पृश्यत इति मत्वा धर्ममूलत्वान्महाकुलप्रसूतेर्महाभागपदप्रादुर्भूतेश्च धर्मसंवर्धनं विधित्सुना, प्रजामूलत्वात्कोशवृद्धेस्तन्त्रवृद्धेश्च प्रजापालनं

भात का ग्रास छोड़कर दूसरा आहार (लड्डू-आदि) उसप्रकार नहीं करता जिसप्रकार मोक्ष का इच्छुक साधु शाकमात्र अन्न को छोड़कर दूसरा गरिष्ठ भोजन नहीं करता। "दूसरे प्राणी के लिए दिया गया थोड़ा सा दुःख, दुख देनेवाले प्राणी को दूसरे भव में सैकड़ों, हजारों, लाखों व करोड़ों गुना उसप्रकार फलता है। अर्थात्—दुःख रूप फल उत्पन्न करता है जिसप्रकार उपजाऊ पृथिवी पर बोया हुआ बीज कई गुना फलता है"। ऐसा निश्चय करके जो (मन्त्री) दयालुता-वश अथवा पाप से भयभीत होने के कारण वृक्षों के फल व पत्तों को उसप्रकार स्वयं नहीं तोड़ता जिसप्रकार धर्मध्यान में तत्पर हुआ योगी वृक्षों के फल व पत्ते नहीं तोड़ता और यदि कुटुम्ब-आदि के आग्रह-वश वृक्षों के फल व पत्तों का उपयोग करता भी है तो उन्हें सूर्य व अग्नि के स्पर्श से पवित्र (प्रासुक—जीव-रहित) किये विना भक्षण नहीं करता।

केवल उसने मेरे में चिरकालीन (बाल्यकाल से लेकर अभी तक) परिचय (संगति) से उत्पन्न हुए सीमातीत प्रेम के निघ्न[2] (अधीन) होने के कारण ऐसे राज्यभार को, जो कि चारित्र-पालन में विघ्न उपस्थित करने की मूर्ति है, उसप्रकार स्वीकार किया है जिसप्रकार मित्रजन (कुटुम्बवर्ग) कार्य-भार स्वीकार करता है।

हे शङ्खनक ! मैंने क्या क्या समझकर उक्त 'पामरोदार' नाम के पुरुष को अपने देश का मंत्री नियुक्त किया ? मैंने धर्म-वृद्धि करने के इच्छुक होते हुए यह समझकर कि "उत्तम कुल में जन्मधारण करने में धर्म ही मूल (प्रधान कारण) है। अर्थात्—धर्म के कारण से ही प्रशस्त कुल में जन्म होता है, धर्म के विना श्रेष्ठ कुल में जन्म नहीं होता और स्वर्ग व मोक्षपद की प्राप्ति में धर्म ही मूल है। अर्थात्—धर्म से ही स्वर्ग व मोक्षपद प्राप्त होता है, धर्म के विना स्वर्ग व मोक्षपद प्राप्त नहीं होसकता।" इसीप्रकार "कोई भी विद्वान् निर्लोभ चित्तवाला होकर मंत्री-आदि पद को प्राप्त नहीं कर सकता"। अर्थात्—"लोभी पुरुष ही मंत्री-आदि के अधिकारी पद प्राप्त कर सकता है" इस सिद्धान्त को असत्य सिद्ध कराने के लिए ही मानों—उसे मन्त्री पद पर नियुक्त किया है। क्योंकि यद्यपि वह हजारों घड़ों से स्नान करता है। अर्थात्—प्रजा की अनेक आर्थिक (धन-संबंधी) उलझनें सुलझाता है तथापि कुशल अभिप्राय (धर्मबुद्धि) के कारण बिन्दुमात्र जल से लिप्त नहीं होता (जरा सी भी लाचघूँस-आदि नहीं लेता—जरा-सा भी पाप नहीं करता)।

---

* 'इत्याकलय्यापर्वेष्वपि दिवसेषु' क०। १. 'त्वाच्च' सटीकपुस्तकपाठः।

† 'चिरपरिचयोदन्वदसीमस्नेहनिघ्नाकारमपि राज्यभारमूरीकृतवान्' क०। 'चिरपरिचयोदन्वदसीमस्नेह' शेषं मु० प्रतिवत् घ० च०। ‡ 'बिन्दुनापि स्पृश्यते' घ०।

२. उक्तं च—'परतन्त्रः पराधीनः परवाञ्नाथवानपि। अधीनो निघ्न आयत्तोऽस्वच्छन्दो गृह्यकोऽप्यसौ ॥१॥' यश. सं. टी. पृ. ४०९ से संकलित—सम्पादक

चिकीर्षुणा, प्रकृतिमूलत्वादसाध्यसाधनस्य पराबाधावरोधनस्य च प्रकृतिप्रसत्तिमुत्पिपादयिषुणा, सत्पुरुषमूलत्वादशेषशास्त्रव्युत्पत्तेर्विशिष्टाचारप्रवृत्तेश्च सत्पुरुषान्संजिघृक्षुणा, प्रतिपक्षापायमूलत्वादाज्ञोत्कर्षस्य प्रतापप्रकर्षस्य च प्रतिपक्षापायं + समीचिक्षुणा, राज्यलक्ष्मीमूलत्वाद्विषयसुखोपसर्पणस्यार्थिजनसंतर्पणस्य च राज्यलक्ष्मीमुल्लिलासयिषुणा च, आत्मोचितानुचरचमूयुक्तो नियुक्तः प्रज्ञाप्रभावतिरस्कृतबार्हस्पत्यः पामरोदाराभिधानोऽमात्यः स कीदृशस्थितिः संप्रतीति सादरमापृष्टादस्मादिदमश्रौषम्। तथा हि—कापटिकः प्राह—'देव, यथायथं कथयामि। किं तु तद्वार्तावातूलीव्यतिकराद्देवस्याप्युपरि किंचिदुरपवादरजः प्रसरिष्यति। यतः—

पूज्यमब्जं श्रियः सङ्गाज्ज्येष्ठायाश्च न कैरवम्। प्रायो जनेऽन्यसंसर्गाद्गुणिता दोषितापि च ॥ ११९ ॥

इसीप्रकार "कोश (खजाने) की वृद्धि में प्रजा ही मूल (प्रधान कारण) है। अर्थात्—प्रजा से ही कोष-वृद्धि होती है, क्योंकि प्रजा के विना कोश-वृद्धि नहीं होसकती और सैन्य-वृद्धि में भी प्रजा-संरक्षण मूल है। अर्थात्—प्रजापालन से ही सैन्य-वृद्धि होती है; क्योंकि प्रजापालन के विना कदापि सैन्यवृद्धि नहीं होसकती।" ऐसा निश्चय करके प्रजापालन के इच्छुक होते हुए मैंने उसे मंत्री पद पर नियुक्त किया है। इसीप्रकार प्रकृति (सैन्य-आदि अधिकारी-गण) में प्रसन्नता उत्पन्न कराने के इच्छुक होते हुए मैंने उसे मन्त्री-पद पर नियुक्त किया। क्योंकि विषम दुर्ग (किला) वगैरह की रचना में प्रकृति (अधिकारी-गण) ही प्रधान कारण है। अर्थात्—प्रकृति के विना असाध्य दुर्ग-आदि नहीं बनाए जासकते एवं शत्रुओं द्वारा किये जानेवाले उपद्रवों का रोकना भी प्रकृति के अधीन है, क्योंकि प्रकृति के विना शत्रु-कृत उपद्रव (हमला-आदि) नहीं रोके जासकते। इसीप्रकार मैंने सत्पुरुषों का संग्रह करने के इच्छुक होते हुए उसे मन्त्रीपद पर नियुक्त किया। क्योंकि समस्त शास्त्र-ज्ञान में और सदाचार-प्रवृत्ति में सत्पुरुष ही मूल (प्रधान कारण) हैं। अर्थात्—समस्त शास्त्रों का ज्ञान व सदाचार-प्रवृत्ति सत्पुरुषों के विना नहीं होसकती। इसीप्रकार मैंने शत्रु-क्षय के विचार के इच्छुक होते हुए उसे मन्त्री-पद पर नियुक्त किया है। क्योंकि आज्ञा-उत्कर्ष (वृद्धि) में और प्रताप-(सैनिकशक्ति व कोश-शक्ति) प्रकृष्टता (विशेषता) में शत्रु-क्षय ही प्रधान कारण है। अर्थात्—शत्रुओं के विनाश के विना आज्ञा-वृद्धि व प्रताप-प्रकर्ष नहीं होसकता। इसीप्रकार राज्यलक्ष्मी को उल्लासित (आनन्दित) करने के इच्छुक होते हुए मैंने उसे अपने देश के मन्त्री-पद पर आरूढ़ किया है; क्योंकि विषय-सुख की प्राप्ति और याचकों को सन्तुष्ट करना, इन दोनों की प्राप्ति में राज्यलक्ष्मी ही प्रधान कारण है। अर्थात्—राज्य-लक्ष्मी के विना न तो विषय-सुख प्राप्त होसकता है और न याचक ही सन्तुष्ट किये जासकते हैं।

अथानन्तर मैंने प्रस्तुत 'शङ्खनक' नाम के गुप्तचर से निम्नप्रकार मन्त्री संबंधी वृत्तान्त श्रवण किया—

'शङ्खनक' नाम के गुप्तचर ने मुझ से (यशोधर महाराज से) कहा—हे राजन्! उक्त विषय (मन्त्री के विषय) पर मैं प्रबन्ध-रचना (काव्य-रचना) करता हूँ किन्तु उस मन्त्री के समाचाररूपी वायुमण्डल के व्यतिकर (संबंध) से आप के मस्तक पर भी कुछ अपकीर्तिरूपी धूलि व्याप्त होगी, क्योंकि :—

जिसप्रकार कमल लक्ष्मी के संसर्ग से पूज्य होजाता है और श्वेतकमल ज्येष्ठा※ (देवता विशेष—लक्ष्मी की बड़ी बहिन दरिद्रा) के संसर्ग से पूज्य नहीं होता उसीप्रकार मनुष्य भी प्रायः करके दूसरों की संगति-विशेष से गुणवान् व दोषवान् होजाते हैं। अर्थात्—गुणवान् शिष्ट पुरुषों

+ 'समीचिक्षिषुणा (समीक्षितुमिच्छुना)' घ०। ※ 'लक्ष्मीज्येष्ठभगिन्याः दरिद्रायाः' इति टिप्पणी ग० प्रतौ।

की संगति से गुणवान् और दुष्टों की संगति से दुष्ट होजाते हैं। भावार्थ—शिष्ट पुरुषों की संगति से होनेवाले लाभ का निर्देश करते हुए नीतिकार प्रस्तुत आचार्य[1] श्री ने लिखा है कि 'विद्याओं का अभ्यास न करनेवाला (मूर्ख मनुष्य) भी विशिष्ट पुरुषों (विद्वानों) की संगति से उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लेता है—विद्वान् होजाता है'। व्यास[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार चन्द्र-किरणों के संसर्ग से जड़रूप (जलरूप) भी समुद्र वृद्धिंगत होजाता है उसीप्रकार जड़ (मूर्ख) मनुष्य भी निश्चय से शिष्ट पुरुषों की संगति से ज्ञानवान् होजाता है'। प्रस्तुत नीतिकार[3] ने दृष्टान्त द्वारा उक्त बात का समर्थन करते हुए कहा है कि "जिसप्रकार जल के समीप वर्तमान वृक्षों की छाया निश्चय से अपूर्व (विलक्षण—शीतल और सुखप्रद) होजाती है उसीप्रकार विद्वानों के समीप पुरुषों की कान्ति भी अपूर्व—विलक्षण—होजाती है। अर्थात्—वे भी विद्वान् होकर शोभायमान होने लगते हैं"। वल्लभदेव[4] विद्वान् के उद्धरण का भी उक्त अभिप्राय है॥ १॥ दुष्टों की संगति से होनेवाली हानि का निर्देश करते हुए आचार्य[5] श्री ने कहा है कि "दुष्टों की संगति से मनुष्य कौन २ से पापों में प्रवृत्त नहीं होता? अपि तु सभी पापों में प्रवृत्त होता है"। वल्लभदेव[6] विद्वान् ने भी कहा है कि "दुष्टों की सङ्गति के दोष से सज्जन लोग विकार—पाप—करने लगते हैं, उदाहरणार्थ—दुर्योधन की संगति से महात्मा भीष्मपितामह गायों के हरण में प्रवृत्त हुए॥ १॥" कुसंग से विशेष हानि का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत नीतिकार[7] ने कहा है कि 'दुष्ट लोग अग्नि के समान अपने आश्रय (कुटुम्ब) को भी नष्ट कर देते हैं पुनः अन्य शिष्ट पुरुषों का तो कहना ही क्या है?' अर्थात्—उन्हें तो अवश्य ही नष्ट कर डालते हैं।

अर्थात्—जिसप्रकार अग्नि जिस लकड़ी से उत्पन्न होती है, उसे सब से पहिले जला कर पुनः दूसरी वस्तुओं को जला देती है उसीप्रकार दुष्ट भी पूर्व में अपने कुटुम्ब का क्षय करता हुआ पश्चात् दूसरों का क्षय करता है। वल्लभदेव[8] विद्वान् ने भी उक्त बात का समर्थन किया है कि 'जिसप्रकार धूम अग्नि से उत्पन्न होता है और वह किसीप्रकार बादल होकर जलवृष्टि द्वारा अग्नि को बुझाता है उसीप्रकार दुष्ट भी भाग्य-वश प्रतिष्ठा प्राप्त करके प्रायः अपने बन्धुजनों को ही तिरस्कृत करता है॥ १॥ सत्सङ्ग का महत्वपूर्ण प्रभाव निर्देश करते हुए आचार्य[9] श्री ने लिखा है कि "जिसप्रकार लोक में गन्ध-हीन तंतु भी पुष्प-संयोग से देवताओं के मस्तक

१. तथा च सोमदेवसूरिः—अनधीयानोऽपि विशिष्टजनसंसर्गात् परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति ॥१॥

२. तथा च व्यासः—विवेकी साधुसङ्गेन जडोऽपि हि प्रजायते। चन्द्रांशुसेवनान्नूनं यद्वच्च कुमुदाकरः ॥१॥

३. तथा च सोमदेवसूरिः—अन्यैव काचित् खलु छायोपजलतरूणाम् ॥१॥

४. तथा च वल्लभदेवः—अन्यापि जायते शोभा भूपस्यापि जडात्मनः। साधुसङ्गाद्धि वृक्षस्य सलिलादूरवर्तिनः ॥१॥
नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृ. ९४-९५ से समुद्धृत—सम्पादक

५. तथा च सोमदेवसूरिः—खलसङ्गेन किं नाम न भवत्यनिष्टम् ॥१॥

६. तथा च वल्लभदेवः—असतां संगदोषेण साधवो यान्ति विक्रियां। दुर्योधनप्रसङ्गेन भीष्मो गोहरणे गतः ॥१॥

७. तथा च सोमदेवसूरिः—अग्निरिव स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जनाः ॥१॥

८. तथा च वल्लभदेवः—धूमः पयोधरपदं कथमप्यवाप्यैषोऽम्बुभिः शमयति ज्वलनस्य तेजः।
दैवादवाप्य खलु नीचजनः प्रतिष्ठां प्रायः स्वयं बन्धुजनमेव तिरस्करोति ॥१॥

९. तथा च सोमदेवसूरिः—अगुगन्धमपि सूत्रं कुसुमसंयोगात् किन्नारोहति देवशिरसि ॥१॥

देव, स भर्तुरेव दोषोऽयं स्वच्छन्दं यद्विकुर्वते। आत्मातिरिक्तभावेन दारा इव नियोगिनः ॥ १२० ॥

पर धारण किये जाते हैं उसीप्रकार मूर्ख एवं असहाय राजा भी राजनीति में प्रवीण और सुयोग्य मन्त्रियों की अनुकूलता से शत्रुओं द्वारा अजेय होजाता है'। वल्लभदेव[1] विद्वान् ने भी कहा है कि 'साधारण मनुष्य भी उत्तम पुरुषों की संगति से उसप्रकार गौरव (महत्व) प्राप्त कर लेता है जिसप्रकार तंतु पुष्पमाला के संयोग से शिर पर धारण किये जाते हैं'। दूसरे दृष्टान्त द्वारा उक्त सिद्धान्त का समर्थन करते हुए आचार्य[2] श्री ने कहा है कि "जब अचेतन और प्रतिमा की आकृति को धारण करनेवाला पाषाण भी विद्वानों द्वारा प्रतिष्ठित होने से देवता होजाता है—देवता की तरह पूजा जाता है तब क्या सचेतन पुरुष सत्सङ्ग के प्रभाव से उन्नतिशील नहीं होगा? अपि तु अवश्य होगा।" हारीत[3] विद्वान् के उद्धरण का भी उक्त अभिप्राय है। उक्त सिद्धान्त का ऐतिहासिक प्रमाण द्वारा समर्थन करते हुए लिखा है कि [4]'इतिहास बताता है कि 'चन्द्रगुप्त मौर्य (सम्राट् नन्द का पुत्र) ने स्वयं राज्य का अधिकारी न होने पर भी विष्णुगुप्त (चाणक्य) नाम के विद्वान् के अनुग्रह से साम्राज्य पद प्राप्त किया'। शुक्र[5] विद्वान् के उद्धरण का अभिप्राय भी यही है कि 'जो राजा राजनीति में निपुण महामात्य—प्रधानमंत्री—की नियुक्ति करने में किसीप्रकार का विकल्प नहीं करता, वह अकेला होता हुआ भी राज्य श्री प्राप्त करता है। जिसप्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य ने अकेले होने पर भी चाणक्य नाम के विद्वान् महामात्य की सहायता से राज्य श्री प्राप्त की थी॥ १॥ प्रकरण में 'शङ्खनक' नाम के गुप्तचर ने यशोधर महाराज से सत्संग व कुसंग से होनेवाली क्रमशः लाभ-हानि का निर्देश करते हुए उक्त उदाहरणों द्वारा उक्त बात का समर्थन किया है[6] ॥ ११९॥

हे राजन्! जो मन्त्री-आदि अधिकारी-वर्ग अभिमान-वश स्वच्छन्दतापूर्वक विक्रिया करते हैं—स्वेच्छाचार पूर्वक मर्यादा (सदाचार) का उल्लङ्घन करते हैं। अर्थात्—प्रजा से लाँच-घूँस-आदि लेकर उसे सताते हैं, इसमें राजा का ही, जो कि उन्हें उद्दण्ड बनाता है उसप्रकार दोष—अपराध है जिसप्रकार स्त्रियाँ अभिमान-वश स्वच्छन्दतापूर्वक विक्रिया करती हैं—सदाचार का उल्लङ्घन करती हैं—उसमें उनके पति का ही दोष होता है। अर्थात्—जिसप्रकार अभिमान-वश स्वेच्छाचार पूर्वक सदाचार को छोड़नेवालीं स्त्रियों के अपराध करने में उन्हें उद्दण्ड बनानेवाले पति का ही अपराध समझा जाता है उसीप्रकार गर्व के कारण स्वेच्छाचारपूर्वक मर्यादा का उल्लङ्घन करनेवाले अधिकारियों के अपराध करने में भी उनकी देख-रेख न करनेवाले और उन्हें उद्दण्ड बनानेवाले राजा का ही अपराध समझा जाता है[7] ॥१२०॥

---

१. तथा च वल्लभदेवः—उत्तमानां प्रसङ्गेन लघवो यान्ति गौरवं। पुष्पमालाप्रसङ्गेन सूत्रं शिरसि धार्यते ॥१॥
नीतिवाक्यामृत पृ. १५३ से संकलित—सम्पादक

२. तथा च सोमदेवसूरिः—महद्भिः पुरुषैः प्रतिष्ठितोऽश्मापि भवति देवः किं पुनर्मनुष्यः ॥१॥

३. तथा च हारीतः—पाषाणोऽपि च विबुधः स्थापितो यैः प्रजायते। उत्तमैः पुरुषैस्तैस्तु किं न स्यान्मानुषोऽपरः ॥१॥

४. तथा च सोमदेवसूरिः—तथा चानुश्रूयते विष्णुगुप्तानुग्रहादनधिकृतोऽपि किल चन्द्रगुप्तः साम्राज्यपदमवापेति ॥ १ ॥

५. तथा च शुक्रः—महामात्यं वरो राजा निर्विकल्पं करोति यः। एकशोऽपि महीं लेभे हीनोऽपि वृहलो यथा ॥१॥
नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृ. १५३-१५४ (मन्त्रिसमुद्देश) से संकलित—सम्पादक

६. दृष्टान्तालंकार। ७. उपमालङ्कार।

स्वयं विषमरूपोऽपि संघातः कार्यकृद्भवेत् । अधिष्ठातुः प्रयत्नेन यथा हस्तोऽसमाङ्गुलिः ॥ १२१ ॥

देव, देवस्य स्वभावत एव कल्याणाचारत्वादमायव्यवहारत्वाच्चात्मनीव दुरात्मन्यपि जने निरञ्जनसंभावनं मनः । यतः—

आत्मनीव परत्रापि प्रायः संभावना जने । यद्वत्स्तेनादपि स्तेनः स्वदोषात्परिशङ्कते ॥ १२२ ॥

ततो देव, तं हतकचरितं निर्विचारचेतःप्रभावं देवं च प्रति* तैस्तैर्विशिष्टविष्टपेष्टचेष्टितरविभिः कविभिः प्रायेण देवस्य पूर्वपक्षपातीनि कृतानि‡ प्रहतवृत्तानि साधु समाकर्ण्यताम् । तत्र तावत्तरुणीलीलाविलासस्य—

हे राजन् ! अधिकारियों-आदि का समूह स्वयं विषम (ऊँचा-नीचा—योग्य-अयोग्य) होता हुआ भी स्वामी की सावधानी रखने के कारण उसप्रकार कार्यकारी (स्वामी का प्रयोजन सिद्ध करनेवाला) होता है जिसप्रकार ऊँची-नीची अङ्गुलियों वाला हस्त मनुष्य की सावधानी रखने से कार्यकारी (कार्य करने में समर्थ) होता है[1] ॥ १२१ ॥

हे राजन् ! आप स्वभाव से ही शुभ-आचरण से विभूषित और निष्कपट व्यवहार-शाली हैं, इसलिए आपकी चित्तवृत्ति अपने समान दूसरे दुराचारी लोगों में भी निर्दोषता की घटना (रचना) करती है।

क्योंकि—जिसप्रकार चोर अपने चोरी के दोष (अपराध) से चोरी न करनेवाले (सच्चे) आदमी से भयभीत होता है—उसे भी चोर समझता है उसीप्रकार सदाचारी मनुष्य दूसरे दुराचारी मनुष्य में प्रायः करके अपने समान सदाचारी होने की संभावना करता है। अर्थात्—उसे भी सदाचारी समझता है[2] ॥१२२॥

इसलिए हे राजन् ! नष्ट आचारवाले उस 'पामरोदार' नामके मन्त्री को और विचार-शून्य मन के माहात्म्यवाले आपको लक्ष्य करके उन-उन जगत्प्रसिद्ध ऐसे कवियों द्वारा, जिन्होंने भुवन (लोक) को प्रकाशित करने में सूर्य को तिरस्कृत किया है, अर्थात्—जो भुवन को प्रकाशित करने के लिए सूर्य-सरीखे हैं, रचे हुए ऐसे पद्यों (श्लोकों) को सावधानता-पूर्वक श्रवण कीजिए, जो कि प्रायः करके आपका पूर्वपक्ष-स्थापन नष्ट करते हैं। अर्थात्—आपने जो पूर्व में कहा था कि वह 'पामरोदार' नाम का मन्त्री निर्लोभी, दयालु व सदाचारी है, उसको प्रायःकरके अन्यथा (विपरीत—उल्टा) सिद्ध करते हैं और जो निन्द्य पुरुष (दुष्ट मन्त्री-आदि) का चरित्र सूचित—प्रकाशित—करनेवाले हैं।

हे राजन् ! उन कवियों में से 'तरुणीलीलाविलास'† नाम के जगत्प्रसिद्ध महाकवि की ऐसी पद्य (श्लोक) रचना श्रवण कीजिए, जिसमें दुष्ट मन्त्री का नष्टचरित्र गुम्फित किया गया है—

निम्नप्रकार दो श्लोक दुष्ट मन्त्री के पुराण-प्रारम्भ में आठ पदवाली नान्दी (मङ्गलसूत्र) रूप में कहे गए हैं :—

---

* 'उक्तशुद्धः स्पष्टश्च पाठः ह० लि० सटि० क० घ० प्रतियुगलात्संकलितः । मु० सटीकप्रतौ तु 'तैस्तैर्विसृष्टत्रिसृष्टपेष्टचेष्टितरविभिः' इति पाठः । विमर्श—यद्यपि अर्थभेदो नास्ति तथापि ह० लि० सटि० प्रतियुगले वर्तमानः पाठः विशेषशुद्धः स्पष्टश्च—सम्पादकः

‡ 'प्रहसनवृत्तानि' क० । ‡ '[1]प्रहतवृत्तानि' ख० । (मु. प्रतिवत्) । १-'निन्द्यपुरुषस्य' इति टिप्पणी ।

१. दृष्टान्तालङ्कार । २. दृष्टान्तालङ्कार ।

† 'तरुणीलीलाविलासादिकाः संज्ञाः अस्यैव कवेः प्रहसनशीलत्वाद्द्रष्टव्या' इति टिप्पणीकारः क० ।

अर्थात्—'तरुणीलीलाविलास'-आदि नाम प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता महाकवि (श्रीमत्सोमदेवसूरि) के ही समझना चाहिये, जो कि हास्यरस-प्रिय हैं, सम्पादक ।

नमो दुर्मन्त्रिणे तस्मै नृपाङ्घ्रिपमहाहये । *यद्दुराशार्थिसंप्राप्यैस्तच्छायाश्रमविश्रमः ॥ १२३ ॥ अष्टपदा नान्दी ।

यस्य शिष्टघटोच्छेदि मन्त्रसूत्रं विजृम्भते । सत्पात्रपाचिने तस्मै नमो दुर्मन्त्रिचक्रिणे ॥ १२४ ॥ इयं च ।

और्वायापूर्वरूपाय तस्मै दुर्मन्त्रिणे नमः । अजडा अपि शोष्यन्ते येन पत्युः श्रियः पराः ॥१२५॥ इयं च द्वादशपदा ।

ततश्च—चञ्चापञ्चजनाकृतिः क्षितिपतिर्यत्राभवन्नायकः *पौरो भाग्यपुराणपालितमतिर्मन्त्री धविन्नीसुतः ।
स प्रौढोक्तिबृहस्पतिश्च तरुणीलीलाविलासः कविस्तद्दुर्मन्त्रिदुरीहितं विजयते सूक्तोत्कटं नाटकम् ॥ १२६ ॥

राजारूपी वृक्ष पर लिपटे हुए महान सर्प-सरीखे उस दुष्ट मन्त्री के लिए नमस्कार हो, जिसके प्रभाव से राजारूप वृक्ष की छाया में स्थित होकर विश्राम करना याचकों के लिए सुलभ नहीं होता। भावार्थ—इस श्लोक में जो दुष्ट मन्त्री को नमस्कार किया गया है, वह उसकी हँसी-मजाक उड़ाने के रूप में समझना चाहिए न कि वास्तविक रूप से। अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार जिस वृक्ष पर महान् साँप लिपटे रहते हैं, उसकी छाया में विश्राम करना खतरे से खाली नहीं होता, उसीप्रकार जिस राजारूपी वृक्ष पर दुष्ट मन्त्रीरूपी महान् साँप लिपटे हुए होते हैं उसकी छाया में ठहरकर विश्राम करना भी खतरे से खाली न होने के कारण याचकों के लिए सुलभ नहीं होसकता[1] † ॥ १२३ ॥ उस दुष्ट मन्त्रीरूपी कुँभार के लिए नमस्कार हो, जो सत्पात्रों (सज्जन पुरुषों) को उसप्रकार सन्तापित (क्लेशित) करता है जिसप्रकार कुँभार सत्पात्रों (समीचन घट-आदि-वर्तनों) को सन्तापित करता है। अर्थात्—अग्नि के मध्य (अवा में) डालकर पकाता है। इसीप्रकार जिसका ऐसे मन्त्र (राजनैतिक सलाह) को सूचित करनेवाला सूत्र—शास्त्र (कपट-पूर्ण राजनैतिक ज्ञान), जो कि शिष्ट पुरुषों की घटा (श्रेणी—समूह) को उसप्रकार विदारण करता है जिसप्रकार कुँभार का सूत्र (डोरा) बनाए हुए घटों को विदारण करनेवाला होता है[2] ‡ ॥ १२४ ॥ उस दुष्ट मन्त्रीरूपी नवीन मूर्तिवाले बड़वानल को नमस्कार हो, जिसके द्वारा राजा की उत्कृष्ट लक्ष्मियाँ (धनादि सम्पत्तियाँ) अजड़ (अजल—जल-रहित) होती हुई भी शोषण की जाती हैं—पी जाती हैं। अभिप्राय यह है कि समुद्र की बड़वानल अग्नि द्वारा केवल सजड (Sसजल—जलराशि-पूर्ण) समुद्र ही शोषण किया जाता है, जब कि दुष्ट मन्त्रीरूपी बड़वानल अग्नि द्वारा राजा के साथ-साथ उसकी अजड़ (अजल—जल-शून्य) लक्ष्मियाँ भी शोषण (पान) की जाती हैं (नष्ट की जाती हैं)[3] § ॥ १२५ ॥ इसलिए ऐसा वह जगत्प्रसिद्ध, दुष्ट मन्त्री की कुचेष्टा-(निन्द्य अभिप्राय) युक्त व मधुर वचनों की विशेषताशाली नाटक सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रवृत्त हो, जिसमें (जिस नाटक में) तृण-निर्मित पुरुष की आकृति धारण करनेवाला (तृण-निर्मित पुरुष के सदृश) राजा नायक (नाटक-प्रमुख) हुआ है। अर्थात्—जिसप्रकार तृण-निर्मित पुरुष कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं होता उसीप्रकार तृण-निर्मित पुरुष के समान राजा भी कुछ भी (प्रजापालन-आदि) कार्य करने में समर्थ नहीं है। अतः ऐसा नगण्य राजा ही जहाँपर नाटक का प्रधान हुआ है और जिसमें ऐसा नगरवासी जन-समूह सभासद हुआ है, जिसकी बुद्धि भाग्य (पूर्वोपार्जित पुण्य) से उत्पन्न हुए पुराण (कथा-शास्त्र) द्वारा सुरक्षित की गई है। अर्थात्—जिन्होंने पूर्वजन्म में पुण्य किया है उन भाग्यशाली

---

* 'यद्दुराशार्थिसंप्राप्यस्तच्छायाश्रमविश्रमः' क० घ० । * 'पौरोभाग्यपुरापालितमतेर्मन्त्री धविन्नीसुतः' घ० ।
विमर्श—परन्तु मु. सटी. प्रतौ वर्तमानः पाठः सम्यक् ।

१. रूपकालंकार । † अष्टपदा नान्दी—मङ्गलसूत्रम् ।

२. रूपकालङ्कार । ‡ अष्टपदा नान्दी (मङ्गलसूत्रम्) । S क्योंकि श्लेष में 'ड' और 'ल' एक गिने जाते हैं ।

३. रूपक व व्यतिरेक-अलङ्कार । § द्वादशपदा नान्दी (मङ्गलसूत्रम्)

मृत्पिण्डचेष्टः क्षितिपः स्वभावात्सुदुष्टचेष्टः सचिवश्च यत्र। शुभाशयस्यापि सुमेधसोऽपि क्षेमः कुतस्तत्र भवेज्जनस्य ॥१२७॥

शिष्टावासः कुतस्तत्र दुर्मन्त्री यत्र भूपतौ। श्येनैश्वर्यं तरौ यत्र कुतस्तत्रापरे द्विजाः ॥ १२८ ॥

जानन्नपि जनो मोहादायासाय समीहते। यस्य कार्यं न येनास्ति तस्मात्तस्य फलं कुतः ॥ १२९ ॥

पुरुषों की ही बुद्धि जहाँपर पुण्योदय से उत्पन्न हुए पुराण शास्त्र द्वारा सुरक्षित की गई है और जिन्होंने पूर्व जन्म में पुण्य नहीं किया—जो खोटे भाग्यवाले हैं—उनकी बुद्धि नष्ट होचुकी है, क्योंकि उनको सद्बुद्धि देनेवाले का जहाँपर अभाव पाया जाता है। इसीप्रकार जिस नाटक में लुहार-पुत्र मंत्री पद का कार्य करनेवाला पात्र हुआ है। अर्थात्—जिसप्रकार लुहार-पुत्र राज्यसंचालन-आदि मन्त्री का कार्य नहीं कर सकता उसीप्रकार लुहार-पुत्र सदृश मंत्री भी राज्य-संचालन-आदि मन्त्री पद का कार्य नहीं कर सकता एवं जिस नाटक का रचयिता 'तरुणीलीलाविलास' नाम का महाकवि हुआ है, जो कि विशेषशक्ति-शालिनी (दर्शकों के हृदय में शृङ्गाररस व वीर्यरस-आदि रसों को अभिव्यक्त—प्रकट—करने में समर्थ) वाक्यरचना करने में उसप्रकार प्रवीण है जिसप्रकार बृहस्पति प्रवीण होता है[1] ॥१२६॥ जिस राज्य में राजा स्वभावतः मृत्पिण्ड सरीखी चेष्टा (क्रिया)-युक्त है। अर्थात्—जिसप्रकार मिट्टी का पिण्ड कुछ भी कार्य नहीं कर सकता उसीप्रकार जिस राज्य में राजा भी कुछ भी शिष्ट-पालन व दुष्ट-निग्रह-आदि राज-कर्तव्य पालन करने में समर्थ नहीं है एवं जिस राज्य में मन्त्री दुष्ट चेष्टा (खोटा अभिप्राय) से व्याप्त है, उस राज्य में ऐसे लोक (प्रजा) का भी कल्याण किस प्रकार होसकता है? अपि तु नहीं होसकता, जो कि पुण्य के पवित्र परिणाम से भी विभूषित है, फिर पापी लोक की रक्षा होने की कथा तो दूर ही है और जो प्रशस्त बुद्धि से भी युक्त है, फिर दुर्बुद्धि (खोटी बुद्धिवाले मूर्ख) लोक की रक्षा होने की कथा तो दूर ही है[2] ॥१२७॥ जिसप्रकार जिस वृक्ष पर बाज पक्षी का ऐश्वर्य (राज्यवैभव) वर्तमान है। अर्थात्—निवास है, उसपर दूसरे पक्षी (काक-आदि) किसप्रकार निवास कर सकते हैं? अपितु नहीं कर सकते। [क्योंकि वह उन्हें मार डालता है] उसीप्रकार जिस राजा के निकट दुष्ट मंत्री अधिकारी वर्तमान है, उसके पास शिष्ट पुरुषों का निवास किस प्रकार होसकता है? अपितु नहीं होसकता[3] ॥१२८॥ मनुष्यमात्र जानता हुआ भी अज्ञान-वश निरर्थक दुःख की प्राप्ति-हेतु चेष्टा करता है, क्योंकि जब जिस पुरुष का जिस पुरुष से प्रयोजन सिद्ध नहीं होसकता तब उससे उसको किसप्रकार लाभ होसकता है? अपि तु नहीं होसकता। भावार्थ—प्रकरण में 'शङ्खनक' नाम का गुप्तचर यशोधर महाराज से 'तरुणीलीलाविलास' नामके महाकवि की ललित काव्यरचना दुष्ट मन्त्री के विषय में श्रवण कराता हुआ कह रहा है कि जब मनुष्य यह जानता है कि 'अमुक व्यक्ति में अमुक कार्य के करने की योग्यता नहीं है' तथापि वह उसे उस कार्य कराने के हेतु नियुक्त करके निरर्थक कष्ट उठाने की चेष्टा (प्रयत्न) करता है। क्योंकि जिस पुरुष का जिससे प्रयोजन सिद्ध नहीं होता उसको उससे किसप्रकार लाभ (प्रयोजन-सिद्धि द्वारा धनादि की प्राप्ति) होसकता है? अपि तु नहीं होसकता। प्रकरण में हे राजन्! जब आप (यशोधर महाराज) यह जानते हैं कि 'पामरोदार' नाम के मन्त्री में राज्य-संचालन करने की योग्यता नहीं है, तथापि आपने उसे मन्त्री पद पर नियुक्त करके व्यर्थ कष्ट उठाने की चेष्टा की है, क्योंकि जब आपका उससे इष्ट प्रयोजन (राज्य-संचालन-आदि) सिद्ध नहीं होता तब आपको उससे लाभ हो किसप्रकार होसकता है? अपितु नहीं होसकता[4] ॥१२९॥

---

१. समुच्चयालङ्कार। २. जाति व रूपकालङ्कार। ३. आक्षेपालंकार। ४. आक्षेपालङ्कार।

पातकानां समस्तानां द्वे परे पातके स्मृते। एकं दुःसचिवो राजा द्वितीयं च तदाश्रयः ॥ १३०

दुर्मन्त्रिणो नृपसुतात्सुमहान्स लाभः प्राणैः समं भवति यन्न वियोगभावः।
सूनाकृतो गृहमुपेत्य ससारमेयं जीवन्मृगो यदि निरेति तदस्य पुण्यम् ॥ १३१ ॥

शास्त्रकारों द्वारा समस्त पापों के मध्य दो पाप उत्कृष्ट कहे गए हैं। पहला पाप राज्य में दुष्ट मन्त्री का होना और दूसरा पाप दुष्टमन्त्री-सहित राजा का होना। अर्थात्—ऐसे राजा का होना, जो कि दुष्ट मन्त्री के आश्रय से राज्य-संचालन करता है[1] ॥१३०॥

दुष्ट मन्त्रीवाले राजपुत्र से प्रजा को वही जगत्प्रसिद्ध महान् लाभ है, जो कि उसका (प्रजा का) प्राणों के साथ वियोग नहीं होता। अर्थात्—प्रजा मरती नहीं है। उदाहरणार्थ—कुत्तों से व्याप्त हुए सूनाकृत (खटीक—कसाई) के गृह (कसाईखाने) में प्राप्त हुआ हिरण यदि जीवित रहकर वहाँ से निकल कर भाग जाता है तो उसकी प्राणरक्षा में उस हिरण का वही पुण्यकर्म कारण है।

भावार्थ—जिसप्रकार खटीक—कसाई—पुरुष के कुत्तों से व्याप्त हुए गृह में प्रविष्ट हुआ हिरण यदि जीवित होकर वहाँ से निकल जाता है तो उसकी प्राण-रक्षा में उसका पुण्य ही कारण समझा जाता है, अन्यथा उसका मरण तो निश्चित ही होता है उसीप्रकार दुष्ट मन्त्रीवाले राजा के राज्य में रहनेवाली प्रजा का मरण तो निश्चित रहता ही है तथापि यदि वह जीवित होती हुई अपनी प्राण-रक्षा कर लेती है, तो यही उसे उस दुष्ट मंत्रीवाले राजा के राज्य से महान् लाभ होता है, इसके सिवाय उसे और कोई लाभ नहीं होसकता। प्रस्तुत नीतिकार आचार्य[2] श्री ने कहा है कि 'दुष्ट राजा से प्रजा का विनाश ही होता है, उसे छोड़ कर दूसरा कोई उपद्रव नहीं होसकता'। हारीत[3] नीतिवेत्ता भी लिखता है कि 'भूकम्प से होनेवाला उपद्रव शान्तिकर्मों (पूजन, जप व हवन-आदि) से शान्त होजाता है परन्तु दुष्ट राजा से उत्पन्न हुआ उपद्रव किसीप्रकार भी शान्त नहीं होसकता ॥ १ ॥' दुष्ट राजा का लक्षण निर्देश करते हुए आचार्य[4] श्री लिखते हैं कि 'जो योग्य और अयोग्य पदार्थों के विषय में ज्ञान-शून्य है। अर्थात्—योग्य को योग्य और अयोग्य को अयोग्य न समझ कर अयोग्य पुरुषों को दान-सन्मानादि से प्रसन्न करता है और योग्य व्यक्तियों का अपमान करता है तथा विपरीत बुद्धि से युक्त है—अर्थात्—शिष्ट पुरुषों के सदाचार की अवहेलना करके पाप कर्मों में प्रवृत्ति करता है, उसे दुष्ट कहते हैं'। नारद[5] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है। मूर्ख मन्त्री की कटु आलोचना करते हुए आचार्य[6] श्री ने कहा है कि 'क्या अन्धा मनुष्य कुछ देख सकता है ? अपि तु नहीं देख सकता। सारांश यह है कि उसीप्रकार अन्धे के समान मूर्ख मन्त्री भी मन्त्र का निश्चय-आदि नहीं कर सकता'। शौनक[7] नीतिवेत्ता विद्वान् के उद्धरण का भी उक्त अभिप्राय है। मूर्ख राजा व मूर्ख मंत्री की कटु आलोचना करते हुए आचार्य[8] लिखते

१. रूपकालङ्कार।
२. तथा च सोमदेवसूरिः—न दुर्विनीताद्राज्ञः प्रजानां विनाशादपरोऽस्त्युत्पातः ॥१॥
३. तथा च हारीतः—उत्पातो भूमिकम्पाद्यः शान्तिकैर्याति सौम्यतां। नृपदुर्वृत्तः उत्पातो न कथंचित् प्रशाम्यति ॥१॥
४. तथा च सोमदेवसूरिः—यो युक्तायुक्तयोरविवेकी विपर्यस्तमतिर्वा स दुर्विनीतः ॥१॥
५. तथा च नारदः—युक्तायुक्तविवेकं यो न जानाति महीपतिः। दुर्वृत्तः स परिज्ञेयो यो वा वाममतिर्भवेत् ॥१॥
६. तथा च सोमदेवसूरिः—किं नामान्धः पश्येत् ॥१॥
७. तथा च शौनकः—यद्यन्धो वीक्ष्यते किंचिद् घटं वा पटमेव च। तदा मूर्खोऽपि यो मंत्री मंत्रं पश्येत् स भूभृताम् ॥१॥
८. तथा च सोमदेवसूरिः—किमन्धेनाकृष्यमाणोऽन्धः समं पन्थानं प्रतिपद्यते ॥१॥

हैं कि 'यदि अन्धे पुरुष को दूसरा अन्धा लेजाता है तो भी क्या वह सममार्ग (ऊबड़-खाबड़-रहित मार्ग) देख सकता है ? अपि तु नहीं देख सकता। सारांश यह है कि उसीप्रकार यदि मूर्ख राजा भी मूर्ख मंत्री की सहायता से सन्धि-विग्रहादि राज-कार्यों की मन्त्रणा करे, तो क्या वह उसका फल (विजय लक्ष्मी व अर्थ-लाभ-आदि) प्राप्त कर सकता है ? अपि तु नहीं कर सकता। शुक्र[1] विद्वान् के उद्धरण का भी उक्त अभिप्राय है ॥ १ ॥ धन-लम्पट राजमंत्री से होनेवाली हानि का कथन करते हुए आचार्य[2] श्री लिखते हैं कि 'जिस राजा के मन्त्री की बुद्धि धन-ग्रहण करने में लम्पट—आसक्त—होती है, उसका न तो कोई कार्य ही सिद्ध होता है और न उसके पास धन ही रह सकता है। गुरु[3] विद्वान् के उद्धरण द्वारा भी उक्त बात का समर्थन होता है। उक्त बात की दृष्टान्त द्वारा पुष्टि करते हुए प्रस्तुत नीतिकार[4] लिखते हैं कि 'जब कोई मनुष्य किसी की कन्या के साथ विवाह करने के उद्देश्य से कन्या देखने के लिए अपने संबंधी (मामा-आदि) को भेजता है और वह वहाँ जाकर स्वयं उस कन्या के साथ अपना विवाह कर लेता है तो विवाह के इच्छुक उस भेजनेवाले को तपश्चर्या करनी ही श्रेष्ठ है; क्योंकि स्त्री के विना तप करना उचित है। प्रकरण में उसीप्रकार यदि राजा का मंत्री धन-लम्पट है तो उसे भी अपना राज्य छोड़कर तपश्चर्या करना श्रेष्ठ है, क्योंकि धन के विना राज्य नहीं चल सकता और धन की प्राप्ति मन्त्री-आदि अधिकारी-वर्ग की सहकारिता से होती है'। शुक्र[5] विद्वान् लिखता है कि 'जिस राजा का मंत्री कुत्ते के समान शङ्कित व सज्जनों का मार्ग (टेक्स-आदि द्वारा अप्राप्त धन की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा-आदि) रोक देता है, उसकी राज्य स्थिति कैसे रह सकता है ? अपि तु नहीं रह सकती' ॥ १ ॥

उक्त बात को दूसरे दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए प्रस्तुत नीतिकार[6] लिखते हैं कि 'यदि थाली अन्न-आदि परोसा हुआ भोजन स्वयं खा जावे तो खानेवाले को भोजन किसप्रकार मिल सकता है ? उसीप्रकार यदि मंत्री राज्य-द्रव्य को स्वयं हड़प करने लगे तो फिर राज्य किसप्रकार चल सकता है ? अपि तु नहीं चल सकता। विदुर[7] नीतिवेत्ता विद्वान् ने कहा है कि 'जिस गाय का समस्त दूध उसके बछड़े ने धक्का देकर पी डाला है, उससे स्वामी की तृप्ति-हेतु छाँछ किसप्रकार उत्पन्न हो सकती है ? अपि तु नहीं हो सकती, इसीप्रकार जब राजमंत्री राजकीय समस्त धन हड़प कर लेता है तब राजकीय व्यवस्था (शिष्ट-पालन दुष्ट-निग्रह-आदि) किसप्रकार होसकती है ? अपि तु नहीं होसकती, इसलिए राजमंत्री धन-लम्पट नहीं होना चाहिए' ॥ १ ॥ प्रकरण में 'शङ्खनक' नामके गुप्तचर ने यशोधर महाराज के प्रति दुष्ट मन्त्रीवाले राजा के राज्य में रहने से प्रजा की हानि उक्त दृष्टान्त द्वारा कही है[8] ॥ १३१ ॥

---

१. तथा च शुक्रः—अन्धेनाकृष्यमाणोऽत्र चेदन्धो मार्गवीक्षकः। भवेत्तन्मूर्खभूपोऽपि मंत्रं चेत्यज्ञमंत्रिणः ॥१॥
नीतिवाक्यामृत पृ. १८३ से संकलित—सम्पादक

२. तथा च सोमदेवसूरिः—मन्त्रिणोऽर्थग्रहणलालसायां मतौ न राज्ञः कार्यमर्थो वा ॥१॥

३. तथा च गुरुः—यस्य संजायते मंत्री वित्तग्रहणलालसः। तस्य कार्यं न सिध्येत भूमिपस्य कुतो धनं ॥१॥

४. तथा च सोमदेवसूरिः—वरणार्थं प्रेषित इव यदि कन्यां परिणयति तदा वरयितुस्तप एव शरणम् ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—निरुणद्धि सतां मार्गं स्वमाश्रित्य शंकितः। श्वाकारः सचिवो यस्य तस्य राज्यस्थितिः कुतः ॥१॥

६. तथा च सोमदेवसूरिः—स्थाल्येव भक्तं चेत् स्वयमश्नाति कुतो भोक्तुर्भुक्तिः ॥१॥

७. तथा च विदुरः—दुग्धमाक्रम्य चान्येन पीतं वत्सेन गां यदि। तदा तक्रं कुतस्तस्याः स्वामिनस्तृप्तये भवेत् ॥१॥

८. दृष्टान्तालङ्कार। नीतिवाक्यामृत पृ. १८९ से संकलित—सम्पादक।

कविकौमुदीचन्द्रस्य—

अहिवलयितमूलः पादपः केन सेव्यः श्रयति क इह शिष्टः शल्यसङ्गं तडागम् ।
विषकलुषितमन्धः कस्य भोज्याय जातं कुसचिवहतभूतिर्भूपतिः कैरुपास्यः ॥ १३२ ॥
अविवेकमतिर्नृपतिर्मन्त्री गुणवत्सु वक्रितग्रीवः । यत्र खलाश्च प्रबलास्तत्र कथं सज्जनावसरः ॥ १३३ ॥

विदग्धमुग्धस्य—

पङ्केजवने लक्ष्मीर्विपिने विजयो हुताशने तेजः । तपने च परं मण्डलमवनिपतेर्भवति दुःसचिवात् ॥ १३४ ॥

अथानन्तर 'शङ्खनक' नाम का गुप्तचर यशोधर महाराज से कहता है कि हे राजन् ! उक्त विषय पर *'कविकौमुदीचन्द्र' नाम के कवि की पद्यरचना निम्नप्रकार श्रवण कीजिए :—

जिसप्रकार सर्प से वेष्टित स्कन्ध (तना) वाला वृक्ष किसके द्वारा सेवन करने योग्य होता है ? अपि तु किसी के द्वारा नहीं एवं हड्डियों के सगमवाले तालाब को चाण्डाल के सिवाय कौन उत्तम कुलवाला पुरुष सेवन करता है ? अपि तु कोई नहीं करता और विष-दूषित भोजन किस पुरुष के खाने योग्य होता है ? अपि तु किसी के नहीं, उसीप्रकार ऐसा राजा, जिसका ऐश्वर्य (राज्यविभूति) दुष्ट मन्त्री द्वारा दूषित हो चुका है, किन पुरुषों द्वारा उपासना करने योग्य है ? किसी के द्वारा नहीं।

भावार्थ—जिसप्रकार ऐसा वृक्ष, जिसके तने पर सर्प लिपटे हुए हैं, किसी के द्वारा सेवन नहीं किया जाता एवं ऐसे तालाव का, जिसके किनारे पर हड्डी गाड़कर ऊँची की गई है, आश्रय कोई उत्तम कुलवाला नहीं करता। अर्थात्—चाण्डालों के तालाव के तट पर एक हड्डी गाड़कर ऊँची उठाई जाती है, उस संकेत (चिन्ह) से वह तालाव चाण्डालों का समझा जाता है, अतः कोई कुलीन पुरुष उसका पानी नहीं पीता एवं जिसप्रकार विष से कलुषित हुआ भोजन किसी के द्वारा भक्षण नहीं किया जाता उसीप्रकार दुष्ट मन्त्री द्वारा नष्ट किया गया है ऐश्वर्य जिसका ऐसा राजा भी किसी के द्वारा सेवन नहीं किया जाता[1] ॥१३२॥ जिस राज्य में राजा विचार-रहित बुद्धिवाला है। अर्थात्—ऐसा राजा, जिसकी बुद्धि से हेय (छोड़नेलायक) व उपादेय (ग्रहण करने लायक) का विवेक (विचार) नष्ट हो चुका है और जिस राज्य में मंत्री विद्वानों से विमुख रहता है एवं जिसमें चुगलखोर विशेष बलिष्ठ हैं, उस राज्य में सज्जन पुरुषों का अवसर किसप्रकार हो सकता है ? अपि तु नहीं हो सकता[2] ॥ १३३ ॥

हे राजन् ! प्रस्तुत दुष्ट मन्त्री के विषय पर *'विदग्धमुग्ध' नाम के कवि की निम्नप्रकार पद्य रचना सुनिए—

दुष्ट मन्त्री से राजा की निम्नप्रकार हानि होती है। लक्ष्मी (शोभा) कमल-वन में होती है किन्तु राजा के समीप लक्ष्मी (साम्राज्य लक्ष्मी) नहीं रहती—नष्ट हो जाती है और विजय वन में होता है। अर्थात्—वि—जय—(पक्षियों का जय) वन में होता है किन्तु राजा में विजय (विशिष्टजय—शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त करना) नहीं होता एवं तेज (प्रताप—तपना) अग्नि में ही पाया जाता है किन्तु राजा में तेज (सैनिक-शक्ति व खजाने की शक्तिरूप प्रताप) नहीं रहता—नष्ट होजाता है। इसीप्रकार सूर्य में ही उत्कृष्ट मण्डल (बिम्ब) होता है परन्तु राजा के समीप मण्डल (देश) नहीं होता। अर्थात्—उसके हाथ से देश निकल जाता है[3] ॥ १३४ ॥

---

* प्रस्तुत शास्त्रकार महाकवि (श्रीमत्सोमदेवसूरि) का कल्पित नाम ।

१. आक्षेपालङ्कार। २. आक्षेपालङ्कार। ३. समुच्चय व दीपकालङ्कार।

खड्गेषु परं कोशः शेषायां तन्दुलाः करे पर्व। चतुरङ्गेषु च तन्त्रं दुर्मन्त्रिणि भवति भूपस्य ॥ १३५ ॥

नीतिनेत्रस्य—राज्यवृद्धिस्ततोऽमात्याद्यो न कुक्षिंभरिः स्वयम्। अस्ति स्थाल्येव चेद्भक्तं भोक्तुर्भुक्तिर्भवेत्कुतः ॥१३६॥

यः स्याद्भुजंगवद्रूपो बहिरीक्षितमोहितः। तं खादन्ति न किं नाम लञ्जिका इव सेवकाः ॥ १३७ ॥

परैरबाधनं स्वस्यX परेषां बाधनं स्वयम्। प्रजाप्रकृतिकोशानां श्रीश्च मन्त्रात्फलं विदुः ॥ १३८ ॥

iiकोशोद्वासी प्रजाध्वंसी तन्त्रक्षोभविधायकः। †यो विद्वेष्टा विशिष्टानां शत्रुर्मन्त्रिमिषादसौ ॥ १३९ ॥

दुष्ट मंत्री के होने पर राजा की निम्नप्रकार हानि होती है। १. केवल तलवारों में ही कोशस्थिति (म्यान में रहना) पाई जाती है। अर्थात्—म्यानों में ही खड्ग धारण किये जाते हैं परन्तु राजा के पास कोश (खजाना) नहीं रहता—नष्ट होजाता है। २. तन्दुल (अक्षत—अखण्ड माङ्गलिक चाँवल) केवल आशीर्वाद के अवसर पर पाए जाते हैं परन्तु राजा के पास तन्दुल (धान्य) नहीं होता। ३. पर्व (अङ्गुली-रेखा) हस्त पर होती है परन्तु पर्वों (दीपोत्सव-आदि पर्वों) में उत्सव मानना राजा के यहाँ नहीं होता और ४. तन्त्र (धन कमाने का उपाय) जुआ खेलने में पाया जाता है किन्तु राजा के पास तन्त्र (सैन्य—पलटन) नहीं होता[1] ॥ १३५ ॥

हे राजन्! अब उक्त विषय पर 'नीतिनेत्र'※ नाम के महाकवि की निम्नप्रकार पद्य-रचना श्रवण कीजिये—

उस मन्त्री से राज्य की वृद्धि होती है, जो केवल स्वयं अपनी उदर-पूर्ति करनेवाला (धनलम्पट) नहीं है, क्योंकि यदि थाली परोसा हुआ अन्न-आदि भोजन स्वयं खा जावे तो खानेवाले को भोजन किसप्रकार मिल सकता है? अपि तु नहीं मिल सकता। उसीप्रकार यदि धन-लम्पट दुष्ट मंत्री राजद्रव्य स्वयं हड़प करने लगे तो फिर राज्य संचालन किसप्रकार होसकता है? अपि तु नहीं होसकता। [उक्त विषय की विशद व्याख्या हम श्लोक नं० १३१ में कर आये हैं] निष्कर्ष—लाँच-घूँस न लेनेवाले (निर्लोभी व सुयोग्य) मंत्री से ही राज्य की श्रीवृद्धि होती है[2] ॥ १३६ ॥ जो राजा मंत्री-आदि सेवकों की बाह्य क्रियाओं (ऊपरी नमस्कार-आदि वर्तावों) से उसप्रकार मुग्ध होता है जिसप्रकार कामी पुरुष वेश्याओं की बाह्य क्रियाओं (कृत्रिम रूपलावण्य व गीत नृत्य-आदि प्रदर्शनों) से मुग्ध होजाता है, उस मुग्ध हुए राजा को सेवक लोग (मन्त्री-आदि अधिकारी गण) उसप्रकार भक्षण कर लेते हैं। अर्थात्—राजकीय द्रव्य हड़प करके सत्वहीन बना देते हैं जिसप्रकार वेश्याएँ उनकी उक्त बाह्य क्रियाओं से मुग्ध हुए कामी पुरुष को भक्षण कर लेती हैं—निर्धन (दरिद्र) बना देती हैं[3] ॥ १३७ ॥ नीतिवेत्ताओं ने कहा है कि मन्त्र (राजनैतिक सलाह) से निम्नप्रकार प्रयोजन सिद्ध होते हैं—१. शत्रुओं द्वारा स्वयं को पीड़ित न होने देना. २. स्वयं शत्रुओं को पीड़ित करना, ३. प्रजा और प्रकृति (मन्त्री-आदि अधिकारीगण) की लक्ष्मी का वृद्धिंगत होना। भावार्थ—मन्त्र द्वारा सिद्ध होनेवाले प्रयोजन के विषय में हम पूर्व में विशद विवेचन कर चुके हैं[4] ॥ १३८ ॥ ऐसा मन्त्री, जो कोश (खजाना) खाली करता है, प्रजा का ध्वंस करता है, सैन्य (पलटन) क्षुब्ध—कुपित—करता है और सज्जन पुरुषों से द्वेष करता है, वह, मन्त्री के बहाने से शत्रु ही है[5] ॥ १३९ ॥

X 'परेषां बधनं स्वयं' क०। ii 'कोशनाशी' क०। † 'यो द्वेष्टा च विशिष्टानां' क०।

※ प्रस्तुत शास्त्रकार महाकवि श्रीमत्सोमदेवसूरि का नाम।

१. परिसंख्यालंकार। २. दृष्टान्तालङ्कार। ३. उपमालङ्कार व आक्षेपालङ्कार। ४. जाति-अलङ्कार। ५. रूपकालङ्कार।

मानधनंजयस्य—

श्रीमानर्थिजनार्थी पृथ्वीशः पुरुषरत्नयत्नार्थी। सचिवश्च परहितार्थी *यदि भवति कुतस्तु कलिकालः ॥१४०॥
नृपतिसुतः खलनिरतः सचिवजनो दुर्जनोऽधनः सुजनः। महतां मस्तकशूलं जातैश्वर्यः कदर्यश्च ॥१४१॥

कविकोविदस्य—

कपटपटुभिर्वाचाटास्यैः पुरःस्फुटचाटुभिर्बहिरुपहितप्रायोमायैर्मुधा व्रतिकार्यैः।
वचसि फलवत्सन्नावापप्रयोगनयानुगैर्नरपतिसुतः कृत्योऽमात्यैर्वशोऽर्थकृशोऽपि च ॥१४२॥
यदीच्छसि वशीकर्तुं महीशं गुणय द्वयम्। बहुमायामयं वृत्तं चित्तं चाकरुणामयम् ॥१४३॥

अथानन्तर हे राजन्! अब प्रस्तुत विषय पर 'मानधनंजय'‡ नाम के कवि की निम्नप्रकार छन्द-रचना श्रवण कीजिए—

जहाँपर लक्ष्मीवान् (धनाढ्य) पुरुष यदि याचक-जनों का प्रयोजन सिद्ध करता है और राजा पुरुषरूपी रत्नों के संग्रह करने का प्रयोजन रखता है एवं मन्त्री दूसरों के उपकार करने का प्रयोजन रखता है, वहाँपर कलिकाल की प्रवृत्ति (जनता का दुःखी होना) किसप्रकार होसकती है? अपितु नहीं होसकती[1] ॥१४०॥ राजपुत्र का दुष्टों (चुगलखोरों) की संगति करने में तत्पर होना और मन्त्री लोगों का दुष्ट (नाई व चाण्डाल-आदि नीच कुलवालों का पुत्र) होना एवं सज्जन पुरुष का निर्धन (दरिद्र) होना तथा लोभी (कंजूस) को ऐश्वर्यशाली होना, ये सभी बातें विद्वान पुरुषों को मस्तकशूल (असहनीय) हैं[2] ॥१४१॥

हे राजन्! अब आप 'कविकोविद'† नामके विद्वान कवि की निम्नप्रकार पद्य-रचना कर्णामृत कीजिए—हे राजन्! ऐसे मन्त्रियों द्वारा राजपुत्र पराधीन व निर्धन (दरिद्र) भी किया जाता है, जो वञ्चना (धोखा देने) में चतुर हैं, जिनके मुख से प्रचुर निन्द्य वाणी निकलती है, अर्थात्—जो राजा-आदि का मर्म भेदन करनेवाले, श्रद्धा-हीन व निरर्थक बहुत वचन बोलते हैं, जो राजा के आगे उसकी स्पष्ट रूप से मिथ्या स्तुति करते हैं, जिनके द्वारा बाह्य में प्रायः मायाचार (धोखेबाजी) का बर्ताव किया गया है और जिनका अहिंसा-आदि व्रतों के पालन करने का अभिप्राय झूँठा (दिखाऊ—बनावटी) होता है एवं जो केवल वचनमात्र में राजा के समस्त प्रयोजन (शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त करना-आदि राजा का कार्य) को सिद्ध करनेवाली सेना की प्राप्ति की कर्त्तव्य-नीति का अनुसरण करते हैं। अर्थात्—जो सैन्य-संगठन-आदि किसी भी राजनैतिक कार्य को कार्यरूप में परिणत न करते हुए केवल राजा से यह कहते हैं कि हे राजन! हमारे द्वारा ऐसी सेना का संगठन करके कर्त्तव्य-नीति का भली-भाँति पालन किया गया है, जो कि शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त करने व अप्राप्त राज्य की प्राप्ति तथा प्राप्त राज्य के संरक्षण करने में समर्थ होने के फलस्वरूप सफल (सार्थक—प्रयोजन सिद्ध करनेवाली) है[3] ॥ १४२ ॥

हे विद्वन्! यदि आप राजा को अपने वश में करने की इच्छा करते हैं, तो निम्नप्रकार की दो बातों का अभ्यास कीजिए या जानिए। १. अपना बर्ताव विशेष धोखा देनेवाला बनाइए और २. अपना चित्त निर्दय बनाने का अभ्यास कीजिए[4] ॥ १४३ ॥

---

* अयं शुद्धपाठः ह० लि० क० प्रतितः संकलितः, मु० प्रतौ तु 'यदि भवति ततः कुतस्तु कलिकालः' इति पाठः।

१. रूपक व आक्षेपालंकार। २. समुच्चयालंकार। ३. समुच्चयालंकार। ४. समुच्चयालंकार।

‡ प्रस्तुत शास्त्रकर्ता महाकवि आचार्यश्री श्रीमत्सोमदेवसूरि का नाम। † प्रस्तुतशास्त्रकार का नाम।

बहिरलकुरसप्रभवैरन्तःशून्यार्थपाटवैः सचिवैः। मुग्धमृगाः प्रतिदिवसं वञ्च्यन्ते मरुमरीचिकाशङ्कैः ॥१४४॥
कार्ये स्वस्याभिमते सचिवः सिद्धिं करोति हठवृत्त्या। नृपतिरयं बहुसचिवः के वयमत्रेति भाषतेऽन्यस्य ॥१४५॥
काशा तत्र नरेन्द्रे समस्तपरिवारजीविताहारः। संचरति यस्य निकटे सचिवजनो दुर्जनाचारः ॥१४६॥
अभिमानमहीधरस्य—
अनवाप्तधनोऽपि जनः सकिंचने भवति चाटुतापात्रम्। मातर्लक्ष्मि तवायं महिमा किमिवोच्यतामत्र ॥१४७॥
†आत्मायत्तं वृत्तं वृत्तायत्तानि जगति पुण्यानि। पुण्यायत्ता लक्ष्मीर्यदि विद्वान् दैन्यवान्किमिति ॥१४८॥
यद्यपि विधे न सुविधिः काम्येऽर्थे याच्यसे तथापीदम्। कुरु मरणं माकार्षीः सुजनानां दुर्जनैः सङ्गम् ॥१४९॥

ऐसे मन्त्रियों द्वारा, जो बाह्य में विशेष अनुराग उत्पन्न करनेवाले होते हैं, अर्थात्—जो राजा-आदि के प्रति ऊपरी (कृत्रिम—बनावटी) प्रेम प्रकट करते हैं और भीतर से जिनकी निष्फल (निरर्थक) कार्य करने में विशेष चतुराई होती है एवं जो मृगतृष्णा (वालुका-पुञ्ज पर सूर्य-किरणों का पड़ना जिसकी चकचकाहट से हिरणों को उसमें जलज्ञान होता है) के समान हैं, मूर्ख मानवरूपी हिरण प्रतिदिन उसप्रकार वञ्चित किए (ठगे) जाते हैं जिसप्रकार ऐसी मृगतृष्णा द्वारा, जो बाहर से प्रचुर जलराशि समीप में दिखाती है परन्तु मध्य में जल-विन्दु मात्र से शून्य होती है, हिरण प्रतिदिन ठगे जाते हैं—धोखे में डाले जाते हैं[1] ॥ १४४ ॥

मन्त्री अपना अभिलषित (इच्छित) प्रयोजन बलात्कार से सिद्ध (पूर्ण) कर लेता है और दूसरों के कार्य में निम्नप्रकार कहता है—कि 'इस राजा के पास बहुत से मन्त्री हैं, इसलिए इसके यहाँ हम क्या हैं ? अर्थात्—हमारी कोई गणना नहीं, अतः हमारे द्वारा आपका कोई कार्य सिद्ध नहीं होसकता[2] ॥१४५॥ जिस राजा के समीप दुष्ट वर्ताव करनेवाला और समस्त परिवार की जीविका भक्षण करनेवाला मंत्री संचार करता है, उस राजा से प्रयोजन-सिद्धि की क्या आशा (इच्छा) की जासकती है ? अपितु कोई आशा नहीं की जासकती। अर्थात्—ऐसे दुष्ट मंत्रीवाले राजा से प्रजा-आदि को अपने कल्याग की कामना नहीं करनी चाहिए[3] ॥१४६॥

हे राजन् ! अब आप 'अभिमानमहीधर'* नामके महाकवि की निम्नप्रकार पद्यरचना श्रवण कीजिए—लोक में निर्धन (दरिद्र) पुरुष भी धनाढ्य पुरुष की मिथ्या स्तुति करनेवाला होता है। हे माता लक्ष्मी ! यह तेरा ही प्रभाव है, इस संसार में और क्या कहा जावे[4] ? ॥१४७॥ सदाचार-प्राप्ति स्वाधीन होती है। अर्थात्—मानसिक विशुद्धि से सदाचार प्राप्त होता है और संसार में पुण्यकर्म सदाचार के अधीन हैं। अर्थात्—सदाचाररूप नैतिक प्रवृत्ति से ही पुण्य कर्मों का बन्ध होता है एवं धनादि लक्ष्मी पुण्य कर्मों के अधीन है। अर्थात्—पुण्य कर्मों से ही धनादि लक्ष्मी प्राप्त होती है। इसलिए हे विद्वन् ! यदि तुम सची विद्वत्ता रखते हो तो याचना करनेवाले क्यों होते हो ? अपितु नहीं होना चाहिए। निष्कर्ष—धनादि की प्राप्ति-हेतु निरन्तर पुण्य कर्म करने में प्रयत्नशील होना चाहिए[5] ॥१४८॥ हे विधि (कर्म) ! यद्यपि तुम चाहे हुए पदार्थ में अनुकूल प्रवृत्ति करनेवाले नहीं हो। अर्थात्—मनचाही वस्तु देने में तत्पर नहीं हो। तथापि हम तुम से केवल निम्नप्रकार एक वस्तु की याचना करते हैं कि चाहे हमारे प्राण ग्रहण कर लो परन्तु सज्जन पुरुषों का दुष्ट पुरुषों के साथ संगम मत करो।[6] ॥१४९॥

† 'आत्मायत्तं पुण्यं पुण्यायत्तानि जगति भाग्यानि। भाग्यायत्ता लक्ष्मीर्यदि विद्वान्दैन्यवान्किमिति ॥' क०।

१. उपमालंकार। २. आक्षेपालङ्कार। ३. आक्षेपालङ्कार। *प्रस्तुत शास्त्रकार का नाम। ४. आक्षेपालङ्कार। ५. जाति-अलङ्कार। ६. प्रतिवस्तूपमालङ्कार।

मन्त्रावसरे समरे विधुरे दारेषु वस्तुसारेषु। यो न व्यभिचरति नृपे स कथं तु न वल्लभस्तस्य ॥१५०॥

अव्याधिदुर्बलस्य—

क्षाराब्धौ सलिलस्य दुर्जनजने विद्याविनोदस्य च। क्षुद्रे संभ्रमभाषितस्य कृपणे लक्ष्मीविलासस्य च।

भूपे दुःसचिवागमस्य सुजने दारिद्र्यसङ्गस्य च ध्वंसः स्यादचिरेण यत्र दिवसे तं चिन्तयन्दुर्बलः ॥१५१॥

‡यदतिथिविषयेऽस्मिन्विष्टपे सृष्टिरेषा सुरभितरुमणीनामर्थितार्थप्रदानाम्।

इदमणकमिहैकं मे कृशाङ्गत्वहेतुः कुसचिववशवृत्तिर्भूपतिश्च द्वितीयम् ॥१५२॥

जो मन्त्री मन्त्र (राजनैतिक सलाह) के अवसर पर कर्तव्य-च्युत नहीं होता, शत्रु से युद्ध करने से विमुख नहीं होता, संकट पड़ने पर पीछे नहीं हटता। अर्थात्—संकट (विपत्ति) के समय अपने स्वामी की सहायता करता है एवं स्त्रियों के साथ व्यभिचार नहीं करता। अर्थात्—दूसरे की स्त्रियों के प्रति माँ, बहिन और बेटी की वर्ताव करता है तथा धन व रत्नादि लक्ष्मी का अपहरण नहीं करता, वह मन्त्री राजा का प्रेमपात्र क्यों नहीं है? अपितु अवश्य है[1] ॥१५०॥

हे राजन्! अब आप 'अव्याधिदुर्बल' (शारीरिक रोग न होनेपर भी सामाजिक दुर्गुणों के कारण अपनी शारीरिक दुर्बलता निर्देश करनेवाला) नाम के कवि की निम्नप्रकार काव्यकला श्रवण कीजिए—

हे राजन्! मैं उस [उन्नतिशील] दिन की प्रतीक्षा (बाट देखना) करता हुआ, दुर्बल होरहा हूँ, जिस दिन निम्नलिखित वस्तुएँ शीघ्र नष्ट होगीं। १. जिस दिन लवण समुद्र में भरे हुए खारे पानी का शीघ्र ध्वंस होगा। २. जिस दिन दुष्ट लोक में विद्या के साथ विनोद (क्रीड़ा) करने का शीघ्र नाश होगा। ३. जिस दिन क्षुद्र (असहनशील) पुरुष के प्रति वेग-पूर्वक उतावली से विना विचारे कहे हुए वचनों का ध्वंस होगा। ४. जिस दिन कृपण (कंजूस) के पास स्थित हुई लक्ष्मी के विस्तार (विशेष धन) का नाश होगा और ५. जिस दिन, राजा के पास दुष्ट मन्त्री का आगमन नष्ट होगा एवं ६. सज्जन पुरुष में दरिद्रता का सङ्गम नष्ट होगा। भावार्थ—जिस समय उक्त वस्तुएँ शीघ्र नष्ट होगीं, उसी समय मेरी दुर्बलता दूर होगी अन्यथा नहीं; क्योंकि समुद्र का खारा पानी, दुष्ट पुरुष की विद्वत्ता, क्षुद्र के प्रति विना विचारे उतावली-पूर्वक कहे हुए वचन और कृपण का धन तथा सज्जन पुरुष में दरिद्रता का होना तथा राजा के पास दुष्ट मन्त्री का होना ये सब चीजें हानिकारक और निरर्थक हैं, इसलिए इनका शीघ्र प्रलय—नाश—होना ही मेरी दुर्बलता दूर करने में हेतु है, अतः कवि कहता है कि जिस दिन उक्त हानिकारक चीजों का ध्वंस होगा, उस दिन की प्रतीक्षा करने के कारण मैं कमजोर होरहा हूँ[2] ॥ १५१ ॥ इस संसार में यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला एक मानसिक दुःख मेरी शारीरिक कृशता का कारण है। १. क्योंकि याचक-हीन इस संसार (स्वर्गलोक) में अभिलषित (मनचाही) धनादि वस्तु देनेवाली कामधेनु, कल्पवृक्ष और चिन्तामणि रत्नों की सृष्टि (रचना) पाई जाती है। २. मानसिक दुःख मेरे शरीर को कृश (दुर्बल) करने का कारण यह है कि इस संसार में ऐसा राजा पाया जाता है, जिसकी जीविका दुष्ट मन्त्री के अधीन है। भावार्थ—स्वर्गलोक में, जहाँपर याचकों का सर्वथा अभाव है, मनचाही वस्तु देनेवाली अनावश्यक कामधेनु-आदि वस्तुएँ पाई जाती हैं, यह पहला दुःख मेरी शारीरिक दुर्बलता का कारण है और दूसरा दुःख दुष्ट मन्त्री के अधीन रहनेवाला राजा मेरे दुःख का कारण है, क्योंकि उससे प्रजा का विनाश अवश्यम्भावी होता है[3] ॥ १५२ ॥

‡ अयं शुद्धपाठः ह० लि० क० ख० घ० च० प्रतिभ्यः संकलितः, मु. प्रतौ तु 'यदर्तार्थिविषये' इति पाठः।

१. आक्षेपालङ्कार। *'प्रस्तुत शास्त्रकर्ता का कल्पित नाम। २. समुच्चयालंकार। ३. हेतु-अलङ्कार।

कविकुसुमायुधस्य—

यदि तव हृदयं सनयं विद्वन्स्वप्नेऽपि मा स्म सेविष्ठाः। सचिवजितं युवतिजितं* खड्गिजितं खलजितं च राजानम्॥१५३॥
उपलः सलिलेषु तरेज्जलधिर्गाधेत मन्दरः प्रचरेत्। इति संभवति कदाचिन्नाखलभावः पुनः सचिवः॥१५४॥
विषमकरः शिशिरः स्यादनिलोऽचपलः खरांशुरमृतांशुः। सर्पश्चाविषदर्पो न तु मैत्रीस्थो नियोगस्थः॥१५५॥
मुष्काण्ड 'इवाभाण्डे पाण्डित्यक्रीडितस्य नरनाथे। किं विदधातु सुधीरिह बहिरीहाबहलदेहेऽपि॥१५६॥

सुजनजीवितस्य—

विश्वस्तं महिमास्तं सुजनं विजनं कुलीनमसुहीनम्। गुणिनं च † दुःखकणितं कुर्यादिति सचिवसिद्धान्तः॥१५७॥

हे राजन्! अब आप 'कविकुसुमायुध' ‡ नाम के कवि की काव्यकला श्रवण कीजिए— हे विद्वन्! यदि तुम्हारा मन न्याय-युक्त है तो ऐसे राजा को स्वप्नावस्था में भी सेवन मत कीजिए, फिर जागृत अवस्था में सेवन करना तो दूर ही है, जो कि दुष्ट मन्त्री के अधीन होता हुआ परस्त्री लम्पट है, जो तलवार धारण करनेवाले वीर पुरुषों द्वारा जीता गया है, अर्थात्—कायर है अथवा पाठान्तर में विटों (व्यभिचारियों) के वशवर्ती हुआ चुगलखोरों के अधीन रहता है[1] ॥ १५३ ॥ यदि एक बार पाषाण जल में तैरने लगे व समुद्र तैरा जासके और सुमेरु पर्वत भी चलने लगे। अर्थात्—यदि उक्त तीनों अघटित (न घटनेवालीं) घटनाएँ कभी घट सकती हैं फिर भी राज-मंत्री कभी भी सज्जन प्रकृति-युक्त नहीं हो सकता। अर्थात्—दुष्ट प्रकृतिवाला ही होता है[2] ॥ १५४ ॥ यदि कभी अग्नि शीतल होजावे, वायु स्थिर होजावे और तीक्ष्ण किरणोंवाला सूर्य शीतल किरणवाला होजाय एवं सर्प विष-दर्प से शून्य होजाय। अर्थात्—उक्त अनहोनी तीनों बातें कदाचित् एक बार होजाँय परन्तु राजमन्त्री मित्रता करने में तत्पर नहीं होसकता[3] ॥ १५५ ॥ इस संसार में विद्वान् पुरुष ऐसे राजा के विषय में क्या कर सकता है? अपि तु कुछ भी (सुधार-आदि) नहीं कर सकता, जो (राजा) हस्त, पाद व मुख-आदि बाह्य चेष्टाओं से स्थूल शरीर का धारक होने पर भी पाण्डित्य-क्रीड़ित (विद्वज्जनों का विद्याविनोद) का उसप्रकार अपात्र है जिसप्रकार अपने वृद्धिंगत अण्डकोशों को बाहिर निकालनेवाला (नपुंसक) पुरुष उक्त बाह्य चेष्टाओं से स्थूल शरीर का धारक होने पर भी पाण्डित्य-क्रीडित (कामशास्त्रोक्त स्त्रीसंभोग) का अपात्र होता है। भावार्थ—जिसप्रकार नपुंसक पुरुष स्थूल शरीरवाला (मोटा ताजा) होने पर भी स्त्री के साथ रति विलास करने में समर्थ नहीं होता, इसलिए जिसप्रकार विद्वान् पुरुष (वैद्य) उसका कुछ सुधार नहीं कर सकता उसीप्रकार जो राजा हस्त-पाद-आदि की बाह्य चेष्टाओं से स्थूल शरीरवाला होनेपर भी राजनीति विद्या की क्रीड़ा से शून्य (मूर्ख) है, उसे विद्वान् पुरुष किसप्रकार सुधार सकता है? अपि तु नहीं सुधार सकता[4] ॥ १५६ ॥

हे राजन्! अब आप 'सुजनजीवित, + नाम के महाकवि की छन्दरचना सुनिए—

मन्त्रियों का सिद्धान्त (निश्चित विचार) विश्वस्त पुरुष को महत्वहीन, सज्जन को कुटुम्ब-शून्य और कुलीन पुरुष को प्राणों से रहित एवं विद्वान् को दुःखों से रुदन-युक्त करता है[5] ॥ १५७ ॥

---

* 'षिड्गजितं' (विटजितं) च०। † 'दुःखकणितं' क०।

‡ प्रस्तुत शास्त्रकार का कल्पित नाम। १. समुच्चयालंकार। २. दीपकालंकार। ३. समुच्चयालंकार।

+ प्रस्तुत शास्त्रकर्ता आचार्यश्री का नाम। ४. आक्षेपालंकार। ५. दीपकालंकार।

कुमुदाकर इव दिनकृति विरमति नृपतिर्नरे सरागे हि। स लघु विरक्ते रज्यति रजनिरसश्चूर्णरजसीव ॥१५८॥

मुग्धाङ्गनाकेलिकुतूहलस्य—

ज्वरार्त इव खिद्येत मन्त्री सत्सु धनव्यये। कृतार्थ इव मोदेत विटवाग्जीवनादिषु ॥१५९॥

भस्मनि हुतमिव महते यद्दत्तं देव तदफलं सकलम्। उपयोगिने तु देयं नटाय विटपेटकायापि ॥१६०॥

पिण्डीशूराः केवलममी हि सर्वस्वभक्षणे दक्षाः। न हि यामार्थं सन्तः स्वामिन्भट+पिण्डकार्थं वा ॥१६१॥

विलासिनीलोचनकज्जलस्य—

येषां धर्मार्थकामेषु दुष्टलुण्टाकचेटकाः। तेषामनन्तरायाः स्युः श्रेयःश्रीयोषितः कुतः ॥१६२॥

राजा अनुराग करनेवाले हितैषी पुरुष से उसप्रकार निश्चय से विरक्त (द्वेष करनेवाला) होता है, जिसप्रकार कुमुदाकर (चन्द्र-विकासी श्वेत कमलों का वन) सूर्य से विरक्त (विमुख—विकसित न होनेवाला) होता है और विरक्त (अहित-कारक) पुरुष से उसप्रकार शीघ्र राग (प्रेम) करने लगता है जिसप्रकार आर्द्र हरिद्रा (गीली हल्दी) का चूर्ण अग्नि से पके हुए चूने के चूर्ण को शीघ्र रक्त (लाल रंगवाला) कर देता है[1] ॥ १५८ ॥

हे राजन् ! अब आप * 'मुग्धाङ्गनाकेलिकुतूहल' नाम के कवि की पद्य-रचना श्रवण कीजिए— मन्त्री विद्वान् पुरुषों के लिए धन वितरण करने पर उसप्रकार दुःखी होता है जिसप्रकार ज्वर-पीड़ित पुरुष दुःखी होता है और विटों (परस्त्री-लम्पटों) तथा मद्यपान करनेवाले स्तुतिपाठकों-आदि के लिए धन देने पर उसप्रकार हर्षित होता है जिसप्रकार कृतार्थ पुरुष (इष्ट प्रयोजन सिद्ध करनेवाला) 'आज मेरा जीवन सफल होगया' ऐसा मानता हुआ हर्षित (उल्लासित—आनंद-विभोर) होता है[2] ॥ १५९ ॥ हे राजन् ! मन्त्री ऐसा मानता है कि साधुपुरुष (सद्गुरु) के लिए दिया हुआ समस्त धन भस्म में होम करने सरीखा निष्फल होता है परन्तु ऐसे निज मन्त्री के लिए, चाहे वह नट ही क्यों न हो और व्यभिचारियों के समूह को रखनेवाला भी क्यों न हों, धन का देना सफल होता है[3] ॥ १६० ॥ हे स्वामिन् ! ये साधु लोग निश्चय से केवल भोजनभट्ट और समस्त धन-भक्षण करने में चतुर होते हैं, क्योंकि निश्चय से साधुलोग [प्रजा की रक्षार्थ] रात्रि में पहरा नहीं देते और न युद्धभूमि पर शूरवीरों के लिए भोजन देने में दक्ष (प्रवीण) हैं। अर्थात्—इनसे न तो नगर-रक्षा का ही प्रयोजन सिद्ध होता है और न शत्रुओं पर विजयश्री की प्राप्तिरूप प्रयोजन ही सिद्ध होता है[4] ॥ १६१ ॥

हे राजन् ! अब आप ‡ 'विलासिनीलोचनकज्जल' नाम के कवि का काव्यामृत कानों की अञ्जलि-पुटों से पान कीजिए :—

हे राजन् ! जिन राजाओं के समीप धर्म, अर्थ व काम के निमित्त क्रमशः दुष्ट, लुटेरे व परस्त्री-लम्पट (व्यभिचारी) मंत्री वर्तमान होते हैं। अर्थात्—दुष्ट मन्त्रियों के होने पर धर्म-संरक्षण नहीं होसकता और चोर मन्त्रियों के होने पर धन सुरक्षित नहीं रह सकता और परस्त्री-लम्पट मन्त्रियों के होने पर काम-संरक्षण नहीं होसकता ; अतः उन राजाओं के यहाँ धर्म, अर्थ व काम किसप्रकार निर्विघ्न सुरक्षित रह सकते हैं ? अपि तु नहीं रह सकते। निष्कर्ष—दुष्ट मन्त्रियों द्वारा धर्म, चोर मन्त्रियों

+ अयं शुद्धपाठः च० प्रतितः संकलितः, मु. प्रतौ तु 'भटपेटिकार्थं वा' 'भटानां भोजनं दातुं दक्षाः' इति टिप्पणी।

* प्रस्तुत शास्त्रकार आचार्यश्री (श्रीमत्सोमदेवसूरि) का हास्यरसजनक कल्पित नाम—सम्पादक

१. दृष्टान्तालंकार। २. उपमालंकार। ३. उपमालंकार। ४. जाति-अलंकार।

‡ 'हास्यरसप्रिय प्रस्तुत शास्त्रकार आचार्य श्री का नाम—सम्पादक

यदल्पं दर्श्यतेऽमात्यैः फलमाकाशजं क्वचित्। तत्सर्वस्वापहाराय मुग्धेषु पुरधूर्तवत् ॥१६३॥

×संभावयत्यमात्योऽयं यत्स्वमेव महीभुजि। तदन्यस्माद्विवेकोऽस्य मा भून्मयि धनाशिनि ॥१६४॥

अन्यथा—किं कुर्वन्ति खलाः पुंसां विशुद्धेऽध्वनि धावताम्। इति मत्वा प्रमोदन्ते महान्तो बहुधिष्ठिताः ॥१६५॥

सारस्तनीकैतवकौतुकस्य—और्वोऽखर्वः सुधाम्भोधौ भूपाले प्रबलाः खलाः। सदर्पाश्चन्दने सर्पा न रत्नमनुपद्रवम् ॥१६६॥

ग्रहो ग्रहाणामसुरोऽसुराणां यमो यमस्यापि नृपस्य मन्त्री। एवं न चेदेष कथं नु जीवेदकारणं कोविदकामकालः ॥१६७॥

अपि च। द्विजिह्वो जन्तूनां मृगपतिरिभानामिव कुले तडित्पिण्डोऽद्रीणामयमसमरोचिः क्षितिरुहाम्।

हिमातानोऽब्जानां तपतपनकालश्च सरसामभूत्क्रूरः कोऽपि प्रकृतिखलभावेन महताम् ॥१६८॥

द्वारा अर्थ (धन) व व्यभिचारी मन्त्रियों द्वारा काम नष्ट होजाते हैं[1] ॥१६२॥ मन्त्रियों द्वारा कहीं पर जो थोड़ा द्रव्य भद्र प्रकृतिवाले अथवा मूर्ख राजा के लिए दिखाया जाता है—कहा जाता है। अर्थात्—मन्त्रीगण जो किसी अवसर पर राजाओं के प्रति कहते हैं कि "हे राजन्! "जहाँपर बीस हजार की आय है वहाँपर हम लोग तीस हजार उत्पन्न करेंगे" उस आय-द्रव्य को आकाश-पुष्पसमान असत्य समझनी चाहिए। अर्थात्—जिसप्रकार आकाश-पुष्प झूँठा है उसीप्रकार राजा के लिए उस द्रव्य का मिलना भी झूँठा है परन्तु राजा के लिए बताई हुई वह थोड़ी द्रव्य (धन) उसप्रकार मन्त्रियों के पूर्ण अपहरण-हेतु (भक्षणार्थ) होती है जिसप्रकार करटक व दमनक नामके गीदड़ों द्वारा सिंह के लिए बताया हुआ थोड़ा सा मांस उनके स्वयं भक्षणार्थ होता है[2] ॥१६३॥ यह मन्त्री राजा के समक्ष अपने श्रीमुख से जो आत्म-प्रशंसा करता है, वह इसलिए करता है कि मुझ धन-भक्षक मन्त्री के होने पर इस राजा को दूसरे पुरुष से चतुराई प्राप्त न होने पावे[3] ॥१६४॥ अन्यथा—यदि धन-भक्षक मन्त्री नहीं है तब महान् (चारों वर्ण व चारों आश्रमों के गुरु) राजा लोग ऐसा निश्चय करके कि 'विशुद्ध मार्ग (प्रजापालन व सदाचाररूप सत् प्रवृत्ति) पर शीघ्र चलनेवाले राजाओं या महापुरुषों का दुष्ट लोग क्या कर सकते हैं? अपि तु कुछ नहीं कर सकते'। बहुत से मन्त्रियों से सहित होते हुए सुखी होते हैं[4]॥१६५॥

हे राजन्! अब आप '*सारस्तनीकैतवकौतुक' नाम के महाकवि की निम्नप्रकार काव्यकला श्रवण कीजिए—

क्षीरसागर में बड़वानल अग्नि विशेषरूप से वर्तमान है और राजा के निकट दुष्ट मन्त्री विशेष शक्तिशाली होते हुए पाए जाते हैं एवं चन्दन वृक्ष पर विशेष उत्कट साँप लिपटे रहते हैं, इसलिए नीति यह है कि रत्न (उत्तम वस्तु) उत्पात-शून्य नहीं होती। अर्थात्—उत्पात (उपद्रव) करनेवाली वस्तु से व्याप्त होती है[5] ॥१६६॥ राजा का [दुष्ट] मन्त्री, जो कि विद्वानों की अभिलषित वस्तु को निष्कारण नष्ट करता है, शनि, मङ्गल, राहु व केतु-आदि दुष्ट ग्रहों के मध्य प्रधान दुष्ट ग्रह है और असुरों में मुख्य असुर है एवं काल (मृत्यु) का भी काल है। अन्यथा—यदि ऐसा नहीं है—तो यह (दुष्ट मन्त्री) किसप्रकार जीवित रह सकता है? अपितु नहीं जीवित रह सकता। अभिप्राय यह है कि इस पापी दुष्ट मन्त्री को दुष्ट ग्रह, असुर व काल नहीं मारते, इससे उक्त बात यथार्थ प्रतीत होती है[6] ॥१६७॥ हे राजन्! विशेषता यह है कि यह आपका मन्त्री स्वाभाविक दुष्टता के कारण महान् पुरुषों के कुल में उसप्रकार कोई अपूर्व क्रूर (दुष्ट) उत्पन्न हुआ है

× 'समर्पयत्यमात्योऽयं' क० घ० च०।

१. यथासंख्य-अलंकार। २. उपमालंकार। ३. जाति-अलंकार। ४. आक्षेपालंकार।

* प्रस्तुत शास्त्रकार का हास्यरस-जनक नाम—सम्पादक

५. अर्थान्तरन्यास-अलंकार। ६. रूपक व अनुमान-अलंकार।

तदुक्तं कैश्चिद्विपश्चिद्भिरेतदेव हृदयस्थमपि जिह्वाग्रं कर्तुमतरन्द्भिः समासोक्तिमिषेण—

प्रतीक्षे जातास्थः सुकृतसुलभं तद्दिनमहं यतो यातारोऽमी प्रलयमहयश्चन्दनतरोः।

अमीषां पापानामिह हि वसतामेव महिमा कदाप्येतच्छायामभिलषति यन्नाध्वगजनः ॥१६९॥

प्रौढप्रियापाङ्गनवोत्पलस्य—

तत्र कथं ननु सन्तो यत्रास्ते तच्चतुष्टयं युगपत्। कलिकालः खलकालो नृपकालः सचिवकालश्च ॥१७०॥

जिसप्रकार पशुओं के कुल में सर्प, हाथियों के कुल में सिंह, पर्वतों के कुल में उनको विध्वंस करनेवाला विजलीदण्ड, वृक्षों के समूह में अग्नि (दावानल-अग्नि) एवं कमल-समूह में प्रालेय-पटल (वर्फमण्डल) उत्पन्न होता है और जिसप्रकार तड़ाग-समूह में क्रूर ग्रीष्मकाल उत्पन्न होता है[1] ॥ १६८ ॥

पूर्वोक्त दुष्ट मन्त्री संबंधी वाक्य को कुछ विद्वान् कवि लोगों ने, जो कि उसे अपने मन में स्थित रखते हुए भी जिह्वा के अग्रभाग पर लाने के लिए (स्पष्ट कथन करने) असमर्थ हैं, 'समासोक्ति'[2] नामक अलङ्कार के छल से निम्नप्रकार कहा है :—

उत्पन्न हुई अपेक्षावाला मैं (कवि) पुण्य से प्राप्त हुए उस दिन की प्रतीक्षा करता हूँ, जिस दिन ये चन्दन वृक्ष पर लिपटे हुए साँप प्रलीन (नष्ट) होंगे। क्योंकि इन पापमूर्ति साँपों की, जो कि इस चन्दन वृक्ष पर स्थित हो रहे हैं, यह महिमा (प्रभाव) है कि जिसके फलस्वरूप इस चन्दन वृक्ष की छाया को पान्थ (रस्तागीर) समूह कभी भी नहीं चाहता। भावार्थ—उक्त बात के कथन से प्रस्तुत महाकवि उस दिन की प्रतीक्षा करता है, जिस दिन राजारूप वृक्ष का आश्रय करनेवाले दुष्ट मन्त्री नष्ट होंगे, क्योंकि दुष्ट मन्त्रियों से प्रजा-विनाश निश्चित रहता है[3] ॥ १६९ ॥

हे राजन्! अब आप *'प्रौढप्रियापाङ्गनवोत्पल' नाम के महाकवि का काव्यामृत अपने श्रोत्ररूप अञ्जलिपुटों से पान कीजिए—

अहो! उस स्थान पर सज्जनपुरुष या विद्वान् लोग किसप्रकार स्थित रह सकते हैं? अपितु नहीं रह सकते, जिस स्थान पर निम्नप्रकार चार पदार्थ एक काल में पाए जाते हैं। १. कलिकाल

---

१. समुच्चय, दीपक व उपमालंकार।

२. 'समासोक्ति' अलंकार का लक्षण—समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः॥ साहित्यदर्पण (दशमपरिच्छेद) से सङ्कलित—सम्पादक

अर्थात्—जिस काव्य में प्रस्तुत व अप्रस्तुत दोनों में साधारणरूप से पाये जानेवाले कार्य, लिंग (पुल्लिंग, स्त्रीलिंग व नपुंसकलिंग के प्रदर्शक चिह्न), व विशेषणों द्वारा प्रस्तुत (प्रकृत) धर्मी में दूसरे अप्रस्तुत (अप्रकृत धर्मी) रूप वस्तु की अवस्था विशेष का भलेप्रकार आरोप करना (अभेद ज्ञान कराया जाना) पाया जावे, उसे 'समासोक्ति' अलङ्कार कहते हैं। अभिप्राय यह है कि—प्रकृत वस्तु में उक्त कार्य-आदि के कथन द्वारा अप्रकृत वस्तु का ज्ञान करानेवाले अलङ्कार को 'समासोक्ति' अलङ्कार कहते हैं। प्रस्तुत काव्य में प्रकृत चन्दन वृक्ष पर लिपटे हुए साँपों की महिमा (प्रस्तुत चन्दन वृक्ष की छाया का पान्थों द्वारा न चाहना) के कथन द्वारा अप्रकृत पदार्थ—राजा के समीपवर्ती दुष्ट मन्त्री का बोध—होता है, अतः उक्त काव्य 'समासोक्ति अलङ्कार' से अलङ्कृत है—सम्पादक

३. समासोक्ति-अलङ्कार।

* प्रस्तुत शास्त्रकार आचार्य श्रीमत्सोमदेवसूरि का पाठक पाठिकाओं में हास्यरस की अभिव्यक्ति करनेवाला कल्पित नाम—सम्पादक

यतः । गुणरागवति क्षितिभृति सचिवजने सुजनजातिभजने च । लक्ष्मीरिव प्रसीदति सरस्वती पटुषु पात्रेषु ॥१७१॥

शूरः समरविदूरः क्षुद्रो रुद्रः परासरोऽसारः ।* भामसमोऽपि च मामः स्वार्थपरस्तदहमेव तव देव ॥१७२॥

इत्यात्मसंभावनाजिह्मवाह्लीकमुपह्वरे ह्वयता प्रकृतयो ज्ञातयश्च कथंकारं न खलु प्रसादिताः ।

प्रजाप्रतिपालनं च तस्य किमिव वर्ण्यते । यस्य

वापसमयेषु विष्टिः सिद्धायः †क्षीरिकणिशकालेषु । लवनावसरेषु पुनः स्वच्छन्दः सैनिकाबाधः ॥१७३॥

(दुषमाकाल), २. खलकाल, अर्थात्—जहाँ पर दूसरे की निन्दा व चुगली करनेवाले दुष्टों की, जो कि काल (मृत्यु) समान भयंकर होते हैं, स्थिति पाई जाती है, ३. नृपकाल (काल के समान विना विचारे कार्य करनेवाला—मूर्ख राजा)। अर्थात्—जिसप्रकार काल सभी धनी, निर्धन सज्जन व दुर्जनों को एकसा मृत्यु-मुख में प्रविष्ट करता है उसीप्रकार जो राजा शिष्टों व दुष्टों के साथ एकसा वर्ताव (निग्रह-आदि) करता है और ४. मन्त्रीरूपी काल अर्थात्-काल (मृत्यु) के समान प्राणघातक दुष्टमन्त्री। निष्कर्ष—जिस स्थान पर अनिष्ट करनेवाले उक्त चार पदार्थ वर्तमान हों वहाँ पर विद्वान् सज्जनों को निवास नहीं करना चाहिए, अन्यथा—निश्चित हानि होती है[1] ॥१७०॥ क्योंकि [जब] राजा गुण व गुणी पुरुषों के साथ अनुराग करता है और जब मन्त्रीलोक सज्जन-समूह को सन्मानित करनेवाला होता है तब चतुर पात्रों (सदाचारी व सुयोग्य विद्वानों) से सरस्वती उसप्रकार प्रसन्न (वृद्धिंगत) होती है जिसप्रकार लक्ष्मी प्रसन्न होती है[2] ॥ १७१ ॥

प्रसङ्गानुवाद-अथानन्तर (जब 'शङ्खनक' नाम के गुप्तचर ने यशोधर महाराज से उक्तप्रकार 'पामरोदार' नाम के मंत्री की पूर्वोक्त कटु आलोचना की उसके पश्चात्) उसने कहा—हे राजन् ! जो पुरुष अपनी निम्नप्रकार प्रशंसा करता है, वह मन्त्री पद पर अधिष्ठित होने के योग्य नहीं।

"हे राजन् ! शूर (बहादुर) पुरुष के संग्रह से कोई लाभ नहीं ; क्योंकि वह तो युद्ध के अवसर पर दूरवर्ती होजाता है अथवा आप के साथ युद्ध करने के लिए विदूर (आपके निकटवर्ती) है। तीक्ष्ण (महाक्रोधी) भी संग्रह-योग्य नहीं है, क्योंकि वह क्षुद्र (आपकी लक्ष्मी देखकर असहिष्णु) होता है। अर्थात्—आपसे ईर्ष्या-द्वेष करता है। इसीप्रकार परासर (जिसकी धन व राज्य-प्राप्ति की लालसाएँ बढ़ी हुई हैं) भी अयोग्य ही है और असार (राजनैतिक ज्ञान व सदाचार सम्पत्ति से शून्य) भी वैसा ही है। इसीप्रकार राजा का मामा, श्वसुर व बहनोई भी संग्रह-योग्य नहीं। अर्थात्—ये सब राजमंत्री होने के अपात्र (अनधिकारी) हैं। इसलिए हे देव ! आपका कार्य सिद्ध करनेवाला मैं ('पामरोदार' नाम का मन्त्री) ही आपका सच्चा मन्त्री हूँ, [क्योंकि उक्त दोष मेरे में नहीं पाए जाते]"[3] ॥१७२॥

हे राजन् ! उक्तप्रकार आत्मप्रशंसारूप पटु वाणी बोलनेवाले उस 'पामरोदार' नाम के मन्त्री को एकान्त में बुलाते हुए आपने प्रजाजन व कुटुम्बीजन किसप्रकार प्रसादित—सन्तापित—नहीं किये ? अपि तु अवश्य सन्तापित किए।

हे राजन् ! आपके उस 'पामरोदार' नामके मन्त्री का प्रजापालन क्या वर्णन किया जावे ? अपि तु नहीं वर्णन किया जासकता।

जो बीज वपन करानेके अवसर पर किसानों को बेगार में लगा देता है, जिसके फलस्वरूप वे लोग बीज-वपन नहीं कर सकते और दूधवालीं कण-मञ्जरियों के उत्पन्न होने के अवसर पर अर्थात्—

---

* 'भावसमोऽपि' क० । † 'क्षीरकणिशकालेषु' क० ।

१. समुच्चयालंकार । २. उपमा व यथासंख्य-अलंकार । ३. समुच्चयालङ्कार ।

*राजा कर्णौ पिधाय शान्तं पापमिति ब्रूते—'आः पापाचार खारपटिक, महाभागे समागतगुरुगुणानुरागे च × तस्मिन् मैवं पापं भाषीष्ठाः।' + कापटिकः प्राह—

'देव, लोचनागोचरायाते कार्यजाते चारसंचारो विचारश्च नरेश्वराणां प्रायेणेक्षणद्वयम्। तच्च देवस्य दिव्यचक्षुष इव नास्ति। केवलं मिथ्याभिनिवेशानुरोधान्मनोमोहनौषधानुबन्धाद्वा विपर्यासवसतिर्मतिः। तथा चोक्तं शास्त्रान्तरे—

वालों की अपरिपक्व अवस्था में भी जो टेक्स वसूल करता है एवं जो धान्य की फसल काटने के अवसरों पर दूसरी वार [अश्वारोही—घुड़सवार] सैनिकों के संचार द्वारा स्वच्छन्द—निरर्गल—उपद्रव उपस्थित करता है—फसल को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है ॥१७३॥

तत्पश्चात् ('शङ्खनक' नाम के गुप्तचर द्वारा उक्त विस्तृतरूप से की हुई 'पामरोदार' नाम के मन्त्री की कटु आलोचना को श्रवण करने के अनन्तर) 'यशोधर महाराज' अपने दोनों हस्तों द्वारा कानों को बन्द करके जिसप्रकार से प्रस्तुत कटु आलोचना शान्त हो उसप्रकार से आश्चर्य पूर्वक 'शङ्खनक' नाम के गुप्तचर के प्रति क्रोध प्रकट करते हुए या स्वयं पीड़ित होते हुए कहते हैं—"रे पापकर्मा ठग शङ्खनक! उस 'पामरोदार' नाम के मन्त्री के विषय में, जो कि पुण्यवान् है और महागुणवान् विद्वान् पुरुषों के साथ जिसका स्वाभाविक स्नेह भलीप्रकार से चला आरहा है, तू इसप्रकार पाप-युक्त वचन मत बोल। अभिप्राय यह है कि महापुरुषों की कटु आलोचना के श्रवण से मुझे, भी पाप लग जायगा।

भावार्थ—महाकवि कालिदास[1] ने भी महापुरुषों की निन्दा करनेवालों और सुननेवालों के विषय में भी उक्त बात का समर्थन किया है। अर्थात्—जब श्रीशङ्कर जी ब्रह्मचारी का भेष धारण कर उनको पति बनाने के उद्देश्य से तपश्चर्या करती हुई श्री पार्वती के पास पहुँचकर अपनी कटु आलोचना (हे सुलोचने श्रीशङ्कर तो सर्प-वलय (कड़ा) बनाकर पहिनता है—आदि) करते हैं, उसे सहन न करती हुई श्री पार्वती अपनी सखी से कहती है कि 'हे सखी! फड़क रहे हैं ओंठ जिसके ऐसा यह ब्रह्मचारी श्री शङ्कर के बारे में फिर भी कुछ कटु आलोचना करने का इच्छुक होरहा है, अतः इसे रोको, क्योंकि केवल महापुरुषों की निन्दा करनेवाला मानव ही पाप का भागी नहीं होता अपि तु उनकी निन्दा को सुननेवाला भी पाप का भागी होता है।' प्रकरण में यशोधर महाराज 'शङ्खनक' नाम के गुप्तचर से कहते हैं कि "हे शङ्खनक! उस पुण्यशाली और महागुणी विद्वानों के साथ सुचारुरूप से स्वाभाविक प्रेम प्रकट करनेवाले 'पामरोदार' मंत्री की कटु-आलोचना मत कर, अन्यथा सुननेवाले मुझे पाप लगेगा" [यशोधर महाराज के उक्त वचन सुनकर] 'शङ्खनक' नाम के गुप्तचर ने निम्नप्रकार कहा—हे राजन्! नेत्रों द्वारा दृष्टिगोचर न होनेवाले कार्य-समूह में गुप्तचरों का प्रवेश और विचार (प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों से वस्तु का निर्णय करना) ये राजाओं के प्रायः दो नेत्र होते हैं। उक्त दोनों नेत्र (गुप्तचर-प्रवेश और विचाररूप दोनों नेत्र) आपके उसप्रकार नहीं हैं जिसप्रकार अन्धे के दोनों नेत्र नहीं होते। केवल असत्य अभिप्राय के प्रभाव से अथवा मन में अज्ञान उत्पन्न करनेवाली औषधि [पीलेने] के प्रभाव से आपकी बुद्धि विपरीत स्थानवाली (मिथ्या) होरही है। दूसरे नीतिशास्त्रों में कहा है कि—

* उक्त शुद्धपाठः ग० प्रतितः संकलितः। मु. प्रतौ तु 'राजा कर्णौ पिधाय शान्तं ब्रूते—'आः पापाचार कापटिक,' एवं क० घ० प्रतियुगले 'राजा कर्णौ पिधाय शान्तं पापमाः पापाचार खारपटिक कार्पटिक' इति पाठः।

× 'तस्मिन्नैवं मा भाषिष्ठः' क०। + 'कर्पटिकः' क०।

१. तथा च महाकविः कालिदासः—निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः। न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥१॥ कुमारसंभव से संकलित-सम्पादक

चारो यस्य विचारश्च राज्ञो नास्तीक्षणद्वयम् । तस्यान्धदुग्धवद्राज्यं मन्त्रिमार्जारगोचरम् ॥१७४॥

'जिस राजा के पास गुप्तचर-प्रवेश और विचार इन दोनों गुणों से विशिष्ट दोनों नेत्र नहीं हैं, उसका राज्य उसप्रकार मन्त्रीरूपी बिडाल (बिलाव—प्रजारूप चूहों का भक्षक होने के कारण) द्वारा प्राप्त करने योग्य होता है जिसप्रकार अन्धे के सामने रक्खा हुआ दूध बिलावों द्वारा पीने के योग्य होता है।

भावार्थ—जिसप्रकार अन्धे के सामने स्थापित किया हुआ दूध बिलावों द्वारा पी लिया जाता है उसीप्रकार गुप्तचर व विचाररूप नेत्र-युगल से हीन हुए राजा का राज्य भी मन्त्रीरूप बिलावों द्वारा हड़प कर लिया जाता है। अतः राजाओं को उक्त दोनों चक्षुओं से अलङ्कृत होना चाहिए। गुप्तचर-प्रवेश की विशद व्याख्या हम श्लोक नं० ११८ की व्याख्या में विशदरूप से कर आए हैं अतः, प्रकरण-वश 'विचारतत्व' के विषय में विशद प्रवचन करते हैं—

नीतिकार प्रस्तुत आचार्य[1] श्री ने कहा है कि 'नैतिक पुरुष को विना विचारे (प्रत्यक्ष, प्रामाणिक पुरुषों के वचन व युक्ति द्वारा निर्णय किये विना) कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए।' नीतिवेत्ता जैमिनि[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो राजा प्रजा द्वारा अपनी प्रतिष्ठा चाहता है, उसे सूक्ष्म कार्य भी विना विचारे नहीं करना चाहिए।' विचार का लक्षण-निर्देश करते हुए प्रस्तुत नीतिकार आचार्य[3] श्री लिखते हैं कि 'सत्य वस्तु की प्रतिष्ठा (निर्णय) प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम इन तीनों प्रमाणों द्वारा होती है न कि केवल एक प्रमाण से, इसलिए उक्त तीनों प्रमाणों द्वारा जो सत्य वस्तु की प्रतिष्ठा का कारण है, उसे 'विचार' कहते हैं'। उक्त विषय का समर्थन करते हुए शुक्र[4] विद्वान् ने भी कहा है कि 'प्रत्यक्षदर्शी, दार्शनिक व शास्त्रवेत्ता प्रामाणिक पुरुषों द्वारा किया हुआ विचार प्रतिष्ठित (सत्य व मान्य) होता है, अतः प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम प्रमाण द्वारा किये हुए निर्णय को 'विचार' समझना चाहिए।' प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण-निर्देश व प्रवृत्ति-निवृत्ति के विषय में प्रस्तुत नीतिकार[5] आचार्यश्री ने कहा है कि 'चक्षु-आदि इन्द्रियों द्वारा स्वयं देखने व जानने को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।' बुद्धिमान् विचारकों को हितकारक पदार्थों में प्रवृत्ति और अहितकारक पदार्थों से निवृत्ति केवल ज्ञानमात्र से नहीं करनी चाहिए। उदाहरणार्थ—जैसे किसी पुरुष ने मृगतृष्णा (सूर्य-रश्मियों से व्याप्त बालुका-पुञ्ज) में जल मान लिया, पश्चात् उसे उस भ्रान्त विचार को दूर करने के हेतु अनुमान (युक्ति) प्रमाण से यथार्थ निर्णय करना चाहिए कि क्या मरुस्थल में ग्रीष्म ऋतु में जल होसकता है ? अपि तु नहीं होसकता। तदनन्तर उसे किसी विश्वासी पुरुष से पूँछना चाहिए कि क्या वहाँ जल है ? इसके बाद जब वह मनाई करे तब वहाँ से निवृत्त होना चाहिए। अभिप्राय यह है कि विचारक व्यक्ति सिर्फ ज्ञानमात्र से किसी भी पदार्थ में प्रवृत्ति व निवृत्ति न करे। उक्त विषय का समर्थन करते हुए नीतिवेत्ता गुरु[6] विद्वान् ने लिखा है कि

१. तथा च सोमदेवसूरिः—नाविचार्य किमपि कार्यं कुर्यात्।

२. तथा च जैमिनिः—अपि स्वल्पतरं कार्यं नाविचार्य समाचरेत्। यदीच्छेत् सर्वलोकस्य शंसां राजा विशेषतः॥१॥

३. तथा च सोमदेवसूरिः—प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुर्विचारः ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—दृष्टानुमानागमज्ञैर्यो विचारः प्रतिष्ठितः। स विचारोऽपि विज्ञेयस्त्रिभिरेतैश्च यः कृतः ॥१॥

५. तथा च सोमदेवसूरिः—स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षम् ॥१॥ न ज्ञानमात्रात् प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा ॥२॥

६. तथा च गुरुः—दृष्टमात्रान्न कर्तव्यं गमनं वा निवर्तनम्। अनुमानेन नो यावदिष्टवाक्येन भाषितम् ॥१॥

'बुद्धिमान् पुरुष को सिर्फ देखने मात्र से किसी पदार्थ में प्रवृत्ति या उससे निवृत्ति नहीं करनी चाहिए जब तक कि उसने अनुमान व विश्वासी शिष्ट पुरुषों द्वारा वस्तु का यथार्थ निर्णय न करलिया हो।' उक्त विषय में आचार्यश्री[१] ने कहा है कि 'क्योंकि जब स्वयं प्रत्यक्ष किये हुए पदार्थ में बुद्धि को मोह (अज्ञान, संशय व भ्रम) होजाता है तब क्या दूसरों के द्वारा कहे हुए पदार्थ में अज्ञान-आदि नहीं होते ? अपितु अवश्य होते हैं ॥१॥ गुरु[२] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय समझना चाहिए।

विचारज्ञ का लक्षण और बिना विचारे कार्य करने से हानि-आदि का निरूपण करते हुए नीतिकार प्रस्तुत आचार्यश्री[३] लिखते हैं कि 'जो मनुष्य प्रत्यक्ष द्वारा जानी हुई भी वस्तु की अच्छी तरह परीक्षा (संशय, भ्रम व अज्ञान-रहित निश्चय) करता है, उसे विचारज्ञ-विचारशास्त्र का वेत्ता—कहा है।' ऋषिपुत्रक[४] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है। बिना विचारे—अत्यन्त उतावली से—किये हुए कार्य लोक में कौन २ से अनर्थ—हानि (इष्ट प्रयोजन की क्षति) उत्पन्न नहीं करते ? अपि तु सभी प्रकार के अनर्थ उत्पन्न करते हैं[५]।

भागुरि[६] विद्वान् ने भी कहा है कि 'विद्वान् पुरुष को सार्थक व निरर्थक कार्य करने के अवसर पर सब से पहिले उसका परिणाम-फल-प्रयत्नपूर्वक निश्चय करना चाहिए। क्योंकि बिना विचारे—अत्यन्त उतावली से-किये हुए कार्यों का फल चारों ओर से विपत्ति देनेवाला होता है, इसलिए वह उसप्रकार हृदय को सन्तापित (दुःखित) करता है जिसप्रकार हृदय में चुभा हुआ कीला सन्तापित करता है ॥' जो मनुष्य बिना विचारे उतावली में आकर कार्य कर बैठता है और बाद में उसका प्रतीकार (इलाज—अनर्थ दूर करने का उपाय) करता है, उसका वह प्रतीकार जल प्रवाह के निकल जानेपर पश्चात् उसे रोकने के लिए पुल या बन्धान बाँधने के सदृश निरर्थक होता है, इसलिए नैतिक पुरुष को समस्त कार्य विचार पूर्वक करना चाहिए[७]। शुक्र[८] विद्वान् के उद्धरण द्वारा भी उक्त बात का समर्थन होता है। प्रकरण में 'शङ्खनक' नाम का गुप्तचर यशोधर महाराज से कहता है कि हे राजन् ! जिसप्रकार अन्धे के सामने रक्खा हुआ दूध बिलाव पी लेते हैं उसीप्रकार गुप्तचर व विचाररूप नेत्रों से हीन हुए राजा का राज्य भी मन्त्रीरूप बिलाव हड़प कर जाते हैं, अतः आपको उक्त दोनों नेत्रों से अलङ्कृत होना चाहिए[९] ॥ १७४ ॥

१. तथा च सोमदेवसूरिः—स्वयं दृष्टेऽपि मतिर्विमुह्यति संशेते विपर्यस्यति वा किं पुनर्न परोपदिष्टे वस्तुनि ॥१॥

२. तथा च गुरुः—मोहो वा संशयो वाथ दृष्टश्रुतविपर्ययः। यतः संजायते तस्मात् तामेकां न विभावयेत् ॥१॥

३. तथा च सोमदेवसूरिः—स खलु विचारज्ञो यः प्रत्यक्षेणोपलब्धमपि साधु परीक्ष्यानुतिष्ठति ॥१॥

४. तथा च ऋषिपुत्रकः—विचारज्ञः स विज्ञेयः स्वयं दृष्टेऽपि वस्तुनि। तावन्नो निश्चयं कुर्याद् यावन्नो साधु वीक्षितम् ॥१॥

५. तथा च सोमदेवसूरिः—अतिरभसात् कृतानि कार्याणि किं नामानर्थं न जनयन्ति ॥१॥

६. तथा च भागुरिः—सगुणमविगुणं वा कुर्वता कार्यमादौ परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥१॥

७. तथा च सोमदेवसूरिः—अविचार्य कृते कर्मणि पश्चात् प्रतिविधानं गतोदके सेतुबन्धनमिव ॥१॥

८. तथा च शुक्रः—सर्वेषामपि कार्याणां यो विधानं न चिन्तयेत्। पूर्वं पश्चाद् भवेद्व्यर्थं सेतुर्नष्टे यथोदके ॥१॥
नीतिवाक्यामृत (भा. टी. समेत) पृ. २३७ (विचार समुद्देश) से संकलित—सम्पादक

९. रूपक व उपमालङ्कार।

देव, मांसरसरतस्य पुंसः किमिव मांसव्रतम्। कपाले भुञ्जानस्य हि नरस्य क इव केशदर्शनादाशप्रत्यादेशः। पुरे प्रमोषदक्षस्य हि पुरुषस्य केव कान्तारेऽपेक्षा। निरम्बरनितम्बायामात्माम्बायां दाहोद्योगस्य हि जनस्य क इव पराम्बाया-मम्बरपरित्यागः। यतः।

स्थितासुं ग्रसमानस्य गतासौ कीदृशी दया। परबाले कृपा कैव स्वबालेन बलिक्रिये ॥१७५॥

देव, स्वभावजा हि दुस्त्यजा खलु प्रकृतिः। न खलु पोषितोऽप्यहिपोतो जहाति हिंसाध्यवसायम्, न खलु व्रत-शीलोऽपि बिडालस्त्यजति क्रौर्यम्, न खलु प्रायोपवेशनवासिन्यपि कुट्टनी मुञ्चति परवञ्चनोचितां चिन्ताम्, न खलु काल-कवलनिकटोऽपि किराटो रहति शाठ्यस्थितिम्। यतः।

यः स्वभावो भवेद्यस्य स तेन खलु दुस्त्यजः। न हि शिक्षाशतेनापि कपिर्मुञ्चति चापलम् ॥१७६॥

हे राजन्! मांस-रस के पीने में अनुराग करनेवाले पुरुष का मांस-व्रत (मांस-त्याग) क्या है? अपि तु कुछ नहीं। अर्थात्—मांस-रस के पीने में लम्पट हुआ पुरुष मांस को किसप्रकार छोड़ सकता है? अपितु नहीं छोड़ सकता। नरमुण्डों (मुर्दों की खोपड़ियों) में स्थापित किये हुए भोजन को खानेवाले पुरुष को भोजन के अवसर पर केश-दर्शन से भोजन-परित्याग किसप्रकार होसकता है? अपितु नहीं हो सकता और नगर में चोरी करने में समर्थ हुआ पुरुष वन की अपेक्षा क्यों करेगा? अपितु नहीं करेगा। अर्थात्—जो नगर में डाँका डालने में समर्थ है, वह वन में स्थित रहनेवाले पुरुषों के लूटने की इच्छा क्यों करेगा? अपितु नहीं करेगा। इसीप्रकार अपनी माता को नग्न करके (उसके साथ रतिविलास करने के लिए) जिसका शरीर कामरूप ज्वर से पीड़ित होचुका है, उस पुरुष का दूसरे की माता को नग्न करके उसके साथ रतिविलास करना क्या है? अपितु कोई चीज नहीं। अर्थात्—जो अपनी माता के साथ रतिविलास करना नहीं छोड़ता, वह दूसरे की माता के साथ रतिविलास करना किसप्रकार छोड़ सकता है? अपितु नहीं छोड़ सकता।

हे राजन्! क्योंकि जीवित प्राणी की हत्या करके भक्षण करनेवाला पुरुष मरे हुए प्राणी के साथ दया का वर्ताव किसप्रकार कर सकता है? अपितु नहीं कर सकता और अपने बच्चे की बलिक्रिया (उसकी हत्या करके देवी को चढ़ाना) करनेवाला पुरुष दूसरों के बच्चों में दया का वर्ताव किसप्रकार कर सकता है? अपितु नहीं कर सकता। भावार्थ—प्रकरण में उसीप्रकार हे राजन्! उक्त 'पामरोदार' नाम के मन्त्री में उक्त सभी प्रकार के दुर्गुण (मांसभक्षण, चोरी व परस्त्री-लम्पटता एवं निर्दयता-आदि) पाये जाते हैं[1] ॥ १७५ ॥

हे राजन्! स्वाभाविक प्रकृति निश्चय से दुःख से भी नहीं छोड़ी जासकती। उदाहरणार्थ—जिसप्रकार [दूध पिलाकर] पुष्ट किया हुआ भी साँप का बच्चा हिंसा करने का उद्यम निश्चय से नहीं छोड़ सकता। इसीप्रकार बिलाव दीक्षा को प्राप्त हुआ भी अपनी क्रूरता नहीं छोड़ता एवं कुट्टनी उपवास या संन्यास धारण करती हुई भी लोकवञ्चन-योग्य चिन्ता नहीं छोड़ती और जिसप्रकार किराट (भील-वगैरह म्लेच्छ जाति का निकृष्ट लुटेरा पुरुष), काल-ग्रास के समीपवर्ती हुआ भी अपना छलकपट-आदि दुष्ट वर्ताव नहीं छोड़ता।

क्योंकि—जिस पुरुष का जो स्वभाव होता है, वह उसके द्वारा निश्चय से दुःख से भी छोड़ने के लिए अशक्य होता है। उदाहरणार्थ—यह बात स्पष्ट ही है कि बन्दर सैकड़ों हजारों शिक्षाओं (उपदेशों) द्वारा शिक्षित किये जाने पर भी अपनी चञ्चलता नहीं छोड़ता[2] ॥ १७६ ॥

---

१. आक्षेपालङ्कार। २. दृष्टान्तालङ्कार।

देव, वंशविद्यावृत्तविधुरोपकारा हि सेवकेषु स्वामिनमनुरञ्जयन्त्याश्चर्यशौर्यविजृम्भाः प्रारम्भा वा। तत्र वंशस्तावत्पिण्डीभाण्डशालिनां पितृप्रियपिण्डीनामस्य । यतः ।

ध्वजकुलजातस्तातः पामरपुत्री च यस्य जनयित्री । पञ्चपुरुषा च योषा कुलस्थितिः स हि कथं तु कुलजन्मा ॥१७७॥

देव, तथाविधान्वयपात्रे चात्र येयमहं महीक्षिदित्यहंकृतिः, उभयकुलविशुद्धिपात्रैर्निहीनचारित्रैः क्षत्रपुत्रैः =फेलाभ्यवहारेण स्थितिः, देवेन च स्वयमभ्युत्थानविहितिः, बान्धवजनप्रणतिः सामन्तोपनतिर्महापुरुषापचितिश्च, सा ह्यन्तःकृतातङ्का शल्यशलाकेव कमहंकारोत्तेकं सविवेकं च लोकं खरं न खेदयति । ततश्च ।

हे राजन् ! निम्नप्रकार के चार गुण जब सेवकों (मन्त्री-आदि अधिकारियों) में होते हैं तब उन गुणों के कारण उनके स्वामी उनपर स्नेह प्रकट करते हैं। १. कुल (उच्चवंश), २. विद्या (राजनैतिक ज्ञान), ३. वृत्त—ब्रह्मचर्य-आदि सदाचारसम्पत्ति और ४. विधुरोपकार—अर्थात्—व्यसनों-संकटों-के अवसर पर उनसे स्वामी का उद्धार करना। अर्थात्—सेवकों के उक्त चारों गुण स्वामी में स्नेह उत्पन्न करते हैं अथवा सेवकों द्वारा शत्रु के प्रति किये जानेवाले ऐसे युद्ध, जिनमें चित्त को चमत्कार उत्पन्न करनेवाली अनोखी शूरता का विस्तार पाया जाता है, भी स्वामी को अनुरक्त करते हैं। अभिप्राय यह है कि जो मन्त्री-आदि सेवक-गण यदि उक्त चारों प्रकार के गुणों से परीक्षित नहीं होते हुए भी केवल संग्राम-शूर होते हैं, वे अपने स्वामी को अपने ऊपर अनुरक्त नहीं बना सकते। भावार्थ—'शङ्खनक' नाम का गुप्तचर यशोधर महाराज से कहता है कि हे देव ! प्रस्तुत मन्त्री में उक्त चारों गुणों का सर्वथा अभाव है और संग्राम-शूरता भी केवल उसके गाल-बजाने में है न कि कार्यरूप में, अतः वह आपको अपने ऊपर अनुरक्त नहीं कर सकता। उक्त बात आगे विस्तार-पूर्वक कही जाती है—हे राजन् ! इसका वंश (कुल) खल-संग्रह-शाली तिलों की खलीवाले (तेलियों) का है, अर्थात् आपका यह 'पामरोदार' नामका मन्त्री तिली-आदि की खली का संग्रह करनेवाले नीच जाति के तेलियों के वंश में उत्पन्न हुआ है।

क्योंकि—हे राजन् ! जिसका पिता तेलियों के वंश में उत्पन्न हुआ है और माता पामर[1]पुत्री (नीच की पुत्री) है और जिसकी स्त्री पञ्चभर्तारी (पाँच पतियों को रखनेवाली) है, इसलिए ऐसे कुल के आचारवाला वह मन्त्री निश्चय से उच्चकुल में जन्मधारण करनेवाला किसप्रकार हो सकता है? अपितु नहीं हो सकता[2] ॥१७७॥

हे राजन् ! वैसे कुलवाले (तेली-कुल में उत्पन्न हुए) इस 'पामरोदार' नामके मन्त्री में जो यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला 'मैं राजा हूँ' इसप्रकार का अहंकार पाया जाता है और जिसका उच्छिष्ट (जूँठा) भोजन उत्तमजाति व श्रेष्ठकुल में उत्पन्न हुए भी निकृष्ट आचारवाले राजपुत्र करते हैं। अर्थात्—जो राजपुत्रों को अपना उच्छिष्ट भोजन कराने का निन्द्य आचार रखता है एवं केवल इतना ही नहीं किन्तु जिसके आने पर आप भी स्वयं सिंहासन से उठते हो और इसके कुटुम्बीजनों के लिए प्रणाम करते हो एवं अधीनस्थ राजालोग भी संमुख आकर इसके लिए नमस्कार करते हैं। इसीप्रकार महापुरुषों द्वारा जो इसकी पूजा (सन्मान) की जाती है, वह (पूजा) मन में सन्ताप उत्पन्न कराती हुई किस स्वाभिमानी

='फलाभ्यवहरणस्थितिः' क० ।

१. उक्तं च—'विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः । निहीनोऽपसदो जाल्मः क्षुल्लकश्चेतरश्च सः ॥ वर्वरोऽप्यन्यथा जातोऽपि' इति क्षीरस्वामिवचनम् । यश० की संस्कृतटीका पृ० ४३० से समुद्धृत-सम्पादक

२. समुच्चयालङ्कार ।

असल्लोकानुरोधेन सल्लोकोपेक्षणेन च। व्यालशैलान्तरालाङ्गी कुरङ्गीवाक्षमा रमा ॥१७८॥

देव, भूयन्ते ह्यसतां सतां च प्रग्रहावग्रहाभ्यां च नृपेषु व्यापदः। तथा हि—कलिङ्गेष्वनङ्गो नाम नृपतिर्दिवाकीर्तिसेनाधिपत्येन सामन्तसंतानं संतापयन् संभूय प्रकुपिताभ्यः प्रकृतिभ्यः किलैकलोष्टानुरोधं वधमवाप। केरलेषु करालः कितवस्य पौरोहित्येन, II वङ्गालेषु मङ्गलो वृषलस्य साचिव्येन, क्रथकैशिकेषु † कामोऽवरुद्धवधूस्तनंधयस्य यौवराज्येन, तथा वङ्गेषु स्फुलिङ्गः कुलक्रमागतस्य चतुरुपधाशुद्धस्यापि सचिवस्यावमानेन, मगधेषु मकरध्वजः साधुसमी-

व विवेकी पुरुष को हृदय में चुभे हुए तलवार के खण्ड-सरीखी विशेषरूपसे दुःखित नहीं करती? अपि तु अवश्य ही करती है।

इसलिए हे राजन्! नीच लोगों का सत्कार करने से और उत्तम लोगों का अनादर करने से लक्ष्मी (धनादि सम्पत्ति) समीप में आने के लिए उसप्रकार असमर्थ होती है जिसप्रकार ऐसी हिरणी, जिसके एक पार्श्वभाग पर दुष्ट हाथी है और दूसरे पार्श्वभाग पर पर्वत है और जिसका शरीर उन दोनों दुष्ट हाथी व पहाड़) के बीच में स्थित है, समीप में आने के लिए असमर्थ होती है[1] ॥१७८॥

हे राजन्! जिन राजाओं ने दुष्टों को स्वीकार (सन्मानित) किया है और सज्जनों को अस्वीकार (अपमानित) किया है, उनके ऊपर निश्चय से विपत्तियाँ श्रवण कीजातीं हैं। उक्त बात को समर्थन करनेवाली क्रमशः दृष्टान्तमाला श्रवण कीजिए—हे राजन्! सबसे पहले आप दुष्टों को सन्मानित करनेवाले राजाओं की दुर्गति बतानेवाली दृष्टान्तमाला श्रवण कीजिए—

कलिङ्ग देश के 'अनङ्ग' नाम के राजा ने नापित (नाई) को सेनापति पद पर आरूढ किया और उसके द्वारा उसने अधीनस्थ सामन्तों (राजाओं) को पीड़ित कराया था, इसलिए कुपित हुई प्रकृति[2] (प्रजा) ने मिल करके उसके ऊपर एक-एक पत्थर फैंककर उसका बध कर डाला। केरल (दक्षिणाश्रित देश) देशों में वर्तमान 'कराल' नाम के राजा ने नीच कुलवाले मानव को पुरोहित (राजगुरु) बनाया था, इसलिए मारा गया। वङ्गाल देश के 'मङ्गल' नाम के राजा ने वृषल (शूद्र और ब्राह्मणी से उत्पन्न हुए शूद्र) को राजमन्त्री बनाया था, इसके फलस्वरूप मार डाला गया। इसी प्रकार क्रथकैशिक देशों के 'काम' नामके राजा ने वेश्या-पुत्र को युवराज पद दिया था, जिसके फलस्वरूप बध को प्राप्त हुआ।

हे राजन्! अब आप सज्जनों को अपमानित करनेवाले राजाओं की दुर्गति समर्थन करनेवाली दृष्टान्तमाला श्रवण कीजिए—

वङ्गदेशों स्थित हुए 'स्फुलिङ्ग' नाम के राजा ने ऐसे मन्त्री का अनादर किया था, जो कि वंश-परम्परा से मन्त्री पद पर आरूढ़ हुआ चला आरहा था और जो चार प्रकार की उपधाओं (धर्म, अर्थ व काम-आदि) से शुद्ध था। अर्थात्—जो धर्मात्मा, अर्थशास्त्री, जितेन्द्रिय और अपने स्वामी को संकट से मुक्त करनेवाला था, जिसके फलस्वरूप वह (राजा) मार डाला गया। मगध

II 'वङ्गालो वृषलस्य साचिव्येन' क०। † 'कामोऽवरुद्ध' क०।

१. उपमालङ्कार।

२. उक्तं च—'अमात्याद्याश्च पौराश्च सद्भिः प्रकृतयः स्मृताः। स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च॥ राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च॥' यश० की सं. टी. पृ. ४३१ से संगृहीत—सम्पादक

हितस्यापि पुरोहितस्यावहेलेन, कौङ्गेषु कुरङ्गो देशकोशोचितप्रतापस्यापि सेनापतेरधिक्षेपेण, चेदिषु नदीशो निरपवादस्यापि महतः सुतस्य यौवराज्यप्रक्षयेन। देव यद्यपि देवस्य तेजोबलं प्रबलम्, तथापि—

तेजस्तेजस्विनां स्थाने धृतं धृतिकरं भवेत्। कराः सूर्याश्मवद्भानोः किं स्फुरन्ति हताश्मनि ॥१७९॥

देव, सकललोकाधिकैश्वर्यवन्द्यानां हि विद्यानां साधूपचरितं स्फुरितम् ÷स्वस्थानस्थितमपि स्त्रीरत्नमिवात्मीयात्मन्याद‍रं ‡कारयत्येव जने। एतच्चास्य कृत्रिमरत्नमयोरिव बहिरेव। देव, प्रसादनादनात्मभाविन्योऽपि विभूतयः पतिंवरा इव स्वात्पतितस्यापि जनस्य भवन्ति, न पुनरायुःस्थितय इवानुपासितगुरुकुलस्य यत्नवत्योऽपि सरस्वत्यः। यतः।

प्रान्त के देशों का 'मकरध्वज' नाम का राजा सदाचारी पुरोहित (राजगुरु) का अनादर करने के कारण मार दिया गया। कौङ्ग देश का 'कुरङ्ग' नाम का राजा देश व खजाने के अनुकूल प्रतापशाली सेनापति को अपमानित करने के कारण बध को प्राप्त हुआ और चेदि देशों के 'नदीश' नाम के राजा ने ऐसे ज्येष्ठ पुत्र को, जो कि सदाचारी होने के कारण प्रजा द्वारा सन्मानित किया गया था, युवराज पद से च्युत कर दिया था, जिसके फलस्वरूप मार डाला गया। अथानन्तर—'शङ्खनक' नामका गुप्तचर पुनः यशोधर महाराज से कहता है कि हे राजन्! यद्यपि आपका तेजोबल (सैनिकशक्ति व खजाने की शक्ति) प्रचण्ड (विशेष शक्तिशाली) है तथापि—

तेजस्वी पुरुषों का तेज (प्राण जानेपर भी शत्रुओं को सहन न करनेवाली—पराक्रमशाली—सैन्यशक्ति व कोशशक्ति) जब योग्य देश पर स्थापित किया जाता है, तभी वह सन्तोष-जनक होता है, जिसप्रकार सूर्य की किरणें सूर्यकान्तमणि में लगीं हुई जैसा चमत्कार लातीं हैं वैसा चमत्कार क्या नष्ट पाषाण में लगी हुई होनेपर लासकतीं हैं? अपितु नहीं लासकतीं[1] ॥ १७९ ॥

हे राजन्! विद्याएँ (राजनीति-आदि शास्त्रों के ज्ञान), जो कि समस्त लोगों—विद्वान् पुरुषों—के लिए अधिक ऐश्वर्य प्रदान करने के कारण नमस्कार करने योग्य होती हैं, उनका अच्छी तरह से व्यवहार में लाया हुआ चमत्कार योग्य स्थान (पात्र—उच्चवंश में उत्पन्न हुआ सज्जन पुरुष) में स्थित हुआ अपने विद्वान् पुरुष का उसप्रकार विशेष आदर कराता है जिसप्रकार स्त्रीरत्न (श्रेष्ठ स्त्री) योग्य स्थान में स्थित हुई (राजा-आदि प्रतिष्ठित के साथ विवाहित हुई) अपना आदर कराती है। हे राजन्! यह विद्वत्ता का चमत्कार इस 'पामरोदार' नाम के मन्त्री में उसप्रकार बाहिरी पाया जाता है जिसप्रकार कृत्रिम (बनावटी) रत्न के हार में केवल ऊपरी चमत्कार पाया जाता है, न कि भीतरी। हे राजन! स्वामी को प्रसन्न करने के कारण अपने लिए प्राप्त न होनेवालीं भी लक्ष्मियाँ (धनादि सम्पत्तियाँ) अकस्मात् आए हुए भी लोक के लिए उसप्रकार प्राप्त होजाती हैं जिसप्रकार कन्याएँ अकस्मात् आए हुए पुरुष को (वसुदेव को गन्धर्वदत्ता की तरह) प्रसन्न की हुई होने से प्राप्त होजातीं हैं, परन्तु उक्त बात सरस्वती में नहीं है; क्योंकि विद्याएँ दिन-रात अभ्यस्त की हुई होनेपर भी गुरुकुल की उपासना न करनेवाले पुरुष को उसप्रकार प्राप्त नहीं होतीं जिसप्रकार भोगी जानेवालीं आयुकी स्थितियाँ वृद्धिंगत नहीं होतीं।

÷'अस्थानस्थितमपि' क०। ‡'कारयत्येव A जनं' ग०।

A 'हृ क्रोरपि तथा कर्ता हनन्ते कर्म वा भवेत्। अभिवादिदृशोरेव आत्मने विषये परं' ॥१॥

इत्यभिधानात् कृ भुवः हनंतस्य द्विकर्मत्वं। इति टिप्पणी।

1. दृष्टान्त व आक्षेपालङ्कार।

नृपकरुणायाः कामं द्रविणकणाः संचरन्ति शरणेषु । न स्वाभिजात्यमेतत्पाण्डित्यं वा नृणां भवति ॥१८०॥

देव, तच्छून्येऽपि यत्क्वचित्पुंसि नभसि विद्युत इव विद्याविलसितम्, तद्धनस्य घनस्येव माहात्म्यान्नात्मनः ।

यतः । विद्यारसविहीनापि धीस्थली विभवातपात् । व्यलीकोत्कोत्तरङ्गेयं भवेन्मुग्धमृगप्रिया ॥ १८१ ॥

यदपि क्वचित्क्वचित्कलासु पयसि पतितस्य तैलबिन्दोरिवान्तर्व्याप्तिशून्यस्याप्यस्योपन्यासलाहसम्, तदपि *लक्ष्मीक-वलाभाशापाशस्खलितमतिमृगीप्रचारस्य दुर्भरजठरकुठारविनिर्भिन्नमानसारस्य हताहंकारस्य सरस्वतीपण्यपातकावसरस्य जनस्या-

क्योंकि मानवों की कुलीनता व विद्वत्ता उनके लिए धन-धान्यादि सम्पत्ति प्रदान नहीं करती किन्तु राजा की दया से ही मानवों (अधिकारी गणों) के गृहों में धन-धान्यादि विभूतियाँ संचार करती हैं। भावार्थ—उक्त बात 'शङ्खनक' नाम के गुप्तचर ने यशोधर महाराज से कही है। नीतिकारों[1] ने भी कहा है कि 'स्वामी की प्रसन्नता सम्पत्तियाँ प्रदान करती है न कि कुलीनता व विद्वत्ता—पण्डिताई'[2] ॥ १८० ॥

हे राजन्! जिसप्रकार आकाश में विजली का विलास (चमक) मेघों के प्रभाव से ही होता है न कि स्वयं उसीप्रकार आपके मन्त्री-सरीखे कुलीनता व विद्वत्ता से हीन भी जिस किसी पुरुष में विद्या का विलास (चमत्कार) पाया जाता है, वह उसके धन-प्रभाव से ही होता है न कि निजी प्रभाव से। भावार्थ—प्रकरण में 'शङ्खनक' नामका गुप्तचर यशोधर महाराज से कहता है कि हे राजन्! आपका 'पामरोदार' नाम का मन्त्री तिल-आदि की खली का संग्रह करनेवाले तेलियों के नीच कुल में उत्पन्न हुआ है एवं उसने गुरुकुल में रहकर विद्याभ्यास नहीं किया, अतः वह नीच कुल का और मूर्ख है, जिसे मैं पूर्व में कह चुका हूँ परन्तु उसपर लक्ष्मी की विशेष कृपा है, इसलिए कुलीनता व विद्वत्ता से हीन हुए उसमें जो कुछ विद्या-विलास पाया जाता है, वह उसप्रकार स्वाभाविक नहीं है किन्तु धन के माहात्म्य (प्रभाव) से उत्पन्न हुआ है जिसप्रकार आकाश में विजली का विलास स्वाभाविक न होता हुआ मेघों के प्रभाव से ही होता है।

धनाढ्यों की यह बुद्धिरूपी मरुस्थली विद्यारूपजल से रहित होने पर भी धन की गर्मी से असत्य वचनरूप उत्कट तरङ्गोंवाली होती हुई मूर्ख मनुष्यरूप हिरणों के लिए ही प्रिय लगती है न कि विद्वानों के लिए। भावार्थ—प्रकरण में 'शङ्खनक' नामका गुप्तचर यशोधर महाराज से कहता है कि जिसप्रकार मृगतृष्णा-वाली मरुस्थली जल-शून्य होने पर भी सूर्य की गर्मी से उत्कट तरङ्गशाली होती हुई मृगों के लिए प्रिय होती है उसीप्रकार 'पामरोदार' नाम के मन्त्री-सरीखे धनाढ्य पुरुषों की बुद्धिरूपी मरुस्थली भी विद्यारूपी जल से शून्य होती हुई धन की गर्मी से झूँठे वचनरूप उत्कट तरङ्गों से व्याप्त हुई मूर्ख मानवरूप हिरणों के लिए प्रिय होती है न कि विद्वानों के लिए[3] ॥१८१॥

हे राजन्! यह 'पामरोदार' नाम का मंत्री, जो कि आभ्यन्तर में कलाओं के अनुभव से उसप्रकार शून्य है जिसप्रकार जल में पड़ी हुई तैल-बिन्दु जल के भीतर-भाग के अनुभव (स्पर्श) से शून्य होती है। इसमें (मंत्री में) जो कहीं-कहीं वक्तृत्व व कवित्वादि कलाओं का वचन रचना-चातुर्य पाया जाता है, वह भी ऐसे बुद्धिदायक वक्तालोक के संगम-वश उत्पन्न हुआ है न कि इसके बुद्धि के उत्कर्ष (वृद्धि) द्वारा, जिसकी बुद्धिरूपी हिरणी की प्रवृत्ति (यथेच्छ संचार) लक्ष्मी-(धनादि सम्पत्ति) लेश की प्राप्ति संबंधी

* 'लक्ष्मीलवलाभास्खलितमतिमृगीप्रचारस्य' ग० ।

१. तथा च सोमदेवसूरिः—'स्वामिप्रसादः संपदं जनयति पुनराभिजात्यं पाण्डित्यं वा ।'

२. जाति-अलङ्कार। ३. रूपकालङ्कार। नीतिवाक्यामृत से संकलित—सम्पादक

कार्यान्न पुनर्बोधौदार्यात्। यतो देव, घटदासीनां हि वदनसौरभं स्वामिताम्बूलोद्गालान्न सौभाग्यबलात्, पवनस्य हि परिमलपेशलता प्रसूनवनसंसर्गान्नि निसर्गात्, दारुणो हि दाहदारुणता बृहद्भानुभावान्न स्वभावात्, मण्डलस्य हि भण्डनकण्डूलताधिपतिसंनिधानवशान्न शौर्यावेशात्, † उपलशकलस्य हि नमस्यता देवाकारानुभावान्न ‡ प्रकृतिभावात्। अपि च।

अबुधेऽपि बुधोद्गारे प्राज्ञानुज्ञा विजृम्भते। संस्कर्तुः कौशलाद्देति यतः काचोऽपि रत्नताम् ॥१८२॥

यत्पुनः सेवकलोकदौरात्म्यं प्रचिख्यापयिषुः किमप्यणकपदबन्धेन भगवतीं सरस्वतीं विधमति, तत्र यो हि स्वयमेवं निकायति स कथं नाम दुरात्मा स्यादिति परप्रतारणार्थम्। किं च।

आशा (वाञ्छा) रूपी जाल में बँधी हुई है। अर्थात्—जिस विद्या देनेवाले वक्तालोक की बुद्धिरूपी हिरणी अल्प धन की प्राप्ति की इच्छारूपी जाल में बँधी हुई होने के कारण अपना यथेच्छ विकास नहीं कर पाती और जिसका अभिमानरूप वृक्ष का मध्यभाग महान् कष्ट से भरण कीजानेवाली कुक्षि (पेट) रूपी कुल्हाड़े या परशु द्वारा विदारण किया गया है एवं जिसका अहँकार नष्ट होगया है तथा जिसे सरस्वती के बेचने के पाप का अवसर प्राप्त हुआ है।

हे राजन्! घड़ों को धारण करनेवाली दासियों के मुख में वर्तमान सुगन्धि निश्चय से उनके स्वामियों द्वारा चबाये हुए पान के उद्गीर्ण-(उगाल) भक्षण से ही उत्पन्न होती है न कि उनकी सौभाग्य शक्ति से। हे देव! वायु में वर्तमान सुगन्धि की मनोहरता निश्चय से पुष्पवाटी (फूलों की बाड़ी) के संसर्ग-वश ही उत्पन्न हुई है न कि स्वभावतः और काष्ठ (लकड़ी) में भस्म करने की रौद्रता (भयानकता) अग्नि-संयोग से ही उत्पन्न होती है न कि स्वभावतः एवं कुत्ते में लड़ाई करने की खुजली उसके स्वामी के संसर्ग-वश होती है न कि स्वाभाविक शूरता के आवेश से, इसीप्रकार हे राजन्! पाषाण-खण्ड में पाई जानेवाली पुरुषों द्वारा नमस्कार किये जाने की योग्यता देवताओं की प्रतिच्छाया के प्रभाव से होती है न कि स्वाभाविक प्रभाव-वश।

हे राजन्! मूर्ख मनुष्य में भी विद्वानों के वचन (कहने) से दूसरे विद्वानों की अनुमति का प्रसार होता है। अर्थात्—यदि विद्वान् लोग किसी मूर्ख मनुष्य को भी विद्वान् कह देते हैं तब दूसरे विद्वान् लोग भी कहते हैं कि 'यह वास्तव में विद्वान् ही है' इसप्रकार की अनुमति देने लगते हैं। क्योंकि संस्कार करनेवाले के विज्ञान से काँच भी रत्नता प्राप्त करता है। अर्थात्—जिसप्रकार शाणोल्लेखन-आदि संस्कार करनेवाले के विज्ञान-वश काँच रत्न होजाता है उसीप्रकार मूर्ख मनुष्य भी विद्वानों के कहने से विद्वानों द्वारा विद्वान् समझ लिया जाता है। प्रकरण में 'शङ्खनक' नामका गुप्तचर यशोधर महाराज से कहता है कि हे देव! प्रस्तुत 'पामरोदार' नामका मन्त्री स्वभाविक मूर्ख है परन्तु विद्वानों के वचन से उसप्रकार विद्वान बन रहा है जिसप्रकार काँच शाणोल्लेखन-आदि संस्कार करनेवाले के चातुर्य से रत्न होजाता है[1] ॥१८२॥

हे राजन् जो मन्त्री बार बार आपके समक्ष सेवक लोगों की दुष्टता कहने का इच्छुक होता हुआ निकृष्ट श्लोकों की रचना द्वारा जो कुछ थोड़ा सा परमेश्वरी वाणी को सन्तापित करता है, उसमें दूसरा ही कारण है। वह कारण यही है कि 'जो मन्त्री निश्चय से स्वयं इसप्रकार कहता है (सेवकों की दुष्टता का निरूपण करता है) वह किसप्रकार दुष्ट हो सकता है? अपितु नहीं हो सकता।' हे राजन्! उक्त प्रकार से दूसरों को धोखा देने के कारण ही वह ऐसा करता है।

† 'उपलस्य' क०। ‡ 'प्रकृतिप्रभावात्' क०।

१. दृष्टान्तालंकार।

आत्मनि विवेकविकलः प्रसिद्धिमात्रेण रज्यते सकलः। कैरव इव कमलेऽपि हि न श्रीः पूज्यं तथाप्यब्जम् ॥१८३॥
वृत्तं पुनरस्य पिण्याकपण्याङ्गनाजनस्येवालोकान्तोत्सर्गैरनेकशोऽनेकपाखण्डिलिङ्गिसंसर्गाविसर्गैरेव राजपथीकृतम्। यतः।
त्रैदण्डिकाहितुण्डिक*कापालिककौलिककौशिकव्रतकैः। कीर्तिर्जगति प्रसृता खरपटदीक्षाधिकैरस्य ॥१८४॥

यस्तु स्वास्थ्यावसरेष्वपि समृद्धदेशो हि महीशः कीनाश इवावश्यं करोति कामपि विकृतिमिति धूमकेतुरिवा×-

विशेष यह है कि हे राजन्! [संसार में] समस्त पुरुष, जो कि अपने में विचार-शून्य होता है (अमुक व्यक्ति शिष्ट है? अथवा दुष्ट है? इसप्रकार की विचार शक्ति से रहित होता है), दूसरे पुरुष के प्रति प्रसिद्धिमात्र से अनुराग प्रकट करता है। उदाहरणार्थ—जिसप्रकार श्वेत कमल में लक्ष्मी नहीं होती उसीप्रकार लालकमल में भी नहीं होती तथापि प्रसिद्धि-वश लालकमल ही पूज्य होता है न कि श्वेतकमल। भावार्थ—प्रकरण में 'शङ्खनक' नामका गुप्तचर यशोधर महाराज से 'पामरोदार' मंत्री के विषय में कहता है कि हे राजन्। जिसप्रकार श्वेतकमल व लाल-कमल इन दोनों में लक्ष्मी नहीं है तथापि लाल कमल ही प्रसिद्धि के कारण पूज्य व लोगों के अनुराग का पात्र होता है उसीप्रकार कुलीनता व विद्वत्ता-आदि की विशेषता से हीन (मूर्ख) 'पामरोदार' नामका मन्त्री भी प्रसिद्धि—ख्याति—वश लोक के अनुराग का पात्र होरहा है, क्योंकि प्रायः समस्त लोक विचार-शून्य होता है[1] ॥१८३॥

अथानन्तर 'शङ्खनक' नामका गुप्तचर यशोधर महाराज के प्रति 'पामरोदार' नामके मन्त्री का उक्त-प्रकार से वंश व विद्या का कथन करके उसकी चरित्र-हीनता का वर्णन करता है—

हे राजन्! इस 'पामरोदार' नामके मन्त्री का चरित्र तिल या सरसों की खली के खण्ड-सरीखे निकृष्ट वेश्याजन-सरीखा (निकृष्ट) है। अर्थात्—जिसप्रकार वेश्याजन खलखण्ड (तुच्छ पैसा) लेकर बहुमूल्य वस्तु (जवानी) नष्ट करता है उसीप्रकार यह भी तुच्छ लाँच घूँस-आदि लेकर बहुमूल्य राज्य की क्षति करता है। हे देव! जिसका अधम चरित्र आपके समक्ष अनेक पाखण्डियों (चार्वाक-आदि) की संगति करनेवाले और आर्य व म्लेच्छ देशों में घूमनेवाले गुप्तचरों द्वारा अनेक वार प्रकट किया गया है।

हे राजन्! इस 'पामरोदार' नाम के मन्त्री की कीर्ति नानाप्रकार के ऐसे गुप्तचरों द्वारा संसार में व्याप्त होरही है, जो कि त्रैदण्डिक (शैवलिङ्गी अथवा त्रिकमत के अनुयायी होकर तापसी का वेषधारक गुप्तचर), आहितुण्डिक (सर्प के साथ क्रीड़ा करने में चतुर अथवा सपेरे का वेष-धारक गुप्तचर), कापालिक (एक उपसम्प्रदाय, जिसके अनुयायी लोग अपने पास खोपड़ी रखते हैं और उसी में रींधकर या रखकर खाते हैं उसका वेषधारक गुप्तचर), कौलि (वाममार्गी या पाखण्डी वेषधारक गुप्तचर) और कौशिक (तन्त्रशास्त्र में कही हुई युक्तियों द्वारा मन में आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला ऐन्द्रजालिक का वेष-धारक गुप्तचर) हैं और इनके कुत्सित व्रतों को धारण करनेवाले हैं तथा जो खरपटों (हिंसा-समर्थक सम्प्रदाय विशेष) की दीक्षा से अधिक हैं[2] ॥ १८४ ॥

हे राजन्! जो मन्त्री प्रजा के सुख-समय में भी इसप्रकार विचारकर कि 'समृद्धिशाली देशवाला राजा निश्चय से उसप्रकार कोई उपद्रव उपस्थित करता है जिसप्रकार यमराज उपद्रव उपस्थित किया करता है' निर्दोष देश को भी उसप्रकार पीड़ित कर रहा है जिसप्रकार अग्नि का उत्पात—उपद्रव—पीड़ित करता है। इसीप्रकार हे राजन्! वह मन्त्री इसप्रकार सोचकर कि 'निश्चय से ऐसा राजा, जिसके पक्ष

* 'उक्त शुद्धपाठः क० प्रतितः संकलितः। मु. प्रतौ तु 'कापालिककौशिकव्रतकैः' पाठः। विमर्शः—मु० प्रतिस्थ-पाठेऽष्टादशमात्राणामभावेन छन्द—(आर्या) भङ्गदोषः—सम्पादकः। × 'अनपराधपदमपि' क०।

१. दृष्टान्तालंकार। २. अपकृष्ट-समुच्चयालंकार।

नपराधमपि जनपदं पीडयति, प्रभूतपक्षबलो हि भूपालः शैल इव कस्य भवति वश इत्यनुरक्तमतीरपि प्रकृतीरसमञ्जसयति, कृशकोशको हि धरेशः क्षपितपक्षः पक्षीव भवेत्सुखसाध्य इति धनं निधनयति, व्यसनव्याकुलितो हि राजसुतो व्याधित इव न जातु विकुरुते पुरश्चारिष्विति द्विषतः प्रोत्कर्षयति, ‡पक्षारक्षो हि क्षितिपतिः करिपतिरिव न स्यात्परेषां विषय इति न कमप्यभिजातं सहते, स किल प्राणप्रतीकारेषु स्वापतेयोपकारेषु वा विधुरेषु भवितोपकर्तेति को नाम श्रद्दधीत। यतः।

स्वस्थावस्थायामपि योऽनर्थपरम्परार्थमीहेत। स कथं विधुरेषु पुनः स्वामिहिते चेष्टतेऽमात्यः ॥१८५॥

तस्माद्देव, कर्णकटुकमपीदमेवमवधार्यताम्।

अपि त्वामतिवाह्यैष यथातीतान्महीपतीन्। तूरीवान्याश्रयस्थायी लञ्चालुञ्चानिशाचरः ॥ १८६ ॥

अन्यथा। तत्तन्नृपतिसंगीर्णविनिर्वाहपरा नराः। कथं पत्यन्तरं यान्ति कान्ता इव *कुलोद्गताः ॥१८७॥

(अमात्य व सेनापति-आदि अधिकारीवर्ग) की शक्ति महान् है, पर्वत के समान किसके अधीन होसकता है? अपितु किसी के अधीन नहीं होसकता' अनुराग करनेवाली बुद्धि से व्याप्त हुई प्रकृति (अमात्य-आदि अधिकारी-गण व प्रजा के लोग) को अन्याय करने में तत्पर कर रहा है। वह इसप्रकार सोचकर कि 'निश्चय से अल्प कोशवाला (निर्धन) राजा उसप्रकार सुख-साध्य (विना कष्ट किये हस्तगत होनेवाला) होजाता है जिसप्रकार लोंच लिए गये हैं पंख जिसके ऐसा पक्षी सुख-साध्य होता है' राजकीय धन नष्ट कर रहा है। हे राजन्! वह ऐसा निश्चय करके कि 'निश्चय से व्यसनों (युद्ध-आदि की कष्टप्रद अवस्थाओं) से व्याकुलित हुआ राजपुत्र सचिव-आदि अधिकारियों पर कभी भी उसप्रकार उपद्रव नहीं कर सकता जिसप्रकार व्याधि-पीड़ित (रोग-ग्रस्त) हुआ राजा उपद्रव नहीं कर सकता' शत्रुओं को बलवान् कर रहा है एवं जो मन्त्री ऐसा सोचकर कि 'निश्चय से पक्ष (कुल या अमात्य-आदि सहायक अथवा पल्टन) की चारों ओर से रक्षा करनेवाला राजा निश्चय से प्रशस्त हाथी के समान दूसरों (श्रेष्ठी व सामन्त-आदि) द्वारा वश में नहीं किया जासकता' किसी भी कुलीन पुरुष को सहन नहीं करता। अर्थात्—उससे ईर्ष्या या द्वेष करता है। हे राजन्! निश्चय से उक्तप्रकार प्रजा-आदि को पीड़ित करना-आदि दुर्गुणों से युक्त हुआ वह 'पामरोदार' नाम का मन्त्री 'प्राण-रक्षा के अवसरों पर और धन देकर उपकार करने के समयों पर अथवा व्यसनों (कष्टों) के अवसरों पर उपकार करनेवाला होगा' इस बात पर कौन श्रद्धा करेगा? अपितु कोई नहीं करेगा।

क्योंकि हे राजन्! सुख के अवसर पर भी दुःख-श्रेणी देने के हेतु चेष्टा करनेवाला वह मन्त्री व्यसनों (संकटों) के अवसर पर स्वामी के हित-निमित्त क्यों चेष्टा करेगा? अपितु नहीं करेगा[1] ॥१८५॥ इसलिए हे राजन्! आप कानों के लिए शूलप्राय मेरा निम्नप्रकार का वचन निश्चय कीजिए—

हे राजन्! लाँच-घूँस ग्रहण करने में राक्षस-सरीखा यह मन्त्री पूर्व में उत्पन्न हुए यशोर्घ-आदि राजाओं के समान आपको भी धोखा देकर उसप्रकार दूसरे राजाओं के मन्दिर में स्थित होगा जिसप्रकार मृदङ्ग बजानेवाला मानव दूसरे नृत्य करनेवाले की अनुकूलता से मृदङ्ग बजाता है। अर्थात्—जिसप्रकार मृदङ्ग बजानेवाला मानव दूसरे नर्तक के नृत्य की अनुकूलता का आश्रय लेता है उसीप्रकार यह मंत्री भी दूसरे राजाओं के मन्दिर का आश्रय लेगा[2] ॥ १८६ ॥ अन्यथा (यदि उक्तप्रकार नहीं है तो) ऐसे किंकर लोग, जो कि उन उन जगत्प्रसिद्ध राजाओं द्वारा प्रतिज्ञा किए हुए सेवाफल में उसप्रकार तत्पर रहते हैं जिसप्रकार कुलीन स्त्रियाँ अपने पतियों की सेवा में तत्पर होती हैं, दूसरे राजा के पास किसप्रकार जाया करते हैं[3] ॥ १८७ ॥

---

‡ अयं शुद्धपाठः क० ख० ग० प्रतितः समुद्धृतः। मु. प्रतौ तु 'एकारक्षो हि' पाठः परन्त्वत्रार्थसङ्गतिर्न घटते, अथवा कष्टेन घटते—सम्पादकः। * 'कुलोद्भवाः' क०। १. आक्षेपालंकार। २. रूपक व अनुमानालंकार। ३. उपमालङ्कार।

देव, नितान्तं संवृतचित्तस्यापि दुर्वृत्तस्य प्रमादेन प्रमोदमदाभ्यां निद्रोद्रेकेण वातिरहस्योदयमपि हृदये भवत्यवश्यं प्रकटाशयम्। अतश्च यः खलु[1] दृढदुष्टवासनाभ्यासप्रकर्षाद्‌दुषायामेवमुत्स्वनति स कथं नाम दैवदोषेण दुर्विलसितोन्मेषेण वा प्रकल्पितसैन्येषु व्यसनेषु सहचारी संभाव्येत। तथाहि।

यौ स्वास्थ्याय समीहेते व्याधितस्य नृपस्य च। स्वार्थसिद्धिनिरोद्धारौ धिग्धिक्तौ वैद्यमन्त्रिणौ ॥१८८॥

व्याधिर्व्यसनवृद्धिश्च गोपे भूपे च नास्ति चेत्। न धेनुः कामधेनुश्च वैद्यस्य सचिवस्य च ॥१८९॥

तथा। अशुभस्य कालहरणं नृपतेर्व्यसनं नियोगिनां कलहम्। तन्त्रस्य वृत्तिविनिमयमारभमाणः सुखी सचिवः ॥१९०॥

शौर्यं चास्य निगदेन व्याख्यातम्। यतः।

वणिजि च भिषजि च शूरः शौण्डीरो दुर्बले च विकले च। कपिरिव निभृतस्तिष्ठति रणशौण्डे चण्डदण्डे च ॥१९१॥

हे राजन्! विशेषरूप से गुप्तचित्तवाले भी दुराचारी का अत्यन्त गुप्त पाप भी उसकी असावधानता, हर्ष, अहँकार अथवा निद्रा की अधिकता के कारण मन में अवश्य प्रकट अभिप्राय-युक्त होजाता है, इसलिए जो मन्त्री विशेष शक्तिशाली व पापमय वासना के वार-वार अनुशीलन (अभ्यास) की विशेषता से रात्रि में सोया हुआ निम्नप्रकार बोलता है, वह (मंत्री) ऐसे व्यसनों (संकटों) के अवसरों पर किसप्रकार आपको सहायता देनेवाला संभावित होसकता है? अपि तु नहीं होसकता, जिनमें (जिन व्यसनों में) कुभाग्य-दोष के कारण अथवा दुराचार की उत्पत्ति के कारण [शत्रु-पक्ष की ओर से] हाथियों के समूह-आदि की सेना का निर्माण किया गया है।

अब 'शङ्खनक' नाम का गुप्तचर यशोधर महाराज के प्रति प्रस्तुत 'पामरोदार' नाम के दुराचारी मन्त्री द्वारा रात्रि में स्वप्नावस्था में कही हुई बात कहता है—

'जो वैद्य और मन्त्री क्रमशः रोगी की निरोगिता-हेतु व राजा को सुख-प्राप्ति के निमित्त चेष्टा (प्रयत्न) करते हैं, उनके लिए वार-वार धिक्कार है, क्योंकि वे अपनी प्रयोजन-सिद्धि (धन-प्राप्ति) रोकनेवाले हैं[2] ॥१८८॥ यदि गायों के रक्षक (गोकुल के स्वामी) में बीमारी नहीं है और राजा में व्यसनों (मद्यपान-आदि) की वृद्धि नहीं है तो उसके (गोप के) वैद्य के लिए वह गाय नहीं है (क्योंकि वैद्य को उससे धनप्राप्त नहीं होता) और मन्त्री के लिए राजा कामधेनु नहीं है। [क्योंकि मन्त्री के लिए राजा से धन-प्राप्ति नहीं होती ॥१८९॥

हे राजन्! इसीप्रकार वह स्वप्नावस्था में कहता है—कि ऐसा मन्त्री सुखी होता है, जो राजा के ऊपर कष्ट आने के अवसर पर काल-क्षेप (काल-यापन) करता है। अर्थात्—राजा का चिरकाल तक अनिष्ट होता रहे ऐसा करता है और जो राजा को मद्यपान-आदि व्यसनों में फँसाता हुआ मन्त्री-आदि अधिकारियों के साथ कलह करता है एवं जो सेना की जीविका का नियन्त्रण (रोकना) करता है। अर्थात्—जो सेना का वेतन रोककर उसे कुपित करता है[3] ॥१९०॥

हे राजन्! प्रस्तुत मन्त्री में कितनी शूरता (बहादुरी) है, यह निम्नप्रकार लोकप्रसिद्धि से ही प्रकट ही है।

क्योंकि जो मन्त्री व्यापारी वैश्य और वैद्य के साथ शूरता (बहादुरी) दिखाता है और जो दुर्बल तथा लूले-लगड़े-आदि हीनशरीर-वालों में शौण्डीर (त्याग व पराक्रम से प्रसिद्ध) है एवं जो युद्ध करने में मतवाले प्रचण्ड सैन्य के सामने बन्दर-सरीखा नम्रता और मौन-धारण करता हुआ स्थित रहता है[4] ॥ १९१ ॥

---

१. 'दृढदुष्ट' क०। २. यथासंख्यालङ्कार। ३. दीपकालंकार। ४. उपमालंकार।

देव, सरलस्वभावस्य देवस्यामात्यदैत्यानामाकल्पोदम्भः प्रतिक्रियाप्रपञ्चश्च साधुतायोगेऽनुरागे च कारणम्। तत्र चामीषामेतत्तात्पर्यम्। तथाहि—सत्पुरुषपृषतवधाय व्याधस्याखिलाङ्गसंवरणं पत्रावरणमिवामात्यजनस्य लम्बाञ्चलकं चोलकम्, मुग्धमीनबन्धनाय इव महाकायः कूर्चकेशनिकायः, कपटबकोटपेटकघटनाय सर इवोदारमुदरम्, परव्यसनान्वेषणाय मृगधूर्तस्येव मन्दमन्दाचारः पादप्रचारः, कथमेते खलु पातालस्थाः करस्था मम भविष्यन्ति शेषशिखामणय इति लुण्टाकतयेव मुहुर्मुहुर्जलेषु निमज्जनम्, कदाऽमी गगनचराः कदनकन्दुकविनोदकरा मम भविष्यन्ति रविरथतुरङ्गा इत्यपजिहीर्षयेवादित्यपोपासनम्, अरे हुताश हुताश, मयि सत्याश्रयाशे सर्वाशे च कथं नाम तन्नामवान्भवानितीर्ष्ययेवाहुतिमिषेण विषमरोचिताडनम्, सुप्रयुक्तस्य दम्भस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छतीति मनीषया साधुजनशकुनिहननाय द्वीपिद्विजोद्दीपनमिव देवतार्चनम्, कियन्तो मया महान्तः प्रतारिताः कियन्तो नाद्यापीति संभालनायेव जपव्यवसायः, कुशलशकुलाशनाय बकस्येव

हे राजन्! सरल (अकुटिल) प्रकृतिशाली आपके मन्त्रीरूपी राक्षस जो कषायले (गेरुआ) रंगवाले वस्त्रादि का वेष धारण करते हैं और स्वामी के ऊपर आनेवाली विपत्तियों से बचने के उपायों का विस्तार करते हैं, उक्त दोनों बातें उनको सज्जनता की प्राप्ति में एवं राजा को उनके ऊपर प्रसन्न करने में कारण हैं। हे राजन्! उन कषायले रंगवाले वस्त्रादिका वेष धारण करने-आदि में इन मन्त्रियों का निम्नप्रकार रहस्य (गुप्त अभिप्राय) है—

हे राजन्! आपका अमात्यजन, जो कि सज्जन पुरुषरूपी हिरणों का उसप्रकार बध करता है जिसप्रकार बहेलिया हिरणों का बध करता है एवं उनका घात करने के लिए वह समस्त शरीर को आच्छादित करनेवाला, वर्षा से बचानेवाला एवं लम्बे प्रान्त भागवाला चोलक (पहिरने का शुभ्र अँगरखा) पहिनता है। हे राजन्! जिसप्रकार जाल मछलियों के बाँधने में समर्थ होता है उसीप्रकार आपके मन्त्री का विशाल दाढ़ी के बालों का समूह भी मूर्ख पुरुषरूपी मछलियों के बांधने में समर्थ है। आपके इस अमात्यजन का विशाल उदर (पेट) कपटी पुरुषरूपी बगुलों के समूह के उद्योग करने का उसप्रकार स्थान है जिसप्रकार तालाब बगुलों के झुण्ड के घात करने के उद्योग का स्थान होता है। हे राजन्! यह मन्त्रीजन दूसरे राजकर्मचारियों के व्यसनों (मद्यपान-आदि बुरी आदतों या अवस्थाओं) के देखने के लिए उसप्रकार धीरे धीरे संचार करनेवाले पैरों से गमन करता है जिसप्रकार शृगाल (गीदड़) धीरे धीरे संचरणवाला पैर-संचार करता है। हे राजन्! जल में बार बार डुबकी लगाता हुआ आपका अमात्यजन ऐसा प्रतीत होता है—मानों—'ये शेषनाग की फणा में स्थित हुए रत्न किसप्रकार मेरे हस्तगत होंगे? इसप्रकार सोचता हुआ चोर ही आभूषणों की प्राप्ति-हेतु जल में डुबकी लगा रहा है। हे राजन्! यह अमात्यजन जो श्री सूर्य की उपासना करता है, वह मानों—इसलिए ही करता है कि 'निश्चय से ये आकाश में संचार करनेवाले सूर्य-रथ के घोड़े, जो कि युद्धरूपी गैंद से क्रीड़ा करनेवाले हैं, कब मुझे प्राप्त होंगे? इसप्रकार उन्हें अपहरण करने की इच्छा से ही ऐसा कर रहा है। हे राजन्! जो मन्त्रीजन निम्नप्रकार की ईर्ष्या से ही मानों—आहुति देने के बहाने से अग्नि ताड़ित कर रहा है कि 'हे भाग्य-हीन अग्नि! जब मैं (मंत्री) आश्रयाश (जिस स्थान से उत्पन्न हुआ उसका भक्षक) और सर्वाश (समस्त का भक्षण करनेवाला) मौजूद हूँ तब तुम उस नामवाले आश्रयाश और सर्वाश किसप्रकार हो सकते हो? अपितु नहीं हो सकते।' इसप्रकार अग्नि से ईर्ष्या करने के कारण ही मानों—आहुति के बहाने से अग्नि को ताड़ित कर रहा है। हे राजन्! 'अमात्यजन द्वारा युक्तिपूर्वक किये हुए छल-कपट का पार जब ब्रह्मा भी नहीं पासकता तब दूसरे का तो कहना ही क्या है।' इस बुद्धि से ही उसकी देवपूजा मानों—सज्जन पुरुषरूपी चटक-आदि पक्षियों के घात करने के लिए बाज पक्षी का पोषण ही है। कितने सत्पुरुष मेरे द्वारा धोखे में डाले गए? और कितने नहीं डाले गए? इसप्रकार स्मरण करने के लिए ही मानों—जिस मन्त्री का जप-व्यापार

ध्यानपरता, चतुरवञ्चनाय ‡वकस्येव धर्मागमपाठः, परलोकगतिभङ्गाय निगलजालस्येव गुरुचरणोपचारः, शाकिनीजनस्येव सेवकेषु जीवितविनाशाय प्रियंवदता, अविज्ञातान्तस्तत्त्वस्य शुष्कसरःसेतोरिव क्लेशाय प्रियालोकता। अपि च।

बहिरविकृतवेषैर्मन्दमन्दप्रचारैर्निभृतनयनपातैः साधुताकारसारैः।
निकृतिनयविनीतैश्चान्तरेतैरमात्यैस्तिमय इव बकोटैर्वञ्चिताः के न लोकाः ॥१९२॥

देव, अप्सरसामिवामरेषु नरेष्वपि किल खलानां चतुर्दश कुलानि पुरा प्रादुर्बभूवुः। तत्र तावत्प्रथमं प्रमथनाथकण्ठालंकारनिकटात्कालकूटात्प्रादुरासीत्, द्वितीयं द्विजिह्वेभ्यः, तृतीयं तृक्षात्मजतुण्डचण्डतायाः, चतुर्थं चतुर्थीचन्द्रात्, पञ्चमं पञ्चतानुचरेभ्यः, षष्ठं षट्प्रज्ञपादपरागात्, सप्तमं सप्तांशोः, अष्टममनिष्टविष्टपात्, नवमं नरकारिमायायाः, दशमं दशलोचनदंष्ट्राङ्कुरात्, एकादशमेकान्ताकृत्येभ्यः, द्वादशं द्वापराभिप्रायपातकात्, त्रयोदशं त्रपोत्तप्तेः, चतुर्दशं च

है। जो मन्त्री विद्वान् रूपी मछलियों के भक्षणार्थ उसप्रकार ध्यान में लीन रहता है जिसप्रकार बगुला मछलियों के भक्षणार्थ ध्यान में लीन रहता है। बगुले के समान अथवा पाठान्तर में ठग-सरीखे जिस मन्त्री का विद्वानों के प्रतारणार्थ (ठगने के हेतु) स्मृतिशास्त्र का पठन है। स्वर्ग-गमन रोकने के लिए शृङ्खला-(सांकल) समूह समान जिसकी गुरु-पाद-पूजा है। जो डाँकिनी-जन के समान सेवकों की जीविका नष्ट करने के लिए उनसे मधुर भाषण करता है और जो प्रस्तुत मंत्री, जिसके आभ्यन्तर मर्म की परीक्षा नहीं की गई है और जो सूखे तालाब पर पुल बाँधने के समान है, अर्थात्—जल के बिना पुल क्या करेगा? अपि तु कुछ नहीं करेगा, दूसरों को कष्ट देने के निमित्त मधुर दृष्टिपूर्वक देखता है।

हे राजन्! जिसप्रकार ऐसे बगुलों द्वारा, जो बाह्य में उज्वल व आभ्यन्तर में पापी (मायाचारी) हैं, जो मन्द-मन्द गमन-शील व निश्चल नेत्रशाली हैं तथा बाह्य में जिनकी आकृति सुन्दर प्रतीत होती है परन्तु जो आभ्यन्तर में मायाचारी हैं, मछलियाँ वञ्चित कीजाती हैं—धोखे में डाली जाती हैं उसीप्रकार ऐसे मन्त्रियों द्वारा, जो बाह्य में शुक्ल वेष के धारक हैं, जो धीरे-धीरे गमन करते हुए निश्चल-नेत्रों से देखते हैं, जो सज्जनता के आभास से बलवत्तर हैं एवं जो मायाचार की नीति (बर्ताव) में शिक्षित हैं, कौन-कौन से लोक वञ्चित नहीं किये गये? अपि तु समस्त लोक वञ्चित किये गए—धोखे में डाले गए[1] ॥ १९२ ॥

अब 'शङ्खनक' नाम का गुप्तचर यशोधर महाराज से निम्नप्रकार दुष्टों के १४ कुल व उनकी उत्पत्ति का कथन करता हुआ प्रस्तुत 'पामरोदार' मंत्री को दुष्ट प्रमाणित करता है—

हे राजन्! जिसप्रकार देवों में देवियों के चौदह कुल होते हैं उसीप्रकार मनुष्यों में भी दुष्टों के चौदह कुल पूर्व में प्रकट हुए हैं। उनमें से १. दुष्टकुल उस हालाहल विष से उत्पन्न हुआ था, जो कि पिशाचों के स्वामी (श्री महादेव) के कण्ठाभूषण के समीप वर्तमान है। २. दुर्जन-कुल सर्पों से उत्पन्न हुआ है। ३. दुष्टकुल गरुड़ के चञ्चुपुट की चण्डता से प्रकट हुआ है। ४. खलकुल चतुर्थी-चन्द्र से उत्पन्न हुआ है; क्योंकि चतुर्थी का चन्द्र कलहप्रिय होता है। ५. खल-कुल-यमराज के किङ्करों से और ६. दुष्टकुल विटों या धूर्तों की पाद-धूलि से उत्पन्न हुआ है। ७. दुष्टकुल अग्नि से और ८. दुष्ट-कुल नरक से प्रकट हुआ। इसीप्रकार ९. दुष्टकुल श्रीनारायण की माया से और १०. दुष्टकुल यमराज की दाढ़रूप अङ्कुर से उत्पन्न हुआ है। ११ वें की उत्पत्ति एकान्त मत के पापों से हुई और १२ वें की उत्पत्ति संशय मिथ्यात्वरूप पाप से हुई एवं १३ वाँ दुष्टकुल लज्जा की उत्कट गर्मी से और १४ वाँ दुष्टकुल दूसरों

‡ 'ठकस्येव धर्मागमः पाठः' क० ग०। १. उपमा व आक्षेपालंकार।

चक्रिकाचक्रेभ्यः। अन्यत्पुनस्तमसः, यतः समभून्नभसि कुम्भिनां केसरीवाकारणवैरी ग्रहाणां राहुः। परं‡ खण्डपरश्वायुधस्य साधनसमृद्धिसमये द्रुहिणदामोदरकन्दलात्, यस्मादजायत विद्वेषभेषजवज्जगद्विप्रीतिरतिदोहदो नारदः। परं वज्रविद्युन्निर्मन्थनात्, यतोऽभवदम्भोधिषु सलिलसत्त्वसंहारप्रबलो वडवानलः। तथैकं दितेः, यतः समुदपादि निखिलेष्वपि भुवनेषु स्वयंभुवो वरप्रदानात्सद्धर्मकर्मोत्सेकानां लोकानां प्रतारकस्तारको नामासुरः। संप्रति तु भवादृशैर्महामहीशैः कलिकालस्यातीवतुच्छीकृतत्वादनुत्तमसत्त्वतयायमेक एवामीषामष्टादशानामपि खलकुलानां भारमाचारं च बिभर्ति। ततः कथं नाम स्वप्नेऽप्यस्य साधुता संभाव्येत। अपि च।

असुरमयस्तिमिरमयः स्तेनाकारोऽपि कौणपाकारः। देव दिवापि प्रभवति सचिवजनो *यस्तदाश्चर्यम् ॥१९३॥

दूराद्दीर्घमवेक्षणं † सरभसः प्रीतिक्रमः संभ्रमः प्रत्यासन्नमथासनं प्रियकथा‡चारे महानादरः।
बाह्योऽयं सचिवेषु चेष्टितविधिः कामं न कं मोदयेच्चित्तेहा तु न जातु मार्दवमयी मन्ये जनन्यामपि ॥१९४॥

को ठगने के उपाय-समूहों से उत्पन्न हुआ। इसीप्रकार १५ वाँ दुष्टकुल उस अन्धकार से उत्पन्न हुआ, जिससे उत्पन्न हुए दुष्टकुल से ऐसा राहु प्रकट हुआ, जो कि सूर्य और चन्द्रमा-आदि का उसप्रकार बिना कारण का शत्रु है जिसप्रकार सिंह हाथियों का स्वाभाविक शत्रु होता है और १६ वाँ दुष्टकुल खण्डपर आयुधऽ (रुद्र) के वशीकरण के अवसर पर होनेवाले ब्रह्मा और विष्णु के युद्ध से उत्पन्न हुआ, क्योंकि उसी सोलहवें दुष्टकुल से ऐसा नारद, जिसका मनोरथ पृथिवीमण्डल संबंधी विप्रीति (संग्राम) होने में अनुराग-युक्त है, उसप्रकार उत्पन्न हुआ था जिसप्रकार कडवी औषधि विप्रीति (द्वेष) उत्पन्न करती है एवं १७ वाँ दुष्टकुल उस वज्र व विद्युत (बिजली) के निर्मन्थन (रगड़) से उत्पन्न हुआ है, जिससे समुद्र में जलचर जीवों को प्रलयकाल के समान प्रलय (नष्ट) करने की शक्ति रखनेवाली बड़वानल अग्नि पैदा हुई। उसीप्रकार एक दुष्टकुल दिति (राक्षसी विशेष) से उत्पन्न हुआ और जिस (दुष्टकुल) से ऐसा तारकासुर उत्पन्न हुआ, जो कि समस्त लोक में ब्रह्मा का वरदान पाने से समीचीन धर्म में तत्पर रहनेवाले लोगों को धोखा देता था। इस समय आप सरीखे महान् राजाओं द्वारा कलिकाल का प्रभाव विशेष रूप से तुच्छ कर दिया गया है, जिसके फलस्वरूप सर्वोत्कृष्ट शक्तिशाली होने के कारण यह 'पामरोदार' नाम का मन्त्री अकेला ही पूर्वोक्त अठारह प्रकार के दुष्टकुलों का भार और आचार (दुष्ट वर्ताव) धारण कर रहा है, इसलिए इसमें स्वप्नावस्था में भी फिर जाग्रदवस्था का तो कहना ही क्या है, साधुता (शिष्टपालन-आदि परोपकारिता) की संभावना किसप्रकार की जासकती है? अपि तु नहीं की जासकती। क्योंकि—

हे राजन्! आपका मन्त्रीलोक दैत्यमय, अन्धकारमय, चौरमूर्ति व राक्षसमूर्ति होता हुआ भी जो दिन में धोखेबाजी करने में समर्थ होता है, यही आश्चर्य की बात है। अर्थात्—उक्तप्रकार का क्रूर रात्रि में ठगता है जब कि आपका मन्त्री दिन में ठगता है, यही आश्चर्यजनक है[1] ॥ १९३ ॥

हे राजन्! दूर से विशाल दृष्टि डालना, विशेष वेगपूर्ण प्रेम का अनुक्रम (परिपाटी), विशेष आदर करना और तत्पश्चात् समीप में आसन देना एवं मधुर वार्तालाप करने में विशेष आदर करना, इसप्रकार आपके

‡ 'खण्डपरशुरायुधं यस्य स तस्य। भगवतः शङ्करस्य खण्डपरशुरेवायुधत्वेन प्रसिद्धो न तु खण्डपरश्वधरूपः कश्चनायुधविशेषोऽतएव मु. प्रतिस्थपाठात् ('खण्डपरश्वधायुधस्य') धकारो निस्सारितः' 'खण्डपरश्वायुधो रुद्रः' इति क० प्रतौ टिप्पण्यपि प्रामाणिकी वरीवर्ति—सम्पादकः। * उक्त शुद्धपाठः क० प्रतितः संकलितः। मु. प्रतौ तु 'यत्तदाश्चर्यम्'। † 'सरभसं' क०। ‡ 'चारो' क०। ऽ 'खण्डपरश्वायुधो रुद्रः' क०। १. व्यतिरेक व उपमालंकार।

हे त्रैलोक्यनिकेतवास भुवनोदन्ते त्वमेवाहतस्ततस्सत्यं कथयेदमेष भवतः पादप्रणामः कृतः।
कैः काठिन्यकणैर्विधिः प्रविदधे दुश्चारिणो मन्त्रिणो येनैतन्मृदुताकृतौ विधिमहं प्रह्लाद्य I तानाश्रये ॥१९५॥
चातुर्यं वञ्चनोदञ्चे + लञ्चालुञ्चे च मन्त्रिणाम्। राज्ञोऽन्य एव ते भृत्याः समरे विधुरे च ये ॥१९६॥
सचिवचरितं तत्रैवैतत्प्रशाम्यति भूपतौ भवति य इह न्यायान्यायप्रतर्कणकर्कशः।
सदयहृदये मन्दोद्योगे तदात्वसुखोन्मुखे स्त्रिय इव नृपे दृप्ता भृत्याः कथं न विकुर्वते ॥१९७॥
तथा च। प्रकृतिविकृतिः कोशोत्क्रान्तिः प्रजाप्रलयागतिः स्वजनविरतिर्मित्राप्रीतिः कुलीनजनास्थितिः।
कुसचिवरते राजन्येतद्ध्रुवं ननु जायते तदनु स परैर्दायादैर्वा बलादवलुप्यते ॥१९८॥
देव, संजातराजसुतसमागमापीयं लक्ष्मीर्व्यासाश्रयपादपा लतेव न जातु तदन्तराविहितस्पृहावतिष्ठते।

मन्त्री में पाया जानेवाला उक्तप्रकार का वाहिरी कर्तव्य-विधान किस पुरुष के हृदय में अत्यन्त प्रसन्नता उत्पन्न नहीं करता? अपि तु सभी में प्रसन्नता उत्पन्न करता है परन्तु मैं जानता हूँ कि आपके मन्त्री की हृदय-चेष्टा (अभिप्राय) उसकी माता में भी कभी भी मार्दवमयी—विनयशील—नहीं है[1] ॥ १९४ ॥ अब 'शङ्खनक' नाम का गुप्तचर वासुदेव (विष्णु) से पूँछता है—हे जगदाधार! तीन लोक के वृत्तान्त में आप ही सन्मान के पात्र हो, अतः आप मेरा एक वचन सत्य कहिए, क्योंकि मैंने आपके चरण कमलों में प्रणाम किया है। ब्रह्मा ने कौन से निर्दयी परमाणुओं द्वारा इन दुराचारी मन्त्रियों की सृष्टि की? जिससे इन मन्त्रियों को कोमल प्रकृतिशाली बनाने के लिए मैं सृष्टिकर्ता को आनन्दित करके उन मन्त्रियों की पूजा करूँ[2] ॥ १९५ ॥ मन्त्रीलोग विशेष धोखा देने में और लाँच खाने में चतुर होते हैं परन्तु युद्ध के अवसर पर और कष्ट पड़ने पर सहायता देनेवाले जगत्प्रसिद्ध सेवक (अधिकारीवर्ग) राजा के दूसरे ही होते हैं[3] ॥ १९६ ॥ वही राजा मन्त्रियों का दुष्ट आचार शान्त कर सकता है, जो कि इन मन्त्रियों के न्याय व अन्याय-युक्त कार्यों के विचार में कठोर है। अर्थात्—न्याय-युक्त कर्तव्य-पालन करनेवाले मन्त्रियों के लिए धनादि देकर सन्मानित करता है और अन्यायी दुष्ट मन्त्रियों के लिए कठोर दंड देता है। इसके विपरीत दयालु हृदय, आलसी और क्षणिक सुखों में उत्कण्ठित हुए राजा के प्रति मदोन्मत्त हुए मन्त्रीलोग किसप्रकार से उसप्रकार विकृत (उपद्रव करनेवाले) नहीं होते? अपि तु अवश्य विकृत होते हैं जिसप्रकार स्त्रियाँ दयालु, आलसी एवं तात्कालिक विषयसुख में लम्पट हुए राजा के प्रति विकृत (उच्छृङ्खल) होजाती हैं[4] ॥ १९७ ॥ दुष्टमन्त्रीवाले राजा के राज्य में निश्चय से निम्नप्रकार के अनर्थ अवश्य होते हैं। १. अमात्य-आदि अधिकारीवर्ग व प्रजा के लोग उच्छृङ्खल होजाते हैं। २. खजाने का धन नष्ट होजाता है। ३. प्रजा नष्ट होजाती है। ४. कुटुम्ब विरुद्ध होजाता है। ५. मित्र शत्रुता करने लगते हैं। ६. कुलीन पुरुष दूसरे देश को चले जाते हैं। ७. तत्पश्चात् वह राजा शत्रुओं और दायादों† (पुत्र व बन्धुजनों) द्वारा बलात्कार पूर्वक नष्ट कर दिया जाता है[5] ॥ १९८ ॥

हे राजन्! यह राज्यलक्ष्मी राजपुत्र का आलिङ्गन करती हुई भी उसप्रकार दूसरे राजा के साथ आलिङ्गन करने की इच्छा करती हुई स्थित रहती है जिसप्रकार निकटवर्ती वृक्ष का आश्रय करनेवाली लता दूसरे वृक्ष का आश्रय करने की इच्छा करती हुई स्थित रहती है।

I 'तामाश्रये' क०। + 'उक्त शुद्धपाठः क० प्रतितः समुद्धृतः। मु. प्रतौ तु 'लुञ्चालुञ्चे' पाठः।

१. आक्षेपालंकार व समुच्चयालंकार। २. प्रश्नोत्तरालंकार। ३. जाति-अलंकार। ४. उपमालंकार।

† 'दायादौ सुतबान्धवौ' इतिवचनात् संस्कृत टीका पृ० ४४५ से समुद्धृत—सम्पादक। ५. समुच्चयालंकार व दीपकालंकार।

केवलं प्रभुशक्तिपेशलत्वं महत्त्वमेव महीपतेः सत्पुरुषसंपदः कारणम्। यतः।

अधनस्यापि महीशो महीयसो भवति भृत्यसंपत्तिः। शुष्कस्यापि हि सरसः पालितले पादपविभूतिः ॥१९९॥

शास्त्रशस्त्रोचितोत्सेकाः सन्ति येषां न सेवकाः। राज्यश्रीर्विजयश्रीश्च कुतस्तेषां महीभुजाम् ॥२००॥

देव, विग्रहावग्रहाभ्यां हीनानां दीनानां च प्रजानामवदानप्रदानाभ्यां रक्षणमवेक्षणं चान्तर्बहिरवान्तराटोपैः कोपैर्दुःस्थितावस्थितीनां प्रकृतीनां विरागकारणपरिहारेणैकमुखीकरणं च संक्षेपेण मन्त्रिणः कर्म। तच्च देवेनानवधार्यान्यदेव किंचिरां सचिवापसदं प्रति गुणोच्चारचापलमाचरितम्। यतः।

तन्त्रमित्रार्पितप्रीतिर्देशकोशोचितस्थितिः। यश्चात्मनि भवेद्भक्तः सोऽमात्यः पृथिवीपतेः ॥२०१॥

कार्यार्थिनो हि लोकस्य किमन्याचारचिन्तया। दुग्धार्थी कः पुमान्नाम गवाचारं विचारयेत् ॥२०२॥

हे राजन्! केवल प्रभुशक्ति‡ (कोश व सैनिकशक्ति) की पेशलता (सौन्दर्य या विशेषता) रूप महत्व ही राजा को सत्पुरुषरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति में कारण है। अर्थात्—प्रभुत्वशक्ति की महत्ता से ही राजा को प्रशस्त मन्त्री-आदि अधिकारी वर्गरूप लक्ष्मी प्राप्त होती है। क्योंकि—

जिसप्रकार निश्चय से जल-शून्य तालाव के पुलबन्धन के अधोभाग पर वृक्षों की सम्पत्ति पाई जाती है उसीप्रकार उस राजा के, जो कि निर्धन होता हुआ भी प्रभुशक्ति से महान् है, सेवकरूप विभूति पाई जाती है[1] ॥१९९॥ जिन राजाओं के मन्त्री-आदि सेवक शास्त्र (राजनैतिक ज्ञान-आदि) व शस्त्र-संचालन की योग्यता से उत्कृष्ट नहीं हैं, उनको राज्यलक्ष्मी व विजयश्री किसप्रकार प्राप्त होसकती है? अपि तु नहीं प्राप्त होसकती[2] ॥२००॥ हे राजन्! संक्षेप से मन्त्रियों का निम्नप्रकार कर्त्तव्य है—

राजा के साथ युद्ध न करनेवाली (शिष्ट) प्रजा की रक्षा करना और कर्त्तव्य-भ्रष्ट (दुष्ट) प्रजा का अनादर—निग्रह करना एवं दीन (तिरस्कृत—गरीब) प्रजा का युद्ध करने का साहस खण्डित करते हुए रक्षण करना। अर्थात्—दीन प्रजा की इसप्रकार रक्षा करना, जिससे वह भविष्य में राजा के साथ बगावत करने का दुस्साहस न कर सके तथा धनादि देकर उसकी देख-रेख रखना। इसीप्रकार मन्त्रियों के अन्तरङ्ग संबंधी क्रोधों द्वारा तथा वाहिरी झूँठे विस्तृत क्रोधों द्वारा दुष्ट स्थिति को प्राप्त हुई प्रकृतियों (अमात्य-आदि अधिकारी वर्गों व नगरवासी प्रजा के लोगों) के विरुद्ध—कुपित—होने के कारणों के त्याग द्वारा अनुकूल रखना। अर्थात्—उन्हें ऐसा अनुकूल रखना जिन उपायों से वे कभी विरुद्ध न हो सकें। हे राजन्! आपने उक्त मेरे द्वारा कहा हुआ (मन्त्री-कर्तव्य) न जान कर समस्त मन्त्रियों में निकृष्ट उस 'पामरोदार' नाम के मन्त्री की ऐसी गुण-वर्णन की चपलता मेरे सामने प्रकट की, जिसमें उसके दूसरे ही कुछ वाहिरी (दिखाऊ गुण (वह वनस्पति नहीं छेदता व जल प्रासुक करके पीता है-आदि गुण) पाए जाते हैं। क्योंकि—

हे देव! वही योग्य पुरुष राजा का अमात्य (मंत्री) होसकता है, जो राजा की सेना व मित्रों के साथ प्रेम प्रकट करता है और राष्ट्र व खजाने के अनुसार प्रवृत्ति (आमदनी के अनुकूल खर्च करना-आदि) करता हुआ राजा का भक्त है[3] ॥२०१॥ जिसप्रकार दूध-प्राप्ति का इच्छुक कौन पुरुष गाय के आचार (कूड़ा-खाना-आदि खोटी प्रवृत्ति) पर विचार करता है? अपि तु कोई नहीं करता उसीप्रकार निश्चय से प्रयोजन सिद्धि चाहनेवाले पुरुष को उसका प्रयोजन सिद्ध करनेवाले दूसरे पुरुष के आचार (जघन्य आचरण) की चिन्ता करने से क्या लाभ है? अपि तु कोई लाभ नहीं।

‡ तथा च सोमदेवसूरिः—'कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः' नीतिवाक्यामृत से संकलित—सम्पादक

१. दृष्टान्तालंकार। २. आक्षेपालंकार। ३. जाति-अलंकार।

व्रतं भवतु वा मा वा भवेद्भक्तिः परात्मनि । तथापि चेद्व्रते प्रीतिर्यतीन् कुरु नियोगिनः ॥२०३॥

अपि च देव, × महाघट्टाघ्रातचित्तस्य महालक्ष्मीराक्षसीविलासोल्लासितवृत्तस्य च ब्रह्मचर्याचरणमाचूलमवस्करे निमग्नस्योर्ध्वबाहुतया हस्ताशुचिस्पर्शरक्षणमिव । यतः ।

चञ्चावेषा योषा परिवारः शत्रुदर्शनाकारः । मृतमण्डनमिव च धनं स्मरशरदूरे नरे नियतम् ॥२०४॥

भावार्थ—नीतिकार आचार्यश्री[1] ने कहा है कि 'कौन-सा प्रयोजनार्थी मनुष्य स्वार्थसिद्धि के निमित्त गाय से दूध चाहनेवाले मनुष्य के समान उसकी प्रयोजन-सिद्धि करनेवाले दूसरे मनुष्य के आचार पर विचार करता है ? अपि तु कोई नहीं करता। अर्थात्—जिसप्रकार गाय से दूध चाहनेवाला उसके आचार (अपवित्र वस्तु का भक्षण करना-आदि) पर दृष्टिपात नहीं करता उसीप्रकार प्रयोजनार्थी भी 'अर्थी दोषं न पश्यति'—स्वार्थसिद्धि का इच्छुक दूसरे के दोष नहीं देखता' इस नीति के अनुसार अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिए दूसरे के दोषों पर दृष्टिपात न करे। शुक्र[2] विद्वान् ने भी प्रयोजनार्थी का उक्त कर्तव्य बताते हुए उक्त दृष्टान्त दिया है। प्रकरण की बात यह है कि 'शङ्खनक' नाम का गुप्तचर यशोधर महाराज से 'पामरोदार' नाम के मंत्री की कटु आलोचना करता हुआ कहता है कि हे राजन्! नीतिकारों की उक्त मान्यता के अनुसार आपको उक्त अयोग्य व दुष्ट 'पामरोदार' मंत्री के स्थान पर ऐसे प्रशस्त पुरुष को मंत्री पद पर अधिष्ठित करना चाहिए, जो उक्त मन्त्री-कर्तव्य के निर्वाह की पर्याप्त योग्यता रखता हुआ आपका प्रयोजन (राज्य की श्रीवृद्धि-आदि) सिद्ध कर सके, चाहे भले ही उसमें अन्य दोष वर्तमान हों, उन पर प्रयोजनार्थी आपको उसप्रकार दृष्टिपात नहीं करना चाहिए जिसप्रकार दूध का इच्छुक गाय के दोषों पर दृष्टिपात नहीं करता[3] ॥ २०२ ॥ हे राजन्! मन्त्री में राजा के प्रति उत्कृष्ट भक्ति होनी चाहिए, उसमें व्रतों का धारण हो अथवा न भी हो। तथापि यदि आप अहिंसादि व्रतों के पालन करनेवाले को मन्त्री पद पर आरूढ़ करने के पक्ष में हैं या प्रीति रखते हैं तब तो आप वनवासी सन्यासियों को मन्त्री पद पर आरूढ़ कीजिए। भावार्थ—जिसप्रकार वनवासी साधु लोग केवल व्रतधारक होने से मन्त्री-आदि अधिकारी नहीं होसकते उसीप्रकार प्रकरण में आपकी भक्ति से शून्य 'पामरोदार' नाम का अयोग्य मन्त्री भी केवल बाहिरी (दिखाऊ) अहिंसादि व्रतों का धारक होने से मन्त्री होने का पात्र नहीं है, क्योंकि उसमें मंत्री के योग्य गुण (राजा के प्रति भक्ति-आदि) नहीं हैं[4] ॥ २०३ ॥

हे राजन्! इस 'पामरोदार' नामके मन्त्री का, जिसका हृदय स्त्री-भोग की महातृष्णा से तर है और जिसकी दुराचार-प्रवृत्ति महालक्ष्मी (राज्यसंपत्ति) रूपी राक्षसी के भोग से उत्पन्न हुई है, ब्रह्मचर्य-पालन उसप्रकार अशक्य या हास्यास्पद है जिसप्रकार मस्तक तक विष्ठा में डूबे हुए पुरुष का अपनी दोनों भुजाओं को ऊपर उठा कर ऐसा कहना कि 'मेरे हाथों पर विष्ठा नहीं लगी' अर्थात्—हाथों को विष्ठा-स्पर्श से बचाना अशक्य या हास्यास्पद होता है।

क्योंकि यह निश्चित है कि कामदेव के बाणों से घायल न होनेवाले (स्त्री-संभोग के त्यागी—सच्चे ब्रह्मचारी) पुरुष के लिए स्त्री तृण-कामिनी-सरीखी है। अर्थात्—जिसप्रकार घास-फूस से बनी हुई

× उक्त शुद्धपाठः ख०ग०च० प्रतितः संगृहीतः । मु. प्रतौ तु 'महाजङ्घाघ्रात' पाठः, परन्त्वत्रार्थसङ्गतिर्न घटते—सम्पादकः ।

१. तथा च सोमदेवसूरिः—गोरिव दुग्धार्थी को नाम कार्यार्थी परस्परं विचारयति ॥ १ ॥

२. तथा च शुक्रः—कार्यार्थी न विचारं च कुरुते च प्रियान्वितः । दुग्धार्थी च यशो धेनोरमेध्यस्य प्रभक्षणात् ॥१॥
नीतिवाक्यामृत (भा० टी०) पृ० ४२२ से संकलित—सम्पादक

३. आक्षेपालंकार । ४. आक्षेपालंकार ।

तदस्य बाह्यप्रसिद्धिदुर्ललिते ब्रह्मचर्यव्रते खल्विदमैदंपर्यमवधार्यम्। मनसिजरसरहस्यास्वादकोविदस्य हि लोकस्य कलत्रपरिग्रहः पुनः पुनः परिमलितविलासिनीसंग्रहश्च बन्दीग्रहणमिव चर्वितचर्वणमिव च न चेतः साधु प्रह्लादयितुमलम्। यतः।

सुरतरहस्यं पुंसां यदि भवति स्वासु देव योषासु। किमिति श्रीरतिमन्दो गोविन्दो बल्लवीलोलः ॥२०५॥

ततश्च। पौता * युवतिर्जरती तस्य सुता सोदरी सवित्रीति। युक्तमिदं यन्नार्यः सारकुचाः श्लथकुचाश्च रोचन्ते ॥२०६॥

अत एवायमित्थमाकथितोऽश्वत्थेन कविना—

परमहिलाः कुलमहिलाः परिजनवनिताः विनोदवनिताश्च। रतिरसभाण्डं रण्डास्तापस्यश्चास्य गृहदास्यः ॥२०७॥

कृत्रिम स्त्री के साथ भोग करने की इच्छा नहीं होती उसीप्रकार सच्चे ब्रह्मचारी को स्त्री के साथ रतिविलास करने की इच्छा नहीं होती। उसे कुटुम्बवर्ग शत्रु-सा दिखाई देता है। अर्थात्—वह कुटुम्बी जनों से स्नेह नहीं करता तथा उसे धन मुर्दे को शृङ्गारित करने के समान है। अर्थात्—उसे धन में रुचि नहीं होती[1] ॥ २०४ ॥

अतः हे राजन्! यह मंत्री जो वाहिरी प्रसिद्धि के कारण दुराचार से व्याप्त ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता है, उसमें आपको निश्चय से यह अभिप्राय समझना चाहिए। निश्चय से कामदेव संबंधी राग के रहस्य (गोप्यतत्व) का आस्वाद करने में प्रवीण पुरुष के लिए विवाह करना और वार-वार कामी पुरुषों द्वारा मर्दित की हुई वेश्या को अपने गृह में रखना ये दोनों कार्य उसप्रकार उसके चित्त को आनन्दित करने के लिए अच्छी तरह समर्थ नहीं हैं जिसप्रकार कारागार (जेलखाने) में पतन और चर्वित-चर्वण (खाए हुए पदार्थ का फिर से खाना) चित्त को आनन्दित करने में अच्छी तरह समर्थ नहीं होता। अर्थात्—जिसप्रकार जेलखाने में पतन और चर्वितचर्वण ये दोनों वस्तुएँ सुचारुरूप से चित्त को सुखी वनाने में समर्थ नहीं हैं उसीप्रकार ऐसे मानव के लिए, जो कि कामदेव के राग का गोप्यतत्व भोगने में प्रवीण है, विवाह-वन्धन और कामी पुरुषों द्वारा वार वार भोगी हुई वेश्या का गृह में रखना चित्त को सुखी वनाने में समर्थ नहीं होता। क्योंकि—

यह मन्त्री यह कहता है और जानता है कि हे देव! यदि पुरुषों के लिए अपनी स्त्रियों में रतिविलास संवंधी गोप्यतत्व का सुख प्राप्त होता है तो श्रीनारायण लक्ष्मी के साथ रतिविलास करने में निरादर करते हुए गोप-कन्याओं में लम्पट क्यों हुए[2]? ॥२०५॥ क्योंकि प्रस्तुत मन्त्री अपने से छोटी उमरवाली स्त्री को पुत्री, युवती स्त्री को वहिन और वृद्ध स्त्री को माता मानता है, यह उचित ही है, क्योंकि उसे पीन (कड़े) व उन्नत कुच (स्तन) कलशोंवाली एवं शिथिल स्तनोंवाली स्त्रियाँ रुचती हैं—प्यारी लगती हैं। अर्थात्—क्योंकि पुत्री व वहिन-आदि का संवंध स्थापित किये विना स्त्रियों से प्यार ही किसप्रकार होसकता है? अपि तु नहीं होसकता[3] ॥२०६॥

इसीकारण हे राजन्! * 'अश्वत्थ' नामक कवि ने आपके इस 'पामरोदार' नाम के मन्त्री की हँसी उड़ाते हुए निम्नप्रकार कहा है—

दूसरों की स्त्रियाँ इस 'पामरोदार' मन्त्री की विवाहित स्त्रियाँ हैं और कुटुम्ब-स्त्रियाँ (भोजाई व पुत्रवधू-आदि) इसकी क्रीड़ा-स्त्रियाँ हैं एवं विधवाएँ इसके रतिविलास-रस की पात्र हैं तथा तपस्विनी स्त्रियाँ इसकी गृहदासियाँ हैं। अर्थात्—जिसप्रकार गृहदासियाँ उपभोग के योग्य होती हैं उसीप्रकार

---

* 'पोता' क०। १. उपमालंकार। २. आक्षेपालंकार। ३. वक्रोक्ति-अलंकार

* प्रस्तुत शास्त्रकार आचार्य श्रीमत्सोमदेवसूरि का कल्पित नाम।

यस्य न तरुणी माता* सुता स्वसाराद् कुलाङ्गना वास्ति। तस्य कथं ननु लक्ष्मीर्भवति मुहुस्तव नृपामात्यात् ॥२०८॥

भरतबालकविनाप्यत्र किंचित्प्रकाशितम्—

परवित्तरतः परदाररतः परवञ्चनवृत्तिचरित्ररतः। अधमध्वजवंशभवः सचिवः समभूत्तव देव तमःप्रभवः ॥२०९॥

देव, दौर्जन्यहलैर्महतां पारुष्यहलैश्च हृदयमनुगानाम्। कृषति नितान्तं मन्त्री भुवं तु नाङ्गुष्ठपरिमाणाम् ॥२१०॥

करितुरगरथनरोत्करविहारसंहारिताखिलप्राणी। संचरति राष्ट्रमध्ये नादत्ते पादुकायुगलम् ॥२११॥

दलपुष्पफलानि तरोर्नेच्छति किल तत्र जीवपीडेति। यम इव सकलांश्च पुनर्देवद्विजतापसान् ग्रसते ॥२१२॥

वाडव इव जलधिजलैस्तव विभवैर्देव संततं पुष्टः। स यदि परत्रापेक्षां कुर्याज्जीवेन्न कोऽपीह ॥२१३॥

व्रतक्लपितकायश्चेद्दुष्करं पुष्करो भवेत्। पीनश्चेन्न दिवा भुङ्क्ते नक्तं भुक्तिर्विभाव्यताम् ॥२१४॥

तपस्विनी स्त्रियाँ भी इसके उपभोग करने के योग्य हैं[1] ॥२०७॥ हे राजन्! जिस 'पामरोदार' नाम के मन्त्री की जवान माता, पुत्री व बहिन एवं कुलस्त्री ब्रह्मचर्य नष्ट होने के डर से उसके पास नहीं जाती, उस मन्त्री के पास हे राजन्! बड़े आश्चर्य की बात है कि आपकी लक्ष्मी बार-बार किसप्रकार से जा रही है? अर्थात्—वह आपकी राज्य लक्ष्मी को किसप्रकार नहीं भोग रहा है? क्योंकि वह मन्त्री है। अर्थात्—मन्त्री राज्य का स्वामी होने के कारण अपनी लक्ष्मी का उपभोग करता ही है[2] ॥ २०८ ॥

हे राजन्! 'भरतबाल' नाम के कवि ने भी आप के मन्त्री के विषय में कुछ निम्नप्रकार प्रकाश डाला है—

हे राजन्! आपका ऐसा मन्त्री हुआ है, जो दूसरे के धन को अपहरण करने में अनुरक्त, परस्त्री-लम्पट दूसरों को धोखा देनेवाली आजीविकावाले व्यवहार से प्रेम करनेवाला तथा निकृष्ट तेलियों के वंश में उत्पन्न हुआ एवं पाप को उत्पन्न करनेवाला है[3] ॥२०९॥ हे राजन्! जो मन्त्री अङ्गुष्ठ परिमाण पृथिवी को तो नहीं खोदता परन्तु दुष्टता (चुगलखोरी) रूपी हलों द्वारा गुरु-आदि महापुरुषों के हृदय और निर्दयतारूपी हलों द्वारा सेवकों के हृदय विशेषरूप से विदीर्ण करता है[4] ॥२१०॥ हे राजन्! आपका ऐसा मन्त्री, जिसने हाथी, घोड़े, रथ, और मनुष्य-समूह के विहार द्वारा समस्त पंचेन्द्रिय जीवों को प्रलय (नाश) में प्राप्त किया है, समस्त देश के मध्य संचार करता है (अपनी पल्टन के साथ जाता है) तथापि वह लकड़ी की खड़ाऊँ नहीं पहिनता?[5] ॥२११॥ हे राजन्! जो मन्त्री वृक्षों के पत्र, पुष्प व फल नहीं तोड़ता, क्योंकि उनके तोड़ने में जीवों का घात होता है और पश्चात् समस्त देव, ब्राह्मण व तपस्वियों को यमराज-सरीखा अपने मुख का ग्रास बनाता है[6] ॥२१२॥ हे राजन्! आपका वह मन्त्री, जो कि धनादि ऐश्वर्यों द्वारा उसप्रकार निरन्तर पुष्ट (शक्तिशाली) हुआ है जिसप्रकार बड़वानल-अग्नि समुद्र की जलराशि द्वारा पुष्ट होती है। यदि वह दूसरे पदार्थों (शाक-भक्षण या जो-भक्षण) द्वारा सन्तुष्ट होने की इच्छा करने लगे तो इस संसार में कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता[7] ॥२१३॥ उक्त मन्त्री की कटु आलोचना करता हुआ 'शङ्खनक' नाम का गुप्तचर यशोधर महाराज से कहता है कि हे राजन्! यदि वह (मंत्री) आप के कहे अनुसार उपवासादि नियमों के पालन करने से क्षीण

---

* 'सुता स्वसा वा कुलाङ्गना चास्ति' क०। परन्त्वत्रार्थसङ्गतिर्न घटते। मु. प्रतौ तु 'सुता स्वसा वा कुलाङ्गनारास्ति' पाठः। विमर्शः—यद्यपि मु. प्रतिस्थपाठेऽर्थसङ्गतिर्घटते परन्तु समीपवाचिनः 'आरा' शब्दस्य कुत्रचित्कोशेष्वनुपलभ्यमानत्वादेवं 'आराद् दूरसमीपयोः' इति कोशप्रामाण्यादयं पाठोऽस्माभिः संशोधितः परिवर्तितश्च—सम्पादकः।

१. रूपकालङ्कार। २. आक्षेपालङ्कार। ३. जाति-अलङ्कार। ४. रूपकालङ्कार। ५. वक्रोक्ति-अलङ्कार। ६. उपमालंकार। ७. उपमालंकार।

प्रत्यादिश्य प्रकटं रहसि च सर्वंकषोचितस्थितिषु । जारेष्विव मातृजने मायाविषु पातकद्वितयम् ॥२१५॥
यदपरमपि बहुरूपं बहिरीहितमस्य सुन्दराकारम् । स्वाकर्तव्यकपाटं पटुचेष्टैस्तदपि विज्ञेयम् ॥२१६॥

अत एव देव, देवस्यैव पुरस्तात् पुरुहूतेनैवायमुपश्लोकितः—

मानवति मानदलनो गुणवति गुणगोपनः स्वतः परतः । कुलशीलशौर्यशालिषु विशेषतो नृषु च कीनाशः ॥२१७॥
चाटुपटुकामधेनुर्नीचैश्चरकल्पपादपः साक्षात् । अणकेहितचिन्तामणिरधमनिधिस्तव नृपामात्यः ॥२१८॥

शरीर-युक्त (दुबला-पतला) है तो उसका प्रत्यक्ष प्रतीत स्थूल (मोटा-ताजा) होना असंभव है। क्योंकि जिसप्रकार देवदत्त स्थूल (मोटा-ताजा) होता हुआ भी यदि दिन में भोजन नहीं करता तो उसे रात्रिभोजी समझ लेना चाहिए उसीप्रकार यदि 'पामरोदार' नाम का मन्त्री आपके कहे अनुसार व्रत-पालन से क्षीणशरीर है तो वह मोटा-ताजा किसप्रकार होसकता है ? अपि तु नहीं होसकता[1] ॥२१४॥

हे राजन् ! जिसप्रकार माता के साथ व्यभिचार करनेवाले (नीच) पुरुष दो पापों के भागी होते हैं। १. मातृ-गमन और २. परस्त्री-सेवन। उसीप्रकार प्रत्यक्षप्रतीत बात का अपलाप करके एकान्त में जनता के साथ यमराज के समान उचित (कठोर) वर्ताव करनेवाले मायाचारी पुरुष भी दो पापों के भागी होते हैं। १. हिंसा-पातक और २. मायाचार-पातक। भावार्थ—प्रकरण में उक्त गुप्तचर यशोधर महाराज से कहता है कि हे राजन् ! जिसप्रकार माता के साथ व्यभिचार करनेवाले नीच पुरुष उक्त दोनों पापों के भागी होते हैं उसीप्रकार आपका वह 'पामरोदार' नाम का मन्त्री भी, जो कि प्रत्यक्षप्रतीत बात का अपलाप करके एकान्त में जनता के साथ यमराज के समान नृशंसता-पूर्ण (कठोर) वर्ताव करता हुआ धोखेबाजी कर रहा है, दोनों पाप (नृशंसता—हिंसापातक और मायाचार पातक) का भागी है[2] ॥ २१५ ॥ हे राजन् ! इस 'पामरोदार' नाम के मन्त्री का दूसरा भी अनेक प्रकार का लोक-रञ्जक बाहिरी व्यवहार (मायाचार-युक्त वर्ताव) है, उसे भी विद्वानों को उसके दुराचारों को आच्छादन करने के लिए किवाड़-सदृश समझना चाहिए[3] ॥ २१६ ॥

इसलिए हे राजन् ! *'इन्द्र' नाम के महाकवि ने निश्चय से आपके समक्ष इस मन्त्री की निम्नप्रकार श्लोकों द्वारा हँसी उड़ाते हुए प्रशंसा (कटु-आलोचना) की है—

हे राजन् ! यह आपका मन्त्री अभिमानियों का मानमर्दन करनेवाला, स्वयं व दूसरों के द्वारा गुणवानों के गुण आच्छादित करनेवाला एवं कुलीन, सदाचारी और शूरवीर पुरुषों में विशेष रूप से यमराज है। अर्थात्—उनके साथ यमराज के समान निर्दयतापूर्ण कठोर व्यवहार करता है[4] ॥ २१७ ॥ हे राजन् ! आपका यह मन्त्री निश्चय से अथवा प्रत्यक्षरूप से मिथ्यास्तुति करनेवालों के लिए कामधेनु है। अर्थात्—कामधेनु के समान उनको चाही हुई वस्तु देनेवाला है और निकृष्ट आचारवालों के लिए कल्पवृक्ष है। अर्थात्—कल्पवृक्ष के समान उनके मनोरथ पूर्ण करता है एवं निन्द्य आचारवाले लोगों के लिए चिन्तामणि है। अर्थात्—चिन्तामणि रत्न की तरह उन्हें चितवन की हुई वस्तु देता है तथा पापियों के लिए अक्षयनिधि है। अर्थात्—उन्हें अक्षयनिधि के समान प्रचुर धन देता है[5] ॥ २१८ ॥

१. अनुमानालंकार। २. उपमालंकार। ३. रूपकालंकार। ४. रूपकालंकार।

* प्रस्तुत शास्त्रकार आचार्य श्रीमत्सोमदेवसूरि का कल्पित नाम—सम्पादक

५. रूपकालंकार।

क्षारोदधिरिव सुधियां चण्डालजलाशयोपमः कृतिनाम्। मरुमालकूपकल्पः सतां च तव देव सांप्रतं सचिवः ॥२१९॥

नरोत्तम रमा रामाः संग्रामे च जयागमः। पामरोदारनामायं यावत्तावत्कुतस्तव ॥२२०॥

नटा विटाः किराटाश्च पटुवाचाटतोत्कटाः। सचिवे तव चेष्टन्तां कटके प्रकटश्रियः ॥२२१॥

यत्रैष नृपतिपुत्रो मन्त्री यत्रैष यत्र कविरेषः। यत्रैषोऽपि च विद्वांस्तत्र कथं सुकृतिनां वासः ॥२२२॥

पण्डितवैतण्डिकेन च—

धर्मतरुधूमकेतुर्विद्वज्जनहंसनीरदारावः। स्वामिश्रीनलिनीन्दुर्मित्रोदयराहुरेष तव मन्त्री ॥२२३॥

तमसो मनुष्यरूपं पापस्य नराकृतिः कलेर्नृत्वम्। पुंस्त्वमिव पातकस्य च भवनेऽभूत्तव नृपामात्यः ॥२२४॥

हे राजन्! आपका मन्त्री इससमय विद्वानों के लिए उसप्रकार हानिकारक है जिसप्रकार लवण-समुद्र का खारा पानी विद्वानों के लिए हानि पहुँचाता है और जिसप्रकार चाण्डालों के तालाब का पानी पुण्यवान् पुरुषों द्वारा अग्राह्य (पीने के अयोग्य) होता है उसीप्रकार आपका मन्त्री भी पुण्यवान् पुरुषों द्वारा अग्राह्य—समीप में जाने के अयोग्य है एवं सज्जन पुरुषों के लिए मरुभूमि पर स्थित हुए चाण्डाली के कूप (कुएँ) के सदृश है। अर्थात्—जिसप्रकार सज्जनपुरुष प्यास का कष्ट उठाते हुए भी मरुभूमि पर वर्तमान चाण्डाल-कुए का पानी नहीं पीते उसीप्रकार सज्जनलोग भी दरिद्रता का कष्ट भोगते हुए भी जिस मन्त्री के पास धन-प्राप्ति की इच्छा से नहीं जाते[1] ॥ २१९ ॥ हे मानवों में श्रेष्ठ राजन्! जब तक यह 'पामरोदार' नामका मन्त्री आपके राज्य में स्थित है तब तक आपके लिए धनादि लक्ष्मी, स्त्रियाँ व युद्धभूमि में विजयश्री की प्राप्ति किसप्रकार होसकती है? अपितु नहीं होसकती[2] ॥ २२० ॥ हे देव! आपके उक्त मन्त्री के रहने पर सेना-शिविर में नर्तक, विट, किराट (दिन दहाड़े चोरी करनेवाले डाकू) और बहुत निन्द्य वचन बोलकर बकवाद करने से उत्कट प्रकट रूप से धनाढ्य होते हुए प्रवृत्त होवें[3] ॥ २२१ ॥ हे राजन्! आपके जिस राज्य में उक्त 'पामरोदार' नाम का राजपुत्र, मन्त्री, कवि और विद्वान् मौजूद है, उसमें विद्वज्जनों का निवास किसप्रकार होसकता है? अपि तु नहीं होसकता[4] ॥ २२२ ॥

हे राजन्! 'पण्डितवैतण्डिक* नाम के महाकवि ने निम्नप्रकार श्लोकों द्वारा आपके मन्त्री की कटु आलोचना की है—हे राजन्! आपका यह पामरोदार' नामका मन्त्री धर्मरूप वृक्ष को भस्म करने के लिए अग्नि है। अर्थात्—जिसप्रकार अग्नि से वृक्ष भस्म होते हैं उसीप्रकार इसके द्वारा भी धर्मरूप वृक्ष भस्म होता है और विद्वज्जनरूपी राजहँसों के लिए मेघ-गर्जना है। अर्थात्—जिस प्रकार राजहँस बाँदलों की गर्जना श्रवण कर मानसरोवर को प्रस्थान कर जाते हैं उसीप्रकार आपके पामरोदार मन्त्रीके दुष्ट वर्ताव से भी विद्वान् लोग दूसरी जगह चले जाते हैं एवं आपकी लक्ष्मीरूपी कमलिनी को मुकुलित या म्लान करने के लिए चन्द्र है। अर्थात्—जिसप्रकार चन्द्रमा के उदय से कमलिनी मुकुलित या म्लान होजाती है उसीप्रकार आपके 'पामरोदार' मंत्री के दुष्ट वर्ताव से आपकी राज्यलक्ष्मी म्लान (क्षीण) हो रही है तथा मित्ररूपी सूर्य के लिए राहु है। अर्थात्—जिसप्रकार राहु सूर्य का प्रकाश आच्छादित करता हुआ उसे क्लेशित करता है उसीप्रकार आपका उक्त मंत्री भी मित्रों की वृद्धि रोकता हुआ उन्हें क्लेशित करता है[5] ॥२२३॥ हे राजन्! आपके राजमहल में ऐसा 'पामरोदार' नाम का मन्त्री हुआ है, जो कि मनुष्य की आकृति का धारक अन्धेरा या अज्ञान ही है और मानव-आकार का धारक पाप ही है एवं उसकी (मनुष्य की) मूर्ति का धारक कलिकाल ही है तथा उसकी आकृति को धारण करनेवाला

---

१. उपमालंकार। २. आक्षेपालंकार। ३. समुच्चयालंकार। ४. आक्षेपालंकार।

*'प्रस्तुत शास्त्रकार महाकवि का कल्पित नाम—सम्पादक। ५. रूपकालंकार।

हे वत्स दौर्जन्य किमम्ब माये कः सांप्रतं नावुचितो निवासः। वदामि मातः श्रृणु सोऽस्ति नूनं यः पामरोदारगिराधराङ्कः ॥२२५॥

सरस्वती*तुडगेनाप्यत्र मृतमारणमाचरितम्—

स्वयं कर्ता स्वयं हर्ता स्वयं वक्ता स्वयं कविः। †स्वयं नटः स्वयं भण्डो मन्त्री विश्वाकृतिस्तव ॥२२६॥

आस्तिकहास्तिकसिंहो नास्तिकसौवस्तिकस्तमः स्तूपः। दैष्टिकसृष्टिकृतान्तो नरदैत्यस्तव नृपामात्यः ॥२२७॥

देवद्रविणाद्दाता देवद्रोहाच्च देवनिर्माता। अहह ‡ स्वरः खलु संप्रति धर्मपरः पामरोदारः ॥२२८॥

ब्रह्महत्या व ऋषिहत्या-आदि पातक ही है[1] ॥२२४॥ हे खलत्व पुत्र! और हे माता माया! (परवञ्चनारूप माया!) इस समय हम दोनों का (मायारूप माता और उससे उत्पन्न हुए दुष्ट वर्तावरूप पुत्र का) योग्य निवास स्थान कौन है? हे माता! सुन मैं कहता हूँ—वह 'पामरोदार' नाम का दुष्ट चिह्नवाला मन्त्री हम दोनों का निवास-स्थान है[2] ॥२२५॥

पुनः 'शङ्खनक' नामका गुप्तचर यशोधर महाराज से कहता है—कि हे राजन्! 'सरस्वतीतुडग*' नाम के महाकवि ने भी आपके इस मन्त्री के विषय में मृतमारण (मरे हुए को मारना) किया है। अर्थात्—उसकी निम्नप्रकार विशेष कटु आलोचना की है—

हे राजन्! आपका मन्त्री स्वयं ही निन्द्य कर्म करनेवाला, स्वयं धर्म-कर्म नष्ट करनेवाला, स्वयं बकनेवाला, स्वयं कविता करनेवाला और स्वयं नट एवं स्वयं भाँड (हँसोड़ा) होने के कारण विश्वाकृति (विरूपक श्वान—कुक्कुर-सरीखा) है[3] ॥२२६॥ हे राजन्! आपका मन्त्री आस्तिक (पुण्य, पाप व परलोक की सत्ता—मौजूदगी-माननेवाले धार्मिक पुरुष) रूपी हस्ति-समूह को विध्वंस करने के लिए सिंह है। अर्थात्—जिसप्रकार सिंह हाथियों के समूह को नष्ट कर देता है उसीप्रकार आपका मन्त्री भी धर्मात्मा पुरुष रूपी हाथियों के समूह को नष्ट करता है और नास्तिकों (पुण्य, पाप व परलोक न माननेवाले अधार्मिक पुरुषों) का पुरोहित (आशीर्वाद देनेवाला) है। अर्थात्—नास्तिकों का गुरु है एवं अज्ञान का उच्चय (ढेर) है। अर्थात्—विशेष मूर्ख है और दिव्य ज्ञानियों की सृष्टि नष्ट करने के लिए यमराज है। अर्थात्—जिसप्रकार यमराज ब्रह्मा की सृष्टि नष्ट करता है उसीप्रकार आपका मन्त्री भी दिव्यज्ञानियों (अलौकिक ज्ञानधारक ऋषियों) की सृष्टि नष्ट करता है तथा मनुष्यरूप से उत्पन्न हुआ असुर है। अर्थात्—पूर्व के असुर ने ही मनुष्य जन्म धारण किया है। अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार असुर (पिशाच विशेष) द्वारा मानव पीडित किये जाते हैं उसीप्रकार आपके मन्त्री द्वारा भी प्रजा पीडित की जाती है[4] ॥२२७॥ हे राजन्! आपका यह 'पामरोदार' नामका मन्त्री देव-पूजनार्थ दिये हुए धन को नट-विटों के लिए दे देता है ऐसा दाता है। देवता की बड़ी मूर्ति को गलवा करके छोटी मूर्ति बनाता है, ऐसा देव निर्माता है एवं सत्यवादी है। अर्थात्—ध्वनि से प्रतीत होनेवाला अर्थ यह है कि यमराज के समान निर्दयी है। हे राजन्! ऐसा होने पर भी आश्चर्य या खेद है कि क्या यह इस समय धर्मात्मा है? अपि तु नहीं है[5] ॥ २२८ ॥

---

* 'तुडिनाप्यत्र' घ०। † 'स्वयं भण्डः स्वयं मन्त्री स्वयं Aविश्वाकृतिस्तव' क०। A 'वि-श्वा। विरूपकः श्वा विश्वा तदाकारः' टिप्पणी ग०। ‡ 'स्वरं' क०।

१. रूपकालंकार। २. प्रश्नोत्तरालंकार। ❀ प्रस्तुत शास्त्रकार महाकवि का कल्पित नाम —सम्पादक
३. काकुवक्रोक्ति। ४. रूपकालङ्कार। ५. काकुवक्रोक्ति-अलङ्कार।

देव, सहायप्राज्यं हि राज्यं शमयति मुहुर्मुहुर्बहुमुखप्रवृत्तीरपि विपत्तीः, न खल्वेकं चक्रं साधु परिक्रामति। तथाह 'नैकस्य कार्यसिद्धिरस्ति' इति विशालाक्षः। किं च।

असहायः समर्थोऽपि न जातु हितसिद्धये। बहिर्वातविहीनो हि बुसस्यापि न दीपकः ॥२२९॥

ततोऽसौ यदि देवस्य परमार्थतो न कुप्यति, सत्पुरुषपरिषदिव मनसि मनागपि नाभ्यसूयति, तत्किमिति मनीषापौरुषाभ्यामशेषशिष्टशौण्डीरशिखामणीयमानमतिसमीक्षं पुण्डरीकाक्षम्, सिन्धुरप्रधानो हि विजयो विश्वामीशानामिति

हे राजन्! निश्चय से जिस राज्य में सहायता करनेवाले मन्त्री-आदि अधिकारियों की अधिकता होती है, वह वार वार अनेक द्वारों से आई हुई विपत्तियाँ नष्ट करता है, क्योंकि निश्चय से जिसप्रकार रथ-आदि का एक पहिया दूसरे पहिए के सहायता के विना नहीं घूम सकता उसीप्रकार अकेला राजा भी मन्त्री-आदि सहायकों के विना राजकीय कार्य (सन्धि व विग्रह-आदि) में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता 'विशालाक्ष' नामके कविने कहा है कि 'अकेला पुरुष कार्य-सिद्धि नहीं कर सकता'।

हे राजन्। उक्त विषय पर कुछ निम्नप्रकार कहता हूँ—निश्चय से जिसप्रकार अग्नि वायु के विना पराल को भी जलाने में समर्थ नहीं होती उसीप्रकार समर्थ पुरुष भी सहायकों के विना कदापि कार्य-सिद्धि नहीं कर सकता। भावार्थ—नीतिकार प्रस्तुत आचार्यश्री[1] ने भी उक्त विषय पर कहा है कि 'जिसप्रकार रथ-आदि का एक पहिया दूसरे पहिए की सहायता के विना नहीं घूम सकता उसीप्रकार अकेला राजा भी मन्त्री-आदि सहायकों के विना राजकीय कार्यों (सन्धि व विग्रहादि) में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ—जिसप्रकार अग्नि इन्धन-युक्त होनेपर भी हवा के विना प्रज्वलित नहीं हो सकती उसीप्रकार बलिष्ठ व सुयोग्य राजाभी मन्त्री-आदि अधिकारियों की सहायता के विना राज्यशासन करने में समर्थ नहीं हो सकता'। 'वल्लभदेव[2]' नीतिकार ने भी उक्त बात कही है। प्रकरण में 'शङ्खनक' नामके गुप्तचर ने यशोधर-महाराज से सुयोग्य मंत्री-आदि अधिकारियों की राज्य-संचालन में विशेष अपेक्षा निरूपण करते हुए अकेले पामरोदार नाम के मंत्री द्वारा, जो कि अयोग्य व दुष्ट है, राज्य-संचालन नहीं हो सकता, यह कहा है[3] ॥२२९॥

इसलिए हे राजन्! यदि यह आपका 'पामरोदार' नामका मन्त्री निश्चय से आपके ऊपर कुपित नहीं है और यदि आपसे चित्त में उसप्रकार जरा सी भी ईर्ष्या नहीं करता जिसप्रकार सज्जन पुरुषों का समूह आपसे जरा सी भी ईर्ष्या नहीं करता तो वह, गृह में प्रविष्ट हुए जंगली कबूतर के समान अर्थात्—जिसप्रकार जिस गृहमें जंगली कबूतर घुस जाता है वह, उद्वस (मनुष्यों से शून्य—उजाड़) होजाता है, क्यों? निम्नप्रकार के राज्याधिकारियों को सहन न करता हुआ (उनसे ईर्ष्या करता हुआ) ऐसे 'पुण्डरीकाक्ष' मन्त्री को निकाल कर अद्वितीय प्रभुत्व में स्थित हो रहा है? जिसकी बुद्धि और शूरवीरता बुद्धि (राजनैतिक ज्ञान) और शूरता द्वारा समस्त विद्वानों व शौण्डीरों (त्याग व पराक्रम से प्रसिद्ध) के मध्य शिरोरत्न के समान आचरण करती है। अर्थात्—सर्वश्रेष्ठ है, हे राजन्! 'विजिगीषु राजा जो शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त करते हैं, उसमें हाथी ही प्रधान हैं। अर्थात्—हाथियों द्वारा ही शत्रु जीते जाते हैं' यदि यह निश्चित सिद्धान्त है, तो वह ऐसे 'वन्धुजीव' नामके गज (हाथी) शास्त्रवेत्ता को

१. तथा च सोमदेवसूरिः—नैकस्य कार्यसिद्धिरस्ति ॥१॥ न ह्येकं चक्रं परिभ्रमति ॥२॥ किमवातः सेन्धनोऽपि वह्निर्ज्वलति ॥३॥

२. तथा च वल्लभदेवः—किं करोति समर्थोऽपि राजा मन्त्रिविवर्जितः। प्रदीप्तोऽपि यथा वह्निः समीरणविना कृतः ॥१॥
नीतिवाक्यामृत (भा० टी०) पृ. २६५ से संकलित—सम्पादक

३. दृष्टान्तालंकार।

तत्किमिति समस्तसामजैतिह्यगृह्यमनःप्रभावं बन्धुजीवम्; महाकविसंग्रहान्महीपतीनामाचन्द्रार्कावकाशं यश इति तत्किमिति स भवत्कीर्तिलतालालनालापामृतसेवकसारं हारम्, 'यासु सन्तो न तिष्ठन्ति ता वृथैव विभूतयः' इति, तत्किमिति स्वभावादेव देवस्य प्रसेदुषोऽपरानपि विदुषः + पुरुषानमिषन्नगारान्तरापतितः कपोत इव निर्वास्य स्वयमेकैश्वर्ये वर्तते। तथा इति विचिन्त्य निवसतां च सतामरुंतुदवाक्प्रसरस्त्वचिसारहीर इव न ददाति सुखेनासितुम्।

अन्या स्थली न हरिताङ्कुरचारसारा दृष्टेरुपैति विषयं विषमाध्वरुद्धः।
यूथच्युतोऽपि खरकर्करकर्कशान्तान्येणः श्रयत्यवश एव मरुस्थलानि ॥ २३० ॥

देश से निकालकर क्यों स्वयं ही अद्वितीय प्रभुत्व में स्थित हो रहा है? जिसने अपने चित्त के माहात्म्य में समस्त गज-शास्त्र ग्रहण कर लिए हैं—जान लिए हैं। अर्थात्—जो समस्त गजशास्त्रों का पूर्ण वेत्ता है। हे देव! महाकवियों के संग्रह (स्वीकार) से राजाओं का 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' अर्थात्—जब तक सूर्य व चन्द्र विद्यमान हैं तब तक (चिरकाल तक) भूमण्डल पर यश स्थित रहता है यदि यह निश्चित है तो आपका मन्त्री ऐसे 'हार' नामके महाकवि को देश से निकालकर क्यों अद्वितीय प्रभुत्व में अधिष्ठित हो रहा है? जो कि आपकी कीर्तिरूपी लता के कोमल काव्यरूप अमृत के सेवन से विशेष शक्तिशाली है। इसीप्रकार हे राजन्! 'जिन धनादि सम्पत्तियों द्वारा विद्वान् लोग सन्मानित नहीं किये जाते, वे (धनादि सम्पत्तियाँ) निरर्थक ही हैं, यदि यह बात निश्चित है तो आपका मन्त्री स्वभाव से ही आपके ऊपर प्रसन्न रहनेवाले (आपके सेवक) दूसरे विद्वानों को देश से निकालकर क्यों असाधारण ऐश्वर्य में स्थित हो रहा है? भावार्थ—'शङ्खनक' नामके गुप्तचर ने यशोधर महाराज से कहा कि हे राजन्! आपके 'पामरोदार' नामके मन्त्री ने ऊपर कहे हुए अधिकारियों को देश से निकाल दिया है और वह अद्वितीय ऐश्वर्य भोग रहा है, इससे यह बात स्पष्ट प्रमाणित होती है कि वह आपके ऊपर कुपित हो रहा है और आपसे ईर्ष्या कर रहा है। हे राजन्! उसीप्रकार से निम्नप्रकार विचार कर ऐसा वह मन्त्री, जिसकी वचन-प्रवृत्ति आपके देशवासी सज्जनों को उसप्रकार मर्मव्यथक है जिसप्रकार वंशशलाका (बाँस की सलाई—फाँस) नख-आदि स्थानों में घुसी हुई मर्मव्यथक (हृदय को पीड़ाजनक) होती है और वह उन विद्वान् सज्जनों को उसप्रकार सुखपूर्वक ठहरने नहीं देता जिसप्रकार वंशशलाका नखादि स्थानों में घुसी हुई सुखपूर्वक नहीं रहने देती।

हे राजन्! नीचे-ऊँचे (ऊबड़-खाबड़) मार्ग द्वारा रोका गया और अपने झुण्ड से बिछुड़ा हुआ भी हिरण जब दूब के अङ्कुरों पर संचार करने से मनोहर (सुखद) दूसरी स्थली (भूमि) दृष्टिगोचर नहीं करता तब पराधीन होकर के ही ऐसे मरुस्थलों (मारवाड़ देश के बालुकामय स्थानों) का आश्रय करता है, जिनके पर्यन्तभाग अथवा स्वभाव कठिन बालुका (रेतों) से कठोर हैं। भावार्थ—प्रकरण में 'शङ्खनक' नाम का गुप्तचर उक्त मन्त्री की कटु आलोचना करता हुआ यशोधर महाराज से कहता है कि हे राजन्! जब हिरण अपने झुण्ड से बिछुड़ा हुआ ऊबड़-खाबड़ भूमि के कारण रुककर दूब के अंकुरों से व्याप्त सुख देनेवाली पृथ्वी पर जाने से असमर्थ हो जाता है तब पराधीन होकर ही कठिन रेतवाले मरुस्थलों का आश्रय करता है उसीप्रकार हे राजन्! उक्त 'पामरोदार मन्त्री द्वारा सताये गए और आपका आश्रय न पाकर विद्वानों से बिछुड़े हुए उक्त सज्जन विद्वान् पुरुष पराधीन होने से ही दूसरे देशों को प्रस्थान कर रहे हैं'[1] ॥२३०॥

× 'पुरुषानमिषन्नगारान्तरपतितः' क० 'पुरुषानमर्षन्नगारान्तरापतितः' च०।

1. समासोक्ति-अलंकार।

ततश्च । एकामात्ये महीपाले नार्थ लक्ष्मीर्विजृम्भते । लतायास्तत्र का वृद्धिः शाखैका यत्र शाखिनि ॥ २३१ ॥

देव, लक्ष्मीलतावलयितगलश्छगल इव भवति प्रायेण सर्वोऽपि जनः । यतो य एवात्मनो गलं गले पादिकया लम्बितुमिच्छति तस्यैव मुखमवलोकते । किं च ।

किं नास्ति पलं सलिले येन तिमिः सादरो गलाहारे । प्रायेण हि देहभृतां तत्रासक्तिर्यतो मृत्युः ॥२३२॥

देव, देवोऽस्य निर्स्त्रिशतां नास्तिकतां च चेतन्नपि न चेतति । यतो जानन्नप्येष दुरात्मा मुधा भृत्यभावेन पाकोदकादिपरिचारकतया चिरकालं श्वपचपञ्चकं क्लेशयन्नेतज्ज्ञातिपूत्कारादुच्छलति दुरपवादे पुनर्दुःप्रसिद्धिभयात्तन्निजनीडक्रोड एव निशि निबिडप्रमीडं स्वयमेवावधीत् । विशिष्टैश्च प्रायश्चेतनचिन्तायामिदमवोचत्—

रविरश्मिरत्नपावकमाहेयीवायवोऽन्त्यजैः स्पृष्टाः । न हि दुष्टास्तद्वदहं प्रकृतिशुचिर्भाल्ममध्येऽपि ॥ २३३ ॥

हे राजन् ! जिसप्रकार एक शाखावाले वृक्ष पर चढ़ी हुई लता विशेषरूप से वृद्धिंगत नहीं हो सकती उसीप्रकार केवल एक मन्त्री वाले राजा की लक्ष्मी भी विशेषरूप से वृद्धिंगत नहीं हो सकती[1] ॥२३१॥

हे राजन् ! प्रायः करके सभी पुरुष उसप्रकार लक्ष्मी (धनादि-सम्पत्ति) द्वारा बँधे हुए कण्ठवाले होते हैं जिसप्रकार बकरा प्रायः लता द्वारा बँधे हुए कण्ठवाला होता है। अर्थात्—प्रायः संसार में सभी लोग उसप्रकार धनादि सम्पत्ति के इच्छुक होते हैं जिसप्रकार बकरा बेलपत्ती खाने का इच्छुक होता है। इसलिए बकरे-सरीखे प्रायः सभी धनार्थी लोग उस मनुष्य का मुख देखते हैं, जो कि इसके कण्ठ पर पैर स्थापित करके उसे लम्बा करने की इच्छा करता है। अर्थात्—मारना चाहता है। भावार्थ—जिसप्रकार बकरा तृण व लता-आदि देखकर सूनाकार (खटीक या कसाई) के मुख की ओर देखता है उसीप्रकार लक्ष्मी का इच्छुक पुरुष भी उसका आदर करता है, जिससे इसका मरण होता है ! विशेषता यह है—

हे राजन् ! क्या पानी में माँस नहीं है ? अर्थात्—क्या पानी में बड़ी मछली के खाने के लिए छोटी मछलियाँ नहीं हैं ? जिससे कि मछली वक्र (टेढ़े) काँटे पर लगे हुए माँस के भक्षण में तत्पर होती है। नीति यह है—कि निश्चय से संसार के प्राणियों की उस पदार्थ में आसक्ति होती है, जिस पदार्थ से उनका मरण होता है। भावार्थ—प्रकरण में हे राजन् ! वह पामरोदार नाम का मन्त्री लोभ-वश अपना मरण करनेवाले अन्याय के धन का संचय करने में उसप्रकार तत्पर होरहा है जिस प्रकार मारी जानेवाली मछली काँटे पर स्थित हुए माँस के भक्षण करने में तत्पर होती है[2] ॥२३२॥

हे स्वामिन् ! आप इस मन्त्री की निर्दयता व नास्तिकता जानते हुए भी नहीं जानते। क्योंकि इस पापी मन्त्री ने पाँचों चाण्डालों से निरर्थक (विना तनख्वाह दिये) नौकरी कराई व उनसे रसोईया और ढीमर की सेवा (वेगार) कराकर उन्हें चिरकाल तक वेगार कराते हुए क्लेशित किया, जिसके फलस्वरूप इन पाँचों चाण्डालों के जातिवालों के पूत्कार (क्षुब्ध) होजाने से जब प्रस्तुत मन्त्री की निन्दा चारों ओर से होने लगी तब बाद में इसने अपनी निन्दा होने के डर से रात्रि में गाढ़ निद्रा में सोए हुए उन पाँचों चाण्डालों को अपने गृह के अग्रभाग में ही स्वयं मार डाला। तदनन्तर जब धार्मिक पुरुषों ने इसको प्रायश्चित्त (पापशुद्धि) करने के लिए प्रेरित किया, अर्थात्—'तू इस महान् पातक का प्रायश्चित्त ग्रहण कर' इसप्रकार आग्रह किया तब इसने उनसे निम्नप्रकार कहा—

जिसप्रकार सूर्य-किरणें, रत्न, अग्नि, गाय और वायु ये पदार्थ चाण्डालों द्वारा छुए जाने पर भी दूषित नहीं होते उसीप्रकार स्वभाव से विशुद्ध मैं (पामरोदार नाम का मंत्री) भी चाण्डालों के मध्य में

---

१. दृष्टान्तालंकार। २. दृष्टान्तालंकार।

आत्मा स्वभावशुद्धः कायः पुनरशुचिरेष च निसर्गात्। प्रायश्चित्तविधानं कस्येति विचिन्त्यतां जगति ॥ २३४ ॥

वर्णाश्रमजातिकुलस्थितिरेषा देव संवृतेर्नान्या। परमार्थतश्च नृपते को विप्रः कश्च चाण्डालः ॥२३५॥

नास्तिकता चास्य किमिवोच्यते। यः खलु

विक्रीय देवं विदधाति यात्रां तद्गालनादेष परांश्च देवान्। प्रमुष्य लोकं ठकवृत्तिभावैर्ददाति दानं द्विजपुंगवेभ्यः ॥२३६॥

अग्रहारग्रहः साक्षादेव भोगभुजंगमः। शिष्टविष्टपसंहारप्रलयानलमानसः ॥ २३७ ॥

कृतान्त इव चेष्टेत यो देवेषु निरङ्कुशः। कापेक्षा भक्षणे तस्य तापसेषु द्विजेषु च ॥ २३८ ॥

देव, यावद्भवान्न जातोऽत्र तावदन्ये कुलोन्नताः। जाते त्वयि महीपाल नृपाः सर्वेऽपि निष्कुलाः ॥ २३९ ॥

इति देव, देवमुपश्लोकयता कथंकारमद्वैतत्वमात्मनो न द्योतितम्। यतो देव, देवोत्पादागतां वंशविशुद्धतां

स्थित हुआ दूषित नहीं हूँ[1] ॥२३३॥ यह आत्मा (जीवतत्त्व) स्वभाव से ही शुद्ध (कर्ममल कलङ्क से रहित) है और यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला शरीर स्वभाव से अपवित्र है, इसलिए संसार में प्रायश्चित्त (पाप शुद्धि) का विधान किसके लिए है ? अपि तु किसी के लिये नहीं, यह बात आपको सोचनी चाहिए[2] ॥२३४॥ हे राजन् ! वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र ये चार वर्ण), आश्रम (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ व यति ये चार आश्रम), जाति (मातृपक्ष) और कुल (पितृपक्ष) इनकी मर्यादा व्यवहार-दृष्टि से मानी गई है न कि निश्चयदृष्टि से, इसलिए निश्चयदृष्टि से कौन ब्राह्मण है ? और कौन चाण्डाल है ? अपि तु कोई नहीं[3] ॥२३५॥

हे राजन् ! आपके इस मन्त्री की नास्तिकता के बारे में क्या कहा जाए ? जो मन्त्री देव-मूर्ति बेंचकर यात्रा करता है और बड़ी देव प्रतिमा को गलवाकर दूसरी छोटी देव-मूर्तियाँ बनाता है एवं ठगवृत्तियों (औषध-आदि के प्रयोगों)-द्वारा मनुष्यों का गला घोंटकर उनसे धन ग्रहण करके श्रेष्ठ ब्राह्मणों के लिए दान दे देता है[4] ॥२३६॥ हे स्वामिन् ! आपका यह मंत्री प्रत्यक्षरूप से* अग्रहारग्रह है। अर्थात्—विप्र-आदि के लिए दिये हुए ग्रास को ग्रहण करने के हेतु पिशाच-सरीखा है और देवपूजा के लिए आपके द्वारा दिये हुए ग्राम, क्षेत्र व कूप-आदि भोगों में लम्पट है अथवा भक्षक है एवं जिसका मन शिष्ट पुरुषों का संसार नष्ट करने के लिए प्रलयकाल की अग्नि-सरीखा है[5] ॥२३७॥ हे राजन् ! जो आपका मन्त्री देव-मूर्तियों में बेमर्याद प्रवृत्ति करता हुआ (गलवाता हुआ) यमराज के समान चेष्टा करता है (उन्हें बेंचकर खाजाता है) इसलिए उसको साधुजनों व ब्राह्मणों के भक्षण करने में (राजदत्त क्षेत्र-आदि भोग-भक्षण करने में) किसकी अपेक्षा होगी ? अपि तु किसी की नहीं[6] ॥२३८॥ [हे राजन् ! जो मन्त्री आपकी इसप्रकार स्तुति करता है—] 'हे राजन् ! जब तक आप इस कुल में उत्पन्न नहीं हुए तब तक दूसरे यशोबन्धुर व यशोर्घ-आदि आपके पूर्वज राजा लोग कुलीन हुए और आपके उत्पन्न होनेपर आपके वंश में उत्पन्न हुए समस्त राजा लोग कुल-हीन होगए' ॥२३९॥

हे स्वामिन् ! उक्त श्लोक द्वारा आपकी स्तुति करनेवाले आपके मन्त्री ने किसप्रकार से अपनी एकान्तता ('मैं ही राज्य का सर्वस्व हूँ' इसप्रकार अद्वितीय प्रभुत्व) प्रकाशित नहीं की ? अपि तु अवश्य की। इसीप्रकार हे राजन् ! इस मन्त्री ने जब आपके जन्म से उत्पन्न होनेवाली कुल-विशुद्धि का निरूपण किया तब इससे यह समझना चाहिए कि इसने आपके वंश की अशुद्धि

---

१. समुच्चयालङ्कार। २. जाति व आक्षेपालङ्कार। ३. आक्षेपालंकार।

* 'विप्रादीनां दत्तं ग्रासः तस्य ग्रहः पिशाच': टिप्पणी ग०। ४. परिवृत्ति-अलंकार। ५. रूपकालंकार। ६. उपमा व आक्षेपालङ्कार।

वदतानेन साधु देवान्वयस्याविशुद्धता प्रकाशिता। न खलु पुत्रात्पित्रोः कुलीनता, किं तु पितृभ्यां पुत्रस्य। तदेवं देव, देवस्यायमेव नितरां पक्षपाती। देव, देवस्यायमेव राज्यलक्ष्मीवल्लीवर्धनः। देव, देवस्यायमेव मङ्गलपरम्परासंपादनः। देव, देवस्यायमेव प्रतापप्रदीपनन्दनः। देव, देवस्यायमेव समरेषु जयविभूतिकारणम्। देव, देवस्यायमेव बान्धवेषु हारावरुद्धकण्ठताहेतुः। देव, देवस्यायमेव मित्रेषु श्रीफलोपलालनायतनम्। देव, देवस्यायमेवाश्रितेषु चिन्तामणिनिदानम्। अत एव

वृत्तिच्छेदस्त्रिदशविदुषः कोहलस्यार्थहानिर्मानम्लानिर्गणपतिकवेः शंकरस्याशु नाशः।
धर्मध्वंसः कुमुदकृतिनः केकटेश्च प्रवासः पापादस्मादिति समभवद्देव देशे प्रसिद्धिः॥ २४०॥

प्रकट की, क्योंकि पुत्र की कुलीनता से उसके माता-पिता में कुलीनता नहीं आती किन्तु माता पिता की कुलीनता से ही उनके पुत्र में कुलीनता प्रकट होती है। इसलिए ऐसा होनेपर हे राजन्! यह मन्त्री ही आपका विशेपरूप से पक्षपाती है। अर्थात्—आपके वंश को विशेषरूप से नष्ट करनेवाला है, न कि आपके पक्ष का अवलम्बन करनेवाला। हे राजन्! आपका यह मंत्री राज्यलक्ष्मीवल्लीवर्धन है। अर्थात्—राज्यसंपत्तिरूपी लता का वर्धन (छेदनेवाला) है, न कि वृद्धिंगत करनेवाला। इसीप्रकार हे स्वामिन्! आपका यह मन्त्री मङ्गल-परम्परा-संपादन है। अर्थात्—घड़े को भेदन करनेवाले ठीकरों की श्रेणी (समूह) को करनेवाला है, न कि कल्याणश्रेणी की सृष्टि करनेवाला। हे राजन्! आपका यह मन्त्री प्रताप-प्रदीप-नन्दन है। अर्थात्—आपके प्रतापरूपी दीपक का नन्दन (विध्यापक—बुझानेवाला) है, न कि प्रबोधक—उद्दीपित करनेवाला। हे राजन्! आपका यह मन्त्री युद्धभूमि में जय-विभूति-कारण है। अर्थात्—विजयश्री के भस्म करने का कारण है—शत्रुओं से पराजित होने में कारण है—न कि विजयश्री व ऐश्वर्य का कारण। हे स्वामिन्! आपका यह मन्त्री कुटुम्बीजनों में हारावरुद्ध-कण्ठताहेतु है। अर्थात्—ईंटों के ढेर के ग्रहण द्वारा विलाप रोकनेवाला है। अभिप्राय यह है—जो युद्ध में शत्रु द्वारा मारे हुए योद्धाओं की विधवा स्त्रियों-आदि के विलाप को ईंटों व खप्पड़ों के मार देने का भय दिखाकर रोकनेवाला है, अथवा जो हा-आराव-रुद्धकण्ठताहेतु है। हा हा इस आराव (आक्रन्द—रुदन) शब्द द्वारा रुँधे हुए कण्ठ का कारण है। अभिप्राय यह है कि इसके दुष्कृत्यों के परिणामस्वरूप राजा व अधिकारियों के हृदय में 'हाय-हाय' ऐसा करुण रुदन-शब्द होता है, जिससे कि उनका कण्ठ रुँध जाता है, न कि हार—मोतियों की मालाओं—के कण्ठाभरण का कारण है। इसीप्रकार हे स्वामिन्! आपका यह मन्त्री मित्रों के शिरों पर श्रीफल-उपल-आलन-आयतन—है। अर्थात्—मित्रों के शिर पर विल्वफल बाँधने और पत्थरों द्वारा ताडन करने का स्थान है न कि लक्ष्मीरूप फल के विस्तार का स्थान है एवं हे राजन्! यह आपका मन्त्री नौकरों में चिन्तामणिनिदान है। अर्थात्—आर्तध्यान के कथन का कारण है। अभिप्राय यह है—कि वह नौकरों के लिए पर्याप्त वेतन नहीं देता, इसलिए उनकी चिन्ता—आर्तध्यान—को बढ़ाता है न कि शोणरत्न का कारण है।

इसलिए हे स्वामिन्! इस पापी मन्त्री से देश में ऐसी प्रसिद्धि होरही है, कि इसने 'त्रिदश' नामके कवि की जीविका का उच्छेद (नाश) किया, 'कोहल' कवि को निर्धन किया, इसीके द्वारा 'गणपति' नामके कवि का मानभङ्ग हुआ, 'शंकर, नामके विद्वान् का शीघ्र नाश हुआ और कुमुदकृति' नामके विद्वान् का धर्म नष्ट हुआ एवं 'केकटि' नामके महाकवि का परदेश-गमन हुआ[1] ॥२४०॥

---

१. समुच्चयालंकार।

मूर्खं बृहस्पतिमयं वृषलं कुलीनं व्रात्यं महान्तमधमं पुनरुत्तमं च।
तुष्टः करोति कुपितश्च विपर्ययेण I मन्त्रीति देव विषयेषु महान्प्रवादः ॥ २४१ ॥

अलमतिविस्तरेण। देव, समस्तस्याप्यस्य ii भाषितस्येदं कैपर्यम् —

यः कार्यार्थिनि भूपतावसमधीः कार्याय धत्ते धुरं यश्चार्थार्थिनि संनयोचितमतिश्चिन्तामणिर्जायते।
भक्तौ भर्तरि मन्त्रिणामिदमहो दिव्यं द्वयं कीर्तितं न क्षोणीश महीयसां निरसनं राज्यस्य वा ध्वंसनम् ॥२४२॥

तथा च श्रुतिः—दुर्योधनः समर्थोऽपि दुर्मन्त्री प्रलयं गतः। राज्यमेकशरोऽप्याप सन्मन्त्री चन्द्रगुप्तकः ॥ २४३ ॥

× पुण्योदयः क्षितिपतेर्नियतं तदैव कामं महोत्सवसमागमनं सुहृत्सु।
मोदागमश्च परमो ननु सेवकानां जायेत दुष्टसचिवापचितिर्यदैव ॥ २४४ ॥

हे देव! अवन्तिदेश में इसप्रकार की विशेष किंवदन्ती हो रही है कि 'आपका यह मन्त्री सन्तुष्ट हुआ मूर्ख पुरुष को बृहस्पति, वृषल (चाण्डाल के संसर्ग-वश ब्राह्मणी से उत्पन्न हुए शूद्र पुरुष) को कुलीन, अहिंसादि व्रतों से भ्रष्ट हुए पुरुष को गुरु और नीच को श्रेष्ठ बना देता है और इसके विपरीत कुपित होने पर पूर्वोक्त से उल्टा कर देता है। अर्थात्—कुपित होने पर बृहस्पति को मूर्ख, कुलीन को शूद्र, गुरु को व्रतभ्रष्ट और श्रेष्ठ को अधम बना देता है'[1] ॥२४१॥

विशेष विस्तार से क्या लाभ? हे राजन्! समस्त पूर्वोक्त का तात्पर्य यह है—

जो मन्त्री प्रयोजनार्थी राजा में अद्वितीय बुद्धिशाली होता हुआ कार्यभार धारण करता है और जो अपनी बुद्धि को न्याय में प्रेरित करता हुआ (अन्याय से धन न देकर न्यायोचित्त उपायों से प्राप्त किये हुए धन को देता हुआ) धन चाहनेवाले राजा के लिए चिन्तामणि है। अर्थात्—मनोवाञ्छित वस्तु देता है। इसप्रकार मन्त्रियों की राजा में भक्ति होने पर निम्नप्रकार दो दिव्य (उत्तम लाभ) कहे गये हैं। १. विद्वज्जनों का तिरस्कार नहीं होता और राज्य नष्ट नहीं होता[2] ॥२४२॥ शास्त्र में कहा है—दुर्योधन राजा समर्थ होने पर भी (दुःशासन व दुर्धर्षण-आदि सौ भाइयों से सहित होने के कारण शक्तिशाली होने पर भी) शकुनि नामके दुष्ट मन्त्री से अलंकृत हुआ प्रलय (नाश) को प्राप्त हुआ। अर्थात्—अकेले भीम द्वारा मार दिया गया और चन्द्रगुप्त नामका मौर्यवंशज राजा प्रशस्त मन्त्री से विभूषित हुआ (चाणक्य नाम के राजनीति के वेत्ता विद्वान् मन्त्री से अलङ्कृत हुआ) एक बाणशाली होनेपर भी (अकेला होनेपर भी) राज्यश्री को प्राप्त हुआ[3] A ॥२४३॥ हे राजन्! जिस समय दुष्ट मन्त्री का विनाश होता है उसी समय निश्चित रीति से राजा का पुण्योदय होता है और उसके कुटुम्बीजनों के लिए विशेष महोत्सव प्राप्त होता है व सेवकों के लिए उत्कट हर्ष प्राप्त होता है। इसप्रकार राजनीति के प्रकरण में मन्त्री-अधिकार समाप्त हुआ[4] ॥२४४॥

I उक्त शुद्धपाठः क० प्रतितः संकलितः। मु० प्रतौ तु 'मन्त्रीति देव विषये सुमहान्प्रवादः'।

ii 'भाषितस्यैदंपर्यम्' क०। × 'पुण्योदयः क्षितिपतेर्नगरं तदैव' क०। १. दीपकालंकार।

२. रूपकालंकार। ३. जाति-अलंकार। ४. दीपकालंकार।

A इतिहास बताता है कि ३२६ ई० पू० में नन्दवंश का राजा महापद्मनन्द मगध का सम्राट् था। नन्दवंश के राजा अत्याचारी शासक थे, इसलिए उनकी प्रजा उनसे अप्रसन्न हो गई और अन्त में विष्णुगुप्त (चाणक्य) नाम के ब्राह्मण विद्वान् की सहायता से इस वंश के अन्तिम राजा को उसके सेनापति चन्द्रगुप्तमौर्य ने ३२५ ई० पूर्व में गद्दी से उतार दिया और स्वयं राजा बन बैठा। 'मैगास्थनीज' नामक यूनानी राजदूतने, जो कि चन्द्रगुप्त के दरबार में रहता था, चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध की बड़ी प्रशंसा की है। इसने २४ वर्ष पर्यन्त नीति-न्यायपूर्वक राज्यशासन किया।

*कदाचिद्दिशां दण्डमादिक्षुराकारितसमस्तसामन्तलोकः सकलसैन्यसमालोकनोत्तुङ्गतमङ्गसंगतिकरेषु बलदर्शनावसरेषु निटिलतटपट्टिकाप्रतानघटितोत्कटजूटम्, उत्फुल्लकिंशुकप्रसूनमञ्जरीजालजटिलविषाणविकटमेकशृङ्गमृगमण्डलमिव, कर्तरीमुखचुम्बितामूलश्मश्रुजालम्, उद्भिद्यमानमदतिलकितकपोलं पीलुकुलमिव, किर्मीरमणिविनिर्मितत्रिशरकण्ठिकम्, महामण्डलावगुण्ठित×गलनालमान्यमीशानसैन्यमिव, आकुञ्चितकृतकालायसवलयकरालकराभोगम्, व्यालविशेषवेष्टितविटपभागं

अथानन्तर (उक्त 'शङ्खनक' नामके गुप्तचर द्वारा की गई 'पामरोदार' मन्त्री की कटु-आलोचना के श्रवणानन्तर) हे मारिदत्त महाराज ! समस्त दिङ्मण्डल में वर्तमान राजाओं के सैन्यधन के ग्रहण करने का इच्छुक और समस्त अधीनस्थ राजाओं के समूह को बुलवानेवाले मैंने (यशोधर महाराज ने) किसी समय समस्त सैन्य के दर्शन-निमित्त ऊँचे महल पर आरोहण करनेवाले सैन्य-दर्शन के अवसरों पर सेनापतियों के निम्नप्रकार विज्ञापन श्रवण किए—हे राजन् ! ऐसा यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुआ दक्षिणदिशा से आया हुआ सैन्य (पल्टन) देखिए, जिसने ललाट के उपरितन भागपर (बांधी हुई) [लाल] वस्त्र की पट्टी (साफा) द्वारा अपना उत्कट जूट (केशसमूह) बाँधा है, इसलिए वह (सैन्य) ऐसे एक शृङ्गवाले गण्डक (गेंडा) समूह सरीखा प्रतीत होरहा था, जो कि विकसित पलास-(टेसू) पुष्पमञ्जरी-समूह से वेष्टित हुए शृङ्गों से भयानक अथवा प्रकट है। जिसकी दाढ़ी का केश-समूह कैंची की नौंक द्वारा स्पर्श किया हुआ निर्मूल कर दिया गया था। इसीप्रकार जो उद्भिद्यमानमदतिलकितकपोलशाली है। अर्थात्—प्रकट हुए मद-(अभिमान) वश श्रेष्ठ गालों से विभूषित है, इसलिए जो ऐसे गज-वृन्द (हाथी-समूह) सरीखा शोभायमान होरहा था, जो कि उद्भिद्यमानमदतिलकितकपोलशाली है। अर्थात्—जो उत्पन्न होरहे दानजल के तिलक से मण्डित गण्डस्थलशाली है। जिसने [कण्ठ में] नानाप्रकार के [नील व शुभ्र] मणियों से बनी हुई तीन डोरोंवाली कण्ठी पहिन रक्खी थी, इसलिए जो (वह) सर्पविशेषों से वेष्टित कण्ठरूप कन्दली से सुशोभित श्रीमहादेव के सैन्य-सरीखा प्रतीत होरहा था। जिसकी भुजाओं का

कथासरित्सागर में लिखा है कि नन्दराजा के पास ९९ करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ थीं, अतएव इसका नाम नवनन्द था, इसी नन्द को मरवाकर चाणक्य ने चन्द्रगुप्तमौर्य को मगध की राजगद्दी पर बैठाया। किन्तु इतने विशाल साम्राज्य के अधिपति की मृत्यु के बाद सरलता से उक्त साम्राज्य को हस्तगत करना जरा टेढ़ी खीर थी। नन्द के मन्त्री राक्षस-आदि उसकी मृत्यु के बाद उसके वंशजों को राजगद्दी पर बिठाकर मगध साम्राज्य को उसी वंश में रखने की चेष्टा करते रहे। इन मंत्रियों ने चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त की सम्मिलित शक्ति का विरोध बड़ी दृढ़ता से किया। कवि विशाखदत्त अपने 'मुद्राराक्षस' में लिखते हैं कि शक, यवन, कम्बोज व पारसीक-आदि जाति के राजा चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वर की सहायता कर रहे थे। करीब ५-६ वर्षों तक चन्द्रगुप्त को नन्दवंश के मंत्रियों ने पाटलिपुत्र में प्रवेश नहीं करने दिया। किन्तु विष्णुगुप्त (चाणक्य—कौटिल्य) की कुटिल नीति के सामने इन्हें सिर झुकाना पड़ा। अन्त में विजयी चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से नन्दवंश का मूलोच्छेद करके सुगांग प्रासाद में बड़े समारोह के साथ प्रवेश किया।

निष्कर्ष—चाणक्य ने विषकन्या के प्रयोग से नन्दों को मरवाकर अपनी आज्ञा के अनुसार चलनेवाले चन्द्रगुप्तमौर्य को मगधप्रान्त के साम्राज्य पद पर आसीन किया। इसका पूर्ण वृत्तान्त पाठकों को कवि विशाखदत्त के मुद्राराक्षस से तथा अन्य कथासरित्सागर-आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिये। हम विस्तार के भय से अधिक नहीं लिखना चाहते। * 'कदाचिद्दिशां दण्डमादिक्षुः' क०। ×'गलनालमन्यदीशानसैन्यमिव' क०'।

भद्रश्रियानोकहगहनमिव, आनाभिदेशोत्तम्भितासिधेनुकम्, अहीश्वरानुबद्धमध्यमेखलं मन्थानकाचलमिव, आजङ्घक्षणोत्क्षिप्तनिबिडनिवसनं सकौपीनं वैखानसवृन्दमिव, अनेकाङ्कनामसंभावनोद्ग्रीवाननम्, आत्मस्तवाडम्बरोद्भरमागधोत्कर्णितवदनम्, †ऊर्ध्वनखरेखालिखितनिखिलदेहप्रासादं देव, इदं विहितविविधायुध‡वर्तनौचित्यं दाक्षिणात्यं बलम्

चण्डांशुरश्मिसंपर्कज्वलत्कुन्ताग्रमण्डलम्। स्वत्प्रतापानलव्याप्तं विदधानमिवाम्बरम् ॥२४५॥

इतश्च पर्यन्तखर्वितकुन्तलतयार्धमुष्टिमितमस्तकमध्यकेशम्, अतिप्रलम्बश्रवणदेशदोलायमानस्फारसुवर्णकर्णिकाकिरणकोटिकमनीयमुखमण्डलतया कपोलस्थलीपरिकल्पितप्रफुल्लकर्णिकारकाननमिव, समुत्कर्षितश्मश्रुचिबुक॥ जङ्घाग्रभागरोमलोमशम्, अहरहःप्रमार्जितदशनप्रकाशपेशलवदनतया प्रदर्शितस्वकीययशःप्रसूतिक्षेत्रमिव, अनङ्गग्रहपरिवेषवर्तुलदन्तक्षतक्षपितभुजशिखरम्, अनवरतक्षरत्क्षपारसरागरक्तशितिशरीरतयाI कञ्जकिंजल्ककलुषकालिन्दीकल्लोलकुलमिव, मायूरबर्हातपत्रप्रभा-

विस्तार सर्पों के समान चेष्टाशाली लोहमय वलयों (कड़ों) से उन्नत था, इसलिए वह सांपो के बच्चों से वेष्टित शाखावाले भद्रश्रियA—चन्दनवृक्ष—के वन सरीखा शोभायमान होरहा था। जिसने नाभिदेशपर्यन्त छुरी बाँध रक्खी थी, इसलिए जो शेषनाग से बँधी हुई कटिनी (पर्वत के मध्य का उतार) वाले सुमेरु पर्वत के समान शोभायमान होरहा था। जङ्घाओं अथवा घुटनों तक फैलाए हुए दृढ़वस्त्रवाला वह लँगोटी पहिने हुए सन्यासियों के समूह-सरीखा मालूम पड़ता था। नानाप्रकार की स्तुतिपाठकों की स्तुतियों के श्रवण करने में जिसका मुख ऊँची गर्दनशाली था। जिसने अपना मुख ऐसे स्तुतिपाठकों के [देखने के लिए] ऊँचा उठाया है, जो कि अपने द्वारा की हुई [राजा-आदि की] स्तुति से उत्कट हैं एवं जिसका समस्त शरीररूपी मन्दिर उन्नत नखपङ्क्तियों से चित्रित (फोटों से व्याप्त) है। इसीप्रकार जिसने नाना प्रकार के शस्त्रों के संचालन करने की असहाय योग्यता प्राप्त की है।

जिसके भालों के पर्यन्तभाग का मण्डल सूर्य-किरणों के स्पर्श से अत्यन्त प्रदीप्त होरहा था. जिसके फलस्वरूप वह ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—आकाश को आपकी प्रतापरूपी अग्नि से व्याप्त ही कर रहा है[1] ॥२४५॥

हे राजन्! एक पार्श्वभाग पर ऐसा द्रमिलदेश का सैन्य (फौज) देखिए, शिर के पर्यन्तभाग में कैंची से काटे हुए केशों के कारण जिसके मस्तक के मध्यवर्ती केश आधी मुष्टि से नापे गए थे। जिसका मुखमण्डल अत्यन्त विस्तृत कानों के देशपर झूलते हुए प्रचुर कर्णाभूषण (सोने की वाली) की किरणों के अग्रभागों से मनोहर होने के कारण गालों की स्थलियों पर रचे हुए प्रफुल्लित कर्णिकार-(वनचम्पा—वृक्ष विशेष) पुष्पों के वन सरीखा शोभायमान होता था। जो ओष्ठपर्यन्तों, दाढ़ियों व जङ्घाओं के अग्रभागों पर वर्तमान वृद्धिंगत रोमों से रोमशाली था। प्रत्येक दिन घर्षण किये हुए [शुभ्र] दाँतों के प्रकाश से व्याप्त हुए मुख से शोभायमान होने के फलस्वरूप जिसने अपने यशरूपी [बीज] की उत्पत्ति के लिए चेत्र (खेत) प्रकट किया है, उसके समान सुशोभित होरहा था। जिसकी भुजाओं के अग्रभाग ऐसे दन्तक्षतों (दाँतों द्वारा किये हुए चिन्हविशेषों) से भोगे हुए (सुशोभित) होरहे थे, जो कि कामदेवरूपी ग्रह के गोलाकार मण्डल-सरीखी गोल आकृति के धारक थे। जिसका श्याम शरीर निरन्तर क्षरण होनेवाले हरिद्रा (हल्दी) रसकी लालिमा से व्याप्त हुआ उसप्रकार शोभायमान होता था जिसप्रकार कमलों की पराग से मिश्रित हुई यमुना नदी की तरङ्गपङ्क्ति शोभायमान होती है। मोरपङ्खों के छत्तों

† 'ऊर्ध्वनखलेखा' क०। ‡ 'वल्गनौचित्यं' क०। ॥ 'जङ्घाग्रभागसमलोमशम्' क०। I अयं शुद्धपाठः क० प्रतितः समुद्धृतः। कञ्जं पीयूषपद्मयोरिति विश्वः। मु० प्रतौ तु 'कज' पाठः—सम्पादकः—

A 'भद्रश्रियं चन्दनम्' इति पञ्जिकाकारो जिनदेवः—संस्कृत टीका (पृ० ४६२) से संकलित—सम्पादक १. उत्प्रेक्षालंकार।

श्यामिकासंपादितगगनगारुडोपलकुट्टिमच्छायम्, दरदद्रवापाटलफलकान्तिकुटिलकटितटोल्लास‡लालसकरम्, संध्याभ्रगर्भविभ्रान्ताभ्रियसंदर्भनिर्भरं नभ इव, देव, इदमनेकदोलिकाविलं ÷ द्रामिलं बलम्।

इतश्चोत्तप्तकाञ्चनकान्तकायपरिकरम्, करोत्तम्भितकर्तरीकणयकृपाणप्रासपट्टिशबाणासनम्, आसनविशेषवशातिविद्रुत❀मितद्रवखुरक्षोभितकुम्भिनीभागम्, भागभागार्पितानेकवर्णवसनवेष्टितोष्णीषम्, अनवधिप्रकारप्रसवस्तबकचुम्बितशिखम्, विजयश्रीनिवासवनमिवेदं देव, तुरणवेगवर्णनोदोर्णं यथायथकथ+मौत्तरपथं बलम्।

इतश्च जयलक्ष्मीवक्षोजमुखमण्डलश्यामशरीरप्रभापटलकुवलयितनभःसरोभिर्द्वदानासवासारसौरभागमगण्डूषिताशेषदिग्विलासिनीवदनैः कदलिकाप्रलम्बनभुजगाशनबर्हविश्रासितसाविस्त्रस्यन्दनोरगरज्जुभिः †पवमानबलचलत्पताकाञ्चला-

की श्याम कान्ति द्वारा जिसने आकाश में गरुडमणियों से बनी हुई कृत्रिम भूमि की शोभा उत्पन्न की थी। जिसका हस्त ऐसे कुटिल कमर-प्रदेश को उल्लासित (आनन्दित) करने का इच्छुक था, जो कि हिंगुलक-रस से लाल वर्ण हुई ढाल या काष्ठ की पट्टी की कान्ति से व्याप्त था। इसलिए जो (सैन्य) संध्याकालीन मेघों के मध्य में संचार करती हुई वज्राग्नियों की श्रेणी (समूह) से संयुक्त हुए आकाश-सरीखा शोभायमान होरहा था। इसीप्रकार जो अनेक प्रकार की दोलिकाओं (युद्धक्रियाओं अथवा कूँदना उछलवाना आदि क्रियाओं) से व्याप्त था।

हे राजन्! इसीप्रकार एक पार्श्वभाग में उत्तर दिशा के मार्ग से आया हुआ ऐसा सैन्य देखिए, जिसका शारीरिक परिकर (आरम्भ) तपे हुए सुवर्ण-सरीखा मनोहर है। जिसने हस्तों द्वारा छुरी, लोहे का बाण विशेष, खड्ग, भाला, और विशेष तीक्ष्ण नौंकवाला भाला एवं धनुष उठाया है। जिसने [पींठ पर] बैठने के ढङ्ग विशेष (दोनों ओर एड़ी मारते हुए सवार रहना) के अधीन होने के कारण दौड़ते हुए घोड़ों की टापों से पृथ्वीभाग संचालित किया है। जिसने मध्य-मध्य में वेष्टित हुए अनेक रंग (सफेद, पीले, हरे, लाल व काले) वाले वस्त्रों से अपना केशसमूह बाँधा है। जिसके मस्तक का अग्रभाग निस्सीम (बेहद) भाँति के फूलों के गुच्छों से उसप्रकार चुम्बित—छुआ हुआ—है जिसप्रकार विजयलक्ष्मी के निवास का वन अनेक प्रकार के फूलों के गुच्छों से चुम्बित (व्याप्त) होता है एवं जो घोड़ों के वेगपूर्वक संचार की प्रशंसा करने में उत्कट व सत्यवादी है।

हे राजन्! इसीप्रकार एक तरफ यह (प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला) यमुना नदी के तटवर्ती नगर का ऐसा सैन्य देखिए, जिसने ऐसे हाथियों द्वारा समस्त दिग्मण्डल श्यामलित (श्यामवर्णयुक्त) किया है, जिन्होंने विजयलक्ष्मी के कुच (स्तन) कलशों के मुखमण्डल (चूचुक-प्रदेश) सदृश श्याम शरीर की कान्ति-समूह द्वारा आकाशरूपी तालाब को कुवलयित A (नील कमलों से व्याप्त) किया है। जिनके [गण्डस्थलों] से मद (दानजल) प्रवाहित हो रहा था, जिसके फलस्वरूप उस मदरूपी मद्य की वेगशाली वर्षा संबंधी सुगन्धि की प्राप्ति से जिन्होंने समस्त दिशारूपी स्त्रियों के मुख गण्डूषित (कुरलों से व्याप्त) किये हैं। जिन्होंने [अपने ऊपर स्थित हुई] ध्वजाओं के अग्रभागों पर लगे हुए मोरपंखों द्वारा सूर्य-रथ के सर्प-बन्धन भय में प्राप्त कराये हैं। वायु की सामर्थ्य से कम्पित होते हुए

‡'लालसकरतया संध्याभ्रगर्भसंभ्रान्ताभ्रेयसन्दर्भनिर्भरं नभ इव' क०। ÷'द्राविलं बलम्' क०। ❀ 'मितद्रुखुर' क० ग०। +'औत्तरापथं बलम्' क० ख० ग० च०। †'पवमानचलत्पताका, क०।

A. उक्तं च—'स्यादुत्पलं कुवलयमथ नीलाम्बुजन्म च। इन्दीवरं च नीलेऽस्मिन्सिते कुमुदकैरवे' यश० सं० टी० पृ० ४६५ से समुद्धृत—सम्पादक

चरितविरोचनचामरोपचारैः करिवरैस्तमालिताखिलाशावलयम्, अनवरतचिपिटचर्वणदीर्णदशनाग्रदेशैःSगुवाककल्कषायित-वदनवृत्तिभिः स्वभावादेवातिकोपनहृदयैराप्रपदीनचोलकस्खलितगतिवैलक्ष्योत्क्षिप्तपर्यन्तजनदुर्वाग्विधिभिः प्रकामायामकोम-चूडैर्गौडैराकुलितसकलसैनिकम्, विचित्रसूत्रगुम्फितस्फारफरत्कोत्करकर्बुरितसर्वदाक्षायणीदेशम्, *उत्खातखड्गवल्गनविसारि धाराकरनिकरतरङ्गितगगनभागम्, आहवैकानुरागं देव, इदं जलयुद्धबद्धक्रियाविशेषासक्तं तैरभुक्तं बलम्।

इतश्चाजानुलम्बमाननिवसनम्, माहिषविषाण*घटितमुष्टिकटारकोत्कटकटीभागम्, निरन्तरघनदीर्घदेहलोमकलाप-कल्पितसर्वाङ्गीणकङ्कटम्, अधस्तिर्यक्प्रबन्धप्रवृद्धकूर्चकेशतया क्रियानुमेयनाभिनासानयनश्रवणदेशम्, उभयांसोत्तम्भितभूरि-भक्ततया त्रिशिरोनिशाचरानीकमिव, †लघुदृढदुष्करदूरलक्ष्यादिपातादिपाटवापहसितकृपकृपधर्मकर्णार्जुनद्रोणद्रुपदभर्गभार्गवम्,

ध्वजाओं के प्रान्तभागों द्वारा जिन्होंने श्रीसूर्य की चमरों से पूजन की है, पुनः कैसा है वह सैन्य ? जिसके समस्त सैनिकA ऐसे गौड़ देश संबंधी सैनिकों द्वारा किंकर्तव्य-विमूढ़ किये गये हैं, जिनके दाँतों के प्रान्तप्रदेश निरन्तर पृथुकोंB (धान्यभ्रष्टयव—जौ) के भक्षण द्वारा विदीर्ण किये गये हैं, जिनकी मुख वृत्ति सुपारी-भक्षण से रञ्जित हुई है, जिनका मन प्रकृति से ही विशेष क्रोध प्रकट करनेवाला है, जिन्होंने सामने खड़े हुए लोगों के प्रति इसलिए कटुवचनों का उच्चारण किया था, क्योंकि इन्होंने पैरों के अग्रभाग-पर्यन्त प्राप्त हुआ चोलक (कूर्पासक—अंगरखा) पहिन रक्खा था, जिसके कारण गमन-भङ्ग होजाने से वैलक्ष्य❀ (निःप्रतिपत्ति—अज्ञानता) होगया था एवं जिनकी चोटी के केश-समूह विशेष लम्बे हैं, पुनः कैसा है वह सैन्य ? जिसने पँचरंगे तन्तुओं द्वारा गूँथे हुए महान् आखेटक (शिकारी वस्तु—जाल-आदि) समूहों द्वारा समस्त आकाश मण्डल को विचित्र वर्णशाली किया है। जिसने उत्थापित (उठाए हुए) खड्गों (तलवारों) की उछलने फैलनेवाली धारा (अग्रभाग) की किरण-समूह से आकाश प्रदेश को तरङ्गित (तरङ्गशाली) किया है और जो युद्ध करने में अद्वितीय प्रीति रखता हुआ जलयुद्ध करने में बाँधे हुए क्रिया विशेष (कर्त्तव्य विशेष) में आसक्त है।

इसीप्रकार हे राजन् ! एक पार्श्वभाग में यह 'गुर्जर' देश का ऐसा सैन्य देखिए, घुटनों तक लम्बा वस्त्र धारण करनेवाले जिसका कमर-भाग भैंस के सींग से बनी हुई मुष्टिवाली छुरी से उत्कट है। जिसके समस्त शरीर पर अविच्छिन्न, घने व लम्बे शारीरिक रोम-समूह द्वारा कवच रचा गया है। जिसकी दाढ़ी के बाल नीचे भाग पर और तिरछे बाएँ व दाहिने पार्श्वभागों पर घने रूप से वृद्धिंगत हुए थे, इसलिए जिसकी नाभि, नासिका, नेत्र और कानों के प्रदेश सूँघना व देखना-आदि क्रियाओं द्वारा अनुमान किये जाते थे। अर्थात्—उसकी दाढ़ी के बाल नीचे की ओर नाभि प्रदेश तक बढ़ गये थे और तिरछे बाईं व दाहिनी ओर नाक नेत्र और कानों के प्रदेश तक बढ़ गए थे, जिससे उसके नाक, व नेत्रादि प्रत्यक्ष से दृष्टिगोचर न होने के कारण केवल सूँघना, देखना व सुनना-आदि क्रियाओं द्वारा अनुमान किये जाते थे। अपने दोनों कँधो पर विशाल भाते बाँध रखने के कारण जो तीन मस्तकों वाले राक्षस-समूह समान शोभामान हो रहा था। जिसने लघुसन्धान (धनुष-आदि पर बाण-आदि का

S'गूवाक' क०। * 'उत्खातखड्गवल्गनविसारि' क० ग०। * 'घटितमुकटारिकोत्कटकटीभागम्' क०। † 'पाटवापहसितकर्णार्जुनद्रोणद्रुपदभर्गभार्गवम्' क०। A. उक्तं च—'सेनायां समवेता ये सैन्यास्ते सैनिकाश्च ते'।

B. उक्तं च—'पृथुकः स्याच्चिपिटको धान्यभ्रष्टयवे स्त्रियः'। ❀'विलक्षे विस्मयान्विते विरुद्धं लक्ष्यमिति विगतं लक्ष्म अस्य वा विलक्षो निः प्रतिपत्तिः तस्य भावो वैलक्ष्यं' टिप्पणी ग०।

धृताधिज्याखकार्यं देव, इदं गौर्जरं बलम् ।

एवमेतान्यपराण्यपि हिमालयमलयमगधमध्यदेशमाहिष्मतीपतिप्रभृतीनामवनीपतीनां बलानि देवस्य विजययात्रोद्योगमाकर्ण्यागतानि पश्येति बलाधिकृतीनां विज्ञप्तीरश्रृणवम् ।

गुरोऽर्थशास्त्रनिपुणः कृतशस्त्रकर्मा संग्रामकेलिचतुरश्चतुरङ्गयुक्तः ।
भर्तुर्निदेशवशगोऽभिमतः स्वसैन्ये सेनापतिर्नरपतेर्विजयागमाय ॥२४६॥

कदाचित्पुराणपुरुषस्तवनवाग्विभ्रमवागुरावेषु सर्वसेवाप्रस्तावेषु

स्वचण्डचण्डवेतण्डशुण्डाखण्डितमण्डलाः । कण्ठोत्कण्ठकुठारास्ते देवैता द्विषतां घटाः ॥२४७॥
दूताः केरलचोलसिंहलशकश्रीमालपञ्चालकैरन्यैश्चाङ्गकलिङ्गवङ्गपतिभिः प्रस्थापिताः प्राङ्गणे ।
तिष्ठन्त्यात्मकुलागताखिलमहीसारं गृहीत्वा करे ×देवस्यापि जगत्पतेरवसरः किं विद्यते वा न वा ॥२४८॥

स्थापन करना), प्रहार करना-आदि और दुःसाध्य (दुःख से भी सिद्ध करने के अयोग्य) दूरवर्ती लक्ष्य (भेदने योग्य पदार्थ) की ओर उछलकर प्राप्त होना-इत्यादि में प्राप्त की हुई चतुराई द्वारा कृपाचार्य, कृपधर्माचार्य, कर्ण, अर्जुन, द्रोणाचार्य, द्रुपद—द्रौपदी का पिता भर्गनाम का योद्धा अथवा शुक्र और भार्गव को तिरस्कृत—लज्जित—किया है एवं जिसने चढ़ाई हुई डोरीवाला धनुष धारण किया है ।

इसीप्रकार हे राजन् ! ये दूसरीं हिमालय नरेश, मलयाचलस्वामी, मगधदेश का सम्राट् और अयोध्या के राजा एवं माहिष्मती नामक देश के राजा-आदि राजाओं की सेनाएँ, जो कि आपकी दिग्विजय-यात्रा का उद्यम श्रवण कर आई हुई हैं, देखिए[1] ।

राजा का ऐसा सेनापति [शत्रुओं पर] विजयश्री प्राप्त करने में समर्थ होता है, जिसने नीतिशास्त्र में कुशलता प्राप्त करते हुए समस्त प्रकार के आयुधों (हथियारों) की संचालन-विधि का अभ्यास किया है एवं जो युद्धक्रीड़ा का विद्वान् होते हुए हाथी, घोड़ा, रथ व पैदलरूप चारों प्रकार की सेनाओं से सम्पन्न है तथा स्वामी की आज्ञापालन में तत्पर होता हुआ अपनी सेना का प्रेमपात्र है[2] ॥२४६॥

अथानन्तर [हे मारिदत्त महाराज !] किसी समय मैंने राजद्वार में सर्व साधारण का प्रवेश न रोकनेवाले ऐसे अवसरों पर, जिनमें यशोर्घराजा-आदि पूर्वज पुरुषों की स्तुति करनेवाले स्तुति पाठकों के वचनों का उत्सव पाया जाता था, महान् राजदूतों के निम्न प्रकार वचन श्रवण किए—

राजदूतों के वचन—हे राजन् ! आपके शत्रुओं की ये (प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुईं) ऐसीं श्रेणियाँ वर्तमान हैं, जिनके मण्डल* (पृथिवी-भाग) आपकी सेना के प्रचण्ड हाथियों की सूंड़ों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये हैं और जिनके कण्ठों पर परशु बँधे हुए हैं[3] ॥२४७॥ हे देव ! ऐसे राजदूत, जो कि केरल (दक्षिण देश का राजा), चोल (मञ्जिष्ठा देश का सम्राट्), सिंहल (लङ्काद्वीप का स्वामी), शक (खुराशान देश का सम्राट्), श्रीमाल (श्रीमाल वणिकों की उत्पत्तिवाले देश का अधिपति), पञ्चालक (द्रुपद राजा के देश का स्वामी), इन राजाओं द्वारा एवं दूसरे गौड, गुर्जर-आदि देशवर्ती राजाओं द्वारा तथा दूसरे अङ्ग (चम्पापुर का सम्राट्), कलिङ्ग (कोटिशिला देश के दन्तपुर का स्वामी) तथा वङ्ग (पूर्व समुद्र के तटवर्ती देशों—बंगाल-आदि का राजा) राजाओं द्वारा भेजे गये हैं, अपनी वंशपरम्परा से चली आनेवाली समस्त पृथिवियों का धन (भेंट) हस्त पर ग्रहण करके आपके महल के आँगन पर स्थित होरहे हैं, पृथिवीपति

× 'देवस्याद्य जगत्पतेरवसरः' क० । १. दीपकप्राय-अलंकार । २. जाति-अलंकार । *उक्तं च—'आवर्तुलवृन्दभूभागेषु मण्डलाः ।' सं० टी० पृ० ४६९ से संकलित-सम्पादक ३. अतिशयालंकार ।

अवलगति कलिङ्गाधीश्वरस्त्वां करीन्द्रैस्तुरगनिवह एष प्रेषितः सैन्धवैस्ते ।
अयमपि च समास्ते पाण्ड्यदेशाधिनाथस्तरलगुलिकहारप्राभृतव्यग्रहस्तः ॥२४९॥

काश्मीरैः कीरनाथः क्षितिप मृगमदैरेष नेपालपालः कौशेयैः कौशलेन्द्रः शिशिरगिरिपतिर्ग्रन्थिपर्णैरुदीर्णैः ।
श्रीचन्द्रश्चन्द्रकान्तैर्विविधकुलधनैर्मागधः प्राभृतैस्त्वां द्रष्टुं द्वारे समास्ते यदिह समुचितं देव तन्मां प्रशाधि ॥२५०॥

इति संधिविग्रहिणां गीतीराकर्णयामास ।

वाचयति लिखति कथते गमयति सर्वा लिपीश्च भाषाश्च । आत्मपरस्थितिकुशलः सप्रतिभः संधिविग्रही कार्यः ॥२५१॥

आपको [उनसे मिलने का] अवसर है ? अथवा नहीं ?[१] ॥२४८॥ हे राजन् ! कलिङ्ग (दन्तपुरनगर) का अधिपति श्रेष्ठ हाथियों की भेंटों द्वारा आपकी सेवा कर रहा है और सिन्धुनदी के तटवर्ती देशों के राजाओं द्वारा आपके समीप भेजा हुआ यह सुन्दर जाति के घोड़ों का समूह [भेंटरूप से स्थित हुआ] वर्तमान है एवं पाण्ड्य देश का अधिपति भी, जिसके हस्त तरलA (स्थूल-श्रेष्ठ) मोतियों के हारों का उपहार धारण करने में विशेष आसक्त हैं, आपके सिंह (श्रेष्ठ) द्वार पर स्थित है[२] ॥२४९॥ हे राजेन्द्र ! काश्मीर देश का अधिपति केसर का उपहार लिए हुए, यह नेपाल देश का रक्षक कस्तूरी की भेंट ग्रहण किये हुए, कौशलेन्द्र (विनीतापुर का स्वामी) रेशमी वस्त्रों के उपहार धारण करता हुआ एवं हिमालय का स्वामी उत्कट ग्रन्थिपर्ण (सुगन्धि द्रव्यविशेष) की भेंट धारण किये हुए एवं यह कैलाशगिरि का अधिपति चन्द्रकान्त मणियों की भेंटे लिए हुए तथा मगध देश का राजा नानाप्रकार के वंश-परम्परा से चले आनेवाले धन (भेंट) ग्रहण किये हुए आपके दर्शनार्थ सिंह द्वार पर स्थित होरहा है, इसलिए हे राजन् ! इस अवसर पर जो उचित कर्तव्य है, उसके पालन करने की आज्ञा दीजिए[३] ॥२५०॥

हे राजन् ! आपको ऐसा राजदूत नियुक्त करना चाहिए, जो राजा द्वारा भेजे हुए शासन (लेख) को जैसे का तैसा अथवा विस्तृत व स्पष्ट रूप से वाँचता है, लिखता है, वर्णन करता है, अपने हृदय में स्थित हुए अभिप्राय को दूसरों के हृदय में स्थापित करता हुआ समस्त अठारह प्रकार की लिपियों और भाषाओं को गौड़-आदि देशवर्ती राजाओं के लिए ज्ञापित करता है एवं जो अपने स्वामी की तथा शत्रु की मर्यादा (सैनिक व कोशशक्ति) के ज्ञान में कुशल है। अर्थात्—मेरा स्वामी इतना शक्तिशाली है और शत्रु इतना शक्तिशाली है, इसके ज्ञान में प्रवीण है एवं जिसकी बुद्धि धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र व कामशास्त्र-आदि में चमत्कार उत्पन्न करती है तथा शत्रु के साथ सन्धि व युद्ध करने का जिसे पूर्ण अधिकार प्राप्त है। अर्थात्—जिसके द्वारा निश्चित किये हुए सन्धि व युद्ध को उसका स्वामी उसप्रकार प्रमाण मानता है, जिसप्रकार पांडव-दूत श्रीकृष्ण द्वारा निश्चित किये हुए कौरवों के साथ किये जानेवाले युद्ध को पांडवों ने प्रमाण माना था अथवा श्रीराम के दूत हनुमान द्वारा निश्चित किये हुए रावण के साथ किये जाने वाले युद्ध को श्रीराम ने प्रमाण माना था। भावार्थ—प्रकरण में यशोधर महाराज से कहा गया है कि हे राजन् ! आपको उक्त गुणों से विभूषित राजदूत नियुक्त करना चाहिए। प्रस्तुत यशोधर महाराज के 'हिरण्यगर्भ' नामके राजदूत में उक्त सभी गुण वर्तमान थे। राजदूत की विस्तृत-व्याख्या हम श्लोक नं० ११२ में कर चुके हैं[४] ॥ २५१ ॥

---

१. समुच्चयालंकार । A—उक्तंच—'हारमध्ये स्थितं रत्नं नायकं तरलं विदुः ।' २. समुच्चयालंकार ।
३. दीपकालंकार । ४. समुच्चयालंकार ।

कदाचित्—‡येऽभ्यर्णा दूरास्ते ये दूरास्ते भवन्ति चाभ्यर्णाः। पथिकजनेषु निसर्गात्तरुवन्नृपाः क्षितीशेषु ॥२५२॥

इति भयादवसरमलभमानस्य चिरसेवकसमाजस्य विज्ञप्तय इव नर्मसचिवोक्तयः प्रतिपन्नकामचारव्यवहारेषु +स्वैरविहारेषु मम गुरुशुक्रविशालाक्षपरीक्षितपराशरभीमभीष्मभारद्वाजादिप्रणीतनीतिशास्त्रश्रवणसनाथं श्रुतिपथमभजन्त। तथाहि। नृपलक्ष्मीः खलभोग्या न जातु गुणशालिभिर्महापुरुषैः।

भिक्षोर्न हि नखवृद्धेः फलमपरं पुस्तकण्डूतेः ॥२५३॥

*ये क्लिश्यन्ते नृपतिषु तेषु न जायेत जातुचिल्लक्ष्मीः। ǀदृष्टिः पुरोऽभिधावति फलमुपभुङ्क्ते नितम्बस्तु ॥२५४॥

समरभरः सुभटानां फलानि कर्णेजपैस्तु भोग्यानि। करिदशना इव नृपतेर्बाह्याः क्लेशाय खादनेऽन्तस्थाः ॥२५५॥

अथानन्तर—हे मारिदत्त महाराज ! किसी समय जब मैं स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति-युक्त स्वच्छन्द विहार कर रहा था तब क्रीड़ा (हास्यादि) मन्त्रियों के ऐसे भण्डवचन मेरे कानों के मार्ग में, जो कि गुरु, शुक्र, विशालाक्ष, परीक्षित, पराशर, भीम, भीष्म, भारद्वाज-आदि नीतिवेत्ताओं द्वारा रचे हुए नीतिशास्त्रों के श्रवण से विभूषित होरहा था, प्राप्त हुए। अर्थात्— मैंने श्रवण किए। कैसे हैं वे क्रीड़ामन्त्री के भण्ड वचन ? जो कि निम्नलिखित दृष्टान्त से [अति परिचय के कारण अवज्ञा (अनादर) होने के डर से] मेरे पास आने का अवसर प्राप्त न करनेवाले पुराने सेवक-समूह के नम्र निवेदनों (प्रार्थनाओं) के समान थे। अर्थात्—जिसप्रकार बहुत दिनों के ऐसे नौकर-समूह की, जो कि अतिपरिचय के कारण अपना अनादर होने के डर से स्वामी के समीप में प्राप्त होने का अवसर प्राप्त नहीं करता, प्रार्थनाओं (नम्र निवेदनों) में स्वामी का विशेष आदर नहीं होता, उसीप्रकार क्रीड़ा-मन्त्रियों के भण्डवचनों के श्रवण में भी मैंने विशेष आदर नहीं किया था, क्योंकि मेरा कर्ण-मार्ग उक्त नीतिवेत्ताओं के नीतिशास्त्रों के श्रवण से सुसंस्कृत व विभूषित था।

जिसप्रकार रास्तागीरों के लिए स्वभावतः समीपवर्ती वृक्ष दूरवर्ती होजाते हैं और दूरवर्ती वृक्ष निकटवर्ती होजाते हैं उसीप्रकार राजाओं को भी स्वभावतः जो समीपवर्ती नौकर होते हैं, वे दूरवर्ती हो हो जाते हैं और दूरवर्ती नौकर समीपवर्ती होजाते हैं[1] ॥ २५२ ॥

क्रीड़ामन्त्रियों के भण्डवचन—हे राजन् ! राज्यलक्ष्मी दुर्जनों द्वारा भोगने योग्य होती है, वह कदापि गुणवान् महापुरुषों द्वारा भोगने योग्य नहीं होती। यह योग्य ही है ; क्योंकि साधुपुरुषों की नख-वृद्धि से अपने आसन (पीढ़ा या कंधा) संबंधी खुजली विस्तार के सिवाय दूसरा कोई (कमनीय कामिनी के कुचकलशों का मर्दन-आदि) लोभ नहीं होता[2] ॥२५३॥ हे राजन् ! राजाओं के निमित्त कष्ट उठानेवालों के लिए कभी भी लक्ष्मी (धनादि विभूति) प्राप्त नहीं होती। उदाहरणार्थ—पुरुषों के नेत्र [कमनीय कामिनी-आदि प्रियवस्तु] की ओर दौड़ लगाते हैं परन्तु उन्हें उसका फल प्राप्त नहीं होता, दौड़ने का फल स्त्री का नितम्ब (कमर का पिछला उभरा हुआ भाग) भोगता है। भावार्थ—जिसप्रकार कमनीय कामिनी-आदि प्रिय वस्तु की ओर शीघ्र गमन करनेवाले नेत्रों को उसका फल (रतिविलास-सुख) प्राप्त नहीं होता उसीप्रकार राजा के हेतु कष्ट उठानेवाले सज्जन पुरुषों को कभी भी लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती किन्तु उनके विपरीत चापलूस व चुगलखोरों के लिए लक्ष्मी प्राप्त होती है[3] ॥२५४॥ हे राजन् ! युद्ध करने की विशेषता शूरवीरों में होती हैं परन्तु उसके फल (धनादि-लाभ) चुगलखोरों द्वारा भोगने योग्य होते हैं। राजा के बाह्य (सुभट—योद्धा) उसे उसप्रकार क्लेशित करते हैं जिसप्रकार हाथी के बाह्यदन्त

---

‡'येऽभ्यर्णास्ते दूरा ये दूरा' क०। +'स्वैरविहारेषु अमरगुरुकाव्यविशालाक्ष' क०। *'ये क्लिश्यन्ति' क०। ǀ'दृष्टिः पुरो हि धावति' क०। १. दृष्टान्तालङ्कार। २. दृष्टान्तालङ्कार। ३. दृष्टान्तालंकार।

स्रक्पुष्पमिव निसर्गाद्गुणेषु नृपतिः पराङ्मुखः प्रायः। कोश इवात्मविदारिणि निस्त्रिंशे संमुखो भवति ॥२५६॥

स महत्त्वस्य हि दोषो यत्त्वं नृप भजसि विरसतां पश्चात्। पत्युः सरितामारात् सरसत्वं वारिणो न तन्नाथे॥२५७॥

कृतक्लेशेषु भृत्येषु नोपकुर्वन्ति ये नृपाः। जन्मान्तरेऽधिकश्रीणां तेषां ते गृहकिंकराः ॥२५८॥

कदाचिदर्थशास्त्रविचारपल्लवकलोकप्रकाशितोपनिषत्सु परिषत्सु।

नेमिमेकान्तरान्राज्ञः कृत्वा* चानन्तराचरान्। नाभिमात्मानमायच्छेन्नेता प्रकृतिमण्डले ॥ २५९ ॥

इत्यत्र विषयविन्यासचिन्तनप्रस्तावागतम्।

अष्टशाखं चतुर्मूलं षष्टिपत्रं द्वयं स्थितम्। षट्पुष्पं त्रिफलं वृक्षं यो जानाति स नीतिवित् ॥ २६० ॥

(बाहरी दाँत—खीसें) उसे क्लेशित करते हैं और अन्तस्थ चुगलखोर उसप्रकार खाने में प्रवीण होते हैं जिसप्रकार हाथी के अन्तस्थ (भीतरी दाँत) उसके खाने में उपयोगी होते हैं[1] ॥२५५॥ राजा प्रायः करके गुणों (शत्रु-वध करनेवाले योद्धाओं व राज्य-संचालन करनेवाले मन्त्री-आदि अधिकारियों) से उसप्रकार स्वभावतः पराङ्मुख (विमुख-नाराज) रहता है जिसप्रकार फूलों की माला गुणों (तन्तुओं) से पराङ्मुख (पीठ देनेवाली) होती है और वह (राजा) अपना नाश करनेवाले निस्त्रिंश (निर्दयी) पुरुष से उसप्रकार संमुख (प्रसन्न) रहता है जिसप्रकार म्यान अपने को काटनेवाले निस्त्रिंश (खड्ग—तलवार) के संमुख रहती है[2] ॥२५६॥ हे राजन्! जिसकारण से आप पश्चात् विरसता (अप्रीति व पक्षान्तर में खारा) को प्राप्त होते हैं, इसमें आपके महत्व (धनादि वैभव से उत्पन्न हुआ बड़प्पन व पक्षान्तर में जलराशि की प्रचुरता) का ही दोष है। उदाहरणार्थ—समुद्र के समीप में वर्तमान नदियों के पानी में सरसता (मिठास) रहती है, परन्तु समुद्र में मिल जानेपर सरसता (मिठास) नहीं रहती[3] ॥२५७॥ जो राजा लोग उन सेवकों का उपकार नहीं करते, जो कि उनके लिए कष्ट उठा चुके हैं, वे [कृतघ्न] राजा लोग दूसरे जन्म में विशेष लक्ष्मी प्राप्त करनेवाले उन नौकरों के गृहसेवक होते हैं[4] ॥२५८॥

हे मारिदत्त महाराज! किसी अवसर पर मैंने अर्थशास्त्रों के विचार करने में प्रवीण विद्वज्जनों द्वारा रहस्य प्रकट कीजानेवालीं सभाओं में मण्डल (देश या प्रकृतिमण्डल) की रचना संबंधी विचार करने के अवसर पर प्राप्त हुए निम्नप्रकार अनुष्टुप् श्लोक का विचार किया—

विजयश्री का इच्छुक राजा प्रकृतिमण्डल (आगे श्लोक नं० २६० में कहे गए शत्रु व मित्र-आदि राजाओं) में वर्तमान एक देश के अन्तर में रहनेवाले या तृतीय देश में स्थित हुए [मित्रभूत] राजाओं को और अपने देश के समीपवर्ती राजाओं को अपने राज्यरूपी रथ की नेमि (चक्रधारा) करके अपने को उस राज्यरूपी रथ के चक्र (पहिए) की नाभि (मध्यभाग) बनावे। अर्थात्—विजिगीषु स्वयं मध्यभाग में स्थित हो और दूसरों की पार्श्वभाग में रक्षा करे[5] ॥२५९॥

[इसके बाद मैंने ऐसे निम्नलिखित श्लोक का विचार किया, जो कि समस्त आवाप (परमण्डल-चिन्ता—दूसरे देश की प्राप्ति के उद्देश्य से किये जानेवाले सन्धि व विग्रह-आदि की योजना के विचार) के कारण राज्यरूप वृक्ष को शाखा, पत्र व पुष्पादि रूप से विभक्त करने में निमित्त है]।

जो पुरुष ऐसा राज्यरूपी वृक्ष जानता है वही नीतिशास्त्र का वेत्ता है, जिसमें शत्रु, विजिगीषु, मध्यम व उदासीन इन चारों की शत्रु व मित्र के साथ संबंधरूप आठ शाखाएँ हैं। अर्थात्—शत्रुभूत राजा का शत्रु व मित्र विजिगीषु राजा का शत्रु व मित्र, मध्यम राजा का शत्रु व मित्र एवं उदासीन

---

* 'चानन्तरान्नृपान्' क०।

१. दृष्टान्तालङ्कार। २. दृष्टान्तालङ्कार। ३. दृष्टान्तालङ्कार। ४. जाति व उपमालङ्कार। ५. रूपकालंकार।

इममखिलावापभागप्रवृत्तिहेतुकं श्लोकं व्यचीचरम्।

विना जीवितमस्वस्थे यथौषधविधिर्वृथा। तथा नीतिविहीनस्य वृथा विक्रमवृत्तयः ॥ २६१ ॥

कदाचित्कामिनीजनचरणालक्तकरसरागरञ्जितरङ्गस्थलासु नाट्यशालासु

राजा का शत्रु व मित्र, इसप्रकार की आठ शाखाएँ पाई जातीं हैं। जिस राज्यरूप वृक्ष के साम, दान, दण्ड व भेद ये चार मूल (जड़े) हैं। जो साठ पत्तों से विभूषित है। अर्थात्—१. शत्रुभूत राजा, २. विजिगीषु राजा, ३. अपने मित्रभूत राजा के मित्र के साथ रहनेवाला, ४. शत्रुभूत राजा का मित्र, ५. अपने मित्रभूत राजा के साथ वर्तमान, ६. शत्रुमित्र, ७. आक्रन्दक के साथ वर्तमान, ८. ९. पार्ष्णिग्राह व आसार के साथ वर्तमान राजा, १०. आक्रन्दकों का सार (फौज) और ११. १२. दोनों मध्यस्थ, इन १२ को मन्त्री, राज्य, दुर्ग (किला), कोश व बल इन पाँच के साथ गुणा करनेपर १२ × ५ = ६० इसप्रकार जो साठ प्रकार के राजा-आदि रूप पत्रों से विभूषित है और जो (राज्यरूपी वृक्ष) दैव (भाग्य) व पुरुषार्थ (उद्योग) रूपी भूमि पर स्थित हैं। अर्थात्—जो न केवल भाग्य के बल स्थित रह सकता है और न केवल पुरुषार्थ के बल पर किन्तु दोनों के बल पर स्थित रहता है। अर्थात्—जिसप्रकार आयु और औषधि के प्रयोग द्वारा जीवन स्थिर रहता है॥ इसीप्रकार राज्यरूप वृक्ष भी राजा के भाग्य व पुरुषार्थ के प्रयोग द्वारा स्थिर रहता है इसीप्रकार जिसमें सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय व द्वैधीभावरूप छह पुष्प पाये जाते हैं तथा जो स्थान, क्षय व वृद्धिरूप तीन फलों से फलशाली है।

भावार्थ—उक्त राज्यरूपी वृक्ष के भेद-प्रभेदों की विस्तृत व्याख्या हम पूर्व में प्रकरणानुसार श्लोक नं० ६७-आदि की व्याख्या में कर चुके हैं[1] ॥२६०॥ जिसप्रकार आयुष्य (जीवन) के विना रोग-पीड़ित पुरुष की चिकित्सा का विधान व्यर्थ होता है उसीप्रकार राजनीति-ज्ञान से शून्य हुए पुरुष का पराक्रम करने में प्रवृत्त होना भी व्यर्थ है[2] ॥२६१॥

हे मारिदत्त महाराज! किसी अवसर पर मैंने नाट्यशालाओं में, जिनकी नाट्यभूमि का तल (पृष्ठभाग) कमनीय कामिनियों या नृत्यकारिणी वेश्याओं के चरणों पर लगे हुए लाक्षारस की लालिमा से रञ्जित (लालिमा-युक्त) होरहा था, नाट्य प्रारम्भकालीन पूजा के आरम्भ में उत्पन्न हुआ और निम्नप्रकार सरस्वती की स्तुति संबंधी श्लोकरूप गानों से सुशोभित नृत्य ऐसे भरतपुत्रों (नर्तकाचार्यों) के साथ देखा, जो कि ऐसे नर्तकाचार्यों में शिरोमणि थे, जिनमें 'नाट्यविद्याधर' व 'ताण्डवचण्डीश' नामके नर्तकाचार्य प्रधान थे एवं जो अन्तर्वाणिA (शास्त्रवेत्ता) थे तथा जिनमें नृत्य करने के प्रयोगों की रचना संबंधी नानाप्रकार के अभिनयोंB का शास्त्रज्ञान वर्तमान था।

---

१. रूपकालंकार। २. दृष्टान्तालंकार।

A—'अन्तर्वाणिस्तु शास्त्रवित्' यश० की सं० टी० पृ० ४७४ से संकलित—सम्पादक

B—तथा चोक्तम्—भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः। आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्विकस्तथा ॥१॥

नटैरङ्गादिभी रामयुधिष्ठिरादीनामवस्थानुकरणमभिनयः।

तथा चोक्तं भरतमुनिना—'विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः। शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयो मतः॥'

साहित्यदर्पण की संस्कृत टीका से संकलित—सम्पादक

अभिप्राय यह है कि नाट्यभूमि में नट द्वारा जो राम व युधिष्ठिर-आदि नायकों के साधर्म्य का वेष भूषा-आदि

भालं लोचनचारु मूर्ध्नि विकटं यस्या जटामण्डलं बालेन्दुः श्रवणावतंसविषयः क्रीडाः सरःसंभवाः ।
कायः केतकपुष्पगर्भसुभगः स्थानं सिते चाम्बुजे सा वः पातु सरस्वती† स्मितमुखव्याकीर्णवर्णावलिः ॥ २६२ ॥
एकं ध्यानपरिग्रहप्रणयिनं हस्तं द्वितीयं पुनर्लीलाङ्गुष्ठनिवेशिताक्षवलयं पुस्तप्रशस्तं परम् ।
बिभ्राणा वरदं तुरीयमुचिता देवी त्रिलोक‡ स्तुतेः पुष्याद्वः × कवितालतावलयितं संकल्पकल्पद्रुमम् ॥ २६३ ॥
धृतधवलदुकूला चन्दनस्यन्दशीला सितसरसिजलोला हारभूषासराला ।
+ नमदमरनिरीटाप्रत्नरत्नप्रसर्पत्किरणकुसुमकीर्णा वर्णिनी वोऽस्तु भूत्यै ॥ २६४ ॥
स्वर्गसदां वदनपद्म‖ निवासहंसी विद्याधरश्रवणमण्डनरत्नरेखा ।
भूवासमानसविभूषणहारयष्टिर्वाग्देवता नृप तवातनुतां हितानि ॥ २६५ ॥

सरस्वती-स्तुतिगान—ऐसी वह सरस्वती देवी आप लोगों की रक्षा करे, जो तृतीय नेत्र से मनोहर ललाट पट्ट-युक्त, मस्तक पर लगे हुए उन्नत केश-पाश से अलङ्कृत, तथा द्वितीया अथवा प्रतिपदा के चन्द्रमा के कर्णपूर से विभूषित है। जिसकी कीड़ाएँ तालावों में उत्पन्न हुई हैं। अर्थात्—जो तालाबों में स्नान-आदि क्रीड़ाएँ करती है। जिसका सुन्दर शरीर केतकी पुष्प के मध्यभाग की तरह मनोहर है एवं जो श्वेत कमलों में निवास करती है तथा जिसकी अक्षर-पङ्क्ति कुछ खिले हुए—मुसकाए हुए—मुख में फैली हुई है[1] ॥२६२॥ ऐसी सरस्वती परमेश्वरी आप लोगों के कवितारूपी लता से वेष्टित हुए मनोवाञ्छित रूप कल्पवृक्ष की वृद्धि करे। अर्थात्—मनचाही वस्तु प्रदान करे, जो अपना एक उपरितन वाम हस्त ध्यान के स्वीकार करने में स्नेह-युक्त कर रही है। अर्थात्—बाँए हाथ के अँगूठे व तर्जनी अंगुलि से स्फटिक मणियों की माला धारण कर रही है। जो ऊपर के दूसरे दक्षिण हस्त को क्रीड़ापूर्वक अङ्गुष्ठ पर स्थापित किये हुए अर्ककान्त मणियों की जपमाला धारण कर रही है। जो नीचे के दूसरे वाम हस्त को पुस्तक से प्रशंसनीय वनाती हुई धारण किये हुए है। जो चौथा हाथ (नीचे का दूसरा दक्षिण हाथ) वरदान देनेवाला धारण कर रही है एवं जो तीन लोक में स्थित हुए भक्त इन्द्रादि देवताओं द्वारा की जानेवाली स्तुति के योग्य है[2] ॥२६३॥ ऐसी अक्षरशालिनी सरस्वती परमेश्वरी आप लोगों के ऐश्वर्य-निमित्त होवे, जो उज्वल पट्ट (रेशमी) वस्त्र धारण करनेवाली, तरल चन्दन के क्षरण करने की प्रकृति-युक्त, देव-पूजा-निमित्त श्वेत कमलों की आकाङ्क्षा करनेवाली, मोतियों की मालाओं से अपर्यन्त—विशेष विभूषित—है एवं जो नमस्कार करते हुए इन्द्रादि देवों के मुकुटों ? पर जड़े हुए प्राचीन रत्नों की फेलती हुई किरणों की कान्तिरूपी पुष्पों से व्याप्त है[3] ॥२६४॥ हे राजन्! ऐसी सरस्वती देवी आपके लिए मनोवाञ्छित वस्तुएँ उत्पन्न करे, जो देवताओं के मुखकमलों में निवास करने के लिए राजहँसी है। अर्थात्—जिसप्रकार राजहँसी कमलों में

द्वारा अनुकरण किया जाता है—अनुकरण करके नाटक देखनेवालों को बोध कराया जाता है उसे 'अभिनय' कहते हैं। उसके चार भेद हैं—१. आङ्गिक, २. वाचिक, ३. आहार्य्य व ४. सात्विक।

१. आङ्गिक—नाटक में, जिसमें अभिनय मूल है, नट अपने शिर. हाथ, वक्षःस्थल, पार्श्व, कमर, पैर, नेत्र, भ्रुकुटि. ओष्ठ, गाल-आदि अङ्गोपाङ्गों द्वारा राम-आदि नायकों की अवस्था (साधर्म्य) का अनुकरण करता है. उसे 'आङ्गिक' अभिनय कहते हैं। २. वाचिक—वचनों द्वारा नायक की अवस्था का अनुकरण करना। ३. आहार्य—वेष-भूषा द्वारा नायक के साम्य का अनुकरण करना। ४. सात्विक—रज व तमो-शून्य मानसिक शुद्ध अवस्था द्वारा नायक-अवस्था का अनुकरण करना। प्रायः सभी नाटकों में उक्त अभिनय प्रधान कारण है—सम्पादक

† 'स्मितमिव' क०। ‡ 'स्तुता' क०। × 'कवितालतोद्दलयिनं' क०। + 'नमदमरकिरीटा' क०। ‖ 'निवादहंसी' क०। १. समुच्चयालंकार। २. दीपकालंकार। ३. अतिशयालंकार।

संध्यासु प्रतिवासरं श्रुतिपतिii र्बद्ध्वा प्रमाणाञ्जलिं योगस्वापमुपेत्य दुग्धजलधौ शेषाश्रितः श्रीपतिः ।
शंभुर्ध्यायति चाक्षसूत्रवलयं कृत्वा करेऽनन्यधीर्देवि त्वत्पदपङ्कजद्वयमिदं सर्वार्थकामप्रदम् ॥ २६६ ॥
भावेन द्रुहिणै रसेन हरिभिर्नृत्येन कामारिभि*र्वर्ण्या सिद्धजनैर्नभश्चरगणैर्वृत्त्या प्रवृत्त्या सुरैः ।
सिद्ध्या चारणमण्डलैर्मुनिकुलैस्त्वं देवि सप्तस्वरैरातोद्येन च नन्दिभिः कृतनुतिर्गानेन गन्धर्वभिः ॥ २६७ ॥
नासावर्थो न तच्चित्तं न ताश्चेष्टाः शरीरिणाम् । पदद्वयाङ्कितं देव्या यन्नेह भुवनत्रये ॥ २६८ ॥

निवास करती है उसीप्रकार सरस्वतीरूपी राजहँसी भी देवताओं के मुखकमलों में निवास करती है। जो विद्याधरों के कानों को विभूषित करने के लिए माणिक्य-पङ्क्ति है। अर्थात्—जिसप्रकार माणिक्य श्रेणी कर्णाभरण होती हुई कानों को अलङ्कृत करती है उसीप्रकार सरस्वतीदेवीरूपी माणिक्यश्रेणी भी विद्याधरों के कानों को विभूषित करती है एवं भूमिगोचरी मानवों के हृदय को अलङ्कृत करने के लिए मोतियों की माला है। अर्थात्—जिसप्रकार मोतियों की माला पहिनी हुई वक्षःस्थल को सुशोभित करती है उसीप्रकार सरस्वती देवीरूपी मोतियों की माला भी भूमिगोचरी मानवों के हृदय को सुशोभित करती है[1] ॥२६५॥ हे देवी सरस्वती! ब्रह्मा एकाग्रचित्त हुआ प्रत्येक दिन तीनों (प्रातःकालीन, मध्याह्नकालीन व सायंकालीन) संध्याओं में प्रमाणाञ्जलि (हस्तपुट-बन्धन संबंधी प्रधान अञ्जलि) बाँधकर ध्यान निद्रा को प्राप्त होकर समस्त धन व काम (स्त्री संभोग) को देनेवाले तेरे चरण कमलों के युगल का ध्यान करता है एवं श्रीनारायण एकाग्रचित्त होकर प्रत्येक दिन तीनों संध्याओं में क्षीरसमुद्र में नागशय्या पर आरूढ़ हुए समस्त धन व काम को देनेवाले तेरे चरणकमल-युगल ध्यान करते हैं तथा श्रीमहादेव एकाग्रचित्त हुए रुद्राक्षों की माला (जपमाला) हस्त पर धारण करके तेरे चरण कमल के युगल का, जो कि समस्त धन व स्त्री संभोग रूप काम को देने वाले हैं, ध्यान करते हैं[2] ॥२६६॥

हे सरस्वती देवी! तू ब्रह्मा व ब्रह्मानाम के कविविशेषों द्वारा ४६ प्रकार के भावसमूह से, नारायणों व कविविशेषों द्वारा शृङ्गार-आदि रसों से, रुद्रों और कविविशेषों द्वारा नृत्य (शिर, भ्रुकुटि, नेत्र व ग्रीवा-आदि सर्वाङ्गों के संचालन रूप नृत्यविशेष) से, आकाशगामी देवविशेष-समूह द्वारा व सिद्धनाम के कवि-समूहों द्वारा प्रवृत्ति से, सुरों (देवों) और सुरनाम के कविविशेषों द्वारा प्रवृत्ति से व आकाशगामी चारणसमूहों द्वारा मानसिक, वाचनिक व देवसिद्धिपूर्वक वर्णन करनेयोग्य हो एवं मुनिकुलों (ज्ञानी-समूहों) व मुनिकुल नाम के कविविशेषों द्वारा सप्तस्वरों (१. निषाद, २. ऋषभ, ३. गान्धार, ४. षड्ज, ५. धैवत, ६. मध्यम व ७. पंचम इन वीणा के कण्ठ से उत्पन्न हुए सात स्वरों) से स्तुति की जाती हो। इसीप्रकार रुद्रगणों द्वारा अथवा कविविशेषों द्वारा तू आतोद्य (तत, वितत, घन व सुषिर नाम के चार प्रकार के वाजे विशेष) से स्तुति कीजाती हो एवं नारद-आदि ऋषियों द्वारा अथवा कविविशेषों द्वारा गानपूर्वक स्तुति की गई हो[3] ॥२६७॥ ऐसी कोई जीवादि वस्तु नहीं है और वह मन भी नहीं है एवं वे जगत्प्रसिद्ध प्राणियों की चेष्टाएँ भी नहीं हैं, जो कि तीनों लोकों में सरस्वती परमेश्वरी के स्यात् (अनेकान्त) लक्षणवाले चरण कमलों के युगल से चिह्नित नहीं है। अर्थात्—तीन लोक के सभी जीवादि पदार्थ व प्राणियों के चित्त एवं चेष्टाएँ-आदि सभी वस्तुएँ सरस्वती परमेश्वरी के स्यात् (अनेकान्त) लक्षण-युक्त चरणकमल-युगल से चिह्नित पाए जाते हैं; क्योंकि सरस्वती परमेश्वरी (द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान) द्वारा संसार के सभी पदार्थ जाने जाते हैं[4] ॥२६८॥

ii 'र्बद्धप्रणामाञ्जलिर्योग०' क०। * 'धर्मोसिद्धजनैर्नभश्चर' क०। १. रूपकालंकार। २. समुच्चय, दीपक, रूपक व अतिशयालंकार। ३. दीपक व समुच्चयालंकार। ४. अतिशयालंकार।

मानससरोविनिर्गतसितसरसिरुहस्थितेः सरस्वत्याः । वरवर्णकीर्णकान्तिः पुष्पाञ्जलिरस्तु रङ्गपूजायै ॥ २६९ ॥

इति पूर्वरङ्गपूजाप्रक्रमप्रवृत्तं सरस्वतीस्तुतिवृत्तं नृत्तं नाट्यविद्याधरताण्डवचण्डीशप्रमुखनर्तकशिरोमणिभिरन्तर्वाणिभिः प्रयोगभङ्गीविचित्राभिनयतन्त्रैर्भरतपुत्रैः‡ सत्रावलोकयामास।

आसाद्य लक्ष्मीं श्रुतिदृष्टिभाजो न सन्ति येषां भरतप्रयोगाः। तेषामियं श्रीर्मृतकाङ्गशोभासमानवृत्तिश्च निरर्थिका च ॥ २७० ॥

कदाचिदुद्घाटितसरस्वतीरहस्यमुद्राकरण्डेषु महाकविकाव्यकथाकाण्डेषु—

ब्रह्माण्डमण्डपमहोत्सवपौरुषस्य लक्ष्मीः स्वयंवरविधौ विहितादरा यत्।
चित्रं न तत्कृतजगत्त्रयरक्षणस्य कीर्तिप्रिया भ्रमति यत्तव तत्तु चित्रम् ॥ २७१ ॥

हरगिरयन्ति महीध्राः क्षीरोदधयन्ति वार्धयः सर्वे। तव देव यशसि विसरति सौधन्ति जगन्ति च त्रीणि ॥ २७२ ॥

मानसरोवर में विकसित हुए श्वेत कमल में निवास करनेवाली सरस्वती देवी की नाट्य भूमि पर होनेवाली पूजा के निमित्त मनोहर श्वेत-पीतादि वर्णों से व्याप्त हुई कान्तिवाली पुष्पाञ्जलि समर्पित हो[1] ॥२६६॥ जो धनाढ्य पुरुष अथवा राजा लोग लक्ष्मी (धन) प्राप्त करके गीत, नृत्य व वादित्रों के उदाहरण अपने कर्णगोचर व नेत्रगोचर नहीं करते, उनकी लक्ष्मी मुर्दे के शरीर की शोभा (फूलों की मालाओं, चन्दन-लेप व आभूषणों से अलङ्कृत—सुशोभित करना) सरीखी व व्यर्थ है। अर्थात्—गीतों व बाजों के मधुर शब्दों को कर्णगोचर न करनेवाले (न सुननेवाले) और नृत्य न देखनेवाले धनाढ्य पुरुषों की लक्ष्मी उसप्रकार व्यर्थ है जिसप्रकार मुर्दे के शरीर को पुष्पमालाओं, चन्दनलेप व आभूषणों से अलङ्कृत करके सुशोभित करना व्यर्थ होता है[2] ॥२७०॥

किसी समय मैंने ऐसे महाकवियों की काव्यकथा के अवसरों पर, जिनमें सरस्वती संबंधी रहस्य (गोप्यतत्व) के चिह्नवाला पिटारा प्रकाशित किया गया था, ऐसे 'पण्डित वैतण्डिक' नामके कवि का, जो कि अवसर के विना जाने निम्नप्रकार काव्यों का उच्चारण कर रहा था व जिसके फलस्वरूप अपमानित किया गया था एवं जो निम्नप्रकार महान् कष्टपूर्वक कटु वचन स्पष्टरूप से कह रहा था (अपनी प्रशंसा कर रहा था) विशेष अहङ्कार (मद) रूप पर्वत का भार निम्नप्रकार श्लोक के अर्थ संबंधी प्रश्न का उत्तर-प्रदानरूप हस्त द्वारा उतारा। अर्थात्—उसका महान् मद चूर-चूर किया।

'पण्डित वैतण्डिक' नामके कवि के काव्य—

हे राजन्! ब्रह्माण्ड (लोक) के विवाहमण्डप (परिणयन शाला) संबंधी महोत्सव में वर होने की योग्यतावाले आपकी लक्ष्मी, जो स्वयं आकर के आपका वरण (स्वीकार) करने में आदर करनेवाली है, इसमें आश्चर्य नहीं है, परन्तु जो तीनलोक की रक्षा करनेवाले आपकी कीर्तिरूपी प्यारी स्त्री सर्वत्र घूम रही है, वही आश्चर्य जनक है[3] ॥२७१॥ हे राजन्! जब आपकी [शुभ्र] कीर्ति समस्त लोक में फैली हुई है तब उसके फलस्वरूप [समस्त] पर्वत, कैलाशपर्वत के समान आचरण करते हैं—उज्वल होरहे हैं और लवण समुद्र-आदि सभी समुद्र क्षीरसागर के समान आचरण करते हैं। अर्थात्—शुभ्र होरहे हैं एवं तीनों लोक सुधा से धवलित (उज्वल) हुए आचरण कर रहे हैं[4] ॥२७२॥

---

‡'सार्धं सत्रा समं सह' इत्यमरकोशप्रामाण्यादयं पाठोऽस्माभिः संशोधितः परिवर्तितश्च, मु० प्रतौ तु सत्रमिति कोशविरुद्धः पाठः—सम्पादकः

१, रूपकालंकार। २. उपमालंकार। ३. हेतु-अलंकार। ४. क्रियोपमालंकार। ५. श्लेष व आक्षेपालंकार।

गिरिषु धृता भूमिभृतः पृथ्वीभारश्च निजभुजे निहितः। को नाम बलेन नृप त्वया समः सांप्रतं भुवने ॥ २७३ ॥
इति प्रस्तावमविज्ञाय पठतः कृतावहेलस्य पण्डितवैतण्डिकस्य कवेः

सकलकविलोकचक्रप्रमर्दनः ख्यात एव भुवनेऽस्मिन्। कथमिह संप्रति भवता समागतो नावबुद्धयेऽहम् ॥ २७४ ॥
‡इति कथंचित्स्कद्वदं वदतः

त्रिमूलकं द्विधोत्थानं पञ्चशाखं चतुश्छदम्। योऽगं वेत्ति नवच्छायं दशभूमिं स काव्यकृत् ॥ २७५ ॥

हे राजन्! संसार में इस समय आपके समान शक्तिशाली कौन है? अपि तु कोई नहीं। क्योंकि आपने भूमिभृतों (पर्वतों अथवा राजाओं) को पर्वतों पर स्थापित किया। अर्थात्—शत्रुभूत राजाओं को युद्ध में परास्त करके पर्वतों की ओर भगा दिया एवं आपने पृथ्वी-भार अपने दक्षिण हस्त पर स्थापित किया है[1] ॥२७३॥ उक्त पण्डित 'वैतण्डिक' नामके कवि द्वारा की गई आत्मप्रशंसा—

हे राजन्! इस विद्वत्परिषत् में इस समय प्राप्त हुए मुझे, जो कि इस पृथ्वीमण्डल में प्रसिद्ध होता हुआ [अपनी अनोखी सार्वभौम विद्वत्ता द्वारा] समस्त कविलोगों के समूह को चूर्ण करनेवाला हूँ (उनका मानमर्दन करनेवाला हूँ), आपने किसप्रकार नहीं जाना? अपितु अवश्य जाना होगा[2] ॥२७४॥

उक्त कवि के प्रश्न (निम्न त्रिमूलकं-आदि श्लोक का क्या अर्थ है?) का यशोधर महाराज द्वारा दिया गया उत्तर—जो पुरुष ऐसे काव्यरूपी वृक्ष को जानता है वही कवि है, जो (काव्यरूपी वृक्ष) त्रिमूलक है। अर्थात्—जो प्रतिभा (नवीन-नवीन तर्कणा-शालिनी विशिष्ट बुद्धि), व्युत्पत्ति एवं भृशोत्पत्तिकृदभ्यास (काव्यकला-जनक काव्यशास्त्र का अभ्यास) इन तीन मूलों (जड़ों—उत्पादक कारणों) वाला है[3]। जो शब्द (रसात्मक वाक्य) और अर्थ इन दोनों से उत्पन्न हुआ है[4]। जो काव्यरूपी वृक्ष प्रचुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता व भद्रा इन पाँच वृत्ति (शृङ्गार-आदि रसों को सूचित करनेवाली काव्यरचना के आश्रित) रूपी शाखाओं से विभूषित है। जो काव्यरूपी वृक्ष पाञ्चाली, लाटीया, गौणीया व वैदर्भी इन चार रीतियों रूपी पत्तों से सुशोभित है[5]।

‡'इति च किंचित्' क०। १. श्लेष व आक्षेपालंकार। २. उपमा व रूपकालंकार।

३. तथा चोक्तम्—प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिश्च विभूषणं। भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा ॥१॥
ग० प्रति से संकलित—सम्पादक

४. अर्थात्—जो काव्यरूप वृक्ष ऐसे शब्द व अर्थ से उत्पन्न हुआ है, जो कि काव्य के शरीररूप हैं और जिनमें शृङ्गार-आदि रस ही जीवनस्थापक है। शब्द (वाक्य—पदसमूह) का लक्षण—योग्यता, आकाङ्क्षा व आसत्ति-युक्त पदसमूह को 'वाक्य' कहते हैं। १. योग्यता—पदों के द्वारा कहे जानेवाले पदार्थों के परस्पर संबंध में बाधा उपस्थित न होने को 'योग्यता' कहते है। उदाहरणार्थ—'जल से सींचता है' यहाँपर जल द्वारा वृक्षादि के सिंचन में बाधा उपस्थित न होने के कारण वाक्य है। जब कि 'अग्नि द्वारा सींचता है' इन दोनों पदों के पदार्थों में बाधा उपस्थित होती है, क्योंकि अग्नि के द्वारा सींचा जाना प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित है, अतः यह वाक्य नहीं हो सकता। २. आकांक्षा—'इस पद का किसी दूसरे पद के साथ संबंध है' इसप्रकार दूसरे पद के सुनने की इच्छा में हेतुभूत बुद्धि को 'आकांक्षा' कहते हैं। अर्थात्—एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ के साथ अन्वय जानने की इच्छा जबतक पूर्ण नहीं होती तबतक उसकी जिज्ञासा बनी रहती है, इसलिए आकांक्षा-युक्त पदसमूह को वाक्य कहा जाता है। यदि आकांक्षा-शून्य पदसमूह को वाक्य माना जावे तो गाय, घोड़ा, पुरुष व हाथी इस आकांक्षा-शून्य पदसमूह को वाक्य मानना पड़ेगा।

३. आसत्ति—बुद्धि का विच्छेद (नाश) न होना उसे 'आसत्ति' कहते हैं। अर्थात्—पूर्व में सुने हुए पदों की स्मरणशक्तिरूप बुद्धि का विच्छेद—कालादि द्वारा व्यवधान—न होने को आसत्ति कहते हैं। अभिप्राय यह है कि

इसीप्रकार जो (काव्यरूप वृक्ष) शृङ्गार, वीर, करुण, हास्य, अद्भुत, भयानक, रौद्र, बीभत्स व शान्त इन नौ रसरूपी छाया से सुशोभित है। विश्वनाथ[1] कविराज ने रस का लक्षण कहा है कि आलम्बन व उद्दीपनभाव रूप विभाव (शृङ्गार-आदि रसों के रति-आदि स्थायीभावों को नायक-नायिका आदि आलम्बनभाव व नेत्र-संचार-आदि उद्दीपन भाव द्वारा आस्वाद-योग्यता में प्राप्त करनेवाला), अनुभाव (वासनारूप से स्थित रहनेवाले रति-आदि स्थायीभावों को स्तम्भ व स्वेद-आदि कार्यरूप में परिणमन करानेवाला) और सञ्चारीभाव (सर्वाङ्ग व्यापक रूप से कार्य उत्पन्न करने में अनुकूल रहनेवाले—सहकारी कारणों) द्वारा व्यक्त किये जानेवाले शृङ्गार-आदि रसों के रति-आदि स्थायीभाव सहृदय पुरुषों के लिए रसता को प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ—(शृङ्गार रस में) महाकवि कालिदास के शकुन्तला नाटक के दर्शकों के चित्त में शकुन्तला-आदि आलम्बनभावों और उपवन-आदि देश तथा वसन्तऋतु-आदि कालरूप उद्दीपन भावों एवं भ्रुकुटि-संचालन, हाव भाव व विलास-आदि कार्यों एवं चिन्ता-आदि सहकारी कारणों द्वारा अभिव्यक्त (प्रकट) होनेवाले पूर्व में वासनारूप से वर्तमान हुए रति-आदि स्थायीभाव को ही रस समझना चाहिए। उक्त रस के नौ भेद हैं—१. शृङ्गार, २. वीर, ३. करुण, ४. हास्य, ५. अद्भुत, ६ भयानक, ७. रौद्र, ८. बीभत्स और ९. शान्त।

जिस पदार्थ की जिस पदार्थ के साथ संबंध की अपेक्षा है उसके साथ उसका व्यवधान-रहित सम्बन्ध को आसत्ति कहते हैं। अतः यदि बुद्धि-विच्छेद—स्मृतिध्वंसशाली—पद-समूह को वाक्य माना जावे तो इस समय उच्चारण किये हुए 'देवदत्त' पद की स्मृति का ध्वंस होने पर दूसरे दिन कहे हुए गच्छति पद के साथ संगति होनी चाहिए। निष्कर्ष यह है कि उक्त योग्यता, आकांक्षा व आसत्तियुक्त पद-समूह को वाक्य कहते है। उदाहरणार्थ—प्रस्तुत शास्त्र का एक श्लोक वाक्य है, क्योंकि उसमें नाना पद पाये जाते हैं और पूरे शास्त्र के श्लोक-आदि को महावाक्य कहा जाता है। शब्दों द्वारा अर्थप्रतीति के विषय में श्रीमाणिक्यनन्दि आचार्य लिखते हैं 'सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः' शब्दादि स्वाभाविक वाच्यवाचकशक्ति व शक्तिग्रह-आदि के वश से अर्थप्रतीति में कारण होते हैं। इसीप्रकार पदार्थ भी वाच्य, लक्ष्य व व्यङ्ग्य के भेद से तीन प्रकार का है। इसप्रकार काव्यवृक्ष उक्त लक्षणवाले रसात्मक वाक्यों व अर्थों से उत्पन्न होता है।

५. विश्वनाथ कविराज ने रीति का लक्षण-आदि निर्देश करते हुए कहा है कि जिसप्रकार नेत्र-आदि शारीरिक अवयवों की रचना शारीरिक विशेषता उत्पन्न करती हुई उसके अन्तर्यामी आत्मा में भी विशेषता स्थापित करती है उसीप्रकार माधुर्य, ओज व प्रसाद-आदि दश गुणों को अभिव्यक्त करनेवाले पदों की रचनारूप 'रीति' भी शब्द व अर्थ शरीरवाले काव्य में अतिशय (विशेषता) उत्पन्न करती हुई काव्य की आत्मारूप रसादि में भी अतिशय स्थापित करती है, उसके चार भेद हैं। १. वैदर्भी, २. गौडी, ३. पाञ्चाली और लाटिका। १. वैदर्भी—माधुर्य गुण को प्रकट करनेवाले वर्णों (ट, ठ, ड, ढ, ण-आदि अक्षरों से शून्य अक्षरों) द्वारा उत्पन्न हुई, ललित वर्ण व पदों के विन्यासवाली, समास-रहित या अल्प समासवाली पदरचना को 'वैदर्भी' कहते हैं। २. गौडी—ओजगुणप्रकाशक वर्णों द्वारा उत्पन्न होनेवाली, लम्बी समासवाली, उद्भट व अनुप्रास-युक्त पदरचना को 'गौडी' कहते हैं। ३. पाञ्चाली—जिसप्रकार वैदर्भी व गौडी रीति क्रमशः माधुर्य व ओजगुण के अभिव्यञ्जक अक्षरों से उत्पन्न होती है, उससे भिन्नस्वरूपवाली (प्रसादमात्र गुण के प्रकाशक वर्णों से उत्पन्न हुई) व समास-युक्त एवं पांच या छह पदोंवाली पदरचना को 'पाञ्चाली' कहते हैं। ४. लाटी—वैदर्भी व पाञ्चाली रीति के मध्य में स्थित रहनेवाली पदरचना को 'लाटी' कहते हैं। अर्थात्—जिस पदरचना में वैदर्भी व पाञ्चाली के लक्षण वर्तमान हों, उसे 'लाटीरीति' समझनी चाहिए। 'साहित्यदर्पण' (नवमपरिच्छेद) से संकलित—सम्पादक

१. तथा च विश्वनाथकविराज :—विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा। रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्॥ १॥ साहित्यदर्पण से समुद्धृत—सम्पादक

१. शृङ्गाररस—जो काम (संभोगेच्छा) को जागृत व स्मृत करने में कारण हो और जो उत्तम प्रकृतिवाले नायक-नायिका (राम व सीता-आदि) रूप आलम्बन भावों से प्रकट होता है, उसे 'शृङ्गार-रस' कहते हैं। २. वीररस—जो उत्तम नायक से विभूषित हुआ उत्साहरूप स्थायीभाव वाला है, उसे 'वीररस' कहते हैं। ३. करुणरस—इष्ट वस्तु (पुत्र व धनादि) के नाश से तथा अनिष्ट वस्तु के योग से प्रकट होने वाले शोक स्थायीभाववाले रस को 'करुणरस' कहते हैं। ४. हास्यरस—दृष्टिगोचर हुए या निरूपण किए हुए ऐसे कौतूहल से, जिसमें विपरीत शारीरिक आकृति, विकृत भाषण व वस्त्रादि से कीहुई नेपथ्य (वेष) रचना और हस्त-आदि का संचालन-आदि पाया जाता है, हास्य उत्पन्न होता है एवं जिसका हास्य स्थायीभाव है, उसे 'हास्य रस' कहते हैं। ५. अद्भुतरस—लोक-विलक्षण आश्चर्यजनक वस्तुओं के आलम्बन से प्रकट होनेवाले भाव को 'अद्भुतरस' कहते हैं, जिसका आश्चर्य स्थायीभाव है। ६. भयानकरस—भयोत्पादक सिंह व सर्प-आदि को देखकर प्रकट होने वाले रस को 'भयानकरस' कहते हैं, जिसका भय ही स्थायीभाव है। ७. रौद्ररस—शत्रुरूप आलम्बन से प्रकट होनेवाले एवं शत्रुकृत शस्त्रप्रहाररूप व्यापार से उद्दीपित होनेवाले रस को 'रौद्ररस' कहते हैं, शत्रु के प्रति प्रकट किया हुआ क्रोध ही जिसमें स्थायीभाव है। ८. वीभत्सरस—दुर्गन्धित मांस व मेदा-आदि वस्तुओं तथा श्मशानभूमि-आदि घृणास्पद स्थानों के देखने से प्रकट होनेवाले भाव को 'वीभत्सरस' कहते हैं, जिसका स्थायीभाव घृणा है। ९. शान्तरस—शम (शान्ति) ही जिसका स्थायीभाव है एवं जो सांसारिक पदार्थों की क्षणभङ्गुरता के निश्चय के कारण समस्त वस्तुओं की निस्सारता का निश्चय अथवा ईश्वरतत्व का अनुभवरूप आलम्बन से प्रकट होता है, उसे 'शान्तरस' कहते हैं।

इसीप्रकार जो काव्यरूपी वृक्ष औदार्य, समता, कान्ति, अर्थव्यक्ति, प्रसन्नता, समाधि, श्लेष, ओज, माधुर्य व सुकुमारता इन दश काव्य-गुणरूपी पृथिवी पर स्थित होता हुआ शोभायमान होरहा है। विशेषार्थ—वाग्भट्ट[1] कवि ने कहा है कि 'काव्य संबंधी शब्द व अर्थ दोनों निर्दोष होने पर भी गुणों के विना प्रशस्त (उत्तम) नहीं कहे जाते'। उन काव्य गुणों के उक्त दश भेद हैं—

१—औदार्य[2]—अर्थ की मनोज्ञता उत्पन्न करनेवाले दूसरे शब्दों से मिले हुए शब्दों का काव्य में स्थापित करना 'औदार्य' है। उदाहरणार्थ[3]—श्रीनेमिनाथ भगवान् ने ऐसे राज्य को, जिसके राजमहल गन्ध (सर्वोत्तम अथवा मदोन्मत्त) हाथियों से शोभायमान हो रहे थे और जिसमें लक्ष्मी के लीला (क्रीड़ा) कमल के समान छत्र सुशोभित होरहा था, छोड़कर 'रैवतक' नामके क्रीड़ा पर्वत पर चिरकाल तक तपश्चर्या की। विश्लेषण—इस श्लोक में इभ (हाथी), अम्बुज (कमल) और गिरि (पर्वत) ये तीनों शब्द जब क्रमशः गन्ध, लीला और क्रीड़ा इन विशेषणपदों से अलङ्कृत किये जाते हैं तभी उनके अर्थ में मनोज्ञता उत्पन्न होती है, क्योंकि केवल इभ, अम्बुज व गिरि पदों में वैसी शोभा नहीं पाई जाती, यही 'औदार्य' गुण है, क्योंकि इस श्लोक के शब्द दूसरे-मनोज्ञ अर्थ के प्रदर्शक शब्दों

१. तथा च वागभट्टः कविः—अदोषावपि शब्दार्थौ प्रशस्येते न यैर्विना।
औदार्यं समता कान्तिरर्थव्यक्तिः प्रसन्नता। समाधिः श्लेष ओजोऽथ माधुर्यं सुकुमारता ॥१॥

२. तथा च वाग्भट्टः कविः—पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैः। मिलितानां यदाधानं तदौदार्यं स्मृतं यथा ॥१॥

३. गन्धेभविभ्राजितधाम लक्ष्मीलीलाम्बुजच्छत्रमपास्य राज्यम्। क्रीडागिरौ रैवतके तपांसि श्रीनेमिनाथोऽत्र चिरं चकार ॥१॥

*इत्यस्यार्थकथनानुनाथनाशयशनायेखर्वगर्वपर्वतभारमवारूरुहम् ।
राजन्नशेषविषयातिशयप्रसूतौ येषां महाकविकृतौ न मनीषितानि ।
तेषां श्रुती च रसनां च मनश्च मन्ये वाग्देवताविहितशापमिवेश्वराणाम् ॥ २७६ ॥

कदाचिन्नियतवृत्तिवर्णपदप्रयोगानुबन्धशुद्धमिश्रिताशेषभाषाप्रकाशितप्रतिभेषु पण्डितप्रकाण्डमण्डलीमण्डनाडम्बर-

से मिलाए गये हैं। २. ३. समता[1] व कान्ति—काव्यरचना में सुकुमारता लाना 'समता' है और उसमें निर्मलता लाना 'कान्ति' है।

४. अर्थव्यक्ति[2]. जहाँपर उन उन शब्दों की सत्ता से साक्षात् अर्थ का प्रतिपादन होता है और बलात्कार पूर्वक अर्थज्ञान न होकर सुखपूर्वक अर्थज्ञान होता है। ५. प्रसत्ति[3] (प्रसाद) जिस काव्य के ललित शब्दों द्वारा शीघ्र ही अर्थ की प्रतीति होती है, वह 'प्रसाद' गुण है। ६. समाधि[4]—जहाँपर दूसरे पदार्थ का गुण दूसरे पदार्थ में आरोपित—स्थापित—किया जाता है, उसे 'समाधि' गुण समझना चाहिए।

७-८—श्लेष[5] व ओजगुण[6]—जिस काव्य के शब्द पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक श्रेणी में गुँथे हुए के समान परस्पर मिले हुए होते हैं, वह 'श्लेषगुण' है एवं जहाँपर समास की अधिकता होती है, उसे 'ओजगुण' समझना चाहिए परन्तु वह (समास की बहुलता) गद्यकाव्य में विशेष मनोज्ञ प्रतीत होती है।

९-१०—माधुर्य[7] व सौकुमार्य गुण—जहाँपर शब्द और अर्थ दोनों रस-सहित हों अथवा जहाँपर सरस अर्थवाले शब्द वर्तमान हों, उसे 'माधुर्यगुण' कहते हैं एवं जहाँपर निष्ठुर (कठोर) शब्द न हों उसे 'सौकुमार्यगुण' कहा है। प्राकरणिक अभिप्राय—यशोधर महाराज ने उक्त कविद्वारा पूँछे हुए श्लोक का उत्तर देते हुए कहा कि जो ऐसे काव्यरूप वृक्ष को जानता है, वही कवि है[8] ॥२७५॥ अथानन्तर कोई महाकवि यशोधर महाराज से कहता है कि हे राजन्! जो राजा लोग महाकवियों के काव्यशास्त्रों का, जिनमें समस्त विषयों (काव्य-गुण, दोष, शृङ्गार-आदि रस तथा सुभाषिततत्वों) की विशेषरूप से उत्पत्ति पाई जाती है, श्रवण व पठनादि का मनोरथ (इच्छा) नहीं करते, उनके दोनों कान, जिह्वा व मन ऐसे मालूम पड़ते हैं—मानों—वाणी की अधिष्ठात्री देवता (बृहस्पति) द्वारा दिया हुआ शाप ही है[9] ॥२७६॥

अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज! किसी अवसर पर मैंने प्रशस्त विद्वन्मण्डल में आभरणप्राय व शब्द-विस्तारपूर्वक किये हुए वचन-उपन्यास के प्रारम्भों (वादविवादों) में, जिनमें मर्यादित समास,

*'इत्यस्यार्थकथनानुनयनाशयशयेन' घ०।

१. बन्धस्य यदवैषम्यं समता सोच्यते बुधैः। यदुज्ज्वलत्वं तस्यैव सा कान्तिरुदिता यथा ॥१॥

२-३ तथा च वाग्भट्टः कविः—यदज्ञेयत्वमर्थस्य सार्थव्यक्तिः स्मृता यथा। झटित्यर्थार्पकत्वं यत्प्रसत्तिः सोच्यते बुधैः।

४-५ तथा च वाग्भट्टः—स समाधिर्यदन्यस्य गुणोऽन्यत्र निवेश्यते। श्लेषो यत्र पदानि स्युः स्यूतानीव परस्परं।

६. ओजः समासभूयस्त्वं तद्गद्येष्वति सुन्दरम् ॥

७. तथा च वाग्भट्टः कविः—सरसार्थपदत्वं यत्तन्माधुर्यमुदाहृतम्। अनिष्ठुराक्षरत्वं यत्सौकुमार्यमिदं यथा ॥१॥

८. समुच्चयालंकार। ९. उत्प्रेक्षालंकार।

गीर्गुम्फसंरम्भेषु जिनजैमिनिकपिलकणचरचार्वाकशाक्यप्रणीतप्रमाणसंवीणतया विदुषिणीनां परिषदां चित्तभित्तिष्वात्मयशः-प्रशस्तीरुल्लिलेख ।

यथास्त्ररहिते पुंसि वृथा शौर्यपरिग्रहः । तथोपन्यासहीनस्य वृथा शास्त्रपरिग्रहः ॥ २७७ ॥

स्फुरन्त्यपि मनःसिन्धौ शास्त्ररत्नान्यनेकशः । वचोगुणविहीनानि भूषयन्ति न सन्मनः ॥ २७८ ॥

विद्यानां स्फुरितं प्रीत्यै स्त्रीणां लावण्यवद्बहिः । अन्तर्भवतु वा मा वा किं विचारैरतीन्द्रियैः ॥ २७९ ॥

श्रीमान्विधेः प्रसादेन यः सत्सु न कृतादरः । अरण्यकुसुमानीव नीरर्थास्तस्य संपदः ॥ २८० ॥

आसंसारं †यशः कर्तुं चतुर्वर्गं तु वेदितुम् । येषु वाञ्छास्ति ते भूपाः* कुर्वन्ति कविसंग्रहम् ॥ २८१ ॥

कदाचिदनायासप्रवृत्तरथचरणनेमिषु करिविनयभूमिषु

शब्द व पदों के उच्चारणों में गूँथीं हुई शुद्ध (केवल) व परस्पर में मिलीं हुईं सभी प्रकार की भाषाओं (संस्कृत, प्राकृत, सूरसैनी, मागधा, पैशाची और अपभ्रंश-आदि) द्वारा विद्वानों की प्रतिभा (नवीन-नवीन बुद्धि का चमत्कार) प्रकट की गई है, विशिष्ट विद्वानों से सुशोभित हुए तार्किक विद्वन्मण्डलों की चित्तरूपी भित्तियों पर अपनी यश की प्रशस्ति (प्रसिद्धि) उल्लिखित की (उकेरी), क्योंकि मैंने जैन, मीमांसक, सांख्य, वैशेषिक अथवा गौतम-दर्शन, चार्वाक (नास्तिक-दर्शन) और बुद्ध-दर्शन इन छहों दर्शनों में कहे हुए प्रमाणों में निपुणता प्राप्त की थी।

क्योंकि जिसप्रकार खड्ग-आदि हथियारों से हीन हुए शूर पुरुष की शूरता (बहादुरी) निरर्थक है उसीप्रकार व्याख्यान देने की कला से रहित हुए विद्वान् पुरुष की अनेक शास्त्रों के अभ्यास से प्राप्त हुई निपुणता भी निरर्थक है[1] ।।२७७।। विद्वानों के मनरूपी समुद्र में अनेक शास्त्ररूप रत्न प्रकाशमान होते हुए भी यदि व्याख्यान देने की कला से रहित हैं तो वे सज्जनों के चित्त को विभूषित नहीं कर सकते[2] ।।२७८।। जिसप्रकार स्त्रियों का बाहिरी लावण्य (सौन्दर्य) कामी पुरुषों को प्रसन्न करता है उसीप्रकार विद्वानों की विद्या का बाहिरी चमत्कार (वक्तृत्वकला-आदि) सज्जनों को प्रसन्न करता है। भले ही उन विद्वानों में विद्याओं का भीतरी प्रकाश (गम्भीर अनुभव) हो अथवा न भी हो, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों के अगोचर सूक्ष्मतत्व के विचारों से क्या लाभ है ? अपि तु कोई लाभ नहीं[3] ।।२७९।। जो धनाढ्य पुरुष पुण्योदय से प्राप्त हुई लक्ष्मी से विभूषित हुआ विद्वानों व सज्जनों का सत्कार नहीं करता, उसकी धनादि सम्पत्तियाँ उसप्रकार निष्फल हैं जिसप्रकार वन के पुष्प निष्फल होते हैं[4] ।।२८०।। जिन राजाओं की इच्छा अपनी कीर्ति को संसार पर्यन्त व्याप्त करने की है और धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के स्वरूप को जानने की है, वे राजा लोग कवियों का संग्रह (स्वीकार) करते हैं[5] ।।२८१।।

अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज ! किसी अवसर पर निम्नप्रकार पाठ पढ़ने में तत्पर हुए तथा स्वयं बाँसयष्टि ग्रहण करते हुए मैंने गज-(हस्ती) शिक्षा-भूमियों पर, जहाँपर रथ-चक्रधाराएँ सुखपूर्वक संचलित होरही थीं, हाथियों के लिए निम्नप्रकार शिक्षा दी—

---

† 'यशस्कर्तुं' क० । * 'कुर्वन्तु बुधसंग्रहम्' क० ।

१. दृष्टान्तालंकार । २. रूपकालंकार । ३. उपमा व आक्षेपालंकार । ४. उपमालंकार । ५. जाति-अलंकार ।

समं गात्रैस्तिष्ठ प्रतिहर करं छिद्ररहितं शिरः पुत्रोन्नम्य स्ववहितमनाः स्वर्पय मुखम् ।
ततः कल्याणाङ्ग श्रवणयुगलं हर्षय गज ब्रुवे यावन्मात्राशतमिदमहं वर्णविधये ॥ २८२ ॥

एवमशेष*क्रियासौष्ठव, प्रतिष्ठाधिष्ठानायां शुभस्थापनायाम् । स्थिरस्थित†समस्ताङ्गसंगर्भ, शिक्षावेक्षणाक्षुण्णान्तःकरणगर्भ, मरीचिमतङ्गमृगशर्मादिमहामुनिसमानीतदर्शितावलोकितगृहीतध्यातनिश्चिताण्डकपालार्द्धदितिसुतप्रसूतिपूतान्तरालादुपासितुमायातगणपतिविलोकनप्रहितनयनेन तद्वदनानुरूपवपुःसंपादनसमाहितहृदयेन ‡सप्तसामान्यभिगायता पितामहेन विहितसकलसत्त्वातिशायिदेह, त्रिलोचनाच्युतविरिञ्चिविरोचनचन्द्रचित्रभानुप्रभृतिभिर्देवताभिः सबहुविस्मयमुदीरितपरस्परस्वागताभिरधिष्ठितोदारशरीरगेह, निखिलापरप्राणिगणावार्यवीर्य, दिविजकुजकुञ्जवज्रपातशौर्य, द्विजदेवगन्धर्वयक्षमहीक्षितामन्यतमसत्त्वपद, क्षोणीशमहामात्रकुलकल्याणपरम्पराफलवरद, द्विरद, हे हे हल, दिव्यसामज, मात्राशतं तिष्ठ तिष्ठ ।

हे पुत्र गज ! अपने शारीरिक अग्रभागों से अच्छी तरह स्थित होते हुए छिद्र-हीन सूँड़ संकुचित (वेष्टित) करो । हे पुत्र ! मस्तक ऊँचा करके सावधान चित्त होते हुए मुख में सूँड़ प्रविष्ट करो । तत्पश्चात् माङ्गलिक लक्षण-युक्त शरीरशाली हे गजेन्द्र ! दोनों कर्ण हर्षपूर्वक संचालित करो । मैं (यशोधर महाराज) तुम्हारी स्तुति-विधान के अवसर पर यह कहता हूँ कि तुम चिरञ्जीवी होओ[1] ॥२८२॥

स्थिति के अध्यासन से अलङ्कृत (तुम्हारे दीर्घजीवी रहने की कामनावाली) इस माङ्गलिक स्तुति-स्थापना के अवसर पर सूँड-संचालन-आदि समस्त चेष्टाओं में समीचीनता रखनेवाले हे गजेन्द्र ! तुम चिरकाल तक जीवित रहो । निश्चलरूप से स्थित समस्त शारीरिक अङ्गों के मध्यभागवाले और शिक्षा (विनय) के देखने से परिपूर्ण मानसिक मध्यभाग-युक्त हे गजराज ! तुम दीर्घकाल तक जीवित रहो । हे गज ! समस्त प्राणियों की अपेक्षा अतिशयशाली तुम्हारा शरीर ऐसे ब्रह्मा द्वारा, जिसने अपने दोनों नेत्र सेवार्थ आए हुए गणेशजी के देखने में प्रेरित किये हैं और जिसने अपना हृदय गणपति के मुखसरीखी तुम्हारी शरीर-रचना में सावधान किया है एवं जो सामवेद के सात वाक्यों का मन्दरूप से गानकर रहा है, ऐसे षट् विशेषण-युक्त ब्रह्माण्ड के अर्धभाग से रचा गया है, जो (ब्रह्माण्ड का अर्धभाग) मरीचि, मतङ्ग व मृगशर्मा-आदि महर्षियों द्वारा ब्रह्मा के सम्मुख लाया गया, दिखाया गया, देखा गया, जिसके परिणामस्वरूप उसके द्वारा स्वीकार किया गया व चिन्तवन एवं निश्चित किया गया है और जिसका मध्यभाग सूर्य की उत्पत्ति होने से पवित्र है, ऐसे हे गजराज ! तुम बहुत समय तक जीवित रहो । इसप्रकार जिसका अत्यन्त मनोज्ञ या विशेष उन्नत शरीररूपी मन्दिर अत्यन्त आश्चर्यपूर्वक परस्पर में स्वागत (विशेष सन्मान) प्रकट करनेवाले श्रीमहादेव, श्रीनारायण, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्र व अग्नि-आदि देवताओं द्वारा अधिष्ठित (निवास-युक्त) किया गया है और जिसकी शक्ति समस्त प्राणिगणों (सहस्रभट, लक्षभट व कोटिभट-आदि शूरवीर पुरुषों) द्वारा नहीं रोकी जासक्ती, अर्थात्—जो अनोखी शक्ति से अलङ्कृत है एवं जो कल्पवृक्षों के लतापिहित प्रदेशों पर होनेवाले वज्रपात-जैसी शूरता रखनेवाला है तथा जो परशुराम-आदि ब्राह्मण, इन्द्र-आदि देवता, गन्धर्व, कुबेर-आदि यक्ष, भीम व भीष्म-आदि राजालोग इनमें से किसी एक के साहस का स्थान है । अर्थात्—जो इनमें से किसी एक के साहस से अधिष्ठित है और जो महान् राजाओं के महावतों के वंश की कल्याण-परम्परा का उत्कृष्ट फल देनेवाला है, ऐसे हे गजेन्द्र ! हे हे मित्र ! हे अलौकिक गजेन्द्र ! तुम चिरकाल तक जीवित रहो ।

---

* 'क्रियाशौर्य' क० । † 'समस्ताङ्गसंदर्भ' क० । ‡ 'समसामपदान्यभिगायता' क० ।

१. जाति-अलंकार ।

गात्रैस्तिष्ठ समैः पुरोनखसमं हस्तं निधेहि क्षितौ दृष्टिं देहि कराग्रतः स्थिरमनाः कर्णौ गजाश्लेषय।
वालं धारय वत्स यावदचिरान्मौन्यामहं कल्पये मात्राणां शतमास्व तावदचिलस्त्वं योगिकल्पाकृतिः ॥ २८३ ॥

एवं स्थापनायां यथास्थानं गात्रापरकरनयनश्रवणवालदेशनिवेशेषु कुशल, समसमाहितनिःस्पन्दसर्वदेशपेशल, समुन्मिषत्पूर्वजन्माभ्यस्तक्रियाकलापनैपुण्य, दमकलोकोपदिश्यमानविनयग्रहणप्रवण, निष्पन्नयोगीवावगणितोपान्ताहितकान्तवस्तुजात, महामुनिरिव रुचिरेतराहाराभ्यवहरणसुप्रसन्नस्वान्त, प्रातिशीन इवावधीरितोभयगन्धसंबन्ध, दिव्यचक्षुरिवावितर्कितविकृतप्राकृतसामाजिकसांग्रामिकालंकारकलितसमस्तसत्त्वप्रबन्ध, सन्नश्रोत्र इव मृदङ्गानकशङ्खक्ष्वेलितकाहलादिकोलाहलाविप्रलब्धबोध, तिमिरिवोपामर्शनावक्षोदनतोदनादिबाधासंबाधक्षान्तशरीरसौध, अतिनिभृतसमस्ताङ्गतया महामहीधर इव शैलाटनितटीटङ्कघटितचेष्टितावसर इव, लेपविनिर्मितावतार इव, मेदिनीमध्यान्निरूढ इव च प्ररूढजनमनोविकल्प, द्विप हे हे हल,

हे गजेन्द्र ! जब तक मैं (यशोधर महाराज) अल्प समय तक तेरी स्तुति-सम्बन्धी स्थापना पढ़ रहा हूँ तब तक स्थिरचित्त हुए तुम समान (ऊँचे-नीचे-रहित) शारीरिक अङ्गों से स्थित होओ, अग्रनख-जैसी सूँड पृथ्वी पर स्थापित करो, सूँड के अग्रभाग (अङ्गुलि) पर अपनी दृष्टि लगाओ, अपने दोनों कान निश्चल करो एवं हे पुत्र ! पूँछ संचालित मत करो (निश्चल करो) तथा ध्यानस्थ मुनि-सी आकृतिवाले तुम निश्चल होते हुए बहुत काल तक स्थित (जीवित) रहो[1] ॥२८३॥

इसप्रकार स्तुति-स्थापना के अवसर पर शारीरिक अङ्ग (पाद-आदि) तथा दूसरे सूँड, नेत्र, कर्ण और पूँछ-देश के स्थानों में यथास्थान कुशल (प्रवीण), सम (सीधे) रूप से स्थापित व निश्चल शारीरिक अवयवों से सुन्दर एवं उत्पन्न होरहे पूर्वजन्माभ्यस्त क्रिया-समूह में निपुण तथा शिक्षक लोगों (महावत-आदि) द्वारा उपदेश दीजानेवाली शिक्षा (विनय) के स्वीकार करने में प्रवीण ऐसे हे गजराज ! तुम चिरकाल पर्यन्त जीवित रहो। इसीप्रकार जिसने समीप में स्थापित हुए अत्यन्त मनोहर स्त्री-आदि वस्तु-समूहों को उसप्रकार तिरस्कृत किया है जिसप्रकार पूर्ण ध्यान में स्थित हुआ ऋषि समीपवर्ती अत्यन्त मनोहर वस्तु-समूहों को तिरस्कृत करता है। जिसका मन मनोज्ञ व अमनोज्ञ आहार के आस्वादन करने में उसप्रकार निर्मल है जिसप्रकार दिगम्बर आचार्य का मन मनोज्ञ व अमनोज्ञ आहार के आस्वादन करने में निर्मल होता है। जिसने सुगन्धि व दुर्गन्धि इन दोनों का संयोग उसप्रकार तिरस्कृत किया है जिसप्रकार विकृत कफवाला मानव सुगन्धि व दुर्गन्धि का संयोग तिरस्कृत करता है। जिसने विकृत (रोगी और घृणा के योग्य पुरुष), नीचलोक, सामाजिक (सेवकगण), शस्त्रधारक वीरपुरुष और आभूषणों से अलङ्कृत पुरुष इन समस्त प्राणियों का संबंध उसप्रकार तिरस्कृत किया है जिसप्रकार अन्धापुरुष उक्त विकृत व नीच लोग-आदि समस्त प्राणियों का संबंध तिरस्कृत करता है। जिसका ज्ञान मृदङ्ग, नगाड़ा शङ्ख, सिंहनाद और काहल (भेरीविशेष)-आदि बाजों के कलकल शब्दों द्वारा उसप्रकार स्खलित (नष्ट) नहीं किया गया जिसप्रकार बहिरे मानव का ज्ञान उक्त मृदङ्ग-आदि बाजों के कलकल शब्दों द्वारा नष्ट नहीं होता। जिसका शरीररूपी महल स्पर्श (छूना) पादसंघट्ट व अङ्कुशादि-पीडन-इत्यादि की बाधा (दुःख) की पीड़ा सहन करने में उसप्रकार सहनशील है जिसप्रकार महामच्छ का स्थूल व पुष्ट शरीररूपी महल उक्त स्पर्श-आदि के कष्टों की पीड़ा सहन करने में सहनशील होता है। इसीप्रकार अत्यन्त निश्चल शरीर के कारण जो ऐसा प्रतीत होता है—मानों—सुमेरु पर्वत ही है। अथवा जो ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—पर्वत के अग्रभाग की तटी के लोहमयी टङ्क (कुदाली-आदि) से घड़ी हुई वस्तु की अवस्था (दशा) का अवसर ही है। अथवा जो ऐसा जान पड़ता है—मानों—गीली

1. जाति या उपमालंकार।

दिव्यसामज, मात्राशतं तिष्ठ तिष्ठ ।

समं स्थित्वा गात्रैरचलितवपुः सून्नितशिरा +मुखं स्वर्व्याङ्गं त्वं श्रुतियुगमिदं हर्षय गज ।
उरस्तो निर्गत्य स्थितमिव करं धारय पुरः कुरुच्छोलं वालं विहितसमवस्थापनविधिः ॥ २८४ ॥

एवमुरोविनिर्गतपुरः प्रोत्कूणिताग्रहस्ततया प्रहृष्टकर्णतया च वाराहीमाकृतिमानीतनिजदेहवृत्त, गजैतिह्यकुशलोपदिश्यमानदम्याधिकर्मावहितचित्त, प्राजापत्यैन्द्ररौद्रकौबेरवारुणकौमारयाम्यसौम्यवायव्याग्नेयवैष्णवाश्विभगसूर्यदेवतेषु करिषु अन्यतमसंबन्धिलक्षणोपेत, पृथिव्यप्तेजसामेकतमच्छायासमेत, अष्टादशक्रियाधार, तत्कर्मनिष्णाततया विदित, चतुरस्रीकृतक्षान्तदान्तयोधविनीतसर्वज्ञादिनामप्रकार, महाबलप्रचण्ड, सकलसपत्नोरःपुरकपाटस्फोटनाशनिदण्ड, परचक्रप्रमर्दनकर, गजबन्धुधराधीशविधुरबान्धवधुर, सिन्धुर, हे हे हल, दिव्यसामज, मात्राशतं तिष्ठ तिष्ठ ।

मिट्टी के पलास्तर से किये हुए अवतारवाला ही है एवं जो ऐसा प्रतीत होता है—मानों—पृथिवी के मध्यभाग से ही प्रकट हुआ है। इसीप्रकार लोगों के मानसिक अभिप्रायों (उत्प्रेक्षाओं—कल्पनाओं) को प्रकट करनेवाले हे गजेन्द्र ! हे हे मित्र ! हे अलौकिक गजेन्द्र ! तुम चिरकाल तक जीवित रहो[1] ।

हे गजेन्द्र ! तुम अपने शारीरिक अङ्गों (पाद-आदि) से सम (ऊँचे-नीचे-रहित) पूर्वक उठकर निश्चल शरीरशाली व उन्नत मस्तकवाले होते हुए सूँड मुख में प्रविष्ट करके (आधी सूँड मुख में घुसेड़कर) प्रत्यक्ष-प्रतीत कर्णयुगल संचालित करो एवं वराहाकार-जैसी की हुई स्थापना-विधिवाले तुम अपनी सूँड, जो कि हृदय से निकलकर उठी हुई-सी प्रतीत होरही है, सामने अग्रभूमि पर स्थापित करो और पूँछ को ऊपर हिलनेवाली करो (हिलाओ)[2] ॥२८४॥

इसीप्रकार वक्षःस्थल से निकली हुई व अग्रभाग में वक्र सूँड़ के कारण तथा संचालित कर्णयुगल-वश अपनी शारीरिक प्रवृत्ति को जंगली शूकर सी आकृति-धारक, गजशास्त्र में विचक्षण (विद्वान्) पुरुषों द्वारा शिक्षा दिये जानेवाले दम्य (काबू में लाना-वश में करना)-आदि कर्तव्यों से सावधान चित्तवाले, ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, कुबेर, वरुण, कुमार, यम, सोम, वायु, अग्नि, विष्णु, अश्विन, भग और सूर्य इन देवताओंवाले होने के कारण प्राजापत्य, ऐन्द्र, रौद्र, कौबेर, वारुण, कौमार, याम्य, सौम्य, वायव्य, आग्नेय व वैष्णव-आदि नामवाले हाथियों में से किसी एक हाथी के लक्षणों से अलङ्कृत, पृथिवी, जल व अग्नि में से किसी एक पदार्थ की दीप्ति से संयुक्त, अठारह प्रकार की क्रियाओं* (तीनप्रकार का दाम्य, सात प्रकार का सांनाह्य और आठ प्रकार का उपवाह्यकर्मरूप व्यापारों) के आधार, उन-उन कर्त्तव्यों में प्रवीण होने के कारण विख्यात, चतुरस्रीकृत† (पण्डित), क्षमावान्, जितेन्द्रिय, योध‡ (सहस्रभट, लक्षभट व कोटीभट शूरवीरों का विध्वंसक), शिक्षाग्राहक, व सर्वज्ञ-आदि भिन्न २ नामोंवाले, विशेष शक्तिशाली होने के कारण अत्यन्त क्रोधी, समस्त शत्रु-हृदयों को और नगर के [विशाल] दरवाजों के किवाड़ों को चूर-चूर करने के लिए वज्रपात के समान, शत्रु-सेनाओं को चूर-चूर करनेवाले और ऐसे राजाओं के, जिनके हाथी ही बन्धु (उपकारक) हैं, संकट पड़ने के अवसर पर उपकारक बन्धु का भार वाहक ऐसे हे गजेन्द्र ! हे हे मित्र ! हे अलौकिक गजेन्द्र ! तुम दीर्घकाल पर्यन्त जीवित रहो ।

+ 'मुखं सूर्पाङ्गं त्वं' क० ।

१. उपमा व उत्प्रेक्षालङ्कार । २. उपमालंकार ।

* उक्तं च—'दाम्यं त्रिविधमिच्छन्ति सांनाह्यं सप्तधा स्मृतम् । स्यादष्टधोपवाह्यं चेत्येवमष्टादश क्रियाः ॥१॥'

† उक्तं च—'चतुरस्रीकृतश्च पण्डितः' । ‡ उक्तं च योधश्च सहस्रभट-लक्षभट-कोटीभटविध्वंसकः'

सं० टी० (पृ० ४८८) से संकलित—सम्पादक

गात्राणां समतां कुरु प्रतिहर त्वं हस्तमुच्चैःशिराः स्वर्ष्यास्ये श्रुतिवालहर्षणपरः पश्चान्निषीदार्धतः।
वंशं निम्नय निर्भुजोरसि ततः प्रोत्फुल्लनेत्रद्वयः सिंहस्थापनया युतो भव करिन्नुत्पित्सुसिंहोपमः ॥ २८५ ॥

एवमुपस्थापनायामुपात्तवपुश्चण्डिमाडम्बरतया हठाद्गृहीतकरिकुलाकारणवैरिकण्ठीरवाकार, उत्पतिष्णुमहामहीधरप्रतिमतया संपादितोपकण्ठसत्त्वसाध्वसावतार, समस्तसपत्नग्रसनकामतयेव विस्फारितमहाभयानकव्यवसायकाय, सकलभूताभिभाविना चराचरतैजसांशजातजनितेन ज्वलज्ज्वालवज्रवैश्वानरकरालमूर्तिना मदपुरुषेणाधिष्ठितनया द्विगुणीभूतभीमसाहसनिकाय, अनेकशः कदनमेदिनीषु नखरदविदारितारातिकरितुरगरथतरीचरनरनिकरकीलालकेलिकृतमहायोगिनीबलिविधान, अव्याजाश्चर्यशौर्यप्रीतया वीरश्रिया स्वयमेव विहिताहितलोहितपञ्चाङ्गुलप्रपञ्चाधान, निरन्तरमविचारितमाचरितमृगायितैः शत्रुभिश्चिरं खिलीभूतामरपुरमार्गतया ज्वलदनङ्गाङ्गारचुम्बनच्युतचित्तप्रसत्तीनामप्सरसां दैवादाहवेष्वभीतायात-

हे गजेन्द्र ! उन्नतमस्तक-शाली तुम कान और पूँछ को कम्पित करने में तत्पर होते हुए पहिले मुख में अपनी सूँड़ घुसेड़कर अपने शारीरिक अङ्गों की समता (ऊँचे-नीचे की विषमता से रहित) करो, सूँड़ संकुचित करो और पीछे के भाग से आधे बैठो एवं पीठ का मध्यभाग नीचा करो। पश्चात् अपने दोनों नेत्र प्रफुल्लित करते हुए हृदय को आगे करो। हे गजराज ! तुम सिंहस्थापना से युक्त होजाओ—सिंहरूप से स्थित होओ और [आक्रमण करने के अवसर पर] अपने पंजों को बाँधनेवाले सिंह-जैसे होजाओ[1] ॥२८५॥

हे गजेन्द्र ! इसप्रकार सिंहाकार से प्रतिष्ठापना—स्थापना—के अवसर पर तुम्हारे द्वारा विस्तृत शारीरिक प्रचण्डता ग्रहण कीगई है, इसलिए तुमने ऐसे सिंह की आकृति बलात्कारपूर्वक ग्रहण की है, जो हाथियों के झुण्डों का निष्कारण शत्रु है। हे गजराज ! तुम उत्पतनशील विशाल पर्वत-सरीखे हो, अतः तुम्हारे द्वारा समीपवर्ती प्राणियों को भयङ्कर आकार प्राप्त किया गया है। हे गजश्रेष्ठ ! ऐसा मालूम पड़ता है कि समस्त शत्रुभूत हाथियों के भक्षण करने की कामना से ही मानों—तुम्हारे द्वारा अपना अत्यन्त भयानक व उद्यमशाली शरीर विशाल किया गया है। हे गजोत्तम ! तुम ऐसे मदपुरुष (राक्षस) से अधिष्ठित हो, अर्थात्—ऐसा प्रतीत होता है—मानों—तुम्हारे वृहत् शरीर में ऐसा राक्षस प्रविष्ट हुआ है, जो समस्त प्राणी-समूह या व्यन्तरदेवों को पराजित करनेवाला है और जो जगत् के तेजोमय भाग-समूह से उत्पन्न हुआ है एवं जिसका शरीर उसप्रकार रौद्र (भयानक) है जिसप्रकार प्रदीप्त होती हुई ज्वालाओं वाली वज्राग्नि रौद्र (भयानक) होती है, इसकारण से ही तुम्हारा भयानक साहस-समूह (अद्भुत कर्म-समूह—क्रूरता-आदि) द्विगुणित (दुगुना) होगया है। हे गज ! तुम्हारे द्वारा अनेकवार संग्रामभूमियों पर नखों व दन्तों (खीसों) द्वारा चूर्ण किये हुए शत्रुओं के हाथी, घोड़े, रथ और नौका पर स्थित हुए योद्धा पुरुषों के समूहों की रुधिर-क्रीड़ा से महायोगिनियों (विद्यादेवताओं) की पूजाविधि कीगई है। हे गज ! तुम्हारा पाँच अङ्गुलप्रमाण स्थासक (शरीर को सुगन्धित करनेवाला पदार्थ) तुम्हारी निष्कपट अद्भुत शूरता से प्रसन्न हुई वीरलक्ष्मी द्वारा स्वयं ही शत्रु-रुधिर से विस्तृत किया गया है। निरन्तर विना विचारे भागे हुए शत्रुओं द्वारा स्वर्ग का मार्ग चिरकाल तक ऊजड़ (देवों से शून्य) होगया था। अर्थात्—युद्ध छोड़कर भागे हुए शत्रुओं ने स्वर्ग में प्राप्त होकर देवताओं को भगा दिया था, जिसके फलस्वरूप स्वर्ग का मार्ग (स्थान) ऊजड़ होचुका था, जिसके कारण देवियों के चित्त की प्रसन्नता विशेषरूप से प्रदीप्त होनेवाली कामदेवरूपी अग्नि के अङ्गार-चुम्बन (स्पर्श) से नष्ट होचुकी थी, पश्चात् उनके भाग्योदय से ऐसे योद्धाओं से, जो संग्रामभूमियों पर निडर होकर आए हुए, बाद में विध्वंस किये जाकर मृत्यु को प्राप्त हुए तत्पश्चात् देवियों के साथ मिलने के कारण उनके द्वारा मैथुन क्रीड़ा में भोगे

१. उपमालंकार।

हतपरेतसंगतरमितसुभटप्रसूतसुरतसुखसुधासारवर्षप्रावृषेण्यपर्जन्य, दुर्जयजन्य, निजनिवासदुर्जनक्षयकाल, निजावनीधरधरणिरक्षणक्षमप्रतापासराल, निजविजिगीषुविजयवरप्रदानोदितोदित, निजपराक्रमगर्वखर्वितदुर्वारपरदर्पपर्वत, निजनाथवरूथिनीरक्षणपरिचलत्प्राकार, कुञ्जरकुलसार, हे हे हल, दिव्यसामज, मात्राशतं तिष्ठ तिष्ठ इति पाठपरायणः स्वयमेव गृहीतवेणुवारणान्विनिन्ये।

न विनीता गजा येषां तेषां ते नृप केवलम्। क्लेशायार्थविनाशाय रणे चात्मवधाय च ॥ २८६ ॥

यस्य जीवधनं यावत्स तावत्स्वयमीक्षताम्। अन्यथान्नादिवैगुण्यात्सदुःखे पापभाग्भवेत् ॥ २८७ ॥

गए थे, उत्पन्न हुए रतिविलास की सुखरूप अमृत-वृष्टि की वेगपूर्ण वर्षा करने में हे गज! तुम वर्षाऋतु के मेघ हो। हे गजेन्द्र! तुम्हारे साथ किया हुआ युद्ध (गजयुद्ध) महान् कष्टपूर्वक जीता जाता है। अभिप्राय यह है कि हस्तियुद्ध पर विजयश्री प्राप्त करने में शूरवीरों को महान् कष्ट उठाने पड़ते हैं। हे गज! तुम अपनी राजधानी के शत्रुओं को नष्ट करने के लिए प्रलयकाल हो और ऐसे प्रताप से, जो कि अपने राजा की पृथिवी की रक्षा करने में समर्थ है, पूर्ण व्याप्त हो एवं विजयश्री के इच्छुक अपने स्वामी के हेतु विजयश्रीरूप अभिलषित वस्तु को देने में विशेष उन्नतिशील हो। इसीप्रकार हे गज! तुमने अपनी विशिष्ट शक्ति के अहङ्कार द्वारा दुर्जय शत्रुओं के हाथियों का मदरूप पर्वत चूर-चूर कर दिया है एवं अपने स्वामी की सैन्य-रक्षा करने में जङ्गम (चलनशील) कोट हो और हाथियों के वंश में श्रेष्ठ हो। ऐसे हे मित्र गजराज! हे अलौकिक गजेन्द्र! तुम चिरकाल पर्यन्त सिंहरूप से जीवित रहो।

अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज! मैंने निम्नप्रकार दो श्लोकों का अभिप्राय चिन्तवन किया—हे राजन्! जिन राजाओं के हाथी शिक्षित नहीं होते, उनके अशिक्षित हाथी केवल उनको कष्टदायक ही नहीं होते अपि तु उनका धन नष्ट करनेवाले भी होते हैं। अर्थात्—राजाओं द्वारा गजरक्षा-हेतु दिया हुआ धन व्यर्थ जाता है और वे युद्ध में राजा का बध करनेवाले होते हैं। भावार्थ—शास्त्रकारों[1] ने कहा है कि 'अशिक्षित हाथी उसप्रकार तुच्छ होता है जिसप्रकार चर्म-निर्मित हाथी और काष्ठ-निर्मित हिरण तुच्छ होता है'। निष्कर्ष—विजयश्री के इच्छुक राजाओं को शिक्षित हाथी रखने चाहिए[2] ॥२८६॥

जिस पुरुष या राजा के पास जितनी संख्या में गाय-भैंस-आदि जीविकोपयोगी सम्पत्ति है, उसकी उसे स्वयं सँभाल (देखरेख—रक्षा) करनी चाहिए। अन्यथा (यदि वह उसकी रक्षा नहीं करता) उन्हें अन्न व घास-आदि की हीनता होजाने से वे दुःखी होते हैं, जिसके फलस्वरूप वह पाप का भागी होता है। भावार्थ—नीतिकारों[3] ने भी कहा है कि 'गाय-भैंस-आदि जीविकोपयोगी धन की देख-रेख न करनेवाले पुरुष को महान् आर्थिक-क्षति उठानी पड़ती है एवं उनके मर जाने से उसे विशेष मानसिक पीड़ा होती है तथा उन्हें भूँखे-प्यासे रखने से पापबंध होता है। अथवा राजनीति के प्रकरण में भी गाय-भैंस-आदि जीवन-निर्वाह में उपयोगी सम्पत्ति की रक्षा न करनेवाले राजा को विशेष आर्थिक क्षति उठानी पड़ती है एवं उनके असमय में काल-कवलित होने से उसे मानसिक कष्ट होता है; क्योंकि गोधन के अभाव होजाने से राष्ट्र की कृषि व व्यापार-आदि जीविका नष्टप्राय होजाती है, जिसके फलस्वरूप

---

१. उक्तं च—यद्वच्चर्ममयो हस्ती यद्वत्काष्ठमयो मृगः। तद्वद्वदन्ति मातङ्गमविनीतं तथोत्तमाः ॥१॥
यश० संस्कृत टी० पृ० ४९१ से संकलित—सम्पादक

२. समुच्चयालंकार।

३. तथा च सोमदेवसूरिः—स्वयं जीवधनमपश्यतो महती हानिर्मनस्तापश्च क्षुत्पिपासाऽप्रतिकारात् पापं च ॥१॥

इत्यनुस्मृत्य कदाचित्कृतकरेणुकारोहणः

उसे महान् पापबंध होता है'। शुक्र[1] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो मानव गाय-भैंस-आदि पशुओं की सँभाल—देखरेख नहीं करता उसका गोधन नष्ट होजाता है—अकाल में मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होजाता है, जिससे उसे महान् पापबंध होता है'। नीतिकार सोमदेवसूरि[2] ने लिखा है कि 'मनुष्य को अनाथ (माता-पिता से रहित), रोगी और कमजोर पशुओं की अपने बन्धुओं की तरह रक्षा करनी चाहिए'। व्यास[3] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो दयालु मनुष्य अनाथ (माता-पिता से रहित), लूले-लँगड़े, दीन व भूख से पीडित पशुओं की रक्षा करता है, वह चिरकाल तक स्वर्ग-सुख भोगता है'। पशुओं के अकाल-मरण का कारण निरूपण करते हुए प्रस्तुत सोमदेवसूरि ने[4] कहा है कि 'अधिक बोझा लादने से और अधिक मार्ग चलाने से पशुओं की अकाल मृत्यु होजाती है'। हारीत[5] विद्वान् ने भी लिखा है कि 'पशुओं के ऊपर अधिक बोझा लादना और ज्यादा दूर चलाना उनकी मौत का कारण है, इसलिए उनके ऊपर योग्य बोझा लादना चाहिए और उन्हें थोड़ा मार्ग चलाना चाहिए'। निष्कर्ष—विवेकी मानव को गाय-भैंस-आदि जीविकोपयोगी सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिए[6] ॥२८७॥

तत्पश्चात्—किसी अवसर पर हथिनी पर आरूढ़ हुआ मैं ऐसे हाथियों के झुण्ड को, जिसकी कीर्ति, गुण या प्रशंसा महावत-मण्डल द्वारा कही जारही थी और जो भद्र, मन्द, मृग व मिश्रजाति के हाथियों से प्रचुर था, देखता हुआ ज्यों ही हथिनी पर बैठ रहा था त्यों ही सेनापति ने मुझ से निम्नप्रकार हाथियों की मदावस्था (गण्डस्थल-आदि स्थानों से प्रवाहित होनेवाले मद—दानजल—की दशा) विज्ञापित की—हे राजन्! 'वसुमतीतिलक' नाम का गजेन्द्र 'संजाततिलका' नाम की मदावस्था में, 'पट्टवर्धन' नामका श्रेष्ठ हाथी 'आर्द्रकपोलिका' नामकी मदावस्था में, 'उद्धताङ्कुश' नाम का हाथी 'अधोनिर्बन्धिनी' नामकी मदावस्था में, 'परचक्रप्रमर्दन' नामका गजराज 'गन्धचारिणी' नाम की मदावस्था में और 'अहितकुलकालानल' 'क्रोधिनी' नामकी मदावस्था में एवं 'चर्चरीवतंस' नामका हाथी 'अतिवर्तिनी' नामकी मदावस्था में तथा 'विजयशेखर' नामका हाथी 'संभिन्नमदमर्यादा' नामकी मदावस्था में स्थित हुआ शोभायमान होरहा है*। तदनन्तर मैं [कुछ मार्ग चलकर पूर्वोक्त मदोन्मत्त श्रेष्ठ हाथियों की क्रीडा देखने के हेतु] निम्नप्रकार प्रवाहित होनेवाले मद की निवृत्ति सम्बन्धी औषधि का उपदेश देने में निपुण चित्तशाली 'शङ्खाङ्कुश' व 'गुणाङ्कुश' नाम के प्रधान आचार्यों की परिषत् के साथ गजशिक्षा भूमियों पर स्थित हुए 'करिविनोदविलोकनदोहद' नाम के महल पर आरूढ़ हुआ। उग्रता—तेजी से बढ़ना, संचय, विस्तार करना, सुखवृद्धि

१. तथा च शुक्रः—चतुष्पदादिकं सर्वं स स्वयं यो न पश्यति। तस्य तन्नाशमभ्येति ततः पापमवाप्नुयात् ॥१॥

२. तथा च सोमदेवसूरिः—वृद्ध-बाल-व्याधित-क्षीणान् पशून् बान्धवानिव पोषयेत् ॥ १ ॥

३. तथा च व्यासः—अनाथान् विकलान् दीनान् क्षुत्परीतान् पशूनपि। दयावान् पोषयेद्यस्तु स स्वर्गे मोदते चिरम् ॥ १ ॥

४. तथा च सोमदेवसूरिः—अतिभारो महान् मार्गश्च पशूनामकाले मरणकारणम् ॥ १ ॥

५. तथा च हारीतः—अतिभारो महान् मार्गः पशूनां मृत्युकारणं। तस्मादर्हभावेन मार्गेणापि प्रयोजयेत् ॥ १ ॥

६. जाति-अलंकार। नीतिवाक्यामृत (भाषाटीकासमेत) पृ० १४१—१४२ से संकलित—सम्पादक।

* उक्तं च—संजाततिलका पूर्वा द्वितीयार्द्रकपोलिका। तृतीयाधोनिबद्धा तु चतुर्थी गन्धचारिणी ॥ १ ॥
पञ्चमी क्रोधिनी ज्ञेया षष्ठी चैव प्रवर्तिका। स्यात्संभिन्नकपोला च सप्तमी सर्वकालिका ॥ २ ॥
प्राहुः सप्त मदावस्था मदविज्ञानकोविदाः। यश० सं० टी० पृ० ४९५ से संकलित—सम्पादक

व्यूढोरस्कः प्रभूतान्तरमणिरसतुः सुप्रतिष्ठाङ्गबन्धः ×स्वाचारोऽन्वर्थवेदी सुरभिमुखमरुद्दीर्घहस्तः सुकोशः ।
आताम्रोष्ठः सुजातः प्रतिरवमुदितश्चारुशीर्षोद्गमश्रीः क्षान्तस्तस्कान्तलक्ष्मीः शमितवलिपदः शोभते भूप भद्रः॥२८८॥
योऽच्छिद्रस्त्वयि वीतभीरवनतः पश्चात्प्रसादात्पुनः किंचित्ते पुरतः समुच्छ्रितशिराः कार्येषु भारक्षमः ।
सोऽस्यल्पश्रम एव मण्डलयुतो गम्भीरवेदी पृथुर्मन्देभानुकृतिर्बलीरितवपुः स्यात्सान्द्रपर्वा नृपः ॥ २८९ ॥
ये वीर त्वयि बहुलीकमनसः सेवासु दुर्मेधसो ह्रस्वोरोमणयः करेषु तनवः स्थूलेक्षणाः शत्रवः ।
तैर्नागाल्प ÷ तनुच्छविप्रभृतिभिः शोकालुभिर्दुर्भरैः संक्षिप्तैरणुवंशकैर्मृगसमं प्रायः समाचर्यते ॥ २९० ॥

गण्डस्थल की वृद्धि, गण्डस्थल के मध्यभाग का प्रक्षालन, विदारण, प्रवर्धन, (कटक दिखाना), विलेपन, चन्दनादिदान, प्रदीप्त करना, ह्रासन, विनिवर्तन (पश्चात्करण) एवं प्रभेदकरण ये हाथियों के गण्डस्थल-आदि से प्रवाहित होनेवाले दानजल की निवृत्ति के उपचार (औषधियाँ) हैं।

हे राजन् ! ऐसा भद्रजाति का हाथी शोभायमान हो रहा है, विस्तीर्ण हृदयशाली जिसके मस्तक में विशिष्ट (बहुमूल्य या सर्वोत्तम) मोतियों की श्रेणी वर्तमान है। जो स्थूल शरीरशाली एवं निश्चल शारीरिक बन्धवाला है। इसीप्रकार जो प्रशस्त आचारवान्, सत्य अर्थ का ज्ञापक, मुख की सुगन्धित श्वास वायु से युक्त, लम्बा (पृथ्वी को स्पर्श करनेवाली) सूँड से सुशोभित, शोभन (आम्रपल्लव-सरीखे) अण्डकोशवाला, रक्त ओष्ठशाली सुजात (रथैषाकृति, मर्दल या कुलीन), अपने चिंघारने की प्रतिध्वनि सुनकर हर्षित होनेवाला, मस्तक का मनोज्ञ उद्गमश्री-युक्त, क्षमावान् या समर्थ, मनोज्ञ लक्ष्मी (शोभा) से व्याप्त एवं जिसके चरणों में से वलियाँ (त्वचा-संकोच या झुर्रियाँ) नष्ट होचुकी हैं[1] ॥२८८॥ वह राजा सान्द्रपर्वा (विशेष महोत्सववाला) होता है, जो कि तुझ मन्दजाति के हाथी में अच्छिद्र (छिद्रा-न्वेषण-रहित पूर्ण विश्वासी) है। जो वीतभी है। अर्थात्-जो तुझसे भय नहीं करता। पश्चात् जो तेरे प्रसाद से कुछ अवनत (नम्रीभूत) है। जो अग्रभाग में समुच्छ्रतशिर (उन्नत मस्तकवाला) है। जो तेरे कार्य के अवसर पर कार्यसिद्धि करता है। इसीप्रकार जो अति-अल्प-श्रम है। अर्थात्—थोड़े कष्ट से भी राज्य का भोक्ता है। जो मण्डलयुत (राष्ट्र-संयुक्त) है। जो गम्भीरवेदी (तेरी गम्भीरता का ज्ञापक—प्रकट करनेवाला) है। तथा जो पृथु (विस्तृत राज्यशाली) है। और जो बली-ईरित-वपु (बलवानों द्वारा प्रेरित किये हुए शरीरवाला) है एवं जो उसप्रकार उक्त गुणों से विभूषित है जिसप्रकार मन्दजाति का हाथी उक्त गुणों से विभूषित होता है। अर्थात्—जिसप्रकार मन्दजातिवाला हाथी अच्छिद्र (घने शारीरिक बन्धवाला), वीतभी (राजा के शत्रुओं से भयभीत न होनेवाला), राजा के प्रसाद से पश्चात् (आगे के शरीर में) अवनत (नम्रीभूत), कुछ अग्रभाग में समुच्छ्रितशिरशाली (उन्नत मस्तक से अलङ्कृत), कार्य-भारक्षम—संग्राम-आदि के अवसर पर भार उठाने में समर्थ, भार-वहन करता हुआ भी अति-अल्प-श्रम (थोड़े परिश्रम का अनुभव करनेवाला), मण्डल-युत (हाथियों के झुण्ड से सहित), गम्भीरवेदी (त्वचा-भेदन होनेपर व रक्त प्रवाहित होनेपर एवं माँस काटे जानेपर भी चेतना—बुद्धि (अनुभव) को प्राप्त न करनेवाला), पृथु (विस्तीर्ण पृष्ठ देशवाला) और बली-ईरित-वपु-अर्थात्-चमड़े की सिकुड़नों या झुर्रियों से व्याप्त शरीरशाली एवं सान्द्रपर्वा-अर्थात्—घने सन्धि-प्रदेशवाला होता है[2] ॥२८९॥ हे पराक्रमी व पृथिवीपति राजन् ! जो शत्रुलोग आपसे बहु-अलीक-मनवाले (कुटिल हृदय वाले), आपकी सेवा से दुर्मेधस (विमुख), ह्रस्व-उरोमणि (अल्प मोतियों की मालाओं

× 'स्वाचारोऽपूर्ववेदी' क०। ÷ 'तनुच्छविप्रसृतिभिः' क०।

1. जाति-अलङ्कार। 2. श्लेष व उपमालंकार।

द्वारि तव देव बद्धाः संकीर्णाश्चेतसा च वपुषा च । शत्रव इव राजन्ते बहुभेदाः कुञ्जराश्चैते ॥ २९१ ॥

इति महामात्रसमूहाम्नायमानवर्णो भद्रमन्दमृगसंकीर्णविस्तीर्णो वेतण्डमण्डलीमवलोकमानः यावदहमासे तावद्देव, वसुमतीतिलकः संजाततिलकायाम्, पट्टवर्धन आर्द्रकपोलिकायाम्, अधोनिबन्धिन्यामुद्धताङ्कुशः, परचक्रप्रमर्दनो= गन्धचारिण्याम्, अहितकुलकालानलः क्रोधिन्याम्, अतिवर्तिन्यां। चर्चरीवतंसः, संभिन्नमदमर्यादायां च विजयशेखर इत्यनीकस्थेन विनिवेदितद्विरदमदावस्थः सोत्तालं बृंहणसंचयव्यास्ताारमुखवर्धनकटवर्धनii कटशोधनप्रतिभेदनप्रवर्धनवर्णकरगन्धकरोद्दीपनह्रासनविनिवर्तनप्रभेदमदोपचारोपदेशविशारदाशयशङ्खाङ्कुशगुणाङ्कुशप्रमुखाचार्यपरिषदा समं प्रधावधरणिषु करिविनोदविलोकनदोहदं प्रासादमध्यास्य

मदमृगमदलेखोल्लासिगण्डस्थलश्रीर्मुहुरनिभृतजृम्भारम्भशुम्भद्विलासः ।
करिपतिरयमन्यामेव देवाद्य कांचिच्छ्रियमवति रणान्ते त्वं यथा जैत्रचापः ॥ २९२ ॥

से विभूषित) और कर-तनु (टेक्स देने में असमर्थ) एवं स्थूल-ईक्षण (स्थूल बुद्धि के धारक) हैं उन शत्रुओं द्वारा बहुलता से उसप्रकार आचरण किया जाता है जिसप्रकार मृगजाति के हाथी आचरण करते हैं। अर्थात्—जिसप्रकार मृगजाति के हाथी बहु-अलीकमनवाले (हीन-हृदयवाले), सेवा में दुर्मेधस (यथोक्त शिक्षा ग्रहण न करनेवाले), ह्रस्व-उरोमणि (अल्प हृदयवाले) और कर में तनु (छोटी—पृथिवी पर न लगनेवाली कमजोर—सूँडवाले) एवं स्थूलेक्षण (स्थूलवस्तु देखनेवाले) होते हैं। उन मृगजाति के हाथी समान शत्रुओं द्वारा उसप्रकार आचरण किया जाता है जिसप्रकार मृगायित—हिरण—आचरण करते हैं। अर्थात्—हिरणसमान युद्धभूमि से भाग जाते हैं। कैसे हैं वे मृगजाति के हाथी और शत्रु? जो अल्पतनुच्छविप्रभृति (हीन शारीरिक कान्ति-आदि से युक्त और शत्रुपक्ष में अल्पप्रतापी) हैं। जो शोकालु (विन्ध्याचल-आदि वनों का स्मरण करनेवाले और शत्रुपक्ष में पश्चात्तापकारक) हैं। जो दुर्भर (भारवहन करने में असमर्थ और पक्षान्तर में हीन-अतिशय-युक्त) हैं। जो संक्षिप्त (समस्त शारीरिक अल्प अङ्गों से युक्त और शत्रुपक्ष में अल्पधन या अल्पसेना से युक्त) हैं एवं जो अणुवंशक (अल्पपृष्ठ प्रदेशवाले और पक्षान्तर में जाति व कुल से हीन) हैं[1] ॥२९०॥

हे राजन्! आपके सिंहद्वार पर बहुभेदवाले (मिश्रजाति के) ये हाथी, जो कि मन और शरीर से संकीर्ण (बुद्धि-हीनता से मिश्रित) हैं, बँधे हुए उसप्रकार शोभायमान होरहे हैं जिसप्रकार आपके ऐसे शत्रु शोभायमान होते हैं, जो कि चित्त व शरीर से संकीर्ण (अल्प विस्तारवाले) और बहुभेदवाले (नाना प्रकार के) एवं सिंहद्वार पर बँधे हुए शोभायमान होते हैं[2] ॥२९१॥

अथानन्तर उक्त महल पर स्थित हुए और निम्नप्रकार हाथियों का निरूपण करनेवाले गजोपजीवी (महावत) लोगों द्वारा आनन्दित चित्त किये गए मैंने मदोन्मत्त हाथियों की क्रीड़ाएँ देखीं।

हे राजन्! मद (दानजल) रूपी कस्तूरी की रेखाओं से सुशोभित हुए कपोलस्थल की शोभावाला और बारंबार अनिश्चलता पूर्वक जँभाई लेने से शोभायमान होनेवाले विलास (नेत्र-संचालन) वाला आप का यह गजेन्द्र इस समय कोई ऐसी अपूर्व शोभा को उसप्रकार धारण कर रहा है जिसप्रकार जयनशील धनुष के धारक आप मद (दानजल) जैसी कस्तूरी-रेखाओं से सुशोभित होनेवाले गाल-स्थल की शोभा से युक्त और बारंबार अनिश्चलतापूर्वक जँभाई लेने से सुशोभित होनेवाले विलास (नेत्र-संचालन-आदि) वाले हुए युद्ध के

= 'गन्धधारिण्याम्' क० । I 'वर्वरीवसन्तः' क० । ii 'कटशोधनप्रभेदप्रवर्धनवर्णकरगन्धकरोद्दीपनोल्लासनविनिवर्तन' क० । १. श्लेष व उपमालंकार । २. श्लेषोपमा व समुच्चयालंकार ।

करिणा वमथुमुक्तः पुरः पुरः स्थूलबिन्दुसंन्तानः। रचयति दिगङ्गनानां मुक्ताफलभूषणानीव ॥ २९३ ॥

उत्तम्भीकृतकर्णतालयुगलः प्रत्यस्तपांसुक्रियः प्रत्यादिष्टकरेणुकेलिरमणः प्रत्यर्पिताम्भोघटः।

*यातुः प्रार्थनया चिराय विहृतानिक्षून्गृहीत्वा करे तिष्ठत्यन्यकरीन्द्रसंचरमनाः कोपव्यथा†कीलितः ॥ २९४ ॥

मम मदमदिरायाः सौरभेणैव सैन्यं व्युपरतमदलेखालक्ष्मि जातं गजानाम्।

इति मनसि विचिन्त्येवैष हस्ती तनोति त्वमिव सुरतचाटून्नाथ धेनुप्रियाणाम् ॥ २९५ ॥

रणकेलिसुखविलोपस्तत्र मम च समः परेभमदशमनात्। इति भावयतीव गजस्त्याजनमिषतो जगन्नाथ ॥ २९६ ॥

‡धत्तेऽन्यस्य गजस्य गण्डमलतामेव प्रभेदोद्गमः शोभां त्वस्य गजस्य दानविभवः पुष्णात्यवाग्गोचराम्।

किं चारब्धमदेऽपि यत्र करिणां सैन्यानि संतन्वते घण्टाटंकृतिवर्जितानि विमदान्यस्तप्रचाराणि च ॥ २९७ ॥

अन्त में कोई अपूर्व शोभा धारण करते हो[1] ॥२९२॥ हे राजन्! हस्ती द्वारा शुण्डादण्ड से बाहिर क्षेपण किया गया जलबिन्दु-समूह स्थूल जलबिन्दुसमूह हुआ अग्रदेश पर स्थित होकर दिशारूपी स्त्रियों के मोतियों के आभूषणों की रचना करता हुआ सरीखा शोभायमान होरहा है[2] ॥२९३॥ हे राजन्! ऐसा यह गजेन्द्र, जिसने अपने दोनों कानरूपी ताड़पत्र निश्चल किये हैं, जिसने अपने ऊपर धूलि-क्षेपण-क्रिया छोड़ दी है और जिसने हथिनी के साथ क्रिया-विनोद का निराकरण करते हुए जल से भरा हुआ घट दे दिया है एवं जिसका चित्त दूसरे हाथी के प्रवेश में लगा हुआ है, चिरकाल तक धारण किये हुए गन्नों को महावत की प्रार्थना से सूँड से ग्रहण करके स्थित है (खड़े होकर खा रहा है), इसलिए वह ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—क्रोध की मानसिक पीड़ा से ही कीलित हुआ है[3] ॥२९४॥ यह हाथियों की सेना (झुण्ड) 'मेरे मद (दानजल) रूपी मद्य की सुगन्धि से ही अपनी मद-लेखा (दानजल-पंक्ति) की शोभा को नष्ट करनेवाली हुई है' इसप्रकार चित्त में विचारकर हे राजन्! यह हाथी उसप्रकार हथिनियों की रतिविलासकालीन मिथ्या स्तुतियाँ (चाटुकार) विस्तारित कर रहा है जिसप्रकार आप अपनी प्रियाओं की रतिविलास-कालीन मिथ्यास्तुतियाँ विस्तारित करते हैं[4] ॥२९५॥

हे पृथिवीपति! आपका यह गजेन्द्र त्याजन (अपना मस्तक ऊँचा नीचा करना अथवा मस्तकपर धूलि-क्षेपण) के बहाने से इसप्रकार कहता हुआ मालूम पड़ता है—मानों—'हे राजन्! मैंने शत्रुभूत हाथियों का और आपने शत्रुओं के हाथियों का मद चूर-चूर कर दिया है, इसलिए संग्राम-क्रीड़ा संबंधी सुख का अभाव मुझ में और आप में एक सरीखा है। अर्थात्—मेरा युद्धक्रीडासंबंधी सुख उसप्रकार नष्ट होगया है जिसप्रकार आपका युद्ध-क्रीडा संबंधी सुख नष्ट होगया है[5] ॥२९६॥ हे राजन्! दूसरे हाथी का मदोद्गम (दानजल की उत्पत्ति) केवल उसकी कपोलस्थलियों पर मलिनता धारण करती है परन्तु आपके इस हाथी की मदलक्ष्मी (गण्डस्थलों से प्रवाहित होनेवाले दानजल की शोभा) उसकी वचनातीत शोभा को पुष्ट कर रही है एवं आपके हाथी में विशेषता यह है कि जब आपका हाथी मद का आरम्भ करता है तब शत्रु-हाथियों के सैन्य घण्टाओं की टङ्कार-ध्वनियों से रहित, मद-हीन और युद्ध-प्रवेश छोड़नेवाले होजाते हैं[6] ॥२९७॥

A

*'यन्तुः प्रार्थनया चिराय विहितानिक्षून्' क०। *'यातुः' ख० घ० मु० प्रतिवत्'। A 'याता सूते निषादिनि' टि० ख०। † 'पीलितः' क०। ‡ 'धत्ते तस्य' क०।

१. उपमालंकार। २. क्रियोपमालंकार। ३. उत्प्रेक्षालंकार। ४. उपमालंकार। ५. उत्प्रेक्षालंकार। ६. अतिशय व समुच्चयालंकार।

आनय मदवशमधुकरविरावपुनरुक्तडिण्डिमान्करिणः। पश्य मम समरकेलीरिति मतिरिव बृंहति द्विरदः ॥ २९८ ॥
आघ्राय मत्तकरिणोऽस्य मदप्रवाहसौरभ्यमन्थरमुखानि दिगन्तराणि।
नूनं+दिशारदनिनोऽपि दिगन्तशैलानध्यासते द्विरदनेष्वपरेषु कास्था ॥ २९९ ॥
मदगन्धावरणविधेः प्रतिवारणसमरसंगमो भवतु। इति जातमतिः पङ्कैरिव लिम्पति सिन्धुरः कायम् ॥ ३०० ॥
धेनुत्वं व्रजताशु दिक्करटिनः क्षोणि स्थिरं स्थीयतां वायो संहर चापलं शिखरिणः खर्वत्वमागच्छत।
नो चेदद्य मदश्रिया विलसति स्वच्छन्दमस्मिन्निभे क्वैभेन्द्राः क्व धरा क्व गन्धवहनः क्वैते च यूयं नगाः ॥३०१॥
उच्छ्वसितु धरणिदेवी शिथिलितभूगोलकः फणीन्द्रश्च। इति धरणिनाथ करटी विटपिस्कन्धं समाश्रयति ॥३०२॥
स्तम्भे यत्र गजैर्बद्धैर्दैव निष्पन्दमासितम्। कटकण्डूयनेऽप्यस्य स धत्ते नलदण्डताम् ॥ ३०३ ॥

हे राजन्! आपका हाथी ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—इस बुद्धि से ही चिंघार रहा है (आपसे ऐसा कह रहा है) कि 'हे राजन्! शत्रु-हाथियों को, जिन्होंने मद (दानजल) की अधीनता से उत्पन्न हुई भौंरों की विविध झंकार-ध्वनियों द्वारा वादित्र-शब्द द्विगुणित (दुगुने) किये हैं, मेरे संमुख लाओ और मेरी युद्धक्रीडाएँ देखो'[1] ॥२९८॥ हे राजन्! ऐसे दिशा-समूहों को, जिनके अग्रभाग आपके इस मदोन्मत्त हाथी के मद-प्रवाह (दान-जलपूर) की सुगन्धि से मन्थर (व्याप्त या पुष्ट) होचुके हैं, सूँघकर ऐरावत-आदि दिग्गज भी जब निश्चय से आठों दिशाओं के प्रान्तवर्ती महापर्वतों का सेवन कर रहे हैं (प्राप्त होरहे हैं) तब दूसरे (साधारण) शत्रु-हाथियों के इसके सामने ठहरने की क्या आस्था (आशा या श्रद्धा) की जासक्ती है? अपि तु नहीं की जासकती[2] ॥२९९॥ हे राजन! ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—आपका हाथी निम्नप्रकार की बुद्धि उत्पन्न करता हुआ ही अपना शरीर कर्दम-लिप्त कर रहा है 'मद (दानजल) की सुगन्धि लुप्त करनेवाले मेरी शत्रु-हाथियों के साथ युद्धभूमि पर भेंट हो'[3] ॥३००॥ हे ऐरावत-आदि दिग्गजो! तुम शीघ्र हस्तिनीत्व (हथिनीपन) प्राप्त करो। हे पृथिवी! निश्चलतापूर्वक स्थिति कर। हे वायु! तुम अपनी चपलता छोड़ो और हे पर्वतो! तुम लघुता (छोटी आकृति) प्राप्त करो। अन्यथा—यदि ऐसा नहीं करोगे। अर्थात्—यदि दिग्गज प्रस्थान करेंगे, पृथिवी स्थिर नहीं होगी, वायु अपनी चंचलता नहीं छोड़ेगी और पर्वत लघु नहीं होंगे तो इस समय यह आपका हाथी जब मदलक्ष्मी के साथ स्वच्छन्दतापूर्वक यथेष्ट क्रीडा करेगा तब ऐरावत-आदि दिग्गजेन्द्र कहाँ रह सकते हैं? पृथिवी कहाँ पर ठहर सकती है? वायु कहाँ पर स्थित रह सकती है? और ये पर्वत कहाँ स्थित रह सकते हैं? अपि तु कहीं पर नहीं, क्योंकि यह इन सबको चूर-चूर कर डालेगा[4] ॥३०१॥

हे पृथिवीपति! ऐसा मालूम पड़ता है—कि 'पृथिवी देवता उच्छ्वास ग्रहण करने लगे और शेषनाग भूमिपिण्ड को शिथिलित करनेवाला होकर उच्छ्वास ग्रहण करे' इसीलिए ही मानों—आपका हाथी वृक्ष-स्कन्ध (तना) का अच्छी तरह आश्रय कर रहा है[5] ॥३०२॥ हे राजन्! जिस स्तम्भ (आलान—हाथी बाँधने का खंभा) से हाथी बँधे हुए निश्चलतापूर्वक स्थित हुए हैं, वह स्तम्भ आपके इस [बलिष्ठ] हाथी के कपोलस्थलों के खुजानेमात्र के अवसर पर पुनः बल करने के अवसर की बात तो दूर ही है, नलदण्डता (कमल-नालपन) धारण कर रहा है—कमलनाल-सरीखा प्रतीत होरहा है[6] ॥३०३॥

+ 'दिशां करटिनोऽपि' क०।

१. उत्प्रेक्षालंकार। २. अतिशयालंकार। ३. उत्प्रेक्षालंकार। ४. समुच्चय व अतिशयालंकार। ५. दीपक, समुच्चय व उत्प्रेक्षालंकार। ६. उपमालंकार।

यत्र निसर्गमहत्त्वं दानगुणः ×स कथमित्थमिदमास्ते । इति मत्वेव गजोऽयं रज्जुं बिसतन्तुतां नयति ॥ ३०४ ॥
तडत्तडिति बन्धनं त्रुटति कन्धरोल्लासने खणत्खणिति वल्लिका गलति विक्रमारम्भिणि ।
मडन्मडिति भज्यते तरुगणः कृताघट्टने खडत्खडिति वारणः पतति Fचात्र युद्धैषिणि ॥ ३०५ ॥
कथमपि पुरोऽस्य करिभिर्यन्तृयन्त्रितकन्धरैः स्थितं स्थास्नोः ।
अभिगच्छति पुनरस्मिन्नगणितवीतैर्यथायथं त्वरितम् ॥ ३०६ ॥
मदनकृतो भवति सृणिर्भजन्ति तडिकार्गला मृणालत्वम् । सीदति करेणुवर्गः प्रतिगजमभिहन्तुमत्र संवृत्ते ॥३०७॥
उपरि करविकीर्णाः पांसवोऽस्य प्रकामं नभसि विततमार्गाः कर्णतालानिलेन ।
प्रतिगजपतिजैत्रानन्तरं वीरलक्ष्मीधृतविजयपताकाडम्बरं बिभ्रतीव ॥ ३०८ ॥
वंशोऽस्तीव महानयं विरचितश्चाराः पुनर्लोचनव्यापारादपि दूरतो विनिहिताः कोऽयं प्रभावक्रमः ।
इत्थं यावदमी जनाः कृतधियस्तावत्करी भूपते वीरं वीरमनेकतामवगतो गृह्णन्परं दृश्यते ॥ ३०९ ॥

हे देव ! 'जिस पुरुष में स्वाभाविक महत्त्व (गुरुत्व—महत्ता) व दानगुण (हस्ति-पक्ष में दानजल व पुरुषपक्ष में दानशीलता) होता है, वह इसप्रकार रज्जु-(रस्सी) बन्धन-युक्त कैसे रह सकता है ?' ऐसा मानकर के ही आपका यह हाथी रज्जुबन्धन को मृणालतन्तुओं में प्राप्त करा रहा है[1] ॥३०४॥

हे राजन् ! आपका यह हाथी जब गर्दन ऊँची करता है तब रस्सी-आदि के बन्धन तड़तड़ होते हुए टूट जाते हैं और जब यह पराक्रम आरम्भ करता है तब वल्लिका (खलाबन्धन—होदा-आदि) खणखणायमान होती हुई शतखण्डोंवाली होजाती है एवं जब यह कपोलस्थलोंकी खुजली दूर करने के हेतु वृक्ष-समूह से घर्षण करनेवाला होता है तब वह वृक्षसमूह मडमडायमान शब्द करता हुआ भग्न हो जाता है तथा जब यह युद्ध करने की कामनाशील (इच्छुक) होता है तब शत्रुभूत हाथी खड़खड़ायमान होता हुआ धराशायी होजाता है[2] ॥३०५॥ हे राजन् ! आपके इस स्थितिशील (खड़े हुए) हाथी के आगे शत्रुभूत हाथी, जिनकी गर्दन महावतों द्वारा बाँधी गई थी, महान् कष्टपूर्वक स्थित हुए और आपका हाथी जब शत्रुभूत हाथियों के सम्मुख आता है तब वे (शत्रुभूत हाथी) अंकुशकर्म को न गिनते हुए यथा योग्य अवसर पाकर शीघ्र भाग गये[3] ॥३०६॥ हे राजन् ! जब आपका हाथी शत्रुभूत हाथी के घात-हेतु प्रवृत्त हुआ तब अंकुश कामदेव द्वारा किया हुआ-सरीखा (विशेष मृदुल) होजाता है और ताड़ित करनेवाली अर्गलाएँ (गमन को रोकनेवाले-काष्ठयन्त्र) कमल-मृणालता प्राप्त करते हैं (मृणाल-सरीखे मृदुल हो जाते हैं) एवं हाथियों व हथिनियों का झुण्ड दुःखी होजाता है[4] ॥३०७॥ हे राजन् ! आपके इस हाथी के ऊपर इसकी सूँड द्वारा फेंकी गई धूलियाँ इसके कानरूपी ताड़पत्तों की वायु से आकाश में विशेष रूपसे विस्तृत हुई ऐसी मालूम पड़ती हैं—मानों—शत्रु-हाथियों को जीतने के अनन्तर वीरलक्ष्मी द्वारा इसके मस्तक पर आरोपण की गई विजयध्वजा का विस्तार धारण कर रही हैं[5] ॥३०८॥ हे राजन् ! जब तक ये (सैनिक) इसप्रकार विचार करते हैं कि 'यह युद्धभूमि अत्यन्त गुरुतर (महान्) की गई है और खड्ग-आदि धारक वीरपुरुष नेत्रदृष्टि से भी दूर पहुँचाये गये हैं एवं यह युद्ध करनेका क्या मार्ग है ?' तब तक आपका हाथी अकेला होकरके भी वीरपुरुष को ग्रहण करता हुआ (अनेकसरीखा) देखा जाता है[6] ॥३०९॥

× 'स कथमित्थमासीत्' क० । विमर्शः—परन्तु मु० प्रतिस्थः पाठः समीचीनोऽष्टादशमात्राणां सद्भावेन छन्दशास्त्रानुकूलः—सम्पादकः । F 'चेह' क० ।

१. उत्प्रेक्षालंकार । २. अतिशयालङ्कार । ३. अतिशयालङ्कार । ४. उपमालङ्कार । ५. उत्प्रेक्षालङ्कार । ६. उपमालङ्कार ।

वीथीशीर्षांत एव पञ्चमजवोत्थानस्य सातत्यतः स्वामिन्नस्य जवः कथं करिपतेः कथ्येत चित्रं यतः।
पाश्चात्त्यैर्जवनैरपि व्यवसितं स्थातुं न पार्श्वे हयैः पार्श्वस्थैर्न पुरः पुरश्च चलितैर्नेतस्ततोधावितुम् ॥ ३१० ॥
यस्याघातेन गजा व्रजन्ति यमपिशितकवलतां कदने। रथमनुजवाजिनिवहः कतरोऽस्य गजस्य राजेन्द्र ॥ ३११ ॥
राजन्नूर्जितशौर्यशालिनि जने वीरश्रुतिर्विश्रुता तामेषोऽद्य पलायितेऽपि कृतधीर्धत्ते न तद्योचितम्।
नागोऽलीव निहन्ति विद्रुतमपि प्रासाचराणां गणं नैवं चेत्कथमत्र विक्रमभरस्तुङ्गस्य शूरस्य च ॥ ३१२ ॥
अस्मिन् महीपाल गजे सदाने जगत्यभूत्कस्य न दानभावः।
क्षितिः सदानार्थिजनः सदानस्तवारिवर्गश्च यतः सदानः ॥ ३१३ ॥

हे स्वामिन्! इस गजेन्द्र (श्रेष्ठ हाथी) का, जिसकी वेगोत्पत्ति मार्ग-संचार के आरम्भ, मध्य व प्रान्त में पाँचमी है। अर्थात्—जो पाँचवें वेग से उत्थित हुआ है। अभिप्राय यह है कि अश्वों (घोड़ों) की आस्कन्दित, धौरितिक, रेचित, वल्गित व प्लुत इन पाँच गतियों* में से जो पाँचमी द्रुतगतिवाला है। अर्थात्—जो उड़ते हुए सरीखा बड़ी तेजी से दौड़ता है, वेग अविच्छिन्नता-वश आश्चर्यजनक है, अतः किसप्रकार कहा जा सकता है? अपितु नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसके पृष्ठभाग पर स्थित हुए वेगशाली भी घोड़े इसके बाएँ व दक्षिण-पार्श्वभाग पर खड़े रहने की चेष्टा नहीं कर सके और इसके बाएँ व दक्षिण पार्श्वभाग पर खड़े हुए वेगशाली भी घोड़े इसके आगे खड़े रहने का प्रयत्न न कर सके। इसीप्रकार इसके आगे दौड़े हुए घोड़ों द्वारा यहाँ-वहाँ दौड़ने की चेष्टा नहीं की गई[1] ॥३१०॥ हे राजेन्द्र! आपके जिस गजेन्द्र (श्रेष्ठ हाथी) के निष्ठुर प्रहार द्वारा युद्धभूमि पर जब शत्रु-हाथी यमराज के मांस-ग्रास (कोर) की सदृशता प्राप्त कर रहे हैं तब दूसरे रथ, मनुष्य व घोड़ों के समूह का नष्ट होना कितना है? अर्थात् यह तो साधारण-सी बात है[2] ॥३११॥ हे राजन्! अप्रतिहत व्यापारवाली शूरता से सुशोभित पुरुष में 'वीर' नाम से प्रसिद्धि पाई जाती है, उस 'वीर प्रसिद्धि' को आपका यह हाथी इस समय युद्ध से भागे हुए सैनिक के जानने में विचक्षण (चतुर) होता हुआ भी नहीं धारण करता है, यह योग्य ही है। अर्थात्—यह बात अनुचित प्रतीत होती हुई भी उचित ही है। अभिप्राय यह है कि आपका यह हाथी उक्त वीर प्रसिद्धि को इसलिए धारण नहीं करता, क्योंकि वह इस नैतिक[3] सिद्धान्त को 'बलिष्ठ पुरुष को युद्धभूमि से भागते हुए भीरु का पीछा नहीं करना चाहिए, क्योंकि युद्ध करने का निश्चय किया हुआ कभी शूरता प्राप्त करता है' अच्छी तरह जानने में प्रवीण है। इसीप्रकार हे राजन! आपका यह हाथी भय से भागते हुए योद्धा-समूह का विशेष घात कर रहा है, यदि ऐसा नहीं है तो इसमें पराक्रमशक्ति किसप्रकार जानी जावे? एवं उन्नत वीर पुरुष की पराक्रमशक्ति भी विना युद्ध के दूसरे किसी प्रकार नहीं जानी जाती[4] ॥३१२॥ हे राजन्! जब आपका यह हाथी सदान (मदलक्ष्मी—दानजल की शोभा-युक्त) हुआ तब संसार में किस पुरुष को दानभाव (दानशीलता) नहीं हुआ? अपि तु सभी को दानभाव हुआ। उदाहरणार्थ—पृथिवी सदाना (रक्षा-युक्त) हुई और याचकगण सदान (धनाढ्य) हुआ एवं आपका शत्रु-समूह भी

* उक्तं च—'आस्कन्दितं धौरितिकं रेचितं वल्गितं प्लुतं' इति अश्वानां पञ्च गतयः। यश सं० टी० पृ० ५०१ से संकलित—सम्पादक

१. दीपक व अतिशयालंकार। २. उपमा व आक्षेपालंकार।

३. उक्तं च—भीरुः पलायमानोऽपि नान्वेष्टव्यो बलीयसा। कदाचिच्छूरतामेति रणे कृतनिश्चयः ॥१॥ यश० सं० टी० (पृ० ५०२) से संकलित—सम्पादक

४. व्यतिरेक व आक्षेपालंकार।

शतमख दहन काल गुह वरुण समीरण धनद चन्द्रमः प्रथितैकैककुम्भिविभवास्तद्विमानवत प्रयत्नतः।
इत्युपदेष्टुकाम इव हस्तमुदस्यति वियति वारणो नो चेद्विभविहीनरचना भवतां भविता पताकिनी ॥ ३१४ ॥
दूराद्दृष्टिपथं गते विगलिता हंसावलीकाञ्चिका स्पर्शात्पद्मिनीदलांशुकमगादस्याः सरस्याः पुनः।
नाभिं प्रासवति त्वयीव सुभग प्रौढाङ्गनाविभ्रमं सोत्कम्पा न करोति कं गजपतौ सा लोलवीचीभुजा ॥३१५॥
विनिकीर्णकमलमाल्या पर्यस्ततरङ्गकुन्तला सरसी। राजति गजपतिभुक्ता त्वदचिरभुक्ता पुरन्ध्रीव ॥ ३१६ ॥
यदहमुपलोभ्य पूर्वं बद्धस्तेनैव नाथ पर्याप्तम्। इति सर्वत्राशङ्की गुल्मानपि दूरतस्त्यजति ॥ ३१७ ॥
प्रत्युज्जीवितमेव देव धरणीदेव्या विनिःश्वस्यते भोगीन्द्रः श्लथभूः श्रमं विनयते कृच्छ्रादिवापेतवान्।
वायुर्बन्धनतो विमुक्त इव च स्वैरं दिशः सर्पति प्राप्तस्तम्भमपास्तसंगरभरः स्तम्बेरमस्ते यदा ॥ ३१८ ॥

सदान (खण्डन-युक्त—नष्ट करने योग्य) हुआ[1] ॥३१३॥ हे राजन्! आपका हाथी आकाश की ओर अपना शुण्डादण्ड (सूँड) फैंकता हुआ ऐसा प्रतीत हो रहा है—मानों—वह इन्द्र-आदि देवताओं के लिए निम्नप्रकार का उपदेश देने की कामना कर रहा है—'हे इन्द्र! हे अग्निदेव! हे यम! हे कार्तिकेय! हे वरुण! हे वायुदेव! हे कुवेर! हे चन्द्र! तुम सभी देवता लोग, जिनका धन केवल एक एक ऐरावत-आदि हाथी की लक्ष्मी से विख्यात है, इसलिए अपने अपने हाथियों की रक्षा सावधानतापूर्वक करो। अन्यथा (यदि अपने एक-एक हाथी की रक्षा सावधानतापूर्वक नहीं करोगे) तो आपकी सेना हाथियों से शून्य प्रयत्नवाली होजायगी[2] ॥३१४॥

हे सुभग (श्रवण या दर्शन से सभी के लिए सुखोत्पादक) राजन्! जब आप सरीखा यह गजेन्द्र सरसी (महासरोवररूपी स्त्री) द्वारा दूर से दृष्टिगोचर हुआ तब उसकी हँसश्रेणीरूपी करधोनी नीचे गिर गई और जब इसके शुण्डादण्ड द्वारा यह स्पर्श की गई तब इस सरसीरूपी स्त्री का कमलिनी-पत्ररूपी वस्त्र गिर गया। पश्चात् जब आपका गजेन्द्र इस सरसी की नाभि (मध्य) प्रदेश पर प्राप्त हुआ तब चञ्चल लहरोंरूपी बाहुलताओंवाली यह कम्पित होती हुई कौन से नवयुवती स्त्री के शोभा-विलास प्रकट नहीं करती? अपि तु समस्त नवयुवती स्त्री के शोभा-विलास प्रकट करती है। अर्थात्—जिसप्रकार जब आप नवयुवती स्त्री द्वारा दूर से दृष्टिगोचर होते हो तब उसकी करधोनी खिसक जाती है और जब आप नवयुवती का सुखद स्पर्श करते हो तब उसकी साड़ी दूर होजाती है। पश्चात्—जब आप उसके नाभिदेश का आश्रय करते हो तब चञ्चल भुजलताओंवाली यह कम्पित होती हुई कौनसा विलास (भ्रुकुटि-क्षेप-आदि) प्रकट नहीं करती? अपितु समस्त विलास (भ्रुकुटि-क्षेप-आदि) प्रकट करती है[3] ॥३१५॥ हे राजन्! आपके गजेन्द्र द्वारा भोगी हुई सरसी (महासरोवररूपी स्त्री), जिसके कमलपुष्प इधर-उधर-फैंके गए हैं और जिसके तरङ्गरूप केश यहाँ-वहाँ विखरे हुए हैं, उसप्रकार शोभायमान होरही है जिसप्रकार आपके द्वारा तत्काल भोगी हुई पुरन्ध्री (कुटुम्बिनी—पति व पुत्रवाली स्त्री) शोभायमान होती है। अर्थात्—जिसप्रकार आपके द्वारा तत्काल भोगी हुई पति व पुत्रवाली स्त्री यहाँ-वहाँ फैंके हुए पुष्पों से युक्त और विखरे हुए केशोंवाली होती हुई सुशोभित होती है[4] ॥३१६॥ हे नाथ! निम्नप्रकार ऐसे अभिप्राय से सर्वत्र आशङ्का (संदेह) करनेवाला यह हाथी वृक्षों का भी दूर से परित्याग करता है। 'हे नाथ! जिसकारण मैं हथिनी का लोभ दिखाकर पूर्व में (द्वार-प्रवेश के अवसर पर) बाँधा गया उसी बन्धन से पर्याप्त है[5] ॥३१७॥ हे राजन्! जिस समय आपका हाथी संग्राम-भार छोड़ता हुआ

---

१. समुच्चय व श्लेषालंकार। २. उत्प्रेक्षालंकार। ३. रूपक, उपमा व आक्षेप-अलंकारों का संमिश्रणरूप संकरालंकार। ४. उपमालङ्कार। ५. हेतु-अलंकार।

इयमत्राद्भुतकारिणि मदपुरुषे नैव वर्णना वितथा। वितथस्तु परं नियमो बुधोक्तजवबलपरीक्षायाः ॥ ३१९ ॥

इति पठता गजोपजीविलोकेनानन्दितचेताः प्रभिन्नकरिकेलीरदर्काम्। *कदाचित्सैन्यप्रयोगात्पूर्वमेव शुचिशोभां च वक्त्रस्य प्रहारसौष्ठवं च या करोति कुञ्जरेन्द्राणां कल्पना सा प्रशस्यते इति विहितकल्पनाविधिः।

आरूढे त्वयि देव मां गजपतिं शौण्डीरचूडामणे का सा कुञ्जरमण्डली मम पुरो या संमुखीना भवेत्।
तत्पर्याप्तमनेन कोशविधिना भारक्लमं कुर्वता वारंवारमितीव चिन्तनपरो नेत्रे पिधत्ते करी ॥ ३२० ॥

इति चाधीयानेन गृहीतप्रसादपरम्परः करिणां कोशारोपणमकरवम्।

येषां गजोत्तमाङ्गानि बलानि न महीभुजाम्। उत्तमाङ्गविहीनानि तानि तेषां रणाङ्गणे ॥ ३२१ ॥

आलानस्तम्भ (बन्धन का खम्भा) को प्राप्त हुआ होता है उस समय हे देव! ऐसा मालूम पड़ता है—मानों—पृथिवीदेवता पुनः जीवित हुई-सी श्वासोच्छ्वास ग्रहण कर रही है और शेषनाग कष्ट से उन्मुक्त हुआ-जैसा पृथिवी शिथिलित करता हुआ अपना खेद दूर करता है एवं वायु बन्धन-मुक्त हुई-सी समस्त दिशाओं में यथेष्ट संचार करती है[1] ॥३१८॥ हे राजन्! पूर्वोक्तलक्षणवाले आश्चर्यजनक इस हाथी का पूर्वोक्त वर्णन असत्य नहीं है एवं निश्चय से विद्वानों द्वारा कहा हुआ वेग व बल के विचार का निर्णय भी क्या असत्य है? अपि तु नहीं है। अभिप्राय यह है कि हाथी के वेग व शक्तिमत्ता के विचार का निश्चय अलंकार-पद्धति से कहा हुआ साहित्यिक दृष्टि से यथार्थ समझना चाहिए[2] ॥३१९॥

अथानन्तर हे मारदत्त महाराज! किसी अवसर पर दिग्विजय-हेतु किये हुए सैन्य-संगठन के पूर्व ही मैंने इसप्रकार का निश्चय करके कि 'जो कल्पना (हाथियों के दाँतों का जड़ना-आदि) उनके मुख की दन्त-रक्षादिशोभा-जनक है और किलों के तोड़ने-आदि में किये हुए दन्त-प्रहारों में दृढ़ता उत्पन्न करती है, वही प्रशस्त (सर्वश्रेष्ठ) समझी जाती है' उक्त विधान (हस्तिदन्त-जटनादि विधि) सम्पन्न किया।

तत्पश्चात् ऐसे मैंने, जिससे निम्नप्रकार पाठ पढ़ते हुए गजोपजीवी (महावत-आदि) पुरुषों ने हर्षदान-श्रेणी (हर्षजनक विशेषधनादि पुरस्कार) प्राप्त की है, हाथियों का कोशारोपण (लोहा-आदि धातुओं से दन्त-वेष्टन-आदि की क्रिया) किया।

हे राजन्! हे सुभटशिरोरत्न! आपका गजेन्द्र (श्रेष्ठ हाथी) अपने दोनों नेत्र निमीलित (बन्द) करता हुआ ऐसा प्रतीत होता है—मानों—वह इसप्रकार बारंबार विचार करने में ही तत्पर है—'हे वीरशिरोमणि! जब आप मुझ गजपति (हस्ती-स्वामी) पर आरूढ़ हुए तब वह शत्रुओं की गजमण्डली (हस्ति-समूह) कितनी है? अपितु कुछ नहीं है—तुच्छ है, जो मेरे आगे सम्मुख होगी इसलिए भार-खेदजनक इस दन्तजटनादिविधान से क्या लाभ है? अपितु कोई लाभ नहीं[3]' ॥ ३२० ॥ जिन राजाओं की हाथी, घोड़े, रथ व पैदलरूप चतुरङ्ग सेनाएँ हाथीरूप श्रेष्ठ अङ्ग से हीन होती हैं, उनकी वे सेनाएँ युद्धभूमि पर मस्तक-हीन समझनी चाहिए। भावार्थ—प्रस्तुत नीतिकारने[4] कहा है कि 'उक्त चतुरङ्ग सेना में हाथी प्रधान माने जाते हैं, क्योंकि वे 'अष्टायुध' होते हैं। अर्थात्—वे अपने चारों पैरों, दोनों दाँतों व पूँछ तथा सूँडरूप शस्त्रों से युद्धभूमि पर शत्रुओं को नष्ट करते हुए विजयश्री प्राप्त करते हैं जब कि दूसरे पैदल-आदि सैनिक दूसरे खड्ग-आदि हथियारों के धारण करने से आयुधवान्—शस्त्रधारी—कहे जाते हैं'। पालकि[5]

---

* 'कदाचित्सेनोद्योगात्' क० ग०। १. उत्प्रेक्षालंकार। २. अतिशयालंकार। ३. आक्षेपालङ्कार।

४. तथा च सोमदेवसूरिः—बलेषु हस्तिनः प्रधानमङ्गं स्वैरवयवैरष्टायुधा हस्तिनो भवन्ति ॥ १ ॥

५. तथा च पालकिः—अष्टायुधो भवेद्दन्ती दन्ताभ्यां चरणैरपि। तथा च पुच्छशुण्डाभ्यां संख्ये तेन स शस्यते ॥ १ ॥

कदाचित्—अधिगतसुखनिद्रः सुप्रसन्नेन्द्रियात्मा पुलघुजठरवृत्तिर्भुक्तपक्ति दधानः ।
श्रममरपरिखिन्नः स्नेहसंमर्दिताङ्गः सवनगृहमुपेयान्नृपतिर्मज्जनाय ॥३२२॥

विद्वान् ने भी इसीप्रकार अष्टायुध हाथियों की प्रशंसा की है। वास्तव में 'राजाओं की विजयश्री के प्रधान कारण हाथी ही होते हैं, क्योंकि वह युद्धभूमि में शत्रुकृत हजारों प्रहारों से ताडित किये जाने पर भी व्यथित न होता हुआ अकेला ही हजारों सैनिकों से युद्ध करता है[1]। शुक्र विद्वान्[2] के उद्धरण से भी उक्त बात प्रतीत होती है। इसलिए प्रकरण में राजाओं की चतुरङ्ग सेना हाथीरूप प्रधान अङ्ग के विना मस्तक-शून्य मानी गई है[3] ॥३२१॥

अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज! किसी अवसर पर मैंने ऐसा भोजन किया, जिसमें ऐसे 'सज्जन' नाम के वैद्य से, जिसका दूसरा नाम 'वैद्यविद्याविलास' भी है, जो कि मधुर, अम्ल (खट्टा), कटु, तिक्त, कषाय (कसैला) और लवण (खारा) इन छह रसों के शुद्ध व संसर्ग के भेद से उत्पन्न होनेवाले तिरेसठ प्रकार के व्यञ्जनों (भोज्यपदार्थों) का उपदेश देरहा था, उत्पन्न हुए निम्नप्रकार सुभाषित वचनामृतों द्वारा चर्वण-विधान द्विगुणित (दुगुना) किया गया था।

यशोधर महाराज के प्रति उक्त वैद्य द्वारा कहे हुए सुभाषितवचनामृत—ऐसे राजा को स्नानार्थ स्नान-गृह में जाना चाहिये, सुखपूर्वक निद्रा लेने के फलस्वरूप जिसकी समस्त इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियाँ) व मन प्रसन्न है, जिसका उदर-पारास्थात (दशा) लघु होगई है। अर्थात्—शौच-आदि शारीरिक क्रियाओं से निवृत्त होने के फलस्वरूप जिसका उदर लघु हुआ है और जो भोजन-परिपाक का धारक है एवं जो धनुर्विद्या-आदि व्यायाम कार्यों से चारों ओर से श्रान्त (थकित) हुआ है तथा जिसके शरीर का सुगन्धित तैल व घृत द्वारा अच्छी तरह मालिश होचुका है।

विशेषार्थ—प्रकरण में 'सज्जन' नाम का वैद्य यशोधर महाराज के प्रति स्वास्थ्योपयोगी कर्त्तव्यों में से यथेष्ट निद्रा, उसका परिणाम, शौचादि शारीरिक क्रियाओं से निवृत्त होना और व्यायाम करना तथा यथाविधि स्नान करने का निर्देश करता है। आयुर्वेदवेत्ताओं[4] ने कहा है कि 'जिस विधि (प्रकृति व ऋतु के अनुकूल आहार-विहारादि) द्वारा मनुष्य स्वस्थ (निरोगी) रहे, उसीप्रकार की विधि वैद्य को करानी चाहिए, क्योंकि स्वास्थ्य सदा प्रिय है'। नीतिकार प्रस्तुत आचार्य[5] श्री ने भी कहा है कि 'प्रकृति के अनुकूल यथेष्ट निद्रा लेने से खाया हुआ भोजन पच जाता है और समस्त इन्द्रियाँ प्रसन्न होजाती हैं'। इसीप्रकार मल-मूत्रादि के विसर्जन के विषय में आयुर्वेदवेत्ता श्रीभावमिश्र[6] ने कहा है कि 'प्रातःकाल मल-मूत्रादि का विसर्जन करने

१. तथा च सोमदेवसूरिः—हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञां यदेकोऽपि हस्ती सहस्रं योधयति न सीदति प्रहारसहस्रेणापि ॥ १ ॥

२. तथा च शुक्रः—सहस्रं योधयत्येको यतो याति न च व्यथां। प्रहारैर्बहुभिर्लग्नैस्तस्माद्धस्तिमुखो जयः ॥१॥
नीतिवाक्यामृत से संकलित—सम्पादक

३. श्लेषालंकार।

४. तथा चोक्तं (भावप्रकाशे) मानवो येन विधिना स्वस्थस्तिष्ठति सर्वदा। तमेव कारयेद्वैद्यो यतः स्वास्थ्यं सदेप्सितम् ॥१॥

५. तथा च सोमदेवसूरिः—यथासात्म्यं स्वपाद् भुक्तान्नपाको भवति प्रसीदन्ति चेन्द्रियाणि।
नीतिवाक्यामृत (दिवसानुष्ठानसमुद्देश) पृ० ३२६ से संगृहीत—सम्पादक

६. तथा च भावमिश्रः—आयुष्यमुषसि प्रोक्तं मलादीनां विसर्जनम्। तदन्त्रकूजनाध्मानोदरगौरववारणम् ॥ १ ॥
न वेगितोऽन्यकार्यः स्यान्न वेगानीरयेद्बलात्। कामशोकभयक्रोधान्मनोवेगान्विधारयेत् ॥१॥
भावप्रकाश पृ० ७७-७८ से संकलित—सम्पादक

से दीर्घायु होती है; क्योंकि इससे पेट की गुड़गुड़ाहट, अफारा, और भारीपन-आदि सब विकार दूर होजाते हैं, इसलिए जिसप्रकार काम, क्रोध, भय व शोक-आदि मानसिक विकार रोके जाते हैं उसप्रकार शारीरिक मल व मूत्रादि का वेग कदापि नहीं रोकना चाहिए। अन्यथा अनेक बीमारियाँ उत्पन्न होजाती हैं'। नीतिकार प्रस्तुत आचार्य[1] श्री लिखते हैं कि 'स्वास्थ्य चाहनेवाले मानव को किसी कार्य में आसक्त होकर शारीरिक क्रियाएँ (मल-मूत्रादि का यथासमय क्षेपण-आदि) न रोकनी चाहिए एवं उसे मल-मूत्रादि का वेग, कसरत, नींद, स्नान, भोजन व ताजी हवा में घूमना-आदि की यथासमय प्रवृत्ति नहीं रोकनी चाहिए। अर्थात्—उक्त कार्य यथासमय करना चाहिए, इसके विपरीत मलमूत्रादि के वेगों को रोकने से उत्पन्न होनेवाली हानि का निरूपण करते हुए उक्त आचार्य[2] श्री ने लिखा है कि 'जो व्यक्ति अपने वीर्य, मल-मूत्र और वायु के वेग रोकता है, उसे पथरी, भगन्दर, गुल्म व बवासीर-आदि रोग उत्पन्न होजाते हैं'। इसीप्रकार शारीरिक स्वास्थ्य के इच्छुक पुरुष को शारीरिक क्रियाओं—शौच-आदि—से निवृत्त होते हुए दन्तधावन करने के पश्चात् यथाविधि व्यायाम करना चाहिए। क्योंकि व्यायाम के विना उदर की अग्नि का दीपन व शारीरिक दृढ़ता नहीं प्राप्त होसकता। नीतिकार प्रस्तुत आचार्य[3] श्री ने लिखा है कि 'शारीरिक परिश्रम उत्पन्न करनेवाली क्रिया (दंड, बैठक व डिंल एवं शस्त्र-संचालन-आदि कार्य) को 'व्यायाम' कहते हैं।' चरक[4] विद्वान् ने भी लिखा है कि 'शरीर को स्थिर रखनेवाली, शक्तिवर्द्धिनी व मनको प्रिय लगनेवाली शस्त्र-संचालन-आदि शारीरिक क्रिया को 'व्यायाम' कहते हैं'। व्यायाम का समय निर्देश करते हुए आचार्य[5] श्री ने लिखा है कि 'जिनकी शारीरिक शक्ति क्षीण होचुकी है—जिनके शरीर में खून की कमी है—ऐसे दुर्बल मनुष्य, अजीर्णरोगी, वृद्धपुरुष, लकवा-आदि वातरोग से पीड़ित और रूक्षभोजी मनुष्यों को छोड़कर दूसरे स्वस्थ बालकों व नवयुवकों के लिए प्रातःकाल व्यायाम करना रसायन के समान लाभदायक है'। चरक[6] विद्वान् ने भी उक्त बात का समर्थन किया है। खड्ग-आदि शस्त्र-संचालन तथा हाथी व घोड़े की सवारी द्वारा व्यायाम को सफल बनाना चाहिए[7]। आयुर्वेद के विद्वान् आचार्यों ने शरीर में पसीना आने तक व्यायाम का समय माना है[8]। जो शारीरिक शक्ति का उल्लङ्घन करके अधिक मात्रा में व्यायाम करता है, उसे कौन-कौन सी शारीरिक व्याधियाँ नहीं होती? अपितु सभी

---

१. तथा च सोमदेवसूरिः—न कार्यव्यासङ्गेन शारीरं कर्मोपहन्यात् ॥ १ ॥
वेग-व्यायाम-स्वाप-स्नान-भोजन-स्वच्छन्दप्रवृत्तिं कालान्नोपरुन्ध्यात् ॥ २ ॥

२. तथा च सोमदेवसूरिः—शुक्रमलमूत्रमरुद्वेगसंरोधोऽश्मरीभगन्दर-गुल्मार्शसां हेतुः ॥ १ ॥
नीतिवाक्यामृत पृ० ३२३-३२४ से संकलित—सम्पादक

३. तथा च सोमदेवसूरिः—शरीरायासजननी क्रिया व्यायामः ॥ १ ॥

४. तथा च चरकः—शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्द्धिनी। देहव्यायामसंख्याता मात्रया तां समाचरेत् ॥१॥

५. तथा च सोमदेवसूरिः—गोसर्गे व्यायामो रसायनमन्यत्र क्षीणाजीर्णवृद्धवातकिरूक्षभोजिभ्यः ॥ १ ॥

६. तथा च चरकः—बालवृद्धप्रवाताश्च ये चोच्चैर्बहुभाषकाः। ते वर्जयेयुर्व्यायामं क्षुधितास्तृषिताश्च ये ॥ १ ॥

७. तथा च सोमदेवसूरिः—शस्त्रवाहनाभ्यासेन व्यायामं सफलयेत् ॥ १ ॥

८. तथा च सोमदेवसूरिः—आदेहस्वेदं व्यायामकालमुशन्त्याचार्याः ॥ २ ॥

स्थाल्यां यथानावरणाननायामघट्टितायां च न साधुपाकः।
अनार्त्तनिद्रस्य तथा नरेन्द्र व्यायामहीनस्य च नान्नपाकः ॥३२३॥
अभ्यङ्गः श्रमवातहा बलकरः कायस्य दार्ढ्यावहः स्यादुद्वर्तनमङ्गकान्तिकरणं मेदःकफालस्यजित्।
आयुष्यं हृदयप्रसादि वपुषः कण्डूक्लमच्छेदि च स्नानं देव यथर्तुसेवितमिदं शीतैरशीतैर्जलैः ॥३२४॥

व्याधियाँ होती हैं[1]। आयुर्वेदकार चरक[2] विद्वान् ने भी 'अतिमात्रा में व्यायाम करने से अत्यन्त थकावट, मन में ग्लानि व ज्वर-आदि अनेक रोगों के होने का निरूपण किया है'। व्यायाम न करनेवालों की हानि बताते हुए आचार्य[3]श्री ने कहा है कि 'व्यायाम न करनेवालों को जठराग्नि का दीपन, शारीरिक उत्साह व दृढ़ता किसप्रकार होसकती है? अपितु नहीं होसकती'। आयुर्वेदकार चरक[4] विद्वान् ने भी कहा है कि 'व्यायाम करने से शारीरिक लघुता, कर्तव्य करने में उत्साह, शारीरिक दृढ़ता, दुःखों के सहन करने की शक्ति एवं वात व पित्त-आदि दोषों का क्षय व जठराग्नि प्रदीप्त होती है'। ताजी हवा में घूमने के विषय में आचार्यश्री[5] ने लिखा है कि 'जिसप्रकार उत्तम रसायन के सेवन से शरीर निरोगी व शक्तिशाली होता है उसीप्रकार शीतल, मन्द व सुगंधित वायु में संचार करने से भी मनुष्यों का शरीर निरोगी व शक्तिशाली होजाता है। उदाहरणार्थ—निश्चय से वनों में ताजी हवा में अपनी इच्छानुकूल भ्रमण करनेवाले हाथी कभी बीमार नहीं होते। इसीप्रकार शारीरिक अङ्गों में सुगन्धित तैल की मालिश करने के विषय में श्रीभावमिश्र ने लिखा है कि शरीर के समस्त अङ्गों में नित्य तैल का मालिश करना शरीर को पुष्ट करता है और विशेष करके शिर में, कानों में और पावों में तैल का मालिश करना चाहिए। प्रकरण में 'सज्जन' नाम के वैद्य ने उक्त श्लोक यशोधर महाराज से कहा है[6] ॥३२२॥

हे राजन्! जिसप्रकार ढक्कन-रहित (खुलीहुई) और असंचालित अन्नवाली (जिसके भीतर का अन्न टारा नहीं गया है) बटलोई के अन्न का परिपाक (पकना) नहीं होता उसीप्रकार निद्रा न लिये हुए व व्यायाम-हीन पुरुष के उदर के अन्न का परिपाक भी नहीं होता। निष्कर्ष—इसलिए भोजन को पचानेवाली उदराग्नि को उद्दीपित करने के लिए यथाविधि व्यायाम करना व यथेष्ट निद्रा लेना अनिवार्य है[7] ॥३२३॥ हे राजन्! समस्त शरीर में तैल-मर्दन खेद (सुस्ती व थकावट) और वात को नष्ट करता है, शरीर में बल लाता है, शारीरिक शिथिलता दूर करता है—शरीर को दृढ़ बनाता है। इसीप्रकार हे राजन्! स्नानीय चूर्ण से किया हुआ विलेपन शरीर को कान्तिशाली बनाता है एवं मेदा (चर्बी), कफ व आलस्य को दूर करता है। हे देव! उष्ण व शीत-ऋतु के अनुसार क्रमशः ठण्डे व गरम पानी से किया हुआ स्नान आयु को बढ़ाता है, मानसिक प्रसन्नता उत्पन्न करता है एवं शरीर की खुजली व ग्लानि को नष्ट करता है। निष्कर्ष—अतः स्वास्थ्य-रक्षा के लिए तैल की मालिश, स्नानीय चूर्ण का विलेपन

---

१. तथा च सोमदेवसूरिः—बलातिक्रमेण व्यायामः कां नाम नापदं जनयति ॥ १ ॥
२. तथा च चरकः—श्रमः क्लमः क्षयस्तृष्णा रक्तपित्तं प्रतामकः। अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ॥१॥
३. तथा च सोमदेवसूरिः—अव्यायामशीलेषु कुतोऽग्निदीपनमुत्साहो देहदार्ढ्यं च ॥ १ ॥
४. तथा च चरकः—लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं दुःखसहिष्णुता। दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥१॥
५. तथा च सोमदेवसूरिः—स्वच्छन्दवृत्तिः पुरुषाणां परमं रसायनम् ॥ १ ॥
यथाकामसमीहानाः किल काननेषु करिणो न भवन्त्यास्पदं व्याधीनाम् ॥ २ ॥
नीतिवाक्यामृत (भाषाटीका-समेत) पृष्ठ ३२४-३२५ से संकलित—सम्पादक
६. जाति-अलंकार। ७. दृष्टान्तालङ्कार।

श्रमघर्मार्तदेहानामाकुलेन्द्रियचेतसाम् । तव देव द्विषां सन्तु स्नानपानादनक्रियाः ॥३२५॥
स्वयं विरतघर्माम्बुर्निद्राविद्राणितश्रमः । × शीतोपचारतृट्छेदान्नवेत्पत्सलवत्सलः ॥३२६॥
दृश्यान्ध्यमागातपितोऽम्बुसेवी * श्रान्तः कृताशो वमनज्वरार्हः ।
भगन्दरी स्यन्दविबन्धकाले † गुल्मी जिहत्सुर्विहिताशनश्च ॥३२७॥
स्नानं विधाय विधिवत्कृतदेवकार्यः संतर्पितातिथिजनः सुमनाः सुवेषः ।
आप्तैर्वृतो रहसि भोजनकृत्तथा स्यात्सायं यथा भवति भुक्तिकरोऽभिलाषः ॥३२८॥

और उष्ण ऋतु के दिनों में ठंडे जल से तथा शीत ऋतु में गरम जल से स्नान करना चाहिए[1] ॥३२४॥ हे देव ! आपके शत्रुओं की, जिनका शरीर खेद व धूप से पीड़ित है और जिनकी इन्द्रियाँ और मन व्याकुलित है, स्नान, पान और भोजन-क्रियाएँ होवें[2] ॥३२५॥ स्वेदजल (पसीना) को पंखे-आदि की वायु द्वारा स्वयं दूर करनेवाले व निद्रा द्वारा खेद को नष्ट करनेवाले मानव को शीतोपचार (मुनक्कादाख व हरड-आदि से सिद्ध किये हुए औषधियों के जलविशेष) द्वारा न कि पानी पीने द्वारा, अपनी प्यास शान्त करने के पश्चात् भोजन में स्नेह (रुचि) करनेवाला होना चाहिए—भोजन करने में प्रवृत्त होना चाहिए[3] ॥३२६॥ धूप से पीड़ित पुरुष यदि तत्काल पानी पीलेता है तो उसकी दृष्टि मन्द पड़ जाती है और मार्ग चलने से थका हुआ यदि तत्काल भोजन कर लेता है तो उसे वमन व ज्वर होजाता है एवं मूत्र-वेग को रोककर भोजन करनेवाले को भगन्दर और मल के वेग को रोककर भोजन करनेवाले को गुल्म रोग होजाता है। निष्कर्ष—इसलिए उक्त रोगों से बचने के लिए एवं स्वास्थ्य-रक्षा हेतु धूप से पीड़ित हुए को तत्काल पानी नहीं पीना चाहिए. मार्ग-श्रान्त को तत्काल भोजन नहीं करना चाहिए एवं मल-मूत्र के वेग को रोककर भोजन नहीं करना चाहिए[4] ॥३२७॥ स्वास्थ्य-रक्षा चाहनेवाले विवेकी पुरुष को स्नान करने के पश्चात् शास्त्रोक्तविधि से ईश्वर-भक्ति (अभिषेक व पूजन-आदि) करके और अतिथिजनों (दान-योग्य पात्रजनों) को सन्तुष्ट करके अकलुषित (शुद्ध) चित्तशाली होकर सुन्दर वस्त्र पहिनकर एवं हितैषी माता-पिता व गुरुजनों से वेष्टित होते हुए एकान्त में उसप्रकार से—उतना (भूँख के अनुसार) भोजन करना चाहिए, जिससे कि सायंकाल में उसकी भोजन करने की इच्छा प्रकट होजाय।

विशेषार्थ—नीतिकार प्रस्तुत आचार्य[5] श्री ने लिखा है कि 'जो मानव देव, गुरु व धर्म की उपासना के उद्देश्य से स्नान नहीं करता, उसका स्नान पक्षियों के स्नान की तरह निष्फल है'। अतः विवेकी पुरुष को यथाविधि स्नान करने के पश्चात् ईश्वरभक्ति व शास्त्रस्वाध्याय-आदि धार्मिक कार्य करना चाहिए। क्योंकि देव, गुरु व धर्म की भक्ति करनेवाला कभी भ्रान्तबुद्धि (कर्त्तव्य-मार्ग से विचलित करनेवाला बुद्धिवाला) नहीं होता[6]। आचार्यश्री विद्यानन्दि[7] ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कहा है कि 'आत्यन्तिक दुःखों की निवृत्ति (मोक्ष-प्राप्ति) सम्यग्ज्ञान से होती है और वह (सम्यग्ज्ञान) निर्दोष द्वादशाङ्ग-शास्त्रों

× 'शीतोपचारतृट्छेदी' क०। * 'श्रान्तश्च भोक्ता वमनज्वरार्हः' क०। † 'गुल्मी जिहासुः कृतभोजनश्च' क०।

१. समुच्चयालङ्कार। २. हेतु-अलंकार। ३. जाति-अलङ्कार। ४. जाति-अलङ्कार।

५. तथा च सोमदेवसूरिः—जलचरस्येव तत्स्नानं यत्र न सन्ति देवगुरुधर्मोपासनानि ॥१॥

६. देवान् धर्मं चोपचरन्न व्याकुलमतिः स्यात् ॥ नीतिवाक्यामृत (दिवसानुष्ठान समुद्देश) से संकलित—सम्पादक

७. तथा च विद्यानन्दि आचार्यः—अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्। इति प्रभवति स पूज्यस्त्वत्प्रसादप्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥१॥ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ ३ से संकलित।

चारायणो निशि तिमिः पुनरस्तकाले मध्ये दिनस्य धिषणश्चरकः प्रभाते ।
भुक्तिं जगाद नृपते मम चैष सर्गस्तस्याः स एव समयः क्षुधितो यदैव ॥३२९॥
योऽक्षुध्यल्लोलभावेन कुर्यादाकण्ठभोजनम् । सुप्तान्व्यालानिव व्याधीन्सोऽनर्थाय प्रबोधयेत् ॥३३०॥

के अध्ययन से प्राप्त होता है एवं उन द्वादशाङ्ग शास्त्रों के जन्मदाता—आदिवक्ता—ऋषभदेव-आदि चौवीस तीर्थङ्कर हैं, अतः वे पूज्य हैं, क्योंकि सज्जनपुरुष किये हुए उपकार को नहीं भूलते।'

इसप्रकार ईश्वर की उपासना के पश्चात् उसे अतिथियों—दान देने योग्य व्रती व साधु महात्माओं—के लिए आहारदान देकर सन्तुष्ट करना चाहिए। क्योंकि आचार्यश्री ने लिखा है कि 'जो गृहस्थ होता हुआ ईश्वरभक्ति व साधु पुरुषोंकी सेवा (आहारदान द्वारा संतुष्ट करना) नहीं करके भोजन करता है, वह उत्कृष्ट अज्ञानरूप अन्धकार का भक्षण करता है[1]। अतः अतिथियों को संतुष्ट करना महत्वपूर्ण व अनिवार्य है। तत्पश्चात् प्रसन्न व विशुद्धचित्तशाली होते हुए स्वच्छ वस्त्र धारण करके हितैषी जनों से वेष्टित हुए एकान्त में यथासमय—भूँख लगने पर—यथाविधि भोजन करना चाहिए। नीतिकार आचार्य[2] श्री ने लिखा है कि 'भूँख लगने का समय ही भोजन का समय है'। सारांश यह है कि विवेकी पुरुष को अहिंसाधर्म व स्वास्थ्य रक्षार्थ रात्रिभोजन का त्याग कर दिन में भूँख लगने पर प्रकृति व ऋतु के अनुकूल आहार करना चाहिए, विना भूँख लगे कदापि भोजन नहीं करना चाहिए। क्योंकि विना भूँख के पिया हुआ अमृत भी विष होजाता है। जो मानव सदा आहार के आरम्भ में अपनी जठराग्नि को वज्राग्नि जैसी प्रदीप्त करता है, वह वज्र सरीखा शक्तिशाली होजाता है। भूँख का समय उल्लङ्घन करने से अन्न में अरुचि व शरीर में कमजोरी आती है।' अतः स्वास्थ्य-रक्षा के हेतु भूँख लगने पर ही भोजन करते हुए भूँख का समय उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए[3] ॥३२८॥

हे राजन्! 'चारायण' नाम के वैद्य ने रात्रि में भोजन करना कहा है, 'तिमि' नाम के वैद्य ने सायंकाल में भोजन करना बताया है और 'बृहस्पति' नाम के वैद्य ने मध्याह्न वेला—दोपहर का समय—में भोजन करना कहा है एवं आयुर्वेदकार चरक ने प्रातःकाल भोजन करना बताया है परन्तु मेरा तो यह सिद्धान्त है कि जब भूँख लगे तभी भोजन करना चाहिये। प्रस्तुत नीतिकार आचार्य[4] ने कहा है कि 'भूँख लगने का समय ही भोजन का समय है'। अभिप्राय यह है कि अहिंसाधर्म की रक्षार्थ व स्वास्थ्य-रक्षा के हेतु रात्रिभोजन का त्याग करते हुए दिन में भूँख लगने पर ही भोजन करना चाहिए, बिना भूँख के कदापि नहीं खाना चाहिए[5] ॥३२९॥ जो मानव भोजन की लम्पटता-वश विना भूँख लगे ही कण्ठतक (अत्यधिक) भोजन करता है, वह अपने को दुःखी बनाने के लिए सोते हुए सर्पों के समान रोगों को जगाता है। अर्थात्—जिसप्रकार सोते हुए सर्पों का जगाना अनर्थकारक है उसीप्रकार भोजन की लम्पटता-वश विना भूँख के ही अधिक खालेना भी अनर्थकारक (अनेक रोगों को उत्पन्न करनेवाला) है[6] ॥३३०॥

१. तथा च सोमदेवसूरिः—देवपूजामनिर्माय मुनीननुपचर्य च। यो भुञ्जीत गृहस्थः सन्स भुञ्जीत परं तमः ॥१॥
यशस्तिलक उत्तरार्द्ध पृ० ३८६ से संकलित—सम्पादक

२. तथा च सोमदेवसूरिः—बुभुक्षाकालो भोजनकालः ॥१॥ अक्षुधितेनामृतमप्युपभुक्तं च भवति विषं ॥२॥ जठराग्निं वज्राग्निं कुर्वन्नाहारादौ सदैव वज्रकं वलयेत् ॥३॥ क्षुत्कालातिक्रमादन्नद्वेषो देहसादश्च भवति ॥४॥

३. जाति-अलंकार। नीतिवाक्यामृत (दिवसानुष्ठानसमुद्देश २९—३१) से संकलित—सम्पादक

४. तथा च सोमदेवसूरिः—बुभुक्षाकालो भोजनकालः। ५. दीपकालंकार। ६. उपमालंकार।

अन्ये त्वेवमाहुः—यः कोकवद्दिवाकामः स नक्तं भोक्तुमर्हति । स भोक्ता वासरे यश्च रात्रौ रन्ता चकोरवत् ॥३३१॥
परे त्वेवमाहुः—हन्नाभिपद्मसंकोचश्चण्डरोचेरपायतः । अतो नक्तं न भोक्तव्यं वैद्यविद्याविदां वरैः ॥३३२॥
देवार्चां भोजनं निद्रामाकाशे न प्रकल्पयेत् । नान्धकारे न संध्यायां नावितानं निकेतने ॥३३३॥
सहभोजिषु लोकेषु पुरैव परिवेषयेत् । भुञ्जानस्यान्यथा पूर्वं तद्दृष्टिविषसंक्रमः ॥३३४॥
भुक्तौ स्वापे मलोत्सर्गे यः संबाधसमाकुलः । + निःशङ्कस्यात्ययात्तस्य के के न स्युर्महामयाः ॥३३५॥
फेलाभुक्प्रतिकूलः क्रूरमनाः सामयः क्षुधाक्रान्तः । न स्यात्समीपवर्ती भोजनकाले विनिन्द्यश्च ॥३३६॥
विवर्णास्विन्नविक्लिन्नविगन्धिविरसस्थिति । अतिजीर्णमसात्म्यं च नाद्यादन्नं न चाविलम् ॥३३७॥
हितं परिमितं पक्वं नेत्रनासारसाप्रियम् । परीक्षितं च भुञ्जीत न द्रुतं न विलम्बितम् ॥३३८॥
ध्वाङ्क्षः स्वरान्विकुरुतेऽत्र पिकस्तथैव बभ्रुः शिखण्डितनयश्च भवेत्प्रहृष्टः ।
क्रौञ्चः प्रमाद्यति विरौति च ताम्रचूडश्छर्दिं शुकः प्रतनुते हदते कपिश्च ॥३३९॥

दूसरे वैद्य उक्त विषय पर इसप्रकार कहते हैं—जो पुरुष चकवा-चकवी के समान दिन में कामसेवन करता है, उसे रात्रि में भोजन करना चाहिए एवं जो चकोर पक्षी के समान रात्रि में मैथुन करता है, उसे दिन में भोजन करना चाहिए। निष्कर्ष—मानव भी चकोरपक्षी-जैसा रात्रि में कामसेवन करता है, अतः उसे भी दिन में भोजन करना चाहिये[1] ॥३३१॥ कुछ वैद्य उक्त विषय पर ऐसा मानते हैं—रात्रि में सूर्य अस्त होजाने के कारण मनुष्यों के हृदयकमल व नाभिकमल मुकुलित होजाते हैं, इसलिए उत्तम वैद्यों को रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए[2] ॥३३२॥ विवेकी पुरुष को देवपूजा, भोजन व निद्रा ये तीनों कार्य खुले हुए शून्य स्थान पर, अँधेरे में और सायंकाल में एवं विना चँदेवावाले गृह में नहीं करना चाहिए[3] ॥३३३॥ अनेक लोगों के साथ पङ्क्ति भोजन करनेवाले मानव को सहभोजियों के पूर्व में ही भोजन छोड़ देना चाहिए। अन्यथा (ऐसा न करने से) पहिले खानेवालों का दृष्टिविष (नजररूपी जहर) उस भोजन में प्रविष्ट होजाता है[4] ॥३३४॥ भोजन, निद्रा और मल त्याग का वेग रोकनेवाले मनुष्य को भयभीत होने के फलस्वरूप कौन-कौन से महान् रोग नहीं होते ? अपितु समस्त रोग होते हैं[5] ॥३३५॥ भोजन के समय उच्छिष्ट (जूँठन) खानेवाला, शत्रु, हिंसक, रोगी और भूँख से पीड़ित एवं निंदनीय पुरुष निकटवर्ती (समीप में) नहीं होना चाहिए[6] ॥३३६॥ स्वास्थ्य के इच्छुक मानव को ऐसा अन्न नहीं खाना चाहिए, जो कि मलिन, अपरिपक्व (पूर्णरूप से न पका हुआ), सड़ा या गला हुआ, दुर्गन्धि, स्वाद-रहित, घुना हुआ, अहित (प्रकृति-ऋतु के विरुद्ध होने से रोगजनक) तथा अशुद्ध है[7] ॥३३७॥ स्वास्थ्य का इच्छुक मानव ऐसा अन्न शीघ्रता न करके और विलम्ब न करके (भोजन आरम्भ करके उसे पूर्ण करते हुए) खावे, जो भविष्य में हितकारक (रोग उत्पन्न न करनेवाला व पुष्टिकारक), परिमित (जठराग्नि के अनुकूल—परिमाण का), अग्नि में पका हुआ, नेत्र, नासिका व जिह्वा इन्द्रिय को प्रिय और परीक्षित (विष-रहित) हो[8] ॥३३८॥

अब 'सज्जन' नाम का वैद्य यशोधर महाराज के लिए पूर्व श्लोक नं० ३३८ में कहे हुए 'परीक्षित' (विष-रहित) पद का तीन श्लोकों में विस्तार करता है। अर्थात्—यह कहता है कि हे राजन् ! विष-मिश्रित अन्न निम्नप्रकार के प्रमाणों (लक्षणों) से जाना जाता है, वैसे लक्षणोंवाला अन्न कदापि नहीं खाना चाहिए—हे राजन् ! विष व विष-मिश्रित अन्न के देखने से काक व कोयल विकृत शब्द करने

+ 'निःशङ्कत्वात्ययात्तस्य' ग० । १. उपमालंकार । २. रूपकालंकार । ३. दीपकालंकार । ४. रूपकालंकार । ५. आक्षेपालंकार । ६. दीपकालंकार । ७. क्रियाक्षेपालंकार । ८. क्रियादीपक-अलंकार ।

विरज्येते चकोरस्य लोचने विषदर्शनात्। गतौ स्खलति हंसोऽपि लीयन्तेऽन्ने न मक्षिकाः ॥३४०॥
यथा लवणसंपर्कात्स्फुटं स्फुटति पावकः। विषदूष्यान्नसंपर्कात्तथा वसुमतीपते ॥३४१॥
पुनरुष्णीकृतंS त्याज्यं सर्वं धान्यं विरूढकम्। दशरात्रोषितं नाद्यात्कंसे च निहितं घृतम् ॥३४२॥
दधितक्राभ्यां कदलं क्षीरं लवणेन शष्कुलिः कलिना। गुडपिप्पलिमधुमरिचैः सार्द्धं सेव्या =न काकमाची च ॥३४३॥
भुञ्जीत माषसूपं मूलकसहितं न जातु हितकामः। दधिवत्सक्तून्नाद्यान्निशि निखिलं तिलविकारं च ॥३४४॥
ऋते घृताम्बुभक्ष्येभ्यः सर्वं पर्युषितं त्यजेत्। केशकीटकसंसृष्टं†पुनारद्धं च वर्जयेत् ॥३४५॥
अत्यशनं लघ्वशनं समशनमध्यशनमत्र संत्याज्यम्। कुर्याद्यथोक्तमशनं बलजीवितपेशलं क्रमशः ॥३४६॥

लगते हैं। नौला व मोर आनन्दित होता है। क्रौंच पक्षी नींद लेने लगता है, कुक्कुट (मुर्गा) रोने लगता है, तोता वमन कर देता है, बन्दर मल-त्याग कर देता है, चकोर पक्षी के नेत्र लाल होजाते हैं तथा हँस का गमन स्खलित होजाता है (सुन्दर गमन नहीं करता) एवं विषैले अन्न पर मक्खियाँ नहीं बैठतीं[1] ॥३३९-३४०॥ युग्मम् ॥ हे पृथिवीपति! विष-दूषित अन्न के संसर्ग से अग्नि उसप्रकार स्पष्ट रूप से चटचटाने लगती है, जिसप्रकार नमक डालने से चटचटाती है[2] ॥३४१॥

अथानन्तर उक्त वैद्य प्रस्तुत यशोधर महाराज के प्रति न खाने योग्य व खाने योग्य पदार्थों का विवेचन करता है—हे राजन्! स्वास्थ्य-रक्षा-हेतु फिर से गरम किया हुआ समस्त दाल-भात-आदि अन्न, अङ्कुरित धान्य और दश दिन तक काँस में रक्खा हुआ घी नहीं खाना चाहिए[3] ॥३४२॥ स्वास्थ्यरक्षा के निमित्त केले को दही, छाँच व दही-छाँच के साथ न खावे और दूध में नमक डालकर न पिए एवं काञ्जी के साथ शष्कुलि (पूड़ी) नहीं खावे तथा काकमाची या पाठान्तर में काचमारी (शाक विशेष) गुड़, पीपल, मधु व मिर्च इन चार चीजों के साथ न खावे[4] ॥३४३॥ अपना हित चाहनेवाले मनुष्य को उड़द की दाल मूली के साथ कदापि नहीं खानी चाहिए और दही के समान पिण्डरूप से बँधे हुए सत्तुए नहीं खाना चाहिए किन्तु जल द्वारा शिथिलित सत्तुआ खाना चाहिए। अर्थात्—सुश्रुत[5] में लिखे अनुसार सत्तुओं का अवलेह-सा बनाकर खाना चाहिए, क्योंकि अवलेह नरम होने से शीघ्र पच जाता है। इसीप्रकार रात्रि में समस्त प्रकार के तैल से बने हुए पदार्थ नहीं खाने चाहिए[6] ॥३४४॥ हितैषी पुरुष घी, पानी व लड्डू-आदि पकवानों को छोड़कर बाकी सभी खानेयोग्य पदार्थ (रोटी व दाल-भात-आदि व्यञ्जन) रात्रि के रक्खे हुए न खाय। अर्थात्—रात्रि के रक्खे हुए घी, पानी व लड्डू-आदि पकवान खाने में दोष नहीं है, अतः इन्हें छोड़कर बाकी रोटी-आदि खानेयोग्य पदार्थ रात्रि के रक्खे हुए न खाय। इसीप्रकार केश व कीड़ों से व्याप्त हुआ अन्न न खाय। अर्थात्—जिस दाल-भात-आदि अन्न में बाल निकल आवे उसे न खाय और जिसमें कीड़ा निकल आवे उसे भी न खाय एवं फिर से गरम किया हुआ अन्न न खाय[7] ॥३४५॥ भूँख से अधिक खाना, भूँख से कम खाना, पथ्य व अपथ्य खाना, अध्यशन* (भूँख के अनुकूल भोजन कर लेने पर भी फिर से भोजन करना अथवा पेट में अजीर्ण होने पर खाना) इन सबको छोड़ देना चाहिए। भोजनविधि में क्रमशः अग्नि, काल व अवस्था के अनुकूल बलकारक

S 'सर्वं' ग०। = 'न काचमारी च' क०। † अयं शुद्धपाठः क० घ० प्रतितः समुद्धृतः, मु० प्रतौ तु 'पुनराद्धं' पाठः। १. समुच्चयालंकार। २. उपमालंकार। ३. प्रदीपक-अलंकार। ४. दीपक-अलंकार।
५. तथा च सुश्रुतः—'सक्तूनामाशु जीर्य्येत मृदुत्वादवलेहिका' ॥१॥ ६. समुच्चयालंकार। ७. समुच्चयालंकार।
* तथा चोक्तं—अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते ॥१॥ भावप्रकाश पृ० ९६।

आदौ स्वादु स्निग्धं गुरु मध्ये लवणमम्लमुपसेव्यम् । रूक्षं द्रवं च पश्चान्न च भुक्त्वा भक्षयेत्किंचित् ॥३४७॥
मन्दस्तीक्ष्णो विषमः समश्च वह्निश्चतुर्विधः पुंसाम् । लघु मन्दे गुरु तीक्ष्णे स्निग्धं विषमे समं समे चाद्यात् ॥३४८॥
शिशिरसुरभिघर्मेष्वातपाम्भःशरत्सु क्षितिप जलशरद्धेमन्तकालेषु चैते ।
कफपवनहुताशाः संचयं च प्रकोपं प्रशममिह भजन्ते जन्मभाजां क्रमेण ॥ ३४९ ॥
तदिह शरदि सेव्यं स्वादु तिक्तं कषायं मधुरलवणमम्लं नीरनीहारकाले ।
नृपवर मधुमासे तीक्ष्णतिक्ते कषायं* प्रशमरसमथान्नं ग्रीष्मकालागमे च ॥ ३५० ॥
नवमशनमिहाद्यात् क्षीरमाषेक्षुभक्ष्यान्दधि च घृतविकारांस्तैलमप्यत्र पथ्यम् ।
निशि च शिशिरकाले पीनवक्षोजभाजो विपुलबहलकायाः सेवनीयाः पुरंध्र्यः ॥ ३५१ ॥

और आयु-रक्षक भोजन करना चाहिए[1] ॥३४६॥ भोजन के अवसर पर पहिले स्वादिष्ट‡ (लड्डू-आदि) व घृत-मिश्रित सचिक्कण पदार्थ खावे। मध्य में भारी पदार्थ एवं खारा व खट्टा रस खावे तथा अन्त में रूक्ष व तरलपदार्थ (मट्ठा-वगैरह) सेवन करना चाहिए परन्तु भोजन करने के पश्चात् कुछ भी नहीं खाना चाहिए[2] ॥३४७॥ जठराग्नि (उदराग्नि) के चार भेद हैं। १. मन्द, २. तीक्ष्ण, ३. विषम और ४. समाग्नि। १. मन्दाग्नि—कफ की अधिकता से और दूसरी तीक्ष्ण अग्नि—पित्त की अधिकता से एवं ३. विषमाग्नि—वात की अधिकता से तथा ४. समाग्नि—कफ, पित्त व वात की समता से होती है। इनमें से मन्दाग्निवाले को हल्का भोजन करना चाहिए, तीक्ष्ण अग्निवाला भारी भोजन करे एवं विषमाग्नि-वाला सचिक्कण अन्न खावे तथा समाग्नि में सम अन्न खावे[3] ॥३४८॥

हे राजन्! इस संसार में प्राणियों के कफ, वात और पित्त शिशिरऋतु (माघ व फाल्गुन दो माह), वसन्त (चैत्र व वैसाख) और ग्रीष्मऋतु (ज्येष्ठ व आषाढ़) में तथा ग्रीष्मऋतु, वर्षाऋतु (श्रावण व भाद्रपद) और शरदऋतु (आश्विन व कार्तिक) में, एवं वर्षाऋतु, शरदऋतु व हेमन्तऋतु (अगहन व पौषमाह) में क्रमशः संचय, प्रकोप और शमन को प्राप्त करते हैं। अर्थात्—शिशिरऋतु में प्राणियों का कफ संचित होता है और वसन्तऋतु में कफ कुपित होता है तथा ग्रीष्मऋतु में कफ शान्त होता है। इसीप्रकार ग्रीष्मऋतु में वायु का संचय होता है और वर्षाऋतु में वायु का प्रकोप होता है एवं शरद ऋतु में वायु का शमन होजाता है। एवं वर्षाऋतु में पित्त संचित होता है, शरदऋतु में पित्त कुपित होता है और हेमन्त ऋतु में पित्त का शमन होता है[4] ॥३४९॥ हे राजाधिराज! अतः इस शरद ऋतु (आश्विन व कार्तिक मास) में मिष्टान्न सेवन करते हुए तिक्त (कडुवा या चिरपिरा) व कषायले रस का सेवन करना चाहिए। हेमन्त ऋतु (अगहन व पौष माह) में मधुर, खारा व खट्टे रस का सेवन करना चाहिए। इसीप्रकार वसन्तऋतु (चैत्र व वैसाख) में तीक्ष्ण, तिक्त व कषायला रस खाना चाहिए और ग्रीष्मऋतु (ज्येष्ठ व आषाढ़) में मिष्टान्न सेवन करना चाहिए[5] ॥३५०॥ शिशिरऋतु (माघ व फाल्गुन) में ताजा भोजन, दूध, उड़द, गन्ना, लड्डू-आदि भक्ष्य, दही व घी से बने हुए व्यञ्जन खाने चाहिए। इस ऋतु में तैल भी पथ्य—हितकारक है एवं इसमें रात्रि में स्थूल कुच (स्तन) कलशोंवालीं व स्थूल शरीरवाली स्त्रियों को सेवन करना चाहिये[6] ॥३५१॥ हे राजन्! वसन्तऋतु (चैत्र व वैसाख) में भारी (स्वभाव से भारी

---

* 'प्रथमरसमथान्नं' क०। १. समुच्चयालंकार।

‡तथा चोक्तं—'भुक्त्वा यत्प्रार्थ्यते भूयस्तदुक्तं स्वादु भोजनम्' ॥१॥ अर्थात्—जो पदार्थ खाकर पुनः माँगा जाय, उसे स्वादिष्ट कहते हैं। २. समुच्चयालंकार। ३. दीपकालंकार। ४. यथासंख्य-अलंकार। ५. समुच्चयालंकार। ६. समुच्चयालंकार।

यवगोधूमप्रायं रूक्षप्रायं च भोजनं कुर्यात्। मदविजृम्भणकाले गुरु शीतं †स्वादु च त्याज्यम् ॥ ३५२ ॥
कलमसदकभक्तं मुद्गसूपः ससर्पिर्बिसकिसलयकन्दाः सक्तवः पानकानि।
क्षितिरमण रसाला नालिकेरीफलाम्भस्तपदिवसनिषेव्यं शर्कराढ्यं पयश्च ॥ ३५३ ॥
परिशुष्कं लघु स्निग्धमुष्णं प्रावृषि भोजनम्। पुराणशालिगोधूमयवप्रायं समाचरेत् ॥ ३५४ ॥
घृतं मुद्गाः शालिः समिधविकृतिः क्षीरविषयः पटोलं मृद्वीका: फलमिह च धात्र्याः समुचितम्।
सिता शीतच्छाया मधुरसवशं कन्दकुपलं शरत्काले सेव्यं रजनिवदने चन्द्रकिरणाः ॥ ३५५ ॥
न्यूनाधिकविभागेन रसानृतुषु योजयेत्। षड्रसाभ्यवहारस्तु सदा नृणां सुखावहः ॥ ३५६ ॥
‡बालं वृन्ताकं कोहलं कारवेलं चिल्ली जीवन्ती वास्तुलस्तण्डुलीयः।
सद्यः संभृष्टाः पर्पटा×श्चिर्भटान्ताः किं स्वर्लोकैश्चे+त्फालयश्चार्द्रकस्य ॥ ३५७ ॥
तुर्येणांशेन भोज्यस्य सर्वशाकं समाचरेत्। दध्ना परिप्लुतं नाद्यादिशुष्कं पयसा न च ॥ ३५८ ॥

उड़द व पिठी-आदि), ठंडी चीजें (शक्कर-आदि) और स्वादिष्ट (मिष्टान्न) को छोड़ते हुए अधिक करके जौ और गेहूँ का तथा अल्प घृतवाला भोजन खाना चाहिए[1] ॥३५२॥ हे पृथिवीपति! ग्रीष्मऋतु (ज्येष्ठ व आषाढ) में सुगन्धि चाँवलों का भात, घी-सहित मूँग की दाल, कमल-नाल का तन्तु, मीठी कोंपलें, सतुआ व आम्र खाना चाहिए एवं पानक (शरबत-आदि पीने योग्य), नारियल का पानी और शक्कर डालकर दूध पीना चाहिए[2] ॥३५३॥ वर्षा ऋतु (श्रावण व भादों) में परिशुष्क (भली-भाँति पकाए हुए दूध की मलाई-आदि स्वादिष्ट पदार्थ), हल्का (चाँवलों का भात-आदि), घी-आदि सचिक्कण वस्तु गरम एवं अधिक करके पुराना धान, गेहूँ और जौ का बना हुआ भोजन (क्रमशः चावलों का भात, पकी हुई गेहूँ के आटे की रोटी और जौ का भात) खाना चाहिए[3] ॥३५४॥ शरदऋतु (आश्विन व कार्तिक) में घी, मूँग, सुगन्धि चाँवलों का भात, गेहूँ के आटे की लप्सी, खीर, पटोल (व्यञ्जनविशेष अथवा परवल), मुनक्कादाख, आवला, शक्कर मीठे (पिण्डालू-कन्द और मीठी कोंपलें खानी चाहिए। इसीप्रकार आम वगैरह वृक्षों की छाया व पूर्व रात्रि में चन्द्र-किरणों का सेवन करना चाहिए[4] ॥३५५॥ वसन्त-आदि छहों ऋतुओं में अल्प व प्रचुरमात्रा का विभाग करके रस-भक्षण की योजना करनी चाहिए। उदाहरणार्थ—ग्रीष्मऋतु में उष्णरस (सोंठ मिर्च व पीपल-आदि) अल्पमात्रा में और शीतरस (दही-आदि रस) अधिकमात्रा में खाना चाहिए और शीतकाल में शीतरस अल्प और उष्णरस अधिक खाना चाहिए इत्यादि। इसके विरुद्ध सर्वथा छोड़ना चाहिए। छहोंरसों वाला भोजन मनुष्यों को सदा सुखदायक है[5] ॥३५६॥

अथानन्तर उक्त 'सज्जन' नाम का वैद्य यशोधर महाराज के प्रति समस्त ऋतुओं में सेवन करने योग्य शाकों-आदि का निरूपण करता है :—

हे राजन्! कोमल व ताजा बैंगन, पक्व कुम्हड़ा व करेला इन फलों की शाक और पोई, जीवन्ती (करेरुआ), वथुए का भाजी व चौलाई का भाजी की शाक एवं ककड़ी खानी चाहिए तथा उसी समय अग्नि में पकाए हुए उड़द की दाल के पापड़ खाने चाहिए। इसीप्रकार भोजन के अवसर पर अदरक के टुकड़े खाये जावें तो स्वर्गलोकों से क्या लाभ है? अपि तु कोई लाभ नहीं। अर्थात्—अदरक का भक्षण जठराग्नि को उद्दीपित करता है[6] ॥ ३५७ ॥ जितना भोजन किया जाता है, उसके चौथाई भाग

† 'स्वादुकं' क०। ‡ 'बालं वार्ताकं कोहलं कारवेल्लं चिल्ली जीवन्ती वास्तुकस्तण्डुलीयः' क०। ‡ 'बालं वार्ताकं' ख० ग० घ०। × 'चिर्भिटान्ताः' क०। +'पालयश्चार्द्रकस्य' क०। १. समुच्चयालंकार। २. समुच्चयालंकार। ३. समुच्चयालंकार। ४. समुच्चयालंकार। ५. जाति-अलंकार। ६. आक्षेप व समुच्चयालंकार।

अकथितं दशघटिका कथितं द्विगुणाश्च ताः पयः पथ्यम् । कपामोदरसाढ्यं यावत्तावद्दधि प्राश्यम् ॥ ३५९ ॥
तावद्गुणोऽत्र भक्ष्याणां स्वदते श्लाघ्यतेऽपि च । उष्णोष्णाः सर्पिषि स्नाता यावदङ्गारपाचिताः ॥ ३६० ॥
यद्वेदागमवेदिभिर्निगदितं साक्षाद्विदायुर्नृणां यद्वैद्येषु रसायनाय पठितं सद्योii जरानाशनात् ।
यत्सारस्वतकल्पकान्तमतिभिः प्रोक्तं धियः सिद्धये तत्ते काञ्चनकेतकद्युतिरसच्छायं मुदे स्ताद्घृतम् ॥ ३६१ ॥
स्थौल्यं करोति हरतेऽनिलमेतदेकं यन्नोष्णतामुपगतं दधि तत्कदाचित् ।
सर्पिःसितामलकमुद्गकषाययुक्तं सेव्यं वसन्तशरदातपकालवर्जम् ॥ ३६२ ॥
नवनवनीतोद्धारं मथितं कथयन्ति समगुणं सुधियः । चिरमथितं पुनरुत्पत्तिकरं च न कस्य दोषस्य ॥ ३६३ ॥
क्षीरं साक्षाज्जीवनं जन्मसात्म्यात्तद्धारोष्णं गव्यमायुष्यमुक्तम् ।
प्रातः सायं ग्राम्यधर्मावसाने भुक्तेः पश्चादात्मसात्म्येन सेव्यम् ॥ ३६४ ॥

बराबर समस्त शाक खानी चाहिए। दही के मध्य में डूबा हुआ भोजन (दहीबड़ा-आदि) और पानी से शुष्क—सूखा—भोजन नहीं खाना चाहिए[1] ॥ ३५८ ॥ अग्नि में विना औंटाया (उबाला) हुआ (कच्चा) दूध दश घड़ी तक पथ्य है, इससे अधिक समय तक का अपथ्य है और अग्नि में औंटाया हुआ दूध बीस घड़ी तक पथ्य है बाद में अपथ्य है। इसीप्रकार दही जबतक उज्वल और सुगन्धित है एवं जबतक खट्टा नहीं हुआ है तबतक खाना चाहिए[2] ॥ ३५९ ॥ लड्डू-आदि पकवान, जो कि अङ्गारों पर [रक्खी हुई घी-भरी कड़ाई-आदि में] पकाये जाने से घी से तर होगए हैं और जो विशेष गरम हैं, जबतक खाये नहीं जाते तबतक उनका समूह स्वादिष्ट व प्रशंसनीय समझा जाता है[3] ॥ ३६० ॥ हे राजन् ! सुवर्ण व सुवर्णकेतकी पुष्प की तरलता के समान घी आपको आनन्दित करे, जिसे इस संसार में वैदिक विद्वानों ने मनुष्यों की प्रत्यक्ष आयु बताया है, क्योंकि 'आयुर्वै घृतम्' अर्थात्—निश्चय से घृत आयु है, ऐसा वेद-वाक्य है। घी पीने से तत्काल बुढ़ापा नष्ट होजाता है, इसलिए वैद्यों ने आयुर्वेदशास्त्रों में जिसे मृगाङ्क-आदि रसायन-सरीखा शक्तिवर्द्धक बताया है, [क्योंकि 'वृद्धोऽपि तरुणायते' अर्थात्—घी पीने से वृद्ध भी जवान होजाता है यह आयुर्वेद की मान्यता है]। इसीप्रकार सरस्वतीमन्त्र-माहात्म्य के प्रकाशक शास्त्र से मनोहर बुद्धिशाली मन्त्रवादियों ने जिसको बुद्धि की प्राप्ति का निमित्त बताया है[4] ॥३६१॥ कभी भी गरम नहीं किया हुआ (ठंडा) दही शरीर को स्थूल करता है और अकेला ही वातनाशक है। इसे घी, आँवला और मूँग के पानी से युक्त करके वसन्त (चैत्र व वैसाख), शरद (आश्विन व कार्तिक) और ग्रीष्म (ज्येष्ठ व आषाढ़) ऋतु को छोड़कर बाकी की तीन ऋतुओं में (हेमन्त—अगहन व पौष, शिशिर—माघ व फाल्गुन और वर्षाऋतु—श्रावण व भादों) में खाना चाहिए[5] ॥३६२॥ तक्र (मठा—छाँछ) को, जिसमें से तत्काल मक्खन निकाल लिया गया है, विद्वानों ने वात, पित्त व कफनाशक कहा है। [क्योंकि आयुर्वेद[6] में कहा है कि 'तक्र द्वारा जड़ से नष्ट किये गए रोग फिर से उत्पन्न नहीं होते] परन्तु चिरकाल का (परसों का) मथा हुआ मट्ठा किस दोष को उत्पन्न नहीं करता ? अपितु समस्त रोगों को उत्पन्न करता है[7] ॥३६३॥ दूध जन्म से लेकर जीवन पर्यन्त हितकारक है, [क्योंकि उत्पन्न हुआ बच्चा दूध पीकर ही जीता है] इसलिए यह निश्चय से आयु को स्थिर करता है। आयुर्वेद में गाय का धारोष्ण (तत्काल दुहा हुआ) दूध आयु के लिए हितकारक कहा गया है। अतः सुबह, शाम और कामसेवन के पश्चात् एवं मुनियों को भोजन के पश्चात् दूध उतना पीना चाहिए, जितना

ii 'जरानाशनं' क० । १. जाति-अलंकार । २. जाति-अलंकार । ३. अतिशयालंकार । ४. उपमालंकार । ५. समुच्चयालंकार । ६. तथा च भावमिश्रः—'न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः' भावप्रकाश से संकलित—सम्पादक ७. आक्षेपालंकार ।

अतिमधुरनिषेवात्संततं वह्निसादः समधिकलवणान्नप्राशनाद् दृष्टिमान्द्यम् ।
जरयति वपुरेषात्यम्लतीक्ष्णोपयुक्तिर्बलविलयमसात्म्यं भुक्तमात्रं करोति ॥ ३६५ ॥
उषणो देहदाहाय कषायोऽनिलकोपनः । निषेव्यमाणः सातत्यादतिमात्रतया रसः ॥ ३६६ ॥ (युग्मम्)
यवसमिथविदाहिष्वम्बु शीतं निषेव्यं क्वथितमिदमुपास्यं दुर्जरेऽन्ने च पिष्टे ।
भवति विदलकालेऽवन्तिसोमस्य पानं घृतविकृतिषु पेयं कालशेयं सदैव ॥ ३६७ ॥
आदौ जलं वह्निविनाशकार्श्यं कुर्यात्तदन्ते कफबृंहणं च ।
मध्ये तु पीतं समतां सुखं च नास्यातियोगोऽभिमतः सकृच्च ॥ ३६८ ॥
अमृतं विषमिति चैतत्सलिलं निगदन्ति विदिततत्त्वार्थाः । युक्त्या सेवितममृतं विषमेतदयुक्तितः पीतम् ॥३६९॥
कौपं प्रास्रवणं वसन्तसमये ग्रीष्मे तदेवोचितं काले चानभिवृष्टिदेशमथवा चौण्ड्यं घनानां पुनः ।
नीहारे सरसीतडागविषयं सर्वं शरत्संगमे सेव्यं सूर्यसितांशुरश्मिपवनव्याधूतदोषं पयः ॥ ३७० ॥

अपने लिए हितकारक हो। अर्थात्—बहुत अधिक दूध नहीं पीना चाहिए[1] ॥३६४॥ विशेषमात्रा में मीठा (गुड़ व शक्कर-आदि) खाने से जठराग्नि (भूँख) नष्ट होजाती है। अधिक नमकवाला अन्न खाने से आँखों की नजर मन्दी पड़ जाती है। अत्यन्त खटाई व लालमिर्च-आदि चरपरे रस का सेवन शरीर को जीर्ण कर देता है एवं अपथ्य (प्रकृति व ऋतु के विरुद्ध किया गया) भोजन शारीरिक शक्ति नष्ट कर देता है। इसीप्रकार निरन्तर अधिक मात्रा में सेवन किया गया सोंठ, मिर्च, व पीपल-आदि गरम रस शरीर को सन्तापित करता है और हरड़ व आँवला-आदि कषायला रस वात कुपित करता है[2] ॥३६५-३६६॥ (युग्मम्) जौ का आटा खाने से उत्पन्न हुए अजीर्ण रोगों के विनाश-हेतु शीतल जल पीना चाहिए। गेहूँ का आटा खाने से उत्पन्न हुए अजीर्ण को दूर करने के लिए उबाला हुआ पानी पीना चाहिए। दाल खाने से पैदा हुए अजीर्ण को नष्ट करने के लिए काञ्जी पीना चाहिए और घृत-पान से उत्पन्न हुए अजीर्ण को नष्ट करने के लिए सदा मट्ठा पीना चाहिए[3] ॥३६७॥

अब उक्त वैद्य यशोधर महाराज के लिए जल पीने की विधि निरूपण करता है—

हे राजन्! भोजन के पहले पिया हुआ पानी जठराग्नि नष्ट करता हुआ शरीर को दुर्बल बनाता है और भोजन के अन्त में पिया हुआ पानी कफ-वृद्धि करता है एवं भोजन के मध्य में पिया हुआ पानी वात, पित्त व कफ को समान करता हुआ सुखदायक है। इसलिए एक बार में ही पानी को अधिक मात्रा में पीना अभीष्ट नहीं है। क्योंकि आयुर्वेद के वेत्ताओं[4] ने कहा है कि पानी को बार-बार थोड़ा-थोड़ा पीना चाहिए[5] ॥३६८॥ क्योंकि आयुर्वेदवेत्ताओं ने पानी के 'अमृत' और 'विष' ये दो नाम कहे हैं। अर्थात्—हलायुध कोषकार ने 'अमृत', 'जीवनीय' और 'विष' इन तीन नामों का उल्लेख किया है, उसका यही अभिप्राय है कि युक्तिपूर्वक (पूर्वोक्त विधि से) पिया हुआ पानी 'अमृत' व 'जीवनीय' नामवाला कहा गया है और जब वह विना विधि से पिया जाता है तब 'विष' नाम से कहा जाता है[6] ॥३६९॥

[हे राजन्!] वसन्तऋतु और ग्रीष्मऋतु में कुए और झरने का पानी एवं वर्षाऋतु में वर्षा-हीन देश (मारवाड़) के कुए का तथा छोटे कुए का पानी पीना चाहिए। शीतऋतु में बड़े व छोटे तालावों का पानी एवं शरदऋतु में सभी प्रकार का पानी (कुएँ व झरनों-आदि का), जिसका दोष सूर्य, चन्द्र-

१. रूपक व समुच्चयालंकार। २. जाति-अलंकार। ३. समुच्चयालंकार।
४. तथा चोक्तम्—'मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि' भावप्रकाश से संकलित—सम्पादक ५. समुच्चयालंकार। ६. रूपकालंकार।

अव्यक्तरसगन्धं यत्स्वच्छं वातातपाहतम्। प्रकृत्यैवाम्बु तत्पथ्यमन्यत्र क्वथितं पिबेत् ॥ ३७१ ॥

वारि सूर्येन्दुसंसिद्धमहोरात्रात्परं त्यजेत्। दिवासिद्धं निशि त्याज्यं निशिसिद्धं दिवा त्यजेत् ॥ ३७२ ॥

वीरश्रीप्रणयगुरुः कल्पद्रुमपल्लवोऽर्थिनां साक्षात्। ताम्बूलाय प्रसरतु करस्तव स्त्रीकपोलचित्रकरः ॥ ३७३ ॥

कामकोपातपायासयानवाहनवह्नयः। भोजनानन्तरं सेव्या न जातु हितमिच्छता ॥ ३७४ ॥

आनन्दसुन्दरविनोदविदां वचोभिः शृङ्गारसारसुभगैर्वनिताविलासैः।

आलापकेलिकरणैः शुकसारिकाणां भुक्त्वातिवाह्य महीश दिनस्य मध्यम् ॥ ३७५ ॥

इति वैद्यविद्याविलासापरनामभाजो रसानां शुद्धसंसर्गभेदेन त्रिषष्टिव्यञ्जनोपदेशभाजः सज्जनभिषजः प्रसूतसूक्तामृतपुनरुक्तोपदंशदशनं प्रत्यवसानं Sसमाचरत।

कदाचिदनवरतजलजडजलार्द्रान्दोलनस्यन्दिमन्दानिलविनोददोहदिनि सान्द्रनिद्रोद्रेकदुर्ललितमध्यंदिनसमये

किरणों व वायु द्वारा नष्ट होचुका है, पीना चाहिए[1] ॥३७०॥ ऐसा पानी, जिसका रस व गन्धगुण प्रकटरूप से नहीं जाना जाता और स्वच्छ तथा वायु व गर्मी से ताड़ित किया गया है, स्वभाव से ही पथ्य (हितकारक) है एवं जो पानी, उक्त गुणों से शून्य है। अर्थात्—जिसका रस व गन्धगुण प्रकट रूपेण जाना जाता है और मलिन तथा वायु व गर्मी से ताड़ित नहीं है, उसे उबालकर पीना चाहिए[2] ॥३७१॥ जो जल, सूर्य और चन्द्र द्वारा सिद्ध हुआ है, अर्थात्—जल से भरा हुआ घड़ा सबेरे धूप में चार पहर तक खुला रक्खा जाता है और रात्रि में भी चन्द्रमा की चाँदनी में रात्रि भर रक्खा जाता है उस पानी को 'सूर्य-इन्दु-संसिद्ध' कहते हैं, उसे दूसरे दिन व दूसरी रात्रि में पीना चाहिए, उसके बाद में नहीं पीना चाहिए। इसीप्रकार दिन में उबाला हुआ पानी दिन में ही पीना चाहिए, रात्रि में नहीं और रात्रि में उबाला हुआ पानी रात्रि में पीना चाहिए, दिन में नहीं। अन्यथा—उक्तविधि से शून्य—पानी अपथ्य (अहितकर) होता है[3] ॥३७२॥ हे राजन्! आपका हस्त, जो कि वीरलक्ष्मी की स्नेहोत्पादन-शिक्षा का आचार्य है और याचकों के सन्तुष्ट करने के लिए साक्षात् कल्पवृक्ष-पल्लव है एवं जो स्त्रियों के गालों पर चित्ररचना करनेवाला है, ताम्बूल-प्राप्ति-हेतु प्रवृत्त होवे[4] ॥३७३॥ हे राजन्! हित (स्वास्थ्य) चाहनेवाले मानव को भोजन के पश्चात् स्त्री-सेवन, क्रोध, धूप, परिश्रम, गमन, घोड़े-आदि की सवारी और अग्नि का तापना ये कार्य कभी नहीं करना चाहिए[5] ॥३७४॥ हे राजन्! भोजन करके मध्याह्न-वेला सुख उत्पन्न करने के कारण मनोहर लगनेवाली क्रीड़ाओं के वेत्ता विद्वानों के वचनों (सुभाषित-गोष्ठियों) द्वारा और उत्तम शृङ्गार से रमणीक स्त्रियों के विलासों (मधुर चितवनों) द्वारा तथा तोता व मेनाओं के साथ आभाषण-क्रीडा-विधानों द्वारा व्यतीत कीजिए[6] ॥३७५॥

प्रसङ्गानुवाद—अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज! किसी अवसर पर मैंने ऐसी ग्रीष्म ऋतु में कमनीय कामिनीजन-सरीखे 'मदनमदविनोद' नामके उद्यान (वगीचे) का चिरकाल तक अनुभव (उपभोग—दर्शन-आदि) किया। तदनन्तर उस वगीचे में वर्तमान ऐसे फुव्वारों के गृह में प्यारी स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करते हुए और निम्नप्रकार की स्तुतिपाठकों की स्तुतियों द्वारा प्रफुल्लित मनवाले मैंने ग्रीष्म ऋतु संबंधी ग्रीष्म दिनों की, जो कि समस्त लोगों के नेत्रों में निद्रा उत्पन्न करनेवाले थे, मध्याह्न-वेलाएँ, जो कि समस्त लोगों के नेत्रों में उसप्रकार निद्रा उत्पन्न करतीं थीं जिसप्रकार मद्य-समागम (पान) समस्त लोगों के नेत्रों में निद्रा उत्पन्न करते हैं, व्यतीत कीं। कैसी है ग्रीष्म ऋतु? जिसमें निरन्तर जल से जड़ीभूत व जल से भींगे हुए वस्त्र-संचालन से कुछ कुछ वहनेवाली मन्द मन्द वायु का क्रीडा-विनोद वर्तमान है। जिसमें गाढ़

S 'समाचचार' क०। १. दीपकालंकार। २. जाति-अलंकार। ३. जाति-अलंकार। ४. रूपकालंकार। ५. समुच्चयालंकार। ६. समुच्चयालंकार।

घनघर्मजलोद्गलनविगलन्मलयजरसप्रसरानुसारितसुन्दरीपयोधरवपुषि तीव्रातपातङ्कपावकसंपर्कस्फुटन्मौक्तिकविरहिणीहृदयहारे स्थलकमलालवालायमानमहासरसि स्मरज्वरावेगसंगताङ्गनाङ्गसङ्गसंजातक्वाथक्वथ्यमानजलकेलिदीर्घिकापङ्कजकानने मलयाचलमेखलास्खलजलधिवेलानिलनीहारसीकरस्यन्दसार्द्रचन्दनद्रुमाश्लेषलालसकेलिहानकामिनीमनसि शिशिरगिरिगुहागृहोत्सङ्गासीनसीमन्तिनीकुचामृतकुम्भपरिरम्भनिर्भरनभश्चरनिकरे नगनिम्नावनीवनविहारहरिणीविषाणकोणकण्डूयनसुखस्वापोन्मुखकुरङ्गपरिषदि तीरप्ररूढप्रौढपादपतलतरङ्गिणीसरोरुहकुहरविहरत्कलहंसनिवहे महावराहावगाहविप्राप्यमाणवाहिनीकहृदासादियादसि निःशङ्कशतल्लचिर*वल्लल्लोललुलायलोके अविच्छिन्नच्छायावनीध्ररन्ध्राराधनोद्धुरसिन्धुरद्विषि करपुष्करावक्षेपनदनिमग्नसामजसूत्कारसमीरसेव्यमानसलिलदेवतादेहे रोमन्थमन्थरमुखमाहेयीनिवहनिरुद्धबुध्नाश्वत्थशाखिनि खरातपतपनताम्यन्मयमुक्तस्फीतफेनफुल्लोपहारितपल्वलपालिपीलुपर्यन्ते नितान्तोत्तप्तायसचूर्णसमानमार्गरजसि निदाघानेहसि, भवतः प्रतापेष्विव च प्रचण्डीभवत्सु मार्तण्डमण्डलेषु यशःप्रसरेष्विवातिदीर्घेषु दिवसेषु

निद्रा की अधिकता से मध्याह्नवेला दुःख से निवारण करने के योग्य है। जिसने नवयुवती स्त्रियों के कुचकलशों का शरीर (स्थान) घने स्वेदजल के विस्तार द्वारा विशेषरूप से गलनेवाले विस्तृत चन्दनरस से व्याप्त किया है। जिसमें विरहिणी स्त्रियों के वक्षःस्थल का हार (मोतियों की माला) तीव्र धूपरूपी सद्यः प्राणहर व्याधिरूप अग्नि-स्पर्श द्वारा टूटते हुए मोतियों से व्याप्त है। जिसमें महासरोवर शुष्क होने के फलस्वरूप स्थलकमलों (गुलाब पुष्पों) की क्यारी-सरीखे प्रतीत होरहे हैं। जिसमें जलक्रीड़ावाली बावड़ियों के कमलवन ऐसे विशेष उष्ण जल द्वारा राँधे (पकाये) जारहे हैं, जो कि कामज्वर के आवेग से व्याप्त हुए स्त्रियों के शरीर-सङ्गम से उत्पन्न हुआ था। जिसमें कालसर्पिणियों का चित्त ऐसे चन्दन वृक्षों के आलिङ्गन करने में विशेष उत्कण्ठित होरहा है, जो कि मलयाचल-कटिनी से ताडित होती हुई समुद्र की तीरवर्ती लहरों के शीतल जलकणों के क्षरण से आर्द्र (गीले) होरहे थे। जिसमें विद्याधर-समूह हिमालय पर्वतसंबंधी गुफारूपी गृहों में उपविष्ट (बैठी) हुई कमनीय कामिनियों के कुचरूप अमृतकलशों के गाढ़ आलिङ्गनों में तत्पर होरहे हैं। जिसमें मृग-समूह पर्वतों के अधस्तन भूमिवर्ती वनों में संचार करनेवाली हिरणियों के शृङ्गाग्रों (सींगों के अग्रभागों) के खुजाने से उत्पन्न हुई सुखनिद्रा में उत्कण्ठित होरहा है। जिसमें कलहंस-श्रेणी नदी-तटोत्पन्न महावृक्षों के अधोभाग पर बहनेवाली नदी के कमल-मध्यभागों पर विहार कर रही है। जिसमें जलजन्तु (मगर-मच्छ-आदि) ऐसे नदियों के तालाब या झीलें प्राप्त कर रहे हैं, जो कि जंगली महान् शूकरों के विलोडन द्वारा स्वीकार किये जारहे थे। जिसमें भैंसाओं के झुण्ड निडर होकर तालाब की कीचड़ में लोट रहे हैं। जिसमें सिंह घनी छायावाले पर्वत-विवरों की आराधना में निडर है। जिसमें जलदेवताओं के शरीर सूँड का अग्रभाग उठाकर जल में डूबे हुए हाथियों की उच्छ्वास वायु द्वारा सेवा-योग्य किये जारहे हैं। जहाँपर ऐसे पीपल के वृक्ष हैं, जिनकी जड़ें रोंथाने में सुस्त मुखवाली गायों के झुण्डों से घिरी हुई हैं और जिसमें छोटे तालाब के निकटवर्ती पालि वृक्षविशेषों का पर्यन्तभाग अत्यन्त उष्ण सूर्य से दुःखी होनेवाले ऊँटों के मुखों द्वारा छोड़े हुए प्रचुर फेनरूप पुष्पों द्वारा उपहार-युक्त किया गया है एवं जिसमें मार्ग-धूलि नितान्त उत्तप्त (उष्ण) लोहचूर्ण-सरीखी है।

अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज! उक्त ग्रीष्मऋतु में निम्नप्रकार घटनाओं के घटने पर मैंने उक्त उद्यान का अनुभव करके ग्रीष्मऋतु संबंधी मध्याह्न-वेलाएँ व्यतीत कीं—जब सूर्यमण्डल उसप्रकार विशेष तीव्र होरहे थे जिसप्रकार आपके प्रताप शत्रुओं में विशेष तीव्र होते हैं। जब दिन आपकी कीर्ति-

*'कल्लोलल्लुलायकलोके' क०।

शत्रुसंततिष्विव लघीयसीषु रात्रिषु वैरिमनोरथेष्विव शोषमभिलषत्सु जलाशयेषु सपत्नपक्षेष्विव क्षीयमाणकोशदण्डेषु पुण्डरीकिणीखण्डेषु, कुन्तलालिकुलावलिह्यमानभ्रूलतान्तहृदयंगमम् अनङ्गरसोत्तरङ्गापाङ्गावलोकसारणिसिच्यमानसहचरानोकहम् अरविन्दमकरन्दामोदसंवादिमन्दस्यन्दमानाश्वासानिलासरालम् अधरदलगर्भाविर्भूतस्मितप्रसूनोपहारितनिखिलदिग्देशम् उन्मदपिकपाकपेशलोल्लापकृतकर्णामृतवर्षम् अभिनवोद्भिद्यमानकुचकुड्मलोल्बणभुजलतामध्यम् उल्लसल्लावण्यजलवलिवाहिनीविहितखातवलयम् उदीर्णतलनाभिसंपादितजलकेलिवापिकम् अनन्यभूविशिखपुङ्खाग्रभागसुभगरोमराजिहरिताङ्कुरितकुल्योपकण्ठम् अगमाभ्यर्णप्रसाधितमकरध्वजाराधनजघनवेदिकम् उच्छलदनवरतरतिकुसुमपरिमलोपलिप्यमानवनदेवताभवनम् उपारूढो-

---

प्रसार-सरीखे विशेष दीर्घ होरहे थे। जब रात्रियाँ उसप्रकार लघीयसी (ह्रस्व—छोटीं) होरहीं थीं जिसप्रकार आपकी शत्रु-संततियाँ लघीयसी (अल्पसंख्यक) होरही हैं। इसीप्रकार जब तालाव उसप्रकार शुष्क होरहे थे जिसप्रकार आपके शत्रु-मनोरथ शुष्क (निष्फल) होरहे हैं और जब कमलिनी-पत्र उसप्रकार क्षीयमाणकोश-दण्डशाली थे। अर्थात्—जिनके कोश (कमल के मध्यभाग) और दण्ड (कमलनाल) उसप्रकार नष्ट होरहे थे जिसप्रकार आपके शत्रु-परिवार क्षीयमाणकोशदण्डशाली (जिनका कोश—खजाना और दण्ड—सैन्य नष्ट होरहा है ऐसे) होरहे हैं। कैसा है उद्यान (वगीचा) और स्त्रीजन ? जो (स्त्रीजन) ऐसे भ्रुकुटि (भौंहें) रूपलता-प्रान्तभाग से मनोहर है, जो कि केशपाशरूप भ्रमर-समूह द्वारा आस्वादन किया जारहा है और उद्यान भी भ्रमर-श्रेणी द्वारा आस्वादन किये जानेवाले पुष्पों से मनोहर है। जो (स्त्रीजन) कामराग से उत्कण्ठित हुए कटाक्षावलोकन की चितवनरूप नदी द्वारा मित्रजनरूप वृक्षों को सींच रहा है और वगीचा भी नदी के जलपूर द्वारा वृक्षों को सींच रहा है। जो (स्त्रीजन) कमलपुष्प-रस की सुगन्धि को अनुकरण करनेवाली (सदृश) व मन्द-मन्द संचार करनेवाली श्वासवायु से व्याप्त है और वगीचा भी कमलपुष्पों की सुगन्धि धारण करनेवाली व मन्द-मन्द संचार करनेवाली (शीतल, मन्द व सुगन्धि) वायु से व्याप्त है। जिसने ओष्ठरूप कोमल पत्तों के मध्यभाग से उत्पन्न हुए हास्यरूप पुष्पों से समस्त दिशाओं के प्रान्तभाग भेंट-युक्त किये हैं और उद्यान भी समस्त दिशाओं के प्रान्तभाग पुष्पों से उपहारित (भेंट-युक्त) कर रहा है। जो (स्त्रीजन) मतवाली कोयल सरीखे मीठे वचनों द्वारा कानों में अमृत-वृष्टि कर रहा है और वगीचा भी मतवाली कोयल की मधुरध्वनि द्वारा कानों को अमृत-वृष्टि कर रहा है। जिसकी भुजारूप लता का मध्यभाग नवीन उत्पन्न होरहीं कुच (स्तन) रूप पुष्प-कलियों से व्याप्त है और वगीचा भी पुष्पकलियों से संयुक्त लता-मध्यभागवाला है। जिसने उछलते हुए सौन्दर्यरूप जल से व्याप्त त्रिवली (उदर-रेखा) रूप नदी द्वारा खातिका-(खाई) मण्डल की रचना की है और वगीचा भी जल से भरी हुई खातिका-(खाई) वलयवाला है। जिसने विशेष गम्भीर नाभि (उदर-मध्यभाग) द्वारा जलक्रीड़ा-योग्य बावड़ी उत्पन्न की है और वगीचा भी जलक्रीड़ा-योग्य बावड़ी से अलंकृत है। जिसने कुल्योपकण्ठ (स्मरमन्दिर—स्त्री की जननेंद्रिय—का समीपवर्ती स्थान) काम-बाणों के परों के अग्रभाग-सरीखी आनन्दकारिणी रोमपङ्क्तिरूप हरी दूब द्वारा अङ्कुरित किया है और वगीचा भी जिसका कुल्योपकण्ठ (कृत्रिम नदी का समीपवर्ती स्थान) हरे दूर्वाङ्कुरों से व्याप्त है। जिसने कामदेव की आराधना-हेतु वृक्ष के समीप जङ्घारूपी वेदी शृङ्गारित की है और वगीचा भी वृक्षों के समीप रची गई कामदेव की आराधनावाली वेदी से सुशोभित है। जिसने उछलते हुए निरन्तर प्रेम-पुष्पों की सुगन्धि से वनदेवता-भवन उसप्रकार सुगन्धित किया है जिसप्रकार वगीचा पुष्प-सुगन्धि से वनदेवता-भवन सुगन्धित करता है। जो (स्त्रीजन) समीप में प्रकट हुए जङ्घारूप केला के स्कन्ध-वन से उसप्रकार रमणीक है जिसप्रकार वगीचा महान् केला के स्कन्ध-वन से रमणीक

रुकदलीकाण्डकाननरमणीयम् अलक्तकरक्तपादपल्लवनखपुष्पनिष्पादितविहारधराशोभम् अप्रतिमनिजदेहच्छायापनीताखिलातपसंतापम् उद्भुमरपुरुषरतश्रमसंजातस्वेदजलमञ्जरीजालजनितयन्त्रधारागृहं प्रियतमाजनमिव, चरणकिसलयप्रहारक्रीडाभिः ऊरुरम्भास्तम्भपरिरम्भकेलिभिः मेखलादेशदलजशय्यारोहणविनोदैः तनूरुहराजितापिच्छमञ्जरीभिः नाभिमण्डलालवालपरिसर्पणैः वलिवल्लीवलयरतिभिः कुचकुसुमस्तबकविकल्पैः भुजलतालिङ्गनविधिभिः बाहुतरुमूलदर्शनकुतूहलैः बिम्बाधरफलास्वादनप्रीतिभिः अपाङ्गप्रसवखेलितैः भ्रूभङ्गपल्लवप्रसाधनलीलाभिः अलकवल्लरीपरिमलनमनोरथैः कपोलपुलकप्रसाधनप्रसूनावचितिभिः यौवनारण्यवनदेवताराधनवरप्रसादैरिवान्यैश्च तैस्तैर्विलासैः मदनमदविनोदमुद्यानमतिचिरमनुभूय, पुनर्यत्समन्तादुत्तरलतरसरत्सारणीसलिलसेकसुकुमारोशीरसारकटगर्भाविर्भवद्दूर्वादलश्यामलितदिग्वलयं ÷ नवाम्रनागवल्लीपल्लवोल्लासभराभुग्नपूगनगाभोगभर्त्सितभानुप्रभा-

होता है। जिसने लाक्षारस से रँगे हुए पादपल्लवों से व्याप्त नखरूप पुष्पों द्वारा क्रीड़ाभूमि की शोभा उसप्रकार उत्पन्न की है जिसप्रकार वगीचा प्रवाल व पुष्पों द्वारा क्रीड़ाभूमि की शोभा उत्पन्न करता है। जिसने अपनी अनोखी शारीरिक कान्ति द्वारा समस्त गर्मी का संताप उसप्रकार दूर किया है जिसप्रकार वगीचा वृक्ष-छाया द्वारा गर्मी-संताप दूर करता है एवं जिसने महान् विस्तार वाले पुरुषरत (विपरीत मैथुनक्रीड़ा) के खेद से उत्पन्न हुए स्वेदजल मञ्जरी-जाल द्वारा फुव्वारों की शोभा उसप्रकार उत्पन्न की है जिसप्रकार वगीचा फुव्वारों की गृह-शोभा उत्पन्न करता है।

अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज! मैंने किन २ क्रीड़ाओं द्वारा प्रस्तुत उद्यान का अनुभव किया? उन्हें श्रवण कीजिए—

चरणरूपी किसलयों (कोमल पत्तों) की प्रहार क्रीड़ाएँ, दोनों जङ्घारूप केला-स्तम्भों की आलिङ्गन-क्रीड़ाएँ, स्मरमन्दिर-प्रदेश (स्त्री की जननेन्द्रिय का स्थान) रूप पल्लवशय्या पर कीं हुईं आरोहण-क्रीड़ाएँ, रोमपङ्क्तिरूपी तमालवृक्ष-मञ्जरियों के विलास, नाभिमण्डलरूपी क्यारी पर आरोहण द्वारा शोभायमान होने की क्रीड़ाएँ, त्रिवलि (उदररेखा) रूपी लताओं की मण्डलक्रीड़ाएँ, कुच (स्तन) रूप फूलों के गुच्छों की विविध भाँति की क्रीड़ाएँ (मर्दन-आदि विलास), भुजारूपी लताओं की आलिङ्गनविधान-क्रीड़ाएँ, भुजारूप वृक्षों के मूलों (कुचकलशों) के दर्शन-कौतूहल, बिम्बफल-सरीखे ओष्ठरूप फलों की आस्वादन-प्रीतियाँ, कटाक्ष-क्षेपणरूप पुष्प-क्रीड़ाएँ, भौंहों का चढ़ानारूपी पल्लवों की प्रसाधन-(शृङ्गार) क्रीड़ाएँ, केशरूपी वल्लरियों (लताओं) के परिमर्दन-मनोरथ, गालों पर किये हुए पत्रनख-प्रदानरूप पुष्पों की चुण्टन-क्रीड़ाएँ एवं दूसरे कामी पुरुषों के प्रसिद्ध विलास (क्रीड़ाएँ), जो कि जवानीरूपी वन की वनदेवता की आराधना के वरदानों सरीखे थे।

उपसंहार—हे मारिदत्त महाराज! मैंने (यशोधर महाराज ने) स्त्रीजन-सरीखे उक्त 'मदनमद विनोद' नामके बगीचे का उक्तप्रकार की क्रीड़ाओंपूर्वक अनुभव किया।

प्रसङ्ग—अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज! कैसे फुव्वारों के गृह में प्यारी स्त्रियों के साथ क्रीडा करते हुए मैंने ग्रीष्मऋतु संबंधी मध्याह्नवेलाएँ व्यतीत की?

जिसमें (फुव्वारों के गृह में) अत्यन्त वेग से बहनेवाली सारणी (छोटी नदी या नहर) के जल-सिञ्चन द्वारा अत्यन्त कोमल हुई खस की मनोहर भित्ति के मध्यभाग से प्रकट हुए दूब-पल्लवों से समस्त दिग्मण्डल श्यामलित हुआ है। जहाँपर नवीन उत्पन्न हुईं पनवेलों

÷ 'नवांग०, (नवीन) ख० ग०।

प्रसरं हरितमणिप्रकाशपलाशपेशलप्रतानचितमोचमेचकरुचिरचिताम्बरापगापरकालिन्दीसंगमं बालबकुलकुरबकतिलकचम्पकाशोकसहकारकिसलयकुलकेलद्वाचालशुकसारिकं विकचविचकिलातिमुक्तकमल्लिकारामकुसुमस्तबकतारकितलतामण्डपं निरन्तरनिष्पन्नदुर्दिनजलकलशतलवालुकालवालविरूढयवप्ररोहपाण्डुरितभित्तिभागं स्फुटत्कुड्मलपाटलीप्रसूनोपहारसौरभास्वादलुब्ध*मधुकरारब्धवल्लकीवाद्यं मदोत्कलकोककुक्कुभकुररबककलहंसाद्यनेकपयःपतङ्गपक्षचापलोच्छलत्सरोजरजःपुञ्जपिञ्जरजलकेलिदीर्घिकान्तरालपुलिनप्रसाधितप्रासादवेदिमध्यसंबद्धसलिलतूलिकं शयनाभ्यर्णवर्तीर्णसुवर्णमणिरजतभाजनविन्यस्यमानमलयजागुरुमृगनाभिकर्पूरपरिमलोद्ग्राहिवारिपूरं पर्यन्तयन्त्रजलधरवर्षाभिषिच्यमानस्थलकमलिनीकेदारं विविधव्यालवदनविनिर्गलज्जलधाराध्वनितलयलास्यमानभवनाङ्गणबर्हिणं चन्द्रकान्तमयमृणालबिलस्रवत्स्रोतः संतर्प्यमाणविनोदवारलं करटिकरविकीर्यमाणसीकरासारसूत्रिताङ्गनालकमुक्ताफलाभरणं मकरमुखमुक्तनिर्झरनीहारोल्लास्यमानकामिनीकुचकुम्भचन्दनस्थासकं विलासवल्लरीवनवानरान-

के भार से मुड़े हुए या टेढ़े हुए सुपारी-वृक्षों के विस्तार द्वारा सूर्य-कान्ति का प्रसार—फैलाव—निराकरण किया गया है। जहाँपर हरितमणि[1] (मरकतमणि) के प्रकाश-सरीखे (हरित) केला के पत्तों से अत्यन्त मनोहर विस्तारवाले केला-वृक्षों की नीलकान्ति द्वारा आकाशगङ्गा में दूसरी यमुना नदी का संगम रचा गया है। जहाँपर नवीन बकुल (मौलसिरी-वृक्ष), कुरबक (लालभिण्डी-वृक्ष), तिलकवृक्ष (तिलपुष्प), चंपावृक्ष, अशोकवृक्ष और विशेष सुगन्धि आम्रवृक्ष, इनकी कोंपल-श्रेणियों पर विशेष शब्द करनेवालीं तोता-मेनाएँ क्रीड़ा कर रहीं हैं। जहाँपर प्रफुल्लित हुए मोगरक-पुष्प, सुरपर्णीपुष्प, व मल्लिकापुष्पों के बगीचे के पुष्प-गुच्छों द्वारा लतामण्डप ताराओं से विभूषित किये गये हैं। निरन्तर (अविच्छिन्न) जलस्राव के कारण प्रचुर जल-पूर्ण जल-कलशों के तलों की रेत की क्यारियों में उत्पन्न होरहे जौ के अङ्कुरों द्वारा जहाँपर भित्ति-प्रदेश पीतवर्ण-युक्त किये गए हैं। वसन्तदूती (वृक्षविशेष) के प्रफुल्लित पुष्प-समूह की सुगन्धि के सूँघने में लुब्ध हुए भौंरों द्वारा जहाँपर वीणावाजे की ध्वनि आरंभ की गई है। जहाँपर मद से उत्कट हुए चकवा-चकवी, लावा पक्षी, कुररीपक्षी व कलहँस (बतखें)-आदि अनेक जलपक्षियों के पँखों की चपलता (हिलाने) से ऊपर उछलती हुई कमल-पराग-(पुष्पधूलि) राशियों द्वारा जलक्रीडा-बावड़ियाँ पीली होगईं हैं और उन बावड़ियों के मध्यवर्ती पुलिनों (जलोत्थित द्वीपों) पर रचित प्रासादों (गृहों) के मध्यवर्ती वेदियों के मध्यभाग पर जिसमें (फुब्बारों के गृह में) जलशय्याएँ भलीप्रकार रची गईं हैं। जहाँपर शय्या के समीपवर्त्ती मण्डित (सजाये) हुए सुवर्णपात्र, मणिपात्र व रजत (चाँदी) पात्रों में धारण किये जारहे मलयागिर चन्दन, अगुरु, कस्तूरी एवं कपूर की सुगन्धि के धारक (सुगंधित) जलपूर वर्तमान हैं। जहाँपर प्रान्तभागवर्ती फुब्बारों की जलवृष्टि द्वारा स्थलकमलिनियों के जल से भरे हुए खेत सींचे जारहे हैं। जहाँपर नानाभाँति के व्यालों (कृत्रिम हाथी, सर्प, सिंह व व्याघ्र-आदि जन्तुओं) के मुखों से प्रवाहित होनेवालीं (निकलती हुईं) जलधाराओं की ध्वनि के लय (सदृशता) द्वारा महल के आँगन पर स्थित हुए मोर नचाये जारहे हैं। अर्थात्—फुब्बारों के गृह में वर्तमान कृत्रिम हाथी-वगैरह के मुखों से प्रवाहित होनेवाली जलधारा की ध्वनि को मेघ-ध्वनि समझकर जहाँपर गृहाङ्गण के मोर नाँच रहे हैं। जहाँपर चन्द्रकान्तमणियों की कमल-नालों के छिद्रों से झरनेवाले झरनों द्वारा क्रीडाहँसों की हँसिनियाँ सन्तुष्ट की जारही हैं। कृत्रिम हाथियों की सूँडों द्वारा फैंकीजानेवालीं जलबिन्दुओं की वेग-पूर्ण वर्षा द्वारा जहाँपर स्त्रियों के केशपाशों पर मोतियों के आभरण रचे गये हैं। जहाँपर कृत्रिम मकर के मुखों से झरनेवाले झरने के जलबिन्दुओं द्वारा कामिनियों के

*'मधुकरारब्ध' ख० ग०।

१. उक्तं च—गारुत्मतजं मरकतमश्मगर्भं हरिन्मणिः। शोणरत्नं लोहितकं पद्मरागोऽथ मौक्तिकम् ॥ १ ॥

नोद्गीर्णपानीयापनीयमानमानिनीकपोलतलतिलकपत्त्रं जलदेवतातुमुलजलकेलिकलहावलोकोन्मदनारदोत्तालताण्डवाडम्बरित-शिखण्डिमण्डलीनिष्ठ्यूतनिबिडनीरप्रवाहविडम्ब्यमानविलासिनीजघनं कृतकनाकानोकहस्कन्धासीनसुरसुन्दरीहस्तोदस्तोदकापाद्यमानवल्लभावतंसकिसलयावासं पवनकन्यकोड्डमरचामरानिलविनोद्यमानसुरतश्रान्तसीमन्तिनीमानसम् इतस्ततः पयोधरपुरंध्रिकास्तनकलशविधीयमानमज्जनावसरं शैशिर्यनिर्जितनीहारमहीधरम् ।

अपि च । हस्ते स्पृष्टा नखान्तैः कुचकलशतटे चूचुकप्रक्रमेण वक्त्रे नेत्रान्तराभ्यां शिरसि कुवलयेनावतंसार्पितेन ।
श्रोण्यां काञ्चीगुणाग्रैस्त्रिवलिषु च पुनर्नाभिरन्ध्रेण धीरा यन्त्रस्त्री यत्र चित्रं विकिरति शिशिराश्चन्दनस्यन्दधाराः॥ ३७६॥

×यत्र यन्त्रधारागृहे, शिरीषकुसुमदामसंदानितकुन्तलकलापाभिः विचकिलमुकुलपरिकल्पितहारयष्टिभिः पाटलीप्रसवसुरभितधम्मिल्लमध्याभिः कर्णपूरमरुबकोद्भेद+सुन्दरगण्डमण्डलाभिः मृणालवलयालंकृतकलाचीदेशाभिः अमन्दचन्दन-

कुचकलशों का चन्दनहाथा (चन्दन का लेप) उल्लासित (आनन्दित—विशेष सुगन्धित) किया जारहा है। जहाँपर कृत्रिम क्रीडालता-वनों में वर्तमान कृत्रिम बन्दरों के मुखों से उद्वान्त (वमन किये हुए या गिरनेवाले) जल-झरनों द्वारा स्त्रियों के गालों की तिलकरचनाएँ प्रक्षालित की जारहीं हैं। जहाँपर ऐसी मरीचि-आदि सप्तर्षि-मण्डली द्वारा उद्गीर्ण विशेष जल-प्रवाह द्वारा स्त्रियों की जङ्घाएँ सन्तापित की जारहीं हैं, जो कि जलदेवताओं की भयानक जलक्रीडा-कलह के देखने से हर्षित हुए नारद के उत्ताल ताण्डव (नृत्य) के दर्शनार्थ आई हुई थी। जहाँपर कृत्रिम कल्पवृक्षों के स्कन्धों (तनों) पर आसीन देवियों के करकमलों से फैंके हुए जलों द्वारा विशेष प्यारी पत्नियों के कर्णपूरों की कोंपलों के लिए जीवन दिया जारहा है। जहाँपर कृत्रिम चँवर धारिणी पुतलियों के चँवरों से उत्पन्न हुई उत्कट वायु द्वारा संभोग करने से खेद-खिन्न हुईं स्त्रियों के मन आश्चर्यपूर्वक आनन्दित किये जारहे हैं और जहाँपर यहाँ वहाँ कृत्रिम मेघ-पुतलियों के स्तन-कलशों द्वारा स्नान-अवसर किया जारहा है एवं जिसने (फुब्बारों के गृह ने) अपनी शीतलता द्वारा हिमालय पर्वत पर विजयश्री प्राप्त की है।

अब प्रस्तुत फुब्बारों के गृह का पुनः विशेषरूप से निरूपण किया जाता है—जिस फुब्बारों के गृह की निर्मल कृत्रिम स्त्री आश्चर्य है कि हस्तभाग पर स्पर्श की हुई नखों के प्रान्तभागों से शीतल चन्दन-स्यन्दधाराएँ (घिसे हुए सुगन्धि चन्दन की क्षरणशील छटाएँ) फैंकती है। जब वह अपने कुच (स्तन) कलश के मूलभाग से स्पर्श कीजाती है तब आश्चर्य है कि वह अपने चूचुकों (स्तनाग्रों) के अवसर से चन्दन-स्यन्दधाराएँ उत्क्षेपण करती है। अपने मुखभाग पर स्पर्श की हुई वह नेत्रों के मध्यभागों से घिसे हुए चन्दन की क्षरणशील शीतल छटाएँ फैंकती है। इसीप्रकार मस्तक पर स्पर्श की हुई वह कुवलय (चन्द्रविकासी कमल) के कर्णपूरों से शीतल चन्दनस्यन्दधाराएँ उत्क्षेपण करती है एवं अपनी कमर भाग पर स्पर्श की हुई वह करधोनी संबंधी डोरों के प्रान्तभागों से चन्दन की सुगन्धित क्षरणशील शीतल-छटाएँ फैंकती है तथा अपनी त्रिवलियों (उदररेखाओं) पर स्पर्श की हुई वह नाभि-छिद्र से चन्दन की क्षरणशील शीतल छटाएँ फैंकती है[1] ॥३७६॥

हे मारिदत्त महाराज ! उक्तप्रकार के फुब्बारों के गृह में मैंने कैसी पत्नियों के साथ क्रीड़ा करते हुए ग्रीष्म ऋतु की मध्याह्नवेलाएँ व्यतीत कीं ?

जिन्होंने अपने केशपाश शिरीष (सिरस) वृक्ष की पुष्पमालाओं से गूँथे हैं। जो मोगरक पुष्प-कलियों से गूँथे हुए हारों से विभूषित हैं। जिन्होंने अपने बँधे हुए केशपाश का मध्यभाग वसन्तदूती (पाटल—वृक्षविशेष) के पुष्पों से सुगन्धित किया है। जिनके गालों के समूह कर्णपूरों (कानों के आभूषणों) को प्राप्त हुए मरुवकों (पत्ता व पुष्पविशेषों) की मञ्जरियों से मनोज्ञ प्रतीत होरहे हैं। जिनके प्रकोष्ठभाग (कुहनी के नीचे का भाग) कमलनालों के कङ्कणों से अलङ्कृत हैं जिनके स्तनतट

× 'तत्र' क०। + 'सुन्दरगण्डमण्डलमण्डलाभिः' क०। १. दीपक व समुच्चयालंकार।

स्यन्ददुर्दिनस्तनतटाभिः निबिडजलक्रीडामाञ्जिष्ठदृष्टिभिः वल्लभलोकहस्तयन्त्रोदस्तजलजडांशुकव्यक्तनिम्नोन्नतप्रदेशाभिः अमर्यादालापविलासहासोल्लासाभिरामाभिः प्रियतमाभिः सह संक्रीडमानः

विवशबिसिनीकन्दच्छेदैर्मृणालविभूषणैर्मलयजरसस्यन्दार्द्रैरशोकदलोच्चयैः ।
युवतिहृदयैर्हारोत्तारस्तनैश्च विलासिनां समधिकरुचिर्जातः कामं निदाघसमागमः ॥३७७॥
भास्वद्भास्वति दाहवाहिमरुति ज्वालोल्बणाशाकृति×शुष्यद्भूभृति दीप्यमानवियति प्रेङ्खन्मुखाम्भोद्युति ।
संशुष्यत्सरिति क्वथत्तनुमति स्वान्तोद्भवांशोहृति ग्रीष्मेऽस्मिन् महति क्षयामयचिति प्राञ्चन्मृतिं गच्छति ॥३७८॥
कृतकिसलयशय्याः प्रान्तचूतप्रतानाः स्तबकरचितकुड्यास्तत्प्रसूनोपहाराः ।
जलसरणिसमीरासारसाराः प्रियाणां कुचकलशविलासैर्निर्विशोद्यानभूमीः ॥३७९॥
विकचविचकिलालीकीर्णलोलालकानां कुरबकमुकुलस्रक्तारहारस्तनीनाम् ।
दरजरठदलाग्रैः पल्लवैश्चूतजातैर्नृप किमपि कषायं योषितां चुम्ब वक्त्रम् ॥३८०॥

प्रचुरतर घिसे हुए तरल चन्दन से लिप्त हैं। विशेष जलक्रीड़ा करने के फलस्वरूप जिनकी दृष्टियाँ पाटल (रक्त) होगईं हैं। जिनके शारीरिक नीचे-ऊँचे स्थान (जङ्घा व स्तनादि स्थान) पतियों के हाथों पर स्थित हुई पिचकारी के जल से गीले हुए वस्त्रों में से प्रकट दिखाई देरहे हैं और जो वेमर्याद परस्परभाषणों, विलासों (मधुर चितवनों) और वेमर्याद हास्यों की उत्पत्तियों से अत्यन्त मनोहर हैं।

प्रसङ्ग—अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज! स्तुतिपाठकों के कैसे स्तुतिवचनों द्वारा उल्लासित मनवाले मैंने ग्रीष्मऋतु की मध्याह्नवेलाएँ व्यतीत कीं?

हे राजन्! ग्रीष्म ऋतु का समागम कामी पुरुषों के लिए [निम्नप्रकार शीतल व कामोद्दीपक निमित्तों से] यथेष्ट सम्यक् प्रकार से अत्यन्त रागजनक हुआ। उदाहरणार्थ—विवश (अपने को काबू में न रखनेवाले) पद्मिनियों के मूलखंडों द्वारा, नीलकमलों के आभूषणों द्वारा और अशोकवृक्ष के पल्लवों की शय्याओं द्वारा, जो कि तरल चन्दनरस के क्षरण (टपकने) से व्याप्त हुए जल-भींगे वस्त्रों से गीलीं थीं एवं युवती स्त्रियों के ऐसे वक्षःस्थलों के आलिङ्गनों द्वारा, जो कि हारों (मोतियों की मालाओं) से विशेष उज्वल स्तनों से सुशोभित थे[1] ॥३७७॥ ऐसी ग्रीष्म ऋतु (ज्येष्ठ व आषाढ़) में अन्य देश को गमन करता हुआ मानव [अत्यन्त गर्मी के कारण] मर जाता है, जिसमें श्रीसूर्य तेजस्वी है और संतापकारक वायु वह रही है। जो दिशाओं को अग्नि-ज्वालाओं सरीखा तीव्र कर देता है। जिसमें पर्वत और आकाश विशेषरूप से जल रहे हैं। जिसमें मुख पर स्वेदजल की कान्ति संचार कर रही है। जिसमें नादियाँ भले प्रकार सूख रहीं हैं और समस्त प्राणी गर्मी के कारण उबल रहे हैं—संतप्त होरहे हैं। जो कामदेव की शक्ति नष्ट करती है। अर्थात्—ग्रीष्म ऋतु में कामशक्ति (मैथुन-योग्यता) नहीं होती। जो गुरुतर तथा क्षयरोग को पुष्ट करती है[2] ॥ ३७८ ॥ हे राजन्! आप प्यारी स्त्रियों के कुच (स्तन) कलशों के आलिङ्गनपूर्वक ऐसी उद्यानभूमियों का अनुभव कीजिए, जहाँपर वृक्ष-पल्लवों की शय्याएँ रची गई हैं। जिनके प्रान्तभागों पर आम्र वृक्ष-समूह पाये जाते हैं। जिनकी भित्तियाँ फूलों के गुच्छों से निर्माण कीगईं हैं। जिनमें बगीचा के फूलों के उपहार (ढेर) हैं और जो कृत्रिम नदियों के वायु-मण्डलों से मनोहर हैं[3] ॥ ३७९ ॥ हे राजन्! आप ऐसी स्त्रियों के, जिनके चञ्चल केश प्रफुल्लित मोगरक-पुष्पों की श्रेणियों से व्याप्त हैं और जिनके कुच (स्तन) कलश कुरवक (लालझिण्डी) का पुष्प-कलियों की मालाओं तथा उज्वल हारों (मोतियों की मालाओं) से विभूषित होरहे हैं, कुछ कठिन अग्रभागवाले आम्र-पल्लवों से अपूर्व

× 'प्लुष्यद्भूभृति' क०ख०। १. समुच्चय व दीपकालंकार। २. जाति-अलंकार। ३. समुच्चयालंकार।

अलककिसलयानां भ्रूलताश्लाघिनीनां नयनमधुलिहानां चारुगण्डस्थलीनाम्।
कुचकुसुमचयानां स्त्रीवनश्रेणिकानामवनिषु कुरु केलीः किं नृपान्यैर्वनान्तैः ॥३८१॥
लसदलकतरङ्गाः कान्तनेत्रारविन्दाः प्रचलभुजलतान्ताः पीनवक्षोजकोकाः।
अतनुजघनकूलारचारुलावण्यवारस्तव नृप जलकेलिं कुर्वतां स्त्रीसरस्यः ॥३८२॥
ऊरुन्यासवशेन†मन्दितरया रुद्धा नितम्बस्थलैर्नाभीकन्दरदेशवारिवलनव्यालोलफेनावलिः।
बाहूत्पीडनसंगलल्लहरिका पीनस्तनोत्तम्भिता जङ्घादघ्नजलापि खेलदबला कूलंकषा वाहिनी ॥३८३॥
गम्भीरनाभीवलभिप्रवेशादल्पोदकाभूत्तटिनी मुहुर्या। स्त्रीणां पुनः सातिभृता निकामं प्रियापराधस्रवदश्रुपूरैः ॥३८४॥

कषाय-युक्त (कसैले) हुए मुख का चुम्बन कीजिए[1] ॥ ३८० ॥ हे राजन्! आप ऐसी स्त्रीरूपी उद्यान-श्रेणियों की पृथिवियों पर क्रीड़ा कीजिए, दूसरे बगीचों के मध्यविहार करने से क्या लाभ है? अपि तु कोई लाभ नहीं। जो केशरूपी कोंपलों से सुशोभित होतीं हुईं भ्रुकुटि (भौंहें) रूपी लताओं से प्रशंसनीय हैं। जो नेत्ररूपी भौंरों और अत्यन्त मनोहर गाल-स्थलियों से युक्त होती हुईं कुचरूपी पुष्प-समूह से सुशोभित हैं[2] ॥ ३८१ ॥ हे राजन्! ऐसीं स्त्रीरूपी सरसियाँ (सरोवर—तालाव) आपके लिए जलक्रीड़ा संपादन करें, जो शोभायमान होरहे केशरूप तरङ्गोंवालीं और मनोहर नेत्ररूपी कमलों से व्याप्त हैं। जिनमें भुजारूपी लताओं के प्रान्तभाग शोभायमान होरहे हैं और जिनमें पीन (न तो अत्यन्त स्थूल, न विशेष लम्बे, गोलाकार, परस्पर में सटे हुए व ऊँचे) कुच (स्तन) रूप चकवा-चकवी सुशोभित होरहे हैं। जो महान् जङ्घारूप तटोंवालीं हैं एवं जिनमें मनोज्ञ कान्तिरूपी जल-राशि भरी हुई है[3] ॥ ३८२ ॥ हे राजन्! क्रीड़ा करती हुई स्त्रीरूपी नदी जङ्घादघ्नजला (जाँघोंपर्यन्त जल से भरी हुई) होकर के भी कूलंकषा (अपना तट भेदन करनेवाली) है। यहाँपर विरोध मालूम पड़ता है, क्योंकि जिस नदी में जाँघों तक जल होगा, वह अपना तट गिरानेवाली किसप्रकार होसकती है? अतः इसका समाधान किया जाता है कि जो (स्त्री) कूलंकषा (स्मर-मन्दिर—वस्त्रादानी—में पीड़ावाली—रोग-युक्त) है, इसलिए जङ्घादघ्नजला (जाघों तक प्रवाहित होनेवाले शुक्र—रज—से व्याप्त) है। इसीप्रकार जो जाँघ या कूल्हे की हड्डियों के परस्पर मिल जाने की पराधीनता के कारण मन्दवेगवाली (धीरे-धीरे गमन करनेवाली) है। जो नितम्ब (स्त्री की कमर का पिछला उभरा हुआ भाग) रूप ऊँचे स्थलों से रुकी हुई है। अर्थात्—जिसप्रकार ऊँचे स्थलों के आजाने पर नदी का प्रवाह रुक जाता है उसीप्रकार स्त्री भी स्थूल नितम्बों के कारण गमन करने से रुक जाती है—वेगपूर्वक गमन करने में असमर्थ होजाती है। जिसमें नाभिरूपी गुफास्थान में प्रस्वेदजल व्याप्त होने के कारण चञ्चल व [शुभ्र] फेनश्रेणी पाई जाती है। जिसमें भुजाओं के गाढ़ आलिङ्गन से शरीर-सिकुड़न और दृष्टिरूपी लहरें सन्मुख प्राप्त होरहीं हैं और जो पीन (मोटे व कड़े) कुचकलशों से रुकी हुई शोभायमान होरही है[4] ॥ ३८३ ॥ जो स्त्रियों की त्रिवली (उदर-रेखाएँ) रूपी नदी वार-वार अगाध (गहरे) नाभितलरूपी वाँसों के पञ्जर में संचार करने के फलस्वरूप अल्पजलवाली (प्रस्वेदजल-रहित) थी, वह (नदी) पति के अपराधवश चरणशील अश्रु-प्रवाहों से बाद में प्रचुर जल से भरी हुई होगई[5] ॥ ३८४ ॥

A

†'मन्दिरतया' क० ग०। A 'वेग' टिप्पणी ग०। †'मन्दितरया' च० मुद्रितप्रतिवत्। विमर्शः—यद्यप्यर्थभेदो नास्ति तथापि मु० प्रतिस्थपाठः समीचीनः—सम्पादकः। १. समुच्चयालंकार। २. रूपक, समुच्चय व आक्षेपालंकार। ३. रूपकालंकार। ४. रूपक व विरोधाभास-अलङ्कार। ५. रूपकालङ्कार।

अलकेक्षणवदनकुचैरुन्मज्जन्त्याः क्रमेण कान्तायाः । जम्बालकुवलयाम्बुजपुलिनश्रियमाश्रितः सिन्धुः ॥३८५॥

अहनि परिणतार्धे नाथ सीमन्तिनीनां पुरुषरतनियोगव्यग्रकाञ्चीगुणानाम् ।
शिथिलयति कपोले मण्डनं स्वेदबिन्दुर्निबिडकुचनिकुञ्जात्स्यन्दते वारिपूरः ॥३८६॥

उद्वेल्लन्ति कपोलपालिषु कुचस्तम्बेषु मन्दास्पदाः स्फायन्ते वलिवाहिनीषु पृथवो नाभीदरश्रेणिषु ।
ग्रीष्मेऽपि स्मरकेलिलालसधियां स्त्रीणां श्रमाम्भःकणाः स्यन्ति प्रावृष एव संपदममी नीवीलतोल्लासिनः ॥३८७॥

मन्दानिलेषु कदलीदलमण्डपेषु हारेषु यन्त्रगृहकेलिषु चन्दनेषु ।
चलत्स्पृहास्तु तुनोति कथं स कालः कान्तासु चार्पितपयोधरमण्डलासु ॥३८८॥

इति वैतालिकालापोल्लास्यमानमानसः सकललोकलोचन‡घूर्णनेषु घर्मदिनेषु मदिरासमागमानिव मध्याह्नसमयान-तिवाहयामास ।

अकुर्वन् मनसः प्रीतिं यः स्त्रीषु विहितादरः । अन्यार्थं भारवोढेव स परं क्लेशभाजनः ॥३८९॥

पति की दृष्टिरूपी नदी उसके जल से बाहिर निकलती हुई स्त्री के केश, नेत्र, मुख व कुचों (स्तनों) से क्रमशः जम्बाल (काई), कुवलय (कुमुद—चन्द्रविकासी कमल), कमल और पुलिन (वालुकामय—रेतीला—प्रदेश) की शोभा (सदृशता) को प्राप्त हुई। अभिप्राय यह है कि पति की दृष्टिरूप नदी में स्त्री के केशपाश शैवाल-सदृश, नेत्र कुमुद-जैसे और मुख कमल-सरीखा एवं कुच (स्तन) रेतीले प्रदेश-सरीखे थे, अतः वह (पति की दृष्टिरूपी नदी) स्त्री के केश, नेत्र, मुख व कुचों (स्तनों) से क्रमशः शैवाल, कुमुद, कमल और वालुकामय प्रदेश की शोभा (सदृशता) धारण कर रही है[1] ॥३८५॥ हे राजन् ! ग्रीष्मऋतु के दिन की मध्याह्नवेला में उत्पन्न हुआ स्वेद-बिन्दु विपरीत मैथुन के व्यापार में व्याकुलित करधोनीवालीं स्त्रियों के गालों पर की गई पत्त्ररचना केसर व कस्तूरी-आदि सुगन्धि पदार्थों से की हुई चित्ररचना) शिथिल कर रहा है और परस्पर में सटे हुए कुचों (स्तनों) के निकुञ्ज (लता-आच्छादित प्रदेश) से जल-प्रवाह क्षरण होरहा है[2] ॥३८६॥ हे राजन् ! कामक्रीडा में अत्यन्त उत्कण्ठित बुद्धिवाली स्त्रियों के कामसेवन के परिश्रम से उत्पन्न हुए ये (प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले) ऐसे जलकण (स्वेद-बिन्दु) ग्रीष्मऋतु में भी वर्षा ऋतु की शोभा सूचित कर रहे हैं, जो (जलकण) कपोलपालियों (गालस्थलीरूपी पुलों अथवा गाल-स्थलियों) पर उछल रहे हैं। जो कुचरूपी तनों या शाखाओं से मन्द-मन्द क्षरणशील हैं। जो त्रिवली (उदररेखा) रूपी नदियों में वृद्धिंगत होरहे हैं। जो नाभि के छिद्र-समूहों में विस्तृत होते हुए नीवी (कमर के वस्त्र की गाँठ) रूपी लता को उल्लासित कर रहे हैं[3] ॥३८७॥ हे राजन् ! जब कि मन्द-मन्द वायु संचार कर रही है, जब केलों के पत्तों के गृह वर्तमान हैं, जब मोतियों की मालाएँ विद्यमान हैं (वक्षःस्थल पर धारण की जारही हैं), जब फुव्वारों के गृहों में क्रीड़ाएँ होरही हैं, जब तरल चन्दनों का लेप होरहा है और कुच (स्तन) कलश-मण्डल अर्पित (स्थापित) करनेवाली (कुच-कलशों द्वारा गाढ़ आलिङ्गन देनेवालीं) कमनीय कामिनियाँ वर्तमान हैं तब आश्चर्य है कि वह ग्रीष्म ऋतु काम की आकाङ्क्षा करनेवाले पुरुषों को किस-प्रकार सन्तापित कर सकती है ? अपि तु नहीं कर सकती[4] ॥३८८॥ स्त्रियों के साथ हार्दिक प्रेम व आदर न करनेवाला पुरुष उसप्रकार केवल कष्ट-पात्र होता है जिसप्रकार दूसरों के निमित्त भारवाहक मानव केवल कष्ट-पात्र होता है[5] ॥३८९॥

---

‡ 'पूर्णनेषु' क० । १. यथासंख्य-अलङ्कार । २. शृङ्गाररस-प्रधान रूपकालङ्कार । ३. रूपक व उपमालंकार । ४. समुच्चयालंकार । ५. उपमालंकार ।

कदाचिद्वियल्लक्ष्मीकुन्तलकलापकान्तिभिः सुरसरिच्छैवलिकाविलासहासैः त्रिदिवस्त्रीनेत्राञ्जनविराजिभिः अमृतकर-
कुरङ्गलोचनच्छायैः तपनतुरगदूर्वाङ्कुरस्थलसृष्टिभिः स्वर्देवताभिषेकमरकतमयकलशमण्डलावलोकैः विद्याधरपुराभिसारिका-
विजृम्भणतिमिरवृत्तिभिः सैंहिकेयसैन्यसमसाहसव्यवसायैः खेचरीचरणचाराचरितमेचकमणि* कुट्टिमाभोगभङ्गिभिः गगनचर-
मिथुनरतिकेलितमालकाननकमनीयैः अमरविमानमहानीलाधिष्ठान ÷ लिम्पिभिः अम्बरसरःप्रसरत्पङ्कपेशलप्रकाशैः व्योमगज-
गण्डमण्डन † मदमनोहारिभिः विडम्बितगारुडोपलशैलशिखरशोभैः S अपहसितशितिकण्ठकण्ठद्युतिभिः संकर्षणवसनवानातान-
सुन्दरैः द्युसदनदीर्घिकाविकासितकुवलयवनविलासिभिः अनङ्गारण्यप्ररूढतापिच्छगुच्छगहनावगाहिरामैः अवहेलितहरिदेह-

---

प्रसङ्गानुवाद—अथानन्तर हे मारिदत्तमहाराज ! किसी अवसर पर जब ऐसे वर्षाऋतु के मेघों से आकाशमण्डल की शोभा उसप्रकार कृष्णवर्णवाली होरही थी जिसप्रकार प्रसूति का अवसर प्राप्त करनेवाली स्त्री के स्तन-चूचुकों (अग्रभागों) की शोभा कृष्णवर्ण-युक्त होती है। उस समय वर्षाकाल की लक्ष्मी (शोभा) का उपभोग करता हुआ मैं जब तक हर्षपूर्वक स्थित हुआ था उसी अवसर पर 'सन्धिविग्रही' नाम के मेरे (यशोधर महाराज के) दूत ने मुझे निम्नप्रकार सूचित करके दूसरे राजदूत को मेरी राज-सभा में प्रविष्ट किया।

कैसे हैं वर्षाऋतु के मेघ ?—जिनकी कान्ति उसप्रकार श्याम (कृष्ण) है जिसप्रकार आकाश-लक्ष्मी की केशसमूह-कान्ति श्याम होती है। जो ऐसे मालूम पड़ते हैं—मानों—आकाशगङ्गा संबंधी शैवाल के उल्लास-प्रसर (कान्ति-विस्तार) ही हैं। जो उसप्रकार श्यामरूप से सुशोभित होरहे थे जिसप्रकार देवियों के नेत्रों का अञ्जन श्यामरूप से सुशोभित होता है। जिनकी कान्ति चन्द्र-हिरण के नेत्रों सरीखी थी। जिनमें श्री सूर्य के घोड़ों के हरिताङ्कुरों की स्थल-सृष्टियाँ वर्तमान हैं। जो उसप्रकार शोभायमान होरहे थे जिसप्रकार स्वर्ग-देवता के अभिषेक-निमित्त स्थित हुआ हरित मणियों का कलश-समूह शोभायमान होता है। जिनकी वृत्ति (प्रवृत्ति या कान्ति) ऐसे अन्धकार-सरीखी थी, जो कि विद्याधर-नगरों की अभिसारिकाओं[1] (कामुक स्त्रियों) के प्रसार-निमित्त था। जिनकी उद्यमप्रवृत्ति राहु की सेना जैसी थी। जिनकी रचना ऐसी श्यामरत्नमयी व विस्तृत बद्ध (कृत्रिम) भूमि के समान थी, जो कि विद्याधरियों के चरणकमलों के संचार-निमित्त रची गई थी। जो उसप्रकार मनोज्ञ थे जिसप्रकार ऐसे तमालवृक्षों (तमाखू या वृक्षविशेष) के वन मनोज्ञ होते हैं, जो कि देव और विद्याधरों के स्त्री पुरुषों के जोड़ों की संभोग क्रीड़ा में निमित्त थे। जो देव-विमानों का कृष्णरत्न-पटल (समूह) तिरस्कृत करनेवाले हैं। जिनकी कान्ति उसप्रकार मनोहर है जिसप्रकार आकाशरूपी सरोवर में व्याप्त हुई कर्दम-कान्ति मनोहर होती है। जो उसप्रकार मनोज्ञ (मनोहर) हैं जिसप्रकार आकाशरूपी हाथी के गण्डस्थलों का आभूषणरूप मद (दान-जल) मनोज्ञ होता है। जिन्होंने नीलमणिमयी पर्वत की शिखर-शोभा तिरस्कृत की है। जिनके द्वारा रुद्र-कण्ठ की नीलकान्ति उपहास-युक्त या तिरस्कृत कीगई है। जो उसप्रकार सुन्दर हैं जिसप्रकार बलभद्र के वस्त्र का बुनना व विस्तार सुन्दर होता है। जो उसप्रकार उल्लासजनक या सुशोभित होरहे हैं जिसप्रकार स्वर्ग की बावड़ी में प्रफुल्लित हुआ नीलकमलों का वन उल्लासजनक या सुशोभित होता है। जो चारों ओर विस्तृत होने के फलस्वरूप उसप्रकार मनोज्ञ हैं जिसप्रकार आकाशरूपी वन में उत्पन्न हुए काहलिक वृक्षों के पुष्प-गुच्छों के वन चारों ओर विस्तृत होने के फलस्वरूप मनोज्ञ होते हैं। जिन्होंने

---

*'कुट्टिमाभङ्गभोगिभिः' क०। ÷ 'लिपिभिः' क०। † 'मदनमनोहारैः' क०। S 'उपहसित' क० ख० ग०।

१. उक्तं च—'कान्तार्थिनी तु या याति संकेतं साभिसारिका' यश० सं० टी० से संकलित—सम्पादक

द्युतिसंपत्तिभिः शिखण्डिताण्डवप्रारम्भपूर्वरङ्गैः अनङ्गनगपल्लवोल्लासव्यसनिभिः प्रोषितपुरंध्रिकाश्वासनप्रथमदूतैः चातककुलकेलिकारिभिः कलहंसनिर्वासघोषणाभिनवपटहैः कदलीदलश्यामलितदिग्भित्तिभिरम्भोधरैः प्रसवोन्मुखकामिनीकुचचूचुकाभासि नभसि, नीलनेत्रवितानान्तरालावलम्बितनिरन्तरहारहारिणि समन्तात्पतति धारासारसलिले, वसुमतीतरुस्तनंधयधात्र्यामिव पयःपूर्णपयोधराभोगसुभगायां दिवि, चिरतरातपसंतापदुःस्थितायाः क्षितेर्यन्त्रधारागारलीलामिव बिभ्रति गगनमण्डले, विततसितपताकाडम्बरेष्विव क्षरन्निर्झरनीरेषु गिरिषु, मुक्ताफलजालप्रसाधितेष्विव स्यन्दमानवारिसुन्दरपर्यन्तेषु सद्मसु, मैरेयातिलङ्घितासु सीमन्तिनीष्विव निर्मर्यादशब्दगमनासु वाहिनीषु, निदाघनिवापजलसरावेष्विव

श्रीनारायण के शरीर की श्याम कान्तिरूप संपत्ति तिरस्कृत की है। जो मयूरों के ताण्डव नृत्य के प्रारम्भ में पूर्वरङ्ग (प्रथमरङ्ग—नाट्य-प्रारम्भ में विघ्न शमन-हेतु कीजानेवाली स्तुति) के समान हैं। जिन्हें कामरूप वृक्ष के पल्लवों (कोंपलों) को उल्लासित (वृद्धिंगत) करने का आग्रह है। जो विरहिणी स्त्रियों के लिए धीरता-प्रदान में प्रथम दूत हैं। अर्थात्—क्योंकि वर्षाऋतु में बहुधा लोग अपने गृहों में वापिस आजाते हैं, इसलिए इस ऋतु के मेघ विरहिणी स्त्रियों के लिए धीरता देने में प्रधानदूत का कार्य करते हैं। जो चातक (पपीहा) पक्षियों के झुण्डों की क्रीड़ा करानेवाले हैं। अभिप्राय यह है कि कवि-संसार की मान्यता के अनुसार चातक पक्षी मेघों से गिरता हुआ जल पीते हैं, अतः मेघ उन्हें सहर्ष क्रीड़ा करने में प्रेरित करते हैं। जो कलहँसों (लालचोंच, लाल पैर व लाल आंखोंवाले राजहंस—वतख पक्षी) को देशनिकाला करने की घोषणा के नवीन बाजे हैं। अर्थात्—मेघों की गर्जना ध्वनि सुनकर वतख पक्षी तालाब का तट छोड़कर भाग जाते हैं, अतः मेघ उन्हें देशनिकाला करने की घोषणा देनेवाले नवीन बाजे हैं। जिन्होंने दिग्भित्तियाँ (दिशाएँ) केलों के पत्तों से श्यामलित (कृष्णवर्ण-युक्त) की हैं। अभिप्राय यह है कि कवि-संसार में हरित व श्याम वर्ण एक समझा जाता है, अतः मेघ केलों के पत्तों द्वारा समस्त दिशाएँ श्यामलित करते हैं। उपसंहार—उपर्युक्त ऐसे मेघों से आकाशमण्डल की शोभा जब उसप्रकार होरही थी जिसप्रकार प्रसूति का अवसर प्राप्त करनेवाली स्त्री के स्तनों की चूचुक-(अग्रभाग) शोभा कृष्णवर्णवाली होजाती है।

इसीप्रकार जब निम्नप्रकार वर्षा ऋतुकालीन घटनाएँ घट रही थीं—उदाहरणार्थ—जब वेगवाली (मूसलधार) जलवृष्टि का जल चारों ओर से गिर रहा था, जो कि उसप्रकार मनोज्ञ प्रतीत होरहा था जिसप्रकार श्यामरँगवाले वस्त्र के चँदेवा के अधोभाग पर अवलम्बित हुईं सघन मोतियों की मालाएँ मनोहर मालूम पड़ती हैं। जब आकाश उसप्रकार पयःपूर्णपयोधर-आभोग-सुभग (जल से भरे हुए बाँदलों की पूर्णता से सौभाग्यशाली) था जिसप्रकार पृथिवी के वृक्षरूपी पुत्रों की उपमाता (धाय) पयः-पूर्ण-पयोधर-आभोग-सुभग (दूध से भरे हुए स्तनों के विस्तार से मनोहर) होती है। जब आकाशमण्डल दीर्घ कालतक गर्मी के ज्वर से दुःखित हुई पृथिवी के लिए फुव्वारों की गृह-शोभा धारण कर रहा था। जब ऐसे पर्वत, जिनसे झरनों का जलप्रवाह ऊपर से नीचे गिर रहा था, उसप्रकार सुशोभित होरहे थे जिसप्रकार वे विस्तृत व शुभ्र ध्वजाशाली शिखरों से युक्त हुए सुशोभित होते हैं। जब ऊपर से नीचे गिरते हुए जलों से मनोहर प्रान्तभागवाले गृह उसप्रकार शोभायमान होरहे थे जिसप्रकार मोतियों की मालाओं से सजाए गए गृह शोभायमान होते हैं। जब नदियाँ उसप्रकार निर्मर्यादशब्द-गमनशालिनी (मर्यादा उल्लङ्घन करनेवाले कोलाहल व वेमर्याद वेगयुक्त धावनवालीं) थीं जिसप्रकार मद्य-पान से उच्छृङ्खल हुईं स्त्रियाँ वेमर्याद शब्द करनेवालीं और वेमर्याद यहाँ वहाँ वेगयुक्त संचार करनेवालीं होती हैं। जब तालाब उसप्रकार गाढ़रूप से (लबालब) जल से भरे हुए थे जिसप्रकार ग्रीष्म ऋतु

निर्भराम्भःसंभृतेषु सरःसु, समुद्रसलिलसहसेवितौर्वानलज्वालावभासिनीष्विव जलधरोदरेषु स्फुरन्तीषु तडित्सु, स्मरपुरंदरार्पितचापव्यापारभार इवX निचलाराधनधन्यधनुषि विजिगीषुलोके, किलिञ्जसंचयोचितचञ्चुरोचमानमौकुलिकुलाकुलेषु iiशाखिशिफोद्गमदेशेषु, नीरन्ध्रशिलिन्ध्रबन्धुरेषु धराभागेषु, लाङ्गलीप्रसवपाटलिमधामनि ककुप्चक्रवाले, यूथिकाप्रसूनपरिमलविलासिषु शिलोच्चयशिलान्तरालपरिसरेषु, रत्नाङ्कुररोमाञ्चकञ्चुकिनि विदूरभूधरे, गिरिमल्लिकामुकुलमण्डिताशिखण्डेषु गण्डशैलेषु, सुरगोपप्रचारशोणशोचिषि वसुंधरावलये, सर्जार्जुनविजयिषु कुल्कीलकुञ्जेषु, मनोभवभल्लिकाकृतिषु च विजृम्भमाणेषु केतकीकुसुमपत्त्रेषु,

अपि च—उन्मार्गाम्भसि मेघमन्दनभसि छन्नांशुमत्तेजसि क्षुभ्यत्स्रोतसि रुद्धपान्थतरसि स्फूर्जत्तडिद्धूयसि ।

कंदर्पौकसि मत्तकेकिमनसि प्रेमोद्यते चेतसि *काले यासि कथं च रूढवयसि प्रौढां प्रियां मुञ्चसि ॥३१०॥

संबंधी निवाप[1] (पितृदान—श्राद्ध) के जल-पूर्ण सकोरे गाढरूप से जल से भरे हुए होते हैं। जब बाँदलों के मध्य में चमकती हुईं बिजलियाँ ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों—समुद्र के जलों द्वारा आस्वादन की गईं बड़वानल अग्नि की ज्वालाएँ ही चमक रही हैं। जब शत्रुओं पर विजयश्री का इच्छुक लोक (राजाओं का समूह-आदि), जिसके धनुष धनुष-भस्त्रकाओं (धनुष स्थापन करने का चमड़े का थैला -आदि आधार) की आराधनामात्र से कृतार्थ थे, ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—कामदेवरूपी इन्द्र द्वारा ही जिसे धनुष-धारणरूप व्यापार का भार अर्पण किया गया है—आज्ञा दीगई है। जब वृक्षों के-अग्रों (पत्तों) के उत्पत्तिस्थान (शाखाएँ) ऐसे काक पक्षियों के झुण्ड से व्याप्त थे, जो कि कड़े केला वृक्षों की छालों को ग्रहण करने योग्य चोंचों से शोभायमान थे। जब पृथिवी के प्रदेश घने कुकुरमुत्तों से व्याप्त थे। जब दिशाओं का मण्डल (समूह) जलपिप्पली (वृक्षविशेष) की कलियों के फूलों की पाटलिमा (श्वेत-लालिमा) का स्थान होरहा था। जब पर्वतों की चट्टानों के मध्यवर्ती परिसर (पर्यन्त प्रदेश—आँगन) जुही फूलों की सुगन्धि का विलास (शोभा) धारण कर रहे थे। जब वैडूर्य मणियों को उत्पन्न करनेवाला पर्वत रत्नाङ्कुररूप रोमाञ्च-कञ्चुक (बख्तर) धारण किये हुए था। जब क्षुद्र (छोटे) पर्वत, जिनके शिखर कुटज-पुष्पों की कलियों से सुशोभित होरहे थे। जब पृथिवी-वलय (भूमि का घेरा या कुञ्ज—लताओं से आच्छादित प्रदेश) इन्द्रवधूटि कीड़ों के विस्तार से लाल-कमल-सी कान्ति धारण कर रहा था। इसीप्रकार जब पर्वतों के लताओं से आच्छादित प्रदेश शालवृक्ष और अर्जुनवृक्षों से शोभायमान होरहे थे और जब केतकी-पुष्पों के पत्ते कामदेव के बाणों की आकृति (आकार—सदृशता) धारण कर रहे थे।

प्रसङ्ग—हे मारिदत्त महाराज ! जब 'अकालजलद' नामके स्तुतिपाठक की निम्नप्रकार स्तुति द्वारा क्रीड़ाशाली किये जारहे मनवाला मैं वर्षा ऋतु की श्री (शोभा) का अनुभव करता हुआ स्थित था—

हे नाथ ! ऐसे वर्षाकाल में आप नवयुवती प्रिया को कैसे छोड़ते हो ? और उत्पन्न हुई नई जवानी में किसप्रकार दूसरे देश को प्रस्थान कर रहे हो ? कैसा है वर्षाकाल ? जिसमें नदियों के दोनों तट उल्लङ्घन करनेवाली जल-राशि वर्तमान है। जिसमें आकाश मेघों से प्रचुर (महान्) है। सूर्य का तेज आच्छादित करनेवाले जिसमें जलप्रवाह भले प्रकार उछल रहे हैं। जिसमें रास्तागीरों का वेग रोका गया है। जो अप्रतिहत (नष्ट न होनेवाले) व्यापारवालीं (चमकती हुईं) बिजलियों से महान् और कामदेव का

X 'निचलाराधनधनधान्यसनाथधनुषि' क०। X ख० ग० प्रतियुगले मु० प्रतिवत् पाठः। ii 'शाखिशिख्योगमदेशेषु' क०। * 'काले यासि कथं कथं च वयसि प्रौढां प्रियां चुम्बसि ?' क०।

1 'पितृदानं निवापः स्यात्' इतिवचनात्।

उत्कूजत्केकालसनं नटत्करटिनं प्रादुर्भवच्छाखिनं †क्रीडद्भेककुलं पतद्बहुजलं क्षुभ्यद्धरित्रीतलम्।
पुष्यत्काममदं जयज्जनपदं सोत्सर्गसिन्धुस्यदं दृष्ट्वेमं मिहिरं जगत्प्रियकरं काम्येति न स्त्री नरम् ॥३९१॥

नवजलकणसेकाद्भूमिसौरभ्यसारः प्रविकसितकदम्बामोदमन्दप्रचारः।
जनपदयुवतीनां मानसोल्लासनायुः प्रथमजलदवायुः प्रीतये स्तान्नृपस्य ॥३९२॥

कुर्वाणाः प्रचलाकिनां कलरवैरुत्तालनृत्तक्रियां न्यस्यन्तो निचुलेषु कन्दलदलोल्लासावकाशश्रियः।
एते चातकपोतपेयनिपतत्पाथःकणश्रेणयो वाता वान्ति निदाघलङ्घनघनोल्लाघाः प्रदीर्घागमाः ॥३९३॥

स्फुटितकुटजराजिर्मल्लिकोल्लासहारी नवनिचुलविलासः कन्दलानन्दकारी।
सरति घनसमीरः सीकरासारधारी कृतसमधिककान्तिः केतकीकाननानाम् ॥३९४॥

प्रोत्तालयन्करटिनां करपुष्कराणि रन्ध्रोद्धुरध्वनितकीचककाननान्तः।
उद्गापयन्मधुकरीर्नवनीपलग्ना वातः प्रवाति शिखिताण्डवपूर्वरङ्गः ॥३९५॥

गृह (कामोत्पादक) है। जिसमें मोरों के चित्त उत्कट हैं एवं जिसमें चित्त प्रेम करने में तत्पर है[1] ॥३९०॥ वर्षा ऋतुकालीन ऐसा मेघ देखकर कौन स्त्री पुरुष के साथ रतिविलास नहीं करती? अपि तु सभी करती हैं, जिसमें मयूर केकाध्वनि कर रहे हैं और हाथी नाँच रहे हैं। वृक्षों को उत्पन्न करनेवाले जिसमें मेंडक-समूह क्रीडा कर रहे हैं। जिसमें बहुतसी जलवृष्टि होरही है। जिसमें पृथिवी-तल व्याकुलित होरहा है। कामदेव का दर्प पुष्ट करनेवाले जिसमें देश उन्नति को प्राप्त होरहे हैं एवं जो उत्साह-युक्त नदी-वेगशाली होता हुआ समस्त लोक का हित करनेवाला है[2] ॥३९१॥ ऐसा पूर्व मेघ-वायु यशोधर महाराज के हर्ष-निमित्त होवे, जो नवीन जलबिन्दुओं के क्षरण (गिरने) से पृथिवी की सुगन्धि से मनोहर है। जिसकी प्रवृत्ति प्रफुल्लित हुए कदम्बवृक्षों के पुष्पों की सुगन्धि से मन्द है और जिसका जीवन समस्त देश की स्त्रियों को उल्लासित (आनन्दित) करने में समर्थ है। भावार्थ—उक्तप्रकार की शीतल, मन्द व सुगन्धित वायु यशोधर महाराज के हर्ष-हेतु होवे[3] ॥३९२॥ हे राजन्! ये (स्पर्शन इन्द्रिय संबंधी प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीत होनेवालीं) ऐसी वायुएँ वह रही हैं, जो मोरों की मधुर केकाध्वनि के साथ उत्कण्ठित नृत्य-चेष्टा कर रही हैं। जो छोटे कदम्बवृक्षों में अङ्कुरों व पत्तों के उल्लास (उत्पत्ति या वृद्धि) की अवसर-लक्ष्मियाँ (शोभाएँ) आरोपित (स्थापित) कर रही हैं। जिनसे पपीहा पक्षियों के बच्चों के पीनेयोग्य जल-बिन्दु-समूह क्षरण होरहे हैं और जो ग्रीष्म ऋतु को नष्ट करने में विशेष उल्लाघ[4]-युक्त (निपुण) हैं एवं जिनका आगमन दूरतक व्याप्त होनेवाला है[5] ॥३९३॥ हे राजन्! इन्द्रवृक्षों (कुरैया) की श्रेणियाँ विकसित करनेवाली, मल्लिका (वेला) का उल्लास (विकास) हरनेवाली, नवीन वेंत या महुआ वृक्ष को वृद्धिंगत करनेवाली, अङ्कुरों को वृद्धिंगत करनेवाली, जलबिन्दु-समूह धारण करनेवाली और केतकी-पुष्पों के वनों में विशेष कान्ति उत्पन्न करनेवाली (विकसित—प्रफुल्लित—करनेवाली) मेघ-वायु वह रही है[6] ॥३९४॥ ऐसी वायु वह रही है, हाथियों के सूँडों के अग्रभाग शीघ्र संचालित करनेवाली जिसने छिद्रवाले बाँसों के वनों का मध्यभाग छिद्रों में गाढ़रूप से शब्दायमान किया है और नवीन कदम्बवृक्षों के ऊपर बैठी हुई भोरियों को उच्च स्वर से गान कराती हुई जो मोरों के ताण्डव नृत्य का

---

† 'क्रीडत्कोककुलं' क०। १. समुच्चयालङ्कार। २. आक्षेपालङ्कार। ३. जाति-अलङ्कार।
४. उक्तं च—'अरुक् शुचिस्तथा दृष्टो निपुणश्चोल्लाघ इष्यते'। यश०सं०टी० पृ० ५४५ से संकलित—सम्पादक।
५. जाति-अलङ्कार। ६. जाति-अलङ्कार।

दधदिव हिमरम्यैः सीकरैरुत्प्रबोधं तपतपनवितापान्मूर्च्छितस्य स्मरस्य ।
वियदचलधराणामङ्गनिर्वाणहेतुर्जलदविजयजन्मा जृम्भते वायुरेषः ॥३९६॥

घनमलिनं कृतनिनदं पतदशनिशरं प्रचण्डसुरचापम् । करिकुलमिव संनद्धं वीक्ष्य नभो नो भयं कस्य ॥३९७॥

कक्ष्येव गगनकरिणः काञ्चीव नभःश्रियो वियद्देव्याः । मणिमालेव विराजति यष्टिरियं शक्रचापस्य ॥३९८॥

जलधिजलैः सह पीता ज्वाला इव वाडवस्य घनजठरात् । निर्गच्छन्त्यः प्राप्ताः परिणतिमेतास्तडिल्लेखाः ॥३९९॥

विचकिलमुकुलश्रीः कुन्तलेषु स्थितानां स्तनतटलुठितानां हारलीला च येषाम् ।
नवजलधरधाराबिन्दवस्ते पतन्तस्तव दधतु विनोदं योषितां केलिकाराः ॥४००॥

आशारुधि मदप्राये कमलानन्दनद्विषि । घनागमे च कामे च चित्रं यद्भुवनोत्सवः ॥४०१॥

पूर्वरङ्ग (नृत्य-प्रारम्भ) है[1] ॥३९५॥ हे राजन् ! ऐसी यह वायु संचार कर रही है, जो ऐसी मालूम पड़ती है—मानों—ग्रीष्मकालीन सूर्य के विशेष संताप से मूर्च्छित (प्रलय के अभिमुख) हुए कामदेव को शीतल जलबिन्दुओं द्वारा पुनरुज्जीवित कर रही है और जो आकाश, पर्वत एवं पृथिवी के शरीर के सुख-हेतु है तथा जिसकी उत्पत्ति मेघों को वृद्धिंगत करने के निमित्त है[2] ॥३९६॥ ऐसा आकाश देखकर कौन पुरुष भयभीत नहीं होता ? अपि तु सभी पुरुष भयभीत होते हैं, मेघों से श्यामलित (कृष्णवर्णशाली) हुए जिसने गर्जना की है और जिससे वज्ररूपी बाण गिर रहे हैं एवं उत्कट इन्द्र-धनुषशाली जो अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित हुआ उसप्रकार भयङ्कर प्रतीत होरहा है जिसप्रकार अस्त्रादि से सुसज्जित हुआ हाथियों का झुण्ड भयङ्कर प्रतीत होता है[3] ॥३९७॥

यह इन्द्रधनुष-यष्टि (दण्ड) उसप्रकार शोभायमान होरही है जिसप्रकार आकाशरूपी हाथी का जेवरबन्द सुशोभित होता है और जिसप्रकार आकाशरूपी लक्ष्मी की करधोनी सुशोभित होती है एवं जिसप्रकार आकाशरूपी देवता की मणि-माला शोभायमान होती है[4] ॥३९८॥ ये (प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवालीं) मेघों के मध्यभाग से निकलती हुई विद्युत-(बिजली) श्रेणियाँ ऐसी जान पड़ती हैं—मानों—समुद्र-जल के साथ पूर्व में पी गई बड़वानल अग्नि की ज्वालाएँ ही बिजली-श्रेणीरूप परिणमन को प्राप्त हुईं सुशोभित होरही हैं[5] ॥३९९॥ हे राजन् ! वे (जगत्प्रसिद्ध) स्त्रियों की क्रीड़ा करनेवाले नवीन मेघ की जलधाराओं (छटाओं) के जलबिन्दु गिरते हुए आपको हर्षित करें, जो (जलबिन्दु) स्त्रियों के केशपाशों पर स्थित हुए उसप्रकार शोभायमान होते हैं जिसप्रकार मोगरा की पुष्प-कलियाँ शोभायमान होती हैं और जो स्त्रियों के स्तनतटों पर लोटते हुए उसप्रकार सुशोभित होरहे हैं जिसप्रकार स्त्रियों के स्तनतटों पर लोटते हुए हार (मोतियों की मालाएँ) सुशोभित होते हैं[6] ॥४००॥ ऐसे मेघों के आगमन होनेपर और ऐसे कामदेव के अवसर पर पृथिवीलोक में जो महान् उत्सव देखा जाता है, यह आश्चर्य-जनक है। कैसा है मेघों का आगमन ? जो आशा-रुध (समस्त दिशा-समूहों को रोकनेवाला) है। जो मदप्राय (हर्षजनक या अहंकारप्राय) है और जो कमलानन्दन-द्विट् (श्री सूर्य का शत्रुप्राय) है, क्योंकि मेघ-घटाएँ सूर्य को आच्छादित कर देती हैं। अथवा जो कमलिनी को तिरस्कृत (विकास-हीन) करता है। कैसा है कामदेव ? जो आशारुध् (तृष्णाजनक) है। जो मदप्राय (वीर्य की अधिकता-युक्त) है और जो कमलानन्दन-द्विट् (लक्ष्मी की समृद्धि से द्वेष करनेवाला) है। अभिप्राय यह है कि कामदेव के

---

१. रूपकालङ्कार। २. उत्प्रेक्षालङ्कार। ३. श्लेष, उपमा व आक्षेपालङ्कार। ४. उपमालङ्कार। ५. उत्प्रेक्षालङ्कार।
६. उपमालङ्कार।

किं च। रामाः कामप्रकामाः सुकविकृतिकथादोहदा वाग्विवादाः सौधोत्सङ्गाः सभोगास्तरुणतरुदलोल्लासकान्ता दिगन्ताः।
यस्मिंश्चासारवारिप्रवदनणुकणश्रेणिसाराः समीराः सोऽयं मोदाय राजन्न भवति समयः कस्य पर्जन्यजन्यः ॥४०२॥

इत्यकालजलदवन्दिविनोद्यमानमनाः क्रीडाचलमेखलानिलयिनि दिग्वलयविलोकविलासनाम्नि धाम्नि समं सेवासमागतसमस्तसामन्तसमाजेन प्रवीरपुरुषपरिषत्परिवारितः पुष्करावर्तप्रमुखमेघमाननीयां वर्षर्तुश्रियं यावदहमनुभवन्स-प्रमोदमासांचक्रे, तावत्संधिविग्रही 'देव, पञ्चालमण्डलपतेरचलस्य दुकूलनामा दूतः समागतः, तिष्ठति च प्रतीहारभूमौ' इति विज्ञाप्य प्रावेशयत्। उपावेशयच्च यथानिबन्धमाचरितोपचारं तदुचिते देशे। 'दूत, प्रदर्श्यतामस्मै प्रभवे ते प्रभुप्रहितं प्राभृतम्। शासनहर, समर्प्यतां शासनम्।' उभौ तथा कुरुतः। संधिविग्रही दूतदर्शनात्प्रत्यभिज्ञाय तन्नगरनिवासिना तापसव्यञ्जनेन जाबालनाम्ना 'अयं हि राजा गजबलप्रधानत्वादचिरादेव भवद्भिः सह विजिगीषुव्यापारो वर्तते। तदत्र

चक्कर में उलझा हुआ कामी पुरुष लक्ष्मी-वृद्धि रोक देता है[1] ॥४०१॥ हे राजन्! वह जगत्प्रसिद्ध व प्रत्यक्ष प्रतीत हुआ मेघोत्पादक समय (वर्षाऋतु) किस पुरुष को प्रमुदित नहीं करता? अपि तु सभी को प्रमुदित करता है, जिसमें स्त्रियाँ काम से परिपूर्ण होती हैं। जिसमें अच्छे कवियों (जिनसेन व गुणभद्र-आदि) के काव्यग्रन्थ संबंधी रामायण-आदि चरित्रों के श्रवण में मनोरथवाले वचन-युद्ध पाये जाते हैं। जिस ऋतु में राजमहलों की उपरितन भूमियाँ (छज्जाएँ या छत) भोगों (पुष्पमालाएँ और कामिनी-आदि) से व्याप्त होती हैं और जिसमें समस्त दिशा-समूह नवीन वृक्षों के पत्तों की उत्पत्ति के फलस्वरूप मनोहर होते हैं एवं जिसमें वायुएँ वेगपूर्ण वृष्टि के जलों से क्षरण होते हुए स्थूल जलबिन्दु-श्रेणियों से समग्र होती हैं[2] ॥४०२॥

अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज! ऐसा मैं, जिसका मन 'अकालजलद' नामके स्तुतिपाठक की उक्तप्रकार स्तुति द्वारा क्रीडाशाली किया जारहा था और जो विशेष वीरपुरुषों (सहस्रभट, लक्षभट व कोटिभट योद्धाओं) की सभा से वेष्टित था एवं 'पुष्करावर्त'[3]-आदि नाम के मेघों से माननीय वर्षा ऋतु का अनुभव (उपभोग) करता हुआ क्रीड़ापर्वत के तटवर्ती 'दिग्वलयविलोकविलास' नामके महल पर सेवार्थ आए हुए समस्त राज-समूह के साथ जबतक हर्षपूर्वक स्थित था, उसी अवसर पर 'सन्धिविग्रही' नामके मेरे प्रधान दूत ने मुझे निम्नप्रकार सूचित किया—कि 'हे राजन्! 'पञ्चाल' (द्रौपदी के जन्मस्थानवाला देश) देश के स्वामी 'अचल' नामके राजा का 'दुकूल' नामका दूत आया है और सिंहद्वार पर स्थित है'। तदनन्तर मेरे प्रधानदूत ने उस राजदूत को मेरी राज-सभा में प्रविष्ट किया और नमस्कार-आदि शिष्ट व्यवहार करनेवाले उस 'दुकूल' नामके दूत को मेरी आज्ञापूर्वक उसके योग्य स्थान पर बैठाया। तत्पश्चात् मेरे 'सन्धिविग्रही' नामके प्रधान दूत ने उससे कहा—'हे दूत! तुम्हारे स्वामी 'अचल' नामके राजा द्वारा भेजी हुई भेंट मेरे स्वामी यशोधर महाराज के लिए दिखलाओ और हे शासनहर—लेख लानेवाले! उक्त महाराज के लिए 'लेख' दीजिए,। तत्पश्चात्—उक्त दोनों ने वैसा ही किया। अर्थात्—'अचल' राजा के दूत ने और लेख लानेवाले ने यशोधर महाराज के लिए क्रमशः भेंट व लेख समर्पित किए। तदनन्तर यशोधर महाराज के प्रधानदूत ने उक्त राजदूत को देखकर 'अचल' राजा के नगर में निवास करनेवाले व तपस्वी वेष के धारक 'जाबाल' नाम के गुप्तचर द्वारा प्रकट की हुई निम्नप्रकार की बात का स्मरण किया—'इस 'अचल' नाम के राजा के पास हाथियों की सेना अत्यधिक पाई जाती है,

१. श्लेषोपमालङ्कार। २. जाति-अलंकार।
३. तथाचोक्तम्—'मेघाश्चतुर्विधास्तेषां द्रोणाख्यः प्रथमो मतः। आवर्तपुष्करावर्तस्तुर्यः संवर्तकस्तथा ॥ १ ॥'
यशस्तिलक संस्कृतटीका पृ० ५४९ से संकलित—सम्पादक

यदुचितं तदाचरितव्यम्' इति, प्रहितं गोलकार्थं निर्वर्ण्य च, पुरस्तान्निवेशितं प्रादेशनं शासनं च, 'अये, विग्रहाग्रहग्रहिल एव स महीपालः प्राभृततन्त्रमेतत्पत्त्रं च प्राहिणोत्। तथा ह्यनयोर्मण्डलाग्रमुद्राङ्कितो वेष्टनचतुष्टयनिष्टङ्कितश्च बहिःप्रकाशः संनिवेशः। तदलमनेन विषमविषदोषकालुष्यवितर्ककर्कशाभिनिवेशेनोपायनेन, शत्रुयशःप्रकाशपिशुनेन चानेन विलोकितेन लेखेन। श्रूयते हि किल—मणिकरण्डकविन्यस्तवपुषा कृत्रिमेणाशीविषविषधरेण धिषणो दुर्धर्षम्, देवाङ्गवस्त्रवासनिषेकेण च स्पर्शविषेण कणपः कृपाणं राजानं जघान' इत्यनुध्याय, 'को हि नाम धीमाञ्शस्त्रव्यापारसमाधौ द्विषद्व्याधौ मृदुनोपायेन भिषज्येत' इति च विचिन्त्य ससौष्ठवं तं दूतमेवमवादीत्—

'नासोद्घासनमार्गमुण्डनशिखामालूरबन्धक्रमः कण्ठे शीर्णशरावदामकलनं कात्रेयकारोहणम्।
दूतान्यश्च न ते निकारपरुषः कोऽप्यत्र कार्यो विधिस्तत्स्वस्थो वद वाचिकं निजपतेर्लेखस्त्वयं तिष्ठतु' ॥१०३॥

इसलिए यह निश्चय से शीघ्र ही यशोधर महाराज के साथ युद्ध करने की इच्छा कर रहा है, अतः पञ्चाल-नरेश (अचल-राजा) के प्रति उचित कर्तव्य (युद्ध करना) पालन करना चाहिए।'

तत्पश्चात्—मेरे प्रधान दूत ने पञ्चालनरेश द्वारा भेजे हुए गोलकार्थ (लोह-गोलक का प्रयोजन—अचलनरेश किसी के द्वारा विदारण करने के लिए अशक्य है) और सामने स्थापित की हुई भेंट व लेख पर निम्नप्रकार विचार करके क्रोध व खेदपूर्वक कहा—'उस 'अचल' नाम के राजा ने यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली प्रधान भेंट और यह पत्र (लेख) भेजा है, इससे मैं जानता हूँ कि वह यशोधर महाराज के साथ संग्राम करने के आग्रह (हठ) में उलझा हुआ है। लेख व भेंट इन दोनों में से क्रमशः लेख का सन्निवेश (स्थिति) मण्डलाग्रमुद्राङ्कित—खड्गचिन्ह-सहित है। अर्थात् तलवार की छाप से चिह्नित होने के फलस्वरूप युद्ध सूचित करता है और भेंट का संनिवेश (स्थिति) वस्त्रचतुष्टय-वेष्टित है। इसका अभिप्राय यह है कि वस्त्रचतुष्टय-वेष्टित भेंट इस बात की सूचना देती है कि शत्रु हाथी, घोड़े, रथ व पैदलरूप चतुरङ्गसेना द्वारा यशोधर महाराज को वेष्टित करना चाहता है। इसप्रकार उक्त दोनों (लेख व भेंट) की स्थिति वाह्य में अर्थ (प्रयोजन) प्रकट करनेवाली है; इसलिए पञ्चाल-नरेश द्वारा भेजी हुई ऐसी भेंट से क्या लाभ है ? अपितु कोई लाभ नहीं, जिसमें अप्रीतिकर जहर का दोष होने से कलुषता-विचार से कठोर अभिप्राय पाया जाता है एवं इस प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले लेख के बाँचने से भी क्या लाभ है ? अपितु कोई लाभ नहीं, जो कि शत्रुभूत राजा (अचल नरेश) की कीर्ति को प्रकट करने का निरूपण करता है। क्योंकि उक्त बात के समर्थक निम्नप्रकार उदाहरण श्रवण किये जाते हैं—'धिषण' नाम के राजा ने मणिमयी पिटारे में स्थापित शरीरवाले और कृत्रिम (विज्ञान द्वारा उत्पादित) आशीविष (जिसकी दाढ़ में जहर होता है) सर्प द्वारा 'दुर्धर्ष' नामके राजा को मार डाला और 'कणप' नामके राजा ने 'कृपाण' नामके राजा को ऐसे दिव्य वस्त्र की सुगन्धि द्वारा, जिसके छूनेमात्र से जहर चढ़ता था, मार डाला।

तत्पश्चात् यशोधर महाराज के प्रधान दूत ने यह विचार करके 'कौन बुद्धिमान् पुरुष शस्त्र-प्रहार द्वारा शान्त होनेवाली शत्रुरूपी व्याधि की कोमल (लेप-आदि—शत्रुराजा के पक्ष में सामनीति) उपाय द्वारा चिकित्सा करेगा ? अपितु कोई नहीं करेगा'। स्पष्ट वचनपूर्वक उस राजदूत से निम्नप्रकार कहा—

'हे दूत ! हम लोग तुझे तिरस्कृत करनेवाले निम्नप्रकार कार्य तेरे साथ करेंगे। उदाहरणार्थ—क्रमशः तेरी नाक काटना, सिर बचाकर छुरा द्वारा सिर-मूँडना, चोटी पर बेल के फल बाँधना तथा तेरी गर्दन पर टूटे हुए मिट्टी के खप्परों की माला बाँधना और गधी पर सवार करना। इन्हें छोड़कर

अपि च—को नु खलु विचारचतुरचेताः पर्याप्तशौर्यस्रोता वा यथार्थवादोचिते दूते विकुर्वीत। यतो दूतोक्तिसूत्राणि खलु महीपतीनां व्यवहारतन्त्राणि प्रवर्तन्ते, दूतायत्तप्रभवाश्च संधिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः। पर्याप्तमथवात्र पर्यनुयोगानुसारेण*। विदित एव तवेङ्गिताकाराभ्यां भवद्भर्तुरभिप्रायः। देवश्चैष यदियन्ति दिनानि तस्मिन् समाचरितबहुचापलेऽप्यचले गजोन्मीलनवृत्तिं बिभरांबभूव किल। तत्र तदीयाम्नायजन्मभिर्भूमिपातिभिश्चिराय पुराचरितातीतपरमेश्वरचरणाराधनानिबन्धनम्। इदानीं च स यदि स्वयमेव देवस्य प्रतापानलज्वालासु शलभशालिनीं श्रियमाश्रयितुमिच्छति, तदासौ सिंहसटाचामरैरिव विलसितुम् आशीविषविषधरशिरोमणिभिरिव मण्डनं कर्तुम् मदान्धगन्धसिन्धुरदन्तवलयमिव

तेरे तिरस्कार से कठोर कार्य तेरे साथ नहीं करेंगे, इसलिए तू निशङ्क होकर अपने स्वामी (अचल राजा) का मौखिक संदेश कह और अपने स्वामी का लेख रहने दे'' ॥४०३॥

तत्पश्चात्—हे मारिदत्त महाराज! मैंने अपने प्रधानदूत के निम्नप्रकार वचन श्रवण किए—

विचार से विचक्षण मनवाला व शूरता के पूर्ण प्रवाह से व्याप्त हुआ कौन पुरुष निश्चय से सत्यवादी दूत को मिथ्यावादी कर सकता है? अपि तु कोई नहीं कर सकता। क्योंकि निश्चय से राजाओं की व्यवहार-प्रवृत्तियाँ दूतों द्वारा कहे हुए सूचित करनेवाले वाक्यों से व्याप्त हुई कर्त्तव्यमार्ग में प्रवृत्त होती हैं एवं उनके सन्धि (बलिष्ठ शत्रुभूत राजा के लिए धनादि देकर मैत्री करना), विग्रह (युद्ध करना), यान (शत्रुभूत राजा पर सेना द्वारा चढ़ाई करना), आसन (सबल शत्रु को आक्रमण करते हुए देखकर उसकी उपेक्षा करना—उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र किले वगैरह में स्थित होना), संश्रय (बलिष्ठ शत्रु द्वारा देश पर आक्रमण होनेपर उसके प्रति आत्म-समर्पण करना) और द्वैधीभाव (बलवान् और निर्बल दोनों शत्रुओं द्वारा आक्रमण किये जाने पर विजिगीषु को बलिष्ठ के साथ सन्धि और निर्बल के साथ युद्ध करना चाहिए अथवा बलिष्ठ के साथ सन्धिपूर्वक युद्ध करना एवं जब विजिगीषु अपने से बलिष्ठ शत्रु के साथ मैत्री स्थापित कर लेता है पुनः कुछ समय बाद शत्रु के हीनशक्ति होनेपर उसीसे युद्ध छेड़ देता है उसे बुद्धि-आश्रित 'द्वैधीभाव' कहते हैं, क्योंकि इससे विजिगीषु की विजयश्री निश्चित रहती है) इनकी उत्पत्ति भी दूत के अधीन होती है। अर्थात्—विजयश्री के इच्छुक राजा लोग अपने प्रधान दूत की सम्मति या विचार से ही शत्रुभूत राजाओं के साथ उक्त सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय व द्वैधीभावरूप षाड्गुण्य नीति का प्रयोग करते हैं। अथवा शत्रुराजा का मौखिक संदेश पूँछने से भी क्या लाभ है? अपि तु कोई लाभ नहीं; क्योंकि तेरे (दूत के) इङ्गित (मानसिक अभिप्राय के अनुसार चेष्टा करना) और नेत्र व मुख की विकृतिरूप आकार द्वारा मैंने (यशोधर महाराज के प्रधानदूत ने) आपके स्वामी 'अचल' नरेश का अभिप्राय जान लिया है। आपके द्वारा प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले इन यशोधर महाराज ने जो इतने दिनों तक बहुत अपराध करनेवाले भी तुम्हारे अचल राजा का तिरस्कार धारण (सहन) किया, उस तिरस्कार-सहन करने में अचल राजा के वंश में जन्मधारण करनेवाले पूर्व राजाओं द्वारा बहुत समय तक की हुई प्रस्तुत यशोधर महाराज के पूर्ववंशज राजाओं (यशोर्घ व यशोबन्धु-आदि सम्राटों) के चरणकमलों की सेवा ही कारण है। इस समय यदि वह (अचल राजा) स्वयं ही यशोधर महाराज की प्रतापरूपी अग्नि-ज्वालाओं में पतङ्गा के समान नष्ट होनेवाली राज्यलक्ष्मी प्राप्त करने की इच्छा करता है तो उस समय में यह अचल राजा उसप्रकार राज्यश्री की इच्छा करता है जिसप्रकार वह सिंह की सटाओं से बने हुए चँमरों के दुरवाने की इच्छा करता है। अर्थात्—जिसप्रकार सिंह-सटाओं के चँमर दुरवाना घातक है उसीप्रकार यशोधर महाराज की राज्यश्री की कामना भी अचल नरेश के घात का

*'रागेण' सटी० पुस्तकपाठः। १. समुच्चयालङ्कार।

मदोद्धतेभेन्द्रकुम्भस्थलं नखैरुत्खेलितुम् प्रलयकालानलमिव पाणिपल्लवेन निवारयितुम् ×मकराकरमिव बाहुभ्यां तरितुम् गगनमिव फालेन लङ्घयितुम् मन्दरमिव करतलेन तोलयितुम् महेश्वरपरशुमिवादर्शतां नेतुम् आदिवराहदंष्ट्रामुक्ताफलमिव चाभरणायाक्रष्टुमभिलषति। यतो निजराष्ट्रकण्टकोत्पाटनदुर्ललितबाहुबलः संप्रत्ययापि न जानात्यसावचलः परमेश्वरस्य विक्रमविलसितानि, यान्येवं स्वयं विनोदस्याश्चर्यशौर्यसंरम्भपुलकितवपुर्निजानुजव्याज+स्फुटितविदारितहिरण्यकशिपुः सुरपतिर्वीरक्षत्रियकथावतारेषु। तथा हि—

> वैकुण्ठः कुलकीर्तनं कमलभूर्दर्भप्रगल्भाङ्गुलिर्न स्त्री नैव पुमानुमापतिरयं चन्द्रो निशासेवकः।
> हेलिः केलिसरोजबन्धुरनिलः क्रीडाश्रमे चाटुमान्यस्येत्थं गणनामरेषु विजयी तस्याहवे कोऽपरः ॥४०४॥

अपि च। याः पूर्वं रणरङ्गसंगमभुवो यस्यासिधारापयःपातप्रेतसपत्नसंततिशिरःश्रेणिश्रिताः क्षीणताम्।
याताः कङ्कालकपालिभूषणभरारम्भाः पुनस्ता मुहुर्जायन्तां [1]त्वदनीककीकसजुषः पूर्वश्रियोऽस्याहवे ॥४०५॥

कारण है। वह उसप्रकार राज्यश्री की कामना करता है जिसप्रकार आशीविष सर्प की फणा के रत्नों से आभूषण बनाने की इच्छा करता है और वह उसप्रकार राज्यलक्ष्मी प्राप्त करने की इच्छा करता है जिसप्रकार मदोन्मत्त व सर्वोत्तम हाथी के दन्तमण्डल को नखों से उखाड़ने की इच्छा करता है। इसीप्रकार उसकी राज्यलक्ष्मी के प्राप्त करने की कामना उसप्रकार घातक है जिसप्रकार उसकी प्रलयकालीन अग्नि को अपने हस्तरूप कोमल पत्ते से निवारण करने की इच्छा घातक होती है। वह उसप्रकार राज्यश्री प्राप्त करना चाहता है जिसप्रकार वह महासमुद्र को अपनी भुजाओं से तैरने की इच्छा करता है और जिसप्रकार वह उछलकर कूँदने द्वारा अनन्त आकाश को उल्लङ्घन करना चाहता है एवं जिसप्रकार वह सुमेरु पर्वत को हस्ततल से जानने की इच्छा करता है जिसप्रकार वह श्रीमहादेव जी के कुठार को दर्पण बनाना चाहता है। इसीप्रकार वह उसप्रकार राज्यश्री की इच्छा करता है जिसप्रकार विष्णु के वराह-अवतार की दाँढरूपी मोती को मोतियों की मालारूप कण्ठाभरण बनाने के हेतु खींचना चाहता है; क्योंकि तुम्हारा स्वामी अचलराजा, जिसकी भुजाओं का बल अपने देश के क्षुद्र शत्रुओं को जड़ से उखाड़ने में शक्ति-हीन है, यशोधर महाराज के उन पराक्रम-विलासों (विस्तारों) को अब भी नहीं जानता, जिन्हें ऐसा इन्द्र स्वयं अपने श्रीमुख से वीर क्षत्रिय राजाओं के वृत्तान्त के अवसरों पर निम्नप्रकार प्रशंसा करता है, जिसका शरीर आश्चर्यजनक शूरता के आरम्भ से रोमाञ्चशाली है और जिसने नृसिंहावतार के अवसर पर श्री नारायण के छल से खम्भे से निकलने द्वारा हिरण्यकशिपु (प्रह्लाद का पिता) नाम के दैत्य-विशेष के दो टुकड़े किये हैं—फाड़ डाला है।

अरे दूत! देवताओं में इसप्रकार की मान्यतावाले यशोधर महाराज के साथ दूसरा कौन पुरुष युद्धभूमि में विजयश्री प्राप्त करनेवाला होसकता है? अपि तु कोई नहीं होसकता। उदाहरणार्थ—श्रीनारायण जिसका गुणगान करनेवाले (स्तुतिपाठक) हैं, ब्रह्मा जिसके पुरोहित हैं, श्रीशिव, जो कि न स्त्री हैं और न पुरुष हैं। अर्थात्—नपुंसक होते हुए भी जिसकी प्रशंसा करते हैं, चन्द्रमा जिसकी रात्रि में सेवा करता है और सूर्य जिसका क्रीड़ाकमल विकसित करता है एवं वायुदेवता स्त्रियों के रमण-खेद में चाटुकार करता है। अर्थात्—प्रिय करके स्तुति करता हुआ खेद नष्ट करता है[2] ॥४०४॥ प्रस्तुत यशोधर महाराज की विशेषता यह है—कि जो युद्धाङ्गण की संगमभूमियाँ, पूर्वकाल में जिस यशोधर महाराज की तलवार के अग्रभागवर्ती जल में डूबने से मरे हुए शत्रु-समूहों की मस्तक-श्रेणियों से व्याप्त थीं और खोपड़ियों के आभूषणों (मालाओं) के भार का आरम्भ रचनेवाली होने से खाली (जन-शून्य) होचुकी

× 'रत्नाकरमिव बाहुभ्यां तरीतुं' क०। + 'मूलप्रतौ 'स्फुटित' नास्ति।

१. 'तदनीक' स्यात्। २. अतिशयोक्ति-अलंकार।

इति संधिविग्रहिणः, तथैतद्वचनाद्विदितदूतहृदयानाम् अपरिमितकोपप्रसरावधीरितासपुरुषालापार्गलानाम् ससंरम्भमन्योन्यसंघट्टत्रुटत्कोटीरकोटिघटितमाणिक्यनिकरकीर्णतया स्वकीयावलेपानलस्फुलिङ्गज्वलितमिव कुट्टिमतलं कुर्वताम् इतस्ततः समुच्छलितापतन्मुक्ताफलप्रकराभिरारसनहारयष्टिभिरागामिजन्यजयसमयावसरसुरसुन्दरीकरविकीर्णकुसुमवर्षमिव प्रकाशयतां वीराणां चान्योन्यालापालोकनव्याजेन वचांस्याकर्णयांबभूव। तथाहि—तत्र तावत्कोदण्डमार्तण्डः साटोपं सपत्नवंशविनाशपिशुनभ्रुकुटिभङ्गनिर्भरभालस्वेदजलेन ज्यां मार्जयन् हस्तग्राहं तं दूतमेवमभाषिष्ट—

'श्रीपदं मित्रपक्षाणां खरदण्डं च विद्विषाम्। देवस्यास्य पदाम्भोजद्वयं शिरसि धार्यताम् ॥४०६॥

नो चेत्कोदण्डमार्तण्डकाण्डखण्डितमस्तकः। यास्यस्याजौ स ते स्वामी रुण्डताण्डवडम्बरम्' ॥४०७॥

थीं वे (युद्धाङ्गण की संगम भूमियाँ) फिर से यशोधर महाराज के साथ किये जानेवाले युद्ध में शत्रुभूत अचलराजा की सेना में मरे हुए वीरों की हड्डियों को धारण करनेवाली होकर पूर्व की लक्ष्मी (शोभा) की धारक होवें। अर्थात्—यशोधर महाराज की तलवार के अग्रभागवर्ती पानी में डूबने से मरे हुए शत्रु-समूहों की मस्तक-श्रेणियों से व्याप्त होने की शोभावालीं होवें[1] ॥ ४०५ ॥

अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज ! किसी अवसर पर मैंने (यशोधर महाराज ने) जिसप्रकार अपने प्रधान दूत के उपर्युक्त वचन श्रवण किये थे उसीप्रकार ऐसे वीर पुरुषों के निम्नप्रकार वचन उनके परस्पर के वचनों को देखने के बहाने से श्रवण किये, जिन्होंने यशोधर महाराज संबंधी प्रधान दूत के उपर्युक्त वचनों द्वारा 'अचल' नरेश के 'दुकूल' नाम के दूत का अभिप्राय जान लिया था और जिन्होंने मर्यादा को उल्लङ्घन करनेवाले क्रोध-विस्तार द्वारा गुरुजनों की निषेध (युद्ध रोकनेवाली) वचनरूपी परिघा (किवाड़ों का बेड़ा) तिरस्कृत की थी एवं वहाँ की बद्धभूमि पर वीर पुरुषों के क्रोधपूर्वक परस्पर के संचलन (धक्का-धक्की) से टूटते हुए मुकुटों के अग्रभागों पर जड़े हुए माणिक्यों (लालमणियों) का समूह बिखरा हुआ था, इसलिए वह भूमितल ऐसा मालूम होरहा था—मानों—वे वीरपुरुष अपने मद या क्रोधरूपी अग्नि-ज्वालाओं से उसे प्रज्वलित कर रहे हैं और जो (वीर पुरुष) घुटनों तक लम्बी पहनी हुई मोतियों की मालाओं से, जिनके प्राप्त हुए मोतियों के समूह यहाँ-वहा उछल रहे थे, ऐसे मालूम पड़ते थे—मानों—वे भविष्य में होनेवाली युद्ध-विजय की वेला (समय) के अवसरों पर देवियों के करकमलों द्वारा फेकी हुई (की हुई) पुष्पवृष्टि ही प्रकाशित कर रहे हैं। अथानन्तर उन वीरों के मध्य में अनुक्रम से 'कोदण्डमार्तण्ड' नाम के वीर पुरुष ने आडम्बर सहित शत्रु-कुटुम्ब का नाश-सूचक भ्रुकुटि-भङ्ग (भोंहों का चढ़ाना) पूर्वक गाढ़ मस्तक के स्वेद-जल द्वारा धनुष-डोरी उल्लासित करते हुए उसे ('अचल' नरेश के 'दुकूल' नाम के दूत को) हाथ से पकड़ कर निम्नप्रकार कहा—

'हे 'दुकूल' नाम के दूत ! इस यशोधर महाराज के दोनों चरणकमल, जो कि मित्रों को लक्ष्मी-मन्दिर (लक्ष्मी देने के स्थान) हैं और जिनमें शत्रुओं को तीव्र दण्ड देने की सामर्थ्य है, मस्तक पर धारण करो। यदि ऐसा नहीं करोगे (यदि तुम्हारा 'अचल' नरेश उक्त महाराज के दोनों चरणकमल मस्तक पर धारण नहीं करेगा) तो वह तेरा स्वामी (अचल नरेश) 'कोदण्डमार्तण्ड' नाम के वीर के बाण द्वारा विदीर्ण किये गये मस्तकवाला होता हुआ युद्धभूमि पर कबन्ध (बिना शिर का शरीर-धड़ के बाहुदण्डों को विस्तृत नचानेवाला होगा'[2] ॥ ४०६-४०७ ॥

---

१. हेतु–अलंकार। २. वीररसप्रधान जाति-अलंकार।

परशुपराक्रमः सावज्ञं पाणिना परश्वधं निर्नेनिजानस्तथैव—

'हठविलुठितमौलिः पादपीठोपकण्ठे न भवति शठवृत्त्या मत्पतेर्यः सपत्नः।
जयजरठितमूर्तिर्मामकस्तस्य तूर्णं रणशिरसि कुठारः कण्ठपीठीं छिनत्ति' ॥४०८॥

मुद्गरप्रहारः सावष्टम्भं करतलेन मुद्गरमुल्लासयन्—'अहो दूत, निवेदयेदं मद्वचनं तस्य सकलदुराचारलोकहेठस्य प्रक्षरल्लक्ष्मीसमागमोत्कण्ठस्य।

कपटभटविभीषाचेष्टितैर्नो बिभीयां तदलमिह मुधोर्जावर्जनस्फूर्जितेन।
यदि सुभटघटायां त्वं पटिष्ठप्रतिष्ठः सपदि मम रणाग्रे †मुद्गरस्याग्रतः स्याः' ॥४०९॥

करवालवीरः ‡सक्रोधः करेण करवालं तरलयन्—'अध्वग, साध्ववधार्यताम्।

अखर्वगर्वदुर्वारवीर्यपर्यस्तमानसः। मदीयस्वामिसेवासु यः कोऽपि हृतसाहसः ॥४१०॥
विपक्षपक्षक्षयदक्षदीक्षः कौक्षेयको मामक एष[1] तस्य।
रक्षांसि वक्षःक्षतजैः क्षरद्भिः प्रतीक्षते ÷ऽक्षुण्णतया रणेषु' ॥४११॥ (युग्मम्)

इसके अनन्तर '**परशुपराक्रम**' नाम के वीर पुरुष ने हाथ से कुठार परिमार्जित करते हुए उक्त 'कोदण्डमार्तण्ड' नाम के वीरपुरुष के समान उस दूत को हाथ से पकड़ कर उससे अनादरपूर्वक निम्नप्रकार वचन कहे—'जो शत्रु दुष्ट वर्ताव के कारण मेरे स्वामी यशोधर महाराज के सिंहासन के समीप में हठ से भूमि पर मस्तक झुकानेवाला नहीं होता, उसकी प्रशस्त गर्दन को मेरा कुठार, जिसका स्वरूप संग्राम में विजयश्री प्राप्त करने से कठिन है, संग्राम-मस्तक पर शीघ्र विदीर्ण कर देता है—दो टुकड़े कर डालता है'[2] ॥ ४०८ ॥

अथानन्तर '**मुद्गरप्रहार**' नाम के वीर योद्धा ने क्रोधपूर्वक हस्ततल से मुद्गर को उल्लासित करते हुए उस दूत से इसप्रकार वचन कहे—'हे दूत! तू उस 'अचल' नाम के नरेश से, जो कि समस्त दुराचारों (पापों) के कारण लोक में हेठ* (अमुख्य—जघन्य) है और जिसकी लक्ष्मी-समागम की इच्छा नष्ट होरही है, मेरा यह निम्नप्रकार वचन कहना—

हे दूत! झूँठीं वीर योद्धाओं की घातक क्रियाओं से मैं (मुद्गरप्रहार) भयभीत नहीं होसकता, इसलिए इस मुद्गरप्रहार' नामके वीर योद्धा के प्रति किये जानेवाले निरर्थक बल के आदर-स्फुरण (फड़कने) से तेरा कोई लाभ नहीं। इसलिए यदि वीर योद्धाओं के समूह में तुम (अचल राजा) विशेषरूप से पटुतर प्रस्थान या महिमावाले हो तो शीघ्र ही युद्धभूमि के अग्रभाग पर मेरे मुद्गर के सामने उपस्थित होओ'[3] ॥ ४०९ ॥

तत्पश्चात् '**करवालवीर**' नामके वीर योद्धा ने कुपित होकर हाथ से तलवार को कम्पित करते हुए कहा—'हे दुकूल! सावधानीपूर्वक सुन।

'हे दूत! जो कोई भी पुरुष, जिसका चित्त गुरुतर (महान्) अहङ्कार और दुर्वार (न रोकी जानेवाली) शक्ति से पतित है, मेरे स्वामी यशोधर महाराज के चरणकमलों की आराधनाओं में अपना उद्यम नष्ट करनेवाला होता है, उसके हृदय से प्रवाहित होते हुए हृदय-रुधिरों से यह प्रत्यक्ष दिखाई

---

† 'मुद्गरस्याग्रहः स्याः' क०। ‡ 'सक्रोधं' क०। १. 'एवं' मूलप्रतौ। ÷ 'क्षीणतया' क०। २ जाति-अलंकार।
* 'हेठस्य अमुख्यस्य' टिप्पणी ग०। ३. वीररसप्रधान जाति-अलंकार।

नाराचवैरोचनः सावेगं नाराचपञ्जरमवलोकमानः—
'पथिक कथय नाथस्यात्मनस्त्वं सभायामसमसमररङ्गे राक्षसोत्तालतालम्।
यदि तव विशिखाग्रैश्छिन्नमुण्डं न रुण्डं नटनपटु विदध्यां तत्कृशानुं विशामि' ॥४१२॥
चक्रविक्रमः साक्षेपं चक्रं परिक्रमयन्—'अहो वेदवैवधिक, शीघ्रमेवं प्रशाधि पञ्चालाधिपतिम्—
'दुर्गं मार्गय याहि वा जलनिधेरुत्तीर्य पारं परं पातालं विश खेचराश्रयवशस्त्वं वाऽभव क्षिप्रतः।
नो चेद् वैरिकरीन्द्रकुम्भदलनव्यासक्तरक्तं मुहुर्मुक्तं चक्रमकालचक्रमिव ते मूर्ध्नि प्रपाति ध्रुवम्' ॥४१३॥
कुन्तप्रतापः सकोपं कुन्त*मुत्तोलयन्—'द्विजापसद, सविशेषं निशाम्यताम्। यः कोऽपि दौरात्म्याद्देवसेवा-सूयहृदयः
ऋजुः सुवंशोऽपि मदीय एष कुन्तः शकुन्तान्तकतर्पणाय। निर्भिद्य वक्षः पिठरप्रतिष्ठां तस्यासृजा जन्यभुवं बिभर्ति ॥४१४॥

देनेवाली मेरी तलवार, जिसका व्रतधारण शत्रु-कुल को नष्ट करने में समर्थ है, युद्धभूमियों पर पूर्णरूप से राक्षसों की पूजा करती है—उन्हें सन्तुष्ट करती है'[1] ॥४१०-४११॥ (युग्मम्)

अथानन्तर 'नाराचवैरोचन' नामके वीर योद्धा ने क्रोधपूर्वक लोह-बाणों के भाते की ओर देखते हुए कहा—

'हे 'दुकूल' दूत! तुम सभा के मध्य अपने स्वामी 'अचल' नरेश से यह कहना कि मैं अद्वितीय या विषम संग्राम-भूमि पर यदि तुम्हारे 'अचल' राजा का कबन्ध (शिर-रहित शरीर के धड़), जिसका मस्तक मेरे बाणों के अग्रभागों द्वारा काटा गया है अथवा गिर गया है और जो राक्षसों के शीघ्रता-युक्त तालों (हस्त-ताडन क्रिया का मान) से व्याप्त है, नृत्य-चतुर न करूँ तो अग्नि में प्रविष्ट होजाऊँ'[2] ॥४१२॥ अथानन्तर 'चक्रविक्रम' नामका वीर योद्धा ललकारने के साथ चक्र घुमाता हुआ बोला—'हे वेदवैवधिक§ (वेदार्थ न जानने के कारण हे वेद-भार-वाहक जड़ब्राह्मण!) तुम शीघ्र ही पञ्चाल-नरेश ('अचल' राजा) से इसप्रकार कहो—

हे अचल! तुम अपनी रक्षा-हेतु दुर्ग (पर्वत, जल व वनादिरूप विषमस्थान) देखो, अथवा समुद्र का उत्कृष्ट किनारा उल्लङ्घन करके चले जाओ अथवा रसातल में प्रविष्ट होजाओ अथवा शीघ्र विद्याधर-लोक के अधीन होजाओ। यदि तुम ऐसा नहीं करोगे तो मेरा चक्र, जो कि अकाल (कुत्सित) काल-चक्र सरीखा भयङ्कर है और शत्रु-हाथियों का मस्तकपिण्ड चीरने के कारण जिसमें रुधिर लगा हुआ है एवं जो बार-बार प्रेरित किया गया है (छोड़ा गया है), निश्चय से तुम्हारे मस्तक पर गिरेगा'[3] ॥४१३॥

तत्पश्चात् 'कुन्तप्रताप' नाम के वीर योद्धा ने भाला कम्पित करते हुए क्रोधपूर्वक निम्नप्रकार कहा—'हे पतित ब्राह्मण! सावधानीपूर्वक सुन। जो कोई राजा दुष्ट स्वभाव-वश यशोधर महाराज की सेवा में मन कुपित करता है,

उसके प्रति प्रेरित किया हुआ मेरा यह भाला, जो कि सरल और शोभायमान बाँस वृक्ष से उत्पन्न भी हुआ है, गृद्ध-आदि पक्षियों व यमदेवता के संतुष्ट करने के हेतु पूर्व में उस पुरुष के वक्षःस्थलरूप वर्तन की शोभा को भङ्ग करके उसके रुधिर से संग्राम भूमि को पूर्ण (भरी हुई) करता है'[4] ॥४१४॥

ऽ'भवेः' क०। *'उत्तालयन्' क० ख० ग० घ०। १. वीररसप्रधान जाति-अलंकार। २. जाति-अलंकार।
§'वार्तावहो वैवधिकः' इत्यमरः। ३. वीररसप्रधान जाति-अलंकार अथवा उपमालंकार। ४. रूपकालंकार।

लाङ्गलगरलः सोल्लुण्ठालापं †लाङ्गलमुदानयमानः—'हे ×धीराः, कृतं भवतां समरसंरम्भेण। यस्मादिदमेकमेव

त्रुटद्तनुशिरान्ताः कीर्णकृत्तिप्रतानाः क्षरदविरलरक्तस्फारधारासहस्राः।

स्फुटदटनिकठोर+ष्टाकृतास्थीः समीके मम रिपुहृदयालीर्लाङ्गलं केलिखीति' ॥४१५॥

कणयकोणपः सामर्षं विहस्य—'अये दूत, सादरं श्रूयताम्। यद्यसौ तव प्रभुरस्मत्समसंभावनया देवसेवायां नानुकूलवृत्तिस्तदा नूनमेषः

हस्त्यश्वरथपदातिव्यत्ययासनवातघूर्णितक्षोणिः। यमपिशितकवलकरणि कणयः कार्यं करिष्यते तस्य' ॥४१६॥

त्रिशूलभैरवः सासूयं त्रिशूलं वल्गयन्—'दूत, ब्रूहि मद्वचनादेवमचलम्—

इदं त्रिशूलं तिसृभिः शिखाभिर्मार्गत्रयं वक्षसि ते विधाय। पातालमर्त्यत्रिदिवावतारां कर्ता रणे कीर्तिमिमां मदीयाम्' ॥४१७॥

असिधेनुधनंजयः सेर्ष्यमसिमात्सरुष्टौ पञ्चशाखं निधाय—'अहो ब्रह्मबन्धो, ममाप्येष एव सर्गो यस्मादज्ञातात्मस्थितेरराते र्न शस्त्रपातादन्यत्र प्रायश्चेतनमस्ति। ततः

अथानन्तर 'लाङ्गलगरल' नामके वीर सैनिक ने अहङ्कार-युक्त भाषणपूर्वक हल (शस्त्रविशेष) घुमाते हुए कहा 'हे स्वामिभक्त वीरपुरुषो! आपको युद्ध-आरम्भ करने से पर्याप्त है—कोई लाभ नहीं।

क्योंकि मेरा केवल हल ही युद्धभूमि पर ऐसी शत्रु-हृदय-पङ्क्तियों को विशेषरूप से खेद-खिन्न (क्लेशित) करता है, जिनकी महान् नसों के प्रान्तभाग टूट रहे हैं, जिनके विस्तृत चमड़े फैंक दिये गये हैं और जिनके खून की स्थूल हजारों छटाएँ आवाच्छिन्न होती हुई बरस रही हैं एवं जिनकी धनुष-कोटा (दोनों कोनों) के समान कठोर व ष्टा (कटकटाहट) शब्द करनेवाली हाड्डयों के सेकड़ों टुकड़े हो-रहे हैं'[1] ॥४१५॥

तत्पश्चात्—'कणयकोणप' नामके वीर योद्धा ने क्रोधपूर्वक हँसकर कहा—'अये दूत! तू सावधानी-पूर्वक मेरे वचन श्रवण कर। यद्यपि यह तुम्हारा स्वामी (दूरवर्ती 'अचल' नरेश), जिसे हमारे सरीखा संघटना-युक्त होना चाहिए। अर्थात्—जिसप्रकार मैं ('कणयकोणप') यशोधर महाराज का सेवक हूँ उसीप्रकार 'अचल' नरेश भी यशोधर महाराज का सेवक है। तथापि यदि यह (अचल नरेश) यशोधर-महाराज की सेवा करने में अनुकूलवृत्ति (हितकारक बर्ताव करनेवाला) नहीं है तो उस समय

निश्चय से यह मेरा प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला कणय (भूषण-निबन्धन आयुधविशेष), जिसने हाथी, घोड़े, रथ व पैदल सैनिकों के परस्पर क्षेपण (फैकने—गिराने) से उत्पन्न हुई वायु द्वारा पृथिवी घुमाई है—कम्पित की है, उसके शरीर का यमराज के मांस-ग्रास (कौर) का कारण (विधान) करेगा'[2] ॥४१६॥ तत्पश्चात्—'त्रिशूलभैरव' नामके वीर सैनिक ने त्रिशूल संचालित करते हुए क्रोधपूर्वक कहा—'हे दुकूल' नामके दूत! मेरे शब्दों में 'अचल' राजा से यह कहना—

प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला मेरा यह त्रिशूल अपनी तीन शिखाओं (चोटियों या अग्रभागों) से तेरे हृदयपटल के तीन मार्ग करके युद्धभूमि में मेरी इस कीर्ति को पाताललोक, मनुष्यलोक व स्वर्गलोक में अवतरण करनेवाली करेगा'[3] ॥४१७॥

अथानन्तर 'असिधेनुधनंजय' नामके वीर पुरुष ने क्रोधपूर्वक छुरी की मूँठ पर हाथ रखकर कहा—'हे ब्राह्मण-निकृष्ट दूत! मेरा भी यही निश्चय है। अर्थात्—अचलनरेश को नष्ट करना मेरा भी कर्तव्य

†'उदायमानः' क०। ×'वीराः' क०। +'ष्वा' क०।

१. उपमालङ्कार। २. जाति-अलङ्कार। ३. यथासंख्य-अलङ्कार।

वष्टि वष्टोत्तरं योऽत्र †दौष्ट्यावष्टम्भचेष्टनः। तडत्तडिति तस्यैषा शस्त्री त्रोटयते शिरः' ॥४१८॥

प्रासप्रसरः ससौष्ठवं प्रासं परिवर्तयन्—'पर्याप्तमत्राखापपरम्परया। तद्विप्र, एवमुच्यतां स दुर्नयायतनम्—

सूत्कारवित्रासितदिक्करीन्द्रः प्रासो मदीयः समराङ्गणेषु। सकङ्कटं त्वां च हयं च भित्त्वा यास्यत्ययं दूत इवाहिलोके' ॥४१९॥

गदाविद्याधरः सगर्वं गदामुत्तम्भयन्—

'दूतैवं विनिवेदयास्मविभवे द्वित्रैर्दिनैर्मत्प्रभुं पश्यागत्य यदि श्रियस्तव मता नो चेदियं दास्यति।

भ्रान्त्यावृत्तिविजृम्भितानिलबलोत्तालीकृताशागजा मूर्धानं झटिति स्फुटत्कलकलं त्वत्कं मदीया गदा' ॥४२०॥

असमसाहसः सदर्पोद्रेकम् 'द्विजाते, तं वदेवमासन्नशुचमसदाग्रहरुचम्—

तुलारणे द्वन्द्वरणे दिवारणे निशारणे कूटरणे परत्र वा। यदि प्रवीरस्त्वमिहैधि मे पुरो न गर्जितैः शौर्यकलेषु कीर्तयः' ॥४२१॥

है, क्योंकि अपनी मर्यादा न जाननेवाले शत्रु पर शस्त्र-प्रहार को छोड़कर उसके पाप-शोधन का दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। क्योंकि—

जो शत्रु इस संसार में दुष्टता की आधारभूत क्रियाओं से व्याप्त हुआ युद्ध करने की मुख्यता चाहता है (कहता है—टिप्पणीकार के अभिप्राय से भूमि व द्रव्यादि की वाञ्छा के मिष से उत्तर देता है परन्तु सेवा नहीं करता), उसका मस्तक यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली मेरी छुरी तड़तड़ायमान शब्दपूर्वक काट डालती है'[1]॥४१८॥

अथानन्तर 'प्रासप्रसर' नामके वीर पुरुष ने चतुरतापूर्वक भाला उठाते हुए निम्नप्रकार कहा—'इस राजसभा में वार वार विशेष भाषण करने से कोई लाभ नहीं, इसलिए हे ब्राह्मण दूत! तुम उस अचल नरेश से, जो कि पूर्णपाप का स्थान (अन्याय का मन्दिरप्राय) है, इसप्रकार कहना—

हे दूत! सूत्कारों (भयानक शब्दों) द्वारा दिग्गजों को भयभीत करनेवाला मेरा यह भाला संग्राम-भूमियों पर बख्तर-आदि धारण करके युद्ध-हेतु सुसज्जित हुए तुझ अचल नरेश को और तेरे घोड़े को विदीर्ण करके उसप्रकार पाताललोक को प्रस्थान करेगा जिसप्रकार पाताललोकवर्ती प्राणियों को जनाने के लिए दूत वहाँ प्रस्थान करता है'[2] ॥४१९॥

अथानन्तर 'गदाविद्याधर' नामका वीर पुरुष अहङ्कारपूर्वक गदा ऊपर उठाता हुआ बोला—

'हे दूत! तू अपने स्वामी 'अचल' राजा से इसप्रकार कहना—यदि तेरे लिए लक्ष्मियाँ अभीष्ट हैं। अर्थात्—यदि तू राज्यलक्ष्मी चाहता है तो दो या तीन दिनों के अन्दर मेरे स्वामी यशोधर महाराज के पास आकर उनके दर्शन कर। अन्यथा—यदि शरण में आकर उनका दर्शन नहीं करेगा—तो मेरी यह गदा, जिसने वार वार घूमने से फैली हुई वायु-बल से दिग्गजों को भागने-हेतु उत्कण्ठित किया है, तेरा मस्तक मस्तक-खंडों के शेषभागों को फोड़नेवाले व्यापारपूर्वक शीघ्र फोड़ डालेगी'[3] ॥४२०॥

तत्पश्चात्—'असमसाहस' नामके वीर पुरुष ने विशेष मद के साथ कहा—'हे द्विजाति (हे ब्राह्मण! अथवा श्लेष में दो पुरुषों से जन्म लेनेवाले हे दूत!) तू उस अचल राजा से, जिसके समीप शोक वर्तमान है और जिसका मन दुराग्रही है, इसप्रकार कहना—

हे 'अचल'! यदि तू बाहु-युद्ध, मल्लयुद्ध, दिवस-युद्ध, रात्रियुद्ध और मायायुद्ध एवं और किसीप्रकार के धनुर्युद्ध व खड्गयुद्ध-आदि में विशेष वीर है तो इस युद्धभूमि पर मेरे आगे युद्ध करने के लिए उपस्थित

---

†'दौष्ट्यविष्टंभचेष्टनः' क०। १. जाति-अलङ्कार। २. उपमालङ्कार। ३. अतिशयालंकार।

चतुरङ्गमल्लः समीमरभसमात्मानं निर्वर्ण्य 'अहो द्विजवंशपांसन, किमेतत्कदाचिदपि तव स्वामी नाश्रौषीत् यथाजातजगत्त्रयप्रतिमल्लश्चतुरङ्गमल्लः। तथा हि।

दोर्दण्डसंघट्टनतस्तुरङ्गान्पत्तीन्पुनः पादतलप्रहारैः। उरःस्थलस्थामविधेर्गजेन्द्रान्रथानथैकोऽपि निहन्ति युद्धे' ॥४२२॥

एवमपरेऽपि ‡‡रूढावलेपोत्तरङ्गभङ्गीभर्मिसंभारभरित ÷ भारभज्यमानभोगायतनवृत्तयो यथास्वकीयाङ्काहंकारं शक्तिकार्तिकेय-शङ्कशार्दूल-शतक्रतुविक्रम-शूरशिरोमणि-परबलप्रलयानल-प्रकटकन्दलादित्य-कपटकैटभाराति-सपत्नपुरधूमकेतु-सुभटघटाप्राकार-‡समरसिंहप्रभावप्रभृतयस्तस्य व्यलीकैश्वर्यपर्यायपर्यस्तमर्यादस्य नृप*यज्ञामन्त्रणाय संदिदिशुः।

सेनापतिस्तत्रावसरे पुनरेवमीहांचक्रे—'अहो धीराः,

अजातोचितवृत्तीनां पुंसां किं गलगर्जितैः। शूराणां कातराणां च रणे व्यक्तिर्भविष्यति ॥४२३॥

होओ, क्योंकि केवल ऊँचे चिल्लानेमात्र से वीरता से मनोहर वीर पुरुषों की कीर्तियाँ नहीं होतीं'[1] ॥४२१॥

तदनन्तर 'चतुरङ्गमल्ल' नामके वीर पुरुष ने भयङ्कर वेगपूर्वक अपने शरीर की ओर देखकर कहा—'ब्राह्मण-कुल कलङ्कित करनेवाले हे दूत! क्या तुम्हारे स्वामी (अचलनरेश) ने किसी भी अवसर पर यह बात उदाहरणरूप से नहीं सुनी? कि 'चतुरङ्गमल्ल' नामका वीर पुरुष ऐसा है, जिसके साथ लोहालेनेवाला प्रतिमल्ल (बाहुयुद्ध में कुशल शत्रुभूत योद्धा) तीन लोक में उत्पन्न नहीं हुआ।

अब 'चतुरङ्गमल्ल' नामका वीर पुरुष अपनी चतुरङ्गमल्लता का कथन करता है—

जो 'चतुरङ्गमल्ल' नामका वीरपुरुष भुजारूपी दण्डों के आघात से अकेला होकर के भी घोड़ों को मार डालता है, चरणतलों के प्रहारों द्वारा शत्रु के पैदल सेनिकों का घात करता है एवं वक्षःस्थल के शक्ति-विधान (प्रयोग) द्वारा शत्रु के श्रेष्ठ हाथियों को नष्ट कर देता है पुनः अकेला ही युद्धभूमि में रथ चूर-चूर कर डालता है[2] ॥४२२॥

इसीप्रकार यशोधरमहाराज के दूसरे भी वीर पुरुषों ने, जिनकी शारीरिक वृत्तियाँ प्रसिद्ध गर्व के कारण होनेवाली उत्कटरचना के मायाडम्बर संबंधी विशिष्ट भार से भङ्ग (नष्ट) होरही थीं और जिनमें **शक्तिकार्तिकेय, शङ्कशार्दूल, शतक्रतुविक्रम, शूरशिरोमणि, परबलप्रलयानल, प्रकटकन्दलादित्य, कपटकैटभाराति, सपत्नपुरधूमकेतु, सुभटघटाप्राकार व समरसिंहप्रभाव** नामवाले वीरपुरुष प्रधानरूपसे वर्तमान थे, अपने-अपने चिह्नों के गर्वपूर्वक उस अचल राजा को, जिसने झूँठे ऐश्वर्य की प्राप्ति से अपनी मर्यादा लुप्त कर दी थी, संग्रामभूमि पर बुलाने के लिए संदेश दिये।

अथानन्तर (उक्त वीर पुरुषों के वीरता-पूर्ण वचनों को श्रवण करने के पश्चात्) 'यशोधर महाराज' के 'प्रतापवर्द्धन' नामक सेनापति ने उस अवसर पर पुनः इसप्रकार कहने की चेष्टा की—'हे धीरवीर पुरुषों!

ऐसे पुरुषों के कण्ठ द्वारा चिल्लाने मात्र से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? अपितु कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, जिनमें आत्मयोग्यप्रवृत्ति (वीरतापूर्ण कर्तव्यपालन करने की शक्ति) प्रकट नहीं हुई है, सही बात तो यह है कि शूरवीरों की शूरता और कायरों की कायरता युद्धभूमि में प्रकट हो जायगी[3] ॥४२३॥

---

‡‡'भटावलेपो' क०। ÷'भाव' क०। ‡'समरसिंहप्रभृतयः' क०। *'जन्यामन्त्रणाय' क०।

१. अर्थान्तरन्यास-अलंकार। २. क्रियाकारकदीपक-दीपकालंकार। ३. आक्षेपालंकार।

तद्यथाभागमुपसंहृतसंरम्भाः प्रत्याहृतवाक्पारुष्यप्रारम्भास्तिष्ठन्तु। अहो स्वामिप्रतापवर्धनाग्रहिन्संधिविग्रहिन्, भवतोऽप्यलमावेगेन। लेखमेनमवधार्य लिख्यतां प्रतिलेखः। प्राभृतमिदमवलोक्य बध्यतां प्रतिप्राभृतम्। विधीयतां चास्य त्रयस्य यथार्हमर्हणा। यस्मादुद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतमुखा वै राजानः। तेषामन्तावसायिनोऽप्यनवमान्याः, किं पुनरन्ये।

अपि च। स्वासिद्धिः परवृद्धिर्वा न दूतगलगर्जितैः। अवधव्यापकर्माणस्ते जल्पन्ति यथेष्टतः' ॥४२४॥

संधिविग्रही 'यथाज्ञापयति सेनापतिः' Sइत्यवधार्य च यथादिष्टम्, 'सेनापते, लिखितोऽयं लेखः। श्रूयताम्—

स्वस्ति। समस्तमहासामन्तशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलः कमलाकरसरोजसेव्यमानपादपल्लवः पल्लवपाण्ड्यचोल-

---

इसलिए कठोर वचनों का प्रारम्भ उत्पन्न करनेवाले आप लोग क्रोध का त्याग करते हुए अपने अपने स्थान पर बैठो और यशोधरमहाराज की प्रताप-वृद्धि करने में आग्रह करनेवाले हे प्रधान दूत! तुमको भी युद्ध करने की उत्कण्ठा करने से कोई लाभ नहीं किन्तु अचलनरेश के लेख को मन से भलीभाँति निश्चय करके प्रतिलेख (उसका उत्तर देनेवाला लेख) लिखिये एवं इस शत्रु-भेंट को देखकर प्रतिभेंट (बदले में दूसरी भेंट) बाँधिए (तैयार कीजिये) तथा शत्रु द्वारा भेजे हुए दूत, लेख व भेंट इन तीनों का यथा योग्य सन्मान कीजिए। क्योंकि वीर सैनिकों द्वारा शस्त्रों के संचालित किये जाने पर भी (घोर युद्ध का आरम्भ होजाने पर भी) राजा लोग दूतमुखवाले होते हैं। अर्थात्—दूतों के वचनों द्वारा ही अपनी कार्यसिद्धि (सन्धि व विग्रहादि द्वारा विजयश्री प्राप्त करना) करते हैं। अभिप्राय यह है कि युद्ध के पश्चात् भी दूतों का उपयोग होता है, अतः दूत वध करने के अयोग्य होते हैं। यदि दूतों के मध्य में चाण्डाल भी दूत बनकर आए हों, तो वे भी अपमान करने के योग्य नहीं होते, फिर उच्च वर्णवाले ब्राह्मण दूतों का तो कहना ही क्या है? अर्थात्—क्या वे सर्वथा अपमान करने के योग्य हो सकते हैं? अपितु नहीं हो सकते।

प्रतापवर्धन सेनापति ने पुनः कहा—कि राजदूतों के कण्ठ द्वारा चिल्लानेमात्र से न तो शत्रुभूत राजाओं के राज्य की क्षति होती है और न विजयश्री के इच्छुक राजा की राज्य-वृद्धि होती है। अथवा न तो विजयश्री के इच्छुक राजाओं की राज्य-क्षति होती है और न शत्रुभूत राजाओं की राज्य-वृद्धि होती है; क्योंकि वे लोग (राजदूत) शस्त्र-व्यापार-रहित मध्यस्थ क्रियाशाली हुए यथेष्ट वक्ता होते हैं। अर्थात्—शस्त्र-आदि से युद्ध न करते हुए राज-सभा में यथेष्ट भाषण करते हैं' ॥ ४२४ ॥

अथानन्तर—यशोधर महाराज के 'प्रतापवर्धन' नामके सेनापति द्वारा पूर्वोक्त कर्त्तव्य निश्चित किये जानेपर—यशोधर महाराज के 'सन्धिविग्रही' नामके प्रधान दूत ने कहा—'सेनापति की जैसी आज्ञा है उसीप्रकार मैं करता हूँ'। अर्थात्—'शत्रुभूत अचल नरेश द्वारा भेजे हुए लेख के बदले प्रतिलेख लिखता हूँ'। तत्पश्चात्—प्रतापवर्धन सेनापति ने जैसी आज्ञा दी थी उसपर उसने भलीभाँति विचार कर कहा—'हे सेनापति! अथवा हे यशोधर महाराज! मेरे द्वारा लिखा हुआ लेख श्रवण कीजिए—स्वस्ति (कल्याणमस्तु)।

ऐसे यशोधर महाराज परिपूर्ण प्रसिद्धि-सहित 'अचल' नरेश को आज्ञा देते हैं कि और तो सब कुशलता है एवं आपका कर्तव्य यही है कि अहो अचलनरेश! 'विजयवर्धन' या 'प्रतापवर्धन' सेनापति आपको निम्नप्रकार आमन्त्रण (आज्ञा) देता है—कैसे हैं यशोधरमहाराज? जिसके चरणकमल समस्त

S'इत्यभिधाय' क०। १. 'चेरल' सटी० प्रतौ।

चेरम[1]हर्म्यनिर्माणप्रकाश्यमानदिग्विजयवाहिनीप्रचारः चारचक्षुःसहस्रसाक्षात्कृतसकलभूपालमण्डलः मण्डलाग्रधाराजलनिमग्ननिखिलारातिसंतानः संतानकनमेरुमन्दारपारिजातवनदेवतागीतोदाहरणगुणप्रपञ्चः पञ्चमो लोकपालः पद्मावतीपुरपरमेश्वरः कनकगिरिनाथः शिप्रासरिज्जलकेलिकुञ्जरः समुद्रमुद्राङ्कितशासनः कैलासलाञ्छनः अवन्तिसीमन्तिनीकुचकुम्भमदनाङ्कुशः प्रत्यक्षमकरध्वजः याचकचिन्तामणिः कनककङ्कणवर्षः सत्यपरमेष्ठी परलोककलत्रपुत्रकः कविकामधेनुः धर्मरत्नावतंसः नीतिलतावलम्बनतरुः द्विष्टकैटभारातिः आहवचतुर्भुजः परहितमहाव्रतः अहितकुलकालानलः प्रतिपन्नजीवितः पराक्रमालंकारः समरसहस्रबाहुः प्रतापतपनोदयः चातुरीचतुर्मुखः विवेकरत्नाकरः सरस्वतीकेलिविलासहंसः सरसोक्तिवल्लभः कन्दुकविनोदविद्याधरो मदकरिक्रीडाखण्डलः स्यन्दनप्रचारगरुडाग्रजः पदातिवैनतेयो गीतगन्धर्वचक्रवर्ती

देशाधिपतियों के मस्तकों पर आभूषणरूप होरहे हैं। लक्ष्मी के करकमल द्वारा जिसके चरणपल्लव सेवन किये जारहे हैं। पल्लव (देशविशेष), पाण्ड्य (राजाओं के वसाये हुए मगध-आदि देश), चोल, चेरम या चेरल, इन देशों में राज-महलों का निर्माण करने के फलस्वरूप जिसकी दिग्विजय संबंधी सेना का प्रचार प्रकट किया जारहा है। जिसने गुप्तचररूप हजारों चक्षुओं द्वारा समस्त राजाओं के मंडल (समूह) प्रत्यक्ष किये हैं। जिसके समस्त शत्रुओं के वंश खड्ग के धाराजल में डूबे हुए हैं। जिसका गुण-विस्तार संतानक, नमेरु, मन्दार, और पारिजात, इन स्वर्ग-वृक्षों के वनदेवताओं के गीतों में दृष्टान्तरूप से गान किया जाता है। जो मध्यमलोक-प्रतिपालक व उज्जयिनी नगरी का परमप्रभु है। जो उज्जयिनी के समीपवर्ती कनकगिरि का स्वामी व शिप्रा नदी की जलक्रीड़ा करने में कुञ्जर (हाथी) है। जिसका शासन (आदेश—लेख) समुद्राकार अँगूठी से अङ्कित (चिह्नित) है। जिसके आज्ञा-लेख पर कैलाश का लाञ्छन (चिह्न) है। जो अवन्ति देश की स्त्रियों के कुच (स्तन) कलशों पर नख स्थापित करता हुआ साक्षात् कामदेव है। जो याचकों के लिए चिन्तामणि है। जो सुवर्णमय कङ्कणों (कर-भूषणों) की वर्षा करता हुआ सत्यवचनों के प्रतिपालन में ऋषभदेव-सरीखा है। जो दूसरों की स्त्रियों का पुत्र है। अर्थात्—जो परस्त्रियों के प्रति माता का वर्ताव करता है। जो कवियों के लिए सदा कामधेनु सरीखा मनोरथ-पूरक है। धर्मरूप रत्न ही जिसका शिरोरत्न है। जो नीतिरूप लता को आधार देने में महावृक्ष है। जो शत्रुओं को नष्ट करने के हेतु श्रीनारायण है। संग्रामभूमि पर जिसकी चार भुजाएँ हैं अथवा जो संग्रामभूमि पर चतुर्भुज (विष्णु) सा पराक्रमी है। प्रजाजनों का कल्याण ही जिसकी प्रतिज्ञा है। जो शत्रु-वंश को भस्मसात् करने के लिए प्रलयकालीन प्रचण्ड अग्नि है। स्वीकृत प्रतिज्ञापालन ही जिसका जीवन (आयु) है और पराक्रम ही जिसका आभूषण है। जो संग्राम-भूमि पर सहस्रबाहु (विष्णु-सरीखा) है अथवा जिसकी हजारों भुजाएँ हैं। जो प्रतापरूपी सूर्य के लिए उदयाचल है। अभिप्राय यह है कि जिससे उसप्रकार प्रतापरूपी सूर्य उदित होता है जिसप्रकार उदयाचल पर्वत से सूर्य उदित होता है। जो चतुरता के प्रदर्शित करने में ब्रह्मा है। जो हेय (छोड़ने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) के ज्ञानरूप रत्नों की खानि है। जो सरस्वती के क्रीड़ाविलास में क्रीड़ाहँस है। अर्थात्—जिसप्रकार क्रीड़ाहँस कमलवन में क्रीड़ा करता है उसीप्रकार जो सरस्वती (द्वादशाङ्गवाणी) के क्रीड़ाविलास—शास्त्राभ्यास—में क्रीड़ा करता है। सरस (मधुर) वाणियाँ ही जिसकी प्यारी स्त्रियाँ हैं। जो गेंद-क्रीड़ा में विद्याधरप्राय है। जो मदोन्मत्त हाथी के साथ क्रीड़ा करने में इन्द्र-सरीखा है। जो रथ-संचालन-क्रीड़ा में सूर्य-सारथि सरीखा है। जो पैदल सेना के साथ चलने में गरुड़पक्षी-सरीखा शीघ्रगामी है। जो गानकला में देव-गायकों में चक्रवर्ती (सर्वश्रेष्ठ) है।

वाद्यविद्याबृहस्पति:' नृत्तवृत्तान्तभरतः 'समस्तायुधसर्वज्ञः शरणागतमनोरथसिद्धिः अनाथनाथः त्यागभार्गवः द्रोहद्रुमवनकुठारः कलिङ्गकुरङ्गकेसरी अश्मकवंशवैश्वानरः शकशलभशमीगर्भः क्रथकैशिककृशानुः अहिच्छत्रक्षत्रियशिरोमणिः पञ्चालचापलप्रलय-कालः केरलकुलकुलिशपातः यवनकुजवज्रानलः चैद्यसुन्दरीविनोदकन्दलः मागधवधूविलासदर्पणः काञ्चिकामिनीकुचकलशकिसलयः माहिष्मतीयुवतिरतिकुसुमचापः कौशाम्बीनितम्बिनीबिम्बाधरमण्डनः दशार्णवर्णिनीकर्णपूरः पाटलिपुत्रपण्याङ्गनाभुजङ्गः वलभि-रम्भोरुविभ्रमभ्रमरः पौरवपुरंध्रीरोध्रतिलकः सततवसुवितरणप्रीणितद्विजसमाजः श्रीयशोधरमहाराजः सकलप्रशस्तिसहितमचल-महीपतिमादिशति । श्रेयोऽन्यत् । कार्यं चैतदेव—यदुत विजयवर्धनः सेनापतिर्भवन्तमेवमामन्त्रयते—

पश्यागत्य जगत्पतिं यदि वदे स्यात्ते तदानुग्रहः कुर्यास्त्वं मृगचेष्टितं यदि तदा क्षोणिः समुद्रावधिः ।
संग्रामे भव संमुखो यदि तदा क्षेमः कुतस्ते पुनस्तत्पञ्चालपते किमत्र भवतः संदिश्यतां शासने ॥४२९॥

जो तत, वितत, घन व सुषिररूप वादित्रविद्या में बृहस्पति-सरीखा है। जो नृत्यशास्त्र में भरत (नटाचार्य), आयुधों की संचालनक्रिया में सर्वज्ञ और आश्रितों के मनोरथ पूर्ण करने वाला एवं अनाथों का स्वामी तथा दाताओं में परशुराम है। जो द्रोहरूप वृक्षों के वन का उच्छेद करने के लिए परशु-सरीखा है। जो कलिङ्ग (दन्तपुर-स्वामी) रूपी हिरण के लिए सिंह है। जो 'अश्मक' देश के राजारूपी बाँसवृक्ष को भस्म करने के लिए अग्नि-सरीखा है। जो शक (तुरुष्क) देश के स्वामीरूप शलभों (पतङ्गकीड़ों) को भस्म करने के लिए अग्नि-सरीखा है। जो विराट् देश के स्वामी को भस्म करने के लिए अग्नि-सरीखा है। इसीप्रकार जो 'अहिच्छत्र' नाम के नगर (पार्श्वनाथ अतिशय क्षेत्र) के क्षत्रिय राजाओं में शिरोमणि व पञ्चाल देश के स्वामी (अचल नरेश) की चपलता नष्ट करने के लिए प्रलयकाल-सरीखा है। जो केरल देश (दक्षिणपथ-देश) के स्वामी के वंश को चूर चूर करने के लिए वज्रपात सरीखा है। जो यवन (खुरासान) देश के राजारूपी वृक्ष को भस्म करने के लिए वज्राग्नि सरीखा है। चैद्य (डाहाल) देश की कमनीय कामिनियों के साथ विनोद (क्रीड़ा) करने के हेतु जिसका युद्ध है। जो राज-महल की स्त्रियों के विलास (नेत्रों की शोभा) देखने के लिए दर्पण-सरीखा है। जो काञ्चीदेश (दक्षिणसमुद्र-तटवर्ती देश) की कामिनियों के कुचकलशों पर अपना करपल्लव स्थापित करनेवाला है। जो माहिष्मती (यमुनपुर-दिशावर्ती) नगरी की युवतीरूपी रतियों को आनन्दित करने के लिए कामदेव सरीखा है। जो कौशाम्बी नगरी की स्त्रियों के बिम्बफल सरीखे रक्त ओठों को विशेषरूप से विभूषित करता है और जो 'दशार्ण' देश की स्त्रियों का कर्णपूर (कर्णाभरण) है। जो पाटलिपुत्र नगर की वेश्याओं का कामुक और 'वलभि' नाम के नगर की स्त्रियों के भ्रुकुटि (भोंहें) भङ्गों के लिए भ्रमर-सरीखा मञ्जुल ध्वनि करनेवाला है। इसीप्रकार जो पौरवपुर (अयोध्यानगरी) की स्त्रियों के लिए सुगन्धित द्रव्य विशेष है। अर्थात्—जिसप्रकार सुगन्धित द्रव्य द्वारा वस्तुएँ सुगन्धित की जाती हैं उसीप्रकार प्रस्तुत यशोधर महाराजरूपी सुगन्धित द्रव्य द्वारा भी उक्त नगर की स्त्रियाँ सुगन्धित कीजाती हैं एवं जिसने निरन्तर धन-दान द्वारा ब्राह्मण-समूह सन्तुष्ट किया है।

'प्रतापवर्धन' सेनापति द्वारा अचल नरेश के प्रति दूत-मुख द्वारा दिया हुआ आमन्त्रण—यदि मैं दीप्यमान सभा में कहता हूँ कि तुम यशोधर महाराज के पास आकर उनकी सेवा करो तो तुम्हारी भलाई है। यदि तुम भागोगे तो उससमय समुद्रपर्यन्त पृथिवी है। अर्थात्—भागकर कहाँ जासकते हो? और यदि युद्ध करने के अभिमुख होते हो तो उसमें भी तुम्हारा कल्याण किसप्रकार होसकता है? अपितु नहीं होसकता। इसलिए हे अचलमहाराज! आपको इस लेख द्वारा उक्त संदेश के सिवाय और क्या संदेश दिया जावे[1]? ॥४२५॥

१. आक्षेपालंकार।

कदाचिदवतीर्णायां परितोषितविजिगीषुपरिषदि शरदि सरसकाश्मीरकेसरोत्तंसमांसलेषु कीरकामिनी*कुरलकुलेषु, गर्भाविर्भवत्कणिशमञ्जरीसौरभोदारेषु कलमकेदारेषु, कुलकलत्रेष्विव समर्यादगतिषु महावाहिनीप्रवाहेषु, भवद्गुणेष्विव निर्मलावकाशेषु सरःसु, नृपतिकोदण्डमण्डलेष्विव प्रवृत्तप्रचारेषु पथिषु, प्रचण्डमार्तण्डातपभीतेष्विव निरन्तरसस्यांशुकपिहित-पृष्ठेषु विश्वंभराभागेषु, सलिलधरसङ्गसंक्रान्तश्यामभावेष्विव हरितकान्तिषु शैलशिखरेषु, विघटितघनकपाटसंपुटास्विव प्रकटासु दिक्षु, विजृम्भमाणेषु जितसरस्वतीहासप्रकाशेषु काशेषु, विजयमानेषु प्रकाशितकमलबन्धुजीवेषु बन्धुजीवेषु, विलसत्सु मकरन्दमधून्मादितकोकनदेषु कोकनदेषु, सप्रीतिषु परिमलोल्लासितकुवलयेषु कुवलयेषु, सप्रमोदेषु संपादितकुमुदवनेषु कुमुदवनेषु, विराजमानेषु विशुद्दीधितिसंदिग्धशुचिपक्षेषु शुचिपक्षेषु, अभिनवोल्लिखितेन्दुमणिदर्पण इवातीव प्रसन्नरोचिषि चन्द्रमण्डले,

प्रसङ्गानुवाद—अथानन्तर हे मारिदत्तमहाराज ! किसी अवसर पर जब शरद ऋतु का, जिसमें विजिगीषु राजाओं की सभा हर्षित कराई गई है, आगमन हुआ तब मैंने, जिसके लिए निम्नप्रकार स्तुतिपाठक-समूह द्वारा सेना का दिग्विजय-अवसर प्रकट किया गया था, उस अचल नरेश का प्रताप नष्ट करने के हेतु 'विजयवर्धन' सेनापति को भेजा।

हे राजन् ! क्या क्या होनेपर शरदऋतु का आगमन हुआ ? जब 'कीर' देश की कामिनियों के केशपाश नवीन काश्मीर-केसरपुष्पों का मुकुट-धारण करने से मनोज्ञ प्रतीत होरहे थे। जब सुगन्धि धान्य-खेत मध्य में प्रकट होती हुई कणिश-(नरम बालें) मञ्जरियों की सुगन्धि से अत्यन्त मनोहर होरहे थे। जब महानदियों के प्रवाह उसप्रकार सीमा-सहित गमनशाली होरहे थे जिसप्रकार कुलवती स्त्रियाँ सीमासहित (मर्यादा-पूर्ण—सदाचार-युक्त) गमन (प्रवृत्ति) शालिनी होतीं हैं। जब तालाब उसप्रकार निर्मल (कीचड़-रहित) प्रवेशवाले होरहे थे जिसप्रकार आपके गुण (वीरता व ज्ञानादि) निर्मल (विशुद्ध) होने के कारण प्रवेशशाली (ग्रहण करने योग्य) होते हैं। जब मार्ग उसप्रकार प्रवृत्तप्रचारशाली (उत्पन्न हुए गमनवाले) होरहे थे जिसप्रकार राजाओं के धनुष-वलय प्रवृत्त-प्रचारशाली (उत्पन्न हुए प्रचार—बाणों का स्थापन व संचालन) से अलङ्कृत होते हैं। जब पृथिवी-भाग उसभाँति सदा धान्यरूपी वस्त्रों से आच्छादित पृष्ठभागवाले होरहे थे जिसभाँति प्रचण्ड सूर्य की गरमी से भयभीत हुए पुरुषों के पृष्ठ (पीठ) वस्त्रों से आच्छादित होते हैं। जब पर्वत-शिखर उसप्रकार हरितकान्ति-युक्त (नीलवर्णवाले) होरहे थे जिसप्रकार वे मेघ-संगति से श्यामता प्रविष्ट करनेवाले होते हैं। जब समस्त दिशाएँ उसप्रकार प्रकट (स्पष्ट) होरही थीं जिसप्रकार वे, जिनका मेघरूपी कपाट-(किवाड़) संपुट दूर किया गया है, प्रकट दिखाई देती हैं। जब काश सरस्वती-हास्य की उज्वल कान्ति तिरस्कृत करते हुए वृद्धिंगत होरहे थे। जब सूर्य का स्वरूप प्रकट करनेवाले (सूर्यमण्डल-सरीखी लालिमा-युक्त) बन्धुजीव नामके पुष्प जयशील (विकसित) होरहे थे। जब लालकमल पुष्परसरूपी मद्य से उन्मत्त किये गए चकवा-चकवी से व्याप्त तालाबवाले होते हुए शोभायमान होरहे थे। जब प्रफुल्लित कुवलयों (कुमुदों—चन्द्रविकासी कमलों) से व्याप्त हुए कुवलय (भूमिभाग) प्रसन्न होरहे थे। जब कुमुदवन (श्वेतकमल-समूह) संपादितकु-मुद-अवनशाली होते हुए, अर्थात्—जिनमें पृथिवी का हर्ष-रक्षण उत्पन्न कराया गया है, ऐसे होते हुए विकसित होरहे थे। जब शुचिपक्ष (शुक्लपक्ष), जिनके शुचिपक्ष (श्वेत पंखोंवाले हँसादिपक्षी) चन्द्रकिरणों के विस्तार द्वारा संदेह को प्राप्त कराये गये हैं, ऐसे होते हुए शोभायमान होरहे थे। अर्थात्—जो (शुक्लपक्ष) चन्द्रकिरणों के विस्तार द्वारा श्वेत पंखवाले हँस-आदि पक्षियों में इसप्रकार का सन्देह उत्पन्न कराते हुए (किं ये हँस हैं ? अथवा चन्द्र की शुभ्र किरणें हैं ?)

*उक्त शुद्धपाठः क० प्रतितः समुद्धृतः, मु० प्रतौ तु 'कुरलकुन्तलेषु' पाठः।

पञ्चमलोकपालपरिकल्पितयात्रावसर इव संहृतवति शरासनमाखण्डले, राजहंसोत्सवसंपादनपर इव जलदकलुषतां मुक्तवति गगने, पयोधरविरहदुःखित इव विरसस्वरतामनुसृतवति प्रचलाकिलोके, त्वदरातिजन इव मन्दमुदि चातककुले, त्वत्कटकसुभटानीक इव रणरसोत्सहृदि नन्दिसंदोहे,

अनभ्रा शुभ्रचन्द्रार्का विपङ्कानिम्ननिम्नगा। विजयाय जिगीषूणां शरदेषा समागता ॥४२६॥

विलसत्सरोजनयना प्रसन्नचन्द्रानना *विघनरागा। हंसप्रचारसुभगा स्त्रीव शरत्तव मुदं कुरुतात् ॥४२७॥

कुमुदं करोति वर्धयति कुवलयं ×विस्तृणोति मित्राशाः। भवतः श्रीरिव शरदियमुल्लासितसत्पथद्विजेन्द्रा च ॥४२८॥

शोभायमान होरहे थे। जब चन्द्र-विम्ब उसप्रकार विशेष निर्मल कान्तिशाली होरहा था जिसप्रकार नवीन और उकीर करके निर्माण किया हुआ चन्द्रकान्तमणिमयी दर्पण विशेष कान्तिशाली होता है। जब इन्द्र अपना इन्द्रधनुष संकोचित किये हुए ऐसा प्रतीत होरहा था मानों—यशोधर महाराज द्वारा आरम्भ कीगई दिग्विजय-यात्रा का अवसर ही है। एतावता यह बात समझनी चाहिए कि वर्षा ऋतु व्यतीत हुई और शरद ऋतु का आगमन होने से विजयश्री के इच्छुक राजाओं को दिग्विजय का अवसर प्राप्त हुआ है। इसीप्रकार जब आकाश मेघ-कलुषता छोड़ता हुआ ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—वह राजहँसों का उत्सव उत्पन्न करने में समर्थ होरहा है। जब मोरों का समूह नीरस ध्वनि का आश्रय किये हुए ऐसा प्रतीत होरहा था—मानों—मेघ-वियोग से ही दुःखित होरहा है। जब पपीहा पक्षियों का झुण्ड उसप्रकार हर्ष-हीन होरहा था जिसप्रकार आपका शत्रुलोक हर्ष-हीन होता है और जब वृषभ-समूह (बैलों का झुण्ड) उसप्रकार युद्धानुराग से व्याप्तचित्तवाला होरहा था जिसप्रकार आपकी सेना में वीर योद्धा-समूह युद्धानुराग से व्याप्त चित्तवाला होता है।

स्तुतिपाठकों द्वारा किया हुआ प्रस्तुत ऋतु का विशेष वर्णन—हे राजन्! यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली शरद ऋतु, जो कि मेघ-पटल से रहित होती हुई उज्वल चन्द्र और सूर्य से सुशोभित है एवं कर्दम-(कीचड़) शून्य होती हुई उथली नदियोंवाली है, विजयश्री के इच्छुक राजाओं की विजय के लिए प्राप्त हुई है[1] ॥४२६॥ हे राजन्! ऐसी शरद ऋतु आपको हर्षित करे, शोभायमान (प्रफुल्लित) कमल ही जिसके नेत्र हैं, निर्मल चन्द्र ही है मुख जिसका, नष्ट होगया है मेघ-राग जिसका और राजहंसों के प्रचार से मनोज्ञ प्रतीत होती हुई स्त्री-सरीखी है। कैसी है स्त्री? शोभायमान हैं कमल-सरीखे नेत्र जिसके, निर्मल व परिपूर्ण चन्द्रमा के सदृश है मुख जिसका एवं विशेषरूप से प्रचुर है राग (प्रेम) जिसमें तथा जो नूपुर धारणपूर्वक संचार करने से सुन्दर प्रतीत होती है[2] ॥४२७॥ हे राजन्! यह शरद ऋतु उसप्रकार कुमुद (श्वेतकमल) विकसित करती है जिसप्रकार आपकी लक्ष्मी कु-मुद (पृथ्वी को उल्लासित) करती है। यह उसप्रकार कुवलय (उत्पलवन) वृद्धिंगत करती है जिसप्रकार आपकी लक्ष्मी कु-वलय (पृथिवी-मण्डल) वृद्धिंगत करती है एवं यह उसप्रकार मित्र व आशाएँ (सूर्य और समस्त दिशाएँ) विस्तारित करती है जिसप्रकार आपकी लक्ष्मी मित्र-आशाएँ (मित्रों की आशाएँ) विस्तारित (पूर्ण) करती है और यह उसप्रकार उल्लासित-सत्पथ-द्विजेन्द्रा (उल्लासित किया है आकाश में चन्द्रमा को जिसने ऐसी) है जिसप्रकार आपकी लक्ष्मी उल्लासित-सत्पथ-द्विजेन्द्रा (आनन्दित किये हैं धर्ममार्ग में तत्पर हुए उत्तम ब्राह्मणों को जिसने ऐसी) है[3] ॥४२८॥ हे राजन्! ऐसे शरद ऋतु संबंधी कातिक माह में, किस पुरुष को

---

* 'वितानघनरागा' क०, विमर्शः—मु० प्रतिस्थः पाठः समीचीनः (छन्दशास्त्रानुकूलः)—सम्पादकः

×'विस्तृणाति' क०। १. जाति अथवा हेतु-अलङ्कार। २. श्लेषोपमालंकार। ३. श्लेषोपमालंकार व समुच्चयालंकार।

विघटितघनकपाटदिशि निभृतपुरंदरचापमण्डले कमलामोदसुहृदि संतर्पितहंसविलासिनीकुले ।
अभिनवकलमकणिशपरिमलिनि विकासितकाशकान्तिके कुङ्कुमकुसुमसुभगभुवि भवति न केलिः कस्य कार्तिके ॥४२९॥
प्रतपति रविर्निर्मर्यादं भवानिव सांप्रतं विधुरपि बुध प्रीतिं धत्ते प्रवृद्धसुधारसः ।
अरिकरिकुलक्रीडाध्वंसे हरिध्वनितोद्धुरं त्वमपि च गुणारोपाच्चापं प्रपञ्चय भूपते ॥४३०॥
जडमपि सलिलं धत्ते खरदण्डं यत्र विगतविजिगीषुः । अजडविजिगीषुचेतास्तत्र कथं नो दधीत खरदण्डम् ॥४३१॥

इति चापेटिकपेटिकप्रकटितकटकप्रयाणप्रस्तावरसं विजयवर्धनसेनापतिं तस्य पञ्चालपतेः प्रतापनोदनाय प्राहिणवम् । कदाचित्तुषारगिरिनिर्झरनीहारनिष्पन्दिनि गन्धमादन†वनविभ्राजितभूर्जवल्कलोन्माथमन्थरे मानसहंसविलासिनीशिखण्डमण्डलविडम्बिनि नेपालशैलमेखलामृगनाभिसौरभनिर्भरे कुलूतकुलकामिनीकपोललावण्यचामिनि लम्पाकपुरपुरंध्रिकाधरमाधुर्यपश्यतोहरे पाकपाण्डिमोड्डमरपुण्ड्रकाण्डकारिणि प्रालेयलवोल्लासपल्लवितनवयवाङ्कुरे कोशकारश्यामिकापरिणामप्रणयिनि शिशिर-

---

केलि (क्रीड़ा) नहीं होती ? अपितु सभी को होती है। समस्त दिशाओं के मेघरूपी किवाड़ों को दूर करनेवाले व इन्द्र का धनुषवलय हटानेवाले जिसमें कमलों की सुगन्धि से व्याप्त हुआ सुहृद् (सूर्य) वर्तमान है अथवा जिसमें कमलों के लिए सुगन्धि देने का सुहृद् (उपकार) पाया जाता है। जो राजहंसी-श्रेणी को सन्तुष्ट करता हुआ नवीन धान्य-मञ्जरियों की सुगन्धि से सुशोभित है। इसीप्रकार जिसने काश-पुष्पों की कान्ति विकसित की है तथा जो काश्मीर-केसर-पुष्पों से मनोहर भूमिवाला है[1] ॥४२९॥ हे राजन् ! इस शरद् ऋतु के अवसर पर सूर्य लोक को उसप्रकार बेमर्यादापूर्वक विशेष सन्तापित कर रहा है जिसप्रकार आप [शत्रुओं व अन्यायियों को] विशेष सन्तापित करते हैं। हे मनीषी ! चन्द्रमा भी अमृतरस प्राप्त करता हुआ लोक को प्रसन्न कर रहा है। हे राजन् ! तुम भी शत्रु-हाथियों के कुल का क्रीड़ापूर्वक ध्वंस करने के निमित्त सिंहनाद की उत्कटतापूर्वक धनुष पर डोरी चढ़ा कर उसे विस्तारित करो[2] ॥ ४३० ॥ हे राजन् ! जिस शरद् ऋतु के अवसर पर तालाब-आदि का जल, जो कि जड (ज्ञान-हीन) होकरके भी विजयश्री की इच्छा से रहित होता हुआ खरदण्ड (कमल) धारण करता है फिर उस शरद् ऋतु में अजड (ज्ञानी) और विजयश्री की इच्छा से व्याप्त मनवाला राजा किसप्रकार खरदण्ड (तीक्ष्ण दण्ड) धारण नहीं करता ? अपितु अवश्य धारण करता है[3] ॥ ४३१ ॥

प्रसङ्गानुवाद—हे मारिदत्तमहाराज ! किसी अवसर पर रजनीमुख को प्रचण्डतररूप से परिणत करनेवाली रात्रि (पूर्वरात्रि) में जब उत्तरदिशा से ऐसी हेमन्त ऋतु (अगहन व पौष माह) संबंधी शीतल वायु संचार कर रही थी तब 'प्रत्यक्षताक्ष्र्य' नाम के गुप्तचर ने आकर मुझे निम्नप्रकार विज्ञापित (सूचित) किया—

कैसी है हेमन्त ऋतु की वायु ? जो हिमालय पर्वत संबंधी झरनों की शीतलता क्षरण करनेवाली है। जो 'गन्धमादन' नाम के वन में शोभायमान होनेवाले भोजपत्र वृक्षों की त्वचाओं (बक्कलों) का उत्कम्पन या विलोडन करने के कारण मन्थर (मन्दमन्द संचार करनेवाली) है। जो राजहंसियों के शिखण्डमण्डल (मस्तकप्रदेश) को विडम्बित (कम्पित) करनेवाली और नेपाल नामके पर्वत की वनभूमि में उत्पन्न होनेवाली कस्तूरी की सुगन्धि से गाढ़ भूत है। जो कुलूत (मरवा) देश की कुलकामिनियों के गालों का सौन्दर्य-जल पान करनेवाली व लम्पाकपुर की कुटुम्बवाली स्त्रियों की ओष्ठ-मधुरता की चोर है। पाक से प्रकट होनेवाली उज्वलता से उत्कट हुए श्वेतगन्नों की गाँठों को उत्पन्न करनेवाली जिसने पाले के जलकणों के उल्लास द्वारा नवीन जौ के अङ्कुर पल्लवित किये हैं। जो श्याम गन्नों की श्यामिका को श्याम परिणति में लाती है।

---

† 'वनविराजिभूर्जकुञ्जराजिवल्कलोन्माथरं' क० । † 'वनविभ्राजिभूर्जकुञ्जराजिवल्कलोन्माथमन्थरे' ख०ग०घ०च० ।

१. रूपक व आक्षेपालंकार । २. अवसरोपमालंकार । ३. श्लेषाक्षेपालंकार ।

सीकरासारतरङ्गिततरुणतरुकिसलयाग्रभागे ‡रल्लकरोमनिष्पन्नकम्बललोकलीलाविलासिनि शेफालिफुल्लाह्लादलालसे क्रौञ्चकुलकराल†केकारवस्फारिणि नीरन्ध्ररोध्ररजःप्रसरपाण्डुरितदिङ्मुखे कुन्दकन्दलानन्दिनि लवलीलतारामरामणीयकनिकेतने कमलिनीदलदहनहिमवाहिनि जाह्नवीजलमज्जनजातजडभावे तरणितीरिणीजलकेलिव्यसनिनि सरस्वतीसलिलोदवासतापसे नवयौवनाङ्गनास्तनकलशोष्मनिषेवणादेशिनि प्रियागुरुधूपधूमोद्गमनिवातवलभिगर्भे घनघुसृणरसरागद्विगुणरमणीमनसि बहलप्रावारपरिचयप्रसाधिनि प्रवर्धितप्रवृद्धधूमध्वजाराधनानुबन्धे समस्तसत्त्वरोमाञ्चकञ्चुकाचारिणि मलयमेखलालतानर्तनकुतूहलित इव देवदिशः परिसर्पति हैमने मरुति,

नलिनीवनदैन्यदुःखित इव मन्दद्युति मार्तण्डमण्डले, शीतपातभयसंकुचितेष्विव लघुषु दिवसेषु, जाड्यजातजडजानुष्विव मन्दप्रयाणदीर्घासु रात्रिषु, स्रवत्सुधासारसंतर्पितनिलिम्पलोक इव क्षीणतेजसि तुषारकिरणे,

---

जिसमें शीतल जलबिन्दु-समूह द्वारा तरुण वृक्षों की कोपलें और अग्रभाग कम्पनशील होरहे हैं। जिसमें रल्लकों (मृगविशेषों) के रोमों से रचे हुए कम्बल धारण करनेवाले लोगों (शूद्रों) का लीला-विलास (चतुरतापूर्ण चेष्टावाली क्रीड़ा) पाया जाता है। जिसमें शेफालि पुष्पों के विकसित करने की आकाङ्क्षा पाई जाती है। जो क्रौंच पक्षि-समूहों के उन्नत शब्द प्रचुर (महान्) करनेवाला है। जिसने अविच्छिन्न रोध्रवृक्षों की पुष्प-पराग-व्याप्ति (विस्तार) द्वारा दिशाओं के मुख (अग्रभाग) शुभ्र किये हैं। जो कुन्द-पुष्प-पल्लवों को संतुष्ट करती हुई चन्दनवृक्ष-शाखाओं के बगीचे की मनोज्ञता का मन्दिर (स्थान) व कमलिनियों के पत्तों को दहनप्राय (जलानेवाला) पाला धारण करनेवाली है। गङ्गा-जल में स्नान करने के फलस्वरूप जिसमें जड़भाव (मन्द उद्यम या जल-ग्रहण) उत्पन्न हुआ है। यमुनानदी की जलक्रीड़ा करने में जिसका आग्रह है। जो सरस्वती नदी के जल में 'उदवास' नाम की तपश्चर्या करनेवाला तपस्वी है। जो नवीन युवती स्त्रियों के कुच (स्तन) कलशों की उष्णता का सेवन (आलिङ्गन) करने का आदेश देती है (प्रेरणा करती है)। जिसमें प्रिय अगुरुधूप के धूम का उद्गम और वायु-रहित वलभी (छज्जा) का मध्यभाग पाया जाता है। जिसमें घनी तरल केसर के राग द्वारा रमणियों के मन दुगुने हुए हैं। जो विशेष विस्तीर्ण प्रावार (हिम व शीत वायु-निवारक उष्ण वस्त्रविशेष) का परिचय करानेवाला है। जिसमें प्रज्वलित अग्नि की सेवा का अनुबन्ध (प्रारम्भ की हुई वस्तु का परम्परा से चलना) वृद्धिगत होरहा है। इसीप्रकार जो समस्त प्राणियों को रोमाञ्चरूप कञ्चुक (कवच या चोला) धारण कराती है एवं जो उत्तरदिशा से वहती हुई ऐसी मालूम पड़ती है—मानों—इसमें मलयाचलपर्वत-तटी की चन्दन वृक्ष-शाखाओं को नर्तन कराने का मनोरथ उत्पन्न हुआ है।

हे मारिदत्त महाराज! पुनः क्या होनेपर 'प्रत्यक्षतार्क्ष्य' नामके गुप्तचर ने आकर मुझे निम्नप्रकार विज्ञापित किया? जब सूर्यबिम्ब अल्पतेजवाला होरहा था, इसलिए जो ऐसा मालूम पड़ रहा था—मानों—कमलिनियों के वन की दीनता (शीत से उत्पन्न हुआ दाहदुःख) से ही दुःखित हुआ है। जब दिन लघु (छोटे) होरहे थे, इसलिए जो ऐसे प्रतीत होरहे थे—मानों—शीत के आगमन से उत्पन्न हुए भय से ही संकुचित होरहे हैं। जब रात्रियाँ मन्द गमन करने से दीर्घ (लम्बी) होरही थीं, इसलिए जो ऐसी मालूम पड़ती थीं—मानों जिनके जानु शीत से जड़ (मन्द) होगये हैं एवं जब चन्द्रमण्डल क्षीणतेजवाला होरहा था इसलिए जो ऐसा मालूम पड़ता था—मानों—जिसने झरते हुए अमृत-समूह द्वारा देव-समूह को भलीप्रकार संतुष्ट किया है[1]।

---

‡'रल्लकलोकलीलाविलासिनि' क०ख०ग०च०। †'क्रेंकार (क्रौंकार) स्फारिणि' क०ख०ग०। १. उत्प्रेक्षालंकार।

इक्षूल्लासिनि सस्यशालिनि खरं *शेफालितोत्फुल्लिनि क्रौञ्चोन्मादिनि कुन्दनन्दिनि घनाश्लेषाङ्गनापादिनि ।
भास्वन्मन्दिनि वातवाहिनि हिमासारावसन्नाङ्गिनि काले कामिनि दीर्घरात्रिघटिनि प्राटेत् कृती कोऽध्वनि ॥४३२॥
यैः पूर्वं गाढकण्ठग्रहवलितभुजाभोगनिर्भुग्नवक्त्रैः स्त्रीणां पीनस्तनाग्रस्थपुटितहृदयैर्वासगेहे प्रसुप्तम् ।
तैरद्य त्वद्द्विषद्भिः समरुति शिशिरेऽशायि शैलावकाशे वक्रग्रावोपधानैरुरसि च निहिताष्ठीवदष्ठीलबन्धैः ॥४३३॥
यैर्नीताः सौधमध्ये घनघुसृणरसालिप्तगात्रैः प्रकामं कान्तावक्षोजकुम्भार्जनविजयिभुजैर्दीर्घयामास्त्रियामाः ।
विध्यातासन्नवह्निप्रसरितभसितापाण्डवः पिण्डशेषास्ते हेमन्ते नयन्ते तव नृप रिपवः ×शार्वरीं पर्वतेषु ॥४३४॥
अपि च । कुर्वन्तः कामिनीनामधरकिसलये सौकुमार्यप्रमाथं विन्यस्यन्तः कपोले सरसनखपदोल्लासभङ्गांस्तरङ्गान् ।
रोमाञ्चोद्भवदक्षाः स्तनकलशयुगे प्रीणितक्रौञ्चकान्ताः प्रालेयासार‡सान्द्रीकृतकमलवना हैमना वान्ति वाताः॥४३५॥

हे मारिदत्त महाराज ! फिर क्या होनेपर 'प्रत्यक्षतार्क्ष्य' नामके गुप्तचर ने आकर मुझे निम्नप्रकार विज्ञापित किया ? जब प्रधान स्तुतिपाठक-समूह निम्नप्रकार हेमन्तऋतु का वर्णन करता हुआ पढ़ रहा था ।

हे प्रिये ! ऐसे शीतकाल के अवसर पर कौन विद्वान् पुरुष मार्ग में गमन करेगा ? अपितु कोई नहीं करेगा । जो गन्नों को उल्लासित करता (पकाता) हुआ मूँग, उड़द व चना-आदि धान्यों से शोभायमान है । जो विशेषरूप से अत्यधिक शीत विस्तारित करता हुआ क्रौंच पक्षियों को उन्मत्त करनेवाला है । जो कुन्द-पुष्पों को विकसित करता हुआ स्त्रियों को गाढ़-आलिङ्गन करनेवाली कराता है । जो सूर्य को अतीव्र (तीक्ष्णता-रहित) करता हुआ शीतल वायु वहाता है एवं जिसमें समस्त प्राणी शिशिर-(पाला) समूह के कारण प्रस्थान भङ्गकरनेवाले होते हैं और जो रात्रियों को दीर्घ (लम्बी–३० घड़ीवाली) करता है[१] ॥४३२॥ हे राजन् ! पूर्व में जो आपके शत्रु, जिनका मुख स्त्रियों की भुजाओं द्वारा दृढ़रूपसे कण्ठ-ग्रहण करने में कुण्डलाकार हुए भुजारूप दंडमण्डल द्वारा वक्र किया गया है और जिनका हृदय स्त्रियों के उन्नत कुच-(स्तन) चूचुकों से नीचा-ऊँचा किया गया है, ऐसे होते हुए निवासगृह में शयन कर रहे थे, वे (शत्रु) इस हेमन्त ऋतु में ठण्डी वायु से व्याप्त हुए पर्वत-प्रदेश पर सोये हुए हैं । कैसे हैं आपके शत्रु ? जिनके शिर की तकियाँ विषम पाषाणों की हैं और जिन्होंने [भूँख प्यास के कारण] दोनों जानुओं का अष्ठील-बन्ध (अस्थि-युक्त जानुबन्ध) हृदय पर स्थापित किया है[२] ॥४३३॥ हे राजन् ! जिन तुम्हारे शत्रुओं ने, जिनका शरीर प्रचुर काश्मीर-केसरद्रव से चारों ओर से यथेष्ट लिप्त किया गया था और जिनकी भुजाएँ स्त्रियों के कुच (स्तन) कलशों का मध्यप्रदेश स्वीकार करने से विजयश्री से मण्डित थीं, पूर्व में लम्बे प्रहरोंवालीं रात्रियाँ शीतल वायु-रहित महलों के मध्य में व्यतीत की थीं, वे आपके शत्रु इस हेमन्त ऋतु (शीतकाल) में बुझी हुई समीपवर्ती अग्नि की फैली हुई भस्म से उज्वल वर्णवाले और उर्वरित शरीर-युक्त (मांस व वस्त्रादि से रहित) हुए पर्वतों पर रात्रियाँ व्यतीत कर रहे हैं[३] ॥ ॥४३४॥ कुछ विशेषता यह है—कि जिसकाल में हेमन्त ऋतुसंबंधी ऐसी वायु वह रहीं हैं, जो कि कामिनियों के ओष्ठपल्लवों की कोमलता लुप्त कर रही हैं । जो स्त्रियों के गालों पर तत्काल कामी पुरुषों द्वारा दिये हुए नखक्षतों के उल्लास द्वारा भङ्ग होनेवाली वलिरेखाएँ स्थापित कर रही हैं एवं स्त्रियों के कुच (स्तन) कलशों के युगल पर रोमाञ्च उत्पन्न करने में प्रवीण (चतुर) होती हुई जिनके द्वारा क्रौंच पक्षियों की कान्ताएँ संतुष्ट कीगई हैं और जिन्होंने पाला-समूह द्वारा कमल-वन आर्द्र किये हैं[४] ॥४३५॥ हे राजाधिराज ! वह हेमन्त ऋतु

---

*'शेफालिकोत्फुल्लिनि' क० । ×'शर्वरीः' क० । ‡'सार्द्रीकृत' ख० । १. समुच्चय व आक्षेपालङ्कार । २. परिवृत्ति-अलङ्कार । ३. परिवृत्ति-अलङ्कार । ४. रूपकालङ्कार ।

यत्रैतत्स्वयमेव कामिषु निशि स्त्रीणां घनालिङ्गनं यत्रायं स्मरकेलिकामितसमायामस्त्रियामागमः ।
यत्रार्द्रार्द्रकफालिभिः परिचितः सद्यःस्तुतोऽसौ रसः प्रीत्यै कस्य न स क्षितीश्वरपते प्रालेयकालोऽधुना ॥४३६॥

इति पठति बन्दिवृन्दारकवृन्दे, प्रविश्य प्रौढप्रदोषायां निशि प्रत्यक्षतार्क्ष्यनामा हैरिको मामेवं व्यजिज्ञपत्—'देव, विजयवर्धनसेनापतिविजयेन वर्धसे । पुनश्च

शुण्डालैर्घनघस्मरैरजगवैरिन्द्रायुधस्पर्धिभिः कुन्तैः कैतकपत्त्रपद्धतिधरैः खड्गैस्तडिड्डम्बरैः ।
क्षत्त्रच्छत्त्रशिलीन्ध्ररुद्धवसुधाबन्धः शरोग्रागमः संग्रामस्तुमुलस्ततः समभवत्पर्जन्यकालक्रियः ॥४३७॥

यस्मादन्यतरेद्युरेत्र दिवसे, रक्तचन्दनचितचण्डिकाल्पनमनोहारिणि सति पूर्वगिरिशिखरशेखरे सूरे, भवत्सु च सर्वसंनाहात्रहबहलकोलाहलेषु प्रतिबलेषु, ×सैन्यकमुख्योद्देशेनेश्वरनिर्दिश्यमानाभिधानेषु, वस्तुवस्त्रास्त्रकवचवाहनेषु,

का समय किसे प्रमुदित नहीं करता ? अपि तु सभी को प्रमुदित करता है । जिसमें यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला स्त्रियों का गाढ़ आलिङ्गन कामी पुरुषों में स्वयं ही (विना याचना किये) होरहा है । जिस काल में ऐसी रात्रि का आगमन है, जिसकी दीर्घता कामक्रीड़ा में चाहे हुए के समान है और जिसमें यह प्रत्यक्ष प्रतीत हुआ तत्काल में निकला हुआ गन्नों का रस वर्तमान है, जो कि गीले अदरक के खण्डों से परिचित (युक्त) है[1] ॥४३६॥

प्रस्तुत गुप्तचर का विज्ञापन—हे देव ! आपके 'विजयवर्धन' सेनापति द्वारा प्राप्त कीगई विजयश्री के फलस्वरूप आप वृद्धिंगत होरहे हैं ।

क्योंकि आज से पहले दिन में ही [अचल नरेश की सेना के साथ] प्रलयकालीन मेघ को तिरस्कार करनेवाले हाथियों से, इन्द्रधनुष-सरीखे अजगवों (शिवजी के धनुप समान महाभयङ्कर धनुपों) से, केतकी वृक्ष के पत्तों का मार्ग (सदृशता) धारक भालों से एवं बिजली सरीखी आटोप (विस्तार) वाली तलवारों से ऐसा भयानक संग्राम हुआ, जो वर्षाकाल सरीखा था । अर्थात्—जिसप्रकार वर्षा ऋतु में प्रचुर जलवृष्टि होती है उसीप्रकार युद्ध में भी महाभयङ्कर बाण-समूह की वृष्टि होरही थी और जिसमें माण्डलिक राजाओं के छत्ररूपी शिलीन्ध्रों द्वारा पृथिवीमण्डल व्याप्त किया गया है एवं जिसमें बाण-समूह की भयानक वृष्टि होरही है[2] ॥४३७॥

हे राजन् ! क्या क्या होनेपर आज से पहले दिन युद्ध हुआ ? जब ऐसा सूर्य गगनमण्डल में विद्यमान होरहा था, जो उसप्रकार मनोहर था जिसप्रकार लालचन्दन से व्याप्त हुआ भवानी-मुख मनोहर होता है और जो उदयाचल पर्वत की शिखर पर मुकुट सरीखा प्रतीत होरहा था। जब शत्रु-सैन्य सभी को प्रहार करनेवाले विशेष कोलाहल से व्याप्त होरहा था। जब सैन्य सैनिकों में से प्रमुख सैनिकों के नाम-ग्रहणपूर्वक आदेश (आज्ञा) देने के कारण सेनापति द्वारा जिनमें सुभटों (वीर योद्धाओं) के निरूपण किये जारहे नामवाले होरहे थे। एवं 'अमुक सैनिक के लिए अमुक वस्तु देनी चाहिए, अमुक के लिए वस्त्र देना चाहिए, अमुक के लिए अस्त्र देना चाहिए, अमुक को कवच देना चाहिए एवं अमुक के लिए घोड़े-आदि की सवारी देनी चाहिए ।' इसप्रकार जब सैनिक लोग वस्तु, वस्त्र, हथियार, बख्तर व घोड़ा-आदि अपेक्षित वस्तुओं के देने का विचार करने में तत्पर होरहे थे ।

×'अनीकमुख्योद्देशेनेश्वरैर्निर्दिश्यमानेषु अभिधानेषु' क० ।

१. समुच्चयालङ्कार । २. उपमा व रूपकालङ्कार ।

तारतरं स्वनत्सु मुखरितनिखिलाशामुखेषु शङ्खेषु, धमायमानासु प्रतिशब्दनापूरितदिगम्बरगिरिगुहामार्गकासु काहलासु, ध्वनत्सु क्षोभिताम्भोनिधिनाभिषु दुन्दुभिषु शब्दायमानेषु सुरसुन्दरीश्रवणारुन्तुदेषु पुष्करेषु, प्रहतासु वित्रासितसैन्यसामज-चिकासु ढक्कासु, वाद्यमानेषु सिद्धवधूii बोधप्रघर्षकेषु महानकेषु, सर्जितासु विजृम्भितभुजगभामिनीसंरम्भासु भम्भासु, प्रगुणितेषु भयोत्तम्भितामरकरिकर्णतालेषु तालेषु, प्रोत्तालितासु रणरसोत्साहितसुभटघटासु करटासु, विलसन्तीषु +विलम्बलयप्रमोदितकदनदेवतावक्षःस्थलासु त्रिविलासु, प्रवर्तितेषु निरन्तरध्वानप्रवर्तिताहवचरराक्षसीकेषु डमरुकेषु, स्फारितासु प्रदीर्घकूजितजर्जरितवीरलक्ष्मीनिकेतनिकुञ्जासु ÷रुञ्जासु, जयन्तीषु विद्विष्टकटकचेष्टितलुण्टासु जयघण्टासु, गायत्सु वेणुवीणाझल्लरीध्वनिसमानतानेषु गायनेषु, उदाहरत्सु मन्त्राशीर्वादनिपुणोच्चारणेषु ब्राह्मणेषु, पठत्सु समरोत्सुकवीरपुरुषहृदयानन्दिषु बन्दिषु, त्वरमाणेषु संपादितदधिदूर्वाचन्दनेषु नृपतिनन्दनेषु,

पुनः क्या क्या होने पर भयानक युद्ध हुआ ? जब शङ्ख, जिन्होंने समस्त पूर्व व पश्चिम-आदि दश दिशा-समूह शब्दायमान किया है, अत्यन्त उच्चस्वर-पूर्वक शब्द कर रहे थे। जब ऐसी काहलाएँ (विशेष भेरियाँ) बजाईं जारहीं थीं, जिन्होंने प्रतिध्वनि द्वारा समस्त दिशा-मध्यभाग, पर्वत और गुफा-श्रेणी शब्दायमान की हैं। जब भेरियाँ शब्द कर रही थीं, जिसके फलस्वरूप जिन्होंने समुद्र-मध्यभाग संचालित किये थे। जब पुष्कर (मर्दल—वाद्यविशेष) देव-सुन्दरियों के कानों में व्याधिजनक अथवा व्रणकर शब्द कर रहे थे। जब ढक्के (ढोल या नगाड़े) कोणों के आघातों द्वारा ताडित किये गए थे, जिसके फलस्वरूप जिनके द्वारा सेना के हस्ति-कलभ (बच्चे) भयभीत किये गए थे। जब सिद्ध-वधुओं (देवियों) की चेतना नष्ट करनेवाले महान् आनक (भेरी तथा नगाड़ा) बजाये जारहे थे। जब भम्भाएँ (वराङ्गा—छिद्र-युक्त बाजाविशेष), जो कि पाताल-कन्याओं का क्रोध विस्तारित करतीं थीं, वृद्धिगत कीगईं थीं। जब ताल (झाँझरियाँ), जिन्होंने देव-हाथियों द्वारा संचालित कानरूप तालपत्र भय से निश्चल किये हैं, वृद्धिंगत होरहे थे—द्रुतगति से बज रहे थे। जब करटाएँ (वादित्रविशेष), जिन्होंने सुभट-रचना को युद्धरस (वीररस) की अभिव्यक्ति द्वारा युद्ध संबंधी उद्यम करने में प्राप्त कराई है, प्रचुर शब्द करनेवाली होरही थीं। जब त्रिविलावादित्र (चारों ओर चर्म से बँधे हुए मृदङ्ग-आदि वाजे), जिनके द्वारा विलम्ब (द्रुत व मध्य से भिन्न—धीरे धीरे बजना) के साम्य के फलस्वरूप संग्राम-देवताओं के वक्षःस्थल हर्षित किये गए हैं, शोभायमान होरहे थे। अर्थात्—कानों को सुख देते हुए बज रहे थे। जब डमरूबाजे, जिन्होंने निरन्तर शब्दों द्वारा संग्रामवर्तिनी राक्षसियाँ अवतारित (प्रेरित) कीं हैं, प्रवर्तित (विस्तृत) होरहे थे—द्रुतगति से बज रहे थे। जब रुञ्जा नाम के वादित्रविशेष, जिन्होंने विस्तृत शब्दों द्वारा वीरलक्ष्मियों के गृहवर्ती मध्यप्रदेश जर्जरित (बधरीकृत—शब्द-श्रवण के अयोग्य) किये हैं, प्रचुर शब्दशाली किये गए थे—द्रुतगति से बजाए गए थे। जब जयघण्टाएँ (कांसे की कटोरियाँ), जो कि शत्रु (प्रकरण में शत्रुभूत अचल नरेश) की सैन्य-प्रवृत्ति को लुप्त करनेवाली होती हुईं जयजयकार कर रही थीं। अर्थात्—प्रकरण में प्रस्तुत यशोधर महाराज की विजयश्री प्रकट कर रही थीं। जब गन्धर्व, जो कि वेणु (वायु प्रविष्ट होने से शब्द करनेवाले सच्छिद्रबाँस), वीणा व झल्लरी (वादित्र-विशेष) की ध्वनियों सरीखा गान करते थे, गान कर रहे थे। जब ब्राह्मण लोग मन्त्र (वेद) के आशीर्वादों का निपुण उच्चारण (उदात्त, अनुदात्त व स्वरित स्वरपूर्वक शुद्ध पठन) करते हुए पढ़ रहे थे। जब स्तुति-पाठक संग्राम में उत्कण्ठित वीर पुरुषों के चित्त प्रमुदित करते हुए पद्पदादि पाठों का उच्चारण कर रहे थे। जब राजपुत्र, जिनके लिए दही, दूर्वा (दूब) और चन्दन के तिलक किये गये थे, युद्ध-हेतु प्रस्थान करने की शीघ्रता कर रहे थे।

ii 'बोधप्रवर्द्धकेषु' क० । +'विलम्बितलय' क० । ÷ 'गुञ्जासु' क० ।

प्रचलत्सु बुद्बुदार्धचन्द्रादर्शनिबिडगुडोड्डमरडामरितभुवनाभोगेषु नागेषु, प्रधावमानेषु Xप्रवेगखुरखरमुखारब्धमेदिनीवादन-विराजिषु वाजिषु, संचरत्सुSचक्रधाराभराभुग्नभोगिवदनेषु स्यन्दनेषु, प्रसर्पत्सु संग्रामानुरागनिर्भरक्रमाक्रान्तिषु पदातिषु, †हर्षमानेषु चापलालनोत्सारितसुरविमानसंबाधेषु योधेषु, ꙮसंनिदधानासु तुमुलकोलाहलालोकनोन्मत्तगतिषु नभश्चरसमितिषु, आसीदत्सु गगनगतिवेगश्रमघर्मस्फुरिताधरेषु विद्याधरेषु, नर्तति कृतकलहदोहदाह्लादनादे नारदे, संजायमाने नवीनवरवरणोत्कण्ठितमनसि देवदारिकासदसि, समुच्छलति विधूसरितामरीकुन्तलाभोगे परागे,

क्रोधावेशप्रधावोद्भटसुभटघटाविर्भवन्मूलबन्ध*स्तूर्णत्वङ्गत्तुरङ्गाननपवनवशावेशविस्तारसारः।
आसीदत्स्यन्दनाग्रध्वजनिभृतभरः पर्यटत्कुञ्जरेन्द्रस्फारव्यापारकर्णाहतिविततशिखः पांसुरूर्ध्वं व्यधावीत् ॥४३८॥
तिरस्कृत्यैवैतद्भुवनमखिलं जातरभसः कथं स्वर्गस्त्रीणाम्मलिनितमुखः पांसुरभवत्।
इति प्राप्तामर्षैः सुभटहृदयावासजननैः स मूलोच्छिन्नोऽभूत्तदनु रुधिरै रागिरुचिभिः ॥४३९॥

जब सेना के हाथी, सुवर्ण-आदिमय जलस्फोटक, सुवर्ण-आदिमय (कृत्रिम) अष्टमीचन्द्र (अर्धचन्द्र) व दर्पणों से जड़ी हुईं गुडाओं (झूलों) से उत्पन्न होनेवाले उत्कट भय से जिनके द्वारा विस्तृत जगत भयभीत किया गया था, शीघ्र प्रस्थान कर रहे थे। जब घोड़े, जो कि प्रकृष्ट वेगपूर्वक संचालित खुरों (शफों—टापों) के लोह-कण्टक सरीखे कठोर अग्रभागों से आरब्ध (मण्डित) पृथिवीरूप वादित्रवादन (बाजे के बजाने) से शोभायमान हुए सरपट दौड़ लगा रहे थे। जब चक्र-(पहिए) धाराओं के भारों द्वारा शेषनाग के हजार मुख (फणा) कुटिलित करनेवाले रथ प्रविष्ट होरहे थे। जब ऐसे पैदल सैनिक तेजी से दौड़ रहे थे, जिनकी चरण-व्याप्ति संग्राम-प्रीति के कारण गाढ थी। जब योद्धालोग, जिन्होंने धनुष-मार्जन द्वारा कौतुकवश आए हुए देवविमानों की संकीर्णता (जमघट) दूर की है, हर्षित होरहे थे। जब देव-समूह, जिनका गमन विशेष कोलाहल-दर्शन से प्रमाद-युक्त होगया था, अत्यन्त समीप में देख रहे थे। जब विद्याधर लोग, जिनके अधर (ओंठ) आकाश में गमन की उत्सुकता से उत्पन्न हुए खेदोच्छ्वासवश कम्पित होरहे थे, आसीन होरहे थे। जब युद्ध-मनोरथ से आनन्द-शब्द करनेवाला नारद हर्षपूर्वक नृत्य कर रहा था। जब देव-वेश्या-समूह नवीन वरों के स्वीकार करने में उत्कण्ठित मनवाला होरहा था और जब देवियों के केशपाशों की परिपूर्णता को विशेषरूप से धूसरित करनेवाली धूलि उड़ रही थी।

अथानन्तर प्रस्तुत गुप्तचर यशोधर महाराज के प्रति पुनः युद्ध-घटनाओं का निरूपण करता है—

हे राजन्! ऐसी धूलि आकाश-मण्डल की ओर उछली, जिसका प्रथम उत्थान क्रोधावेश से दौड़ने का महान् आडम्बर करनेवाले सुभट-समूहों से प्रकट होरहा है। जो शीघ्र दौड़नेवाले घोड़ों के मुखों की उच्छ्वासवायु से विशेष विस्तृत होरही थी। जिसका समूह प्राप्त होती हुई रथों के ऊपर बँधी हुई ध्वजाओं (पताकाओं) द्वारा निश्चल होगया था एवं जिसके अग्रभाग प्रस्थान करते हुए श्रेष्ठ हाथियों के प्रचुर प्रवृत्ति-युक्त कर्णताडन द्वारा विस्तीर्ण होगए थे[1] ॥४३८॥ हे राजन्! तदनन्तर वह धूलि लालकान्तिवाले ऐसे रुधिरों से मूलोच्छिन्न (जड़ से भी नष्ट) होगई, सुभटों के वक्षःस्थलों से जन्म प्राप्त करनेवाले जिन्होंने धूलि के प्रति इसकारण से ही मानों—क्रोध प्रकट किया था—कि उत्पन्न हुए वेगवाली इस धूलि ने जब समस्त मृत्युलोक पूर्व में ही तिरस्कृत कर दिया था तब फिर किसकारण यह स्वर्ग-स्त्रियों के मुख म्लान

X'प्रवेगखरखुरारब्ध' क०। S'रथचक्रधारा' क०। †'विकुर्वाणेषु' क० ग० च०। ꙮ'सन्निधानासु' क०।
*'तूर्णं तुरगतुरगानन' क०। १. अर्थव्यक्ति नाम के गुण से विभूषित।

यत्र च । आकृष्टोन्मुक्तमौर्वीव्यतिकरविनमद्व्यस्यदिष्वासनिर्यट्टंकारस्फारसारत्रसदवशसुरश्रेणिशीर्णप्रचारः ।
योधैर्युद्धप्रबन्धादनवरतशरासारशीर्यत्तुरङ्गः पातङ्गः स्यन्दनोऽयं द्रवदरुणमदः खे सखेदं प्रयाति ॥४४०॥
चक्रोत्कृत्तकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारोद्धुरस्कन्धाबद्धसिराकरालकरणै रुण्डैर्भवत्ताण्डवैः ।
†युद्धस्पर्धविवृद्धबुद्धिविधृतव्यापारघोरादरैस्तद्देव द्विषतां मुहुः पुनरभूत्सैन्यं सदैन्यं तव ॥४४१॥
अपि च यत्र । सद्यश्छिन्नविकीर्णलग्नगरणप्रोत्तालमुक्तस्वरप्रत्यारब्धनियुद्धरुण्डरभसैर्जाताप्सरःसंगमैः ।
भर्तुः कार्यविधायिधैर्यधृतिभिर्धीरै रणप्राङ्गणे स्वर्गे च त्रिदशस्तुतिव्यतिकराद्रोमाञ्चितैः स्थीयते ॥४४२॥

तत्र द्विपुष्करकरनालासरालवेतालकुलनिपीयमानशोणितासवे महाहवे देव, स्वयमेव विजयवर्द्धनसेनापतिना स्खलितबलोऽचलः कृतमृगायितमतिर्विहितरणरङ्गापसृतिर्विघटितविद्विष्टकरटिघटैर्भवदनीकसुभटैर्धृतः

करनेवाली हुई[1] ? ॥४३९॥ जिस संग्राम में यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला ऐसा सूर्य-रथ आकाश में खेदसहित संचार कर रहा है, जिसका व्यापार (गमन) ऐसे धनुष से, जो कानों तक खींचकर ऊपर छोड़ी हुई धनुष-डोरी के प्रघट्टक (संबंध) से झुकता हुआ बाण छोड़ रहा है, निकलते हुए टंकारों (शब्दों) के प्रचुरतर (महान्) बल से भयभीत होते हुए व पराधीन हुए देव-समूहों द्वारा मन्द किया गया है अथवा नष्ट कर दिया गया है। जिसके घोड़े सुभटों (वीर योद्धाओं) द्वारा किये हुए संग्राम-प्रबन्ध के फलस्वरूप निरन्तर कीजानेवाली बाण-वृष्टियों द्वारा सैकड़ों टुकड़ेवाले (चूर-चूर) होरहे हैं एवं जिसमें सूर्य-सारथि का अहङ्कार नष्ट होरहा है[2] ॥४४०॥ हे राजन् ! आपकी वह शत्रु-सेना फिर भी ऐसे कबन्धों (शिर-रहित शारीरिक धड़ों) से वार वार अकिञ्चित्कर (युद्ध करने में असमर्थ—नगण्य) हुई, जिनके शरीर लोहमयी चक्रों द्वारा काटे गए कर्कश कण्ठों से प्रवाहित होनेवाली रुधिर-धाराओं से उत्कट हुए स्कन्धों पर स्थित हुई सिराओं से भयङ्कर होरहे थे। जिनमें नर्तन उत्पन्न होरहा था एवं जिनकी एकाग्रता युद्ध-क्रोध से वृद्धिंगत बुद्धि में आरोपित हुए व्यापार (नियोग) से रौद्र (भयानक) होरही थी[3] ॥४४१॥ तथा च—जिस युद्धाङ्गण पर ऐसे सुभट निश्चल होरहे हैं, जिनमें ऐसे कबन्धों (विना शिर के धड़ों) का वेग वर्तमान है, जो कि तत्काल में काटी गईं व यहाँ वहाँ पृथिवी पर गिरी हुई और खून से मिश्रित (लथपथ) हुईं गलों की नालों द्वारा उत्सुकता के साथ किये हुए शब्दों के साथ मण्डित होनेवाले बाहुयुद्धों से व्याप्त हैं। जिनका (सुभटों का) देवियों के साथ संगम उत्पन्न हुआ है और जिनका धीरता-पूर्ण सन्तोष स्वामी का कर्तव्य पूर्ण करनेवाला है एवं स्वर्ग-लोक में व संग्राम के अवसर पर देवताओं द्वारा किये हुए स्तुति के संबंध के फलस्वरूप जिनमें रोमाञ्च उत्पन्न हुए हैं[4] ॥४४२॥

अब 'प्रत्यक्षतार्क्ष्य' नामका गुप्तचर युधिष्ठिर महाराज के प्रति प्रस्तुत युद्ध-फल निरूपण करता है—हे राजन् ! उस महान् युद्ध में, जहाँपर, संग्राम में मरे हुए हाथियों के शुण्डादण्ड (सूँड़ें) रूपी नालों (कमलडंडियों) से विशाल वैताल-समूहों (मृतक शरीरों में प्रविष्ट हुए व्यन्तरदेव-विशेषों) द्वारा रुधिररूपी मद्य पी जारही है, ऐसा शत्रुभूत अचल नरेश, जिसकी सामर्थ्य (युद्धशक्ति या सैन्यशक्ति) 'विजयवर्धन' सेनापति द्वारा स्वयं ही नष्ट कर दी गई है और जिसका मन युद्धभूमि से भागने के लिए [उत्सुक] होरहा था एवं जिसने संग्राम की जमघट विघटित (नष्ट या दूर) की है, शत्रु-हस्ति-समूहों को भगानेवाले आपके सुभटों द्वारा बाँध लिया गया है और हे देव ! वह केवल

† 'युद्धस्पर्द्धिविवृद्धबुद्धिविधुरव्यापारघोरादरैः' क० ।

१. हेतु-अलङ्कार । २. गौडीया रीति (समासबहुलपदशालिनी पद-रचना) एवं अतिशयालङ्कार । ३. रौद्ररस, गौडीया रीति व जाति-अलंकार । ४. रौद्ररस, गौडीया रीति एवं समुच्चयालंकार ।

समानीतश्च स्वकीयसैन्यजन्यजयाकर्णनोद्भवरोमाञ्चस्फुटद्वीरवधूहस्तकटके विजयकटकम् ।

कदाचित्कामिनीनां मदिरामोदमेदुरमुखमरुत्संवादिसौरभासु विदलन्तीषु बकुलकलिकासु, दशनच्छदोद्देशदंश-प्रकाशपेशलासु विकसन्तीषु कङ्केल्लिवल्लरीषु, सुरतश्रमसंजातजलजालकलिपिषु विलसन्तीषु माकन्दमञ्जरीषु, दीर्घापाङ्ग-भङ्गिसुभगेषु स्फुटत्सु मल्लिकामुकुलेषु, कलगलकलिलीलेषु समुच्छलत्सु पिकपाककुलकोलाहलेषु, चिकुररुचिरचिरचञ्चरीक-चरणचापलचलितविकचविचकिलगलन्मकरन्दस्यन्दसार्द्रासु भवन्तीषु वनवसुधासु, विकटकुचाभोगशोभारम्भिषु विराजत्सु माधवीकुसुमस्तबकेषु, कपोलकान्तिमाधुर्यस्पर्धिषु प्रबोधत्सु मधूकपुष्पेषु, मृगमदरसच्छुरितैकदेशार्धचन्द्राभिनयनवनख-निवेशप्रश्रयेषु चकासत्सु पलाशप्रसवकुड्मलेषु, घनघुसृणरसारुणितनाभिकुहरकान्तिष्ववतरत्सु कर्णिकारप्रसूनेषु, विभ्रमोन्नद्ध-भ्रूप्रभावनिर्भरेण धनुषा संनह्यति वशीकृतजगत्त्रये कुसुमचापे, मलयोपशल्यवल्लीपल्लवोल्लासिनि माल्यवल्ललतालतान्तामोदमांसले

बाँधा ही नहीं गया है, अपितु आपकी विजयकटक (सैन्य) में, जिसमें अपने सैन्य की संग्राम से उत्पन्न हुई विजयश्री के श्रवण से उत्पन्न रोमाञ्चों द्वारा वीरवधुओं के हस्त-कटक (वलय) उल्लास-वश टूट रहे हैं, पकड़कर लाया गया है। अर्थात्—बाँधकर आपके पास लाया गया है।

प्रसङ्गानुवाद—अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज ! मैंने अनेक अवसरों पर सुभाषित वचनों के पठन में निपुण व कामदेवरूपी पुष्परस से समस्त मनुष्यों के हृदय उल्लासित करनेवाले स्तुतिपाठक के सुभाषित वचन, जो कि कानों में अमृत-वृष्टि करते थे, श्रवण करते हुए किसी अवसर पर वसन्त ऋतु (चैत व वैसाख माह) में कामदेव की आराधना की।

वसन्त ऋतु संबंधी कैसी शोभा होनेपर मैंने कामदेव की आराधना की ? जब बकुल (मौलसिरी) वृक्ष की पुष्प-कलियाँ, जो उसप्रकार सुगन्धित थीं जिसप्रकार कामिनियों की मद्य-सुगन्धि से स्निग्ध मुख-वायु सुगन्धित होती है, विकसित होरहीं थीं। जब अशोकवृक्ष-मञ्जरियाँ (वल्लरियाँ), जो उसप्रकार की शोभा (रक्तकान्ति) से मनोहर थीं जिसप्रकार ओष्ठप्रदेश पर स्थित हुए ओष्ठ शोभा (रक्तकान्ति) से मनोज्ञ होते हैं, प्रफुल्लित होरहीं थीं। जब आम्र-वल्लरियाँ, जिनकी लिपि (अवयव) सुरत-(मैथुन) श्रम से उत्पन्न हुए स्वेद-बिन्दु-समूह के सदृश थी, शोभायमान होरही थीं। जब दीर्घ नेत्र-प्रान्तभागों की रचना सरीखी मनोज्ञ मालती-लताओं की अधखिली कलियाँ खिल रही थीं। जब कण्ठकूजितों की शोभावाली कोयल-समूहों की मधुर ध्वनियाँ उत्पन्न होरहीं थीं। जब वनभूमियाँ ऐसे पुष्परस-स्रवण से सरस होरही थीं, जो कि केश-कान्ति-सरीखे मनोहर भौरों के चरणों की चञ्चलता से हिलनेवाले विकसित मुक्तबन्ध-पुष्पों से झर रहा था। जब सटे हुए कुचों (स्तनों) की शोभा आरम्भ करनेवाले माधवीलता (वसन्तीवेल) के पुष्प-गुच्छे शोभायमान होरहे थे। जब कपोल-कान्तियों की मनोहरता तिरस्कृत करनेवाले बन्धुजीवक पुष्प विकसित होरहे थे। जब ऐसे किंशुकवृक्ष के पुष्प-कुड्मल शोभायमान होरहे थे, जो ऐसे नवीन नखक्षतों के सदृश थे, जिनमें तरल कस्तूरी से चित्रवर्णशाली एकदेशवाले अर्धचन्द्र की अभिव्यक्ति (शोभा) पाई जाती है। जब कर्णिकार (कनेर) वृक्ष-पुष्प, जिनकी कान्ति प्रचुर केसर-रस से अव्यक्त लालिमाशाली नाभिकुहर (छिद्र) के सदृश थी, उत्पन्न होरहे थे। जब तीन लोक को वश में करनेवाला कामदेव ऐसे धनुष से सन्नद्ध होरहा था, जो कि अपाङ्ग-(नेत्र-प्रान्तभाग) नर्तन से उन्नत हुई भ्रुकुटि (भौंहें) के प्रभाव से गाढ़ (सदृश) था। जब दक्षिण दिशा से ऐसी [शीतल, मन्द व सुगन्धित] वायु का संचार होरहा था, जो मलयाचल की समीपवर्तिनी वल्लियों (लताओं) के पल्लव उल्लासित करती हुई दक्षिणदिशावर्ती पर्वत के लता-पुष्पों की सुगन्धि से परिपुष्ट—वलिष्ठ होरही थी। जिसका वेग (शीघ्र संचार) किष्किन्धपर्वत (सुग्रीव-पर्वत) संबंधी जड़शाली

किष्किन्धकन्धसंबन्धसिन्धुरोद्धुरकरप्रचारस्खलितरंहसि दर्दुरदरीसर:सरोजमकरन्दमधुस्वादमन्दसंचारे कावेरीसरित्तरङ्गसीकरासारहारिणि केरलाङ्गनालकनृत्ताचरणचतुरे परिसरति भागीरथीपथिक इव दक्षिणास्या दिशः समीरे, किंनरीगणगीतोन्मादितकुरङ्गेषु कुलशैलमेखलोत्सङ्गेषु, रतिरसोत्कण्ठाजरठचाटुकाराभ्यासिनीषु चारणावासविलासिनीषु, प्रियतमप्रसादनोपदेशविनोददोहदोत्सुकासु गन्धर्वनगराभिसारिकासु, सहचरीचरणचर्चोपचारप्रणयिनि विद्याधरपुरलोके, पौलोमीकपोलफलकोचितचित्रचातुर्येण त्रिनोदयत्यैरावणमदं पुरंदरे, लक्ष्मीकुचकुम्भशोभारम्भेण संभावयति वनमालाप्रसूनकिञ्जल्कं मुकुन्दे, गिरिसुताधरदशनदंशनव्यथापायवैदग्ध्येन विधुरयति सुधासूतिकलां शंकरे, भुजङ्गीशिखण्डमण्डनाडम्बरेण क्रीडयति निजफणामणीन् भुजंगनाथे, अपि च । हंसो यत्र मृणालिनीकिसलयैर्गण्डूषतोयैर्गजः कोकश्चुम्बनचेष्टितैः परिपतन्पारापतः कूजितैः ।

एणः शृङ्गविघर्षणैर्मृगपतिर्गाढं पुनः श्लेषणैः शृङ्गारप्रसरप्रसादिहृदयः स्वां स्वां प्रियां सेवते ॥४४३॥

विशाल वृक्षों का आश्रय लेनेवाले हाथियों के उन्नत शुण्डादण्डों (सूँड़ों) की चेष्टा द्वारा रोका गया है। जिसका संचार ऐसे कमलों का पुष्प-रसरूप मद्य का स्वाद लेने के कारण मन्द होगया है, जो दक्षिण दिशावर्ती मण्डूकपर्वत की गुफाओं में वर्तमान हुए तालाबों में [प्रफुल्लित] होरहे थे। जो दक्षिण दिशावर्तिनी कावेरी नदी की तरङ्गों के जलकण-समूह हरण करती हुई केरलदेश (दक्षिणदिशा संबंधी देशविशेष) की कामिनियों के केशों के नर्तन-विधान में प्रवीण है एवं दक्षिणदिशा से आती हुई जो ऐसी मालूम पड़ती है—मानों—गङ्गातीर्थ की पथिक (यात्री) है[1] । जब हिमवान्-आदि कुलाचलों की कटिनियों संबंधी उपरितन मध्यभूमियाँ किन्नरी-समूहों के मञ्जुल गीतों द्वारा उल्लासित (हर्षित) किये गए हरिणों से शोभायमान होरही थीं। जब स्तुतिपाठकों की गृह-स्त्रियाँ रतिरस की वाञ्छा के कारण कर्कश मिथ्या स्तुतियों का अभ्यास (बार-बार अनुशीलन) करनेवाली होरही थीं। जब गायक नगरों की अभिसारिकाएँ (प्रेमीजन के पास रतिविलास-निमित्त प्रस्थान करनेवाली कामिनियाँ) प्रियतम को प्रसन्न करने की शिक्षा के क्रीड़ा-मनोरथों में उत्कण्ठित होरही थीं। जब विद्याधर-नगरवर्ती मनुष्य अपनी प्रियाओं की चरण-चर्चा (चन्दनादि-लेप) के व्यवहार में प्रणयी होरहा था। जब इन्द्र इन्द्राणी के गाल-फलकों पर [कस्तूरी-आदि सुगन्धि द्रव्यों द्वारा] कीजानेवाली मनोज्ञ चित्ररचना की चतुराई द्वारा अपने ऐरावत हाथी का मद (दानजल अथवा अहंकार) उछाल रहा था अथवा अहंकारपक्ष में दूर कर रहा था। जब श्रीकृष्ण अपनी प्रियतमा लक्ष्मी के कुचकलशों की मण्डनविधि-निमित्त देवियों के बगीचा संबंधी पुष्प-केसर की उत्कण्ठा कर रहे थे। जब श्रीशङ्कर पार्वती के ओष्ठों की दाँतों द्वारा चर्वण करने से उत्पन्न हुई व्यथा को विनाश करने की चतुराई के कारण अपने मस्तक पर स्थित हुई चन्द्र-कला का क्षरण कर रहे थे और जब शेषनाग अपनी पद्मावती देवी के मस्तक-आभूषण के आटोप से ही मानों—अपनी सहस्र-फणाओं में स्थित हुए मणियों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे।

अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज! मैंने स्तुतिपाठकों के निम्नप्रकार सुभाषित वचनामृतों का पान करते हुए वसन्त ऋतु में कामदेव की आराधना की—

हे राजन्! जिस वसन्त ऋतु में हंस कमलिनी-पल्लवों द्वारा अपनी हँसी प्रिया का सेवन करता है। जिस वसन्त ऋतु में हाथी कुरले के जलों द्वारा अपनी हथिनी प्रिया के साथ क्रीड़ा कर रहा है। जिसमें चकवा चुम्बन-चेष्टाओं द्वारा अपनी चकवी प्रिया की सेवा कर रहा है तथा कबूतर सामने आता हुआ मधुर शब्दों द्वारा अपनी कबूतरी प्रिया का सेवन करता हुआ सुशोभित

---

१. उत्प्रेक्षालङ्कार।

यत्राशोकतरुः पुरंध्रिचरणस्पर्शप्रवृद्धस्पृहः कान्तावक्त्रमधूनि वाञ्छति पुनर्यस्मिन्नयं केसरः ।
यत्रायं विरहश्च पञ्चमरुचिश्चेतोभवस्फारणः स क्षोणीश वसन्त एष भवतः प्रीतिं परां पुष्यतु ॥४४४॥
चूतः कोकिलकामिनीकलरवैः कान्तप्रसूनान्तरः पुन्नागः शुकसुन्दरीकृतरतिर्यत्रोल्लसत्पल्लवः ।
पुष्यत्स्मेरदलाधरः कुरबकः क्रीडद्द्विरेफाङ्गनः सुच्छायच्छदमाधवीपरिचितः सोऽयं वसन्तोत्सवः ॥४४५॥
उत्फुल्लवल्लिवलनोल्लसदङ्गसङ्गसंजातकान्ततनवस्तरवोऽपि यत्र ।
पुष्पोद्गमादिव वदन्ति विलासिलोकान्मानं विमुच्य कुरुत स्मरसेवितानि ॥४४६॥
ब्रह्मा कथं कथमपि प्ररुणद्धि चेतः शक्ताः स्खलन्न मुनयोऽपि मनो निरोद्धुम् ।
यत्र स्मरे स्मयविजृम्भितबाणवृत्तावुन्मादितत्रिभुवनोदरवर्तिलोके ॥४४७॥

होरहा है। जिसमें हरिण शृङ्ग-घर्षणों द्वारा अपनी प्यारी हरिणी के साथ क्रीड़ा कर रहा है एवं जिस प्रस्तुत ऋतु में सिंह, जिसका हृदय शृङ्गार-प्रसर (राग-व्याप्ति) से प्रसन्न होरहा है, वार वार आलिङ्गन या मिलन द्वारा अपनी सिंहिनी प्रिया के साथ काम-क्रीड़ा कर रहा है[1] ॥ ४४३ ॥ हे पृथिवीनाथ! वह जगत्प्रसिद्ध और प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली यह वसन्त ऋतु आपका उत्कट हर्ष पुष्ट करे, जिसमें अशोकवृक्ष, जिसकी अभिलाषा पुरन्ध्री (कुटुम्बिनी) स्त्रियों के पादताड़न में बढ़ी हुई है। अर्थात्—कवि-संसार की मान्यता के अनुसार अशोकवृक्ष वसन्त ऋतु में कामिनियों के चरण-स्पर्श (पादताड़न) द्वारा प्रफुल्लित होता है, अतः वह कामिनियों के पादताड़न की बढ़ी हुई इच्छा से व्याप्त होरहा है एवं जिस वसन्त ऋतु में बकुल (मौलसिरी) वृक्ष स्त्रियों के मुख में स्थित हुए मद्य का इच्छुक है। अर्थात्—कविसंसार में बकुल वृक्ष स्त्रियों के मुख में वर्तमान मद्य-गण्डूषों (कुरलों) द्वारा विकसित होता है, अतः बकुल वृक्ष स्त्रियों के मद्यमयी कुरलों की अपेक्षा कर रहा है। इसीप्रकार जिस वसन्त ऋतु में यह विरहवृक्ष (वृक्ष विशेष), जो कि कामोत्पत्ति द्वारा चित्त को विभ्रम-युक्त करनेवाला है, पञ्चमराग का इच्छुक है। अर्थात्—विरह वृक्ष भी षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद इन सप्त स्वरों द्वारा गाए जानेवाले सप्त रागों में से पंचम राग द्वारा विकसित होता है, अतः यह पंचम राग का इच्छुक होरहा है[2] ॥ ४४४ ॥ हे राजन्! यह वही वसन्तोत्सव है, जिसमें आम्रवृक्ष, जिसका मध्यभाग कोकिलाओं के कलकल (मधुर) शब्दों से व्याप्त होता हुआ मनोहर पुष्पों से सुशोभित होरहा है। जिसमें पुन्नाग (नागकेसर) वृक्ष, जिसपर तोता-सुन्दरियों (मेनाओं) द्वारा रति प्रकट की गई है एवं जिसमें पल्लव उत्पन्न होरहे हैं। जिस वसन्तोत्सव में कुरबक वृक्ष जिसके पत्तरूपी बिम्बफल सरीखे ओष्ठ विकसित (कुछ प्रकट) होरहे हैं एवं जो क्रीड़ा करती हुई भँवरों की कामिनियों से मण्डित हुआ सुशोभित होरहा है। इसीप्रकार हे राजन्! यह वसन्तोत्सव कान्तियुक्त पत्तोंवाली माधवी-लताओं (वसन्त-वेलों) से संयुक्त है[3] ॥ ४४५ ॥ हे राजन्! जिस वसन्तऋतु में ऐसे वृक्ष, जिनके सुन्दर शरीर प्रफुल्लित लताओं के वेष्टन से उत्कण्टकित या सुशोभित अङ्गों के सङ्ग से भलीप्रकार उत्पन्न हुए हैं, पुष्पों का उद्गम (उत्पत्ति) होने से ऐसे मालूम पड़ रहे हैं—मानों—वे कामी पुरुषों को यह सूचित ही कर रहे हैं—कि 'आप लोग अभिमान छोड़कर कामसेवन कीजिए'[4] ॥ ४४६ ॥ हे राजन्! जिस वसन्त ऋतु में जब कामदेव, जिसने गर्व से बाण-व्यापार विस्तारित किया है और जिसके द्वारा तीन लोक के मध्यवर्ती प्राणी-समूह उन्मत्त किये गए हैं, ऐसा शक्तिशाली होजाता है तब जिस वसन्त में ब्रह्मा भी अपना चित्त

१. समुच्चयालङ्कार। २. जाति-अलङ्कार। ३. हेतु-अलंकार। ४. उत्प्रेक्षालंकार।

तद्देव, आदीयतां वासन्तो नेपथ्यविधिः। भवन्ति चात्र श्लोकाः—

कनककमलगर्भस्पर्धिसौन्दर्यसारे युवतिजनविनोदव्यासहंसावतारे।
परिसरतु तवाङ्गे कुङ्कुमोद्वर्तनश्रीरहणकिरणकान्तिः काञ्चनाद्रेः ॥४४८॥
त्वं देव देहेऽभिनवे दधानो गोरोचनापिञ्जरिते दुकूले।
आभासि नीरेजरजोरुणायाः श्रिया समानस्त्रिदशापगायाः ॥४४९॥
यः श्रीनिरीक्षिततलपक्ष्मरुचिप्रपञ्चः कीर्तिस्वयंवरणपुष्पसराभिरामः।
वक्षःस्थले तव नृपापततादस्य हारः कैलासदेश इव देवनदीप्रवाहः ॥४५०॥
लक्ष्मीलोचनकज्जलोचितरुचौ विद्याधरीचूचुकश्लाघ्यश्यामगुणे मधुव्रतकुलच्छायापहासिद्युतौ।
राजन्नीलमणिप्ररोहसुभगाभासे प्रसूनोच्चयस्त्वन्मौलावसिताम्बुदान्तरचरचन्द्रच्छविः शोभताम् ॥४५१॥
यः श्रीकण्ठग्रहणसुभगो वीरलक्ष्मीविलासः कीर्तिप्रादुर्भवनवसतिः कल्पवृक्षावतारः।
पृथ्वीभारोद्धरणसमये शेषसंकल्पमूर्तिः सोऽयं हस्तस्तव विजयतां रत्नभूषाभिरामः ॥४५२॥

महान् कष्ट से रोकता है और ऋषि भी संयम-च्युत होते हुए चित्त को रोकने में समर्थ नहीं होते[1] ॥ ४४७ ॥

इसलिए हे राजन्! आप वसन्त ऋतु के अवसर पर होनेवाला आभरण-विधान स्वीकार कीजिए। इस आभरण-विधि के समर्थक निम्नप्रकार श्लोक भी हैं—

हे राजन्! आपके शरीर पर, जो कि सुवर्ण व कमल के मध्यभाग की सदृशता धारण करनेवाले सौन्दर्य से श्रेष्ठ है और जिसमें युवती स्त्री-समूह संबंधी क्रीड़ा-विस्ताररूप हँस प्रविष्ट होरहा है, काश्मीर की तरल केसर से कीहुई विलेपन-शोभा उसप्रकार विस्तृत हो जिसप्रकार सुमेरु पर्वत के शरीर पर सूर्य-किरण-कान्ति विस्तृत होती है[2] ॥ ४४८ ॥ हे देव! आप गोरोचना से पीतरक्त किये हुए नवीन दोनों दुकूल (रेशमी शुभ्र धोती व दुपट्टा) शरीर पर धारण करते हुए उसप्रकार सुशोभित होरहे हैं जिसप्रकार कमल-पराग से अव्यक्त लालमा-शालिनी गंगा सुशोभित होती है[3] ॥ ४४९ ॥ हे राजन्! वह जगत्प्रसिद्ध ऐसा हार (मुक्तामयी हारयष्टि) आपके वक्षःस्थल पर प्राप्त हो, जिसका कान्ति-विस्तार लक्ष्मी-चितवन को तिरस्कार करनेवाला है और जो उसप्रकार मनोहर है जिसप्रकार कीर्ति की स्वयम्वर-पुष्प-माला मनोहर होती है एवं जो उसप्रकार सुशोभित होरहा है जिसप्रकार कैलाश पर्वत पर स्वर्गंगा का प्रवाह सुशोभित होता है[4] ॥ ४५० ॥ हे राजन्! आपके मस्तक पर, जिसकी योग्य कान्ति लक्ष्मी के नेत्र-कज्जल सरीखी है और जिसमें विद्याधरी-स्तनों के अग्रभाग-समान प्रशंसनीय श्यामगुण पाया जाता है एवं जिसकी कान्ति भ्रमर-श्रेणी को तिरस्कृत करनेवाली है तथा जिसकी मनोज्ञ कान्ति नीलमणियों के अङ्कुरों सरीखी है, ऐसा पुष्प-समूह शोभायमान होवे, जिसकी कान्ति श्याम मेघ के मध्य में संचार करनेवाले पूर्णमासी के चन्द्रमा-सरीखी है[5] ॥ ४५१ ॥ हे राजन्! वह जगत्प्रसिद्ध यह रत्नमयी आभूषणों से मनोज्ञ आपका ऐसा हस्त विजयश्री प्राप्त करे, जो कि लक्ष्मी-(शोभा) युक्त कण्ठ का ग्रहण करने से मनोहर है अथवा श्रीकण्ठ (श्रीमहादेव) को स्वीकार करने से मनोहर है। जिसमें वीरलक्ष्मी का विस्तार वर्तमान है। जो कीर्ति-उत्पत्ति की वसति (गृह) है एवं जो बाहु-मिष से कल्पवृक्ष है तथा जो पृथिवी-भार उठाने के अवसर पर शेषनाग की दूसरी मूर्ति है[6] ॥ ४५२ ॥

---

१. अतिशयालंकार। २. रूपक व उपमालंकार। ३. उपमालंकार। ४. उपमालंकार। ५. उपमालङ्कार। ६. रूपकालंकार।

दोले वा श्रीसरस्वत्योः प्रचेतःपाशपेशले । तव भूषयतां भूप श्रुती माणिक्यकुण्डले ॥४५३॥
भुजशिखरे हरिचन्दनलिखिता तव पत्त्रपद्धतिर्देव । मकरध्वजविजयोत्थितविचित्रकेतुश्रियं धत्ते ॥४५४॥
तव देव निटिलदेशे चन्दनरसनिर्मितच्छविस्तिलकः । धत्तेऽष्टमीन्दुमध्यस्थितगुरुशोभाश्रयां लक्ष्मीम् ॥४५५॥
प्रतिबिम्बमपि वहन्ते यस्याः शिरसा महीश्वराः सा स्तात् । मुद्रा तव देव करे समुद्रमुद्राङ्कितक्षितीशस्य ॥४५६॥
कामस्त्वं रतिसंगमे, सुरपतिः स्वर्गाङ्गनानन्दने, भोगीन्द्रश्च भुजङ्गिकागमविधौ, लक्ष्मीप्रमोदे हरिः ।
वाग्देवीनयनोत्पलोत्सवरसप्राप्तौ सुधादीधितिर्जातः संप्रति भूषणोचितवपुर्भूपालचूडामणे ॥४५७॥

इतश्च स्मरमहोत्सवोल्लासरसवशविलासिनीजनोच्चार्यमाणमङ्गलपरम्परेऽन्तःपुरे

नवकिसलयपूगीपादपस्तम्भशोभाः सिततरुफलकान्ताशोकवल्लिप्रतानाः ।
‡मणिकुसुमदुकूलोल्लोचकेतुप्रकान्तास्तव नृपवर दोलाः कुर्वतां कामितानि ॥४५८॥
वक्त्रं वक्त्रमुपैति यत्र नयने नेत्रप्रतिस्पर्धिनी वक्षः पीनपयोधराग्रकलनात्सोल्लासलीलान्तरम् ।
हस्तौ हस्तसमीपवृत्तिवलितौ जङ्घे च जङ्घाश्रिते दोलान्दोलनमङ्गनार्पितभरं तत्कस्य न प्रीतये ॥४५९॥

हे राजन् ! रत्नमयी दोनों कुण्डल आपके दोनों कानों को, जो कि लक्ष्मी व सरस्वती के झूलों सरीखे हैं और जो उसप्रकार मनोहर हैं जिसप्रकार वरुण-पाश (जाल) मनोज्ञ होता है. मण्डित (विभूषित) कर रहे हैं[1] ॥४५३॥ हे राजन् ! आपकी दोनों भुजाओं (बाहुओं) के अंश पर सर्वोत्तम चन्दन से लिखी हुई पत्त्रवेलि-पङ्क्ति (पत्तों की लता श्रेणीरूप चित्ररचना) उसप्रकार की शोभा धारण कर रही है जिसप्रकार जगत के वशीकरण-निमित्त उत्पन्न हुई अनेक वर्णोंवाली कामदेव की ध्वजा शोभा धारण करती है[2] ॥४५४॥ हे देव ! आपके ललाटपट्टक-प्रदेश पर वर्तमान चन्दनरस-निर्मित कान्ति मे व्याप्त हुआ तिलक अष्टमी-चन्द्र के मध्य में स्थित हुए बृहस्पति की लक्ष्मी का आश्रय करनेवाली लक्ष्मी (शोभा) धारण कर रहा है[3] ॥४५५॥ हे देव ! समुद्र की मुद्रा से राजाओं को अङ्कित (चिह्नित) करनेवाले आपके हाथ में वह मुद्रा (मुद्रिका), जिसका प्रतिबिम्बमात्र भी राजालोग मस्तक से धारण करते हैं. [आभूषणरूप हुई] शोभायमान होवे[4] ॥४५६॥ हे समस्त राजाओं के शिरोरत्न ! ऐसे आप इस समय आभूषणों से विभूषित हुए शरीर से व्याप्त होरहे हैं जो कि रति के साथ संगम करने के लिए कामदेव हैं. स्वर्ग की अङ्गनाओं (देवियों) को उल्लासित करने के हेतु इन्द्र हैं एवं आप उसप्रकार भुजङ्गिकाओं (कामपीडित स्त्रियों) की आगमविधि (आकर्षण-विधान) के हेतु भोगीन्द्र (कामदेव) हैं जिसप्रकार भुजङ्गियों (नागकन्याओं) का चित्त आह्लादित करने के निमित्त भोगीन्द्र (शेषनाग) होता है। इसीप्रकार लक्ष्मी का हर्ष उत्पन्न करने के लिए श्रीकृष्ण हैं तथा सरस्वती के नेत्ररूप कुमुदों की आनन्दरस-प्राप्ति-हेतु (विकसित करने-हेतु) चन्द्र हैं[5] ॥४५७॥

हे देव ? इस प्रदेश पर वर्तमान ऐसे अन्तःपुर में, जहाँपर काम-महोत्सव से उत्पन्न हुए आनन्द-रस के अधीन विलासिनी-(वेश्या) समूह द्वारा मङ्गलश्रेणियाँ पढ़ीं (गाईं) जारहीं हैं,

[बँधे हुए] ऐसे झूले आपके मनोरथ पूर्ण करें, जिनमें नवीन कोंपलोंवाले सुपारी-वृक्षों की स्तम्भ-शोभा वर्तमान है। जिनकी रज्जु-(रस्सी) बन्धन-रचना ऐसीं अशोकवृक्ष-लताओं से हुई है, जिनके प्रान्तभागों पर कर्पूरवृक्ष-फलक (पटल) पाए जाते हैं। इसीप्रकार जो रत्न-पुष्पों से मण्डित रेशमी वस्त्रमयी चँदेवों की ध्वजाओं से विशेष मनोहर हैं[6] ॥४५८॥ हे राजन् ! वह जगत्प्रसिद्ध ऐसा झूले से झूलना किस पुरुष को हर्षजनक नहीं है ? अपितु सभी के लिए हर्षजनक है, जिसमें कमनीय कामिनियों द्वारा अतिशय(विशेषता)

---

‡ 'मणिमुकुटदुकूलो' क० । १. उपमालङ्कार । २. उपमालङ्कार । ३. उपमालंकार । ४. अतिशयालङ्कार । ५. रूपकालंकार । ६. समुच्चयालङ्कार ।

इत्यनेकावसरसूक्तविशारदाम्मदनमकरन्दानन्दितनिखिलजनात्मनो बन्दिनः कृतश्रवणामृतनिषक्तीः सूक्तीर्निशमय्यमधौ मकरध्वजमाराधयामास ।

कदाचित्—खड्गे खड्गतनुस्थितिर्धनुषि च प्राप्ता धनुःसंहतिं बाणे बाणवपुर्भुजे भुजमयी गात्रे तनुत्राकृतिः ।
संग्रामेऽग्रजयाय चिन्तितविधौ चिन्तामणिर्भूभुजां या सा स्यादपराजिता तव मुहुर्जैत्राय धात्रीपते ॥४६०॥

ताराः कुन्तलमौक्तिकानि पतगप्रालेयरश्मी दृशौ वासः स्वर्गसरिद्दिशो भुजलताः काञ्ची पयोराशयः ।
देहो देवगिरिः फणीन्द्रमणयो जाताः पदालंकृतिर्यस्याः साद्भुतशक्तिरस्तु भवतो भूत्यै चिरायाम्बिका ॥४६१॥

स्वर्गेभमेण्ठशितिकण्ठपयोजपीठवैकुण्ठपाठजठरस्तवनोचिताङ्घ्रिः ।
या चावनीचरमरुच्चरखेचरार्च्या सा वः श्रियं प्रतनुतादपराजितेयम् ॥४६२॥

स्थापित किया गया है। अर्थात्—कामिनियों के साथ झूलने से जिसमें उनके द्वारा निम्नप्रकार आनन्दोत्पत्ति संबंधी विशेषता लाई गई है। जिसमें मुख का मुख के साथ मिलन होता है। जिसमें नेत्र एक दूसरे के नेत्रों को देखनेवाले होते हैं। जिसमें वक्षःस्थल उन्नत स्तनों के अग्रभागों के साथ संघट्टन करने से आनन्द अवस्था-युक्त मध्यदेशवाला होजाता है एवं जिसमें दोनों हस्त समीपवर्ती दोनों हस्तों के सद्भाव से उन्हें ग्रहण करनेवाले होते हैं और जिसमें जङ्घाएँ जँघाओं से मिली हुई होती हैं[1] ॥४५९॥

प्रसङ्गानुवाद—हे मारिदत्त महाराज! किसी अवसर पर मैंने निम्नप्रकार 'विजयजैत्रायुध' नामके स्तुतिपाठक द्वारा ज्ञापित कीहुई शोभावाली 'महानवमी' पूर्ण करके उसीप्रकार दीपोत्सव (दीपमालिका-उत्सव) पर्व-लक्ष्मी (शोभा) का, जिसका अवसर (प्रस्ताव—प्रसङ्ग) 'सूतसूक्त' नामके स्तुतिपाठक विशेष द्वारा किया गया था, अनुभव (उपभोग) किया। अब 'विजयजैत्रायुध' नामका स्तुतिपाठक 'महानवमी' उत्सव मनाने के निमित्त प्रस्तुत यशोधर महाराज के समक्ष अपराजिता व अम्बिकादेवी (पार्वती) की निम्नप्रकार स्तुति करता है—

हे पृथिवी-नाथ! ऐसी वह 'अपराजिता' नामकी देवी आपको वारम्बार विजयश्री की प्राप्ति-निमित्त होवे, जो राजाओं के खड्ग में खड्गरूप से निवास करती है। जो उनके धनुष में धनुष-आकार को प्राप्त हुई है और बाण में बाणशरीर-शालिनी है। इसीप्रकार जो राजाओं की बाहु में बाहुरूप से स्थित होती हुई उनके शरीर पर कवच के आकार होकर निवास करती है एवं जो युद्ध में उत्तम विजयश्री की प्राप्ति-निमित्त है तथा वाञ्छित वस्तु देने में चिन्तामणि है[2] ॥४६०॥ हे राजन्! आश्चर्यजनक शक्तिवाली वह ऐसी अम्बिका (श्रीपार्वती) देवी चिरकालतक आपके ऐश्वर्य-निमित्त हो, तारे ही जिसके केशपाश के मुक्ताभरण (मोतियों के आभूषण) हैं। सूर्य व चन्द्रमा जिसके दोनों नेत्र हैं। स्वर्गंगा जिसका निवास-स्थान है। दश दिशाएँ जिसकी भुजलताएँ (बाहुरूप वेलें) हैं समुद्र ही जिसकी करधोनी है। सुमेरु पर्वत ही जिसका शरीर है एवं शेषनाग की फणाओं में स्थित हुए मणि ही जिसके चरणों के आभूषण हुए हैं[3] ॥४६१॥ हे राजन्! वह जगत्प्रसिद्ध ऐसी यह 'अपराजिता' देवी आपकी लक्ष्मी विस्तृत करे, जिसके चरण देवेन्द्र, श्रीमहादेव, ब्रह्मा व श्रीनारायण के पाठ के मध्य में किये हुए स्तवन में योग्य हैं एवं जो देवी, भूमिगोचरी राजा, देवता व विद्याधरों द्वारा पूजनीय है[4] ॥४६२॥

---

१. समुच्चयालङ्कार। २. दीपक व समुच्चयालंकार। ३. रूपक, अतिशय व समुच्चयालंकार। ४. अतिशय व समुच्चयालंकार।

इति विजयजैत्रायुधमागधाववोधितलक्ष्मीं महानवमीं निर्वर्त्य।

तथा—हंसावलीद्विगुणकेतुसितांशुकश्रीः पद्मावतंसरमणीरमणीयसारः।
प्रासादसारितसुधाद्युतिदीप्तदिक्को दीपोत्सवस्तव तनोतु मुदं महीश ॥४६३॥
द्यूतोन्मादितकामिनीजितधृतप्राणेशचाटूत्कटः क्रीडद्वारविलासिनीजनभवद्भूषाविकल्पोद्भटः।
आतोद्यध्वनि*मङ्गलारवभरव्याजृम्भिताशामुखः प्रीतिं पूर्णमनोरथस्य भवतः पुष्यात् प्रदीपोत्सवः ॥४६४॥
आभान्त्यखर्वशिखराग्रविटङ्कपालिदीपावलीद्युतिधृतः पुरसौधबन्धाः।
प्रत्यङ्गसंगतमहौषधिदीप्तदेहास्त्वां सेवितुं कुलनगा इव दत्तयात्राः ॥४६५॥

इति सूतसूक्तसूचितावसरां दीपोत्सवश्रियं चानुभूय।

यावन्ति भुवि शस्त्राणि तेषां श्रेष्ठतरं धनुः। धनुषां गोचरे तानि न तेषां †गोचरो धनुः ॥४६६॥

इत्यायुधसिद्धान्तमध्यासादितसिंहनादाद्धनुर्वेदानुपश्रुत्य समाश्रितशराभ्यासभूमिः।

कूर्मः पातालमूलं श्रयति फणिपतिः पिण्डते न्यञ्चदङ्गः खर्वन्त्युर्वीध्ररन्ध्राण्यपि दधति ककुप्सिन्धुराः साध्वसानि।
गान्धन्तेऽम्भोधयोऽपि क्षितितलविरसद्वीचयस्ते महीश ज्यारोपासङ्गलीढद्धनु‡रटनिभरभ्रस्यभूगोलकाके ॥४६७॥

अब 'सूतसूक्त' नामके स्तुतिपाठक द्वारा की जानेवाली 'दीपोत्सव' (दीपमालिका पर्व) की शोभा का निरूपण करते हैं—

हे राजन्! ऐसा 'दीपोत्सव' आपका हर्ष विस्तारित करे, जिसमें हंस-श्रेणी द्वारा दुगुने शुभ्र हुए ध्वजाओं के शुभ्र वस्त्रों की शोभा पाई जाती है और जिसमें कमलों के कर्णपूरों से मण्डित हुई रमणियों से रमणीय (मनोज्ञ) द्रव्य वर्तमान है एवं जिसमें महलों पर पोती हुई सुधा-(चूने) कान्ति से दशों दिशाएँ कान्ति-युक्त होरहीं हैं[1] ॥ ४६३ ॥ हे राजन्! वह जगत्प्रसिद्ध ऐसा प्रदीपोत्सव आपका हर्ष पुष्ट करे, जो जुआ खेलने में उत्कट अभिमान को प्राप्त हुई कामिनियों द्वारा पूर्व में जीते गए बाद में वस्त्र व हस्त-ग्रहणपूर्वक पकड़े गए अपने अपने पतियों के चाटुकारों (मिथ्यास्तुतियों) से उत्कर्ष को प्राप्त होरहा है और जो, क्रीड़ा करती हुईं वेश्याओं के समूह में होनेवाले शृङ्गारविशेषों से उन्मत्त होरहा है एवं जहाँपर बाजों की ध्वनियों के माङ्गलिक शब्द-समूह द्वारा दशों दिशाओं के अग्रभाग व्याप्त किए गए हैं[2] ॥ ४६४ ॥ हे राजन्! ऐसे नगरवर्ती राजमहल-समूह शोभायमान होरहे हैं, जो कि ऊँचे शिखरोंवाले उच्चस्थानविशेषों के भित्ति-भागों पर स्थापित की हुई दीपक-श्रेणियों की कान्ति धारण करते हुए ऐसे मालूम पड़ते हैं—मानों—आपकी सेवा-निमित्त विहार करनेवाले व प्रत्येक अङ्गों पर मिली हुईं महौषधियों (ज्योतिष्मती-आदि बेलों) से दीप्तिमान् अङ्ग के धारक कुलाचल ही हैं[3] ॥ ४६५ ॥

प्रसङ्गानुवाद—हे मारिदत्त महाराज! तत्पश्चात् मैंने 'आयुधसिद्धान्तमध्यासादितसिंहनाद' (शस्त्रविद्या के मध्य गर्जना करनेवाले—शस्त्रवेत्ता विद्वानों को ललकारनेवाले) इस सार्थक नामवाले धनुर्वेदवेत्ता विद्वान् से निम्नप्रकार धनुर्विद्या की विशेषमहत्ता श्रवण की, जिसके फलस्वरूप मैंने शराभ्यास-(बाण-छोड़ने का अभ्यास) भूमि प्राप्त करनेवाला होकर 'मार्गणमल्ल' नामके स्तुतिपाठक के निम्नप्रकार श्लोक श्रवण करते हुए धनुर्विद्या का अभ्यास किया।

धनुर्वेदविद्या की महत्ता—हे राजन्! लोक में जितनी संख्या में शस्त्र पाये जाते हैं, उन सभी में धनुष सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि धनुर्विद्या में निपुणता प्राप्त कर लेने पर उसमें सभी शस्त्र गर्भित

*'मङ्गलारवभवद्व्यक्तद्विजाशीस्तवः' क०। †'गोचरे' क०। ‡'रटनिभरे भ्रस्यति क्षोणिमध्ये' क०।

1. जाति-अलंकार। 2. हास्यरसप्रधान जाति-अलंकार। 3. उत्प्रेक्षालङ्कार।

आनन्ददुन्दुभिरिव त्रिदशालयानां देवद्रुहां हृदयनिर्दलनाभिघोषः।
दूतः समाह्वयविधौ धरणीधराणां चापस्य ते ध्वनिरयं जयतादुदारः ॥४६८॥
वामे करे किमु धनुः किमु दक्षिणे वा बाणावलीं सृजति कोऽत्र करोऽथवैताम्
इत्थं क्रियाश्रममवेक्ष्य तवाद्भुतार्थं शस्त्रप्रपञ्चसुवलीं खलु कः *करोतु ॥४६९॥
मौर्वीशरव्यान्तरलग्नमूर्तिः शरावली देव भवत्प्रयुक्ता।
चापेन योग्या जगतीं प्रमातुं प्रसारितं सूत्रमिवावभाति ॥४७०॥
लक्ष्यं दृष्टिपथव्यतीतविषयं पुङ्खानुपुङ्खक्रमाद्भित्त्वास्मात्परतः प्रसर्पति गुणस्यूतेव बाणावली।
एवं चापविजृम्भितानि भवतः सद्गण्ययोग्याविधौ धानुर्धर्यगुणं विमुञ्चति मुहुर्धन्वी न बाणं पुनः ॥४७१॥

होजाते हैं। अर्थात्—सभी शस्त्रों की विद्या समा जाती है (सभी शस्त्रों में निपुणता प्राप्त होजाती है) परन्तु दूसरे शस्त्रों की विद्या में धनुर्विद्या गर्भित नहीं होती[1] ॥ ४६६ ॥ अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज! मैंने क्या करते हुए धनुर्विद्या का अभ्यास किया? मैंने 'मार्गणमल्ल' नामके स्तुतिपाठक के निम्नप्रकार सुभाषित वचन श्रवण करते हुए धनुर्विद्या का अभ्यास किया।

हे राजन्! जब आपको ऐसा अवसर प्राप्त होता है, जिसमें डोरी को धनुष पर चढ़ाने की संगति से टूटते हुए धनुष के अग्रभाग के भार (अतिशय) से भूमण्डल नीचे धँसनेवाला होने लगता है तब कूर्मराज (पृथिवी-धारक श्रेष्ठ कच्छप) भयभीत हुआ पृथिवी के आधारभूत मूल का आश्रय लेता है। अर्थात्—उसमें प्रविष्ट होजाता है और उस कच्छपराज के ऊपर स्थित हुआ शेषनाग, जिसका हजार संख्याशाली फणा-मण्डल झुक रहा है, संकुचित होजाता है एवं पर्वत-छिद्र भी ह्रस्व होजाते हैं और दिग्गज भयभीत होजाते हैं तथा समुद्र भी, जिनकी तरङ्गों के पृथिवीतल पर सैकड़ों टुकड़े होरहे हैं, लोडन करने लगते हैं[2] ॥ ४६७ ॥ हे राजन्! यह अत्यन्त उन्नत ऐसी आपकी धनुष-ध्वनि (टंकारशब्द) सर्वोत्कृष्टरूप से वर्तमान हो, जो स्वर्गों की हर्ष-दुन्दुभि-सरीखी है एवं जिसका शब्द असुरों का हृदय भङ्ग करनेवाला है अथवा असुरों के हृदय भङ्ग करनेवाले शब्द-जैसी है एवं जो राजाओं के बुलाने की विधि में दूत है। अर्थात्—जिसप्रकार दूत राजाओं को बुलाने में समर्थ होता है उसीप्रकार यह आपकी धनुष-ध्वनि भी राजाओं के बुलाने में दूत-सरीखा कार्य करती है[3] ॥ ४६८ ॥ हे राजन्! [आपके हस्तलाघव के कारण] यह कोई नहीं जानता कि धनुष आपके बाएँ हस्त पर वर्तमान है? अथवा दक्षिण हस्त पर? एवं इस बाण छोड़ने के अभ्यास के अवसर पर कौन-सा हस्त यह बाण-श्रेणी कर रहा है? (छोड़ रहा है?) इसप्रकार आपका आश्चर्यजनक बाण छोड़ने का अभ्यास देखकर [लोक में] कौन पुरुष निश्चय से आयुधों का विस्तृत अभ्यास करेगा? अपि तु कोई नहीं करेगा[4] ॥ ४६९ ॥ हे देव! आपके द्वारा प्रेरित की हुई बाण-श्रेणी, जिसका शरीर डोरी व वेध्य (निशाने) के मध्य लगा हुआ है और जो धनुष से अभ्यस्त है, पृथिवी के नापने-हेतु फैलाये हुए सूत-सरीखी सुशोभित होरही है[5] ॥ ४७० ॥ हे राजन्! आपका लक्ष्य (निशाना) नेत्रों के अगोचर (दूरतर) है और सूत में पिरोई हुई-सी शोभायमान होनेवाली आपकी बाण-श्रेणी पुङ्ख व अनुपुङ्खों (बाण-अवयव—पर वाली तीर की जगह) के क्रम का अनुकरणपूर्वक लक्ष्य-भेदन करके उससे (लक्ष्य से) दूर चली जाती है, इसप्रकार आपके धनुर्विद्या-चमत्कार विद्यमान हैं, इसलिए जब आपकी अभ्यासविधि धनुर्वेदी विद्वानों द्वारा प्रशंसनीय है तब धनुर्धारी [लज्जित होकर] अपना धनुष-धारण गुण बार-बार छोड़ता है परन्तु बाण नहीं छोड़ता; क्योंकि आपही बाण छोड़ते हैं, आपके सामने

*'करोति' क०। १. जाति-अलंकार। २. अतिशयालंकार। ३. रूपक व उपमालंकार। ४. आक्षेपालंकार। ५. उपमालङ्कार।

कोदण्डाञ्चनचातुरीं रचयतः प्राक्पृष्ठपक्षद्वयप्रोर्ध्वाधोविषयेषु ते निरवधीन् दृष्ट्वा शरांल्लक्ष्यगान् ।
इत्थं नाथ वदन्ति देववनिताः क्षोणीश्वरोऽयं हले किं प्रत्यङ्गविनिर्मितेक्षणभुजः किं चेन्द्रजालक्रियः ॥४७२॥

त्वं कर्णः कालपृष्ठे भवसि बलिरिपुस्त्वं पुनः साधु शार्ङ्गे गाण्डीवेऽप्यस्त्वमिन्द्रः क्षितिरमण हरस्त्वं पिनाके च साक्षात् ।
बालाबाणप्रायचापाञ्चनचतुरविधेस्तस्य किं श्लाघनीयं गाङ्गेयद्रोणरामार्जुननलनहुषक्ष्मापसाम्ये तव स्यात् ॥४७३॥

इति मार्गणमल्लस्य वाग्जीविनो वृत्तानि शृण्वन्कोदण्डविद्यामुपासांचक्रे ॥

कदाचित्संध्योपासनोत्सुकवैखानसमनसि प्रतिदिवानेहसि
अन्योन्यविषयभावं पश्यत यातेऽथ शशिनि तपने च । अरुणमणिकुण्डलश्रियमम्बरलक्ष्मीर्बिभर्तीव ॥४७४॥

दूसरा कौन धनुर्धारी है ?[1] ॥ ४७१ ॥ हे राजन् ! मुख के सामने, पीछे भाग पर, बाएँ व दाहिने भागों पर, ऊपर (आकाश में), नीचे (पाताल) में (समस्त दिशाओं में) धनुष की आकर्षण-निपुणता की रचना करनेवाले आपके बहुतसे बाणों को लक्ष्य में प्राप्त हुए देखकर आकाश में स्थित हुईं देवाङ्गनाएँ इसप्रकार कहती हैं—हे सखि ! यह यशोधर महाराज क्या अपने प्रत्येक अङ्ग पर नेत्र व भुजाओं की रचना करनेवाले हैं ? अथवा इन्द्रजाल की क्रिया करनेवाले हैं ?[2] ॥ ४७२ ॥ हे पृथिवीनाथ ! आप कर्ण के धनुष में साक्षात् कर्ण हो । हे पृथिवीनाथ ! आप विष्णु-धनुष में श्रीनारायण हो । हे पृथिवीनाथ ! आप गाण्डीव (अर्जुन-धनुष) में प्रत्यक्ष अर्जुन हो और रुद्र-धनुष में तुम साक्षात् श्रीमहादेव हो । इसलिए इसप्रकार के आपकी, जिसकी बाणों की आकर्षण-विधि उसप्रकार विचक्षण है जिसप्रकार बालकों के बाण प्राय-सरीखे बाणों की आकर्षण-विधि विचक्षण होती है, भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, परशुराम अथवा श्रीरामचन्द्र, अर्जुन, नल और नहुष (रघुवंशज धनुर्धारी राजा विशेष), इन धनुर्धारियों की सदृशता के विषय में क्या प्रशंसा की जासकती है ?[3] ॥ ४७३ ॥

प्रसङ्गानुवाद—हे मारिदत्त महाराज ! किसी अवसर पर जब तपस्वियों के चित्त संध्यावन्दन में उत्कण्ठित करनेवाला सायंकाल होरहा था, जिसके फलस्वरूप पृथिवी-मण्डल पर ऐसे अन्धकार का प्रसार होरहा था, जब मैं हृदय को आल्हादित करनेवाले चारणों के निम्नप्रकार श्लोक श्रवण कर रहा था, जब दिन पश्चिमदिशा का मुख मण्डित करनेवाले राग में अधिष्ठित हुआ अस्त होरहा था, जब मैं निम्नप्रकार का सुभाषित श्लोक श्रवण कर रहा था और जब मैंने अपराह्न (मध्याह्न-उत्तरकाल) का सन्ध्यावन्दन कार्य सम्पन्न कर लिया था एवं जब मेरे दोनों नेत्र चन्द्र-दर्शनार्थ उत्कण्ठित होरहे थे तब *'कविकुरङ्गकण्ठीरव' नाम के सहपाठी मित्र ने मेरे समीप आकर चन्द्रोदय वर्णन करनेवाले निम्नप्रकार श्लोक पढ़े—क्या होने पर 'कविकुरङ्गकण्ठीरव' नाम के मित्र ने चन्द्रोदय वर्णन करनेवाले श्लोक पढ़े ? जब भूमण्डल पर ऐसे अन्धकार का प्रसार होरहा था—

हे सज्जनो ! आपलोग इस समय (सायंकालीन वेला में) देखिए, जब उदयाचल को प्राप्त हुआ चन्द्र और अस्ताचल को प्राप्त हुआ सूर्य ये दोनों परस्पर-विषयभाव (जानने योग्य) को प्राप्त होरहे हैं । अर्थात्—एक दूसरे को परस्पर देख रहे हैं तब आकाशलक्ष्मी लाल माणिक्यों के ताटङ्कों (कानों के आभूषणों) की शोभा धारण करती हुई-सरीखी शोभायमान होरही है[4] ॥ ४७४ ॥

---

१. उपमालंकार । २. संशयालंकार । ३. रूपक, उपमा व आक्षेप-अलंकार ।
* प्रस्तुत शास्त्रकार का कल्पित नाम । ४. उपमालङ्कार ।

अपि चाखण्डलशुण्डाल† गण्डमण्डलीमण्डनमदमलिनरुचि, शिशिरकरकुरङ्गेक्षणच्छाये, जाह्नवीजलशम्बालमञ्जरीजालजयिनि, पुरंदरपुरपुरंध्री§पयोधराभोगसंगतमृगमदपत्त्रभङ्गसुभगे, किंपुरुषकामिनीकुचचूचुकपटलश्यामसंपदि, प्रत्यङ्गमम्बरतलाद्दिक्करटिपांशुप्रमाथपांसुले, दिग्देवतानिकेतननीलोपलकलशप्रकाशभासिनि, दिक्कन्यकालकवल्लरीविलासप्रसरे, दिक्पालपुरप्रासादप्रचलाकिनीकुलकलापii केलिकले, Xदिगन्तरकान्तारमधुकरीनिकरश्यामले, प्रत्यन्तरालमाशावलयतटिनीतटतमालदलद्योतकान्ते, शिखरान्तरचरच्छबरसीमन्तिनीचिकुरचयरोचिषि, निकुञ्जकुञ्जरकायकान्तिकाले, गिरीशगलगरलकल्माषत्विषि, *सानुसारसारङ्गाङ्गनापाङ्गकृष्णे, प्रतिप्रदेशमचलचक्रवालादभिसारिकाविजृम्भणान्धपटप्रतानतरले, धराधरिणीधम्मिल्लधामधाविनि, महीमहिलामौलिमेचकमणिमहामान्ये, पार्थिवपतिपस्त्यप्रान्तप्रचारिचीनांशुकध्वजाडम्बरविडम्बिनि, स्मरेक्षुकोदण्डपलाशपेशले, प्रतिप्रतीकमिलाचक्राद्द्विजद्विजिह्वाभमहोमधूमोद्गमस्पर्धिनि, विरहवेगागतभुजङ्गीश्वासानिलमलीमसे, भोगिनगरोपवनपल्लवोल्लासलीलापहासिनि, लेलिहानानिला†वलेहजिह्वाजिह्मकालुष्ये, कालियाहिप्रभाप्रभावपाटवस्फुटि, प्रत्यवयवं

जिसकी (अन्धकार की) कान्ति उसप्रकार मलिन (कृष्ण) थी जिसप्रकार इन्द्र-हस्ती (ऐरावत) की कपोलस्थली सुशोभित करनेवाले मद (दानजल) की कान्ति मलिन होती है। जिसकी कान्ति चन्द्रवर्ती हरिण की नेत्र-कान्ति सरीखी [कृष्ण] है। जो गङ्गाजल की शैवालमञ्जरी-श्रेणी को जीतनेवाला (उसके सदृश) है। जो उसप्रकार मनोहर है जिसप्रकार इन्द्रनगर की देवियों के विस्तृत कुच (स्तन) कलशों पर लगी हुई कस्तूरी की पत्त्ररचनाएँ मनोहर होती हैं। जिसकी शोभा किन्नरदेव-कामिनियों के कुच-चूचुकों (स्तनों के अग्रभागों) के समूह सरीखी श्याम है। जो प्रत्येक अवयवों पर आकाशमण्डल से उत्पन्न हुआ दिग्गजों का धूलि ताड़न-सरीखा धूलि-बहुल है। जो दिक्कन्या-मन्दिरों में वर्तमान इन्द्रनील मणिमयी कलशों के प्रकाश-सरीखा शोभायमान होरहा है। जिसका विसर्पण दिक्कन्याओं की केशवल्लरियों के प्रसर समान है। जिसमें दिक्पालनगरवर्ती गृहों की मयूर-श्रेणियों की पंख-क्रीडाओं की शोभा वर्तमान है। जो दिशा-मध्यवर्ती वनों की भ्रमरी-श्रेणी-सरीखा श्यामल है। जो आकाश के दिशासमूह से [प्रवाहित हुई] नदियों के तटवर्ती तमाल-(तमाखू) पत्रों के प्रकाश-सरीखा मनोहर है। जिसकी शोभा (श्यामकान्ति) पर्वतों पर संचार करती हुई भील-वधुओं के केशसमूहों-सी है। जो लताओं से आच्छादित प्रदेशों पर स्थित हुए हाथियों की शरीर-कान्ति-सदृश कृष्ण है। जिसकी कान्ति श्रीमहादेव की कण्ठवर्तिनी विष-कान्ति सरीखी कृष्ण है। जो तटवर्ती हरिणों की हरिणियों के नेत्रप्रान्तों-जैसा श्याम है। जो प्रत्येक स्थान पर मानुषोत्तर पर्वत से आती हुई अभिसारिकाओं (परपुरुष-लम्पट स्त्रियों) के विस्तार में वर्तमान कृष्ण वस्त्र-विस्तार सरीखा चञ्चल है। जो पृथिवीरूपी स्त्री के बँधे हुए केशपाश की कान्ति-सरीखा धावनशील है। जो पृथिवीरूपी स्त्री की मौलि (मुकुटबद्ध केशपाश) के कृष्णरत्न के तेज-सदृश मान्य है। जो चक्रवर्ती-नगर संबंधी प्रान्तभाग पर प्रचार करनेवाली चीनवस्त्र (रेशमी श्यामवस्त्र) की विस्तृत ध्वजा को विडम्बित (तिरस्कृत) करनेवाला है। जो कामदेव के गन्ने के धनुष-पत्र सरीखा मनोहर है। जो पृथिवीमण्डल के प्रत्येक स्थान पर स्थित हुआ द्विज (दाँत, पक्षी व ब्राह्मण) रूप सर्पगृह में वर्तमान होमधूम की उत्पत्ति के साथ स्पर्धा करनेवाला है। जो विरह-वेग को प्राप्त हुई नागकन्या की श्वास वायु-सरीखा मलिन है। जो नागदेवों के नगरवर्ती क्रीड़ावनों के पल्लवों की उल्लासलीला का उपहास करनेवाला है। जिसमें वायु का आस्वादन करनेवाली सर्प-जिह्वा-सरीखा गुरुतर कालुष्य वर्तमान है। जो श्रीनारायण की कान्ति की माहात्म्य-पटुता को तिरस्कृत करनेवाला है। जो ऐसा मालूम पड़ता है—

---

†'गण्डलीमण्डन' क०। §'पयोधरालिङ्गितमृगमद' क०। ii'केलिकलिनि' क०। X'दिगन्तकान्तार' क०। *'सानुसर' ग०। †'अवलिह' क०।

पातालमूलात्तापिच्छगुलुच्छोत्तंस इवान्तरिक्षलक्ष्म्याः, सैंहिकेय×संचर इव नक्षत्रक्षेत्रस्य, नीलिकोपदेह इव त्रिदिवदीर्घिकायाः, कज्जलद्रवोपद्रव इव नभश्चरविमानानाम्, कवचोपचय इव भूभृत्कटकस्य, जलधरजवनिकागम इव कन्दरपरिसराणाम्, इन्द्रनील†निचोलक इव भुवनवलभीमण्डलस्य, महामोहरसप्रसर्प इव ‡कीटककुटीरकाणाम्, परिपल्पूर इव *ककुबाभोगस्य, कालिन्दीतरङ्गसंगम इव विश्वंभराभागानाम्, रेरिहाणनिवहविहार इव वनस्थलीदेशस्य, शबरसैन्यसंगम इव काननविषयाणाम्, असुरसमाजसंपर्क इव×धराध्ररन्ध्रस्थानस्य, कुवलयाकर इव निम्नावनीतलानाम्, चञ्चरीकपरिचय इव +प्रफुल्ललतारामस्य, कृष्णकलापपरिग्रह इव जलनिधीनाम्, ÷काचकपाटपुटोपगम इव च सकललोकविलोकनव्यापारस्य, दुर्जनजनचेष्टितमिव समस्तमुच्चमवचं च वस्तु समतां नयति, Sविजृम्भमाणे तमसि,

विलीन इव, अपहृत इव, अदृश्यतोपगत इव, देशान्तरनीत इव, निमग्न इव, संहृत इव, प्रजापतिपाणिपुटपिहित इव, च *क्षणमात्रं जाते जगति सति,

---

मानों—आकाशलक्ष्मी का तमाल-(तमाखू) गुच्छों का ऐसा कर्णपूर ही है, जो कि पातालतल के प्रत्येक तल से प्रकट हुआ है। अथवा—मानों—आकाश को राहुरूपी व्याधि प्रकट हुई है। अथवा—मानों—स्वर्गरूपी बावड़ी की जम्बालवृद्धि ही है। अथवा—मानों—नभश्चरों (विद्याधरों या देवों) के विमानों पर किया हुआ तरल कज्जल-लेप ही है। अथवा—मानों—पर्वत-कटिनी की कवच-(बख्तर) वृद्धि ही है। अथवा—मानों—गुफा-पर्यन्तभागों के आच्छादन-निमित्त मेघरूप जवनिका-(तिरस्करिणी—कनात) समागम ही है। अथवा—मानों—जगत्पटलरूपी वलभी (छज्जा) को आच्छादित करने-हेतु इन्दुनील मणियों का प्रच्छदपट (ढकनेवालावस्त्र) ही है। अथवा—मानों—दरिद्र-गृहों का अज्ञानरस-विस्तार ही है। अथवा—मानों—दिग्मण्डल का कर्दम-प्रवाह ही है। अथवा—मानों—पृथिवी-देशों के लिए कालिन्दी (यमुना) नदी का तरङ्ग-समागम ही हुआ है। अथवा—मानों—वनस्थली-देशों पर भैंसा-समूह का पर्यटन ही है। अथवा—मानों—वनसंबंधी देशों में भिल्ल-सेना का समागम ही हुआ है। अथवा—मानों—पर्वत-छिद्र प्रदेश के लिए असुर-समूह का समागम ही हुआ है। अथवा—मानों—नीची पृथिवियों पर विकसित हुआ नीलकमल-समूह ही है। अथवा—मानों—विकसित लतावन के लिए भ्रमर-आगमन ही है। अथवा—मानों—समुद्रों द्वारा किया हुआ नारायण-समूह का स्वीकार ही है। अथवा—मानों—समस्त लोगों का दृष्टि-व्यापार रोकने-हेतु काचकामलारोगरूपी कपाटपुट का संबंध ही है। इसीप्रकार यह (अन्धकार) समस्त ऊँच व नीच पदार्थ को उसप्रकार समानता में प्राप्त करता है जिसप्रकार दुष्टजन-व्यापार उच्च व नीच को समता में प्राप्त करता है[1]।

[उक्तप्रकार अन्धकार के फलस्वरूप] अल्पकाल तक पृथिवीमण्डल ऐसा प्रतीत होरहा था—मानों—पिघल ही गया है। अथवा—मानों—अपहरण ही किया गया है। अथवा—मानों—अन्तर्हित होचुका है। अथवा—मानों—दूसरे स्थान पर प्राप्त कराया गया है। अथवा—मानों—डूब गया है। अथवा—मानों—प्रलय को प्राप्त होचुका है। अथवा—मानों—ब्रह्मा के हस्तपुट द्वारा आच्छादित किया गया है[2]।

×'संचय' क०। †'निचलक' क०। ‡'कीटकुटीरकाणां' क०। *'ककुभाभोगस्य' क०। ×'धरारन्ध्रस्थानस्य' क०। +उक्तशुद्धपाठः क० च० प्रतितः समुद्धृतः मु० प्रतौ तु 'प्रफुल्लितारामस्य' पाठः। ÷'काचकणकपालपुटोपगम' क०। S'विजृम्भणे' क०। *'कृष्णत्वं जाते' क०।

१. उत्प्रेक्षालंकार। २. उत्प्रेक्षालंकार।

यैवाशेषजगच्छिरोमणिभुवां धाम्नामभूदास्पदं तस्या एव दिशो मलीमसरुचि*प्रायं तमस्तायते।
आपाण्डु प्रथमं ततः सुरनदीसंभेदरेखानिभं पश्चादातसपुष्पकान्ति तदनु श्रीकण्ठकण्ठद्युति ॥४७५॥
रविरहनि रजन्यामिन्दुरेष प्रतापी तदपि न तिमिराणां संततेर्मूलनाशः।
अनियतगतिसर्गे वैरिवर्गे प्रयुक्तं किमिव भवतु पुंसस्तुङ्गधाम्नोऽपि धाम ॥४७६॥

इति चेतःप्रसत्तिकारणानां चारणानां वचनान्याकर्णयति, वारुणीमुखमण्डनरागाधिष्ठिते प्रतिष्ठिते चाहनि,

विद्विष्टदृष्टिहरणं लवणं कृशानौ नीराज्य ×राज्यविकट स्फुटताद्‌पास्तम्।
राजंस्तवावतरणाभयणं च भक्तं प्रीणातु पुण्यजनमध्वनि बद्धपूजम् ॥४७७॥
नीराजनार्चनविधौ विधिवत्प्रयुक्ता दीपावली सकलमङ्गलहेतुभूता।
नक्षत्रपङ्क्तिरिव मेरुमहीधरस्य पर्यन्तवृत्तिरुदयाय तवेयमस्तु ॥४७८॥
श्रीः श्रेयांसि सरस्वती सुखकथाः स्वर्गौकसः स्वःश्रियं नागा नागबलं ग्रहा +ग्रहगुणं रत्नानि रत्नाकराः।
ये चान्येऽपि समस्तमङ्गलविधौ देवाः सतां संमतास्ते सर्वेऽपि दिशन्तु भूप भवतः संध्यास्ववन्ध्याः क्रियाः ॥४७९॥

प्रसङ्ग—हे मारिदत्त महाराज ! पुनः क्या होनेपर 'कविकुरङ्गकण्ठीरव' नाम के मित्र ने उक्त श्लोक पढ़े ? जब मैं हृदय को प्रमुदित करनेवाले चारणों के निम्नप्रकार गीत श्रवण कर रहा था—

जो पूर्वदिशा समस्त लोक-प्रकाशक श्रीसूर्य से उत्पन्न हुए प्रकाशों का स्थान थी, उसी तेजस्विनी दिशा में अब मलिनकान्ति सरीखा ऐसा अन्धकार विस्तृत होरहा है, जो कि पूर्व में ईषत्पाण्डु (धूसर—कुछ उज्वल) था। तत्पश्चात् जो गंगा के सिन्धु-संगम (जहाँ एक नदी दूसरी से मिलती है) से उत्पन्न हुई कुछ मलिनता-सरीखा (कुछ नीलवर्ण-युक्त) था। उसके बाद जो अतसी (अलसी) पुष्प-सा नीलकान्तिवाला था और तत्पश्चात् जो श्रीमहादेव के कण्ठ-सरीखा विशेष श्याम था[1] ॥ ४७५ ॥ हे राजन् ! यद्यपि दिन में यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला प्रतापी (भयजनक) सूर्य विद्यमान है और रात्रि में प्रतापी (कान्तिमान्) चन्द्र वर्तमान होता है तथापि अन्धकार-समूह का मूलोच्छेद नहीं होता, क्योंकि अनिश्चित प्रवृत्ति करनेवाले शत्रु-समूह द्वारा आरोपित किये हुए धाम (तेज या प्रभाव) के सामने उन्नत तेजस्वी पुरुष का आरोपित किया हुआ तेज कैसा होता है ? अर्थात्—उसकी कोई गिनती नहीं है[2] ॥४७६॥ सुभाषित-श्रवण—उन्नत, विस्तीर्ण अथवा मनोहर राज्यशाली हे राजन् ! शत्रुओं का दृष्टिदोष-नाशक यह लवण, जो कि आपकी आरती उतार कर अग्नि में क्षेपण किया गया है. तड़तड़ शब्द करे और हे राजन् ! आपके ऊपर उतारा हुआ यह भात-पिण्ड, जिसकी मार्ग में पूजा आरोपित की गई है, राक्षसों को सन्तुष्ट करे[3] ॥४७७॥ हे राजन् ! आरती उतारने की विधि में यह प्रत्यक्षीभूत दीपकश्रेणी, जो कि शास्त्रानुसार की हुई समस्त मङ्गल (कल्याण) उत्पन्न करने में कारण है, सुमेरु पर्वत के प्रान्तभाग पर स्थित हुई नक्षत्रश्रेणी-सरीखी आपके प्रान्तभाग पर स्थित हुई आपके राज्य की उन्नति-निमित्त होवे[4] ॥ ४७८ ॥ हे राजन् ! आपके वे सभी देवता, जो कि समस्त कल्याण-विधान में विद्वज्जनों द्वारा माने गए हैं और इनके सिवाय दूसरे देवता (ऋषभदेव-आदि तीर्थंकर परमदेव) भी समस्त सन्ध्याओं में सफल आचरणों का उपदेश करें। उदाहरणार्थ—श्री (लक्ष्मी) देवी कल्याणों का उपदेश करती हुई सरस्वती (वाणी देवता) सुख-कथाएँ (धर्म, अर्थ व काम-पुरुषार्थों का कथन) कहे। इसीप्रकार स्वर्गवासी देव स्वर्गश्री का उपदेश देते हुए नागदेवता (शेषनाग) नागों (हाथियों) जैसी अथवा

---

*'प्रायस्तमस्तायते' क०। ×'राज्यविकटं' क०। +'ग्रहबलं' क०।

१. उपमालंकार। २. आक्षेपालंकार। ३. समुच्चयालंकार। ४. अन्ययोपमालंकार।

इत्याकर्णयति विनिवर्तितापराह्नसंध्यावन्दने चन्द्रालोकनकुतूहलितलोचने मयि सति, प्रविश्य कविकुरङ्गकण्ठीरवनामा सहाध्यायी चन्द्रोदयवर्णनानीमानि वृत्तान्यधिजगौ—

आहुर्नेत्रोत्थमत्रेः सुतममृतनिधेर्यं हरेर्नर्मबन्धुं मित्रं पुष्पायुधस्य त्रिपुरविजयिनो मौलिभूषाविधानम् ।
वृत्तिक्षेत्रं सुराणां यदुकुलतिलकं बान्धवं कैरवाणां स प्रीतिं वस्तनोतु द्विजरजनिपतिश्चन्द्रमाः सर्वकालम् ॥४८०॥
उदयशिखरे शेफालीनां प्रसूनचयच्छविर्गगनसरसि छायां बिभ्रद्बिसाङ्कुरशालिनीम् ।
†सुरपतिवधूहासोल्लासच्छविश्रयदाकृतिः प्रथमसमये चन्द्रोद्योतस्तवास्तु मुदे सदा ॥४८१॥
उत्कल्लोलो जलधिरजडं ‡नीरनीरेजमेतन्मारः स्फारः प्रमदहृदयोदारचाराश्चकोराः ।
सौधोत्सङ्गाः सपदि विहितक्षीरपूराभिषङ्गा यस्योल्लासे स जयति जनानन्दनश्चन्द्र एषः ॥४८२॥

अपनी जैसी शक्ति कहें और सूर्य व चन्द्र-आदि ग्रह देवता ग्रहों (सूर्य-आदि नवग्रहों) के गुण निरूपण करें। [उदाहरणार्थ—सूर्यग्रह का गुण प्रताप, चन्द्र का सौम्य, मङ्गलग्रह का गुण पृथिवी-क्षोभ, बुध का बुद्धिगुण, बृहस्पति का विद्वत्ता गुण, शुक्र का नीति गुण, शनि की शत्रु के ऊपर क्रूरदृष्टि, राहु का एकपादपीडन, केतु का शत्रु का उद्वासन (घात)।] इसीप्रकार समुद्र पांच प्रकार के रत्नों का उपदेश करे[1] ॥ ४७९ ॥

अब 'कविकुरङ्गकण्ठीरव' नामके मित्र द्वारा पढ़े हुए चन्द्रोदय-वर्णन करनेवाले श्लोकों का निरूपण किया जाता है—

हे राजन् ! वह जगत्प्रसिद्ध ब्राह्मणों का और रात्रि का पति ऐसा चन्द्रमा सदैव आप लोगों का हर्ष विस्तारित करे, जिसे विद्वान् लोग अत्रिऋषि (हारीत-गुरु) के नेत्र से उत्पन्न हुआ, क्षीरसागर का पुत्र, श्रीनारायण का नर्मबन्धु (साला) व कामदेव का मित्र और श्रीमहादेव के मस्तक का आभरण करनेवाला व देवताओं की जीविका का खेत कहते हैं [क्योंकि देवता लोग अमृत पीनेवाले होते हैं] एवं जिसे यदुवंशी राजाओं के वंश का तिलक (विशेषता उत्पन्न करनेवाला) कहते हैं, [क्योंकि यादव बुध-कुल में उत्पन्न हुए हैं और चन्द्र बुधकुल का पिता है]। इसीप्रकार विद्वान् लोग जिसे 'कुमुद-बन्धु' कहते हैं, क्योंकि चन्द्र द्वारा कुमुद विकसित होते हैं[2] ॥ ४८० ॥ हे राजन् ! ऐसा चन्द्रोद्योत (प्रकाश) सदा आपके हर्ष-निमित्त होवे, जो उत्पत्तिकाल में उदयाचल की शिखर पर स्थित हुआ निर्गुण्डियों के पुष्प-समूह सरीखा शोभायमान होरहा है और जो आकाशरूप तालाब में कमलिनी-कन्दाङ्कुरों में शोभायमान होनेवाली कान्ति-सी कान्तिधारक है एवं जिसकी आकृति इन्द्राणी महादेवी-आदि की हास्योत्पत्ति-शोभा धारण करनेवाली है[3] ॥ ४८१ ॥ हे राजन् ! वह जगत्प्रसिद्ध प्रत्यक्षप्रतीत व प्राणियों को प्रमुदित करनेवाला ऐसा चन्द्र जयशाली हो अथवा सर्वोत्कृष्टरूप से वर्तमान हो, जिसके उदित होने पर समुद्र ऊँचे उछलती हुई तरङ्गों से व्याप्त होता है, नीरनीरेज (जल-स्थित कुमुद—चन्द्रविकासी कमल) अजड (विकसित होनेवाला अथवा 'डलयोरभेदः' इस नियम से ईषज्जलशाली) होजाता है व कामदेव वृद्धिंगत या उद्दीपित होजाता है एवं [चन्द्रिका पान करनेवाले] चकोरपक्षी उल्लासित चित्त के कारण मनोहर वृत्तिवाले होजाते हैं तथा राजमहलों के उपरितन भाग शीघ्र ही दुग्ध-प्रवाह का संगम किये हुए-जैसे होजाते हैं[4] ॥ ४८२ ॥

---

†अयं शुद्धपाठोऽस्माभिः संशोधितः परिवर्तितश्च, मु० प्रतौ तु 'सुरपतिवधूहासोल्लासश्रियं श्रयदाकृतिः' पाठः परन्तु लुग्विधानवचनानुपलम्भात्—सम्पादकः । ‡'नीलनीरेजनेत' ग० ।

1. समुच्चयालंकार । 2. रूपक व दीपकालंकार । 3. उपमालङ्कार । 4. दीपकालङ्कार ।

हारैस्तारोत्तरलरुचिभिर्दुग्धमुग्धैः कटाक्षैर्हासोल्लासप्रभिभिरधरैः कैरवांसैर्वतंसैः।
यस्य स्त्रीणां स्तनतटभरैश्चन्दनस्यन्दसारैर्योतः सान्द्रीभवति स विधुर्वस्तनोतु प्रियाणि ॥४८३॥

हरति स्मितं प्रियाणामपाङ्गकान्ति विलुम्पति नितान्तम्। अधिकरुचिः स्तनयुगले तथापि चन्द्रो मुदे जगतः॥४८४॥

वृद्धिर्वार्धेर्विजयसमयः पुष्पकोदण्डपाणेः क्रीडानीडं रतिरसविधेः प्राणितं पञ्चमस्य।
स्त्रीणां लीलावगमनिगमः कामिनां केलिहेतुः स्रोतःसूतिर्निजमणिभुवां देव चन्द्रोदयोऽयम् ॥४८५॥

नेत्रैः कज्जलपांसुलैः कुवलयैः कर्णावतंसोदयैः कस्तूरीतिलकैः कपोलफलकैर्लोलालकैर्भालकैः।
स्त्रीणां नीलमणि ii प्रकाशवशगैर्वक्षोजवक्त्रैस्तमश्चन्द्रोद्योतभयेन विद्रुतमिदं दत्तावकाशीकृतम् ॥४८६॥

चरणनखमयूखैरङ्कुरस्थामवस्थां हसितकिरणजालैः पल्लवोल्लासरम्याम्।
प्रसवसमययोग्यामङ्गनानामपाङ्गैरजनिकरतरुश्रीर्नीयते प्राप्तभूमिः ॥४८७॥

हे राजन्! वह जगत्प्रसिद्ध ऐसा चन्द्र आप लोगों के प्रिय (पुण्यकर्म या मनोरथ-सिद्धियाँ) विस्तृत करे, जिसकी कान्ति निर्मल व अत्यन्त प्रकाशमान स्त्रियों के उज्वल हारों से, दूधसरीखे मनोहर (उज्वल) कामिनी-कटाक्षों से, हास्योत्पत्ति का आश्रय करनेवाले रमणी-ओष्ठों से तथा श्वेतकमल-समूह से निर्मित हुए रमणियों के [उज्वल] कर्णपूरों से एवं चन्दन-क्षरण से मनोहर युवतियों के स्तनतट सम्बन्धी अतिशयों से वृद्धिंगत होरही है[1] ॥४८३॥ हे राजन्! यद्यपि चन्द्र स्त्रियों के हास्य का विशेषरूप से अपहरण करता है (उनके हास्य सरीखा उज्वल है) और प्रियाओं के नेत्र-प्रान्तभागों अथवा कटाक्षों की शुभ्रकान्ति विशेषरूप से लुप्त करता है। अर्थात्—इसकी कान्ति कामिनी-कटाक्षों की कान्ति-सरीखी शुभ्र है एवं स्त्रियों के कुचों (स्तनों) के युगलों से भी अधिक कान्तिशाली है तथापि लोक को प्रमुदित करता है[2] ॥ ४८४ ॥ हे देव! प्रत्यक्ष प्रतीत यह चन्द्रोदय समुद्र को वृद्धिंगत करनेवाला, कामदेव की विजयश्री का अवसर और रतिरस का निवास स्थान है। इसीप्रकार यह षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, और निषाद इन वीणा के सप्तस्वरों में से पञ्चम स्वर का प्राण (जीवितप्राय) होता हुआ स्त्रियों की विदग्ध चेष्टाओं (शृङ्गारमय चेष्टाओं) के ज्ञान का शास्त्र है। अर्थात्—इसके उदय होने पर ही स्त्रियों की विदग्ध चेष्टाओं का परिज्ञान होता है एवं यह कामी पुरुषों की कामक्रीड़ा में निमित्त होता हुआ चन्द्रकान्तमणिमयी पृथिवियों की प्रवाहोत्पत्ति है। अर्थात्—इसके उदय होने से चन्द्रकान्तमणि-भूमियों से जल-प्रवाह प्रवाहित होता है[3] ॥ ४८५ ॥

हे राजन्! चन्द्रसंबंधी प्रकाश के भय से भागा हुआ यह अन्धकार अञ्जन-मलिन कामिनी-नेत्रों द्वारा, उनके कर्णपूरों (कानों के आभूषणों) में उदय होनेवाले नीलकमलों द्वारा, कस्तूरी की पत्त्ररचना-युक्त स्त्रियों के गालपट्टकों द्वारा, चञ्चल केशोंवाले स्त्रियों के ललाटपट्टकों द्वारा एवं नीलमणियों की कान्ति सरीखे श्याम कान्तिशाली कामिनियों के स्तनचूचकों द्वारा अवकाश दिया गया है (शरणागत होने के कारण सुरक्षित किया गया है)[3] ॥४८६॥ हे राजन्! इस चन्द्ररूपी वृक्ष की लक्ष्मी को, जिसने भूमि प्राप्त की है (क्योंकि बिना भूमि के वृक्ष उत्पन्न नहीं होता), स्त्रियों की चरण-नख-किरणें अङ्कुर संबंधी दशा में प्राप्त कर रही हैं और स्त्रियों की हास्य-किरण-श्रेणी उसे प्रवालोत्पत्ति से मनोहर अवस्था में लारही हैं एवं कामिनियों के शुभ्र कटाक्ष उसे पुष्प-समयोचित अवस्था में प्राप्त कर रहे हैं[4] ॥४८७॥

---

ii 'प्रकाशमुभगैः' क०।

१. समुच्चयालङ्कार। १. उपमालंकार। २. रूपकालंकार। ३. हेतु-अलंकार। ४. रूपकालंकार।

यस्योदयेषु माद्यति सरित्पतिर्नीरसो जडप्रकृतिः । Sसरसधियः स्मरगुरवस्तत्र कथं सुकृतिनो न माद्यन्ति ॥४८८॥
सर इव विलीननीलिकमम्बरमाभाति तरुणशशिकिरणम् । नीरन्ध्ररोध्रधूलीविधूसरं दृश्यते च दिक्चक्रम् ॥४८९॥
अभिनवयवाङ्कुरा इव कान्तानां कुन्तलेषु शशिकिरणाः । कर्पूरपरागरुचो भवन्ति च स्तनतटेषु विलुठन्तः ॥४९०॥
कदाचित्—शुष्कं कुन्तलकुड्मलैर्मुकुलितं कर्णावतंसोत्पलैः कीर्णं केलिजलेरुहैर्विगलितं गण्डस्थलीचन्दनैः ।
तत्तत्पल्लवपेशलैश्च शयनैराम्लानमामूलतस्तन्व्यास्त्वद्विरहेण सांप्रतमियं आतर्दशा वर्तते ॥४९१॥
कण्ठे मौक्तिकदामभिः प्रदलितं दीनं करे कन्दलैर्वक्षोजैः क्वथितं मृणालवलयैः क्लिष्टं कपोले दलैः ।
अभ्यर्थिकं कथयामि यत्परिजनैर्याश्चन्दनानां छटाः कीर्यन्ते त्वरयैव ताः प्रदधते शोषं तदङ्गोष्मणा ॥४९२॥
तवागसास्याः सुतनोरवस्था किमुच्यतामेकमिदं तु वच्मि ।
श्वासोष्मणा बाष्पपयःप्रवाहः प्राप्नोति नैवाधरचुम्बनानि ॥४९३॥

हे राजन् ! जिस चन्द्रोदय में जब नीरस (रसहीन अथवा खारा) और जडप्रकृति (जडस्वभाववाला अथवा जल से भरा हुआ) समुद्र उद्वेलित (ज्वारभाटा-सहित—वृद्धिंगत) होजाता है तब उस अवसर पर पुण्यवान् पुरुष, जो कि सरस (अनुराग-पूर्ण) बुद्धिशाली और कामदेव से महान् हैं, किसप्रकार उद्वेलित—हर्षित—नहीं होते ? अपितु अवश्य होते हैं[1] ॥४८८॥ हे राजन् ! तरुण चन्द्र-किरणोंवाला आकाश शैवाल-शून्य सरोवर-सरीखा और दिशा-समूह सघन लोध्रपुष्प-परागों से विशेष धूसरित हुआ जैसा (उज्वल) दृष्टिगोचर होरहा है[2] ॥४८९॥ हे राजन् ! चन्द्र-किरणें कामिनी-केशों पर विलुण्ठन (लोट-पोट) करती हुई नवीन यवाङ्कुरों सरीखी दृष्टिगोचर होरही हैं और कामिनियों के स्तनतटों पर विलुण्ठन करतीं हुई कर्पूर-धूलि-सरीखी कान्तियुक्त होरहीं हैं[3] ॥४९०॥

प्रसङ्गानुवाद—किसी अवसर पर मैंने, जिसने विरहिणी सुन्दरियों की अवस्था-निरूपण करने में चतुर व अवसर-योग्य निम्नप्रकार सुभाषित श्लोक-भाषण में प्रवीण पुरुषों द्वारा प्यारी स्त्रियों की अपराधविधि (दोषविधान) का संभालन (निश्चय) किया था, रतिविलास की अत्यन्त उत्कण्ठा से श्रान्त हुई मृगनयनी स्त्रियों के ऐसे कामज्वर की, जो कि लङ्घन-व्यापार से शून्य और औषधि-रहित सुखास्वादमात्र की कथा-युक्त था, ऐसे अनिर्वचनीय (कहने के लिए अशक्य) व्यापार द्वारा, जिसमें रोगीजन के मन द्वारा चिकित्सा-सुख जान लिया गया था, वारम्वार चिकित्सा की।

विरहिणी स्त्रियों की अवस्था-निरूपक सुभाषित श्लोक—हे राजन् ! आपके विरह से उस कृशोदरी प्रिया की इस समय यह प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाली दशा है—उसके केशकलाप-स्थित कुड्मल (कुछ खिले हुए पुष्प) मलिन होगये हैं। कर्णपूर (कानों के आभूषण) किये हुए कुमुद पुष्प अविकसित हुए हैं। हे राजन् ! क्रीड़ाकमल विक्षिप्त हुए हैं और उसकी गालस्थली पर लिम्पन किये हुए चन्दनरस प्रस्वेद-बिन्दुओं द्वारा प्रक्षालित किये गए हैं एवं उन-उन प्रसिद्ध पल्लवों से मनोहर शय्याएँ समूल शुष्क होगई हैं[4] ॥ ४९१ ॥ हे राजन् ! उसके गले पर धारण की हुई मोतियों की मालाएँ चूर्णित होगई हैं—टूट गई हैं। हस्त पर स्थित हुए नवीन अङ्कुर म्लान होगए हैं। कुचकलशों की उष्णता से पद्मिनी-कन्दसमूहों का काढ़ा होगया है—अत्यधिक उष्ण होगए हैं। गालों पर स्थित पत्र संतप्त होगए हैं और हे मित्र ! आपको अधिक क्या कहूँ, जो चन्दनरस-धाराएँ उसके शरीर पर कुटुम्बीजनों द्वारा विक्षेपण की जाती हैं, वे उसकी शरीर-ऊष्मा से शीघ्र ही शुष्क होजाती हैं[5] ॥ ४९२ ॥ हे मित्र ! आपके अपराध के कारण सुन्दर शरीर-शालिनी इस प्रिया की दुःखदशा क्या कही जावे ?

S'सरसाः सुधियः पुरुषास्तत्र कथं नैव माद्यन्ति' क० । १. श्लेष व आक्षेपालंकार । २. उपमालंकार । ३. उपमालंकार । ४. समुच्चयालंकार । ५. समुच्चयालंकार ।

उद्वेल्लभुजमूलमङ्गुलिकुलव्यस्यस्तहस्तद्वयं लीलोल्लासितलोचनं विचलितभ्रूविभ्रमत्कुन्तलम् ।
साचिप्राञ्चिमुखं स्तनोन्नतिवशाद्व्यस्यद्वलीमण्डलं किंचित्स्फारनितम्बमङ्गवलितं साकूतमेणीदृशः ॥४९४॥
तस्याः स्मरज्वरभरात्त्वयि पान्थ दूरे किंचिन्न वस्तु रुचिमेति यतः सखीभिः ।
बिम्बाधरे हृतमपैति मृणालनालं हस्ते च शुष्यति कृतं नलिनीप्रवालम् ॥४९५॥
त्वत्प्रस्थितिक्षतरतेः पथिक प्रियायाः प्रम्लानपल्लवदशो दशनच्छदोऽभूत् ।
आपाकपाण्डुरदलोत्तरतः कपोलः शुष्यत्सरःप्रतिनिभं नयनद्वयं च ॥४९६॥
ग्रीष्मस्थलानिलमितं श्वसितं नितान्तमुद्यानसारिणिसम*स्रुतिरश्रुपूरः ।
आनर्तितस्तनतटास्तव कान्त कोपात्कण्ठे च मारुतलवाः सरवाः प्रियायाः ॥४९७॥
भ्रातस्त्वद्विरहेण संज्वरभरादस्याः सरःसंगमे पाथःक्वाथविधेर्यदद्भुतमभूदेतत्तदाकर्ण्यताम् ।
उड्डीनं मुहुरण्डजैस्तिमिकुलैस्तीरे स्थितं दूरतः शीर्णं शैवलिमञ्जरीभिरभितः क्षीणं क्षणाच्चाम्बुजैः ॥४९८॥
तव सुभग वियोगात्पञ्चषैरप्यहोभिर्मनसिजशरदीर्घाः श्वासधाराः सुदत्याः ।
स्मरविजयपताकास्पर्धिनी वक्त्रकान्तिस्तनुरतनुधनुर्ज्यातानवं चातनोति ॥४९९॥

तथापि मैं एक प्रत्यक्ष अद्वितीय दुःख कहता हूँ—इसकी श्वास-ऊष्मा के कारण अश्रुजलपूर बीच में ही शुष्क होजाने के कारण इसके ओष्ठ-चुम्बन प्राप्त नहीं कर पाता[1] ॥ ४९३ ॥ हे मित्र ! आपकी मृगनयनी प्रिया का कोई ऐसा अनिर्वचनीय (कहने के लिए अशक्य) व साभिप्राय (मानसिक अभिप्राय सूचक) स्वरूप है, जिसमें भुजा-मूलभाग (स्तन-युगल) कम्पित होरहा है और दोनों हस्त अङ्गुलि-समूह द्वारा परस्पर-सन्धि (मिलान) को प्राप्त हुए हैं। जिसमें शृङ्गारपूर्ण चेष्टा द्वारा दोनों नेत्र उल्लासित किये गए हैं और केश विचलित (सिर के सामने आए हुए पश्चात् पीछे किये गए) होते हुए दोनों भ्रुकुटियों पर नानाप्रकार से संचरणशील हुए वर्तमान हैं। जिसमें मुख तिरछा गमनशील होरहा है एवं स्तनों की ऊँचाई-वश उदर-रेखा-श्रेणी विघट रही है। जिसमें नितम्ब विस्तृत होरहे हैं एवं शारीरिक अवयव संकुचित होरहे हैं[2] ॥ ४९४ ॥ हे राजन् ! आपके दूरवर्ती होने पर कामज्वर के अतिशय-वश आपकी प्रिया को कोई वस्तु नहीं रुचती। उदाहरणार्थ—सखियों द्वारा उसके बिम्बफल-सरीखे ओठों पर स्थापित किया हुआ कमलडँठल दूर होजाता है, क्योंकि उसे वह फैंक देती है और हस्त पर धारण किया हुआ कमलिनी-पल्लव उसकी ऊष्मा-वश शुष्क होजाता है[3] ॥ ४९५ ॥ हे पथिक ! आपके प्रवास से नष्ट रुचिवाली आपकी प्रिया का ओष्ठ शुष्क प्रवाल-सदृश व गालस्थली पके हुए पत्र-सरीखी (शुष्क) एवं दोनों नेत्र शुष्क सरोवर-सरीखे [कान्तिहीन] होगए हैं[4] ॥ ४९६ ॥ हे राजन् ! आपकी प्रिया का श्वास ग्रीष्मऋतु संबन्धी ग्रीष्मस्थल (मरुस्थल) की वायु-सरीखा उष्ण होगया है। हे रूप में कामदेव ! आपकी प्रिया का अत्यन्त अश्रुपूर उद्यान सींचनेवाली कृत्रिम नदी के प्रवाह-सरीखा होगया है। हे कान्त ! आपकी प्रिया के कोप-वश वायु-अंश कण्ठ में शब्दजनक व स्तन-प्रदेश कम्पित करनेवाले हुए हैं[5] ॥४९७॥ हे मित्र ! आपकी प्रिया में इतना सन्ताप-अतिशय है जिसके फलस्वरूप जब इसने स्नान-हेतु तालाब में डुबकी लगाई तब जल का विशेष पाकविधान होने से जो आश्चर्यजनक घटना हुई, उसे श्रवण कीजिए—पक्षी वारम्वार उड़ गए। मछली-समूह दूर किनारे पर स्थित होगया। शैवाल-मञ्जरियाँ चारों ओर से शतखण्ड (सैकड़ों टुकड़ोंवाली) होगईं और कमल क्षणभर में म्लान होगए[6] ॥४९८॥ हे प्रियदर्शन ! आपके विरह से आपकी प्रिया की

*अयं पाठोऽस्माभिः संशोधितः परिवर्तितश्च, मु० प्रतौ तु 'श्रुति' पाठः परन्त्वत्र पाठेऽर्थसङ्गतिर्न घटते—सम्पादकः

१. हेतु-अलंकार। २. समुच्चयालंकार। ३. समुच्चयालङ्कार। ४. उपमा, दीपक व समुच्चयालङ्कार। ५. उपमा व समुच्चयालंकार। ६. अतिशय व समुच्चयालंकार।

नाभीह्रदः स्खलति बाष्पसमागमेऽस्याः प्रायो वलित्रयमिदं द्रुतदन्तरालम्।
आवृत्तिवेपथुभरेण मुहुर्मुहुः स्यात्तुत्तारहारतरलं स्तनमण्डलं च ॥५००॥
धन्यस्त्वं नयनाम्बुपूर विरहव्याजाद्बहिर्यन्मुहुः प्रादुर्भूय विलासिनीषु लभसे संभोगकेलिक्रमम्।
नेत्रे कज्जलितः कपोलफलके चित्रः सरागोऽधरे वक्षोजे *कृतसंगमस्त्रिवलिषु×श्लिष्टश्च नाभिं व्रजन् ॥५०१॥
नीलोत्पलं निपतदम्बुलवाम्बुदश्रि नीहारधूसरदलद्युति चन्द्रबिम्बम्।
बिम्बीफलं च सुभगास्तव त्रिप्रियेण विद्राणविद्रुमलतानवपल्लवाभम् ॥५०२॥
क्वेदं कार्श्यं क्व च मनसिजः स्फारबाणप्रहारः क्वायं तापः क्व च निरवधिर्बाष्पपूरप्रचारः।
क्वैषा मूर्च्छा क्व च कुचपटप्रेङ्खणश्वासकल्पः क्वासौ लज्जा क्व च मृगदृशश्चित्रमेष प्रजल्पः ॥५०३॥
बन्धुप्रार्थनतस्त्वयि +स्मृतिनिशावेशात्तया मुग्धया दत्तश्चक्षुषि यावकः कृतमिदं बिम्बाधरे कज्जलम्।
कण्ठे काञ्चिगुणोऽर्पितः परिहितो हारो नितम्बस्थले केयूरं चरणे धृतं विरचितं हस्ते च हिञ्जीरकम् ॥५०४॥

श्वास-संततियाँ पाँच अथवा छह दिनों में ही काम-बाण-सरीखी विस्तृत होगईं और उसकी मुख-कान्ति उक्त दिनों में ही कामदेव की विजयपताका से स्पर्धा करनेवाली (उसके समान शुभ्र) होगई एवं प्रस्तुत दिनों में ही आपकी प्रिया का शरीर कामदेव की धनुष-डोरी सरीखी कृशता विस्तारित कर रहा है[1] ॥४९९॥ हे सुभग! आपकी प्रिया का नाभिरूपी तालाब अश्रुजल-समागम होने पर भँवररूप कम्पनातिशय से स्खलित होरहा है—बाँध तोड़ रहा है और उदररेखारूपी तीनों नदियाँ अश्रुजल के परिणामस्वरूप बहुलता से मध्यभाग तोड़नेवाली होरही हैं एवं आपकी प्रिया का स्तनमण्डल विशेष उज्वल मोतियों की मालाओं से बारम्बार चञ्चल होरहा है[2] ॥५००॥ हे नयनाम्बुपूर! (हे प्रिया के नेत्रों के अश्रुजलप्रवाह!) तुम्हीं धन्य (पुण्यवान्) हो। क्योंकि प्रिया के हृदय-मध्य स्थित हुए नाभि (मध्यप्रदेश) प्राप्त किये हुए तुम विरह-मिष (बहाने) से बारम्बार बाहिर निकलकर स्त्रियों में संभोग (सुरत) क्रीड़ा-क्रम प्राप्त कर रहे हो। अब उक्त संभोग क्रीड़ा का क्रम प्रकट करते हैं—तुम (अश्रुपूर) नेत्रजल के बहाने से दोनों नेत्रों में कज्जलित (श्यामवर्णशाली) हुए हो, गालस्थल-पट्टक पर चित्र हुए हो और ओष्ठों पर स्थित हुए रागवान् हुए हो एवं कुचकलशों पर प्राप्त हुए आलिङ्गन करनेवाले होगये हो तथा त्रिवलियों (उदर-रेखाओं) पर प्राप्त हुए आलिङ्गन किये गए हुए हो[3] ॥५०१॥ हे राजन्! आपके विरह-दुःख से आपकी प्रिया के दोनों नेत्ररूपी नीलकमल गिरते हुए जलबिन्दुओंवाले मेघ की शोभा-धारक हुए हैं तथा मुखचन्द्र, जिसकी दलद्युति (अवयव-कान्ति) हिम से धूसर (आपके विरह से उज्वल) है, ऐसा होगया है। हे सुभग! आपकी प्रिया का बिम्बफल-सरीखा ओष्ठ ऐसा होगया है, जिसकी कान्ति मलिन विद्रुम-(मूँगों) लता के नवीन पल्लवों सरीखी है[4] ॥५०२॥ हे राजन्! कहाँ तो आपकी मृगनयनी प्रिया की शरीर-कृशता और कहाँ उसके ऊपर किया गया कामदेव के प्रचुरतर बाणों का निष्ठुर प्रहार। कहाँ यह प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाला आपकी प्रिया का ताप और कहाँ मर्यादा उल्लङ्घनकारक (दोनों नेत्र-तट भरनेवाला) अश्रुप्रवाहरूप प्रतीकार। कहाँ तो यह प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाली मूर्च्छा (नष्ट-चेतनता) और कहाँ वह कुचपट (स्तन-वस्त्र—काँचली) कम्पित करनेवाला श्वासविधान और कहाँ तो यह प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाली आपकी प्रिया की लज्जा और कहाँ यह प्रजल्प (वेलज्जापूर्वक किया हुआ प्रलपन) यह सब आश्चर्य-जनक है[5] ॥५०३॥ हे राजन्! आपकी स्मृतिरूपी रात्रि का प्रवेश होजाने के कारण उस मुग्धा (यथावत्स्वरूप

*'कृतसंगमस्त्रिवलिभिः' ग०। ×'श्लथास्तुरतु ! नाभिं व्रजन्' क०। +'स्मृतिवशावेशात्तया' च०।

१. समुच्चय व उपमालंकार। २. रूपक व समुच्चयालङ्कार। ३. रूपक व समुच्चयालंकार। ४. कवलोपमारूपस्य कवलालंकारः। ५. विषमोपमालङ्कार।

रम्भास्तम्भौ ह्रदतटभुवौ प्रोल्लसन्नालमूलं कन्दद्वन्द्वं किसलयमदः †प्रस्फुटत्कुड्मलश्रि ।
नीलाब्जे ‡चातनुदलचयोदञ्चिते देह एव प्रायस्तापस्तदपि च सखे कोऽप्यपूर्वस्तरुण्याः ॥५०५॥
निद्रा सपत्नीव न दृष्टिमार्गमायाति तस्याः क्षणदाक्षणेऽपि ।
सखीजने चोपनतेऽप्युपान्ते शून्यस्थितायाा इव चेष्टितानि ॥५०६॥
कामस्यैतत्परमिह रहो यन्मनःप्रातिकूल्यं तस्मादेष ज्वलति नितरामङ्गमाधुर्यहेतुः ।
कामं कान्तास्तदनु रसिकाः प्रीतये कस्य न स्युस्तत्रास्वादः क इव हि सखे या न पक्वा मृणाल्यः ॥५०७॥
बाष्पोद्गतिः प्रविरला नयनान्तराले नासान्तरे च मरुतः स्तिमितप्रचाराः ।
तापः प्रशाम्यति सुधाचमनादिवाङ्गे कान्तागमे विरहिणीषु ÷ मृगीक्षणासु ॥५०८॥

न जाननेवाली कोमलाङ्गी) ने बन्धुओं की प्रार्थना से पैरों में लगाने योग्य लाक्षारस नेत्रों में लगा लिया और यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर कज्जल (नेत्राञ्जन) बिम्बफल सरीखे ओठों पर लगा लिया एवं करधोनीगुण कण्ठ पर स्थापित कर लिया तथा हार नितम्बस्थल पर धारण कर लिया। इसीप्रकार उसने केयूर चरणों में धारण कर लिया तथा नूपुर पैर की जगह हाथ में पहन लिया[1] ॥ ५०४ ॥ हे मित्र ! सन्ताप-नाशक निम्नप्रकार शीतल तत्व विद्यमान रहने पर भी आपकी तरुणी प्रिया में कोई अनिर्वचनीय (कहने के लिए अशक्य) व अपूर्व सन्ताप बहुलता से वर्तमान है। उदाहरणार्थ—सन्तापध्वंसक तत्वों की दृष्टान्तमाला—केलों के स्तम्भ-सरीखे दोनों ऊरु अथवा यों कहिए कि ऊरुरूप केलास्तम्भ, जो कि नाभिरूप कुण्ड के तट पर उत्पन्न हुए हैं, विद्यमान हैं तथापि आपकी प्रिया का ताप नष्ट नहीं हुआ। इसीप्रकार कन्दयुगल सरीखा स्तनयुगल अथवा रूपकालंकार के दृष्टिकोण से यह कहिये कि स्तनयुगलरूपी कन्दयुगल, जो कि त्रिवली (तीन रेखाएँ) रूपी नाल-मूल (कमल-डंठल) से सुशोभित हुआ वर्तमान है, तथापि आपकी प्रियतमा का ताप नहीं गया। इसीप्रकार यह चरणपल्लव, जिसमें हास्यरूप पुष्प-कलियों की शोभा विकसित होरही है, विद्यमान है, तथापि ताप प्रलीन नहीं हुआ एवं दोनों नेत्ररूपी नीलकमल, जिनके ऊपर महान् केश-समूह रूप पत्र-समूह स्थापित किया गया है, वर्तमान हैं तथापि आपकी प्रिया का ताप दूर नहीं हुआ। हे राजन् ! विशेषता यह है कि उक्त सभी सन्तापनाशक तत्त्व आपकी तरुणी प्रिया के शरीर में सुशोभित हुए पाए जाते हैं, तथापि उसका ताप नहीं गया[2] ॥ ५०५ ॥

हे राजन् ! उस आपकी प्रिया को रात्रि के अवसर में भी [दिन के अवसर की तो बात ही छोड़िए] निद्रा सपत्नी सरीखी दृष्टिगोचर नहीं होती एवं सखीजनों के समीप में आने पर भी उसकी चेष्टाएँ (कर्तव्य) पिशाचों द्वारा गृहीत हुई सरीखीं होती हैं[3] ॥ ५०६ ॥ हे मित्र ! इस संसार में 'चित्त से चाही हुई वस्तु से प्रतिकूलता (विपरीतता) उपस्थित करना' यह निश्चय से कामदेव का गोप्यतत्व है। मनचाही वस्तु की प्रतिकूलता के कारण शरीर की सुकुमारता का कारण यह कामदेव विशेषरूप से उद्दीपित होता है। तत्पश्चात् (काम-ज्वलन के अनन्तर) स्त्रियाँ विशेष रसिक (अनुरक्त) होती हैं, वे रसिक स्त्रियाँ किस पुरुष को उल्लासित नहीं करतीं ? अपितु सभी को उल्लासित करती हैं। हे मित्र ! उन रसिक स्त्रियों में कैसा आस्वाद है ? इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि जो रसिक रमणियाँ पकी हुई दाँखों सरीखीं नहीं हैं[4] ॥ ५०७ ॥ हे मित्र ! विरहिणी स्त्रियों के लिए जब पति-संयोग होता है तब उनमें क्या क्या लक्षण होते हैं ? उनके नेत्रों के मध्य अश्रुजलोत्पत्ति अल्प होती

†'प्रस्फुरत्' क० । ‡'चायदतनुदलोदञ्चिते' क० । ÷'मृगेक्षणासु' क० । १. समुच्चयालङ्कार । २. उपमा, रूपक व समुच्चयालङ्कार । ३. उपमालंकार । ४. हेतूपमालंकार ।

प्रेमप्रदानसलिलं नयनाम्बुधाराः श्वासाः समागमनसंकथनाग्रदूताः ।
मौनं पुनर्भवति केलिकृतौ सचाटु कान्ते नते कलहितासु विलासिनीषु ॥५०९॥
नेत्रान्तर्गतबाष्पबिन्दु विवशश्वासानिलान्दोलितं मन्दस्पन्दरदच्छदं प्रविदलन्मानग्रहग्रन्थि च ।
व्युच्छत्तापदशं स्वदोषविगमाद्भूयः प्रसीदन्मनश्चुम्ब्यालिङ्ग्य निषेधवाग्विधिकरं कान्तास्यमाकोपितम् ॥५१०॥
सरलमलकजालं नेत्रयोर्नाञ्जनश्रीरधरदलमरागं पत्त्रशून्यः कपोलः ।
श्रवसि च न वतंसः कामिनीनां रतान्ते तदपि वदनदेशे कान्तिरन्यैव काचित् ॥५११॥
अलकवलयवासैर्नाकुलं भालमेतद्दशनवसनकान्तिर्नाङ्किताल्लक्तकेन ।
उरसि न कुचमुद्रा नाङ्गदाङ्कश्च कण्ठे प्रणयकुपितकान्तासंगमे कामुकानाम् ॥५१२॥

है, नासिका की मध्य वायु अल्पसंचार करनेवाली होती है। अर्थात्—उनके नासिका-छिद्रों से वायु धीरे धीरे आती है एवं उनका शरीर-सन्ताप उसप्रकार शान्त होजाता है जिसप्रकार अमृतपान से ताप शान्त होजाता है[1] ॥ ५०८ ॥ हे राजन्! जब कुपित की हुई स्त्रियों के प्रति पति नम्रीभूत होजाता है तब उसका क्या परिणाम होता है? तब निम्नप्रकार उल्लासजनक घटनाएँ होती हैं तब उनके नेत्रों से प्रकट हुए आनन्द-अश्रुओं की प्रेमधाराएँ स्नेहार्पण-जल में परिणत होजाती हैं। अर्थात्—रसिक व अनुकूल स्त्री कहती है कि 'हे पतिदेव! मैं आपको प्रेम दूँगी' ऐसी प्रतिज्ञा करके हस्त पर जलपात होता है जिसप्रकार ब्राह्मणों के लिए जलधारापूर्वक कुछ दिया जाता है। इसीप्रकार श्वासवायु 'हे स्वामिन्! पधारिये' इस समागम-वचन के पूर्वदूत होती हैं एवं संभोग-क्रीड़ा के अवसर पर चाटुकारिता (मिथ्यास्तुति) सहित मौन होता है। अर्थात्—वे पुनः पति का अनादर नहीं करतीं[2] ॥ ५०९ ॥ हे मित्र! आलिङ्गनपूर्वक ऐसा प्रिया का मुख बारम्बार चुम्बन कीजिए, जिसमें नेत्रों के मध्य आनन्दाश्रु की जलबिन्दुएँ वर्तमान हैं। जो विवश (परवश या स्ववश) श्वास-वायु द्वारा कम्पित व कुछ फड़कते हुए ओष्ठों से व्याप्त है। जिसमें अभिमानरूप पिशाच की ग्रन्थि (गाँठ—बन्धनविशेष) के शतखण्ड (सैकड़ों टुकड़े) होरहे हैं। अभिमानरूप दोष के नष्ट होजाने से जिसमें सन्ताप-अवस्था नष्ट होरही है। जिसमें पुनः चित्त उल्लासित होरहा है। जो निषेध-वचन की प्रेरणा करनेवाला है एवं जो अल्प कोप-सहित है[3] ॥ ५१० ॥ हे राजन्! कामिनियों के साथ की हुई संभोगक्रीड़ा के अन्त में यद्यपि उनका केश-समूह सरल होता है (वक्रता छोड़ देता है), नेत्रों में अञ्जन-श्री (शोभा) नहीं होती, उनका ओष्ठपल्लव पान किया जाने के फलस्वरूप राग (लालिमा) हीन होता है, उनके गालों की पत्ररचना (कस्तूरी-आदि सुगन्धि द्रव्य से की गई चित्ररचना) नष्ट होजाती है और उनके कानों में कर्णपूर नहीं होते तथापि उनके मुखमण्डल में कोई अपूर्व व अनिर्वचनीय कान्ति होती है[4] ॥ ५११ ॥

हे राजन्! प्रणय-(प्रेम) कुपित स्त्री के साथ संभोग करने में कामी पुरुषों का ललाटपट्ट स्त्री के केश-समूह की सुगन्धि या निवास से व्याप्त नहीं होता और उनकी ओष्ठ-कान्ति लाक्षारस-व्याप्त नहीं होती [क्योंकि उन्हें प्रणय-कुपित प्रिया के लाक्षारस-रञ्जित ओष्ठ-चुम्बन का अवसर ही प्राप्त नहीं हो पाता] एवं उनके हृदय पर प्रिया की स्तन-मुद्रा (कुच-चिह्न) नहीं होती तथा उनके गले पर अङ्गद-(स्त्री-भुजा-आभूषण) चिह्न भी नहीं होता[5] ॥ ५१२ ॥

---

१. उपमा व समुच्चयालंकार। २. रूपकालंकार। ३. रूपकालंकार। ४. समुच्चयालंकार।
५. दीपकालङ्कार।

इति विप्रलब्धपुरंध्रीदशावेदनविशारदैरवसरसुभाषितभाषाकोविदैः संभावितवल्लभापराध*विधिभिरन्येनैव केनचिदातुरजनहृदयविदितप्रतीकारशर्मणा कर्मणा मुहुरलङ्घनोपचारम†नौषधोपयोगोदाहारमतीव रणरणकरीणामामेगेक्षणानां स्मरज्वरमचिकित्सम् ॥

उन्मीलद्भुजगेन्द्रसद्मसुभगान्शविर्भवद्भूपतिश्रीचिह्नानि जिनेक्षणागतसुरश्रेणीविमानानि च ।
पूजावर्जनसज्जदुन्दुभिरवोत्थावप्रमोदोदयादित्थं त्रीण्यपि यस्य जन्मनि जगन्त्यासन्स ओऽव्याज्जिनः ॥५१३॥
लोकवित्त्वे कवित्वे वा यदि चातुर्यचञ्चवः । सोमदेवकवेः सूक्तीः समभ्यस्यन्तु साधवः ॥५१४॥

इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये राजलक्ष्मीविनोदनो नाम तृतीय आश्वासः समाप्तः ।

अन्त्यमङ्गल—वह जगत्प्रसिद्ध ऐसा जिनेन्द्र (सर्वज्ञ व वीतराग ऋषभादि-तीर्थङ्कर) आपकी रक्षा करे, जिसके जन्मकल्याणक के अवसर पर तीनों लोक (अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक) पूजा-निमित्त सुसज्जित हुए दुन्दुभिबाजों के शब्दसंबंधी उत्सव की हर्षोत्पत्ति होने से क्रमशः इसप्रकार हुए। अर्थात्—अधोलोक पाताल से प्रकट होते हुए नागकुमार-भवनों से पुण्यशाली हुए। इसीप्रकार मध्यलोक चक्रवर्ती-आदि राजाओं की लक्ष्मियों के उत्पन्न होनेवाले चिह्नों (ध्वजा, छत्र व चामर-आदि) से सुशोभित हुए एवं ऊर्ध्वलोक ऋषभादि तीर्थङ्करों के दर्शन-हेतु आए हुए देव-समूहों के विमानों से अधिष्ठित हुए[1] ॥ ५१३ ॥ यदि विद्वान् लोग लोकव्यवहार-परिज्ञान अथवा काव्यकला-चातुर्य (विद्वत्ता) में निपुण होना चाहते हैं तो सोमदेवाचार्य की सूक्तियों (सुभाषितों) का अनुशीलन (अभ्यास) करें[2] ॥ ५१४ ॥ इति भद्रं भूयात् ।

इसप्रकार समस्त तार्किक-(षड्दर्शनवेत्ता) चक्रवर्तियों के चूडामणि (शिरोरत्न या सर्वश्रेष्ठ) श्रीमदाचार्य 'नेमिदेव' के शिष्य 'श्रीमत्सोमदेवसूरि' द्वारा, जिसके चरणकमल तत्काल निर्दोष गद्य-पद्य विद्याधरों के चक्रवर्तियों के मस्तकों के आभूषण हुए हैं, रचे हुए 'यशोधरमहाराजचरित' में, जिसका दूसरा नाम 'यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य' है, 'राजलक्ष्मीविनोदन' नाम का तृतीय आश्वास पूर्ण हुआ।

इसप्रकार दार्शनिकचूडामणि श्रीमदम्बादास जी शास्त्री व श्रीमत्पूज्यपाद आध्यात्मिक सन्त श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य के प्रधान शिष्य, 'नीतिवाक्यामृत' के भाषाटीकाकार सम्पादक व प्रकाशक, जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ व आयुर्वेदविशारद एवं महोपदेशक-आदि अनेक उपाधि-विभूषित, सागरनिवासी परवारजैनजातीय श्रीमत्सुन्दरलाल शास्त्री द्वारा रची हुई श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचित 'यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य' की 'यशस्तिलकदीपिका' नाम की भाषाटीका में यशोधरमहाराज का 'राजलक्ष्मीविनोद-वर्णन' नाम का तृतीय आश्वास (सर्ग) पूर्ण हुआ।

इति भद्रं भूयात्—

---

*'विधिभिरन्यैनैव' क० । †'अनौषधोपयोगोदाहरणमतीव रणकरीणानाम्' क० ।

१. अतिशय व समुच्चयालङ्कार । २. समुच्चयालङ्कार ।

अन्त्य मङ्गल तथा आत्म-परिचय

जो है सत्यमार्ग का नेता, अरु रागादि-विजेता है।
जिसकी पूर्णज्ञान-रश्मि से, जग प्रतिभासित होता है॥
जिसकी चरणकमल-सेवा से, यह अनुवाद रचाया है।
ऐसे 'ऋषभदेव' को हमने, शत-शत शीश नवाया है॥ १॥

दोहा— सागर नगर मनोज्ञतम, धर्म-धान्य आगार। वर्णाश्रम आचार का, शुभ्ररूप साकार॥ २॥
जैनी जन तहँ बहु बसें, दयाधर्म निजधार। पूज्यचरण वर्णी लसें, जिनसे हों भवपार॥ ३॥
जैन जाति परवार में, जनक 'कन्हैयालाल'। जननी 'हीरादेवि' थीं, कान्तरूप गुणमाल॥ ४॥
पुत्र पाँच उनसे भये, पहले 'पन्नालाल'। दूजे 'कुंजीलाल' अरु, तीजे 'छोटेलाल'॥ ५॥
चौथे 'सुन्दरलाल' वा, पंचम 'भगवतलाल'। प्रायः सब ही बन्धुजन, रहें मुदित खुशहाल॥६॥
वर्तमान में बन्धु दो, विलसत हैं अमलान। बड़े 'छोटेलाल' वा, 'सुन्दरलाल' सुजान॥ ७॥
भाई 'छोटेलाल' तो, करें वणिज व्यापार। जिनसे रहती है सदा, कमला मुदित अपार॥ ८॥
बाल्यकालतें मम रुचि, प्रकटी विद्या-हेत। तातें हम काशी गये, ललितकला-संकेत॥ ९॥

चौपाई—

द्वादश वर्ष साधना करी। गुरु-पदपङ्कज में चित दई॥
'मातृसंस्था' में शिक्षा लही। गैल सदा उन्नति की गही॥१०॥
व्याकरण, काव्य, कोश, अतिमाना। तर्क, धर्म अरु नीति वखाना॥
वाग्मित्व-आदि कला परधाना। नानाविध सिख भयो सुजाना॥११॥

दोहा— कलकत्ता कालेज की, तीर्थ उपाधि महान। जो हमने उत्तीर्ण कीं, तिनका करूँ बखान॥१२॥

चौपाई—

पहली 'न्यायतीर्थ' कूँ जानों। दूजी 'प्राचीनन्याय' प्रमानों॥
तीजी 'काव्यतीर्थ' को मानों। जिसमें साहित्य सकल समानों॥ १३॥
गुरुजन मेरे विद्यासागर। ललित कला के सरस सुधाकर॥
पहले शास्त्री 'अम्बादत्त'। जो थे दर्शनशास्त्र महत्त॥ १४॥
दूजे श्रीमद् गुरु 'गणेश' हैं, न्यायाचार्य अरु तीर्थसमान।
वर्णी 'बापू' हैं अति दार्शनिक, सौम्यप्रकृति वा सन्त महान॥ १५॥

दोहा— 'सरस्वती' मेरी प्रिया, उनसे हुई सन्तान। एक पुत्र पुत्री-उभय जो हैं बहुगुण खान ॥१६॥
पत्नी मम दुर्दैव ने, सद्यः छीनी छीन। है वंशवेल बढ़ावने, सुत 'मनहर' परवीन ॥१७॥
मेरी शिष्यपरम्परा, भी है अति विद्वान। जिसका अति संक्षेप से, अब हम करें बखान ॥१८॥
पहले 'महेन्द्रकुमार' हैं, दूजे 'पवनकुमार'। 'मनरञ्जन' तीजे लसें, चौथे 'कनककुमार' ॥१९॥

चौपाई—

वि० संवत वीस सै दश सात, चैत्र कृष्ण तेरस अवदात।
पूर्ण प्रकाशित जब यह हुआ, शुभ उद्यम का मम फल हुआ ॥२०॥

दोहा— अल्पबुद्धि परमाद तें, भूल चूक जो होय। सुधी सुधार पढ़ो सदा, जातें सज्जन होय ॥२१॥

सुन्दरलाल शास्त्री
प्राचीनन्याय-काव्यतीर्थ—सम्पादक



परिशिष्ट १

श्लोकानामकाराद्यनुक्रमः

[अ]

[आ]

[ज]

[त]

[द]

[ह]

परिशिष्ट २

अप्रयुक्त-क्लिष्टतमशब्द-निघण्टुः

[श्री० पूज्य भट्टारक मुनीन्द्रकीर्ति दि० जैन सरस्वतीभवन नागौर (राजस्थान) की श्रीदेव-विरचित यशस्तिलक-पञ्जिका के आधार से संकलित]

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
कुवलयम्—उत्पलं भूमण्डलं च	१-१
सद्दर्शनम्—अवलोकनं सम्यग्दर्शनं च	१-२
कन्तुः—कामः	१-२
निकेतनम्—गृहं	१-२
नभस्यते—नभ इवाचरति	२-१
डम्बरं—शोभा	२-१
प्रह्वाः—प्रणताः	२-२
उदयः—उदयाचलः	२-२
सिद्धाः—दिव्यज्ञानाः	२-४
ऐदंयुगीनः—इदं युगे साधुः	३-३
तदुक्तिवक्तापि—इत्यत्रेदं कारणं[1]	३-४
सुरभिः—गौः	४-१
कविसामर्थ्य[2]	४-३
मन्दः—जडः अल्पकामो रोगी च	४-५
वक्रोक्तिः—चतुरालापोऽलङ्कारश्च	५-६
स्वभावः—चित्तार्पणमलङ्कारश्च	५-६
पार्थिवः—पृथिव्याः ईश्वरो विकारश्च	६-४
दुर्वर्णं—रजतं	७-२
निर्वर्णं—परीक्षा	७-२
गुणाः—श्लेषादयः[3]	७-३
दोषाः—गूढार्थादयः[4]	७-३
अविधेयः—अनादरणीयः	८-२
गोमण्डलं—भूवलयं पशुसमूहश्च	८-३
महिषी—महादेवी पशुजातिश्च	८-३
गन्धर्वं—गीतं तुरङ्गश्च	८-३
अविकल्पं—ज्ञानमवीनां कल्पश्च	८-३
करभोरवः—मणिबन्धादाकनिष्ठिकामूलं करभः, तद्वदूरवो येषां, करभोरवश्च (करभैरुष्ट्रैः उरवो गरिष्ठाः)	८-४
अजः—ब्रह्मा छागश्च	८-४
जातरूपं—निष्किंचनता सुवर्णं च	८-४
देवः—अर्हदादिः वर्षं च	८-५
मिमीते इति माता—आत्मा जननी च	८-५
कृष्णः—विष्णुः वर्णश्च	९-१
भूमिः—पदं पृथ्वी च	९-१
प्रकृतिः—प्रधानं तन्तुवायादिश्च	९-१
संकर्षणः—बलभद्रः	९-१
आरामः—विद्या वनं च	९-२
क्षेत्रज्ञाः—आत्मानः कुटुम्बिनश्च	९-२
विद्रुमं—प्रवालं विविधाः द्रुमाश्च	९-२
अतिथिप्रार्थनमनोरथाः—अविद्यमानास्तिथयः प्रार्थितमनोरथाश्च यासामतिथि-प्रार्थने मनोरथो येषां	९-३

१. प्रज्ञासंवाहनेन स्यात्कविसंद[गृ]ह्यकेन वा। उक्तिः पूर्वोक्तिगाः वक्तुरर्थवागर्थसंश्रया ॥ १ ॥

२. देखिए यशस्तिलक पृ० ४ की टिप्पणी।

३. श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यं। अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ॥ १ ॥

४. गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमतिप्लुतार्थं। अर्थादपेतं विषमं विसन्धि च्युतं च शब्दश्च काव्यदोषाः ॥१॥

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
नक्षत्रद्विजराजिनः—ताराचन्द्रवन्तः द्विजराजश्चन्द्रः, क्षत्रैर्द्विजैश्च राजन्ते इत्येवं शीलाः न, शूद्रकर्षकप्रायं जानपदं निवेशयेदिति वचनात्	९-३
करः—हस्तः सिद्धायश्च	९-३
स्वामी—गुहो नाथश्च	१०-१
कण्टकाः—चौरचरटादयः तरवश्च	१०-१
अभिजात्याः—अव्यभिचारिणः	१०-२
कलहः—ललितः	१०-४
बपत्रं—यत्र सकृदुप्तं बहुकालं च पच्यते तद्वपत्रं	११-२
हराचलः—कैलाशः	११-६
निष्किम्पकनीपकाः—मुरवन्दिनः	१२-१
सिद्धाः—अणिमादिगुणोपेताः	१२-२
सविधं—समीपं	१२-२
केतुकाण्डः—पताकादण्डः	१२-२
मुकुरः—आदर्शः	१२-३
कलः—पटुः	१२-३
रयः—वेगः	१२-३
संबाधः—उपद्रवः	१२-३
प्रत्नं—पुराणम्	१२-३
सिचयं—वस्त्रं	१२-४
उल्लोचः—शोभा	१२-४
वियद्विहारिणी—विद्याधरी	१२-५
मर्मरा—अतिपक्वाः	१२-५
अहिमधाम—रविः	१२-५
घृणयः—कराः	१२-५
दिनकृत्कान्तः—सूर्यकान्तः	१२-५
किम्पिरि—कीर्तिमुखं ? (सं० टी० तु किम्पिरिपर्यन्तः-उपरितनभूमिमुखं)	१२-६
आमलकं—स्फटिकं	१२-६
आमलसारः—कलशाधिष्ठानं	१२-६
वैजयन्ती—पताका	१२-६
प्रचलाकिनः—मयूराः	१२-७
जयविजयौ—गगनाश्रयौ भुजंगौ	१२-७
पवनाशनाः—सर्पाः	१२-७
शावाः—डिम्भाः	१३-१
चाषाः—पक्षिणः	१३-१
उद्वेल्लितं—नृत्यं	१३-२
स्वर्धुनी—देवनदी	१३-३
रोदसी—द्यावाभूमी	१३-३
डिण्डीरः—फेनः	१३-४
पारावारः—समुद्रः	१३-५
व्योमकेशः—ईश्वरः	१३-५
अनङ्गनम्—आकाशम्	१३-६
परलोकः—परतीरनिवासीजनः स्वर्गादिश्च	१३-७
भावः—घृतादिः भक्तिश्च	१३-७
पोतः—बहित्रं	१३-७
महाभागाः—पुण्यवन्तः	१३-८
अलिकं—ललाटं	१४-८
मधु—सीधुः	१५-१
चेतोवासः—कामः	१५-३
नर्मसचिवः—चित्तोल्लासनालापकुशलः[1]	१६-३
तार्तीयीकं—तृतीयमेव तार्तीयीकम्	१६-३
निरङ्कुशता—स्वच्छन्दता	१६-३
परिकरः—वेषः	१६-४
पुनरुक्तः—निरस्तो द्विगुणितो वा	१६-५
डिण्डिमः—पटहिका	१६-५
उन्माथं—भञ्जनं	१६-६
वमथुः—करलाला	१६-६
पाथः—पयः	१६-६
अवलेपः—संचारः	१७-१
प्रधावजवः—गतिवेगः	१७-१
प्रत्यक्प्रारंभः—पश्चाद्भागगमनं	१७-२
पुरःप्रारंभः—अग्रभागगमनं	१७-२
पक्षप्रारंभः—उभयपार्श्वगमनं	१७-२
भ्रमिप्रारंभः—चक्रवद्भ्रमणम्	१७-२

१. तदुक्तं—भक्तः संवृत्तमन्त्रो नर्मणि निपुणः शुचिः पटुर्वाग्मी । चित्तज्ञः प्रतिभावानेषः नृपे नर्मसचिवः स्यात् ॥१॥

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
प्रभेदः—मदः	१७-५
स्यन्दनवेदं नरशिरोवर्त्मामिति—वीप्सायां णं	१७-५
तुरगालोकमित्यादि—क्रियाविशेषणं	१७-५
मणिः—घंटा	१७-६
क्रमेलकः—उष्ट्रः	१७-६
गिरिकः—कन्दुकः	१७-७
गण्डशैलः—क्षुद्रपर्वतः	१७-८
निष्पेषणं—आस्फालनं	१७-८
ईषा—धूः	१७-८
तरांसि—वेगाः	१८-२
भङ्गः—पल्लवः ? (सं. टी. तु त्रोटनवत्)	१८-२
आधोरणः—यन्ता	१८-२
प्रणिधिः—वाक्पदं अङ्कुशप्रयोगः	१८-२
बल्लिका—शृङ्खला	१८-२
वीरणं—तृणजातिः	१८-२
वाहरिका—पश्चाद्बंधनाय क्षुद्रस्तम्भः	१८-२
उन्मथितं—निरस्तं	१८-३
तटिका—लालापिडिका ? गोधिकेति यावत् (सं. टी. तु उक्तशब्दो नास्ति)	१८-३
काण्डं—नालं	१८-३
चाराः—वीराः	१८-४
उत्कूणितः—वक्राग्रः	१८-४
पांशुप्रमाथः—धूलिप्रक्षेपः	१८-५
वीथी—प्रधावभूमिः	१८-६
शाक्यः—सुगतः	१८-६
सामजाः—गजाः	१८-७
कोणः—दण्डः	१९-१
अन्तरचारणा—आकाशानयनं	१९-१
व्यायोधिताः—कारितयुद्धाः	१९-२
असरालाः—महान्तः	१९-२
जलव्यालाः—मकरादयः	१९-२
अर्णांसि—पयांसि	१९-२
शार्दूलः—सिंहः	१९-२
कुलकीलः—पर्वतः	१९-२

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
घूकाः—उल्लूकाः	१९-३
अरण्यानी—महदरण्यं	१९-३
नियुद्धं—बाहुयुद्धं	१९-३
पूतना—राक्षसी	१९-३
पितृवनं—श्मशानं	१९-४
ताण्डवितं—लालितं	१९-५
लाजाः—अक्षताः	१९-६
तौर्यत्रिकं—वाद्यगीतनृत्यानि	१९-६
खलतिकं—वनसमूहः	१९-७
खेलनं—क्रीडनं	१९-७
पुष्पाकरः—वसन्तः	२०-३
उन्निद्राणि—प्रबुद्धानि	२१-१
माकन्दः—चूतः	२१-१
मिलिन्दाः—भ्रमराः	२१-३
षट्पदातिथिः—चम्पकः	२१-४
वल्लरी—लता	२१-४
आशुशुक्षणिः—वह्निः	२१-५
आजकवं—धनुः	२१-६
अध्वन्याः—पथिकाः	२१-६
अभिसारिका—अभिसारयते कान्तं सा भवेदभिसारिका	२१-६
निदानम्—आयतनं कारणं च	२१-७
तनूरुहराजिः—रोमराजिः	२२-२
प्ररोहः—अङ्कुरः	२२-३
प्रसूनं—पुष्पं	२२-४
चिकुराः—कचाः	२२-५
सप्तच्छदः—तमालः	२२-५
कङ्केलकः—स्फटिकं	२२-६
कमलाः—मृगाः पद्मानि च	२३-१
केसराणि—सटाः बकुलपुष्पाणि च	२३-१
सत्वरजतमांसि—गुणाः सत्त्वं भूतं पिशाचं चेति वचनात्, तमः—ध्वान्तं, रजः—धूलिश्च	२३-४
वातूलः—वातसंघातः	२३-४

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
व्यसनं—विविधं क्षेपणं व्यस्यत्येतेन श्रेयसः इति च, तच्च कामजं[1] दशधा, अष्टधा च कोपजं[2]	२४-१
कामचारः—स्वच्छन्दता स्मरपरवशता च	२४-१
धनुर्ग्रहः—असाध्यो ग्रहविशेषः	२४-१
मन्त्री—मन्त्रवादी सचिवश्च	२४-१
वसन्त इव विजात्यानन्दनोऽपि—विगतं जात्याः माळत्याः आनन्दनं यत्र, वीनां वा पक्षिणां जातयस्तासामानंदनः, विजातीनां नटनर्तकादीनामानंदनश्च	२४-२
हिमार्दनः—हेमन्तः	२४-२
कमलानि—अब्जानि कमला श्रीश्च	२४-२
पारिप्लुः—बुद्धः	२४-२
अनात्मनीना—आत्मास्तित्वरहिता आत्मनेऽहिता वृत्तिर्यस्य	२४-२
कमली—चन्द्रः	२४-३
दोषा—नक्तं कामादयश्च	२४-३
कान्दिशीकः—भयद्रुतः	२४-३
वारवनिताप्रियोऽपि—वारामम्भसामवनिस्तद्भावस्ता सा, विलासिन्यश्च प्रियाः यस्य	२४-३
रथचरणं—चक्रं	२५-१
नाभिः—मध्यदेशः	२५-१
अक्षश्च—चक्रधाराकाष्ठं पूर्वमिन्द्रियवर्गो वा	२५-१
शूर्पकारातिः—कामः	२५-१
मधुः—वसन्तः सीधुश्च	२५-१
आच्छोदनाभिरतः—अच्छोदस्य सरसः नाभौ मध्ये रतः, आच्छोदना मृगया अभिरतश्चाकुलः	२५-१
कुलशिखरी—कुलाचलः	२५-३
वंशः—प्रदेशविशेषोऽन्वयश्च	२५-३
उपयच्छमानस्य—स्वीकुर्वतः	२५-३
अतितृष्यतः—अलमभिलषतः आसक्तश्च	२५-५
अकल्पस्य—रोगिणः	२५-५
वसुः—पितुः	२५-६
त्रिकमतं—त्र्यम्बकसमयः त्रीण्यम्बकाण्यक्षीणि यस्येति व्युत्पत्तेः	२६-१
देवभूयं—देवत्वं	२६-१
अचेततः—'चिती संज्ञाने' इत्यस्य रूपं	२६-२
महः—पूजा	२६-६
मिषं—व्याजं	२६-६
आनकः—पटहः	२६-७
गगनगामिनः—खेचराः	२७-१,२
कपर्दः—जटाजूटः	२७-२
अलगर्दः—सर्पः	२७-३
अदितिसुतः—आदित्यः	२७-३
शिखण्डः—केशपाशः	२७-३
ब्रध्नः—रविः	२७-४
उत्तालितः—आकुलीकृतः	२७-५
अनिमिषाः—देवाः	२७-७
कीकसम्—अस्थि	२७-८
कोटीरं—किरीटं	२७-८
परिसरः—अङ्गणमाभोगो वा	२८-१
उत्तरलः—उल्बणः	२८-१
आभीलः—विभीषणः	२८-२
कपिशपाचराः—कपिरूपाः क्षपाचराः कपिशपाचराः एवमुत्तरत्रापि यथासंभवं योज्यमुत्तरपदं सर्वत्र राक्षसवाचि	२८-२
उड्डमरः—उल्बणः	२८-२
वल्गनम्—ऊर्ध्वाधोनयनम्	२८-२
उन्माथाः—उच्छृङ्खलाः	२८-३
प्रमाथाः—गणाः	२८-३
पिथुराः—पिशाचाः	२८-३
जहर्थं—पर्णं	२८-३

१. तदाह—मृगयाक्षं दिवास्वापः परिवादो मदः स्त्रियः। तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥१॥

२. पैशुन्यं साहसं द्रोहः ईर्ष्यासूयार्थदूषणं। वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं कोपजोऽयं गणोऽष्टधा ॥१॥

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
पोताः—बालकाः	२८-४
तरक्षुः—ऋक्षः	२८-४
प्रस्थः—तटं	२८-५
कौशिकः—उलूकः	२८-५
आवानं—शुष्कं	२८-५
अजिनं—चर्म	२८-५
कासरः—महिषः	२८-६
पुरुदंशः—मार्जारः	२८-७
आश्यानं—शुष्कं घनं वा	२८-७
गोमायुः—श्रृगालः	२८-८
निपाः—घटाः	२८-८
सप्तजिह्वः—अग्निः	२९-२
संहारायतनं—क्षयकारणं	२९-३
कीनाशः—यमः	२९-४
तरवारिः—खड्गः	२९-५
दण्डपाशिकः—तलारः	२९-४
परिधिः—परिवेषः	२९-५
अनाश्वान्—व्रतोपपन्नः	२९-५
क्रमौ—पादौ	२९-६
सपर्या—पूजा	३०-१
रोधः—तटं	३०-१
विरोचनः—रविः	३०-२
कुशेशयम्—अब्जम्	३०-२
बुधप्रकाण्डं—प्रशस्तो बुधः	३०-२,३
समीरपथम्—आकाशम्	३०-३
प्रसंख्यानम्—ध्यानं	३०-४
पविः—वज्रम्	३०-४
गुणः—ज्या शुद्धाशयता च	३१-१
धर्मः—उत्तमक्षमादिश्च	३१-१
रत्नत्रयं—वज्रमणिमुक्ताफलानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि च	३१-१
सुवर्णं—काञ्चनं शोभनं यशश्च	३१-१
उमा—गौरी कीर्तिश्च	३१-२
सुदर्शनं—चक्रं शोभनाकारश्च	३१-२
अनुद्वोनयः—असदाचारः सापेक्षो वस्तुधर्मनिरूपणाभिप्रायश्च	३२-१
क्षमा—क्षितिः क्षान्तिश्च	३२-१
नियमितः—बद्धः वशीकृतश्च	३२-१
कौमुदी—कार्तिकी पौर्णमासी	३२-२
वारला—हंसी	३२-२
प्रत्यादेशः—निराकरणं	३२-३
अभिध्या—विषयाकाङ्क्षा	३२-३
पृषताः—बिन्दवः	३३-१
कुटहारिका—घटचेटी	३३-१
रोमन्थः—चर्वणं	३३-१
व्रजपालः—गोकुलिकः	३३-१
हलाजीवाः—कृषीवलाः	३३-२
विप्रलब्धा—वञ्चिता‡	३३-३
दुर्विधाः—दरिद्राः	३३-५
उदवसितं—गृहं	३३-६
शौक्तिकेयं—मौक्तिकं	३३-७
वृहद्भानुपु—अग्निपु	३३-७
पर्णलयाः—पपपंपति	३४-१
गर्भरूपाः—शिशवः	३४-१
चण्डरोचिः—खरकिरणः	३४-१
कोकः—चक्रवाकः	३४-३
जम्बालं—शैवालं	३४-३
शीर्यत्—इति अव्ययम्	३४-५
विभातं—प्रभातं	३४-६
स्तम्बः—गुल्मः	३४-७
विकिराः—चटकाः	३४-७
कलनात्—संभावनात्	३५-१
पल्वलं—तल्लः	३५-३
पोत्री—वराहः	३५-३
कररुहाः—नखाः	३५-४
धनंजयः—पावकः	३५-८
प्रत्यूहः—विघ्नः	३५-८

‡ देखिए—यशस्तिलक पृष्ठ ३३ की टिप्पणी।

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
प्रतापः—उष्णत्वं	३५-९
तपनोपलः—सूर्यकान्तः	३६-१
गरलः—विषं	३६-२
कार्शानवः—आग्नेयाः	३६-३
जातवेदाः—पावकः	३६-३
ग्रसितुम्—आदातुं	३६-३
अवसिते—समर्थे संजाते	३६-३
वृत्तयः—सद्भावाः कौशिकी-भारती-सात्वती-आरभट्यश्च	३६-४
अङ्गहारः—शरीरक्षोभः करणसमूहश्च	३६-४
विष्वद्रीचि—समस्ते	३६-५
मुर्मुरः—तुषाराग्निः	३६-५
शर्करिलाः—क्षुद्रपाषाणवस्यः	३६-६
विरोचनः—अग्निः	३६-६
लेलिहानाः—सर्पाः	३७-२
मिध्माम—बाष्पं	३७-२
घोरघृणिः—आदित्यः	३७-३
दन्दशूकः—सर्पः	३७-४
कृष्णवर्त्मा—अग्निः	३७-६
दैर्घिकेयं—कमलं	३७-७
पुटकिनी—पद्मिनी	३७-८
कासारः—तल्लः	३७-८
अष्ठीलं—कर्परं	३७-८
कमठः—कूर्मः	३७-८
विरेयः—नदः	३७-९
नखायुधाः—व्याघ्राः	३८-१
सौरभेयाः—वृषभाः	३८-१
खर्वति—मुञ्चति पातयति	३८-१
गवेराः—महिषाः	३८-१
पुष्पंधयाः—भ्रमराः	३८-१
नगौकसः—पक्षिणः	३८-२
देवखातानि—अकृत्रिमसरांसि	३८-३
धान्वनधरा—मरुस्थलभूमिः	३८-३
प्रधिषु—कूपेषु	३८-३
उग्गुलुम्पनम्—उन्मोचनम्	३८-३
अग्निसात्स्वम्—अग्निसम्पन्नत्वं	३८-६
निम्नगा—नदी	३८-७
अह्नाय—झटिति	३८-८
विमृशति—अन्वेषते	३८-९
कच्छः—नद्येकदेशः	३८-९
आसीनप्रचलायितं—स्थितघूर्णनं	३९-१
चिकुरं—कुटिलं	३९-६
ह्रणिः (पाठान्तरं)—कुल्या	३९-६
तपतपनकेतुषु—तपस्य ग्रीष्मस्य तपनकेतवो दिवसाः	३९-७
विकर्तनः—रविः	३९-७
निचलः—निचोलकः	४०-१
खरदण्डम्—पद्मम्	४०-१
खण्डिता—नायिकाविशेषः[1]	४०-१
परिपन्थिनः—चौराः	४०-२
द्रुहिणः—ब्रह्मा	४०-२
प्रभिन्नः—मत्तः	४०-२
धरः—गिरिः	४१-१
पिशुनः—सूचकः	४१-१
वराहाः—मेघाः	४१-२
जलमात्—सम्पन्नजलानि	४१-३
सौदामनी—विद्युत्	४१-७
संकल्पजन्मा—कामः	४१-९
शराणि—जलानि बाणाश्च	४२-२
सिन्धुः—नदी	४२-३
वारिवाहाः—मेघाः	४२-४
मनस्कारः—चित्तं	४२-४
गवयः—महिष्यः	४२-५
पिष्टातकः—चूर्णविशेषः	४२-८
हेरम्बगुरुः—विनायकपिता	४२-९
कपर्दिनितम्बिनी—गौरी	४२-९

---

१. उक्तं च—निद्राकषायमुकुलीकृतताम्रनेत्रो नारीनखव्रणविशेषविचित्रिताङ्गः ।
यस्याः कुतोऽपि गृहमेति पतिः प्रभाते सा खण्डितेति कथिता कविभिः पुराणैः ॥१॥

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
गोमिनी—श्रीः	४२-९
श्याकः—मैथुनिकश्चन्द्र इत्यर्थः	४२-१०
सुनासीरः—इन्द्रः	४२-१०
कुमुदपुण्डरीकौ—दिग्गजविशेषौ	४२-१०
ललिता—गौरी	४३-१
हिञ्जीरं—नूपुरं	४३-२
कलिन्दकन्या—यमुना	४३-२
रदः—दन्तः	४३-३
निटिलं—ललाटं	४३-३
रजनिरसः—हरिद्राराग:	४३-३
कम्बुः—शंखः	४३-४
पाञ्चजन्यः—शंखविशेषः	४३-४
पतिंवरा—कन्या	४४-१
कमलासनः—ब्रह्मा	४४-१
अहल्यापतिः—गौतमः	४४-२
परिग्रहः—कलत्रं	४४-२
स्खलितम्—दोषः	४४-२
युवतिमुद्राचराणि—भूतपूर्वभगानि	४४-३
पौलोमी—शची	४४-३
वृद्धश्रवस्यन्दी—शक्रः	४४-४
जातवेदाः—अग्निः	४५-१
वातापिरिपुदिगन्तवास—वातापिरिपुरगस्त्यस्तस्य दिग्दक्षिणा तदन्तवासो यमः	४५-२
कीकसम्—अस्थि	४५-३
कैकसेयः—नैर्ऋतः	४५-४
उदकोदरगदः—जलोदरव्याधिः	४५-४
काकिञ्जः—परिवर्तितदेहयोर्दम्पत्योः रतिप्रयोगः आदिशब्दादुत्पुलककविजृम्भकादिकरणपरिग्रहः	४५-४
प्रचेताः—वरुणः	४५-५
नभस्वान्—वायुः	४६-१
विसेशः नलकूबरपिता च—धनदः	४६-२, ३
शितिकण्ठः कृत्तिवासाश्च—हरः	४६-३, ४
चण्डमयूखः हरितवाहवाहनश्च—रविः	४६-४, ५
सुधतातः निशादर्शश्च—चन्द्रः	४६-५, ६
हृषीकेशः मुकुन्दश्च—हरिः	४७-१, २
तुण्डीरं—बिम्बाभं	४७-३
कुम्भीनसाः—सर्पाः	४७-३
प्रत्यवसितः—पदभ्रष्टः	४७-३
काश्मीरं—कुङ्कुमं	४७-५
मन्दरधराधरः—अस्ताचलः	४८-२
चक्रवालं—समूहः	४८-३
पुरं—परिखावप्रप्रतोलिकाप्राकारादिसमन्वितं राजाधिष्ठितं च	४८-५
स्थानीयं—अष्टशतग्रामप्रतिबद्धः नगरविशेषः	४८-५
द्रोणमुखं च—चतुःशतग्रामप्रतिबद्धम्	४८-५
कार्वटिकं च—द्विशतग्रामप्रतिबद्धम्	४८-५
संग्रहश्च—दशग्रामप्रतिबद्धः	४८-६
निगमग्रामाश्च—भक्तग्रामाः कथ्यन्ते	४८-६
तेषां संबन्धिन्यो विश्वंभरा भूमयस्ताः	४८-६
कर्मतापन्नाः समभिनन्दयन्—आनन्दं प्रापयन्	४८-६
आदिपुरुषः—हरिः वृषभनाथो वा	४९-१
चातुरी—चातुर्यम्	४९-१
सुमनसः—पुष्पाणि	४९-१
नव्यं—नवं	४९-२
कच्छः—पुष्पवाटिका	४९-२
उञ्छनम्—अवचयः	४९-२
छेकाः—चतुराः	४९-३
वैदग्धी—वैदग्ध्यं	४९-४
अन्तेवासिनः—शिष्याः	४९-५
वासः—वस्त्रं	४९-५
कषायाः—नीलीरसादयः क्रोधादयश्च	४९-५
मदः—दानं बलविज्ञानादिगर्वं च	४९-५
मित्रभावः—रविभक्तिः मैत्री च	४९-६
विग्रहः—अपकारः कायश्च	४९-६
दण्डः—सेना उपवासादिश्च	४९-६
दोषाः—वातपित्तकफाः रागादयश्च	४९-६
परलोकः—अन्यजनः स्वर्गादिश्च	४९-६
शमः—क्षेमहेतुरुपशमश्च	५०-१
योगः—अलब्धलाभः समाधिश्च	५०-१

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
तीर्थानि	मन्त्रिपुरोहितादीन्यष्टादश शान्तिनाथो-र्ज्जयन्त्यादीनि	५०-१
उपलेप:	उपदेह: संगश्च	५०-१
रज:	धूलिश्चञ्चलता च	५०-१
अखिलद्वीपदीप:	रवि:	५०-१
तम:	ध्वान्तमज्ञानं च	५०-२
स्पृहा	चैतन्यमभिलाषश्च	५०-२
गुण:	सूत्रं शास्त्रज्ञानादिश्च	५०-२
मदनफलं	प्रसिद्धं कामविकारश्च	५०-३
अर्द्ध	बलं धनं सुखं धर्मो युगपन्नन्समुच्यते	५०-३
उदाहरणं	दृष्टान्त:	५०-३
चित्रशिखण्डिन:	सप्तर्षय:	५१-१
अन्वाचयीकृत:	अप्रधानीकृत: कुसृतिसर्गो मायाप्रसूतिर्यै:	५१-१
पाराशरिण:	तपस्विन:	५१-१
अनूचान:	व्रतोपपन्न:	५१-१
अनङ्गमुनय:	सप्तर्षय:	५१-६
असमशर:	स्मर:	५२-१
उद्याव:	उत्सव:	५२-१
प्रसव:	पुष्पं	५२-१
अशिशिरकर:	रवि:	५२-२
अगमा:	तरव:	५२-२
नागरङ्गं	(पाठान्तरं नारङ्गम्) नारङ्गम्	५२-४
ताल:[1]	कालप्रमाणं तरुश्च	५२-५
घनायतनं	व्योम	५२-५
मन्दारसारं	मन्द: शनि:, आर: अङ्गारक: (मङ्गलग्रह:) मन्दारो वृक्षश्च	५२-६
नागवल्ली	अहिसंतति: ताम्बूली च	५२-६
बाणासनं	धनु: बाणासनौ बीजरालवृक्षौ	५२-६
अङ्कोल-अश्वत्थ-नमेरु-राजादन-संतान-पारिजाता:	तरव:	५३-१, २, ३,
कुम्पल:	बालपल्लव:	५३-३
लतान्तं	पुष्पं	५३-३
हरित:	दिश:	५३-४
उपाहरत्	कुर्वत्	५३-५
आवाल:	आलवाल:	५३-५
इन्दुमणि:	चन्द्रकान्त:	५३-६
निकुरम्ब:	समूह:	५३-७
खगा:	पक्षिण:	५३-८
प्रेङ्खत्	प्रचलत्	५३-८
वैखानसा:	तापसा:	५४-१
कितवा:	धूर्ता:	५४-१
लास्यमाना:	नर्त्यमाना:	५४-१
विटङ्क:	पल्लवोन्नतप्रभाग:	५४-२
मुकुरं	बालकुड्मलं	५४-३
वितर्दिका	वेदी	५४-३
संभ्रम:	भयं	५४-४
निभृत:	मौनी	५४-४
पुलक:	सशब्दपंचनखसंयोग:	५४-४
वितरणं	दानं	५४-४
आलप्ति:	गानोपक्रमध्वनि:	५४-६
उत्तम्भनम्	उच्चलनम्	५४-७
मञ्जीरं	नूपुरं	५४-८
संसद्	सभा	५५-१
रमणरतं	पुरुषायितं	५५-१
विचकिल:	पुष्पजाति:	५५-१
प्रालम्ब:	कंठादानाभिप्रतान:	५५-१
ग्रथित:	घटित:	५५-२
निचुल:	तरु:	५५-३
काकोल:	काक:	५५-४
लोह ध्रम्	अव्यक्तं	५५-५
करल:	तरु: मुचकुन्दश्च	५५-५, ६
निधुवनं	सुरतं	५५-७
दर्दरीकं	दाडिमं	५५-८
पुण्ड्रेक्षु:	पुण्ड्र: (पाण्डुवर्ण:) इक्षु:	५५-८
पिट्ठा:	चिटा:	५५-८

१. उक्तं च—ताल: कालक्रियामानं लय: साम्यमुदाहृतम् ॥ ३ ॥

शब्द — अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
मृद्वीका—द्राक्षा	५६-१
भासत्—चन्दनं ? (सं० टी० भास्वरं मुखं)	५६-३
बिब्बोकिनी—विलासिनी	५६-३
यावक:—अलक्तक: (लाक्षारस:)	५६-३
वृक्षौषधिवनस्पतिलताभि:—वृक्षाश्च-पुष्पफलसहिता: आम्रादितरव:, औषधयश्च—फलपाकान्ता: कदलीवृक्षादय:, वनस्पतयश्च—फलिनो वृक्षा:, लताश्च वल्ल्यस्तास्तथोक्ताभि:[1]	५६-५
मिथ:—परस्परं	५६-५
वैभ्र्यं—शुक्लता	५६-६
ललामकर्म—तिलकरचना	५६-६
तापिच्छं—पुष्पजाति: (सं० टी० तु तमालवृक्ष:)	५६-७
चिकुरा:—केशा:	५६-७
प्रियाल:—तरु:	५६-८
किलकिञ्चितं—विलसितं	५७-३
सुन्दरी—स्वाधीनभर्तृका[2]	५७-३
उद्यानस्य—उभयलिङ्गत्वादुक्तानि पुंनपुंसकलिङ्गान्युपमानानि सुघटान्येव	५७-८
महासत्त्व:—जगत्त्रयं	५७-६
प्रदेश:—भूमि:	५७-७
निदेशभूमि – आज्ञाविषयं (आदेशस्थानं)	५७-५
बोधाधिपति:—आत्मा	५८-३
प्रकृति:—करणममात्यादिश्च	५८-३
अलक्ष्यजन्मा—हर:	५८-५,६
हृषीकाणि—इन्द्रियाणि	५९-१
मृगायते—एणायते	५९-५
तनुच्छद:—कवच:	६०-१
बर्हिरथ:—अग्नि:	६०-२
पारद:—पारदरस:	६०-२
निषद्या—अवस्थानं	६१-४
अजिह्म:—उग्र:	६१-५
सकृत्प्रसू:—काक:	६१-८
विश्वकद्रुभि:—श्वभि:	६१-९
कन्दलानि – कपालानि	६२-६
प्रमथनाथ:—हर:	६२-६
शिरोजसार:—कच:	६२-७
नर्दन्ति—ध्वनन्ति	६३-१
संस्थितवतां—मृतानाम्	६३-१
वशिक:—शून्य:	६३-४
सोद्धवा:—सगर्वा:	६३-८
इन्दिन्दिरा:—भ्रमरा:	६४-१
गन्धवाहा—नासा	६४-८
श्याव:—कर्दमवर्ण:	६४-११
पुष्पफलं—कूष्माण्डं	६५-३
जरण्डं—जीर्णम्	६६-३
फेला—भुक्तोज्झितमन्नम्	६७-१
शिवशातकुम्भ:—मोक्ष:	६९-६
वर्षधरा:—षण्ढा:	६९-७
क्षुपा:—क्षुद्रतरव:	७०-१
लयनं—कपाट: (सं० टी० तु शिलोत्कीर्णगृहम्)	७०-२
उशीरं—शयनासने	७०-२
द्वयातिग: कर्मन्दी च—रजस्तमोभ्यां विनिर्मुक्त:	७०-२,३
त्रिविधस्य—प्रारंभमानघटमाननिष्पन्नयोगैर्भेदस्य (सं० टी० तु आचार्योपाध्यायसर्वसाधुलक्षणत्रिप्रकारस्य)	७०-२
अहर्दलं—मध्याह्नसमयं	७०-४
विष्वाण:—भोजनं	७०-५
नन्दिनी—उज्जयिनी	७०-६
तत्रैव—राजपुरे	७१-३
उपसंगृह्य—वन्दित्वा	७१-४
नयौ—द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ	७१-५
प्रमाणे—प्रत्यक्षपरोक्षे	७१-५
शुभध्याने—धर्मशुक्ले	७१-६
प्ररोह:—अङ्कुर:	७१-७

१. देखिए—यशस्तिलक पृ० ५६ की टिप्पणी।

२. तदुक्तं—सुरताभिरसैर्बद्धो यस्या: पार्श्वगतप्रिय:। सामोदगुणसम्पन्ना भवेत्स्वाधीनभर्तृका ॥ १ ॥

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
बर्हं—पिच्छं	७१-७
विघा—आहारः	७२-४
क्षतमदनचरितः—जिनः	७२-४
प्रणिधयः—चराः	७३-१
प्रतिपक्षभावना—रत्नत्रयाराधना	७३-१
तदानयनाय—मनुष्यमिथुनानयनाय	७३-२
नागरिकः—तलारः	७३-२
चित्तं—मनः	७३-४
आयःशूलिकः—उग्रः	७४-२
अशिशिवदानं—अमलिनं	७४-५
करशाखाः—अङ्गुल्यः	७४-७
ऊर्मिः—परवञ्चनहेतुराडम्बरः	७४-८
सर्वकषः—यमः	७४-९
करवालः—खड्गस्तस्य अर्धोल्लासेन अर्धनिष्कासनेन	७५-३
मयः—उष्ट्रः	७५-३
मितद्रुः—तुरगः	७५-४
पलाशाः—राक्षसाः	७५-५
कुम्भीरः—जलचरविशेषः	७५-८
सालूरः—भेकः	७५-८
कुलीरः—कर्कटकः	७५-८
अमिलं—चर्म	७५-८
काण्डः—बाणः	७५-६
चमूरः—व्याघ्रः	७५-६
गौरखुरः—मृगविशेषः	७५-९
काश्यपी—भूः	७६-२
आलम्भनं—मारणं	७६-२
पंचजनैः—मनुष्यैः	७६-२
निघ्नता—तत्परता	७६-५
अनुशयः—पर्यालोचनम्	७६-८
स्पर्शयज्ञयां—दवज्ञयां	७६-६
शिपिविष्टः—रुद्रः	७७-१
प्रत्यूहितं—विघ्नितं	७७-२
आशीर्विषः—दृष्टिविषो दंष्ट्राविषो वा	७७-४
प्रमित-परेत-परासु-संस्थित-गतजीवित-शब्दाः—मृतकपर्यायाः	७८-४, ६

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
वर्णकानि—विलेपनानि	७८-४
चन्द्रकन्नलाः—मुखमण्डनचूर्णानि	७८-५
चण्डातकं—चलद्वस्त्रकं ? (सं. टी. तु अर्धोरुकं वस्त्रं चलनकमिति यावत्)	७८-६
सारसनं—कांची	७८-६
स्तभाः—छगलाः	७८-६
कीलाः—ज्वालाः	७८-७
प्रत्यवसानं—भोजनं	७८-७
यातुधानाः—राक्षसाः	७८-९
स्वसुः—भगिन्याः	७९-७
अचला—भूः	८०-७
कुम्भोद्भवः—अगस्त्यः	८०-७
विश्वद्युतिः—आदित्यः	८०-८
अपवार्य—उत्सार्य	८१-२
नृशंसः—राक्षसः	८१-३
प्रवसितः—गतः	८१-४
आनन्दथुः—आनन्दः	८१-५
आश्चर्यार्यं—आश्चर्यस्याय: उत्पादो यस्य	८१-८
पुलकः—रोमाञ्चः	८१-८
मधुपर्कः—दधिघृतादियोगः	८१-८
शौद्धोदनिः—बुद्धः	८२-१
अवरोहः—अङ्कुरः	८२-२
वैतालिकः—बन्दी	८२-३
दोः—बाहुः	८२-५
लक्षं—मिषम्	८३-२
प्रवेष्टः—करः (सं. टी. प्रवेष्टयोः भुजयोः)	८४-१
हाटकं—सुवर्णम्	८४-१
दर्शनं—लोचनं	८४-४
प्रतिशरीरं प्रतियातना च—प्रतिबिम्बम्	८४-४, ५
नृपथज-समाह्वय-समानीकशब्दाः—संग्रामपर्यायाः	८४-५, ८५-१, २
दुर्ललिता—आसक्ता	८४-७
भेषजम्—औषधम्	८५-२
कालेयः—कलिकाले भवः	८५-२
चरमाभिचारः—मारणकर्म	८५-२

शब्द	अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
प्रदेशिनी	तर्जनी	८५-६
लालाटिकः	सेवकः	८५-६
सपरिकरं	सपर्यङ्कम्	८५-७
पुरोभागिनि	द्वेषिणि	८५-८
श्वःश्रेयसं	कल्याणं	८५-८
अनवहेलः	आदरः	८६-२
विष्टरम्	आसनम्	८८-२
वाचंयमता	मौनता	८६-४
श्वेतिम्ना	श्वेतत्वेन	८७-३
रोहिणी	चन्द्रभार्या	८७-५
अभ्रमु:	ऐरावणभार्या	८७-५
सटा:	जटाः	८७-७
अमराम्भोधिः	दुग्धोदधिः	८९-१
अमरसिन्धुः	गङ्गा	८९-८
अर्चित:	पूजित:	८९-८
दक्षिणाः	अनुकूला:	९०-२
धर्म:	दानादिकर्म धनुश्च	९०-३
चञ्चत्कुन्तलचामरं	चञ्चन्तः चलन्तः कुन्तला एव चामराणि यत्र नृत्ते प्रमदारते च, चञ्चत्कुन्तलानि चामराणि यत्र नृपतिस्थाने	९०-७
भावः	अभिप्राय:	९०-७
ऊरुचरणन्यासासनानन्दितम्	ऊर्वोश्चरणविन्यासो यस्मिन्नासने करणविशेषे ऊरुन्यासासनं चरणन्यासासनं पादपीठं ताभ्यामानन्दितं	९०-७
खेलत्पाणिपताकम्	खेलन्ती विलसन्ती पाणिपताका करविन्यासविशेषो यत्र नृत्ये प्रमदारते च, खेलन्त्यः शोभमानाः पाणौ पताकाः पाणिध्वजादयो यत्र नृपतिस्थाने	९०-८
ईक्षणपथानीताङ्गहारोत्सवम्	ईक्षणपथमानीतः अङ्गहारोत्सवः करणसमुदायशोभा येन नृत्येन, तत्पथमानीता: अङ्गहारोत्सवा: येन प्रमदारतेन, नृपतिस्थानेन च	९०-८
च ते	इत्यत्र चशब्देन युष्मदर्थस्य संबंधाभावात् चादियोगे भवति निषेध:	९०-८
आसेचनकावलोकनयोः	अतृप्तिकरदर्शनयो:	९२-१
अनन्ताः	भूः	९२-४
शौण्डीरः	त्यागविक्रमाभ्यां विश्रुतः	९२-५
धाम	अर्ति-स्तु-सु-सृ-दुहि-सु-वृ-क्षि-धा-भा-या वा-पदि यक्षिक्षुनीभ्यो म इति मन्तोऽयं शब्द:	९२-६
निगदं	निबंधनं	९२-६
कदनं	रणं	९२-६
निगम:	ऐतिह्यं	९२-७
पद्मनाभ:	हरिः	९३-३
बाहुमध्यं	हृदयं	९३-६
दुर्गाकरपीडनविषमनेत्र	दुर्गा गौरी करो हस्तः दुर्गाणि कोट्टानि आकराः रत्नोत्पत्तिस्थानानि, विषमनेत्रो हर: क्रूरलोचनश्च	९३-६
वर्ग:	यश:—ब्राह्मणादिश्च	९४-१
सदनं	गृहं शरणं च	९४-१
तिलकबर्हं	तिलकपत्रं	९४-४
बुधजनकाम	इत्यङ्कनाम	९४-५
तमङ्गः	प्रासादः	९५-१
प्रतापरङ्गः	इत्यङ्कनाम	९५-१
ललामं	चिह्नं (सं. टी. मस्तकं)	९५-२
कूर्च:	भ्रुवोरन्तरालकेशा:	९५-२
तरणिः	आदित्य:	९५-३
हरणि:	कुल्या	९५-३
सरणि:	मार्ग:	९५-३
सदवनं	सत्पुरुषरक्षणं	९५-५
द्युमणि:	आदित्य:	९५-७
निश्च्योत:	स्यन्द:	९६-२
आयोधनं	संग्राम:	९६-६
मितानि	परिमाणानि	९६-८
प्रणयिगङ्गः	तस्याग्रमहिष्याः नाम (प्रणयिनी अग्रमहिषी गङ्गा नाम्नी यस्य)	९७-१
नासीरः	सेनानी: (सं. टी. सेना)	९७-२
त्रपु:	लोहविशेष:	९७-२
दर्शनानि	प्राभृतानि	९७-५
प्रतिवेश:	उपान्तगृहम्	९७-६
महीन:	महीश:	९८-१

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
गर्जि—गर्व-दर्प (सं. टी. तु गर्जनं गलवल्गनं संग्राम-सुभटत्वं	९८-२
अश्मन्तक: पल्लवश्च—राजकुलविशेष:	९८-२
तनुत्रं—कवचम् (सं. टी. तु कञ्चुकमिति ललितार्थ:)	९८-७
इन्दिरा—लक्ष्मी:	९९-२
तटीध्र:—गिरि:	९९-३
विक्रम:—इति तस्याङ्कनाम	९९-४
निर्वर्ण्य—सविस्मयमवलोक्य	९९-५
कङ्केलि:—अशोक:	९९-७
भिक्षाक:—भिक्षुक:	९९-७
चिल्ली—भ्रू:	१००-१
रदनच्छद:—ओष्ठ:	१००-३
बाहा:—भुजा:	१००-३
प्रश्रय:—विनय:	१०१-५
तस्त्रितयस्य—देशकुलजन्मकारणानाम्	१०२-१
सोऽयमाशार्पित—अत्र प्रथमाक्षरै: सोमदेवनाम	१०२-५
जन्मापूर्वविभूति:—मोक्षलक्ष्मी:	१०३-२
स्याद्वादी—जिन:	१०३-२
वाद: — वदनम्	१०३-२
अर्णव:—समुद्र:	१०४-४
वसव:—देवा:	१०४-४
श्रिया गृहाणि श्रीदानै:[1]	१०४-६
अभ्युपपत्ति:—आदर:	१०४-६
तर्णक:—वत्स:	१०४-७
धेनुकेन—धेनुसमूहेन	१०५-३
वल्लवी—गोपिका	१०५-४
सुमद:—देवा:	१०५-४
वाक्यं विद्यागमैर्यत्र[2]	१०५-६
सत्रं—दानमण्डप:	१०६-२
पालिन्दी—वीचि:	१०६-३
कह्लारं—जलजपुष्पविशेष:	१०६-३
कैरवं—कुमुदं	१०६-३
अभ्रपुष्पं—जलम्	१०६-४
नालिकिनी—कमलिनी	१०६-४
कोश:—गर्भ	१०६-५
कोशकं—चषकम्	१०६-५
किञ्जल्क:—मकरन्द:	१०६-५
लेखा:—देवा:	१०६-५
खाण्डवं — देवोद्यानं	१०६-६
पलं—मांसं परिमाणं च	१०७-५
मधु—मद्यं वसन्तश्च	१०७-५
दशबल:—बुद्ध:	१०७-६
पृषदश्व:—वात:	१०७-६
भावसंकर:—विविधोऽभिप्राय:	१०७-६
संसर्गविद्या—भरतशास्त्रम्	१०७-६
परद्रव्यं—परधनं परदाराः च	१०८-१
अक्रम:—अन्यायश्चरणाभावश्च	१०८-१
काद्रवेय:—सर्प:	१०८-१
करकठिनता—सिन्धायादाधिक्यं (बलेराधिक्यं) हस्तकर्कशता[3] च	१०८-१
लिङ्गं—स्त्रीपुंनपुंसकानि तपस्वी च	१०८-२
उपसर्ग:—उपद्रव: प्र-परादिश्च	१०८-२
निपात:—स्वाचारप्रच्यव: प्रसिद्धशब्दोच्चारणं च	१०८-२
दोषा:—पैशून्याद्य: वाताद्यश्च	१०८-२
भङ्ग:—पलायनं विवेचनं च	१०८-२
सीता—भू: जानकी च	१०९-१
इतिहास:—पुरावृत्तपुराणं	१०९-१
कुरङ्ग:—कुत्सितनृत्यं मृगश्च कुत्सितरङ्गं वा मृगवत्कुच्छलनं वा	१०९-१
धर्मगुण:—यथायथ्यानुष्ठानं धनुर्ज्या च	१०९-१
हराद्रि:—कैलाश:	१०९-७
निर्मोक:—सर्पकञ्चुलिका	१०९-७
शरणं—गृहम्	११०-२
निष्कुटोद्यानं—गृहोद्यानम्	११०-३

१. देखिये – यशस्तिलक पृ० १०४ की टिप्पणी।

२. देखिए यशस्तिलक पृ० १०५ की टिप्पणी।

३. देखिए—यशस्तिलक पृ० १०८ की टिप्पणी।

शब्द — अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
पस्त्यं—भवनम्	११०-७
वयस्या—सध्रीची	१११-२
कृष्णता—कालता दुराचारता च	१११-६
द्विधाभावः—उभयथा विभागः उभयभेदना च	१११-६
कुटिलत्वं—वक्रता अप्रसन्नता मायित्वं च	१११-७
भङ्गः—उत्क्षेपो नाशश्च	१११-७
वर्णाः—रक्ताद्यो ब्राह्मणादयश्च	१११-७
विवेकः—असंलग्नता चातुर्यं च	११२-१
हरिद्रता—कृशता अधनता च	११२-१
जडता—गुरुता मूर्खता च	११२-१
वृद्धिः—महत्त्वं श्रीश्च	११२-२
प्रांसुलता—पारदारिकता धूलिभूसरता च	११२-२
गुरुरिव—बृहस्पतिरिव	११२-५
ब्रह्मालयः—मोक्षः	११२-६
सर्वपार्थिवगुणाः—रूपादयः (सं. टीकायां तु भारक्षमादयः समुद्रभूभृदुद्धरणादयश्च) समस्तनृपगुणाः त्यागादयश्च	११३-१
लब्धवर्णाः—यशस्विनो विदग्धाः वा	११३-१,२
तारेश्वरः—चन्द्रः	११३-२
आमुष्यायणः—प्रसिद्धात्पितुरुत्पन्नः आमुष्यायण इत्यते	११४-१
त्रिवेदी—तर्कव्याकरणसिद्धान्ताः	११४-२
चतुर्वर्गाः—धर्मार्थकाममोक्षाः	११४-३
विद्याः—आन्वीक्षिकी-त्रयी-वार्ता-दण्डनीतयः	११४-३
समयाः—बौद्धार्हतशैववैदिकाः	११४-३
अभागः—अलब्धांशः	११५-२
चक्षुर्दक्षौ—प्रजापती नेत्र-कुशलौ च (चक्षुर्नेत्रं प्रजापतिश्च, दक्षः कुशलः प्रजापतिश्च)	११५-६
परिवृढः—प्रभुः	११५-९
राधा—शोभा	११५-९
कशा—हयताडनं वस्तु	११६-१
खुहुराणाः—हयाः	११६-१
खाताः—विदारिताः	११६-६
पर्यस्ताः—भग्नाः	११६-६
खातैः—परिखाभिः	११६-६
पर्यस्ताः—परिक्षिप्ताश्च	११६-६
मातङ्गाः—चिलाताः (चाण्डालाः) गजाश्च	११६-६
हरयः—वानराः हयाश्च	११६-६
खड्गप्रकाण्डं—गण्डकसमूहः असिप्रधानश्च	११७-१
कृत्यं—कार्यं भेद्यश्च (भेदनीतिः)	११७-१
तीर्थानि—प्रयागादीनि मन्त्रिपुरोहितादीनि सेनापतिप्रभृतीनि च	११७-१
परं पदं—मोक्षः शत्रुस्थानं च	११७-२
मन्त्रः—प्रणवादिः कर्मणामारम्भोपायश्च	११७-२
योगः—समाधिरलब्धलाभश्च	११८-१
उपायः—वैराग्यं सामादिश्च	११८-१
श्रीफलं—बिल्वमाज्ञादिश्च	११८-१
विश्वंभराभृत्—गिरिर्नृपश्च	११८-१
विद्या—कैवल्यमान्वीक्षिक्यादिश्च	११८-२
बलालः—वायुः	११९-५
गारुत्मतमणिः—विषापहारमणिः	११९-६
त्रिपथगा—गंगा	११९-७
विश्राणनं—दानं	१२०-५
भुजगता—भुजैर्गच्छन्ति भुजगाः पत्त्रभङ्गास्तेषां भावस्तत्ता विषमता (चञ्चलता) च	१२०-५
विकृतिः—असच्चेष्टितं विविधाकृतिश्च	१२०-५
परप्रेयता—परायत्तता प्रान्तारकर्तव्यता (हस्तिपक-प्रेरणता) च	१२०-६
शुद्धान्तः—अन्तःपुरम्	१२२-३
सागराम्बरा—भूः	१२२-६
भुजिष्या—गणिका	१२२-६
तीर्थं—चतुर्थदिवसस्नाता स्त्री	१२२-९
ब्राह्मसमयः—निशाशेषः	१२२-९
उदन्तः—वार्ता	१२२-९
भर्म—पोषणविधिं गर्भाधानप्रसवसीमन्तोन्नयनलक्षणम्	१२३-९
मासः—मासात्	१२४-१
द्वययत्नपूर्वैः—गर्भगर्भिणीरक्षाकारयैः	१२४-२
सूतिकासद्म—प्रसवगृहम्	१२४-२

शब्द अर्थ		पृष्ठ-पंक्ति
अन्यत्र राहोरिति	वचनमुत्तरत्र विशेषेणापाय-संभवात्	१२४-३
हल्ला:	आशीतिका: पुरुषा:	१२४-४
आपीड:	समूह:	१२४-९
धवलमौकुलि:	श्वेतकाक:	१२५-७
आमुक्ता:	बद्धा:	१२५-९
सौविदल्ला:	कञ्चुकिन:	१२६-५
गौरधामा	चन्द्र:	१२६-७
पूषा	रवि:	१२६-७
क्षुभ्यति	व्याकुलो भवति	१२७-२
अङ्क:	उत्सङ्ग:	१२७-५
स्तन्यं	दुग्धम्	१२७-६
स्वस्त्ययनोपचार:	अक्षतादिदानं	१२७-७
वर्णा:	द्विजातयोऽक्षराणि च	१२९-६
पारिरक्षक:	यति:	१२९-६
प्रसंख्यानं	जप: गणितं च	१२९-६
पणिपुत्र:	पाणिनि:	१२९-७
कवि:	बृहस्पति:	१२९-७
रोमपाद:	अङ्गराज:	१२९-७
रैवत:	रविसुत:	१२९-७
शुकनास:	अगस्त्य:	१२९-८
काशिराज:	धन्वन्तरि:	१३०-१
काव्य:	शुक्र:	१३०-१
दत्तक:	कामशास्त्राचार्य:	१३०-१
चन्द्रायणीश:	चन्द्र:	१३०-१
गोदानं	ब्रह्मचर्याश्रमव्रतविसर्जनम्	१३०-२
नियम:	ब्रह्मचर्यादिव्रतम्	१३०-२
विनय:	गुरुशुश्रूषा	१३०-३
स्तम्बेरम:	करी	१३२-२
नितम्बलक्ष्म्या[1]	इत्यादिना	१३२-६
योगवरचक्षु:	योगी	१३३-१
विश्रम्भ:	विश्वास:	१३३-१
एकतानम्	अवहितम्	१३३-३
हर्यांशु:	चन्द्र:	१३३-३
यन्ता	सारथि:	१३४-१
अभिषादी	आधोरण:	१३४-१
धर्मासनम्	आस्थानम्	१३४-१
इन्दिरानुज:	चन्द्र:	१३४-४
अकूपार:	समुद्र:	१३४-५
नलकूबर:	धनदपुत्र:	१३४-७
धनंजय:	इन्द्र:	१३४-७
जयन्त:	तत्पुत्र:	१३४-७
अधोक्षज:	हरि:	१३४-८
मनोज:	प्रद्युम्न:	१३४-८
वनेजं	जलजम्	१३४-८
कालेयं	कुङ्कुमम्	१३५-१
हरि:	शक्र:	१३५-१
भर्म	हेम	१३५-१
पुरुहूत:	शक्र:	१३५-१
जतु	लाक्षा	१३५-२
आलोकशब्द:	जयशब्द:	१३६-३
झिल्लीका	जीवविशेष:	१३६-३
वासरकर:	दिनकर:	१३६-५
पार्थिवेन्द्र:	नृप:	१३६-६
तुन्दिल:	स्थूल:	१३६-६
मिथुनचरा:	कोका:	१३६-७
शब्दाल:	सुस्वर:	१३७-१
संप्लव:	संगम:	१३७-२
द्रुहिणद्विजा:	हंसा:	१३७-३
त्रोटि:	चञ्चु:	१३७-४
निरशन:	बुभुक्षित:	१३७-४
औधस्यं	दुग्धम्	१३७-५
मराली	हंसी	१३७-५
प्रतीक्ष्यमाण:	पूज्यमान:	१३७-६
व्रज:	गोष्ठम्	१३७-६
हुताशना:	अग्नि:	१३७-८

१. देखिए—यशस्तिलक पृ. १३२ की टिप्पणी ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
मध्यस्थः—यमः	१३८-१
नूतनं—नवम्	१३८-१
पाथोनिधिः—जलधिः	१३८-१
मातरिश्वनि—वाते	१३८-२
विशालाक्षः—रुद्रः	१३८-३
चक्षुः श्रवसि—शेषे	१३८-३
कण्डुलम्—उद्यतम्	१३८-३
खरदण्डिनी—कमलिनी	१३८-४
निर्वेदः—भवभोगशरीरविरागः	१४१-५
जलयन्त्रम्—अरहट्टादि	१४१-७
सूतवत्—पारदवत्	१४२-४
तटिनी—नदी	१४३-१
शैलूषः—नटः	१४४-४
वाडवः—वडवानलः	१४४-९
लूता—ऊर्णनाभः	१४६-१
क्रान्ते—गते	१४६-५
जडाश्रयं—देहाश्रयं जलाश्रयं च	१४६-८
दौर्विध्यं—दारिद्र्यं	१४९-५
वार्त्ती—बुद्धिः	१५०-१
क्षेत्रनाथः—आत्मा	१५०-२
एनः—पापम्	१५१-६
मैत्री—अद्वेषः	१५२-७
दया—परहितबुद्धिः	१५२-७
विद्या—विन्दति यया हेयादेययोरुपायं सा विद्या	१५२-८
अध्वरः—यज्ञः	१५३-१
अगदः—औषधम्	१५४-३
सिन्धुरवधूः—करिणी	१५६-२
मृधं—रणम्	१५६-२
उपाश्रित्य—संसृत्य	१५६-४
राज्यरमा—राज्यलक्ष्मीः	१५६-६
प्रसन्ना—मदिरा	१५७-२
कोरकः—कोद्रवः	१५७-३
निदानं—कारणम्	१५७-३
पङ्कजातं—कमलम्	१५७-५

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
स्वैरिणी—कुलटा	१५७-३
आगः—अपराधः	१५८-२
फलेग्रहिः—तरुः	१५९-२
पयोधराः—मेघाः	१५९-४
युगंधरप्रदेशः—स्कन्धः	१५९-६
गृहमेधीयाः—गृहस्थाः	१६१-२
अभ्यासात्—समीपात्	१६१-८
विहितबहुसभाजनं—कृतविपुलप्रीति	१६१-९
गणकाः—ज्योतिष्काः	१६२-३
स्थपतिः—वास्तुविद्याचार्यः	१६२-३
प्राक्प्रवणा—पूर्वदिग्मुख्या	१६२-५
शाखानगरं—प्रतिपुरम्	१६२-६
संनिकाय्यं—गृहम्	१६२-६, ७
शिबिरं—सैन्यं	१६२-७
उभयनयनेष्टैः—गजवाजिशास्त्रविद्भिः	१६३-१
उन्नीय—परीक्ष्य	१६३-१
वीरगणः—शरव्याविद्	१६३-५
अमृतगणः—वैद्यवित्	१६३-५
निरवद्योपनिषत्—तदधिकृतं प्रकरणं	१६३-५
अनीकिनी—सेना	१६३-६
वेदण्डाः—गजाः	१६३-६
कलिङ्गजं वनेनेत्यादिना—कुलजातिवयोरूपाणि[1]	१६३-८
उपदिग्धः—स्थूलः	१६५-४
ताम्रचूडः—कुक्कुटः	१६६-६
प्रतीकाः—अवयवाः	१६७-३
बहलं—घनं	१६७-३
विपुलं—महत्	१६७-३
मार्जालीयं—हस्तपादप्रक्षालनोचितं स्थानम्	१८५-१
उपस्पर्शनम्—आचमनम्	१८५-२
असुतीवलः—यज्वी (यज्वा—पुरोहितः)	१८५-२
पृषदाज्यं—दधिमिश्रितं सर्पिः	१८५-२
आमिक्षा—विस्रुटित (अविच्छिन्न) दुग्धधारा	१८५-२
द्रविणोदशः—अग्निः	१८५-३
सुविदत्राणि—मङ्गलभूतानि	१८५-३

---

१. देखिए यशस्तिलक पृ० १६४ की टिप्पणी।

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
यजत्रम्—अग्निहोत्रम्	१८५-३
यायजूकाः—होतारः	१८५-३
जैवातृकाः—आयुर्वर्धनपराः	१८५-३
नन्दनाः—सुताः	१८५-४
शतानन्दः—ब्रह्मा	१८५-५
समुद्रीयं—समुद्रभवं	१८५-५
माधवः—वैशाखः	१८५-७
पुष्पदन्तौ—चन्द्रादित्यौ	१८७-८
मङ्खकाः—बन्दिनः	१८७-६
नन्दनः—विध्यापकः	१८८-३
पूर्णपात्रं—दक्षिणा	१८९-१
निवातानि—निबिडानि	१८९-३
परश्शताः—शताधिकाः	१८९-३
अग्रेसराः—भटाः	१८९-४
अग्रेगूभिः—अग्रेसरैः	१८९-५
वाताश्वाः—कुक्कुटिकाः (सं० टी० तु वाताश्वैः कुकुटिकैः कपटभाषणशीलैः)	१८९-५
उदक्याः—रजस्वलाः	१८९-५
षण्डकः—नपुंसकः (यशस्तिलके तु पण्डकाः नपुंसकाः)	१८९-५
पोगण्डाः—अङ्गविकलाः	१८९-[illegible]
अहशीकाः—अदृश्याः	१८९-६
हृदयालवः—चतुराः	१८९-६
प्रादेशनानि—प्राभृतकानि	१९०-६
अर्कनन्दनः—वायसः	१९८-७
दधिवक्त्रः—खरः	१९०-७
वदान्यः—त्यागी	१९०-८
ताम्—उज्जयिनीम्	१९२-४
मन्दाक्षितामरावतीरामणीयकां—मन्दाक्षितं ह्रेपितं अमरावतीरामणीयकं यया सा तां	१९२-५
रोदसी—द्यावापृथिव्यौ	१९३-६
रथकट्या—रथसमूहः	१९४-१, २
घुसृणं—कुङ्कुमं	१९४-३

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
उत्तालाः—उत्सुकाः	१९४-५
लाजाः—अक्षताः	१९५-१०
त्रिदिवदीर्घिका—गंगा	१९६-२
मुकुरन्दः—आदर्शः	१९६-४
तुलाकोटिः—नूपुरं	१९७-२
अदुर्वासोभिः—दिव्यवस्त्रैः	१९७-३
अपारिजातं (अप-अरिजातं)—अपगतमरिजातं यत्र	१९७-३
धर्मः—धर्मो यमश्च	१९७-४
पुण्यजनाः—राक्षसाः (सं० टी० तु पुण्यपवित्रलोकाःराक्षसाश्च)	१९७-४
धिष्ण्यं—गृहम्	१९८-१
स्थाणुः—हरः स्कन्धावशेषस्तरुश्च	१९८-१
व्यालाः—सर्पाः क्रूराश्च	१९८-१
हिरण्यकशिपुः – दानवः हिरण्यं हेम कशिपु वस्त्रभोजने च[1]	१९८-२
अकुरङ्गम्—मृगरहितं अविद्यमानः कुत्सितो रङ्गो काचपक्यं यत्र	१९९-१
वासवीयावासवासिताः—स्वर्गविलासिन्यः	२०८-१
मत्तकामिनी—रूपयौवनसम्पन्ना नारी स्यान्मत्तकामिनी	२००-२
निगमः—वेदः	२०८-४
भरतसुताः—नर्तकाः	२००-४
तण्डुः—शङ्करस्य नृत्योपदेशं प्रति प्रथमः शिष्यः	२०८-४
सागराः—हयाः	२००-५
सारङ्गाः—गजाः	२००-५
अनङ्गमित्रः—चन्द्रः	२००-६
हले, अङ्गो, अवि, अयि, अये, अहे—इति संबोधने अव्ययानि	२०१-१, २, ३, ४, ५, ६
दक्षस्व—'दक्ष शीघ्रार्थे च' इत्यस्य रूपम्	२०१-३
निद्रायस—'द्रा स्वप्ने' ,,	२०१-३
हिण्डसे—'हिडि गत्यनादरयोः' ,,	२०१-४
रंघस्व—'रघि लघि सामर्थ्ये' ,,	२०१-५

१. कशिपु त्वजमाच्छादनं द्वयमित्यमरः ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
भद्रासनं—सिंहासनं	२०१-६
अद्धा—झटिति	२०१-७
प्रकीर्णकानि—चामराणि	२०१-७
वर्षधरः—नपुंसकः	२०१-७
किरातः—अकृत्रिकलः (सं. टी. तु रे भिल्ल !)	२०१-७
निकेतनं—निवासः 'कित निवासे'	२०१-७
सौविदल्लः—कञ्चुकी	२०२-१
पाकः—शिशुः	२०२-१
उत्कण्ठस्व—उत्सुकायस्व (सं. टी. तु उद्यतो भव)	२०२-२
हंसि—गच्छसि 'हन् हिंसागत्योः' देशविशेषापेक्षया गत्यर्थस्यापि प्रयोगात्	२०२-२
कस—'कस् गतौ' इत्यस्य रूपं	२०२-३
रङ्ग—याहि 'रगि गमने' "	२०२-३
द्वीपिनः—मृगयार्थाः मृगाः	२०२-३
तद्धाम—मोक्षः	२०५-२
विक्रमौ—पादौ (सं० टी० तु विक्रमः सामर्थ्यं)	२०५-४
संगरः—प्रतिज्ञा	२०६-३
संविशत—रमध्वम्	२०६-४
दूरं—महत्	२०६-४
अन्तरं—व्यवधानम्	२०६-४
कृकवाकुः—कुक्कुटः	२०६-४
प्रेङ्खितः—चञ्चलः	२०७-१
कूणितः—कुटिलितः	२०७-४
अभिख्या—शोभा	२०७-८
मन्मनः—गद्गदशब्दः	२०८-२
पौरोगवः—महानसाध्यक्षः	२०८-६
अनेहाः—कालः	२०९-५
पांशुलत्वं—मलिनत्वं कुलटात्वं च	२१०-५
शतमखः—शक्रः(सं. टी. तु पूर्वदिक्पालः)	२१०-९
इन्द्रसमुद्रः—पूर्वोदधिः	२१०-९
स्तम्बः—समूहः	२१०-९
हरिरोहणं—हरिचन्दनम्	२१०-१०
श्रयन्ते—सेवन्ते (सं. टी. तु आश्रयन्ते प्रविशन्ति)	२११-८
सौखशायनिकाः—सुखशयनं पृच्छन्ति ते सौखशायनिकाः (स्तुतिपाठकाः)	२११-९
प्रहग्रामणीः—आदित्यः	२११-१०
पुरोहितैः—पुरोधाभिः पुरो जन्मान्तरे हितैश्च	२११-१०
अम्बरम्—आकाशं वस्त्रं च	२११-१३
ऊर्मिका—वीचिका मुद्रिका च	२११-१३
अभिजातः—कुलीनः	२११-१४
आकल्पः—वेषः	२११-१४
कोशाः—खोलाः (सं. टी. तु वेष्टनखोलकाः)	२१२-१
अनेकपाः—गजाः	२१२-२
चलस्था—पंक्तिः	२१२-३
रल्लिका—कम्बलविशेषः	२१२-३
यवसं—तृणम्	२१२-३
कीराः—शुकाः	२१२-७
वन्दनस्रक्—वन्दनमाला	२१२-७
उन्मृष्टं—संमार्जितम् (छटकितं)	२१२-८
प्रवेकः—प्रविभागः	२१२-८
अवलगनं—सेवा	२१३-२
वलक्षः—धवलः	२१३-४
पारिप्लवं—चञ्चलता	२१४-२
एकायनम्—एकाग्र्यं	२१४-३
याष्टीकैः—प्रतीहारैः	२१४-३
अनुकाः—प्रत्यासन्नाः	२१४-४
विधीयमानाः—अन्विष्यमाणाः	२१४-४
निःसङ्कीकृतः—अनिषिद्धजनप्रवेशः	२१४-५
देशरूपं—न्यायः मण्डलधर्मो वा	२१४-५
उत्पिञ्जलम्—आकुलम्	२१४-५
द्वापरः—संशयः	२१५-१
अतिसंधीयते—परिभूयते	२१५-३
मन्त्रकालेषु—कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपत् देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गो मन्त्रः	२१७-१
नयः—हिताहितलाभपरिहारोपायः	२१८-२
भालं—ललाटं	२१९-२
मघवा—इन्द्रः	२१९-३
कुम्भीनसाः—सर्पाः	२१९-५
परिधिः—प्राकारः	२१९-६

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
गोत्रधात्रीधराः—कुलाचलाः	१९-६
खेयं—परिखा	१९-६
निधनं—मरणं	२२-३
निषद्या—शाखा	२६-१
विजिगीषुररिर्मित्रमित्यादि[1]—	२६-२
उद्यच्छेत्—उत्सहेत	२९-२
पुलाकाः—घुर्घुरिकाः	२३५-१
उदयः—परस्मादात्मनो वृद्धिः[2]	२३६-२
समता—आत्मपरयोः ऐश्वर्यसाम्यं[3]	२३६-२
हानिः—एतद्वैपरीत्यं[4]	२३६-२
वहित्रं—जलयानपात्रं	२४१-१
आनायः—जालम्	२४२-१
साम—पञ्चविधं गुणसंकीर्तनमित्यादि[5]	२४२-३
दानं—भूमिहिरण्यकन्यादिवितरणं[6]	२४२-३
भेदः—शङ्काजननमतिभर्त्सनं च[7]	२४२-३
दण्डः—वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं च[8]	२४२-३
वीरणः—वेणुः	२४५-१
क्षिपणिः—गोफणा	२४५-३
मिपाजीवः—कुम्भकारः	२४६-१
चक्रं—घटाद्युत्पादनाधिकरणं वस्तु सैन्यं च	२४६-१
परिच्छदः—परिवारः	२४६-२
नाभिः—क्षेत्रमध्यं	२४६-४
आर्यमिश्राः—बुधप्रधानाः	२४७-२
नित्यमात्मा रक्ष्यः – इति विभक्तिनिर्देशेन संबंधनीयः	२४७-६
गाङ्गेयं—हेम	२४८-६
सत्यवाक्—यतिः	२४८-७
धर्मविजयैकभावः—इति त्रयो विजिगीषवः, धर्मविजयी लोभविजयी असुरविजयी चेति	२४८-७
षडपि गुणान्—सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावान्[9]	२४८-७
यतयातं—वाक्पादाङ्कुशप्रणिधिः	२४९-१
अभिजाताः—कुलोद्गताः	२४९-२
आकार्य—आहूय	२४९-४
दक्षः—कार्यघटनाकुशलः	२४९-५
शूरः—शस्त्रशास्त्रप्रयोगपटुः	२४९-५
शुचिः—चतुरुपधाशुद्धः, धर्मार्थकामभयपरीक्षणमुपधेत्युच्यते वंशविद्याव्रतविधुरोपकारश्चेति उपधाः	२४९-५
प्राज्ञः—स्वपरोक्तिसंपन्नसम्यगभ्यूह्यः	२४९-५
प्रगल्भः—परचित्तप्रसादनकुशलः	२४९-५
प्रतिभानवान्—परैरभियोगे समुन्मिषदनेकोपायः	२४९-५
वाग्मी—हृदये अभिनिविष्टस्यार्थस्य प्रतिपादनप्रवीणः	२४९-५
तितिक्षुः—परगर्जितेषु स्थिरप्रकृतिः	२४९-५
स्थविरः—नीतिविद्यैश्वर्यादिभिरविकृताचारः	२४९-५
प्रियः—नयनमनोह्लादनजननः	२४९-५
अवलेपः—गर्वः	२५१-६
टिरिटिल्लितम्—आत्मनोऽनुचितव्यवहारः	२५१-६
प्रबन्धः—सातत्यं बन्धनं च (सं० टी० तु प्रबन्धो मेलापको भवति, तस्य मस्तकं भिद्यत इत्यर्थः)	२५१-८
कृतकः—कृत्रिमः	२५२-३
चन्द्रकः—मयूरबर्हैकदेशः	२५२-३
तूलिनी—शाल्मलिः	२५२-३
प्रपदीनः—गुल्फः	२५२-४
गुह्या—कच्छोटिका	२५३-१
सत्रिणः—मायायोगज्योतिर्भिषग्वैद्यकादिविद्याधारेण राज्ञो हिताहितजनपरिज्ञानकुशलाः	२५३-६
दिवाकीर्तिः—नापितः	२५५-६
अवन्तिसोमं—काञ्जिकम्	२५७-४
वातूली—वात्या	२६२-५

१. देखिए यशस्तिलक पृ. २२५ व २२६ की टिप्पणी।
२.३.४. देखिए यशस्तिलक पृ. २३६-२३७ मय टिप्पणी।
५.६.७.८. देखिए यशस्तिलक पृ. २४३-२४४ मय टिप्पणी।
९. देखिए यशस्तिलक पृ. २१७ की टिप्पणी।

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
ज्येष्ठा—देवताविशेषः	२६२-७
तरुणीलीलाविलासादिकाः—संज्ञाः अस्यैव कवेः प्रहसनशीलत्वात् प्रहसयाः	२६९-९
चक्री—कुम्भकारः	२६६-२
और्वः—वडवानलः	२६६-३
चञ्चापञ्चजनः—तृणपुरुषः	२६६-४
पौरोभाग्यं—पुरोभागी परगुणासहिष्णुस्तस्य भावः पौरोभाग्यं (सं० टी० तु पौरो-नगरलोकः, कथंभूतः भाग्यपुराण-पालितमतिः भाग्यपुराणेन सर्वकार्यो-पार्जितपुराणेन पालिता प्रतिरक्षिता मतिर्यस्य स तथोक्तः)	२६६-४
द्विजाः—पक्षिणः	२६७-२
सूना—खट्टिककर्म	२६८-३
सारमेयः—शुनकः	२६८-३
लञ्जिका—वेश्या	२७१-३
पुण्यम्—अनुष्ठानकालभावि भाग्यं फलदानोन्मुखं	२७३-६
शाणकं—मनोदुःखम्	२७४-६
पिष्ठाः—विटाः	२७५-२
गाधेत—प्रतिष्ठां लभेत (तरितुं शक्यते)	२७५-२
विषमकरः—अग्निः	२७५-४
लुण्टाकः—चौरः	२७६-७
असमरोचिः—अग्निः	२७७-६
भामः—(पाठान्तरं भावः) ज्येष्ठभगिनीपतिः	२७९-२
मामः—मातुलः	२७९-२
अज्जिका—पत्नी	२७९-३
माशी—राणी	२७९-३
उपह्वरे—रहसि	२७९-३
खारपटिकः—ठकः	२८०-१
प्रत्यादेशः—परित्यागः	२८३-१
निरम्बरनितम्बा—नग्ना	२८३-२
प्रायोपवेशनम्—अनशनम्	२८३-६
रहति—त्यजति	२८३-७
पिण्डी—पिण्याकं	२८४-२
पितृप्रियाः—तिलाः	२८४-२
चक्रजः—तैलिकः	२८४-३
पामरः—हालिकः[1]	२८४-३
अनुरोधः—स्वीकारः	२८५-१
प्रग्रहः—स्वीकारः	२८५-२
अवग्रहः—प्रतिबन्धः (सं० टी० अस्वीकारः)	२८५-२
कितवः—विजातिः	२८५-४
अवहेलेन—अनादरेण	२८६-१
अजर्यात्—संगमात्	२८८-१
बृहद्भानुः—अग्निः	२८८-२
मण्डलः—श्वा	२८८-२
नमस्यता—पूज्यता	२८८-३
निकायति—वदति	२८८-६
कैरवं—कुमुदं	२८९-१
स्वापतेयं—धनम्	२९०-४
विधुरेषु—व्यसनेषु	२९०-४
तूरी—वादकः	२९०-७
उषा—रात्रिः	२९१-२
उत्स्वनति—सुप्तो जल्पति	२९१-२
गोपे—गोकुलिके	२९१-५
निगदेन—लोकप्रसिद्ध्या	२९१-७
पृषताः—मृगाः	२९२-२

१. देखिए यशस्तिलक पृ० २८४ की टिप्पणी।

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
मृगधूर्तः—शृगालः	२९२-४	कुप्यति—रुष्यति	३०३-४
द्वीपिद्विजः—मृगयाविनोदपक्षी श्येनः इत्यर्थः	२९२-७	विशामीशानां—राज्ञां	३०३-९
शकुलः—मत्स्यः	२९२-८	अमिषन्—असहमानः	३०४-३
सेतुः—पालिबन्धः	२९३-२	निर्वास्य—निष्कास्य	३०४-३
निकृतिः—वञ्चना	२९३-४	त्वचिसारः—वंशः	३०४-४
प्रमथनाथः—हरः	२९३-६	ह्वीरः—शलाका	३०४-४
तृक्षात्मजः—गरुडः	२९३-६	चेतन्—'चिती संज्ञाने'	३०५-५
पञ्चता—मृत्युः	२९३-७	श्वपचं—चाण्डालः	३०५-६
षट्प्रज्ञाः—धूर्ताः	२९३-७	प्रमीढा—निद्रा	३०५-७
सप्तांशुः—अग्निः	२९३-७	माहेयी—गौः	३०५-८
नरकारिः—हरिः (श्रीनारायणः)	२९३-७	पक्षपाती—वंशविनाशी (सं. टी. पक्षच्छेदकः, न तु पक्षावलम्बी विपरीतार्थो ग्राह्यः)	३०७-२
दशलोचनः—यमः	२९३-८		
द्वापरः—संशयः	२९३-८	वर्धनः—खण्डनः (सं० टी. वर्धनः छेदनः खण्डनः, न तु वर्धनो वृद्धिकारको भवतीत्यर्थः)	३०७-२
त्रपा—लज्जा	२९३-८		
वक्रिका—परवञ्चनोपायः	२९४-१	मङ्गलानि—कर्पराणि (सं. टी. मङ्गलानां कर्पराणां कुम्भभेदनानां परम्परायाः श्रेण्याः संपादनः कारकः, न तु शुभकल्याणकारकः)	३०७-२
कुम्भिनां—गजानां	२९४-१		
खण्डपरश्वायुधः—रुद्रः	२९४-१,२		
कौणपः—राक्षसः	२९४-७	नन्दनः—विध्यापकः, न तु प्रबोधकः	३०७-३
चिचेष्टा—चेष्टितम्	२९४-९	भूतिः—भस्म (सं. टी. भस्मकारणं न तु ऐश्वर्य-कारणं)	३०७-३
उदन्तः—वार्ता	२९५-१		
अवदानं—साहसं	२९६-४	आरावः—आक्रन्दः (सं. टी. [1]हारावरुद्धकण्ठताहेतुः तदत्रावसरवशाद्धारशब्देन इष्टिकामहावक-द्धाक्रन्दनः। हा इति स्थिते हा इति आरावेण शब्देन रुद्धकण्ठताहेतुः कारणम्, न तु हाराणां मुक्ताफलमालानां कण्ठाभरण-हेतुः)	३०७-४
अपसदः—निकृष्टः	२९६-६		
घट्टा—तृष्णा	२९७-२		
अवस्करे—अशुचिनि	२९७-२		
अणकेहिताः—कुत्सिताचाराः	३००-५		
हास्तिकं—हस्तिसमूहः	३०२-४	श्रीफलं—बिल्वं (सं. टी. श्रीफलोपलालनायतनं श्रीफलानां शिरोबिल्वबन्धनानां उपलानां पाषाणानां आलनायतनं ताडनमन्दिरम्, न तु लक्ष्मीफलाभोगायतनम्)	३०७-४
सौवस्तिकः—पुरोहितः	३०२-४		
दैष्टिकाः—दिव्यज्ञानिनः (सं० टी०)	३०२-४		

१. तदुक्तं—'इष्टिकानिचयो हारो हारो मुक्तागणः स्मृतः। हारो मापविशेषः स्याद्धारो रजतमुच्यते ॥'

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
चिन्तामणिः—शोणरत्नम् (सं. टी. चिन्तायाः आर्त्तध्यानस्य कथनकारणम्, न तु शोणरत्न-कारणम्)	३०७-४
व्रात्यं—नष्टव्रतं	३०८-१
आकारितः—आहूतः	३०९-१
एकशृङ्गमृगः—गण्डकः	३०९-२
पीलवः—गजाः	३०९-३
किर्मीराः—विचित्राः	३०९-३
महामण्डलः—सर्पविशेषः	३०९-३
कुफणिः—कूर्परः[1]	३०९-४
बिलेशयाः—सर्पाः	३०९-४
भद्रश्रियं—चन्दनम्	३१०-१
असिधेनुका—छुरिका	३१०-१
मन्थानकाचलः—मेरुः	३१०-१
वङ्क्षणः—ऊरुसन्धिः	३१०-१
खर्विताः—कर्तरिताः	३१०-५
कुन्तलाः—केशाः	३१०-५
कर्णिका—कर्णभूषणम्	३१०-५
सृक्कः—ओष्ठम् (सं. टी. ओष्ठपर्यन्तं)	३१०-६
प्रमार्जिताः—छोल्लिताः (घर्षणमापिताः)	३१०-७
क्षपा—हरिद्रा	३१०-८
शितिः—कालं (श्यामं)	३१०-८
कञ्जानि—पद्मानि	३१०-८
कालिन्दी—यमुना	३१०-८
दरदः—हिंगुलकः	३११-१
अभ्रियः—वज्राग्निः	३११-२

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
मितद्रुः—हयः	३११-४
कुम्भिनी—भूः	३११-४
उष्णीषः—केशपाशः	३११-४
भुजगाशनाः—मयूराः	३११-७
चिपिटाः—पृथुकाः	३१२-१
गुवाकं—क्रमुकम्	३१२-१
फरकः—आखेटकः	३१२-३
दाक्षायणी—दिक्	३१२-३
कटारकः—शस्त्रविशेषः (सं. टी. कटारकश्छुरिका-विशेषः)	३१२-५
कङ्कटः—कवचः	३१२-६
आजकावं—धनुः	३१३-१
शुण्डः—करः	३१३-७
अवलगति—सेवते	३१४-१
प्रशाधि—आदिश	३१४-४
कवते—'कवृ वर्णे कटुशब्दने वा'	३१४-६
निस्त्रिंशे—खड्ग विश्वस्तघातके (सं. टी. निर्दये-पुरुषे)	३१६-१
तद्भावे—सरित्पतित्वे	३१६-२
पल्लवकाः—पण्डिताः	३१६-४
नेमिः—धारा	३१६-५
नाभिः—मध्यः	३१६-५
आयच्छेत्—गच्छेत्	३१६-५
नेता—विजिगीषुः	३१६-५
प्रकृतयः—अरिमित्राद्यः	३१६-६
निर्भुज—निर्गच्छ (सं. टी. उरोऽग्रतः कुर्वित्यर्थः)	३२९-२

---

१. कूर्परो जानुमात्रेऽपि कफोणावपि कूर्परः इति विश्वः ।

विश्वलोचनकोशात: (पृ० ३००) संकलितः सम्पादकः

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
मदपुरुषेण—मदपुरुषस्येदं लक्षणम्[1]	३२९-५
तरी—नौः	३२९-६
खिलीभूतः—उजाडः (सं. टी. उद्वसो जातः)	३२९-८
वेणुः—गजविनयदण्डः	३३०-३
न विनीता गजा—इत्यादेरिदं तात्पर्यं[2]	३३०-५
व्यूढं—घनं विस्तीर्णम्	३३२-१
अन्तरमणिः—देशविशेषः प्रभूता अन्तराणि विशिष्टा मणयो यस्य	३३२-१
कोशः—प्रदेशः हिरण्यादिश्च (सं. टीकायां तु त्रुटितं)	३३२-१
सुजातः—रथेषाकृतिर्मर्दलः कुलीनश्च	३३२-२
वलयः—त्वक्तरङ्गाः वलिमश्च	३३२-२
अच्छिद्रः—निबिडांगबन्धः अगम्यानन्वेषणश्च	३३२-३
मण्डलं—वृत्तता राष्ट्रं च	३३२-४
वलीरितवपुः—वलिभिस्त्वक्तरङ्गैः ईरितमनुगतं वपुर्यस्य वलवद्भिश्च	३३२-४
सान्द्रपर्वा—सान्द्राणि पर्वाणि सर्वसन्धिप्रदेशाः दीपोत्सवादिश्च	३३२-४
करेषु—हस्तेषु देयेषु च	३३२-५
वंशः—प्रदेशोऽन्वयश्च	३३२-६



१. उक्तं च—मयूरग्रीवाभं चपलरसनं रक्तनयनं चतुर्दंष्ट्राहिंस्रं पृथुकरशिरोमेढ्रजठरम् ।
चलन्मुखं शङ्कुश्रवणमदरं षोडशभुजं ज्वलत्केशं वंदे मदपुरुषमत्युग्रवदनम् ॥'

२. देखिए यशस्तिलक पृ. ३३० की टिप्पणी ।

धन्यवाद

निम्नलिखित उदार धर्मनिष्ठ सज्जन महानुभावों ने श्रुत-सेवा की पवित्र भावना से प्रेरित होकर प्रस्तुत ग्रंथरत्न की निम्नप्रकार प्रतियों के निर्धारित मूल्य से कुछ कम मूल्य में ग्राहक बनते हुए इसके प्रकाशन में आर्थिक सहयोग प्रदान किया, अतः प्रकाशन संबंधी इस मङ्गलमय वेला में हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद अर्पित करते हैं।

नाम	प्रतिसंख्या
श्री० दा० सिंघई कारेलाल कुन्दनलालजी सागर	२५
श्री० सेठ धन्नालालजी गुलाबचन्द्रजी सेठी खुरई	५
श्री० सेठ लालचन्द्रजी रईस दमोह	४
श्री० दा० सेठ छगनमलजी प्यारेलालजी गांगुलिया जबलपुर	४
श्रीमती दा० कस्तूरीदेवी धर्म० स्व० सेठ व्रजपालजी पटेल बकोडा (बालाघाट)	४
श्री० दा० गुलाबरानी धर्म० श्री० दा० बा० बालचन्द्रजी मलैया B. Sc. सागर	४
श्री० सेठ केसरीमलजी जवरचन्द्रजी शाह महू cant	४
श्री० नर्मदादेवी धर्म० श्री० सेठ भागचन्द्रजी डोंगरगढ़	२
श्री० सेठ वंसीलाल स्वरूपचन्द्रजी छुईखदान	२
श्री० दि० जैन चैत्यालय गुढ़िहारी रायपुर द्व० श्री० सेठ जोखीराम गोवर्धनदासजी	२
श्री० दि० जैन महिलासमाज अकलतरा	२
दि० जैन समाज शाहगढ़	२
श्री० चौधरी लक्ष्मीचन्द्र बुद्धूलालजी पेंडरा (बिलासपुर)	२
श्री० सिंघई बाबूलाल मोहनलालजी उमरिया (सहडोल)	२
श्री० दि० जैन महिलासमाज पुरानी बजाजी जबलपुर	२
श्री० दि० जैन महिला समाज लार्डगंज जबलपुर	२
श्री० रूपवतीदेवी 'किरण' जबलपुर	२
श्री० पूज्य क्षुल्लक सहजानन्द-सरस्वतीसदन जबलपुर द्व० श्री० बा० लक्ष्मीचन्द्रजी M. Sc. ,,	२
श्री० सवरानीबहू मातेश्वरी श्री० चौधरी प्रकाशचन्द्र जी B. A. LL. B. वकील सागर	२
श्री० दि० जैन महिलासमाज बीच का मन्दिर सागर द्व: श्री० सिंघन कौसादेवी धर्म० सिंघई भैयालालजी मुंशी	२

नाम	प्रतिसंख्या
श्री० धर्मवीर जैनरत्न स० सिंघई लक्ष्मणप्रसाद मोतीलालजी रईस हरदी (सागर)	२
श्री० सेठ चतुर्भुज बद्रीनारायणजी दुर्ग	२
दि० जैन समाज बंडा (सागर)	२
श्री० तारादेवी धर्म० श्री० सेठ प्यारेलालजी सागर	२
श्री० गुलाबरानी धर्म० श्री० सेठ मन्नूलालजी रईस सागर	२
श्री० दीपचन्द्र प्रकाशचन्द्रजी सर्राफ गोटेगांव (नरसिंहपुर)	२
श्री० शान्तिदेवी धर्म० स्व० सिंघई कोमलचन्द्रजी छपारा	२
श्री० बा० बाबूलालजी मुलायमचन्द्रजी छिंदवाड़ा	२
श्री० सेठ नेमिचन्द्र कोमलचन्द्रजी डिंडोरी	२
श्री० सेठ रतनलाल डालचन्द्रजी मण्डला	२
श्री० मैनादेवी धर्म० श्री० सिंघई प्रेमचन्द्रजी बारासिवनी	२
श्री० सेठ धन्नालालजी प्रकाशचन्द्रजी अजमेरा गोंदिया	२
श्री० स० सिंघई बिहारीलाल दुलीचन्द्रजी डोंगरगाँव	२
श्री० सेठानी माणिकदेवी धर्म० श्री० सेठ नेमिचन्द्र जी पाटनी गांधीबाग नागपुर	२
श्री० सेठ रेखचन्द्र कालूरामजी वाठिया नागपुर	२
श्री० रुक्मणीदेवी धर्म० स्व० सिं० हजारीलालजी सागर	२
श्री० सेठानी खिलौनादेवी धर्म० स्व० सेठ गुलाबचन्द्रजी दमोह	२
श्री० दा० माणिकदेवी धर्म० श्री० दा० सेठ कल्याणमलजी गोधा माधोनगर उज्जैन	२
श्री० सेठ जयचन्द्र सात निमुआवाले खुरई	२
श्री० चौधरी जगन्नाथप्रसादजी भीकमचन्द्रजी मुरारवाले ग्रेनमर्चेन्ट व कमीशन एजेन्ट सागर	२
श्री० सेठानी सुगुनीदेवी धर्म० श्री० सेठ फूलचन्द्रजी पाटनी संयोगितागंज इन्दौर	२

नाम	प्रतिसंख्या
दि० जैन समाज संयोगितागंज इन्दौर ह० श्री० सेठ फूलचन्द्रजी पाटनी	१
श्री० सेठ सुगनचन्द्र गुलाबचन्द्रजी गोधा सर्राफ बड़नगर	२
श्री० सेठ मिश्रीलालजी राजमलजी टोंग्या सर्राफ बड़नगर	२
श्री समस्त दि० जैन पंचान् लुहारी (धार)	२
श्री० हीरादेवी धर्म० श्री सेठ जीवनलालजी पाटनी अंजड (निमाड)	२
श्री समस्त दि० जैन पंचान् भीकनगांव वाया खंडवा	२
श्री० कमलश्रीदेवी मातेश्वरी श्री० प्रदीपकुमारजी महेश्वर	२
श्री० सेठ गप्पूशाह नत्थुशाहजी धामनोद (धार)	२
श्री० समस्त दि० जैन पंचान् हाटपीपल्या (देवास)	२
श्री० विनयकुमारी देवी धर्म० श्री० सेठ शान्तिलालजी टोंग्या हाटपीपल्या	२
श्री० समस्त दि० जैन पंचान् ह० श्री० सेठ मोतीलालजी बिनायका नीमच छावनी	२
श्री० समस्त दि० जैन पंचान् ह० श्री० सेठ घासीलाल फूलचन्द्रजी गांधी मनासा (मन्दसोर)	२
श्री० पूज्य १०८ मुनिराज विमलसागर जी महाराज संरक्षक-श्री सरस्वती-भण्डार अशोकनगर	२
समस्त दि० जैन बीसपन्थ बड़ाधड़ा पंचायत एवं दि० जैन बीसपन्थ नागौरी आम्नाय पंचायत छोटाधड़ा मारफत श्री० सेठ नौरतनमलजी सेठी सर्राफ एवं श्री० बा० माणिकचन्दजी पाटनी सर्राफ अजमेर	२
श्री० सेठ किस्तूरमल मिश्रीलालजी कटारिया केकड़ी	२
श्री० मुनिसुव्रतनाथ एवं श्री० शान्तिनाथ दि० जैन-मन्दिर ह० क्रमशः श्री० सेठ माणिकचन्द रतनलालजी गदिया एवं श्री० सेठ छीतरमल रूपचन्दजी कटारिया केकड़ी	२
श्री० दि० जैन बड़ामन्दिर बीसपन्थ आम्नाय ह० श्री० सेठ भगवानूलालजी छाबड़ा एवं श्री० दि० जैन तेरापन्थ पंचायत बड़ामन्दिर ह० श्री० बा० केसलीमलजी दीवान सीकर	२
श्री० पूज्य ब्र० भँवरीदेवी छाबड़ा तथा महिलासमाज लाडनू	४
श्री० हरकीदेवी धर्म० श्री० स्व० सेठ भँवरीलालजी बाकलीवाल एवं महिलासमाज नागौर	२
श्री० सेठ चम्पालालजी झूमरमलजी पाटनी ह० श्री० बा० रामगोपालजी पाटनी डेह	२
श्री० दा० राजीदेवी सेठी मातेश्वरी श्री० सेठ हरकचन्द्रजी सेठी डेह	२
दि० जैन महिलासमाज डेह	४
श्री० शान्तिनाथ दि० जैन शास्त्रभण्डार डेह ह० श्री० सेठ मदनलालजी गंगवाल	२
श्री० गणेशीदेवी धर्म० श्री० रा० ब० सेठ घनश्यामदासजी बाकलीवाल लालगढ़	२
श्री० सेठ ऋद्धिकरण फूलचन्दजी पांड्या लाडनू	२
श्री० सेठ भँवरलालजी बाकलीवाल लालगढ़	२
श्री० नेतराम एण्ड सन्स छीपीटोला आगरा	२
श्री० दुर्गादेवी व श्री० प्रेमवतीदेवी क्रमशः मातेश्वरी व धर्म० श्री० बा० नेमकुमारजी रईस लोहामंडी आगरा	२
श्रीमतीदेवी धर्म० ला० पद्मकिशोरजी रईस देहली	२
श्री० विद्यावतीदेवी धर्म० ला० नट्टोमलजी बैंकर्स देहली	२
श्री० केसरदेवी धर्म० सेठ गप्पूलालजी बाकलीवाल लश्कर	
समस्त दि० जैन महिलासमाज श्री० आदिनाथ चैत्यालय भिण्ड	२
श्री० दि० जैनसमाज मुंगावली	३

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
स्वस्त्रयं	स्वस्त्रयं यत्र	२	६
अतिशय्दालंकार	अतिशयालंकार	२-३२ टि०	
अथिक	अधिक	९	१७
संषादित	संपादित	१५	४
विरेचनैः	विरचनैः	१५	४
दुर्दिनीकृत	दुर्दिनीकृत	१८	५
कलिङ्गीनां	कालिङ्गीनां	२०	३
मयूखोपहा	मयूखोपहारित	२२	१
क्षत्र	क्षत्त्र	२५	५
मुद्राभिः	मुद्राभि	३०	४
काक	कोक	३४	३
रापित	रार्पित	३४	९
नाचे	नीचे	३४	१६
कपर्दि	कपर्दि	४२	९
पत्र	पवन	४२	११
त्रित्तोपकण्ठ	चित्तोपकण्ठ	४६	३
–पलिचलिमता	पचलिमता	५३	१
पजा	पूजा	५३	२०
वितर्दिका	वितर्दिका	५४	२
त्रितरणकान्त	वितरणरतकान्त	५४	४
पिङ्ग	पिङ्ग	५५	८
विनिमित	विनिर्मित	५६	६
सनद्ध	संनद्ध	५६	७
यहाँपर	जहाँपर	५६	१४
फलपाकान्ता:	फलपाकान्ताः	५६-३४ टि०	
ज्वलनि	ज्वलति	५८	४
हृषित	हर्षित	६२	३२
प्रसारयति	प्रचारयति	६९	१
प्रोहवर्हे	प्रोहवर्हे-	७१	७
पीछी	पीछी	७१	२९
मार्ग पर	मार्ग पर धीरे २	७२	९
बलिष्टता	बलिष्ठता	७२	२४
प्रकूत्यैव	प्रकृत्यैव	७४	३
ब्रह्मचारी	ब्रह्मचारी	७४	२६
अङ्गलि	अङ्गुलि	७४	२७
जोवों	जीवों	७६	१४
५. अतिशयालंकार	५. उपमालंकार	७६-३४ टि०	
निकष्ट	निकृष्ट	७९	२७
शमादयं	शामोदयं	८२	६
कुवलियत	कुवलयित	८२	७
क्षाणी	क्षोणी	९०	२
सगमः	संगमः	९०	३
धर्ग	धर्म	९०	५
वर्णनर्स्तुति	वर्णस्तुति	९२	२०
विद्मुग्ध	विदग्ध	९४	३
कुन्तलेपु	कुन्तलेषु	१००	१
रेखाग्रिझीपु	रेखाभ्रिझीषु	१००	१
पारिवार	परिवार	१००	६
भ्रवौ	भ्रुवौ	१०४-३३ टि०	
विलुस	विलुस	१०६	६
सष्टि	सृष्टि	१०६	६
देवपिगण	देवर्षिगण	१०६	३०
क्राद्र	काद्र	१०८	४
गुणारत्ता-	गुणरत्ता-	११५	५
कोलाहुलरव	कोलाहलरव	११५	१०
नमो	नभो	११९	७
यथामैत्वं	यथात्मैवं	१२४-२९ टि०	
पौराङ्गना	पौराङ्गना	१२५	८
प्रतिम	[illegible]	१२६	१
दामानाभ्याम-	दानमान..	१३३	४
कृनान्त	कृतान्त	[illegible]	[illegible]
अशरणाप्रेक्षा	अशरणानुप्रेक्षा		

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
मागोऽपि	माणोऽपि	१९४-२७ टि०	
व्यासङ्ग	व्यासङ्ग	१६०	४
और कुछ	पिता के विना और कुछ	१६०	१८
ग्राह्यः	ग्राह्यः	१६५-३३ टि०	
पटलै	पटलैः	१६७	१
अभाते	प्रभाते	१६८	८
मङ्गल	मङ्गल	१६८	११
अथान्तर	अथानन्तर	१७३	१९
रानतस्याः	रानतास्याः	१७८	१०
विजयलक्ष्मी	युद्ध में विजयलक्ष्मी	१७९	२५
ततस्त्रि	तत्त्रि	१८७	६
चिह्ण	चिह्न	१८७	२०
तिरस्कृत	तिरस्कृत	१८७	२८
क्रीडा	क्रीडा	१८८	१८
रत्नरचिकाण्ड	रत्नरचितकाण्ड	१९२	१
सेनाङ्कना	सेनाङ्गना	१९५	३
निश्नय	निश्चय	१९८	२०
दर्भिताङ्गी	दर्भिताङ्गी	१९९	३
निकवर्ती	निकटवर्ती	२१२	१७
दुदशा	दुर्दशा	२१९	२
विशोधय	विशोधय	२१७	२
दैव व भाग्य	दैव व पुरुषार्थ	२१७	७
कतव्य	कर्तव्य	२३७	११
विजिगगीषु	विजिगीषु	२४०	२३
सिजके	जिसके	२४६	१८
स्वपुर	स्वपर	२५५	१
ने भी है	ने भी कहा है	२६९	२०
बमाति	विभाति	२६९-३३टि०	
आनन्दि	आनन्दित	२६०	६
क्रूरतर	क्रूरतर	२६०	१२
अशुभ	अशुभ	२६०	२६
सगम	[illegible]	२७०	१०
[illegible]	[illegible]मास्यं	२८७-३३ टि०	
[illegible]	अर्थात्	३०२	२३
	उत्कोच	३०९	२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
सर्पों के समान चेष्टाशाली	कोंहनी को स्पर्श करनेवाले	३१०	१
तुरण	तुरग	३११	५
जिसने	शूरवीर जिसने	३१३	१७
लोभ	लाभ	३१९	२५
रन्तर्वोणिभिः	रन्तर्वाणिभिः	३२०	२
शनाग्रखर्व	शगनाखर्व	३२४	१
इसप्रकारी	इसीप्रकार	३२६	२४
आभूपर्णो	आभूपर्णो	३३४	११
दूराद्दष्टि	दूराद्दृष्टि	३३८	३
किया है	किया गया है	३५२	१२
भ्रभङ्ग	भ्रूभङ्ग	३५४	५
दीर्घिलान्त	दीर्घिकान्त	३५५	४
प्रसाद	प्रासाद	३५५	५
कुसुमदा-	कुसुमदाम	३५६	७
क्रीडत्	क्रीडन्	३६३	१
शङ्क	शङ्कु	३७४	५
हर्पित	हर्षित	३७१	२१
तपश्चया	तपश्चर्या	३८१	१७
कणिकार	कर्णिकार	३८७	२१
समीपवतिनी	समीपवर्तिनी	३८७	२४
दिशावती	दिशावर्ती	३८८	११
दिशागावतिनी	दिशावर्तिनी	३८८	१२
कोति	कीर्ति	३९०	२४
३.॥४८६॥	४.॥४८६॥	४००	२९
४.॥४८७॥	५.॥४८७॥	४००	३२
३.१.२.३.४.	१.२.३.४.५.	४००-३४टि०	
प्रम	प्रेम	४०५	१
सहः	सिंहः	४२१का० १, ३३परि०	
-धम-	-धर्म-	४२३का० २, २ परि०	
खङ्ग	खड्ग	४३१का० २, १८परि०	

नोट—पृ० ३४२, ३८०, ३८१ में हिन्दी की मात्राएँ कहीं-कहीं पर कुछ कम उठी हैं; अतः कृपया उन्हें ठीक करते हुए पढ़िए।